काशीहिन्दूविश्वविद्यालयेन प्रकाशितायां ग्रहगणित ज्यौतिषग्रन्थमालायां

द्वितीयं पुष्पम्

सिद्धान्तशिरोमणिः

द्वितीयो भागः

(स्पष्टाधिकार-त्रिप्रश्नाधिकारात्मकः)

श्रीमद्भास्कराचार्योपज्ञवासनाभाष्यसहितः
मुनीश्वरापरनामविश्वरूपविरचित "मरीचि" भाष्यसंवलितः
स्वनिर्मित संस्कृतदीपिकाटीकया तथा शिखानुवादेन च सनाथः

काशिकहिन्दूविश्वविद्यालयीयसंस्कृतमहाविद्यालयज्यौतिषशास्त्र
प्राध्यापकेन गणितफलितज्यौतिष शास्त्राचार्येण
श्रीकेदारदत्त जोशी शास्त्रिणा
यथामति संशोध्य सम्पादितः

हिन्दूविश्वविद्यालयेन सम्मुद्रय प्रकाशं नीतश्च

विक्रम संवत् २०२० ईसवी सन् १९६४

केन्द्रीय-अनुदान-समिति-अनुमत्या
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी प्रेस
लक्ष्मीदासेन मुद्रितम्

मूल्यम् २०) रूप्यकम्

BHĀSKARĀCHĀRYĀ'S

SIDDHĀNTA SHIRŌMANI

SPASHTADHIKĀRA AND TRIPRASHNĀDHIKĀRA

OF

GRAHA GAṆĪTADHYĀYA

WITH

VĀSANĀBHĀSHYA OF BHĀSKARĀCHĀRYA

MARĪCHI OF VISHVARŪPA ALIAS MUNISHVARA

DĪPIKĀ IN SAṂSKRIT

AND SHIKHĀ IN HINDI OF K. D. JOSHI

Edited By

KEDAR DATTA JOSHI

GANITA PHALITA JYOTISHASHĀSTRĀCHĀRYA

READER IN JYOTISHA

SAMSKRIT MAHĀVIDYĀLAYA

BANARAS HINDU UNIVERSITY

VARANASI 5

1964

Publisher
©The Banaras Hindu University
Varanasi—5.

Price Rs. 20/-

Printed by
LAKSHMI DAS
at the
Banaras Hindu University Press
Varanasi-5 (India)

Pandit Kedardatt Joshi of the Samskrit Mahavidyalaya, Banaras Hindu University, has rendered in-valuable service to Indian Astronomy by editing for the first time, Marichi (a Sanskrit commentary by Muneeswara on Bhaskaracharya's Siddhanta Shiromani) and bringing together in a series of volumes, the texts of Siddhanta Shiromani, and its Commentaries Vasana Bhashya and Marichi. Pt. Kedardatt has also included in this edition his own Deepika (notes in Samskrit on Marichi) and Shikha (an extensive elucidation in Hindi) thus increasing its usefulness to a wider range of scholars.

The careful editing of Marichi is by itself a work of great credit worthy of the best labours of a scholar and would entitle Pandit Kedardatta to a place in the galaxy of traditional scholars. Such a claim is further strengthened by his Deepika and fully substantiated by his lucid Shikha which is a distinct contribution to scientific literature in Hindi.

The scientists of our country are desperately struggling to coin technical words in Indian languages according to their own lights. The present work of Pandit Kedardatt should awaken them to a realisation that a rich store of technical vocabulary exists in several well-known Sanskrit works on different branches of knowledge.

Pandit Kedardatt deserves hearty congratulations on his monumental work, which, it is expected, will spur him on to still greater service to Ancient Indian Astronomy.

R. K. ASUNDI
Retired Professor of Spectroscopy,
Banaras Hindu University.

BANARAS HINDU UNIVERSITY
December 18, 1963.

श्रीमद्भास्कराचार्यविरचित—

सिद्धान्त शिरोमणेः

वासनाभाष्य सहित गणिताध्यायः
तस्य मरीच्यभिधया टीकया, दीपिका टीकया, सपरिष्कारेण शिखानुवादेन च सहितस्य
स्पष्टाधिकार-त्रिप्रश्नाधिकारयोर्विषयानुक्रमणिका ।

स्पष्टाधिकारे

विषयाः		पृष्ठ संख्या
स्पष्टाधिकारप्रयोजनम्	...	१०७
चतुर्विंशतिसंख्याकजीवाङ्कसाधनम्	...	१११
अभीष्टचापतो जीवासाधनम्	...	११८
जीवातो धनुः करणम्	...	१२०
परमक्रान्तिज्यादिकथनम्	...	१२७
भोग्यखण्डस्पष्टीकरणम्	...	१३३
भोग्यखण्डस्य धनुः करणाय स्फुटीकरणम्	...	१४३
केन्द्राद्धनर्णकल्पनं भुजकोटिकल्पनञ्च	...	१४६
मन्दपरिध्यानयनम्	...	१५४
भौमादीनां चलपरिध्यानयनम्	...	१५८
भुजकोटयोः फलानयनम्	...	१६४
प्रकार चतुष्टयेन कर्णानयनम्	...	१६७
लघुज्यया लघुप्रकारेणार्केन्दोर्मन्दफलानयनम्	...	१७८
अर्केन्दोर्गति स्पष्टीकरणम्	...	१८०
भौमादीनां शीघ्रफलानयनम्	...	१८२
प्रकारान्तरेण फलानयनम्	...	१८४
फलानयनपूर्वकग्रहस्पष्टीकरणम्	...	१९०
गतिस्फुटीकरणम्	...	१९९
गतेः शीघ्रफलसाधनम्	...	२०६
गतिफलदूषणम्	...	२१६
भौमादीनां वक्रतासम्भवकथनम्	...	२२३
भौमादीनामुदयास्तसंभवकथनम्	...	२२७
स्फुटग्रहान्मध्यग्रहानयनम्	...	२३४

विषयाः		पृष्ठ संख्या
पलभाज्ञाननिरूपणम्	···	२३७
पञ्चज्या साधनम्	···	२४०
प्रकारान्तरेण चरज्यानयनम्	···	२४३
दिनरात्रिमानानयनम्	···	२४७
ग्रहाणां चरकर्मकथनम्	···	२४९
लङ्कोदयसाधनम्	···	२५१
प्रकारान्तरेण लङ्कोदयसाधनम्	···	२५४
द्रेष्काणनवांशाद्युदयकथनम्	···	२६०
स्वदेशोदय साधनम्	···	२५७
भुजान्तरसाधनम्	···	२६२
उदयान्तरानयनम्	···	२६३
उदयान्तर-भुजान्तर-चरान्तररूपकर्मत्रय कथनम्	···	२६७
तिथिकरणभयोगानां साधनम्	···	२७३
नतकर्मानियनम्	···	२७६
स्फुटग्रहस्य तात्कालिकीकरणनिरूपणम्	···	२८३
सूक्ष्मफलानयनम्	···	२८५
राशिसङ्क्रान्तिमानं भतिथिकरणयोगानां सन्धिमानानयनञ्च	···	२९२

त्रिप्रश्नाधिकारः

त्रिप्रश्नाधिकारप्रयोजनम्	···	२९७
लग्नसाधनम्	···	२९९
लग्नात्कालानयनम्	···	३०८
दिग्ज्ञानसंबंधथनम्	···	३२३
छायातः कर्णः, कर्णात् छायाज्ञानकथनम्	···	३२४
शङ्कुसंज्ञाविशेषकथनम्	····	३२६
अक्षक्षेत्राणां कथनम्	···	३२८
एषामक्षक्षेत्राणामेकस्य दोः कोटिकर्णैः परस्परमन्यानि दोः कोटिकर्णानि भवन्तीति निरूपणम्	···	३३७···३४६
कोणशङ्कोरानयनम्	···	३४८
नतोन्नतसाधनम्	···	३६१
शङ्कुदृग्ज्ययोः साधनम्	···	३६३
प्रकारान्तरेण शंकुसाधनम्	···	३६४
हृत्यन्त्ययोः साधनम्	···	३६७
अन्त्यातो हृतिं हृतेश्चान्त्या कथनम्	···	३६८
अन्त्याहृतिभ्यां दिनार्द्धशङ्कुसाधनम्	···	३६९
दिनार्द्धदृग्ज्याकथनम्	···	३७२

विषयाः		पृष्ठ संख्या
प्रकारान्तरेण दृग्ज्याकथनम्	...	३७३
छायाकर्णयोस्साधनम्	...	३७५
उन्मण्डलछायार्थं परस्य साधनम्	...	३७८
उन्मण्डलकर्णान्मिध्यकर्णसाधनम्	...	३८१
एकप्रकारेणेच्छादिक्छाया कथनम्	...	३८२
दिग्ज्याज्ञान कथनम्	...	३८४
इच्छादिक्च्छायानयनम्	...	३८६
इच्छादिक्च्छायासम्बन्धे विशेष कथनम्	...	३९०
प्रकारान्तरेणेच्छादिक्साधनम्	...	३९६
मन्दानां प्रतीत्यर्थं कर्णाग्रया बाहुसाधनपुरःसरं दिग्ज्या साधनम्	...	४११
कालनियमेन छाया कथनम्	...	४१३
प्रकारान्तरेण कलायाः साधनम्	...	४१३
यष्टेः साधनम्	...	४१७
इष्टान्त्येष्टहृत्योरानयनम्	...	४१८
इष्टशङ्कु साधनम्	...	४१९
नतकालाच्छंकुसाधनम्	...	४१९
प्रकारान्तरेणेष्टशङ्कर्थं विशेष कथनम्	...	४२१
इष्टान्त्यकेष्टहृतिभ्यामिष्टशंकु साधनम्	...	४२२
प्रकारान्तरैश्छायाकर्ण कथनम्	...	४२४
तत्र विशेषकथनम्	...	४२५
तथा तत्र अन्यविशेषकथनम्	...	४२७–४३०–४३४
छायातः कालज्ञान कथनम्	...	४३५
तत्र विशेष कथनम्	...	४३७
उन्नतकालस्य प्रकारान्तर कथनम्	...	४३८
छायातोऽर्कानयनम्	...	४३९
क्रान्तिज्ञाने सति पलज्ञानम्	...	४४३
छायातो भुजज्ञानम्	...	४४३
इदानीं सोत्तराः प्रश्नाः	...	४४७...५०४
नलकयन्त्रेण ग्रहविलोकनप्रकार कथनम्	...	५०५
नलकयन्त्रेण जले ग्रहविलोकन प्रकार कथनम्	...	५१०
नलकयन्त्रेण ग्रहविलोकनप्रकरणस्योपसंहार श्लोक कथनम्	...	५१२

प्रस्तावना

श्रीमन् ।

भास्कराचार्य कृत सिद्धान्त शिरोमणि ज्योतिर्विज्ञान का अप्रतिम ग्रन्थ है। उसकी महत्ता ज्योतिर्विदों के लिये सर्वमान्य है।

इस महत्त्वपूर्ण-ग्रन्थ के मध्यमाधिकार पर श्री पं० केदारदत्त जी बड़ी उपयोगी विशद टीका लिखकर प्रकाशित कर चुके हैं। आज उसी ग्रन्थ के स्पष्टाधिकार पर नवीन टीका लिखकर प्रकाशित करने जा रहे हैं। मैंने प्रकाशित, से प्राङ्मुद्रित-अंश का अवलोकन किया। अवश्य ही श्री पण्डित जी का यह श्रम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सुविदित वासना भाष्य के साथ ही मुनीश्वर कृत मरीचि टीका का भी उसमें समावेश किया गया है। यह टीका दुर्लभ वस्तु है। मैंने अपने अध्ययन काल में इसके कुछ अंशों को देखा था, और सूर्य पण्डित की व्याख्या का अवलोकन भी किया है। मरीचि टीका अद्यावधि अप्रकाशित है, उसे स्पष्ट कर तथा पाठों को परिमार्जित कर जिस श्रम एवं अध्यवसाय से, उपयोग में लिया गया है वह वस्तुतः श्लाघ्य ही है।

श्री जोशी जी ने अपनी दीपिका-टीका में वस्तु-विषय का सुन्दर विवेचन किया है। साथ ही यह प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी भाग में भी शिखा-नामक टीका लिख कर गम्भीर विषय को सरलता से समझाने का स्तुत्य प्रयास हुआ है। शिखा-टीका में पण्डित जी ने विषय का विशद विवेचन करके ग्रन्थ को सर्वांगीण बनाने का सफल-यत्न किया है। निःसन्देह शिरोमणि का यह सव्याख्या-स्पष्टाधिकार विबुधजनों से लेकर विद्यार्थियों तक सब के लिये हितकर सिद्ध होगा।

विश्वविद्यालय आयोग ने इसमें पूर्ण योग देकर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय प्राप्त किया है।

मुझे पूर्ण आशा है कि श्री पण्डित केदारदत्त जी का यह श्रम और अध्यवसाय पूर्णतया सार्थक और सफल सिद्ध होगा, मेरा अभिनन्दन।

सूर्यनारायण व्यासः ।
(पद्मभूषण) उज्जैन ।

प्राक्कथन

गणित के मुख्य पाँच भेदों में ग्रहगणित सर्वापेक्षया विशेष महत्त्व रखता है (१) अंकगणित, (२) बीजगणित, (३) रेखागणित, (४) त्रैकोणमितिक गणित, (५) ग्रहगोलगणित। गणित के इन पाचों भेदों का उत्तरोत्तर ग्रहगोलगणित में पर्यवसान होने से ग्रहगोलगणित की महत्ता स्वयं सिद्ध है।

इन पाँचों गणितों की एक रूपता हमें आर्यभट्ट प्रथम के 'आर्य भट्टीय तन्त्र' से मिलने लगती है। ज्यौतिश्शास्त्र प्रवर्त्तक मुख्यत्वेन सूर्य, पितामह, व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, पराशर, लोमश, यवन, सूर्य, च्यवन, कश्यप, भृगु, पुलस्त्य, मनु, पौलिश, शौनक, अङ्गिरा, गर्ग और मरीचि ये अठारह आचार्य कहे गये हैं। (यह कश्यप का शास्त्रान्तर वचन है)।

किन्तु आश्चर्य की बात है कि उक्त ज्योतिश्शास्त्र प्रवर्त्तक एवं ज्योतिष के संहिता आदि ग्रन्थों के प्रणेता आचार्यों ने महात्मा लगध की चर्चा कहीं भी नहीं की है। "कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः" महात्मा लगध का कालज्ञान सर्वोपरि है, क्योंकि महात्मा लगध ने हमें "वेदांग" मूलक ज्यौतिष शास्त्र के पञ्च वर्षात्मक युग बर्णन का एक सिद्धान्त बताया है। इसी मूल सिद्धान्त की भित्ति पर आज तक का ज्योतिश्शास्त्र आधारित है। महात्मा लगध प्रणीत इस वेदांग ज्यौतिष में ऋग्वेद के तथा कुछ यजुर्वेद के छन्दोबद्ध कुछ मन्त्र मिलते हैं। इसमें ग्रहों में केवल सूर्य चन्द्रमा दोनों की ही चर्चा मिलता है, एवं दिन रात्रि के ह्रास वृद्धि, आश्लेषार्द्ध से दक्षिणायन की प्रवृत्ति धनिष्ठा से उत्तरायण की प्रवृत्ति के प्रतिपादन के साथ साथ इसमें आश्विन्यादि नक्षत्रों का गणना क्रम भी परिलक्षित होता है, तथापि इस ग्रन्थ को ग्रहगणित सिद्धान्त के लक्षणों की चरितार्थता के अभाव में सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं कहा जा सका है।

साथ ही आचार्य "लगध" के इस ग्रन्थ में ज्यौतिश्शास्त्र के गणित स्कन्ध की स्तुति भी नय रूप में मिलती है कि वेदांग शास्त्रों में (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्यौतिष) गणित ज्यौतिष ही मूर्धन्य है। जैसे—

"यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा, तद्वेदांगशास्त्राणां ज्यौतिषं (गणितं) मूर्ध्नि संस्थितम्। यह ग्रन्थ महाभारत से प्राचीन है ऐसा ऐतिहासिकों का मत है।

इस ग्रन्थ में लगधाचार्य ने परम दिनमान ३६ घटी (१४ घण्टा २४ मिनिट) का माना है। उत्तर भारत में इतना बड़ा दिन आजकल के सम्पात की गति से प्रायः २३ जून के आसपास कश्मीर में ही हो सकता है। काशी, प्रयाग, हरिद्वार में सबसे बड़ा दिन प्रायः ३४ घटी (१३ घण्टा ३६ मिनिट) तक का हो जाता है। इसी से सुधावर्षिणी कार के मत से यह स्थान काश्मीर में हो सकता है।

किन्तु—"एक और भी सम्भाव्य कल्पना हो सकती है कि सूर्य की परम उत्तर क्रान्ति के समय २९°, ३०° के अक्षांशीय देशों में (भूमध्यरेखा से उत्तर) ऋषियों की तपोभूमि

तपोवनों में मान सरोवर, बदरिकाश्रम, अमरनाथ, श्रीनगर, ज्योतिष्पीठ, (जोशी मठ) जैसे प्राचीन धार्मिक स्थलों की ज्ञानागार गुफाओं में से किसी एक में महात्मा लगध ने ज्योतिश्शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था जो उक्त वेदांग ज्यौतिष द्वारा हमें आज उपलब्ध है। और हिमालय की चोटियों में भूपृष्ठीयस्तर की अधिक ऊँचाई के कारण सूर्योदय में सूर्य किरणों का प्रथम प्रसार एवं सूर्यास्त के पश्चात् कुछ समय तक किरणों का आंशिक दर्शन स्वभावतः होने से यह देश ३६ घटी दिनमान के (१४½ घण्टा) अवश्य होते हैं—इस दृष्टि से यही ज्योतिश्शास्त्र की पृष्ठभूमि कही जा सकती है।

महात्मा "लगध" के वेदाँग ज्यौतिष के पश्चात् का सिद्धान्त लक्षण घटित ग्रहगणित का सर्व प्रथम ग्रन्थ 'आर्य भट्टीय' ही अभी तक उपलब्ध हुआ है। यद्यपि इसके पूर्व में 'सूर्यप्रज्ञप्ति' जैसे जैन सम्प्रदाय के ज्यौतिष के मौलिकग्रन्थ अवश्य समादरणीय हैं, किन्तु इनमें ग्रहगणित के सिद्धान्त के कुछ ही अंशों में घटित होने से इन ग्रन्थों की स्थिति तब से आज तक वहीं पर है, संभवतः यह स्थिति आज तक आगे नहीं बढ़ी है।

आर्यभट

ज्योतिश्शास्त्र के इतिहास में आर्यभट्ट का पौरुषेय ग्रन्थ "आर्य-भट्टीय" ही उपलब्ध है। आर्य भट्ट ने २३ वर्ष की अपनी अवस्था में शक सं० ४२१ अर्थात् ई० सन् ५५६ में ज्यौतिष सिद्धान्त के 'आर्य भटीय तन्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना कर ली थी।

आर्य भट्टीय के अंक संकेतों की विशेषता

आर्य भट्ट ने विलक्षण संकेत रीतियों से अंकों का परिचय एक ही श्लोक में दे दिया है। जैसे—

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङ मौ यः।
ख द्वि नवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्य वर्गे वा॥

पुष्पपुर (पटना) के नालन्दा जैसे शिक्षा केन्द्र में बसते हुये आर्य भट्ट ने तपोबल से ज्ञान सम्पादन कर अपने शिष्यों के अतिरिक्त विरोधी सम्प्रदाय को उक्तज्ञान परम्परा सुलभ न हो, इस विचार से उक्त संकेतों को गोपनीय भी उन्होंने स्वयं किया था। यह संकेत निम्नभांति हैं जो आर्य भट्ट ने कहे हैं क=१, ख=२, ग=३, घ=४, ङ=५ च=६···ञ=१०, ट=११···ण=१५, त=१६···न=२०, प=२१···म=२५। ङ और म ङमौ अर्थात् ५+२५=३० कहा है।

अर्थात् य=३० इस प्रकार र=४०। ल=५०। व=६०। श=७०। ष=८०। स=९० ह=१००

नौ स्वरों को, अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ वर्गाक्षर और अवर्गाक्षरों में मिलाने से इकाई दहाई आदि १८ स्थान द्योतक अंकों की स्थितियों का परिचायक बताया है। जैसे—

क्+अ=क=१
क्+इ=कि=१००

क्+उ=कु=१०००

: : :

क्+औ=कौ=१००००००००००००००००

इसी प्रकार ख्+अ=ख=२

ख्+इ=खि=२०

ख्+उ=खु=२००

इसी प्रकार य्+अ=य=३०

य्+इ=यि=३०००

य्+उ=यु=३००००० इत्यादि ।

ह्रस्व और दीर्घ स्वर और वर्णों से भी (जैसे कि और की से) १०० ही समझना चाहिए ।

उपयोग में जैसे–निदर्शनार्थ यदि पृथ्वी की सूर्य के चारों तरफ की परिक्रमा की संख्या १ एक कल्प में समझनी है तो आर्यभट के भगणाध्याय से—

"युग रवि भगणाः ख्युघृ" इति ऐसे पाठ की अंक संख्या निम्न भांति समझी जानी चाहिये ।

जैसे खु=२०००० । यु=३००००० । घृ=४०००० इनका योग

यु=३०००००

घृ=४००००००

४३२०००० यह ब्रह्मगुप्त, श्रीपति, लल्ल, भास्कराचार्य के रवि भगणों की संख्या (कोटि गुणिता रदाब्धयः) के तुल्य (रद=दांत=३२, अब्धि=समुद्र=४, अंकों की वामगति की प्रणाली से ४३२) संख्या हुई जिसे कोटि गुणित करने से ४३२००००००० यह एक कल्प की सूर्य बुध और शुक्र की भगरण संख्या हुई । १०००० सहस्र से इसमें भाग देने से यह संख्या ४३२०००० उक्त आर्य भट्ट के संकेत प्रणाली से ज्ञात भगण के तुल्य हो जाती है । इसी प्रकार सर्वत्र आर्य भट्ट का क्रम समझना चाहिए ।

आर्यभट्ट की उक्त संकेत कल्पनाओं पर विद्वानों के अपने अनेक विचार हैं, जिन्हें यहाँ पर देना आवश्यक नहीं है ।

विशेष रूप से उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सर्वप्रथम आर्यभट ने ही पृथ्वी के अपने अक्ष पर भ्रमण करने की बात कही है, किन्तु आर्य भट्ट के परवर्ती लल्ल, ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिरादि आचार्यों ने आर्य भट के भूभ्रमण मत का न तो समर्थन ही किया और न कहीं पर खण्डन ही किया है । और न तो कहीं उल्लेख ही किया है ।

ग्रह कक्षाओं का क्रम सूर्य केन्द्राभिप्रायिक है । प्राचीनों की बुद्धि में भी यह बात अच्छी तरह आयी थी, किन्तु लोक व्यवहार या लोकमत के भय के कारण संभवतः आर्यभट्ट के उक्त मत पर प्राचीनों ने मूक ही रहना अच्छा समझा होगा । अथवा यह भी संभव है कि पृथिवी और सूर्य दोनों में किसी एक की स्थिरता और दूसरे बिम्ब की चालनता (गतिशीलता) से गणित में कोई विकार नहीं होन से भी प्राचीन आचार्य लोक व्यवहार के अनुसार आज तक

सूर्योदय और सूर्यास्त लिखने की ही पद्धतियों को उचित समझते हैं और नवीन भी इसी पद्धति को सहर्ष स्वीकार करते आ रहे हैं।

"दिनोन्मुखेऽर्के दिनमेव तन्मतम्"······॥
दिनं सुराणा मयनं यदुत्तरम्······॥
महत्त्वान्मण्डलस्यार्कः स्वल्पमेवापकृष्यते।
मण्डलाल्पतया चन्द्रस्ततो बह्वपकर्षते॥

इत्यादि सिद्धान्त ग्रन्थों के—

उक्त वाक्यों का स्पष्ट अर्थ है कि–देवतारूप उच्चसंज्ञक शक्तिकेन्द्र का नाम आकर्षण विन्दु है। ग्रहों की कक्षाओं में ग्रहों की तरह बड़े दीर्घ समय में चलित होने वाले ग्रहों के आकर्षण विन्दु से ग्रह पिण्ड के नैकट्य और दूरस्थता वश ग्रहों का आकर्षण करने से ग्रह पिण्ड पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और नीचे तथा ऊपर की तरफ उच्च से प्रक्षिप्त (खिंचाव) से किये जाने के कारण बहुविध गतियों को प्राप्त होते हैं।

जैसे—

सौर मण्डल के शक्तिकेन्द्र का नाम उच्च है। हमारे भारतीय शास्त्रों में इस शक्ति केन्द्र को देवता कहा गया है। इसलिये उच्च देव से महान् ग्रहपिण्ड का आकर्षण कम होने से मध्यम मानीय ग्रह राश्यादि मान में आकर्षण फल स्वल्प होता है।

चन्द्रमा का बिम्ब, जलमय पिण्ड या नवनीत (मक्खन) या पीयूष पिण्ड है। सूर्य और पृथ्वी आदिक ग्रह पिण्डों की अपेक्षा इसका वजन कम होने से उच्च देव से ये अधिक खिंच जाने से, सूर्य और पृथ्वी आदि की अपेक्षा इसका आकर्षण फल अधिक होता है। इस प्रकार भौम बुध गुरु प्रभृति ग्रहों का वजन कम होने से ये अत्यधिक आकृष्ट होते हैं। फलस्वरूप उच्च (शक्ति) की वायु रज्जुओं से ये अधिक खींचे जाते हैं। अर्थात् इन ग्रहों की दैनन्दिनीय गतियाँ अधिक होती हैं। इस प्रकार उच्च, पात आदिक दैवशक्ति केन्द्रों से तथा आकाश और वायु के समवाय सम्बन्धों से वे ग्रह-पिंड आकाश में अपनी-अपनी कक्षाओं में दैवदत्त मर्यादा पथों में भ्रमण करते हैं।

सूर्यसिद्धान्त के उक्त कथन से सभी ग्रहों के उच्चों में आकर्षण शक्ति समान है तथा स्वयं बड़े ग्रह पिण्ड में बृहदाकर्षण शक्ति एवं लघु ग्रह पिण्ड में लघ्वाकर्षण शक्ति सिद्ध होती है। क्योंकि बड़े पिण्ड की आकर्षण शक्ति रहित उच्च की शक्ति, अल्प पिण्ड के आकर्षण रहित उच्च-शक्ति से कम होती है। इसीलिये बड़े ग्रह पिण्ड का परम खिचाव कम, एवं लघु ग्रहपिण्ड का खिचाव (आकर्षण) अधिक होता है।

यहाँ पर उच्च (शक्ति केन्द्र) और ग्रहपिण्ड के आकाशीय एक धरातलीय अन्तर रूप रज्जु (सूत्र) रेखा के वर्ग की न्यूनाधिकता से आकर्षण फल भी न्यूनाधिक होता है अथवा ग्रह पिण्ड का (नैकट्य और दूरस्थता से) परिमाण जैसे जैसे बढ़ता है तैसे तैसे आकर्षण शक्ति भी उपचीयमान, (वर्धमान) तथा दोनों पिण्डों का अन्तर सूत्र वर्ग जैसे जैसे बढ़ता है तैसे तैसे आकर्षण शक्ति भी अपचीयमान (न्यून) होती है—इत्यादि ऊपर का यह आकर्षण-विचार अत्यन्त स्पष्ट रूप में अपने प्राचीन सूर्य सिद्धान्त में उपलब्ध होता है।

यूरप के प्रसिद्ध गणितज्ञ न्यूटन का (सन १६४१-१७१७ तक) भी यही सिद्धान्त है जिसे कि भारतीय ग्रह गणितज्ञों ने बहुत पहले ही बता दिया था।

पाठकों के सामने एक और उदाहरण रखना आवश्यक है—वह है

पृथ्वी के घनफल निकालने का सिद्धान्त। यह सिद्धान्त भारतीय ज्यौतिष में ईसवी सन् की प्रथम द्वितीयादि शताब्दियों से मिल रहा है। भास्कराचार्य (सन् ११५०) में यह सिद्धान्त अत्यन्त परिस्फुट और निर्दोष सिद्ध हो गया था। जैसे—कल्पना कीजिये अ इ प ल यह एक ठोस गोल है। किसी भी वृत्त के सैकड़ों विभाग किये जाने से वृत्त का चापाकार विभाग सरल रेखा की तरह होता है अर्थात् चापीय रेखा और सरल रेखा में अभेद हो जाता है।

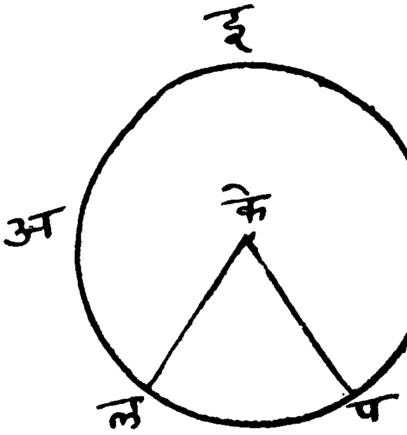

और भी कल्पना कीजिए कि इस वृत्त के अनेक विभाग अर्थात् न अपरमित संख्या के तुल्य कर दिये गये। इसका एक भाग प ल है। इस प्रकार इस वृत्त में ल प के बराबर न संख्या तुल्य अनेक त्रिभुज उत्पन्न होंगे। एक त्रिभुज के क्षेत्रफल को न संख्या के तुल्य त्रिभुज संख्या से गुणा करने पर समग्र वृत्त का क्षेत्रफल निकल जावेगा।

इस त्रिभुज की एक भुजा का मान परिधिमान में न संख्या से भाग देने से ज्ञात होगा। और इस त्रिभुज में $\frac{\text{व्यास}}{२}$ = लम्ब का मान है। अतः एक त्रिभुज का क्षेत्र फल, प्राचीन आचार्यों के "लम्ब गुणं भूम्यर्धं स्पष्टं त्रिभुजे फलं भवतीति" के अनुसार "त्रिभुज के आधार को त्रिभुज के लम्ब से गुणित कर २ से भाग देने से ज्ञात होता है" यथा—

$\frac{\text{परिधि}}{\text{न}} \times \frac{\text{व्या०}}{२} \times \frac{१}{२} = \frac{\text{परिधि} \times \text{व्यास}}{४ \times \text{न}}$, यह एक त्रिभुज का क्षेत्रफल है। इस क्षेत्रफल को न संख्या से गुणा करने से

$\frac{\text{परिधि} \times \text{न} \times \text{व्यास}}{४ \times \text{न}} = \frac{\text{परिधि} \times \text{व्यास}}{४}$, यह वृत्त का क्षेत्रफल हुआ। "वृत्त क्षेत्रे परिधि गुणितः व्यास पादः फलन्तत्" यह भास्कराचार्य का सिद्धान्त सम्यगुपपन्न हो रहा है।

"कन्दुकस्येव जालम्" कन्दुक को जाल से आवृत्त करने से जाल का क्षेत्रफल = कन्दुक पृष्ठफल = गोल पृष्ठफल = (यदि पृथ्वी को कन्दुक मानें तो) पृथ्वी का पृष्ठ फल = $\frac{\text{परिधि} \times \text{व्यास} \times ४}{४}$ = परिधि × व्यास।

"परिधिव्यासाहतेः प्रस्फुटम्" अर्थात् परिधि और व्यास के गुणनफल के तुल्य किसी भी गोल का पृष्ठ फल होता है। (विस्तार भय से यहाँ उपपत्ति प्रकार नहीं दिया जा रहा है।)

किसी भी गोल घनत्व का घनफल जानने के लिये गोल पृष्ठ बिन्दु से गोल गर्भ तक की त्रिज्या=व्यासार्ध का ज्ञान आवश्यक है। पृथ्वी की गहराई=पृथ्वी का व्यासार्ध $= \frac{\text{व्यास}}{२}$, यह वेध के तुल्य है।

"क्षेत्रफलं वेधहतं, तथा समखातफल त्र्यंशःसूची खाते फलं भवति" इन नियमों से समखात क्षेत्रफल का तृतीयांश सूची खात क्षेत्रफल होता है—

$\frac{\text{पृष्ठ फल} \times \text{व्यास}}{२} \times \frac{१}{३} = \frac{\text{पृष्ठ फल} \times \text{व्यास}}{६}$, यतः यहाँ पर पूर्व रीति से पृष्ठफल= परिधि × व्यास के तुल्य है, अतः पृष्ठ फल में उत्थापन देने से—

$\frac{\text{परिधि} \times \text{व्यास} \times \text{व्यास}}{६} = \frac{\text{पृष्ठफल} \times \text{व्यास}}{६}$ यह "गोलस्यैवं तदपि च फलं पृष्ठजं व्यासनिघ्नं षड्भिर्भक्तं भवति नियतं गोलगर्भे घनाख्यम्" अर्थात् गोल के पृष्ठफल को व्यास से गुणा कर ६ से भाग देने से किसी भी गोल पिण्ड का घनफल हो जाता है—

इसी आधार से संभवतः एक छोटे से भूचाप के माप के क्षेत्रफल ज्ञान से उसे वजन रूप में परिणामित कर, पृथ्वी का भार का भी ज्ञान सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार के ग्रहगणित सिद्धान्त यहाँ १०वीं ११वीं शताब्दी तक में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

अब यहाँ इस प्रसंग पर उक्त प्रकार को जिसको पाश्चात्य देशीय गणितज्ञ न्यूटन ने भी निर्मित किया था, देखना चाहिए—

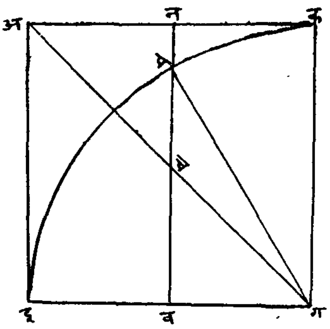

यहाँ सामने के क्षेत्र में इ क ग के रूप में वृत्त का एक चतुर्थांश है। इ, क, इन चाप प्रान्तों से की हुई स्पर्श रेखाओं से इ अ क ग वर्ग क्षेत्र उत्पन्न होता है। अ ग रेखा कीजिये। इ और ग इन दोनों बिन्दुओं को स्थिर कर, इ ग आधार के चारों तरफ इ अ क ग वर्गक्षेत्र भ्रमण से एक गोलार्ध तथा इ अ ग त्रिभुज भ्रमण से एक समसूची उत्पन्न होती है। इस प्रसंग के अनेक समतल-मस्तक शंकु क्षेत्र के आधार को समानान्तर धरातल से छेदन करने इत्यादि उपकरणों के द्वारा—

$\because \angle$ अ ग इ $= \angle$ ग अ इ। $\therefore \angle$ ग च व $= \angle$ व ग च (रेखागणित से)

अतः च व=व ग। तथा व $\text{ग}^२ +$ व $\text{प}^२ =$ ग $\text{प}^२$

अथवा व $\text{च}^२ +$ व $\text{प}^२ =$ व $\text{न}^२$, क्योंकि प ग=व न

$\text{४ व च}^{2} + \text{४ व प}^{2} = \text{४ व न}^{2},\ (\text{२ व च})^{2} + (\text{२ व प})^{2} = (\text{२ व न})^{2}$

= व च व्यासार्धोत्पन्नवृत्तक्षेत्रफल + व प व्यासार्धोत्पन्न वृत्त क्षेत्रफल

= व न व्यासार्धोत्पन्न वृत्त क्षेत्रफल (क्षेत्रमिति से)

इस प्रकार इ क चाप के प्रत्येक विन्दु से समानान्तर भूतलच्छिन्न करने पर इसी प्रकार क्षेत्रफलों का योग सम्बन्ध होगा। समान पक्षों में समान योग वियोग गुणन भजनादि से समता ही रहती है—इस युक्ति से

समतलमस्तकशंकु क्षेत्रफल = गोलार्ध घनफल + सूची घनफल

∴ समतलमस्तक क्षेत्रफल = गोलार्ध घनफल

अथवा

$$\text{वृत्तक्षेत्रफल} \times \text{त्रिज्या} - \frac{\text{वृत्तक्षेत्रफल} \times \text{त्रिज्या}}{\text{३}} = \text{गोलार्ध घनफल}$$

$$= \frac{\text{२} \times \text{त्रिज्या} \times \text{वृत्तक्षेत्रफल}}{\text{३}} = \frac{\text{व्यास} \times \text{वृत्त क्षेत्रफल}}{\text{३}}$$

$$\text{अतः गोलघन फल} = \frac{\text{२} \times \text{व्यास} \times \text{वृत्त क्षेत्रफल}}{\text{३}} = \frac{\text{४} \times \text{व्यास} \times \text{वृत्त क्षेत्रफल}}{\text{६}}$$

१८वीं शताब्दी के कैंब्रिज विश्वविद्यालय के गणित के प्रोफेसर गणक "न्यूटन" निर्मित पृष्ठफल = ११वीं शताब्दी के सह्य पर्वत के निकटस्थ रहने वाले एक भारतीय गणितज्ञ भास्कराचार्य निर्मित भूमि के पृष्ठफल के तुल्य।

पाठक महोदय स्वयं विचार कर सकते हैं कि भारतीय ग्रहगणित जब विकसित होकर यत्र तत्र प्रसारित हो रहा है, तब अन्यत्र उक्त प्रकार के सिद्धान्तों का सृजन हो रहा है। या यह भी कहा जा सकता है कि सुदूर पश्चिम और पूर्व का आदान प्रदान बराबर होते रहने से भी इस ज्ञान की पृष्ठभूमि अमुक जगह ही है इदमित्थं भी नहीं कहा जा सकता है।

किन्तु हमें उस समय बहुत दुख होता है जब कि गणितज्ञों की चर्चा में छोटी श्रेणी तक के बालकों के मुख से विदेशी विद्वानों की चर्चा सुनते हैं और अपने विद्वान् पूर्वजों की, जिन्होंने हमारे लिये बहुत कुछ दे रखा है, चर्चा तक नहीं होती। सुनने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

यही नहीं हमारे ग्रहगणित के प्रसिद्ध आचार्य गणेश दैवज्ञ (ई० १५०७) जिन्होंने १३ वर्ष की ही अवस्था में ग्रह गणित का सर्व व्यापक, सर्व प्रसिद्ध और सभी मतों का संयोजक परम आदरणीय 'ग्रहलाघव' ग्रन्थ लिखा, उक्त ग्रन्थ के आधार पर ही उसी के श्लोकों को यथा स्थान रखते हुये और उक्त सौरोक्त मूल सिद्धान्तों को जान कर—'केतकी ग्रहगणित' ग्रन्थ कर्त्ता वेंकटेश केतकरने (१९२९) ने प्राचीन ग्रह गणित पद्धति में स्थूलता एवं गणित क्लेश बाहुल्य माना है—

जैसे—

विच्छुक्रक्षितिभौमजीवशनयो दीर्घेषु वृत्तेषु।
तन्नाभिस्थित सूर्यकर्षणबलात् शश्वद्भ्रमन्तीति सत् इत्यादि।

केतकी ग्रहगणित भाष्य श्लोक ७ और इसकी व्याख्या का अनुवाद—

सूर्य सिद्धान्तकार तथा ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ ने प्राङमध्यमे चलफलस्य दलं प्रदद्यात्······इत्यादि से ग्रह स्पष्टीकरण की जो पद्धति निर्मित की है, वह बार बार गणित करने से केवल कष्ट प्रद ही नहीं अपितु सूक्ष्म दृक्प्रतीति में सर्वथा असमर्थ भी कही गई है।

बुध, शुक्र, भू, कुज, गुरु और शनि ये ६ ग्रह उक्त क्रम से सूर्य के चारों तरफ दीर्घवर्त्तुल कक्षा में भ्रमण करते हैं। दीर्घवृत्त के शंकुच्छिन्न (Conic Sections) नियम से दो (नाभियाँ) केन्द्र होते हैं। एक केन्द्र में सूर्य और दूसरी नाभि रिक्त होती है। सूर्य के प्राकृतिक जाल नियन्त्रित आकर्षण बल से ये भ्रमण करते हैं। यह आधुनिक सूक्ष्मज्ञान संभव मत है जो प्रतीतिजनक है और दृगैक्यकर भी है।

केतकीकार ने इस प्रसंग पर आर्यभट्ट भानामधः शनैश्चर वृहस्पति कुज अर्क शुक्र बुध चन्द्राः। तेषामधः भूमिर्मेदी भूता···इत्यादि दिया है।

पञ्चसिद्धान्तिका—"चन्द्रादूर्ध्वं बुधसितरविकुजजीवार्कजास्ततो भानि" इति

ब्रह्मगुप्त—शशिबुधासितार्ककुजगुरुशनिकक्षावेष्टितो भकक्षान्तः इति

लल्लमत से—चन्द्रज्ञभार्गवदिनेशकुजार्यसौरि भानि क्षिते क्रमत ऊर्ध्वं गतिस्थितानि इति—

श्रीपति के सिद्धान्त शेखर में—ग्रहनक्षत्रधरित्री संस्थानस्येह दर्शनोपायः गोल इति कथ्यतेऽसौ क्षेत्रविशेषो गणितगम्यः।

अधोभचक्राच्छनिजीवभौमसूर्यास्फुजिद्बोधनशीतभासां कक्षा क्रमेणाकसुतादयोऽमी स्मृताश्च शीघ्रा कलिकाञ्च भुक्त्या।

भास्कराचार्य—अपने शिष्यों से कह गये हैं—दलीकृताभ्यां प्रथमं फलाभ्यामित्यादिति···यतो विचित्रा फल वासनाऽत्र।

आदि सिद्धान्त तथ्य संगत नहीं हैं और उपपत्ति युक्त भी नहीं हैं। प्राचीन आचार्यों ने भूमि को स्थिर मान कर भूमि के चारो तरफ अपनी अपनी कक्षाओं में ग्रहों की परिक्रमा होती हैं ऐसा कहा है, जो सदोष है। क्योंकि बुध और शुक्र के कर्णों (भूमिगभ से या भूमि पृष्ठ से बुध और शुक्र बिम्बों के गर्भ केन्द्रगत सूत्र का नाम ग्रह कर्ण है) में महान् अन्तर होता है, इन दोनों का शुक्रोदय और शुक्रास्त बुधोदय और बुधास्त ठीक घटित नहीं होता है। भूस्थिर मत के आधार से मन्द और शीघ्रफल की उपपत्तियों का निपुणता से स्पष्टी करण नहीं होता है। ग्रहगतियों की उपपत्ति के लिये प्राचीनों ने मन्दनीचोच्च वृत्तों की कल्पना की है। ऐसी कल्पना से मन्द और शीघ्र कर्ण की अभेद की संभावना से व्याकुलता की स्थिति आ सकती है। इस व्याकुलता को दूर करने में प्राचीन आचार्य असमर्थ रहे। भास्कराचार्य के फल की उपपत्ति अति विचित्र है। प्रथम तो मन्दफल का आधा मध्यम ग्रह में संस्कार कर पुनः उससे शीघ्रफल लाकर—अर्थात् प्रथम फलों का आधा पुनः समग्र फल संस्कारपुरः सर प्राचीनों ने स्पष्ट ग्रह का ज्ञान किया है।

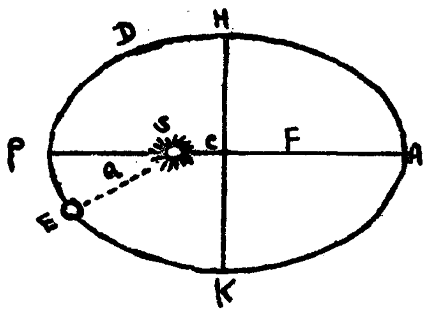

जैसे—

ग्रहों की भ्रमण कक्षा दीर्घवृत्ताकारिका है। एक नाभि में रविबिम्ब स्थिर है। रवि केन्द्राभिप्रायिक बुध शुक्र पृथ्वी मंगल गुरु और शनि की कक्षाएँ हैं। सूर्य से शनि ही सर्वाधिक दूरी पर हैं।

बार बार वेध करते हुये ता० १ जुलाई को रवि का परम लघु विम्ब ३१। ३१ कलादिक उपलब्ध हुआ। दिसम्बर की अन्तिम तारीख को ३२।३५।६ कलादिक रविविम्ब उपलब्ध हुआ। मध्य में क्रमशः हानि वृद्धि हुई।

अर्थात् परम अधिक बिम्ब में सूर्य भूमि के समीप नीचस्थ होता है। परम उच्च बिम्ब भूमि से दूरी पर उच्च बिन्दु पर होता है।

(इस जगह पर केतकर ने, प्राचीन आचार्यों की युक्तियाँ स्वीकार की हैं और प्रमाणी भूत वाक्य अपने केतकी ग्रन्थ में भी सादर लिखे हैं। सम्पादक)

किन्तु वर्त्तुल गोलीकक्षा कल्पना में इससे भिन्न भिन्नान्तर का संभव नहीं है। अर्थात् भूमि कक्षा वर्त्तुलाकार नहीं है। इसलिये भूमि कक्षा का स्वरूप निर्णीत कर रहा हूँ।

दिसम्बर के अन्तिम दिन से सूर्यबिम्ब, और भोग दिन दिन एक वर्ष के अन्त तक वेध से जानते हुये उन उन स्थानों के परिलेख से कक्षा का क्रम जानना चाहिए।

जैसे किसी दिन वेध से वेधित सूर्य को उक्त क्षेत्र में देखिये।

P EK AD. यह भू कथा, S सूर्य, C केन्द्र, F रिक्त नाभि, P नीच, A उच्च, E किसी विशिष्ट समय में भूमि की स्थिति है। Q=क्यू=भूगोल की कोणीय गति मान। As, Ps, भू और सूर्य का अन्तर है। Sc केन्द्रच्युति। सूर्य और भूमि के कम अन्तर में बिम्ब की वृद्धि एवं अधिक अन्तर में बिम्ब की न्यूनता होती है, अत एव व्यत्क्रम से बिम्बमान साधन होगा।

बिम्ब मानद्वय से SP, SA इन दोनों अन्तरों को साधित करते हैं। जैसे— $\frac{SP}{SA}=\frac{३१.५}{३२.६}$ अर्थात् $\frac{SP}{SP+SA}=\frac{SP}{PA}=\frac{३१\cdot५}{(३१\cdot५+३२\cdot६)}=\frac{३१\cdot५}{६४\cdot१}$, यहाँ पर PA= २ अ, मान कर CP=CA=a (अ) PA=२ A (अ) लिखना चाहिए। $\frac{PS}{२a}=\frac{३१\cdot५}{६४\cdot१}$

तब $PS=\frac{२a\times ३१\cdot५}{६४\cdot१}=\frac{६३\times a}{६४\cdot१}=\cdot९८३\times a$=लघु अक्ष। $SA=२a-\cdot९८३\,a$ $=१\cdot०१७\times a$=बृहदक्ष। $SC=SA-CA=१\cdot०१७\times a-a=०\cdot०१७$ केन्द्रच्युति। SC+CF=द्विगुण च्युति। इस प्रकार यहाँ बृहद्व्यास और लघुव्यास (बृहदक्ष और

लघु अक्ष) और केन्द्रच्युति इत्यादि जो हमने प्राप्त की है ये सब दीर्घवर्त्तुल कक्षा के ही क्रम से प्राप्त होती है, इसलिये "दीर्घवृत्ते तत्तन्नाभीत्यादि उपपन्न होता है। (उद्धृत केतकरोप्वाह् श्री रामकृष्णसुनु श्री वेंकटेश विरचितम् स्वकृतया अंकविवृति कारकया सहितम्, सपरिशिष्टम् ग्रन्थ के पृष्ठ २९-३० के संस्कृत का हिन्दी अनुवाद)

यह सब प्राय: प्राचीनों की ही उक्तियाँ हैं जिन्हें केतकर महोदय ने उक्त भांति कहा। जैसे—

बड़े ग्रह पिण्डों के उच्चाकर्षण की अपेक्षा छोटे ग्रह पिण्डों का उच्चाकर्षण अधिक होता है—इत्यादि सिद्धान्त भारतीय ग्रह गणितज्ञों ने आर्य भट्ट के पहले या पश्चात् समझ लिये थे, जिसे हम आधुनिक सूर्य सिद्धान्त में देख रहे हैं।

भौमादयोऽल्प मूर्त्तित्वाच्छीघ्रमन्दोच्चसंज्ञकैः-
दैवतैरपकृष्यन्ते सुदूरमति वेगिताः ।।
अतो धनर्णं सुमहत्तेषां गतिवशाद्भवेत् ।
पूर्वापरापकृष्टास्ते गतिं यान्ति पृथग्विधामित्यादि ।

पृथ्वी और सूर्य में यदि एक को स्थिर कहा जाय तो अवश्य दूसरा चल कहा जावेगा। यदि सूर्य स्थिर है तो पृथ्वी चल है। इसलिये सूर्य की दैनन्दनीय या वार्षिक गतियों का सिद्धान्त ग्रन्थों में जो भी क्रम है, उस क्रम को पृथ्वी की दैनन्दनीय गतियों से समझना चाहिए। इन दोनों ग्रहपिण्डों में एक पिण्ड की अवश्य स्थिरता है इसमें पौर्वात्य तथा पाश्चात्य और प्राचीन या अर्वाचीन मतों में लेश मात्र का भी अन्तर नहीं है।

पृथ्वी अपनी धुरी पर $२३\frac{१}{२}^\circ$ का कोण बनाती हुई प्रवह वायु वेग से प्रतिदिन सूर्य की परिक्रमा करती हुई साल भर में पूर्वाभिमुखी गति से सूर्य की एक परिक्रमा करती है। प्राचीन या नवीन इस मत से हमारे ग्रह गणित में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता है "दिनोन्मुखेऽर्के," 'दिन (सूर्य) की उन्मुखता जिस सूर्य से होती है', "दिनं सुराणामयनं यदुत्तरम्" 'देवताओं का दिन तब होता है जब उत्तर अयन (चलन) अर्थात् उत्तर चलन होता है' आदि इन वाक्यों में भी पृथ्वी के चलन की ध्वनि ध्वनित होती है। शास्त्रों में 'अचलाऽपि चलतीयं भूः' इत्यादि वाक्य उक्त भूचलन मत के पोषक हैं। और भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि—

दिनं दिनेशस्य यतोऽत्र दर्शने, तमी तमोहन्तुरदर्शने सति ।
कुपृष्ठगानां द्युनिशं यथा नृणां तथा पितृणां शशिपृष्ठवासिनाम् ।।

'जहाँ सूर्य दर्शन होता है वहाँ दिन तथा सूर्य का जहाँ अदर्शन है वहाँ रात्रि होती है'—यह कथन भी भूचल मत में चरितार्थ हो सकता है।

भूपृष्ठीय जन समाज के लिये दिन रात्रि का उक्त लक्षण समग्र सौर मण्डल के अन्य उपग्रह पिण्डों के पृष्ठस्थित पिण्डों के गुणानुसार उत्पन्न सृष्टि के चराचर जीवों के लिये भी हो सकता है। चन्द्र पृष्ठस्थ पितरों के लिये भी उक्त लक्षण लक्षित दिन रात्रि का पूर्ण धर्म घटित होता है।

विशेषता यही है कि जब चन्द्रमा की सौर मण्डल की एक परिक्रमा पूर्तिकाल में अर्थात् चान्द्रमान की हमारी ३० तिथियों में पितृलोक में एक अहोरात्र (२४ घण्टा) होता है। अर्थतः वहाँ १५ तिथियों का एक दिन एवं १५ तिथियों की एक रात्रि होती है। इत्यादि।

पृथ्वी में जो देश भूमध्य रेखा में पड़ते हैं उन देशों में अक्षांश ० शून्य होते हैं। अतएव इन देशों या नगरों को निरक्ष देश कहते हैं। विषुवत रेखा में स्थित देशों की भू परिधि का मान निकालने से उस परिधि में सबसे बड़ा व्यास बृहद्व्यास होता है। क्योंकि इस बृहद्व्यास को भुज मान कर, भूमध्यरेखागत नगर और उससे उत्तर या दक्षिण के किसी नगर (जो निरक्ष देश के याम्योत्तर वृत्त के धरातल में होता है) के अन्तर को कोटि मान कर उसके व्यास का साधन करते हैं तो वह छोटा व्यास होता है। इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी की भी परिधि सर्वात्मना वर्त्तुल नहीं है अपितु दीर्घवर्त्तुल ही है।

एक जगह ३९६३ क्रोश के तुल्य अन्यत्र ३९५० क्रोश के तुल्य भू-व्यासमान होने से ऐसे व्यास दीर्घवृत्ताकार परिधि में उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार प्राचीनों को दीर्घवृत्त में ही ग्रहों का भ्रमण ज्ञात था एवं सूर्य केन्द्राभिप्रयिक ही अन्य ग्रहों का चलन होता है, ऐसी उनको प्रतीति भी थी।

बुध और शुक्र के कर्णों का महान् अन्तर देखा गया है। यह अन्तर "भू-स्थिर मत" के मानने से तथा "सभी ग्रह सूर्य के चारों तरफ भ्रमण करते हैं"—इस मत की स्वीकृति से होता है ऐसा नवीनों का कथन है।

किन्तु—भास्कराचार्य के तथा भास्कर और पूर्व के माधवीय सिद्धान्त चूडामणि तथा सूर्य सिद्धान्त आदि ग्रन्थों में—

"ये चात्र पात भगणाः पठिताः ज्ञभृग्वोस्ते शीघ्रकेन्द्र भगणैरधिका यतः स्युः।
स्वल्पाः सुखार्थं मुदिताश्चलकेन्द्रयुक्तौ पातौ तयोः पठितचक्रभवौ विधेयौ।"

प्राचीनों ने बुध और शुक्र की याम्योत्तर रूप (शर) अन्तर की सिद्धि में मंगल, गुरु और शनि के सम्पात स्थानों में पात और उच्च का योग माना है, अर्थात् यहाँ पर सपात भुजज्या से अन्तर साधन किया है—इससे उनका दृढ़ निश्चय प्रकट होता है कि उनके मत से सभी ग्रहों का मध्यकेन्द्र रवि (सूर्य) है, अर्थात्–सभी ग्रह रवि केन्द्राभिप्रायिक होकर उसके चारों तरफ भ्रमण करते हैं इसे वे अच्छी तरह जानते थे। इसे जान कर भी लोक व्यवहार में पृथ्वी स्थित मानव की प्रत्यक्ष प्रतीति प्रद सूर्य परिभ्रमण मत की मान्यता को अस्वीकार करने में लोक संकोच करते थे।

अपनी कक्षा में भ्रमण करती हुई पृथ्वी का जो भाग सूर्य के अभिमुख भाग में होने से दिन तथा विपरीत भाग में होने से पृथ्वी की छाया रूप अन्धकार को रात्रि मानते हुये भी नवीन विज्ञान पृथ्वी का उदय या पृथ्वी का अस्त न लिख कर अभी तक सूर्योदय और सूर्यास्त लिखने की पद्धति में परिवर्त्तन करने में क्यों संकोच कर रहे हैं?

म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी प्रणीत 'धराभ्रम' नामक लघुग्रन्थ में उक्त मतों का सम्यग्विवेचन किया गया है। नवीन और प्राचीन दोनों वादी प्रतिवादियों के शास्त्रार्थ

संग्रह रूप उक्त ग्रन्थ में भूभ्रम और भूअभ्रम का भयंकर भ्रम प्राचीनों की उक्तियों से ही भ्रामायमाण भंग किया गया है।

जैसे—सभी ग्रह रवि केन्द्राभिप्रायिक होकर सौर मण्डल की परिक्रमा करते हैं—

सर्वे भ्रमन्ति रवि केन्द्रगतासु खेटाः
कक्षासु तर्हि धरणीभ्रमणं न किंस्यात्।
प्राचीनवर्य्य रविकेन्द्रज कक्षिकायां
सर्वग्रहेषु नियमोऽत्र समोऽस्ति येन ॥४४॥

विशेष—दृश्य गणित के स्पष्टीकरण से (वेध गणित से) ग्रहों का जो स्पष्ट होता है, है उसी के तुल्य ही प्राचीन गणित के स्पष्टी करण से ग्रह स्पष्ट होता है। तब सूर्य और पृथ्वी में किसी का भी भ्रमण हो इस भ्रमण के भ्रम से गणित के फल में विकृति नहीं होती–अतएव भू-केन्द्राभिप्रायिक ग्रह कक्षा की कल्पना में हमारी कोई हानि नहीं है अथवा सूर्यकक्षाभिप्रायिक ग्रह कक्षा की कल्पना से भी गणित में कोई भी अन्तर नहीं होता है। इत्यादि।

एक और ध्यान देने की बात है—प्राचीन आचार्यों में भास्कराचार्य प्रभृति आचार्यों के ग्रहों के उदयास्ताधिकार—सम्मत

'प्राग्दृग्ग्रहः स्यादुदयाख्य लग्नं अस्ताख्यकं पश्चिमदृग्ग्रहः सः।
प्रागदृग्ग्रहोऽत्र यदीष्ट लग्नाद्गतो गमिष्यत्युदयं बहुश्चेत् ॥१॥
ऊनोऽधिकः पश्चिमदृग्ग्रहश्चे दस्तं गतो यास्यति चेति वेद्यम्।'

इत्यादि वाक्य हैं, जिनका तात्पर्य यह है कि जिस दिन जिस समय जिस ग्रह का उदय या अस्त ज्ञात करना है, तात्कालिक ग्रह के उदय लग्न और इष्ट लग्न दोनों का साधन करना चाहिए। उदय लग्न को प्राग्दृग्ग्रह एवं अस्त लग्न को पश्चिम दृग्ग्रह मान कर इष्ट लग्न से प्रागदृग्ग्रह के कम होने से 'उदय' एवं अधिक होने से अस्त होगा ऐसा समझना चाहिए। इसी परम्परा से उदय और अस्त हो गये, हो रहे हैं और होंगे ऐसा समझना चाहिए। साथ ही भास्कराचार्य ने बुध और शुक्र के लिये और भी विशेष कहा है कि—

ज्ञशुक्रावृजू प्रत्यगुदगम्य वक्रां गतिं प्राप्य तत्रैव यातः प्रतिष्ठाम्।
ततः प्राक् समुद्गम्य वक्रावृजुत्वं समासाद्य तत्रैव चास्तं व्रजेताम् ॥

जब बुध और शुक्र यदि मार्ग गतिक हों तो अधिक गतिक होने से पश्चिम में उदय होकर वहीं वक्र होकर वहीं अस्त भी होते हुये, वक्र गति से ही पूरब में उदित होकर पुनः वक्रतात्याग के अनन्तर अधिक गतिक होने से पूरब में ही अस्त होते हैं। यह सब स्पष्ट उल्लेख प्राचीनों का है, तदनुसार कुछ विवेचन आवश्यक है जिससे भी दृश्य गणितज्ञों का भ्रम दूर हो सकता है यदि वह वेध के अतिरिक्त खगोल को भी उपयोग में लाने की चेष्टा करें—

सूर्य सिद्धान्त ने भी उक्त भास्कर मतानुसार कहा है—

सूर्यादभ्यधिकाः पश्चादस्तं जीवकुजार्कजाः। इत्यादि।

यहाँ पर सुधावर्षिणीकार का कथन उल्लेखनीय है—जिसका हिन्दी अनुवाद यह है।

'नवीन लोग ग्रहों की भ्रमण कक्षा दीर्घ वृत्ताकार मानते हैं। दीर्घ वृत्त में दो केन्द्र होते हैं। एक केन्द्र में रवि को स्थिर मानते हैं और स्वल्पान्तर से दीर्घवृत्त भी वृत्त की ही तरह देखा जाता है जिसके केन्द्र में रवि स्थिर है और पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ अपनी कक्षा में घूमती है ऐसा भी नवीन कहते हैं।

यहाँ पृथ्वी (भू) को स्थिर मान कर शुक्र का सापेक्ष्यकक्षावृत्त, स्प क $उ_1$ $स्प_1$ $क_1$ स्प ख ख को कल्पना कर इससे अत्यन्त दूरी पर में स्प कं उ $कं^1$ $स्पं_1$ की कल्पना की जाते हुये (शराग्र में) क्रान्तिवृत्तीय पूर्व की ओर अपनी कक्षा में क $उ_1$ $क_1$ $स्प_1$ विन्दुओं में पहुँचा हुआ शुक्र क्रान्तिवृत्त में पृथ्वी निवासियों से क्रमशः स्पं कं उ $क_1$ $स्पं_1$ विन्दुओं में देखा जाता है।

स्प विन्दु से $स्प_1$ विन्दु तक अपनी कक्षा गत क्रान्तिवृत्तीयशुक्र स्पं विन्दु से $स्पं_1$ विन्दु तक गया हुआ मालूम पड़ता है। जब उ विन्दु में क्रान्तिवृत्त में शुक्र है तो रवि शुक्र दोनों एक दृक्सूत्र में होने से इस समय शुक्र का परम अस्त समय है। जब सूर्य के प्रकाशपुञ्ज से कालांश के अन्तर तुल्य शुक्र $कं_1$ विन्दु में होता है तब भू रवि

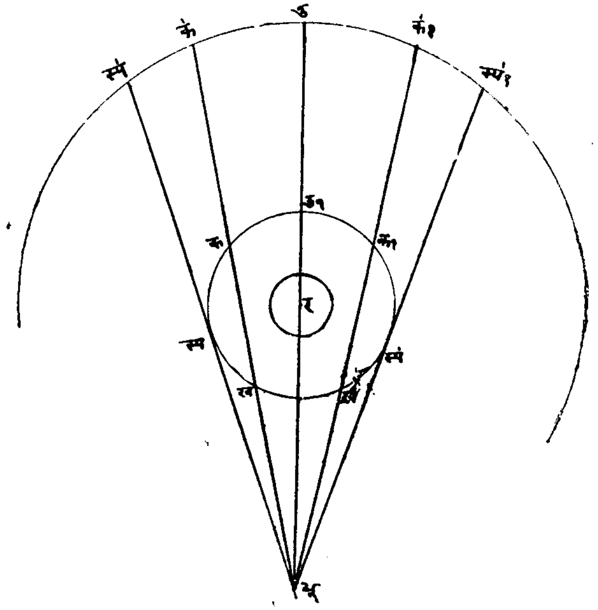

$उ_1$ उ रेखा में प्रवह से अस्तंगत रवि की स्थिति में $क_1$ बिन्दुगत शुक्र का पश्चिम में दर्शन होगा। इस प्रकार रवि और शुक्र का पश्चिम दिशा में नित्य उत्तरोत्तर अन्तर बढ़ता जावेगा, और शुक्र बिम्ब बहुत द्युतिमान देखा जायगा। तब अपनी कक्षास्थ शुक्र $स्प_1$ विन्दु में होगा। तब क्रमशः अपनी कक्षा में भ्रमण करता हुआ शुक्र क्रान्तिवृत्त में $स्पं_1$ बिन्दु से उत्तरोत्तर पश्चिम दिशा में देखा जावेगा। फिर वक्र गति से $कं_1$ स्थान गत शुक्र सूर्य

से कालांशान्तरित होने से पुनः अदृश्य हो जावेगा। वक्रत्याग के पश्चात् मार्ग होकर पुनः सन्ध्या समय पश्चिम में दीखेगा। पुनः वक्र गति प्राप्त कर वहीं पश्चिम में अस्त होगा। इस प्रकार वक्र गतिक शुक्र जब उ स्थान से कं बिन्दु गत होगा तब कालांशान्तरित होकर रात्रि शेष में सूर्योदय के पहिले पूर्व क्षितिज से ऊपर शुक्र का चमकीला बिम्ब दिखाई देगा। पश्चात् जब तक स्पं विन्दु गत दीखेगा तब सूर्य से पर्याप्त दूरी पर होगा। तब अपनी कक्षा म शुक्र स्प स्थान में होगा। भू स्प स्पं और भू स्प$_1$ स्पं$_1$ ये दोनों रेखा के स्थिर भू विन्दु से शुक्र सापेक्ष्य कक्षा पर स्पर्श रेखायें समझनी चाहिए। तब स्प स्थान से अपनी कक्षा में क्रमशः चलता हुआ शुक्र क्रान्तिवृत्त में मार्ग (अनुगामि, गतिक) देखा जावेगा। अतः मार्ग गतिक होने से पुनः सूर्य के आसन्न होने से पूर्व दिशा में अस्त देखा जावेगा। इसी प्रकार बुध की भी स्थिति समझनी चाहिए।

इससे नवीनों के मत से सूर्य सिद्धान्तीय बुध एवं शुक्र की उदयास्त की दिशाएं स्पष्ट रूप से उपपन्न होती हैं। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीनों के मन में भी सूर्य केन्द्राभिप्रायिक ही ग्रहों का कक्षा क्रम था, किन्तु लोक प्रतीति के लिये भूमि के चारों तरफ ग्रहों की कक्षा उन्होंने प्रतिपादित की हैं। यह मत म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी का है—नवीन विद्वान् इस पर ध्यान से विचार करें।

भास्कराचार्य द्वारा कहे गये बुध शुक्र के उदयास्त के सिद्धान्त भी इसी प्रकार सम्यगुपपन्न होने से सूर्य केन्द्राभिप्रायिक कक्षा की कल्पना प्राचीनों के मन में सुदृढ़ थी ऐसा कहा जा सकता है। उसी को मन में रखते हुये उन्होंने जिस प्रकार ग्रहों का स्पष्टीकरण ठीक होता देखा उसी प्रकार की विचित्र, अति उत्तम एवं अतिसुन्दर खगोल गणित की प्रक्रियायें हमें बताई हैं। इस क्लिष्ट गणित कर्म को सरल बनाने का श्रेय उन्हीं को है तभी उन्होंने—

'यतो विचित्रा फल वासनाऽत्र' भी कहा है। यहाँ विचित्र शब्द से उन्हें भ्रमित समझना या कहना भयंकर भूल होगी। अपने देश के गम्भीर एवं गहन गणित गौरव की दीक्षा भी नवीनों ने नहीं समझी। वस्तुतः यह विचित्रता नवीनों की है ऐसा कहना ही उचित होगा।

और भी एक विशेष ध्यान देने की बात है कि प्राचीन आचार्यों में भास्कराचार्य ने अपने गोलाध्याय के स्पष्टाधिकार में ग्रह भ्रमण मार्ग का केन्द्र भू केन्द्र नहीं है—इस मत का दृढ़ता से प्रतिपादन किया है—

भूमेर्मध्ये खलु भवलस्याऽपि मध्यं यतः स्यात्
यस्मिन्वृत्ते भ्रमति खचरो नास्य मध्यं कुमध्ये।
भूस्थो द्रष्टा नहि भवलये मध्यतुल्यं प्रपश्येत्
तस्मात् तज्ज्ञैः क्रियत इह तद्दोः फलं मध्यखेटे।

अश्विनी आदि नक्षत्रों सहित यह भपञ्जर भूमि के चारों तरफ समान अन्तर से है इसलिये इस राशि चक्र का केन्द्र विन्दु भू केन्द्र है। किन्तु जिस वृत्त परिधि में ग्रह का

चलन है, उस वृत्त परिधि का केन्द्र भू केन्द्र नहीं है। मध्यम मान के गणित से सिद्ध ग्रह बिम्ब को क्रान्ति वृत्त में भूमिस्थ नर नहीं देखते हैं। इसलिये आकाश में जहाँ पर ग्रह दृश्य होता है उस स्थान को जानने के लिये मध्यम मान के गणित से साधित मध्यम ग्रह में कम और अधिक संस्कार विशेष करते हुये स्पष्ट ग्रह (जो दृश्य ग्रह है) बनाना चाहिए। इस प्रकार आचार्यों ने अनेक सिद्धान्तों का सर्जन कर दृश्य ग्रह ज्ञान किया है।

इसी प्रसंग में यह सिद्धान्त कि—उच्च और नीच विन्दुओं पर क्रमशः ग्रहोंका आकर्षण कम और अधिक होता है, तथा बिम्ब मान भी न्यूनाधिक देखा जाता है यह कथन तो भी प्राचीनों का ही है, यह ज्ञान नवीनों की स्वयं की गवेषणा का तो कदापि नहीं है। यह सिद्धान्त तो भारतीय ज्योतिष के उत्पत्ति काल से ही चला आ रहा है। जैसे—

उच्चस्थितो व्योमचरः सुदूरे नीचस्थितः स्यान्निकटे धरित्र्याः।
अतोऽणुबिम्बः पृथुलश्च भाति, भानोस्तथासन्नसुदूरवर्त्ती॥

भूमि से परम अधिक दूरी का उच्च, अर्थात् भूमि से अत्यन्त दूर का ग्रह बिम्ब, (परम ग्रह कर्ण की स्थिति) एवं भूमि के अत्यन्त समीप नीच, भूमि के समीप के ग्रह बिम्ब की दूरी—(परम अल्प कर्ण)

भूमिपृष्ठ से दूर रहने से ग्रह बिम्ब प्राकृतिक नियम से छोटा दीखता है, समीप रहने से ग्रह बिम्ब प्राकृतिक दृष्टि दोष के नियम से बड़ा दीखता है।

ऐसी उत्तम एवं अकाट्य खगोल की युक्तियों को समझ कर स्पष्ट ग्रह का राश्यादि वृत्त में स्थान नियत किया गया है। जैसे नीचे के क्षेत्र के रचना कौशल को देखकर पाठक स्वयं समझने की चेष्टा करेंगे।

नवीन गणित की महत्त्वपूर्ण लहरें अधिक से अधिक १०० वर्षों से ही भारत में अच्छी तरह से आ पाई हैं, किन्तु हमारे यहाँ का ग्रह गणित धीरे-धीरे सदा से वर्धमान हुआ है और आगे ही सदा गया है। यह देश का दुर्भाग्य है कि इस बीसवीं शती में भी हमारे ग्रहगोल गणित की स्थिति उसी विन्दु पर स्थिर है जहाँ पहले थी। इसके अनेक कारण हैं, जिनमें सर्व प्रधान कारण यही है कि हमें पाश्चात्य गणित की सारिणियों से बड़ी सहूलियत मिल गई, केवल फल से ही प्रयोजन रह गया और मूल सिद्धान्तों के ज्ञान की उपेक्षा ही नहीं महती दुर्दशा हो गई। उनका पठन-पाठन लुप्त प्राय सा हो गया और इस देश के देशी पञ्चाङ्गों ने देश को भ्रम में डाल दिया। ग्रहगणित सिद्धान्त ज्योतिष की चर्चा तक में भी फलित ज्योतिष पूर्ण बाधक सा हो गया है।

वस्तुतः जो ज्ञान पश्चिम से हमें अब मिल रहा है, वह हमारे यहाँ नहीं था, ऐसा कथन अनुचित है। ज्ञान की स्तुति करनी ही चाहिए वह जहाँ का भी हो, किन्तु अपने ज्ञान क्रम का भी इतिहास लुप्त नहीं होने देना चाहिए। इस अभिप्राय से यहाँ पर ई० सन् १७०० के उद्भट ग्रहगोल मर्मज्ञ कमलाकर भट्ट की एक सूझ को दिखाना उचित होगा।

कमलाकर भट्ट का कथन है कि भूगोल ही चल है। जिसे ध्रुव तारा कहा जाता है और जो भूमध्य रेखा स्थित नगरों से रात्रि में उत्तर क्षितिज में पृथ्वी पर चिपकी हुई सी तारा दिखलायी पड़ती है वह ध्रुव तारा भी स्थिर नहीं है। वह भी चलती है। जैसे—

"ध्रुव तारां स्थिरां ग्रन्थे मन्यन्ते ते कुबुद्धयः।
साकं तैस्तु विवादोऽपि सतां मूढत्वमेव हि ॥"

अर्थात्—अपने ग्रन्थों में ध्रुव तारा को स्थिर मानने वाले कुबुद्धि हैं। उनके साथ विवाद करना ही विद्वान् द्वारा मूर्खत्व की प्राप्ति करना है।

विचारने की बात—

ध्रुव तारा के चल होने से विषुवद्वृत्त का पृष्ठीय केन्द्र ध्रुव तारानिष्ठ भू विन्दु पर नहीं होगा। ध्रुव तारा का चलन पश्चिम भी मानता है। वह चलन किधर का है? (प्राक् पश्चिम या ऊर्ध्व, अधो या याम्य या उत्तर)।

इस चलन से हमारे भू प्रदेशों का जो स्थिर अक्षांश है उसके चलित होने से एक ही नगर की पलभा (विषुवद्दिन के मध्यान्ह में यत्र तत्र भू पृष्ठ पर पड़ने वाली शंकु की छाया का नाम पलभा है) भी भिन्न-भिन्न होंगी।

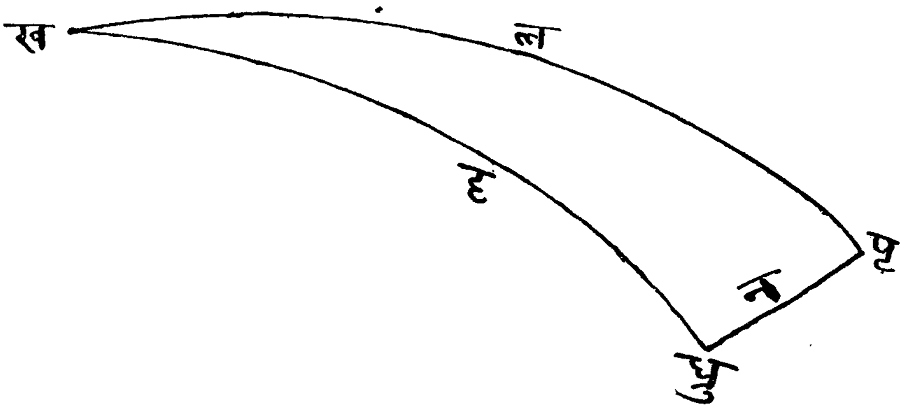

जैसे ध्यान से क्षेत्र देखते हुये विचार कीजिये।

कल्पना कीजिए कि ख=ख स्वस्तिक। ख पृ=वास्तविक याम्योत्तर वृत्त है जो महा विषुवद्वृत्त के पृष्ठीय केन्द्र में गया है। विषुवद्वृत्त का पृष्ठीय केन्द्र=पृ।

ध्रुव के वेध से प्राचीन रीति से अक्षांश=अ, लम्बांश,=(९०—अक्षांश)=ख ध्रु= ९०—अ। ख पृ=वास्तविक अक्षांश की कोटि =९०—अक्षांश। न=नतकाल का मान। ख ध्रु=दृ। ख पृ=ल।

ल—दृ=ध्रुवोन्नतांश—वास्तविक अक्षांश=य। पृ ध्रु=द्युज्याचापांश=द्यु। चापीय त्रिकोण गणित से—

कोज्या दृ=कोज्या ल कोज्या द्यु+ज्याल ज्या द्यु कोज्या न।

=कोज्या (दृ+य) कोज्या द्यु+ज्या (दृ+य) ज्या द्यु कोज्या न=(कोज्या दृ— य ज्या दृ—$\frac{\text{य}^{२}}{२}$ कोज्या दृ+$\frac{\text{य}^{3}}{६}$ ज्या दृ $\cdots$)×(१+$\frac{१}{२}$ द्यु^{२})+(ज्या दृ+य कोज्या दृ — $\frac{\text{य}^{२}}{२}$ज्या दृ+$\cdots$) (द्यु—$\frac{\text{द्यु}^{3}}{६}$+$\cdots$) कोज्यान।

इस प्रकार द्युज्या के वर्ग घन आदि घात रूप श्रेढ़ी में लाया जाता है। इसमें ज्या दृ से भाग देने से लघु संख्या के चतुर्थ घातादि मानों को स्वल्पान्तर से त्याग करने से

$$\text{को स्प दृ} = \text{को स्प दृ} - \text{य} + \text{द्यु को ज्या न} - \frac{\text{य}^{२}}{२}\text{को स्प दृ} - \frac{\text{द्यु}^{२}}{२}\text{ को स्प दृ} + \text{द्यु य को स्प दृ कोज्या न} + \frac{\text{य}^{3}}{६} + \frac{\text{य द्यु}^{२}}{२} - \frac{\text{य}^{२} - \text{द्यु}}{२}\text{ को ज्या न } \frac{\text{द्यु}^{३}}{६}\text{ को ज्या न}$$

अतः $\text{य} = \text{द्यु को ज्या न} - \frac{१}{२}\text{ को स्प दृ } (\text{य}^{२} + \text{द्यु}^{२} - \text{२य द्यु को ज्या न}) + \frac{१}{६}\ (\text{य}^{3} + \text{३य द्यु}^{२} - \text{३य}^{२}\text{ द्यु को ज्या न} - \text{द्यु}^{3}\text{ को ज्या न})$ यहाँ पर द्वितीय तृतीय आदि पदों का त्याग करने से प्रथम $\text{य} = \text{द्यु को ज्या न}$।

$\text{य}^{२}$, आदि मानों में उत्थापन से

द्वितीय, $\text{य} = \text{द्यु को ज्या न} - \frac{१}{२}\text{ द्यु}^{२}\text{ को स्प दृ ज्या}^{२}\text{ न}$, यह मान य वर्ग में प्रथम य मान को य घन में उत्थापन से, $\text{य} = \text{द्यु को ज्या न} = \frac{\text{द्यु}^{२}}{२}\text{ को स्प दृ ज्या}^{२}\text{ न} + \frac{\text{द्यु}^{३}}{३}\text{ को ज्या न ज्या}^{२}\text{ न}$। यदि य को द्यु विकला में प्रकाशकरें तब $\text{य} = \text{द्यु को ज्या न} - \text{र}\ \frac{\text{द्यु}^{२}}{२}\text{ ज्या, }१''\text{ को स्प दृ ज्या}^{२}\text{ न} + \frac{\text{द्यु}^{3}}{३}\text{ को ज्या}^{२}\ १''\text{ को ज्या न ज्या}^{२}\text{ न}$।

अन्तिम पद की तात्कालिक गति को शून्य कल्पना कर महत्तम मान $\text{३ को ज्या}^{२} - १ = ०$, इस समीकरण से $\frac{२}{९\sqrt{३}}\text{ द्यु}^{3}\text{ ज्या}^{२}\ १''$ इसके तुल्य आता है।

आज कल वेध से द्युजा मान १° । ३० से कम आता है। इस लिये परम अधिक अन्तिम पद का मान ०'' ५ से कम को त्यागने से वास्तविक अक्षांश होते हैं।

$$\text{वास्तविक अक्षांश} = \text{अ} - \text{द्यु को ज्या न} + \frac{\text{द्यु}^{२}}{२}\text{ ज्या }१''\text{ स्प अ ज्या}^{२}\text{ न}$$।

फलित हुआ कि भूमध्य रेखा के वर्धित आकाशीय धरातल (जो आकाशस्थ ध्रुव तारा जहाँ पर की है) से जो ध्रुव तारा ९०° पर अभी तक मानी जाती थी वह इस समय ९०° की दूरी पर नहीं है। विषुवत् रेखा पृथ्वी में जहाँ पहिले थी वहीं आज भी है, किन्तु विषुवत् रेखा की याम्योत्तर रेखा से ९०° की दूरी पर उसके क्षितिज में उत्तर दक्षिण में ध्रुव विन्दु नहीं हैं जो पहले थे। वह अब खिसक गये हैं। यह नवीनों का (बीसवीं शताब्दी का) कथन युक्तियुक्त है जिसे १७ वीं शताब्दी में खगोल मर्मज्ञ कमलाकर भट्ट ने स्पष्ट बता दिया था।

राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग के अयनांश तथा प्राचीनों की त्रुटियों के सम्बन्ध के विचार

(राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग की भूमिका पृष्ठ ८···११)

राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग के सम्पादक ने अपने पञ्चाङ्ग को सार्थक सिद्ध करने के हेतु उस की भूमिका में कुछ स्पष्ट तथ्यों को सत्य रूप में देने के बदले ऐसे शोचनीय स्वरूप

में प्रस्तुत किया है जिसका तात्पर्य यह निकलता है कि भारतीय प्राचीन पद्धति के सभी पञ्चाङ्ग पूर्णरूप से अशुद्ध और मूलतः गलत सिद्धान्तों पर निर्मित होते आ रहे हैं। इस बात की पुष्टि हेतु उन्होंने जिन प्रमाणों को प्रस्तुत किया है उनकी विवेचना करने के पूर्व यहां पर उस आक्षेप की ओर ध्यान आकर्षित करना तात्कालिकतया आवश्यक है, जो निम्नलिखित हैं:—(१) पाश्चात्य देशों में आज के युग में जिस ग्रहगणित या पञ्चाङ्ग निर्माण पद्धति या गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त प्रभृति गणितप्रणालियों का प्रचलन है, उसका मूल स्रोत भारतवर्ष के उन्हीं आचार्यों की कृतियां हैं जिनका खण्डन हमारे राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग के निर्माता कर रहे हैं।

(२) छठीं शताब्दी में यह ज्ञान बहराम द्वितीय के राज्यकाल में भारत से फारस गया, वहां से अरब में, अरब से इटली में, इटली से सारे योरूप और इंगलैंड में (टर्को के यूरूप विजय के बाद) उक्त गणितज्ञान का प्रचार हो गया। (मैकडानल्ड. सं० सा० इतिहास)

यह सत्य है कि आजकल पाश्चात्य देशों के खगोल शास्त्रियों ने आधुनिकतम वेधशालाओं की सहायता से ग्रहों का गणित पूर्णतः निकटतम अंश तक करना सीख लिया है। पर उक्त लेखक की इस धारणा को देखकर बहुत बड़ा आश्चर्य होता है कि वे इस प्रकार के आधुनिकतम गणित के समानान्तर निकटतम अंशों तक ग्रह गणित करके रख देने वाले भारतीय ज्योतिषियों को ही इस ज्ञान से वञ्चित कहने के साहसिक कार्य करने में न तो सहमे न हिचके। वस्तुस्थिति यह है :—

शतपथ ब्राह्मण काल में महाविषुव संक्रान्ति का सम्पात विन्दु कृत्तिका नक्षत्र पर था जो २६-४० अंश से ४० अंश तक रहती है। तब से पाँचवीं शताब्दी तक यही नक्षत्र सम्पात विन्दु यदि बना रहा तब इसमें $\frac{२६००० \times ४०}{३६०} = २८८९$ वर्ष लगे लगभग। तबसे भारतीय आचार्यों ने गणित करने की जो उस २८८९ वर्षों तक प्रचलित रीति थी, उसको इसलिए अपनाये रखा कि वे शैलियाँ ऋषिप्रणीत हैं, उनके ज्ञान को दूसरे विद्वानों द्वारा आविष्कृत कहना अनुचित है। क्योंकि हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति इसी मत भित्ति पर आधारित है। इसका हमें गर्व है दुख नहीं। उस शैली में यदि एक त्रुटि थी वह थी, वर्षमान में ५७-४५ (२३-६ मि०) पलाओं की कमी। वे इस कमी का वर्ष में ह्रास वृद्धि से सन्तुलन बराबर करते आ रहे हैं, जिसे वे अयन या अयनांश या सम्पात चलन कहते रहे। और वे परवर्ती ज्योतिषियों को यह आदेश देते गये हैं कि प्रति वर्ष वेध करके जो कमी प्रतीत हो उसे प्रति वर्ष के पञ्चाङ्गों के ग्रहगणितों में ठीक कर लिया जावे। जैसे—

भारतीय सभी प्रागाचार्यों ने अयन-चलन-सिद्धान्त समझ कर ही उसका ग्रह गणित में आवश्यकस्थल पर उपयोग किया है। सायन ग्रह से ही क्रान्ति, छाया, चर आदि का साधन किया है। क्योंकि क्रान्तिवृत्त और विषुवद्वृत्त के सम्पात से ही क्रान्ति की प्रवृत्ति होती है। क्रान्ति ज्ञान से चर का ज्ञान एवं चर और ग्रह के उन्नत काल से 'इष्टान्त्या' तब "इष्ट इति" ज्ञान के अनन्तर इष्ट शङ्कु का ज्ञान किया है। इष्ट शङ्कु ज्ञान से ही ग्रह की इष्टकालीन

छाया होती है, यह प्रत्यक्ष दृश्य छाया है। शंकु-वेध से उपलब्ध छाया से आगत क्रान्ति और गणितागत क्रान्ति में अन्तर पाया जाने से ग्रह गणित की सिद्धान्त परम्परा का ग्रहगणित में अपना एक स्वतन्त्र एवं महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आकाश दर्शन से ग्रह गणित का जैसा क्रम प्राप्त हुआ उसे भी ग्रह गणित का आधारी भूत माप दण्ड माना है। वेध परम्परा के लिये शनि जैसे ग्रह के लिए या ग्रहों के आकर्षण विन्दुओं की अत्यन्त अल्पगति होने से किसी भी ग्रह खगोलज्ञ के एक जीवन में ग्रहगणित सिद्धान्त के उपपादन की संभव स्थिति नहीं होने से बहुत जगहों पर अनुमान से ही काम लिया गया है, पश्चाद्वर्त्ती आचार्यों ने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के स्थूल सिद्धान्तों की समालोचनाएँ की हैं और उन्हें ठीक भी किया है।

आर्य भट्ट, लल्ल, वराहमिहिर ब्रह्मगुप्त प्रभृति ग्रहगणिताचार्यों ने अयनांश ज्ञान की स्पष्टताएँ नहीं लिखी हैं मुञ्जाल भट्ट के समय में प्रायः ३…५ अंश तक अयन चलन हो चुका था। उस समय तक भारतीय ज्यौतिष की महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ भी हो चुकी थीं। समग्र ग्रह गणित का धर्मशास्त्र से सम्बन्ध पुरातन काल से ही चला आ रहा है, इसलिये भी एक स्थिर रूप की निरयण गणना परम्परा से चली आ रही है, जो सर्वांश शुद्ध और तत्थ्य है। अयन चलन जितना भी इस समय है और आगे होगा उसे समय समय पर समझ लिया जाता रहा और आगे भी समझा जाता रहेगा।

उस अयन चलन से ऋतुओं में अन्तर नहीं पड़ा है और न आगे भी पड़ने की कदापि कोई आशङ्का है, "सूर्य सिद्धान्त" के सभी सिद्धान्त तथ्य एवं सर्व मान्य आज तक होते आये हैं, शृंगोन्नत्ति, एवं गहण गणित इसके प्रमाणी भूत हैं।

सूर्यसिद्धान्त का अयनांश ज्ञान पूरे खगोल से सम्बन्ध रखता है जैसे—

सूर्यसिद्धान्त का अयनांश

"त्रिशंत्कृत्यो युगे भानां चक्रं प्राक् परिलम्बते"॥ इत्यादि त्रिप्रश्नाधिकार श्लोक ९-१०॥

एक महायुग में नक्षत्र चक्र (क्रान्तिवृत्त) अथवा २७° सताईस अंशों का चक ६०० आवृत्तियों से अपने स्थान से पूरब की ओर लम्बित होता है। अतः कल्प कुदिन से अनुपात से इष्ट दिनों में उक्त चक्र के भगणों द्वारा इष्ट समय तक उक्त चक्र की स्थिति निकालनी चाहिए। जैसे—

$$\frac{\text{नक्षत्र चक्र के भगण} \times \text{इष्ट दिन संख्या में}}{\text{एक कल्प की दिन संख्या}} = \text{अयनांश के भगणादि।}$$ भगण (परिक्रमाओं का प्रयोजन नहीं है) का प्रयोजन नहीं है भगण शेष से अयनांश का ज्ञान किया है।

सूर्यसिद्धान्त की सुधावर्षिणीकार के मत से सृष्टि के आदि में क्रान्तिवृत्त और विषुवद्वृत्त का सम्पात २७° पूरब चलकर पश्चात् अपने पूर्व स्थान में आता हुआ पुनः २७° पश्चिम चलते हुए पुनः पूर्व गति से अपने निर्दिष्ट सृष्टि के आदि विन्दु पर पहुँचता है। इस प्रकार २७+२७+२७+२७=१०८ अंश चलने में अयनविन्दु की एक परिक्रमा (भगण) होती है।

अहर्गण से जिस अनुपात के द्वारा आगत राश्यादिक फल के भुजांशों में ९०° के तुल्य

में २७ अंश मिलता है तो इष्ट अयनांश भुजांश में $\frac{२७ \times \text{इष्टभुजांश}}{९०} = \frac{३ \times \text{इष्टभुजांश}}{१०}$ ।

यह अयनांश ज्ञान प्रकार सूर्यसिद्धान्त का है ।

यह चक्र पूर्व को चलित हुआ या पश्चिम को—इसका ज्ञान सूर्यसिद्धान्त के वेधगणित ने स्पष्ट कर दिया है—

"स्फुटं दृक्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद्वये
प्राक् चक्रं चलितं हीने छायार्कात् करणागते
अन्तरांशैरथावृत्य पश्चाच्छेषैस्तथाधिके ॥"

आशय—

चलसम्पातीय कर्कादि मकरादि या मेषादि तुलादि संक्रान्तियों के समय में उक्त इस राशि चक्र (क्रान्तिवृत्त) का चलन प्रत्यक्ष दृग्गोचर होता है ।

अर्थात् चल सम्पात से कर्क और मकरादि के सूर्य में, सूर्य की उत्तरा और दक्षिणा परम क्रान्ति, एवं मेषादि और तुलादि में उत्तरा किम्बा दक्षिणा क्रान्ति शून्य होती है ।

इस प्रकार ग्रह वेध करने से जिस दिन की क्रान्ति सर्वाधिक या जिस दिन की क्रान्ति शून्य उपलब्ध हुई हो उस दिन वेध से स्पष्ट सूर्य ३।०।०।० या ९।०।०।० या ०।०।०।० या ६।०।०।० होता है, यह गोल पर दृष्टि देने से नितान्त प्रत्यक्ष है ।

जैसे ता० १४ अप्रैल सन १९६३ को प्रातः (इण्डिया स्टै० टा०) ५।४० बजे (सूर्योदय सै० टा० ५।३९) गणित से सूर्य की मेष की संक्रान्ति हुई है ।

किन्तु वेध से ता० २१-३-६३ को सायं ७।२३ बजे ही सूर्य की मेष की संक्रान्ति हो चुकी थी ।

इसलिए २१-३-६३ (वेध संक्रान्ति से) सायं ७।२३ बजे से १४ अप्रैल प्रातः ५।४० बजे (गणित से जानी गई संक्रान्ति) तक २३ दिन १० घण्टा १७ मिनिट के पश्चात् अदृश्य संक्रान्ति हुई है ।

इतने समय में दृश्य संक्रान्ति पहिले होने से वर्त्तमान १४ अप्रैल १९६३ को सृष्टि के आदि का मेषादि विन्दु पश्चिम चलित हो गया है, ऐसा प्रत्यक्ष हुआ, इन दोनों संक्रान्ति कालों का अन्तर मान अयनांश काल है ।

राशि वृत्त में जिसका मान इस समय २३°।२०'।२१" है । इस प्रकार वेध से और गणित से आगत दोनों सूर्यों का अन्तर ही अयनांश होता है ।

(१) जिस दिन वेध से परम उत्तर क्रान्ति उपलब्ध होती है, उस दिन गणित से उपलब्ध रवि और ३ तीन राशि (९०°) का अन्तर अयनांश होता है ।

(२) जिस दिन वेध से परम दक्षिण क्रान्ति उपलब्ध होती है, उस दिन गणित से उपलब्ध रवि और ९ राशि (२७०°) का अन्तर भी अयनांश होता है ।

(३-४) इसी प्रकार क्रान्ति-अभाव के मेष और तुलादि विन्दुओं से भी उक्त भाँति से अयनांश (चलसम्पात) का ज्ञान "सूर्यसिद्धान्त" ने किया है ।

सम्पात का चलन प्राक् या पश्चिम कहाँ हुआ ?

इस समस्या के समाधान के लिए सूर्यसिद्धान्त की इस अकाट्य युक्ति पर नवीन गणितज्ञों को अवश्य ध्यान देना चाहिए :—

छाया से (वेध) ज्ञात रवि की राश्यादिक से, यदि करण ग्रन्थों के प्रकार से साधित रवि कम हो तो उक्त दोनों सूर्यों के अन्तरतुल्य अंशों से यह चक्र अर्थात् क्रान्तिवृत्त या राशि वृत्त पूरब में चलित हुआ तब यह धन अयनांश होगा। ऐसा प्रत्यक्ष होगा।

अथवा यदि छाया (वेध) से साधित रवि से करण ग्रन्थ प्रक्रिया से साधित रवि अधिक हो तो वह चक्र पश्चिम गया है। ऐसा स्पष्ट है तब अयनांश ऋण है इसमें क्या सन्देह है।

बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आजकल जिस निरयण सायन ज्ञान को लेकर लोगों ने बहुत बड़ा विवाद खड़ा कर दिया है, उसके आविष्कर्ता तो प्राचीन भारतीय ज्योतिष के ही आचार्य हैं, यदि वे इस ओर निम्नश्लोकों से विद्वानों का ध्यान आकर्षित नहीं कर देते तो सम्भवतः आज का यह गणितज्ञ संसार न जाने कितने अज्ञानान्धकार में रहता। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के स्थान पर उनके वचनों का अनुसरण न कर सकने वाले गणितज्ञों के कारण भारतीय गणित पर यह लाञ्छन लगाना कि भारतीय गणित गलत है, सरासर अन्याय है। वर्षमान में जो २३…मिनट का अन्तर आता है उसे हमारे आज के पञ्चांगों तथा कुण्डलियों में निरन्तर दर्शाया जाता रहा है, जिससे कभी भी किसी पञ्चांग में इस संबंध की त्रुटि नहीं बताई जा सकती। इस सम्बन्ध में आचार्यो के विशेषतः भास्कराचार्य के स्पष्ट आदेशों को इस प्रकार उद्धृत कर दिया जाता है :—

क्रान्तिपात—मेष से विलोम भ्रमण करता है।

१—क्रान्तिपात से ६ राशि (१८०°) की दूरी पर दूसरा क्रान्ति पात विन्दु है, क्रान्ति-पात से परम क्रान्ति के तुल्य तीन राशि की दूरी (९०°) में जैसे विषुवद्वृत्त उत्तर की तरफ हो तथा दूसरी विभाग से परम क्रान्ति के तुल्य जैसे तीन राशि (९०°) की दूरी पर दक्षिण की तरफ हो वैसे वेधवलय (विषुवद्वृत्त) को रखना चाहिए। (गोल रचना प्रकरण)

२—जिस प्रकार क्रान्ति वृत्त के साथ विषुवद्वृत्त का सम्पात बनाया गया है, उसी प्रकार क्रान्तिवृत्त के साथ क्षेपवृत्तों (और और ग्रहों के भ्रमणमार्ग) का सम्पात करना चाहिए। इस क्षेप वृत्त में भी ३६०° के स्थान अङ्कित करने चाहिए।

अर्थात् विषुवद्वृत्त से परम याम्योत्तर अन्तर पर सूर्य भ्रमण (पृथ्वी भ्रमण) मार्ग है, जिसे क्रान्तिवृत्त कहते हैं, तथैव क्रान्तिवृत्त से परम याम्योत्तर दूरी पर तत्तद्ग्रह का भ्रमण मार्ग है। प्रत्येक ग्रह भ्रमण मार्ग के एक गोलीय एकधरातलीय जो दो सम्पात विन्दु हैं वे भी निरन्तर स्थिर नहीं हैं, वे भी चलित होते हैं। उनकी गतियों का नाम पातों की गति है, और ये पात की गतियाँ विलोम होती हैं, इसलिए पातों की भी कल्प या युग के दिनों में उनकी विपरीत परिक्रमाओं के आंकड़े आचार्यो ने दिये हैं। जिनके गणित में नवीन आचार्यो का कोई संशोधन नहीं है, अर्थात् उन्होंने इसे स्वीकार किया है। ये पात क्रमशः

चन्द्रपात, भौम पात, बुध शुक्रपात से प्रसिद्ध कहे गये हैं। क्रान्तिपात या अयन-चलन प्रकरण में भास्कराचार्य ने स्वयं कहा है--

इदानी क्रान्तिपातमाह---

"विषुवत्क्रान्तिवलययोः सम्पातः क्रान्तिपातः स्यादि"त्यादि (श्लोक १७···१९ सिद्धान्त-शिरोमणि गोलाध्याय गोलबन्धाधिकार) इस स्थल पर भास्कराचार्य ने अपनी वासना भाष्य में एक महत्त्व का संकेत किया है उसका हिन्दी अनुवाद निम्न भाँति है—

"ग्रह की स्पष्टा क्रान्ति के लिये नाड़ी विषुद्वृत्त के विपरीत गतिके पात (सम्पात) की आवश्यकता है। इन दोनों वृत्तों का सम्पात विन्दु मेषादि विन्दु पर सदा नहीं रहता है। यह सम्पात विन्दु भी चलित होता है। प्रसिद्ध जो अयनांश है, उसका नाम विलोमगतिक पात नाम है। अर्थात् मेष से अयनांश तुल्य की दूरी पर क्रान्तिवृत्त में विषुवद्वृत्त लगा है यह स्पष्ट अर्थ है।

क्रान्तिपात नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। प्रत्यक्ष में इसकी उपलब्धि होती है।

यदि ऐसी उपलब्धि होती है (उपलब्धि उपाय आगे कहेंगे) तो पूर्व के ब्रह्मगुप्ताचार्य जैसे कुशल गणितज्ञों ने इसका उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसलिये कि उनके समय में अयनांश बहुत कम था। इस समय अयनांश बहुत हो गया है, अतएव आधुनिक आचार्यों ने इसका उल्लेख किया है। इसलिए अयन चलन होता है और उसकी गति है इसमें संशय नहीं है।

दूसरी शङ्का—यदि ब्रह्मगुप्तादिक आचार्यों के समय में अयनांश उपलब्ध नहीं था, सूर्यसिद्धान्त के ग्रहों की परिक्रमाओं की संख्या एवं मन्दनीचोच्चाकर्षण परिधियों का मान (उन्होंने सूर्यसिद्धान्त को आगम मानकर) अपने ग्रन्थों में, जैसे भी पूर्वाचार्यों ने लिये हैं वैसे ही सूर्यसिद्धान्त की अयन गति उन्होंनें क्यों नहीं ली, और उसका उल्लेख क्यों नहीं किया ? ऐसा प्रश्न ठीक है।

समाधान—यहाँ गणित स्कन्ध स्वयं उपपत्तिमान होने से स्वतः अपना प्रमाण रखता है। मन्दोच्च परिधियाँ आगम से ही उन्होंने ली हैं ऐसा नहीं कहना च.हिए, क्योंकि ग्रहों के मन्दोच्च के आकर्षण का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, और उस आकर्षण के शून्य स्थान का भी प्रत्यक्ष ज्ञान है, उसी स्थान को मन्दोच्च कहते हैं।

इसी प्रकार जहाँ पर ग्रहों के उत्तर दक्षिण अन्तर (शर) का अभाव देखा जाता है वहीं पर दोनों वृत्तों का सम्पात भी प्रत्यक्ष देखा जाता है। (वेध और गणित से) किन्तु इन सम्पातों की गति है कि नहीं सन्देह होता है।

परन्तु मन्दोच्चाकर्षक विन्दु की तो गति अवश्य है। चन्द्रवेध से चन्द्रमा के मन्दोच्च और चन्द्रमा के पात की गति के अनुमान से सिद्ध हुआ कि उक्त संपातों में भी गति है।

वह गति कितनी है, उसे कहा जा रहा है—कि जिस प्रकार की ग्रहों के एक कल्प या एक युग की परिक्रमाओं की कल्पना से गणित से उन सम्पातों की वस्तुस्थिति ज्ञात होती है, उन उन भगणों (परिक्रमा संख्या) से उत्पन्न वार्षिक या दैनन्दिदीय उनकी गति कल्पना करनी चाहिए।

पुनः शङ्का—उक्त प्रकार की गति, यदि किसी अन्य कल्पित भगण से आवे तो किस भगण संख्या को प्रामाण्य कहा जायगा? ठीक है—सम्प्रति की उपलब्धि के अनुसार की कोई भी गति स्वीकार करनी चाहिए।

कदाचित् ऐसी काल्पनिकता से कालान्तर में ग्रहगणित में दीर्घ समय में यदि दीर्घ अन्तर होजावेगा? तब किस उपाय का आश्रय लिया जावेगा ?

तब दीर्घकालीन दीर्घ अन्तर के संशोधन के लिये महामतिमान् "ब्रह्मगुप्ताचार्य" के सदृश कोई विभूति उत्पन्न होगी, वे उस समय की उपलब्ध गति के अनुसार शास्त्र (सिद्धान्त) उत्पन्न करेंगे।

इसलिये महान् मतिमानों से सेवित यह महान् गणित स्कन्ध अनादि अनन्त काल तक दोषयुक्त नहीं होता है। अतएव इस क्रान्ति पात के भगणों (परिक्रमाओं) की संख्या एक कल्प में सूर्यसिद्धान्त के अनुसार अयुत त्रय (३००००००) है।

तथा मुञ्जालभट आदि ने जिस अयन चलन की बात कही है वही यह अयन चलन है। मुञ्जाल के मत से एक कल्प में अयन के १९९६६९ के संख्या का अयन चलन का भगण है। अथ च जो कोई भी अयन चलन के भगण हों, निपुण लोग जिस समय जितना ज्ञात करें, उस समय का वही क्रान्तिपात या अयन चलन है। इस विलोमगतिक क्रान्तिपात को ग्रह में जोड़कर वास्तविक सम्पात विन्दु से ग्रह का ज्ञान कर उससे क्रान्ति चर और दृश्य ग्रह करना चाहिए"। इत्यादि।

भास्कराचार्य के उक्त कथन के अनन्तर सूर्यसिद्धान्त एवं सिद्धान्तशिरोमणि के सिद्धान्तों के अनुसार नवीन विद्वानों(पाश्चात्य गणितज्ञों) के समालोचनार्थ कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

यथा—वर्तमान इस २३°।२०′।२१″अयनांश की स्थिति से विपरीत जाने पर नवीनों के मत से—

```
         ६५०
    २६०००० × २३°।२०′।२१″              ६५० × २३।२०।२१
    ─────────────────────              ───────────────
         ३६०                                 ९
          ९

                   २३।२०।२१
                   ६५०
              ──────────────────────
              १४९५० | १३००० | १३६५०
                २२० |   २२७ | १३०
          ९)  १५१७० | १३२२७ | १६५
                ९      १२०    १२०
               ६१      १२२    ४५०
               ५४      १२०    ४२०
               ७७       २७     ३०   (१६८५ वर्ष
               ७२
                ५०
                ४५
                 ५
```

आज से लगभग १६८५ वर्ष पूर्व में अयनांश ० शून्य था। अर्थात् आज से १६८५ वर्ष पूर्व या सन् १९६३-१६८५=ईसवी सन् २७८ में अयनांश का अभाव था। या यों भी कह सकते हैं कि शक वर्ष २०० तथा विक्रम सम्वत् ३३५ में क्रान्तिवृत्त और महा विषुवद्वृत का सम्पात अपनी प्राकृत स्थिति में, सृष्टि के आदि विन्दु पर, आगया था यह उक्त गणित से सिद्ध होता है।

सूर्यसिद्धान्त के गणित से भी, $\frac{\text{१ वर्ष} \times (२३।२०।२१) \times ३० \times ६० \times ६०}{५४''}$ अर्थात् २३°।२०′ की कलाएँ १४०० को ६० से गुणाकर इसमें २१ विकला जोड़ने से ८४०२१ विकलाओं में ५४ विकला से भाग देने से—

```
५४) ८४०२१ (१५५६
    ५४            स्वल्प अन्तर से
    ———
    ३००           लगभग १५५६ वर्ष पूर्व में
    २७०
    ———
     ३०२
     २७०
     ———
      ३२१
      ३२४
```

स्वल्पान्तर सेअयनांश की वार्षिक गति ५४′ मानने से।

अर्थात् आज से सन १९६३–१५५६=ईस्वी ४०७ सन, शक वर्ष ३२९, और विक्रम संवत् ४६४ में अयनांश ०शून्य आता है।

ग्रहलाघव प्रभृति ग्रन्थों ने ४४४ शक में अयनांश का अभाव कहा है।

परम अयनांश का मान कहीं पर कुछ एकदेशीय ज्योतिष के ज्ञाता आचार्यों ने २४° माना है, यह अवश्य उनका, भ्रम था, जिसका निराकरण कमलाकर भट्ट ने (१६५८ ई०) सम्यक् रीति से कर दिया है।

राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग ने आधुनिक गुरुत्वाकर्षण जैसे आविष्कारों के द्वारा लगभग २६००० वर्षों में राशिचक्र की एक परिक्रमा मानी है।

अतः एक महायुग के वर्षो में $\frac{४३२००००}{३६०००} = १६६\frac{४}{२६}$ इतनी संख्या की राशिचक्र की परिक्रमाएँ नवीन आचार्यो के मत से होती हैं। नवीनों ने लगभग २६००० वर्षो में जिस अयनांश भगण की एक परिक्रमा कही है, वह लगभग किस अभिप्राय से कही है? इसका कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं किया है। तथा नवीनों ने, आजकल तक अयनांश की गति निरन्तर बढ़ती जा रही है ऐसा स्पष्ट कहा है, किन्तु भारतीय परम्परा में मध्यम मान की एक रूप की स्थिर गति का नाम मध्या गति है, इस आधार से किसी पदार्थ का स्थूल ज्ञान करके पुनः उसकी क्षण क्षण की विलक्षण गतियाँ समझ कर वस्तु तथ्य पर पहुँचने की यह वैज्ञानिक भारतीय गणित पद्धति अनादि काल से प्रचलित है और आज तक सर्वांश शुद्ध और निर्दोष रही है। अतएव—

प्राचीनों ने अवान्तर कालों में ह्रास वृद्धि होने वाली १ वर्ष में अयनांश की स्थिर गति का मान लगभग १ कला माना है।

राशि चक्र के १२ × ३० × ६० = २१६०० कलाओं तक जाने में अयनांश विन्दु राशि चक्र का पूरा आवर्त्तन कर लेगा, जिस में २१६०० वर्ष लगेंगे। नवीनों ने यह संख्या २६००० वर्ष के लगभग कही है, यहाँ पर "लगभग" इस शब्द का अभिप्राय भी स्पष्ट नहीं किया गया है अतएव एक महायुग में—

$$\frac{\text{वर्षों में } ४३२०००० \times १ \text{ वर्ष}}{२१६०० \text{ कलाओं में}} = २०० \text{ परिक्रमाऐं चल अयन विन्दु की होती हैं।}$$

एक महायुग के भगण आदि को १००० से गुणा करने पर वे सब १ कल्प (सृष्टि आदि से सृष्टि के अन्त तक) की परिक्रमाऐं हो जाती हैं। इस अभिप्राय से २०० × १००० = २००००० परिक्रमाऐं एक कल्प में अयनांश की हुई। महायुग के अन्तिम परिक्रमा का अप्रयोजन होने से २०० — १ = १९९ ··· यह एक महायुग की परिक्रमा 'मुञ्जालभट्ट' ने कह रक्खी है। जो नवीनों की लगभग $१६६\frac{४}{९}$ से अत्यन्त सूक्ष्म कही जा सकती है।

तब भी प्राचीनों को इसका ज्ञान नहीं था ऐसा अनुचित कथन वे सज्जन ही कर सकते हैं जिन्होंने प्राचीन ज्योतिष के क्षेत्र की सीमा का स्पर्श तक नहीं किया है। यह अतिस्पष्ट है।

भारतीय पञ्चाङ्गों का वर्ष मान

१—सूर्य बिम्ब केन्द्र जिस समय उदय क्षितिज में होता है उस समय से ही भारतीय आचार्यों ने दिन का आरम्भ कहा है। न कि बिम्ब के एक प्रान्त के उदय काल को।

२—सूर्य बिम्ब का मध्यम बिम्ब मान ३२ कला तथा बिम्ब व्यासार्ध १६ कला का ही सर्वप्रथम भारतीय ग्रह गणितज्ञों ने माना है। तदनुसार ही संक्रान्ति का पुण्य काल निर्णय किया है। "संक्रान्ति कालावुभयत्र नाडिका पुण्या मता षोडश षोडशोष्णगोरिति" इस वाक्य से ग्रहबिम्ब की प्राक् पालि जिस समय राशि वृत्त के दूसरे विभाग को स्पर्श करती है उस समय से, १६ घटी में $\frac{\text{मध्यम मान की गति } ६० \text{ कला} \times ३२}{६० \text{ घटी}} = ३२ \text{ कला का} \times \frac{१}{२} =$ सूर्य का बिम्ब कासार्ध १६ कला होने से, रविबिम्ब का मध्य केन्द्र, उन्हीं दोनों पूर्वापर राशियों के विराम और आरम्भ सन्धिस्थ सीमा का जो अन्त वही दूसरी राशि का आदि विभाग होने से पूर्ण रूपेण होता है।

३—जिस समय अर्ध उदित सूर्य बिम्ब होता है, वहीं से दिन का आरम्भ मानते हुये जिस समय सूर्य बिम्ब का अर्ध बिम्ब अस्त होता है वहाँ तक दिन का मान मानने से नवीन और प्राचीन गणित में अन्तर नहीं पड़ेगा। यही पद्धति भारतीय आचार्यों की है, धर्मशास्त्रों में, 'अर्धोदितात्" और अर्धास्तात् ऐसे शास्त्र वचनों का स्पष्ट उल्लेख है।

४—इसी प्रकार जिस समय सूर्य बिम्ब का केन्द्र-विन्दु अर्थात् याम्योत्तर अहोरात्रवृत्त के सम्पात विन्दु खमध्य (मध्य आकाश) पर आता है, उस समय प्राचीन ग्रहगणितज्ञों ने मध्याह्न काल, एवं जिस समय सूर्य बिम्ब का केन्द्र विन्दु अधोयाम्योत्तराहोरात्रवृत्त के अधोभाग में जावेगा उसे मध्य रात्रि या अर्द्धरात्रि या निशीथ काल कहा है।

जिस युक्ति के द्वारा नवीन आचार्यों ने उदय और अस्त का मान विम्बोयैकदेश के उदय अथवा अस्त से (किरणवक्री भवन) कहा है उसी प्रकार की युक्तियों का आश्रय मध्याह्न काल और अर्द्धरात्रि काल के सम्बन्ध में नहीं ग्रहण किया है, अतः यह गणित का एक देशीय सिद्धान्त हो जाता है, अतएव भारतीय आचार्यो ने इस किरण विक्री भवन संस्कार को जानकर भी ग्रहगणित में इसका उपयोग नहीं किया है।

भारतीय मास और उनके दिनों की संख्याएँ पूर्णतया वैज्ञानिक हैं।

फलित ज्यौतिष में भी अयनांश का ज्ञान किया गया है। यहाँ पर अयनांश की गति पश्चिम की ही कही गई है। निरयण संक्रान्ति के पूर्व में, सायन संक्रान्तियों के होने की स्पष्ट चर्चाएँ स्पष्ट रूप से उपलब्ध होती हैं। "मुहुर्त्तचिन्तामणि" प्रमिताक्षरा टीका के अनुसार—

अयनांश को जानने की विधि सिद्धान्त ग्रन्थों से जाननी चाहिए ऐसा आशय व्यक्त करते हुये भी किसी सिद्धान्त विशेष का नाम नहीं दिया है। आगे भी कहा है—जैसे

ईश्वरेच्छा लोकादृष्टवशात्तत्तद्राश्यादि विभागस्य सूर्यतेजः सम्पर्कश्चलसंक्रमः मण्डल-मध्यसम्पर्कश्च राशि संक्रम इति विषयविवेकः। तत्र निरयण गणनयैव सकल व्यवहारः साध्यः। सायन गणना तु नियत विषयैव। अयनांशाः प्रदातव्या लग्ने क्रान्तौ चरागमे सत्रिभे पाते तथा दृक्कर्मपातयोरिति। एवं द्वयोरविमानयोरसङ्कीर्णे व्यवहार इति सर्वमनाकुलम्।

निरयण और सायन संक्रान्तियों में दोनों को मानने से व्यवहार में सङ्कीर्णता होगी। किन्तु सूर्य की सक्रान्तियों में दोनों में पुण्यकाल में पुण्य करना चाहिए—इस मत की भी पुष्टि मुहूर्त्त-चिन्तामणि कार अनन्त दैवज्ञ सुत श्रीराम दैवज्ञ ने की है। मुहूर्त्तचिन्तामणि प्रमिताक्षरा टीका श्लोक ९ देखिये। इस ग्रन्थ की रचना शक १५२२ सन् १६०० संवत् १६५७ में हुई है।

किसी भी चौथे वर्ष में वर्ष मान में १ जोड़कर वर्षमान की कमी की पूर्त्ति करने की शैली प्राचीन भारतीय ज्योतियों ने नहीं बताई है, उनका वर्ष मान नियत है।

सौरमान से राशियों के भोग काल के सावन दिनों की संख्याओं की नियत स्थिति यहाँ अनादि काल से चली आ रही है। निरयण १२ बारह महीनों के दिनों का योग प्रत्येक वर्ष मे ३६५ दिन ६ घण्टा १२-६···के ही तुल्य होता है।

प्रायः भारत में सर्वत्र, काश्मीर पञ्जाब कमायूं नैपाल बंगाल आदि विशेष प्रदेशों में ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्तीय पञ्चाङ्गों में सौर मास के (एक संक्रान्ति से दूसरी संक्रान्ति तक) के दिनों की संख्या निम्नभाँति की होती है, यहाँ पर प्लुत वर्ष में एक वर्ष के दिनों में १ अधिक जोड़ने की यह अवैज्ञानिक प्रथा कहीं भी नहीं है। संक्रान्ति जिस मास में प्रायः जितने सौर दिनों में होती है उतने ही दिन उस मास में होते हैं। जैसे:—

सूर्य की मीन राशि भोग के दिनों की संख्या ३१ दिनों की होती है।

मेष के रवि में सौर वैशाख मास के—३१ दिन होते हैं।

वृष	,,	,,	ज्येष्ठ मास	—३१	यह दिन संख्याएँ पूर्वापर महीनों में भी हो सकती हैं।
मिथुन	,,	,,	आषाढ़ मास	—३२	
कर्क	,,	,,	श्रावण मास	—३१	
सिंह	,,	,,	भाद्र मास के	—३१	
कन्या	,,	,,	आश्विनमास	—३१	

तुला „ „ कार्तिकमास —३१
वृश्चिक „ „ मार्गशीर्षमास —२९
धनु „ „ पौषमास के —२९
मकर „ „ माघ मास के —३०
कुम्भ „ „ फाल्गुन मास —३०
मीन „ „ चैत्र मास के —३०

उक्त मासों के सब दिनों का स्थूल योग ३६५ होता है। यहाँ वर्ष पूर्ति के ३६६ वाँ १ दिन का यह ६.७५ अवयव ३६५ में जोड़ते जाकर स्वतः अपने गणितागत समय में चतुर्थ वर्ष में वर्ष संख्या के सर्व सम्मत्त ये ३६६ दिन हो जाते हैं। चौथे वर्ष की दिन संख्या खगोल क्रम से किसी भी महीने में स्वयं एक अधिक हो ही जाती है।

विशेष ध्यान देने का सिद्धान्त

सृष्टि से आज तक किसी भी दिन तक के सौर, चान्द्र, अधिमास, क्षय मास और उनके अवयवों को जानने के लिए सिद्धान्त ग्रन्थों के आधार पर अहर्गण ज्ञान के इस प्रकार पर नवीनों ने अवश्य विचार करना चाहिए। जैसे—

गत वर्ष × १२ = वर्षादि क्षण में गत सौर मास।

$$\frac{\text{युग अधिक मास} \times \text{इसौर}}{\text{युग सौ र मास}} = \text{इष्ट अधिक मास} + \frac{\text{अ. शे.}}{\text{यु.सौ.मा.}}$$

सौ. मा. + अ. मा. = इ. चान्द्र मास।

इ. चा. मा × ३० = इ. चा. तिथि।

$$\frac{\text{यु. क्ष} \times \text{इचां}}{\text{यु. चां}} = \text{इ. क्ष} + \frac{\text{क्ष. शे.}}{\text{यु. चां}}।$$

इ. चां — क्षय = इष्ट सावन दिन = अहर्गण अथवा स्थिर सम्पात से इष्ट समय तक के दिनों का मान।

सं० २०१९ शके १८८४ चैत्र शुक्ल नवमी शुक्रवार तक सृष्टि के आरम्भ से (सृष्टि के आदि दिन रविवार से) कितने दिन हो गये ? इसे जानना है—

सृष्टि से—सत्य युग तक के वर्ष	१९६९०५६०००
सत्य युग मान	१७२८०००
त्रेता	१२९६०००
द्वापर	८६४०००
युधिष्ठिर वर्ष	३०४४
विक्रम शक.	१३५
१३ अप्रेल १९६२ तक शक वर्ष	१८८४
योग	१९७२९४९०६३
ब्रह्म सृष्टि काल (सृष्टि निर्माण में जो समय बीता)	- १७०६४०००
इसे ऋण करना चाहिए।	१९५५८८५०६३

३६० × ४७४००
= १७०६४०००

यह सृष्टि के आदि दिन रविवार से १३ अप्रैल की आधी रात १९६२ तक के सौर वर्ष हुये। इन्हें १२ से गुणा करने पर सृष्टि के आदि से १३ अप्रैल १९६२ तक की सौर मास संख्या होती है।

जैसे— १९५५८८५०६३ × १२

= २३४७०६२०७५६ यह सौर मास संख्या हुई।

अब सिद्धान्त ग्रन्थों के सिद्धान्त से

$$\frac{\text{युग के अधिक मास} \times \text{इष्ट सौर बर्ष या मास}}{\text{युग सौर वर्ष}} = \text{अधिमास} + \frac{\text{अधि शेष}}{\text{युग सौर वर्ष}} \text{ के आधार से}$$

$$\frac{\text{२३४७०६२०७५६} \times \text{१५९३३३६}}{\text{५१८४००००}}$$

पहिले गुणा करिये—

```
       २३४७०६२०७५६
           १५९३३३६
    ---------------
       १४०८२३७२४५३६
      ७०४११८६२२६८
     ७०४११८६२२६८
    ७०४११८६२२६८
   २११२३५५८६८०४
  ११७३५३१०३७८०
  २३४७०६२०७५६
  -----------------
  ३७३९६५८४९९२८८२०१६
```

भाग देने से

```
५१८४००००)३७३९६५७४९९२८८२०१६(७२१३८४७४१
          ३६२८८००००
          ----------
           ११०८५८४९९
           १०३६८००००
           ----------
             ७१७८४९९२
             ५१८४००००
             ---------
             १९९४४९९२८
             १५५५२००००
             ----------
              ४३९२९९२८८
              ४१४७२००००
              ----------
               २४५७९२८८२
               २०७३६००००
               ----------
                ३८४३२८८२०
                ३६२८८००००
                ----------
                 २१४४८८२०१
                 २०७३६००००
                 ----------
                   ७१२८२०१६
                   ५१८४००००
                   ---------
                   १९४४२०१६   अधिशेषम्
```

अधिक मासा जो सृष्टि के आदि से १३ अप्रैल सन १९६२ तक बीत गये।

आगे के—सिद्धान्त (सूत्र) से—

सौर मास+अधिमास=(चान्द्र मास) ये सृष्टि से १३ अप्रैल १९६२ तक चन्द्रमा के अभीष्ट महीने होंगें।

२३४७०६२०७५६
+७२१३८४७४१
२४१९२००५४९७ ये चान्द्र मास हुये।

एक चान्द्र मास में ३० तिथियां होती हैं अतः उक्त चान्द्र मासों को ३० से गुणा करने पर सृष्टि से १३ अप्रैल १९६२ तक के चान्द्र दिन (तिथियां) हुये—जो७२५७६०१६४९१० इतने होते हैं। इस दिन की गत तिथि संख्या ८ है इसको जोड़ने से ७२५७६०१६४९१८ ये इष्ट चान्द्र तिथियाँ हुई।

आगे के सिद्धान्त से

$$\frac{\text{युग अवम दिन (क्षयदिन)} \times \text{इष्ट चान्द्र तिथियों में}}{\text{युग चान्द्र मास में}} = \text{इष्ट अवम} + \frac{\text{अवम शेष}}{\text{युग चान्द्र दिन}}$$

एक महायुग के अवम दिन (क्षय दित)=२५०८२२५२

" " " युग चान्द्र दिन=१६०३०००००८०

७२५७६०१६४९१८
२५०८२२५२
१४५१५२०३२९८३६
३६२८८००८२४५९०
१४५१५२०३२९८३६
१४५१५२०३२९८३६
५८०६०८१३१९३४४
३६२८८००८२४५९००
१४५१५२०३२९८३६
१८२०३६९९३४८०३४८३५३३६ यह गुणन फल है।

परिक्रमाशेष × १२ / युग कुदिन = राश्यादिक ग्रह।

१५६८९१४६६४ × १२ / १५७७९१७८२८ = राशि।

१५७७९१७८२८) १८८२६९७५९६८ (११ राशियाँ
१५७७९१७८२८
३०४७७९७६८८
१५७७९१७८२८
१४६९८७९८६० = राशिशेष

राशिशेष × ३० / युग कुदिन = अंशादिक ग्रह।

१४६९८७९८६० × ३० / १५७७९१७८२८ = अंश।

१५७७९१७८२८) ४४०९६३९५८०० (२७अंश
३१५५८३५६५६
१२५३८०३९२४०
११०४५४२४७९६
१४९२६१४४४४ = अंश शेष

अंश शेष × ६० / युग कुदिन = कलादिक ग्रह।

१४९२६१४४४४ × ६० / १५७७९१७८२८

१५७७९१७८२८) ८९५५६८६६६४० (५६ कला।
७८८९५८९१४०
१०६६०९७५२४०
९४६७५०६९६८
११९३४६८२७२ = कला शेष।

कला शेष × ६० / युग कुदिन।

११९३४६८२७२ × ६० / १५७७९१७८२८

१५७७९१७८२८) ७१६०८०९६३२० (४५ विकला।
६३११६७१३१२
८४९१३८३२००
७८८९५८९१४०
*६०१७९४०६० = विकला शेष।

---

* भास्कराचार्य ने ग्रह के प्रति विकला शेष मात्र अवयव को जानकर, अपने लीलावती और बीज गणित ग्रन्थों में विलोम क्रिया गणित से, इस विकला शेष से मूल उदगम रूप ग्रह की एक कल्प की परिक्रमा संख्या, कल्पकुदिन और राश्यादि ग्रह ज्ञान के आश्चर्यप्रद गणित क्रियाएँ भी बताई हैं।

इस प्रकार ता० १३ अप्रैल सन १९६२ की मध्य रात्रि के समय रेखादेशीययाम्योत्तर अहोरात्र वृत्त सम्पात स्थान में ११।२७।५६।४५ यह मध्य राशिवृत्तीय स्थान का ज्ञान प्राचीन आचार्यों ने किया है।

इससे आगे स्पस्ट सूर्य का ज्ञान गणित प्रक्रिया से किया जाता ह। जैसे—

सूर्य का मन्दोच्च

मेषादि केन्द्र से आकर्षण फल धन होगा।

२।१४
—११।२७।५६।४५
२।१६।३।१५
९)७६।३(८
७२।०
४।३
६०
२४०
३
२४३(२७
१८
६३
६३
०

२०। ०।०
८।२७।०
११।३।३।०

८८।२९७
९।२६४।८९१
९७।१४।५१ } ÷ ६०
५७५
३५

सूर्य का मन्दोच्च से आकर्षण फल ज्ञान के सिद्धान्त से—

$$\frac{(\text{२०}-\text{केन्द्र})\frac{\text{केन्द्र}}{\text{९}}}{\text{५७} - \frac{\frac{(\text{२०}-\text{केन्द्र})}{\text{९}}\;\frac{\text{केन्द्र}}{\text{९}}}{\text{९}}}$$

९७।३५।५१

५७
९)९७।३५।५१(-१०।५०।३९
४६।९।२१
९०
७ × ६०
४२०
३५
४५५
५
६०
३००
५१
३५१
३५१
०

९७ × ६० + ३५ =
५८२०
५८५५
३५१३००

४६।९।२१
४६ × ६०
= २७६०
+ ९
२७६९ × ६०
१६६१४०

१६६१४०)३५१३००(२ अंश
३३२२८०
१९०२०
६०
)११४१२००(६ कला
९९६८४०
१४४३६०
६०
८६६१६००(५२
८३०७००
३५४६००
३३२२८०
२२३२०
४४६५०

अर्धाल्प शेष त्याज्य है।

```
१६०३०००८०)१८२०३६९९३४८०३४८३५३३६(११३५६०१८९८९
          १६०३०००००८०
          ─────────────
           २१७३६९८५४८
           १६०३००००८०
           ─────────────
            ५७०६९८४६८०
            ४८०९०००२४०
            ─────────────
             ८९७९८४४४०३
             ८०१५०००४००
             ─────────────
              ९६४८४४००३४
              ९६१८०००४८०
              ─────────────
               ३०४३९५५४८३
               १६०३००००८०
               ─────────────
               १४४०९५५४०३५
               १२८२४०००६४०
               ─────────────
                १५८५५५३३९५३
                १४४२७०००७२०
                ─────────────
                 १४२८५३३२३३३
                 १२८२४०००६४०
                 ─────────────
                  १४६१३३१६९३६
                  १४४२७०००७२०
                  ─────────────
                    १८६३१६२१६        क्षय शेषम्
```

चान्द्र दिन—क्षय शेष=सावन दिन

(चांदि—क्ष. दि.=सा. दि)

इस सिद्धान्त से—

```
  ७२५७६०१६४९१८
 −  ११३५६०१८९८९
 ─────────────────
  ७१४४०४१४५९२९
```

=अहर्गण या दिनवृन्द या दिन समुह या दिन संख्या।

इसमें अभीष्ट वार के लिये नियमानुसार १ जोड़ने से ७१४४०४१४५९३० यह सृष्टि के आदि दिन रविवार से १३ अप्रैल १९६२ तक के विशुद्धतम सावन दिनों की संख्या हुई।

सृष्टि के आदि से १३ अप्रैल सन १९६२ तक के इन दिन समूह से, सूर्य की (अथवा पृथ्वी की) सृष्टि के आदि से सृष्टि के अन्त तक की राशिवृत्ति के परिक्रमाओं के आकड़ों तथा एक सृष्टि के समस्त दिन समूहों के आधार पर अनुपात से १३ अप्रैल सन १९६२ को रेखादेश की मध्यरात्रि में मध्यम सूर्य ज्ञात किया जाता है—

सूत्र से (सिद्धान्त से)

सृष्टि से सृष्टि के अन्त तक की सूर्य की परिक्रमा संख्या को उक्त इष्ट
दिन के दिन समूह तक से गुणा कर सृष्ट्यन्त तक के
दिन समूह से भाग देना चाहिए।

अथवा—सृष्टि के अन्त तक के बड़े लम्बे आकड़ों के गुणन भजन में गौरव है, अतः युग से युग के अन्त तक की ग्रह की परिक्रमाओं एवं दिनों के अनुपात करने से भी फल तुल्य होता है, यह लाघव का प्रकार है। जैसे :— $\frac{१००}{१०} = \frac{५०}{५} = १०$

```
         ४३२००००×७१४४०४१४५९३०
        ------------------------
            १५७७९१७८२८
         ७१४४०४१४५९३०
                   ४३२
        ------------------
         १४२८८०८२९१८६०
        २१४३२१२४३७७९०
       २८५७६१६५८३७२०
      -----------------------------
१५७७९१७८२८) ३०८६२२५९१०४१७६००००० ( १९५५८८५०६२
            १५७७९१७८२८
            -----------
            १५०८३०८०८२४
            १४२०१२६०४५२
            ------------
              ८८१८२०३७२१
             ७८८९५८९१४०
             -----------
              ९२८६१४५८१७
              ७८८९५८९१४०
              -----------
              १३९६५५६६७७६
              १२६२३३४२६२४
              ------------
               १३४२२२४१५२०
               १२६२३३४२६२४
               ------------
                 ७९८८९८८९६०
                 ७८८९५८९१४०
                 -----------
                  ९९३९९८२०००
                  ९४६७५०६९६८
                  -----------
                   ४७२४७५०३२०
                   ३१५५८३५६५६
                  ------------
                   १५६८९१४६६४=परिक्रमाशेश
```

यह सूर्य या पृथ्वी की (१३ अप्रैल १९६३ तक) राशिवृत्त की परिक्रमाओं की संख्या उपलब्ध हुई।

इस प्रकार लाघव के सिद्धान्त से सूर्य का धन मन्द फल २°। ६'।५२ आता है।

$$\begin{array}{r} ११।२७।५७। ०।३५ \\ +२। ६।५२ \\ \hline ०। ०। ३।५२।३५ \end{array}$$

इसे उक्त मध्यम सूर्य में जोड़ने से यह ० अक्षांश के एक याम्योत्तर वृतीय विभिन्न नगरों का स्पष्ट सूर्य होता है। शून्य अक्षांश के नगरों में सदा दिन मान ३० घटी अर्थात् ६ घण्टे का ही होता है। इसलिए वहां पर यह राश्यादिक सूर्य रात्रि के १२ बजे का हुआ।

ध्यान देने की बात है कि, रवि का परम आकर्षण फल२°।११'।३४ $\frac{४२''}{५७}$ के तुल्य होता है। जैसे—(स्वल्प अन्तर से)

```
५७)१२५(२°
   ११४
   ११×६०=
 ५७)६६०(११
    ५७
    ९०
    ५७
    ३३+६०
५७)१९८०(३४
   १७१
   २७०
   २२८
    ४२
```

जिस समय रेखा देश (उज्जैन, कुरुक्षेत्र आदि) में रात्रि के १२ बजते हैं, उस समय काशी का $\frac{१।९ (घटी) \times २}{५}$ =२७ मि. ३६ से. पूर्व देशान्तर होने से, काशी के लिये १२ बजे के समय में २७ मि. ३६ से. का संस्कार करना होगा। उक्त गणितागत सूर्य स्पष्ट में चरान्तर भुजान्तर आदि कुछ और आवश्यक संस्कार अपेक्षित हैं, जिन्हें गौरव भय से यहाँ पर देना आवश्यक नहीं है।

उक्त विवेचना का सारांश—मात्र से यहाँ पर प्रयोजन है कि भारतीय ग्रहगणित के मर्मज्ञ प्रागाचार्यो ने स्थिर (आरम्भ) स्थानागत सूर्य की जैसी वस्तु स्थिति का ज्ञान जिस गणित पद्धति से किया है, वह आज से १९५५८८५०६३ इतने वर्ष पूर्व से चली आ रही है और जिसके गणित गोल में प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष दोनों पद्धतियों से कोई भी दोष नहीं है।

भारतीय ग्रह-गणित की ये महत्त्वपूर्ण देन है—जिनका प्राची प्रतीचि के सभी विद्वान् ऐतिहासकों ने ज्योतिष शास्त्र के आधार से भारतवर्ष की ही नहीं समग्र विश्व की ऐतिहासिक घटनाओं का काल किर्णय किया है। इसी आधार से प्राचीन विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का क्रमिक विकास का सफल नकशा भी प्रस्तुत किया है—कि वेद, ब्राह्मणग्रन्थ,

उपनिषद्, श्रुति, स्मृति पुराण, (इतिहास) वाल्मीकि रामायण, महाभारत और गीता प्रभृति सभी शास्त्रों के सभी ग्रन्थों में ज्योतिष शास्त्र के ग्रहनक्षत्रों की स्थितियों की उपलब्धि जैसी जब उन उन ग्रन्थों से हुई तदनुसार उस उस समाज का उस उस सभ्यता का और तत्कालीन राजनीतियों का सटीक समय बताया है।

जैसे—

शक वर्ष ८५४ (ई० सन् ९३२) के कुछ प्रत्यक्ष उदाहरण

पूर्व में लाये गये दिन समूह और उनसे जाने गये सूर्य-चन्द्रमा से निर्मित पंचाङ्गों से इदमित्थं सर्वांश शुद्ध इतिहास के कुछ तत्थ्य समयों का उल्लेख आवश्यक है, जिससे पाठकों को उक्त इन बड़े लम्बे अंकों के गणितों की वैज्ञानिकता पर तो अवश्य ही विश्वास होगा।

जैसे—

१—शक वर्ष	८५४	(ई० सन् ९३२)	में	चैत्र शुक्ल प्रतिपत् तिथि के दिन रविवार था।
२— ,,	८८८	(,, ९६६)	,,	फाल्गुन कृष्ण द्वितीया तिथि के दिन गुरुवार था।
३— ,,	१४९१	(,, १५६९)	,,	आश्विन शुक्ल सप्तमी रविवार के दिन पुनर्वसु नक्षत्र था।
४— ,,	१५०९	(,, १५८७)	,,	आश्विन शुक्ल की अष्टमी थी।
५— ,,	१५२५	(,, १६०३)	,,	चैत्र शुक्ल चतुर्थी, बुधवार के दिन हुई थी।
६— ,,	१५२५	(,, १६०४)	,,	चैत्र कृष्ण वनमालि तिथि को रविवार था।
७— ,,	१५६८	(,, १६४६)	,,	भाद्र शुक्ल पञ्चमी सोमवार के दिन पुष्य नक्षत्र था।
८— ,,	१७६८	(,, १८४७)	,,	वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया) रविवार के दिन हुई थी।

उक्त सभी विवरण प्राचीन निरयण ग्रह गणित की पद्धति से सुस्पष्ट हुए हैं। विलोम गणित प्रक्रिया से आज से पूर्व की पञ्चाङ्ग गणित की उक्त स्थिति को हम आज भी गणित करते हैं तो लेश मात्र भी कथमपि कुछ भी अन्तर उक्त स्थलों पर नहीं आता है। संभवतः उस समय तक भारतीय ग्रह गणित पद्धति सर्व तन्त्र स्वतन्त्र थी, उसे अपने सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास था। वे आचार्य, वेध की गणित प्रक्रिया को पृथक् गणित नहीं मानते थे। अपि च सिद्धान्त निर्माण के लिये वेध गणित का भी वे (वेधप्रामाण्य) मानते थे अवश्य है कि उस समय आज की तरह के दृश्य गणित कोई व्यवधान तक नहीं रहा होगा।

ऋतुओं का निर्धारण

ऋतुओं का निर्धारण उत्तरायण और दक्षिणायन से किया गया है। ("मृगादिराशिद्वयभानुभोगात्षडर्तवोस्युः शिशिरो वसन्तः") उनका सामञ्जस्य चान्द्रमास में बैठाया गया है।

वैदिक परम्परा से आजतक चित्रायां भवा चैत्री, विषाखायां भवा वैशाखी (पूर्णिमा) अर्थात् चित्रा नक्षत्र की पूर्णिमा जिस चान्द्रमास में होती है उस चान्द्र मास को "चैत्र मास" एवं विशाखा नक्षत्र से "वैशाख" मास, ज्येष्ठा से "ज्यैष्ठ" मास पूर्वाषाढ़ा या उत्तराषाढ़ा से "आषाढ़", (अधिक मास पड़ने से भी) श्रवण से "श्रावण", पूर्वाभाद्र या उत्तराभाद्र से

"भाद्र", अश्विनी से "आश्विन" कृतिका से "कार्तिक", मृगशिरा से "मार्गशीर्ष", पुष्य से "पौष" मघा से "माघ", पूर्वाफाल्गुनी एवं उत्तराफाल्गुनी दोनों में एक नक्षत्र में जो पौर्णमासी होती है उसे "फाल्गुन" मास कहा है। उक्त आधार से मासों के साथ नक्षत्रों का प्राकृतिक सामंजस्य हुआ है।

रह गई बात ऋतु परिवर्त्तन की। आज का अयनांश २३° के लगभग है हमारी ऋतुयें यथा पूर्व चल रही हैं। हमारे यहाँ ऋतुयें सौर मान से गृहीत हैं। चान्द्रमान को अधिक मास (मलमास) द्वारा सामञ्जस्य या साम्य में लाया जाता है। अतः चैत्री पूर्णिमा चित्रा में एवं कार्त्तिकी पूर्णिमा कृतिका में ही प्रायः पड़ती है। यहाँ तक श्री रामचन्द्र जी की जन्म तिथि रामनवमी के दिन पुष्य नक्षत्र प्रायः आ ही जाता है, एवं भाद्रकृष्ण अष्टमी को रोहिणी नक्षत्र, तथा गङ्गा दशहरा को हस्त नक्षत्र, प्रायः आ ही जाता है। (अथवा एक नक्षत्र पूर्व या एक नक्षत्र पश्चात् का भी आता जाता है।) ज्यौतिष ग्रहगणित की ऐतिहासिक दृष्टि से, श्रीकृष्ण और श्रीराम का जन्म क्रमशः आज से (द्वापर त्रेता युग में) ५०६२ वर्ष तथा ८३२०००८३७०६२ आठ लाख सैंतीस हजार बासठ वर्ष पूर्व में हुआ है।

उक्त गणित की प्रामाणिकता के आधार से, धर्मशास्त्र से श्री रामनवमी, श्री जन्माष्टमी, और दशहरा आदि का निर्णय धर्मशास्त्रों में सटीक ठीक बैठता है।

भारत में चान्द्रमास से ही प्रायः मास माने भी जाते हैं एक सम्प्रदाय पूर्णमासी को मास समाप्त करता है तो दूसरा अमावास्या को। इसमें १५ तिथि का अन्तर रहता है, जिसका मध्यम विन्दु सौरमान है।

अतः निरयण भारतीय पञ्चाङ्गों में अधिक मास आदि के सामञ्जस्य के कारण **ऋतुओं के समय में अभी तक कोई परिवर्त्तन नहीं है और न आगे होगा।**

अत एव अनुरोध है कि, २१ मार्च को वर्ष का आरम्भ दिन न मान कर १३ अप्रैल-निरयण रवि की मेष संक्रान्ति के दिन को वर्ष का प्रारम्भ दिन मानना चाहिए।

जैसे—

इस दिन निरणय संक्रान्ति का समय

दृश्य पञ्चाङ्गों ने १३ अप्रैल सन् १९६२ की रात्रि ११।३१ ग्यारह बज कर ३१ पर दिया है, तथा देशी पञ्चाङ्गों ने १३ अप्रैल सन् १९६२ की रात्रि १०।२२ दश बज कर बाईस मिनट पर, (कहीं १०।१७ कहीं १०।२५···) दिया है।

प्रत्यक्ष गणित के सिद्धान्तों से गणित करने से, संक्रान्ति का समय, उक्त गणित से लाये गये निरयण संक्रान्ति के समय के ही तुल्य दृश्य और अदृश्य गणित की संक्रान्तियाँ प्रायः हो रही हैं, पाठक स्वयं देखकर समझ सकते हैं। कहीं पर १ घण्टे १½ घण्टे का और कहीं पर मिनटों का और कहीं सर्वांश तुल्यता वर्ष भर में देखी जा रही है।

भारतीय ज्योतिष विज्ञान की पद्धति से सृष्टि से आज इस समय तक के सौर, चान्द्र नाक्षत्र और सावन आदि दिन मास बर्षो के आंकड़े उक्त उदाहरण में स्पष्ट दीखे जाते हैं। नवीन आचार्यों ने इस प्रकार की उक्त वैज्ञानिक पद्धति को समझा ही नहीं है।

अब प्रश्न है कि–किसे दृश्य कहें ? और किसे अदृश्य कहें ?

कोई भी मध्यम ग्रह या मध्यम सूर्य बिम्ब दृश्य नहीं होता है। वह जिन अपेक्षित ऋण धन संस्कारों से दृश्य होता है वह सब भारतीय ग्रह गणित के सिद्धान्त ग्रन्थों का पृथक् स्पष्टाधिकार है। मध्यम ग्रह में (१) भुजान्तर (२) चरान्तर (३) उदयान्तर (४) देशान्तर और मन्द फल आदिक संस्कारों को यथा विचार ऋण और धन करने से ग्रह दृश्य होते हैं। जैसे जब स्पष्ट सूर्य ०।०।०।० होता है, जो १३ अप्रैल १९६२ की रात्रि ११ बजे के आस-पास हुआ है, यहाँ पर इसे निरयण मेष संक्रान्ति कहते हैं। इसी निरयण संक्रान्ति को भारतीय फलित ज्योतिष एवं धर्म शास्त्र ने मेषादि द्वादश राशियों के शुभाशुभ फल की ज्ञापिका एवं स्नान, दान, जप और व्रतोपवास के लिए महती सिद्धि प्रदा संक्रान्ति कहा है। "तथाऽयनांशाः रवरसाहतास्युः स्पष्टार्कगत्या विहृता दिनाद्यम्। मेषात्क्रमात्स्युश्चल संक्रमास्ते दाने जपादौ बहुपुण्यदास्ते" (मुहुर्तचिन्तामणि)।

यतः आज का महा विषुवद्वृत्त और क्रान्तिवृत्त का सम्पात सृष्टि के आदि विन्दु से गुरुत्वाकर्षण से प्राय: २३° पश्चिम खिसक गया है, अतएव जिस समय उक्त गणितागत स्थिर सम्पात की संक्रान्ति होगी, उससे २३ दिन पहिले ही सम्प्रति के चल मेषादि विन्दु की संक्रान्ति हो जाती है।

इसका सम्यग् ज्ञान, मुञ्जाल भट्ट (ई० ९३२) तथा श्रीपति प्रभृति आचार्यों को हो गया था **नवीन** आचार्य भी इसे स्वीकार करते हैं।

लगध ऋषि का ज्योतिष एवं "सूर्य सिद्धान्त का निर्माण काल ठीक इदमित्थम् नहीं कहा जा सकता है, किन्तु हमारे ग्रह गणित में सर्वप्राचीन ग्रन्थ सूर्य सिद्धान्त ही अभी तक उपलब्ध होता है। उसमें अयनांश ज्ञान, तथा उसके जानने का जो सिद्धान्त प्रतिपादित है प्रायः उसी के तुल्य नवीन आधुनिक आचार्यों ने भी अयनांश की गति स्वीकृत की है।

किन्तु खेद है कि नवीन आचार्य सूर्य सिद्धान्त के इस अयनगति ज्ञान को पश्चात् के किसी आचार्य का प्रक्षिप्त मानते हैं ? संभव है किसी समय के कोई और नवीन आचार्य सूर्य सिद्धान्त के समग्र सिद्धान्त या समग्र भारतीय विज्ञान को भी प्रक्षिप्त कह सकते हैं, अथवा इस प्रकार कुछ समय में सभी शास्त्र भी प्रक्षिप्त कहे जा सकेंगे ? यह दुख की ही बात होगी ?

दृश्य गणना

कोई भी गणना नवीन नहीं है। यह गणना प्राचीन आर्षशास्त्रों में सुसम्यक् प्रतिपादित है। ग्रह गणित के लिये समान सम्पात की ही संक्रान्तियों या अन्य ग्रहों के उदय अस्त के साथ-साथ क्रान्ति का याम्योत्तर ज्ञान; चर, उदयान्तर लग्न एवं दिन मान की ह्रास वृद्धि चन्द्र शृङ्गोन्नत्ति समग्र दृश्य कार्य-सायन गणना से ही करना चाहिए (दृश्य गणना) आचार्यों ने ऐसा स्पष्ट आदेश किया है—इसमें किसी को भ्रम क्यों होता है ? यह तो हमारे ही ग्रह गणित की खूबी और उसका चमत्कार भी है, इसे कोई अपना मत घोषित करता है, यह ठीक नहीं है।

भारत के सभी देशी पञ्चाङ्गों में, सम्प्रति के सम्पात के अनुसार ता० २३ दिसम्बर से ही क्रान्ति की उत्तर गमन की स्थिति, सूर्य का उत्तरायण, तथा उत्तर गोल में दिन मान की वृद्धि, रात्रि की न्यूनता यह सब लिखा रहता है। हमारे आचार्यों ने, धर्मशास्त्र निरपेक्ष दृश्यगणना की सर्वत्र मुख्यता भी कही है।

नवीन (पाश्चात्य) गणितज्ञों ने जिसे दृश्य पञ्चाङ्ग कह रखा है, वस्तुतः वह भी अदृश्य ही है। जैसे—

पञ्चाङ्ग—

सूर्य चन्द्रमा की गतियों के योग और गतियों के अन्तर से सूर्य चन्द्रमा की राशिवृत्तीय योग और अन्तर कलाओं का सम्बन्ध ज्ञात किया जाता है, जिसे तिथि नक्षत्र योग और करण कहा है।

(१) तिथि—

भिन्न-भिन्न गोलस्थ सूर्य और चन्द्रमा का राशिवृत्त में जो अन्तर है, उस अन्तर के ३० विभागों में प्रत्येक विभाग का नाम तिथि है।

ता० १३-४-६२ को

जैसे— नवमी शुक्रवार को चन्द्रमा ३।२१।१।७

सूर्य ०।०।५।६

यह अन्तर है ३।२०।५५।५५, इसके अंश=११०।५५।५५

में १२ का भाग देने से $\frac{११०।५५।५५}{१२}$=लब्धि ९ नवमी बीत गई। दशमी का २।५५।५५ अंशादि भी भुक्त हो गया। दशमी का अंशात्मक भोग्यमान ९।४।५ है। इसी प्रकार रवि चन्द्रमा की गतियों के अन्तर में एक दिन मिलता है, तो दशमी तिथि के भुक्त और ऐष्य अन्तर में दशमी तिथि का गत और ऐष्य समय ज्ञात हो जाता है। एक तिथि में दो करण होते हैं। (तिथ्यर्धं करणं स्मृतम्) दशमी तिथि के पूर्वार्ध में ता० १३।४।६२ के सायं ६।१३ बजे से ता० १४।४।६२ के प्रातः ६।५७ बजे तक तैतिल करण है। दशमी के उत्तरार्द्ध में सायं ७।४२ तक दशमी भी है और गर करण भी समाप्त हो रहा है।

दृश्य पञ्चाङ्गों में (भारत सरकार से सम्पादित पञ्चाङ्ग में भी) ता० १३।४।६२ नवमी, शुक्रवार को सायं ४।३ बजे तक है, जब कि देशी पञ्चाङ्गों में ता० १३।४।६२ नवमी शुक्रवार को सायं ६।१४ बजे या ६।४३ बजे या ६।४९··· बजे तक दी हुई हैं। कहीं कहीं दोनों पञ्चाङ्गों में तुल्यता है कहीं पर स्वल्प अन्तर है। इतने ही अल्प अन्तर में (ऋतु परिवर्तन) ६ महीने या एक वर्ष का अन्तर कैसे होगा ? सभी समझ सकते हैं।

जैसा हम कह चुके हैं कि ग्रहगणित गोल में, दृश्य ग्रह का जैसे भी ज्ञान हो, अनेक नलिका वेध जैसे यन्त्रों का निर्माण प्राक्काल में हो चुका था।

किन्तु—जो दृश्य नहीं है उसे भी दृश्य कहना यह भयंकर भ्रम ही नहीं है, अपि च भूल भी है, और अनजान समाज में वैषम्य पैदा करने वाला कार्य भी है।

तिथि नाम की वस्तु आकाश में कहीं पर भी कदापि दृश्य नहीं है।

सूर्य चन्द्रमा की चालों में, उनकी गतियों के अन्तर योग आदि से ३० तिथियाँ और २७ योग का ज्ञान किया गया है। २७ नक्षत्रों का ज्ञान केवल चन्द्रमा की गति से किया गया है। जिस चन्द्रमा से नक्षत्र ज्ञान किया गया है वह चन्द्रमा अपने मार्ग (विमण्डल) की वास्तविक माप का नहीं है।

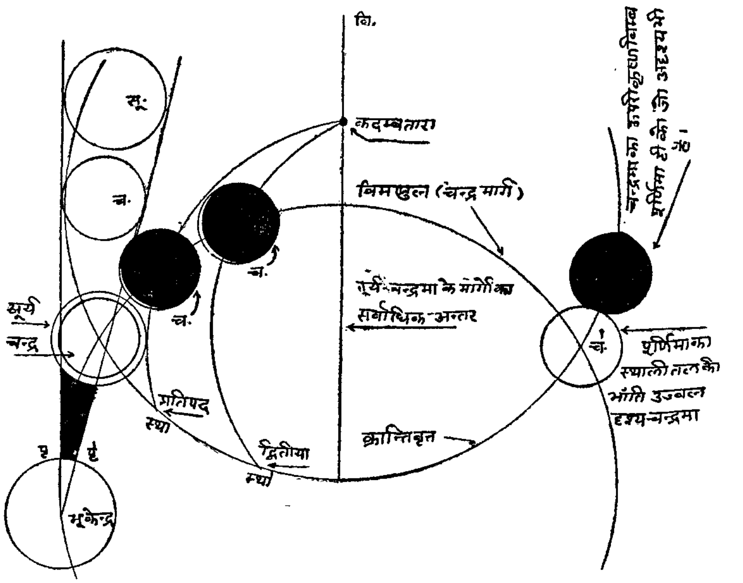

गणना मार्ग :—जिस चापीय मार्ग (सड़क) में दूरी बोधक अंक आदि आंके (मापे) गये हैं, उस मार्ग में चन्द्रमा का स्थानीय मान निकाला गया है, न कि बिम्बीय।

यदि चन्द्रमा भी सूर्य (पृथ्वी) की ही तरह उसी सूर्य के चलन मार्ग (सड़क) में गमन शील होता तब तो हम तिथि योग आदि को एक मार्ग में अवश्य देख सकते थे। खगोल के प्राकृतिक नियम में परिवर्तन करने वाला वही खगोल निर्माता सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही कदाचित् हो सकता है, हम तो प्राकृतिक भगोल भूगोल और खगोल की अपने व्यवहार की कुछ यथोचित जानकारियाँ कर सकते हैं। वह है प्राकृतिक तिथि का ज्ञान। जैसे, सू चं¹ यह क्रान्तिवृत्त, राशिवृत्त है। चं चं चं′ चं″ चं¹ विमण्डल वृत्त है। यह चन्द्रमा का चंक्रमण मार्ग है। 'क' विन्दु कदम्ब तारा क्रान्ति वृत्त का, एवं 'वि' विन्दु चन्द्र भ्रमण मार्ग-विमण्डल का वृष्टीय केन्द्र विन्दु है।

कल्पना कीजिए कि—किसी समय चन्द्रमा की याम्योत्तर (कदम्ब प्रोतीप) की दूरी ० शून्य हो गई। दैवात् सूर्य बिम्ब के अधो धरातल में सूर्य के साथ चन्द्रमा के पहुँच जाने से, भूपृष्ठीयजनों की दृष्टि के सामने चन्द्रमा के आ जाने से, उसके ऊपर सूर्य बिम्ब की

दृष्टि का चन्द्रमा आवरक हो जाने से, सूर्य का ग्रहण हो गया। यह कभी (दैवात्) की स्थिति है। जो प्रायः होती भी रहती है।

शीघ्र गतिक चन्द्रमा, सूर्य चं विन्दुस्थ सूर्य केन्द्र सू से चं विन्दुस्थ चन्द्रकेन्द्र पर अपने भ्रमण मार्ग चं चं' चं'' में देखा गया।

जिस समय चन्द्रमा चं' विन्दु पर है उस चन्द्रमा के ऊपर गया कदम्ब प्रोतवृत्त 'शरवृत्त', क्रान्ति वृत्त में (राशि वृत्त में) स्था विन्दु पर लगा, यहां पर चन्द्रमा का विम्ब नहीं अपि च चन्द्रमा का स्थान है। सू सूर्य विन्दु से स्था चन्द्र स्थान विन्दु तक यदि यह १२° अंश का सूर्य चन्द्रमा का अन्तर है, तो यहां पर सू. च विन्दु से स्था विन्दु तक सू स्था चाप तुल्य प्रतिपत् तिथि समाप्त होरही है—

इसी प्रकार सू सूर्य विन्दु ओर स्था' द्वितीय दिन के चं'' चन्द्र विम्ब का क्रान्ति वृत्त में स्था' स्थान है।

सू सूर्य विन्दु से, सू स्था' यह १२×२=२४° सूर्य और चन्द्रमा के स्थान का स्थानीय अन्तर है।

यहां क्रान्ति वृत्त में द्वितीया तिथि समाप्त होरही है। पश्चिम क्षितिज में सूर्य के अस्त के अनन्तर चन्द्रमा नाखून की तरह की आकृति का सायंकाल में दिखाई देगा। अर्थात् (अपने मार्ग में) दृश्य होगा। सूर्य चन्द्रमा के दृष्टिपथीय दोनों बिम्बों का वास्तविक अन्तर सितवृत्त चन्द्रविमण्डल के सम्पात् विन्दु में सू चं, सू चं', सू चं'' के तुल्य है। सूर्य से चन्द्रमा तक एक वृत्त किया जाता है जिसे सितवृत्त कहते हैं। इसी सितवृत्त मार्ग में सूर्य प्रकाश से नवनीतपिण्ड या पीयूषपिण्ड चन्द्रबिम्ब को सूर्य से प्रकाश मिलता रहता है। सूर्य चन्द्रमा का सितवृतीय परम अन्तर जिस समय १५×१२=१८० होता है, उसी समय स्थाली के तल की तरह पूर्णिमा को पूर्व में चन्द्रमा का उदय, एवं पश्चिम में सूर्य का अस्त पूर्णिमान्त काल में देखा जाता है। (दैवात् जब कभी सूर्यास्तकाल में पूर्णिमा तिथि की भी पूर्ति हो रही हो)।

यहाँ पर उक्त चन्द्र प्रकाश के साधन के लिये (सित अंगुल,) चन्द्रमा को किस वेग से प्रति दिन प्रकाश कैसे मिल रहा है, इसका गणित किया गया है। इसे चन्द्र श्रृङ्गोन्नति का गणित कहते हैं। यह श्रृंगोन्नति जैसे आकार की जब जहां जैसी देखी जाय, द्वितोया को जिस ठीक समय में चन्द्रमा दृश्य हो, वह सब संस्कार करते हुए, ऐसे स्थलों पर दृश्य गणित को ही बड़ा महत्त्व भारतीय ग्रहगणितज्ञ आचार्यों ने किया है।

किन्तु उक्त क्षेत्र में स्पष्ट है कि-तिथियाँ सू स्था, सू स्था' इत्यादि हैं, यह सुर्य चन्द्रमा का अन्तर एक ही मार्ग में है। इस अन्तर से सूर्य से अन्तरित चन्द्र बिम्ब दृश्य नहीं हैं, अपि च यहाँ पर क्रान्ति वृत्तीय चन्द्रमा का स्थान है। और अनुभव और अनुमान से गणित से उसका ज्ञान और उसका शुभाशुभ फल समझा गया है। अत एव यदि दृश्य गणित कह कर जिससे हमने श्रृंगोन्नत्ति काल ठीक किया है उसी से सू चं, सू चं', सू चं'' इस कर्ण रेखा का ज्ञान और इसका काल यदि तिथि मानी गई है, तो उसके लिये राशि अंश नापने के लिये पृथक् एक और वृत्त की कल्पना करनी होगी, और तब सूर्य का भी स्थान चन्द्रमा के स्थान की

तरह उस वृत्त में लाना होगा, जिसे चन्द्रमा के भ्रमण मार्ग में सूर्य का स्थान जान कर सूर्य चन्द्रमा के चन्द्र मार्ग के अन्तर के १२ अंशों की तिथि माननी होगी। यह भयंकर अन्योन्याश्रय दोष होगा।

इस लिये सोच समझ कर बड़े विवेक से प्रागाचार्यों ने तिथि को राशिवृत्त में ही समझा है, वहाँ पर चन्द्रमा कदापि दृश्य नहीं है, अत एव तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण रूप समग्र पञ्चाङ्ग की प्राचीन अदृश्य गणित की साधनिका प्रक्रिया ठीक अदृश्य तिथि की है, और उसका जो ऋषियों का अनुभव गम्य फल है उसे फलित ज्यौतिष कहना युक्तियुक्त है।

इसलिये उसका अनुभवगम्य शुभाशुभ फलादेश भी अवश्य ठीक है। इस लिये तिथि नक्षत्र योग करण और वार गणना की पञ्चाङ्ग पद्धति अदृश्य है जो उक्त क्षेत्र से स्पस्ट है उसे दृश्य कहना भयंकर भ्रम और भूल भी है।

सिद्धान्ततः जहाँ जो पदार्थ दृश्य होता है, उसके जानने के अनेक उपाय प्रागाचार्यों ने स्पष्ट कहे हैं। दृश्य पदार्थ वही है, जिसे खुली आंखों से भी देख सकते हैं। जैसे :— सूर्य चन्द्र ग्रहणों में दर्शान्त ओर पूर्णिमा को शराभावविशिष्टामान्त, शराभावाभाव विशिष्टा-मान्त आदि शब्दों से, सूर्य चन्द्र ग्रहण सम्बन्ध की या सूर्य चन्द्र ग्रहण सम्बन्ध राहित्य की अमावास्या के लिये उक्त प्रकार के सारगर्भीय विशेषणों का प्रयोग शास्त्रकारों ने किया है।

इसी प्रकार अमावास्या के दिन में भी सूर्य के तेजः पुञ्ज (अपने कालांश) के आसन्न पर रहते हुये भी दृश्य असम्भव चन्द्रमा, खुली आखों से देखा (दृश्य होता है) जाता है। ऐसे चन्द्र दर्शन सम्बन्ध की अमावास्या को "सिनीवाली" संज्ञा तथा अमावास्या के दिन में (असम्भव दृश्य चन्द्रमा) चन्द्र अदर्शन सम्बन्ध विशेषण विशिष्ट अमावास्या को "कुहू" संज्ञा दी गई है।

"सा दृष्टेन्दुः "सिनीवाली" नष्टेन्दुः सा "कुहूः" स्मृता" तथा "भास्कराचार्य" भी ने "दिनेऽपि चन्द्रो रविसन्निधानादस्तं गतश्चेत्सति दर्शने भा—इस कथन से उक्त मत की पुष्टि की है।

३६५ दिन ६ घण्टे १२ मि०···में ही एक सौर बर्ष की पूर्ति होती है। इसी प्राकृतिक खगोलीय क्रम से अपने आप चौथे बर्ष में प्रायः मेष संक्रान्ति ता० १४ अप्रैल आदिक तारिकों में या और और सक्रान्तियाँ हो जाती हैं, स्थूल गणना से वह वर्ष ३६६ दिन का हो जाता है।

सर्व प्रथम दृश्य पञ्चाङ्गों में—

ता० १४ मार्च सन १९६३ की रात्रि ९ बजकर ११ मिनट में मीन की संक्रान्ति तथा ता० १३ मार्च सन १९६४ की रात्रि ३ बज कर २३ मिनट रेलवे ता० १४ में पुनः मीन की संक्रान्ति लिखी है—

३६६ दिनों में इन दोनों संक्रान्तियों का अन्तर १७ घण्टा ४८ मिनट कम करने से—

३६६ । ० । ०
—० ।१७ ।४८

प्रायः—३६५ दिन ६ घण्टा १२ मिनट का यह बर्ष मान नवीन गणितज्ञों ने माना है।

अथवा १४ मार्च सन् ६२ रात्रि ९।११ बजे से १३ मार्च रात्रि ९।११ बजे तक के ३६५ दिनों में ३।२३ बजे रात तक के ६ घण्टे १२ मिनट होते हैं।

देशी पञ्चाङ्गों में प्रमाद बहुत है, मूल सिद्धान्तों के क्रियात्मक गणित की पद्धतियाँ लुप्त प्राय हो गई हैं, सारिणियाँ कहाँ तक सही हैं, तथा देशी पञ्चाङ्गों के निर्माता, पञ्चाङ्ग सारिणियों के अतिरिक्त आगे श्रम करने में आलस्य कर रहे हैं, अथवा वे सिद्धान्त ग्रह गणित ज्ञान से दूर हैं। यह तथ्य है कि वर्त्तमान भारतीय पञ्चाङ्ग प्रकाशन शैलियाँ यदि समालोचनार्ह हो भी गई हैं, तथापि—

कतिपय प्रामाणिक पञ्चाङ्गों में

१४ मार्च सन् १९६३ की रात्रि ७ बजकर ५८ मिनट में मीन संक्रान्ति लिखी है। तथा पुनः १३ मार्च सन १९६४ की रात्रि २ बज कर १० मिनट में मीन संक्रान्ति लिखी है।

यहाँ भी उभयतः दोनों वर्षों की मीन संक्रान्तियों का ऋण अन्तर काल १७ घण्टा ४८ मिनिट तथा धन अन्तर ६ घण्टा १२ मिनिट आरहा है, अर्थात् देशी पञ्चाङ्गों के—

वर्ष मान—	३ ६ ६ । ० । ०	अथवा	३ ६ ५ । ० । ०
दृश्य पञ्चाङ्गों में	—० ।१७ । ४८		+ ० । ६ । १२ देशी पञ्चाङ्गों में
	३६५ । ६ । १२		३६५ । ६ । १२

३६५।६।१२ के ही तुल्य नवीन पञ्चाङ्ग शोधक पञ्चाङ्ग सम्पादकों ने भी स्वीकार किया है।

आदि और अन्त में दोनों में अनिर्वाच्य अन्तर है, मध्य में तिथि, नक्षत्र आदि, में, कहीं तुल्यता और कहीं न्यूनाधिकता देखी जारही है। पाठक देखकर स्वयं समझ सकते हैं। इसी प्रकार देशी पञ्चाङ्गों में पुष्य नक्षत्र दिन ३।५९ बजे तक और धृति योग ४।२६ बजे तक दिया है, एवं दृश्य पञ्चाङ्गों में पुष्य नक्षत्र १।५९ बजे दिन तक एवं धृति योग दिन २।४२ बजे तक दिया गया है।

देशी पञ्चाङ्गों में मेष संक्रान्ति रात्रि १०।२२ बजे (किसी ने १०।१५, १०।२७,११··· बजे तक) दी है।

भारत सरकार के पञ्चाङ्ग में संक्रान्ति ११।३१ बजे दी हुई है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है देशी पञ्चाङ्ग अपने मूलबीज शुद्ध सिद्धान्त ग्रन्थों की परम्पराओं का पूर्ण उपयोग नहीं कर रहे हैं। सारिणियों के ही सहारे पञ्चाङ्ग बनते जा रहे हैं, उन सारिणियों में कहाँ तक सूक्ष्मता है? तथा "समय समय पर अन्तर पड़ने से वेध से ज्ञात ग्रह के द्वारा ग्रह गणित का प्रामाण्य मानना चाहिए था"—ऐसा शास्त्रकारों ने बराबर कहा भी है, जिसकी उपेक्षा की जा रही है। इसलिए कि देशी पञ्चाङ्गों के निर्माण में कोई असाधारण सिद्धान्त नहीं है उनमें बहुत मिलावटें हो गई हैं। इस निर्माण में ग्रह गणितज्ञों का पूर्ण सहयोग भी नहीं देखा जा रहा है, अवश्य यह दुख की बात तो है ही।

किन्तु सिद्धान्त तो सिद्धान्त ही हैं, ग्रह वेध तो सिद्धान्त की तथ्यता की प्रतीति के लिए तथा प्राक्कालीन राज्य सञ्चालकों के अनुरञ्जन के लिये भी बनाया गया है। सिद्धान्त स्थिर हैं, गणित गौरव में त्रुटियाँ होती हैं, कुछ संस्कारों की भूल भी हो सकती है, किन्तु गणित प्रक्रिया तो दीर्घ प्राचीन काल से आज तक माप दण्ड रही है।

सृष्टि के आदि दिन से इष्ट दिन तक पूर्व कथित गणित को समझ लेने के पश्चात् नवीनों का "भारतीय वर्ष मान २३-८ मि० अधिक है"

यह ('आक्षेप') कथन निर्मूल हो जाता है।

भारतीय ग्रह गणित की अयनांश प्रणाली, सृष्टि के आदि के खगोलसन्धि विन्दु नाडी क्रान्ति वृत्त का सृष्टचादि सम्पात विन्दु (Equeator or orbit) से ही निरयण गणना स्वीकृत हुई है। फलित ज्यौतिष की मूल भित्ति रूप ग्रहगणित में, ज्योतिर्विदों ने उस विन्दु की गति को अच्छी तरह समझ कर सिद्धान्त को स्थिर किया है। उस चलित विन्दु से राशि वृत्त के पूरे ३६०° भी उसी चलित विन्दु पर होंगे। दूसरे प्रकार से भी कहा जा सकता है कि सृष्टि के आदि के स्थिर सम्पात से पुनः उसी स्थिर सम्पात स्थान तक भी ३६०° ही अंश राशि वृत्त में होते हैं। प्रतिवर्ष में स्थिर विन्दु की अपेक्षा चल विन्दु ५४" विकला पश्चिम चल रहा है। एक दिन की ग्रहों की गति के अनुपात से उक्त चल और स्थिर सम्पातों के अन्तर चाप ५४ विकला में कितना समय लगेगा? इसे अनुपात की तरह ज्ञात किया है। भारतीय आचार्यों के मत से जिसका मान स्वल्पान्तर से २३·८ मि. होता है, नवीन आचार्यों के मत से भी यही ठीक होता है।

भारतीय ग्रह गणितज्ञों ने उक्त अयन चलन से उत्पन्न वर्ष मान को अच्छी तरह समझ रखा है, किन्तु एक भारत की आध्यात्मिक परम्परा है कि नित्य और अनित्य को समझ कर अनित्य पदार्थ की अनित्यता की अपेक्षा नित्यता को ही ग्रहण करना चाहिए।

भारतीयों के मत से अयन-चलन-सृष्टि के आदि के सम्पात से कुछ समय पूरब को होकर पुनः लौट कर, सृष्टचादि में पहुँच कर, पश्चिमगतिक होते हुए, नियत दूरी तक पश्चिम जाकर, पुनः उसी सृष्टि के आदि विन्दु में आता है, उस समय चल सम्पात की सत्ता समाप्त होजाती है, किन्तु स्थिर सम्पात सदा एक सा रहता है, उसे जानकर तदनुसार ही संहिता, जातक, मुहूर्त्त, आदि के साथ साथ स्वर, शकुन जैसे आध्यात्मिक फलित ज्यौतिष-शास्त्र और समस्त देश के जीवन रूप इस धर्मशास्त्र का आविर्भाव हुआ है। ये सब वैज्ञानिकता के आधार पर हैं। इनमें परिवर्तन अवश्य हो सकेगा, जब मूल भूत ग्रह गणित के सिद्धान्तों में स्पष्ट कोई त्रुटि पाई जावेगी, ऐसा होना संभव नहीं है।

शतपथ ब्राह्मण के वाक्यों के अनुसार—मासों की प्राचीन उक्त दिन संख्याएँ सूर्य के राशि भोग पूर्त्ति की सावन दिन संख्याओं से सम्बन्धित हैं, भारतीय आचार्यों की यह कल्पना पूर्ण वैज्ञानिक है।

प्रति चौथे वर्ष में फरवरी की दिन संख्या में १ अधिक कर उसे ३६६ मानने से प्रति वर्ष के ग्रह गणित के प्रसिद्ध फलित विभाग में बहुत बड़ा विकार होगा।

जैसे—

भास्करा चार्य के अनुसार बर्ष का मान ३६५।१५।२२।३० मानने से वर्ष की दिन संख्या ३६५ में ७ का भाग देने से १ शेष रहता है। यह क्रिया रवि वारादि बार ज्ञात करने के लिये की गई है।

शेष १५।३०।२२।३० को ८ से गुणा करने पर २।४।३ यह (दिनादिक) आता है। त्रैशशिक अनुपात से ८ वर्ष में २।४।३ दिनादिक मिलता है, तो इष्ट सौर वर्षों में क्या मिलेगा ? $\frac{२।४।३ \times \text{इष्टागत सौर वर्ष}}{८}$, प्राप्त इस फल को तथा वर्ष की दिन संख्याओं में वारात्मक १ शेष को भी गतवर्षों से गुणा कर उक्त फल में जोड़ देने से—जो प्राप्त है वही दिन (वार) अब्दपति होता है।

गतबर्ष $\times$ १ $+ \frac{(२।४।३) \times \text{इष्ट गत सौर वर्ष}}{८}$ यह संख्या जब ७ से अधिक हो होती है तब इष्ट वार जानने के लिये पुनः इसमें सात का भाग देना चाहिए।

$$\text{गतबर्ष} \times १ + \frac{\left(२ + \frac{१}{१५} + \frac{१}{१२००}\right) \text{इष्ट गत सौर वर्ष}}{७} = \text{अब्दपति होता है।}$$

तीन वर्षो का वर्ष मान केवल ३६५ दिनों का तथा चौथे वर्ष का वर्ष मान ३६६ दिनों का मानने से बर्षपति ज्ञान की उक्त प्रक्रिया की भांति उपपत्ति साधिका प्रक्रिया अभी तक अन्यत्र देखने को नहीं प्राप्त हुई है। इस प्रक्रिया से प्रत्येक मानव का नववर्षारम्भ का दिन ही नहीं अपि च दिन का सूक्ष्म से सूक्ष्म क्षण ज्ञात होता है, किन्तु अन्य पद्धतियों से नववर्षारम्भ की स्थूल तिथि ही ज्ञात होती है।

इसी प्रकार किसी भी जातक के बर्षफल आदि जानने के लिये भी चौथे वर्ष की ३६६ की कल्पना व्यर्थ है, अत एव उक्त प्रदर्शित भारतीय वर्षमान ही वैज्ञानिक एवं साधु है।

राष्ट्रीय पञ्चांग के सम्पादक ने सूर्यसिद्धान्त में अयनांश का विवेचन देने वाले श्लोक (९,१० त्रिप्रश्नाधिकार) को किसी प्रमाण से पुष्ट किये बिना ही वाद के ज्योतिषियों से किया गया प्रक्षिप्त श्लोक बताकर हमारे ऋजुस्वभाव के प्राचीन पद्धति के ज्योतिषियों पर आक्षेप करने का दुःसाहस किया है। उनका अभिप्राय यह है कि भारतीय गणितज्ञ, अयनांश के बारे में पहले कुछ जानते ही नहीं थे। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है, जिसका उल्लेख तो वे स्वयं कर रहे हैं जिसमें अयनविन्दु में तब कृत्तिका नक्षत्र का होना वे बता ही रहे हैं वेदाङ्ग ज्योतिष में जो उस शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ से परवर्ती है, परन्तु सूर्यसिद्धान्त से पूर्ववर्ती है, इस अयन क्रान्तिसम्पात का विवेचन निम्नश्लोक में स्पष्ट दिया है जैसे—

हमारे यहाँ के महर्षिगण इस सायन मान को मुख्य मानते थे।

वराह मिहिर अपनी संहिता में—

"आश्लेषार्धाद्दक्षिणमुत्तरमयनं घनिष्ठाद्यं नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्व शास्त्रेषु"

अर्थात् किसी समय में आश्लेषानक्षत्र के उत्तरार्ध के आरम्भ से ही दक्षिण अयन और धनिष्ठा नक्षत्र के आरम्भ से ही उत्तर अयन होता था, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं क्योंकि प्राचीन शास्त्रों में महर्षियों ने ऐसा ही लिखा है ।

इसी प्रकार ज्यौतिष वेदांग जैसी कोई भी प्राचीन पुस्तक ज्योतिश्शास्त्र में नहीं है, उसमें लिखा है ।

"स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ-

स्यात्तदादियुगं माघ स्तपः शुक्लेऽयनं ह्युदक्" ।।

अर्थात् जब सूर्य चन्द्रमा दोनों धनिष्ठा के आदि में हों, साथ ही आकाश में चलें वही आदि युग है, और उसी दिन से उत्तर अयन आरम्भ होता है ।

जिस समय उक्त स्थिति रही होगी, उस समय से आज तक दोनों अयनांशों का अन्तर ४५°।२० कला होता है जिसकी विकला १६३२०० होती हैं । प्रतिवर्ष की अयनांश की स्थूल गति ५० विकला मानने से $\frac{१६३२००}{५०}$ = ३२२४ आज से पूर्व ३२२४ वर्ष में वेदांग ज्यौतिष की रचना महात्मा "लगध" ने की थी यह भी सिद्ध होता है ।

यहाँ पर कहने का तात्पर्य है कि अयन चलन का प्रागाचार्यों को बहुत पहिले से ही पूर्णज्ञान था ।

शतपथ ब्राह्मण में कृतिका नक्षत्र की स्थिति से यज्ञमंडपों में दिशाओं का ज्ञान किया गया है ।

(म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी के दिग्मीमांसा ग्रंथ से उद्धृत संस्कृत का अनुवाद ।)

इस संबंध में गणक सार्वभौम स्वनामधन्य गुरुणांगुरु महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी जी के दिग्मीमांसा ग्रंथ के इस प्रसंग से संबंधित गणित गोल के महत्त्व का पाठकों के समक्ष वास्तविक विवेचन उपस्थित करना आवश्यक होगा । यथा—नक्षत्रों से दिग्ज्ञान कैसे होता है?—यही प्रतिपादन करना है ।

(१) नाड़ीवृत्त का पृष्ठीय केन्द्र विन्दु ध्रुव विन्दु ही उत्तर विन्दु है, वेध से ध्रुवज्ञान करते हुये वेधस्थानीय याम्योत्तर वृत्त के ऊपर जो लम्बवृत्त होगा, वह वृत्त प्राक्चिह्न नाडी पूर्वापर वृत्त के सम्पात विन्दु पर जावेगा, यही प्राची है—सबसे उत्तम और सरल दिग्साधन की यही युक्ति है ।

(२) नाडीक्रान्तिवृत्त के सम्पात पर उदित नक्षत्र बिम्ब भी गोलयुक्ति से नाडी क्षितिजउन्मण्डलयोगरूप पूर्वस्वस्तिक में होगा, इसलिये यह स्थान जिसका क्षितिज है, निश्चित है कि उस देश (स्थान) के अभिप्राय से यहां प्राची दिशा है ।

(३) स्वदेशीय क्षितिज में नक्षत्र की स्पष्टा क्रान्ति ज्ञान से विलोम उदित नक्षत्र का व्यस्त अग्रा से भी पूर्व चिह्न का ज्ञान गोलयुक्ति से ठीक है ।

(४) समशंकु········(५) एक क्षण में समान शंकु के भिन्न-भिन्न भुजमाना की तुल्यता········नक्षत्र युग्म दर्शन से भी दिग्ज्ञान होगा ।

(६)·········(७)·········(८)·········(९)·······इत्यादि अनेक युक्तियाँ हैं।

(१०) द्वितीयप्रक्रम से जिस नक्षत्र का कदम्ब प्रोतीय शर=० यह नक्षत्रबिम्ब अयनांश गति से कदाचित् नाडी क्रान्तिवृत्त सम्पात में गया हुआ होगा, इसलिये इस नक्षत्र का उदय, उदय क्षितिज में जिस समय जो जो देखेंगे सर्वत्र के लिये यही पूर्व दिशा गणित गोल से सुतरां स्पष्ट सिद्ध होगी।

कल्पना करिये, शराभाव नक्षत्रों में किसी क संज्ञक नक्षत्र की निरयण मेषादि से कदम्ब प्रोतीय ध्रुवांश=$अ_१$, विषुवत्क्रान्तिवृत्त सम्पातस्थ ध्रुवांश=$क_१$। ध्रुवान्तर विकला=३६०० ($क_१$ − $अ_१$)। विकलात्मक वार्षिक अयन गति=अ ग से भाग देने से लब्ध वर्षों में क नक्षत्र विषुवत्क्रान्तिवृत्त के सम्पात में होगा।

क नक्षत्र के सम्पातस्थ वर्ष=३६०० ($क_१$ − $अ_१$)। अयनांशगति विपरीत है। अतः सदा अयनांश ध्रुव में नक्षत्र ध्रुवा को घटाने से वर्ष साधन करना चाहिए। इस प्रकार क नक्षत्र कब सम्पात में होगा इसका उत्तर, लब्ध वर्ष होंगे, $\frac{३६००(क_१ - अ_१)}{अग}$

अतः अयनांश की ध्रुवा में नक्षत्र की ध्रुवा कम कर इसकी विकलाओं में वार्षिक अयनगति से भाग देने से सम्पातगत लब्ध वर्ष होंगे—

जैसे—"अयनांश ध्रुवात् शोध्यं भध्रुवं तद्विलिप्तिकाः वार्षिक्यायनगत्याप्ता अब्दाः सम्पातगस्य ते।"

इसी प्रकार चापीय त्रिकोणमिति से—प्राचीन सूर्य सिद्धान्तीय नक्षत्रों के ध्रुव और शरों से कब नक्षत्र बिम्ब की स्पष्टाक्रान्ति शून्य के तुल्य होती है—इसलिये सभी नक्षत्रों के सायन ध्रुवों का साधन करने के बाद जिन नक्षत्रों का परम क्रान्ति से कम दक्षिण शर हैं उनसे उत्तरगोलीय सायन ध्रुव, तथा जिन नक्षत्रों का परं क्रान्ति से कम उत्तर शरांश है इससे दक्षिण गोलीय सायन ध्रुव है। दोनों को लेकर निम्नप्रकार के गणित से आज से पूर्व के नक्षत्रों की स्थिति समझी है, तथा इस परम्परा से वेदकाल निर्णय में प्रायः ५४ तरह के मत आ रहे हैं, जो उपहास के ही हैं—

रोहिणी का शर=५° दक्षिण। सायनध्रुव ११°।१९'।५७"।१६८°।४०'।३"+

$$= \frac{४९।३०।०।।४९।३०।०}{३२१।४९।५७।।११९।१०।३}।$$

६ नवम्बर सन् १८९६ का अयनांश=२२' स्वल्पान्तर से अयनांश की गति ५०' मानने से इस समय से पूर्व रोहिणी की स्पष्टाक्रान्ति के अभाव में प्रथमायनांश सम्बन्ध

$$से \frac{२२—३२१।४९'।५७''}{५०''} = \frac{२८२°—३२१°।४९'।५७''}{५०''} = \frac{६०°।१०'।३''}{५०} = \frac{३६१०'।३''}{५०}$$

$$= \frac{२१६६०३''}{५०} = ४३३२\frac{३}{५०}$$ वर्ष पूर्व में वेद निर्माण कह सकते हैं।

इसी प्रकार द्वितीय अयनांश से $\frac{३८२^\circ - ११९^\circ।१०'।३''}{५०''} = \frac{२६२^\circ।४९'।५७''}{५०''}$

$= \frac{९४६१९७''}{५०} = १८९२३\frac{४७}{५०}$ वर्ष पूर्व वेद निर्माण काल कह सकते हैं।

इसी प्रकार—आश्लेषा से २३५४४, या ८२७९ शतभिषा से २४५४३ या ११७४४ कृतिका से १६४२८$\frac{३}{५०}$ या ५०९९ $\frac{४७}{५०}$ वर्ष पूर्व वेद निर्माण काल गणित से कहा जा सकता है। यह ५४ प्रकार के सभी मान अतुल्य हैं किसे किस आधार पर प्रमाणिक माना जाय ?

इसी प्रकार मृगशीर्ष से ४४४०$\frac{१}{५}$ वर्ष या १७५९$\frac{४}{५}$ वर्ष, इस प्रकार इस दिग्मीमांसा के पृष्ठ ३—३५ तक अनेक खगोलीय सिद्धान्तों के आधार से अव्यक्त और व्यक्त गणित का बहुत बड़ा बौद्धिक विचार पाश्चात्य मतों के साथ किया गया है।

भारतीय नक्षत्रों के वर्षों के साथ, एच. टी. कोलब्रूक ने भी पाश्चात्य मत से नक्षत्रों से वेदकाल निर्णय के सैकड़ों मत दिये हैं। (See Asiatic Researches-Vol IX. P. 323—371 and Historical view of Indian Astronomy by Bentley 1823)

तारा संख्या

३ अश्विनी=A Arictis=830 (No of Capecalalogue 1880)

३ भरणी=Muscau or 35 Arietis.

६ कृतिका=Tauri (Plei Ades)=1571

५ रोहिणी=a ,, (Aldebaran)=1862

६ २७ रेवती ५··· ··· ··· ··· ···४६८

इसी प्रकार २ तारा पूर्वभाद्र की जिससे १२००६ वर्ष पूर्व में वेदकाल हो सकता है। यहाँ पर आचार्य सुधाकर ने "देवयजन कल्पे कर्मान्त सूत्रे" तथा शतपथ ब्राह्मण २-१-२३ इन वाक्यों में कृतिका दर्शन से स्पष्ट प्राची दिशा ज्ञान करना चाहिए "श्रोणा-सन्दर्शनेन" वैदिकों के मत से प्राक्क्षितिज में औदयिक नक्षत्र बिम्ब से अभिप्राय नहीं है" ऐसा कहा।

श्लोकशुल्वे कात्यायनः (३४ श्लो)

स्वभाष्ये महीधरः·········इत्यादि

इन कथनों से जब नक्षत्र बिम्ब के उदय के पश्चात् यह शंकु ८६ अंगुल=३ हाथ १४ अंगुल के तुल्य होता है, इसी का नाम युग है। तभी नक्षत्र दर्शन के बाद प्राची दिशा ज्ञान करना चाहिए।

किन्तु प्रत्येक देश के अक्षांशों के भेद से एक ही नक्षत्र की विभिन्न स्थितियां क्रान्ति की विभिन्नता से स्पष्ट हैं, और साथ ही भिन्न-भिन्न शंकुओं के अंतर से कालान्तरित पूर्वापर वृत्त में प्रवेशकाल की विभिन्नता भी गोल युक्ति से सुस्पष्ट है। जहाँ पर ब्राह्मण ग्रंथों की

प्रथम रचना हुई होगी, वहाँ के अक्षांशों का ज्ञान, उद्दिष्ट कृतिकादि नक्षत्रों के युग मात्र प्रमाणक शंकु में बिम्बीय स्पष्टा क्रान्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। पुनश्च, क्रांति की अज्ञानता से सायन ध्रुव का ज्ञान संभव नहीं है, और इस सायन ध्रुव की अज्ञानता के कारण ब्राह्मण ग्रंथों के रचनाकाल का ज्ञान भी दुर्घट है। सभी ऐतिहासिकों को लक्षित कर आचार्य सुधाकर ने उच्चैरुद्घोषित किया है कि विद्वान् मेरा यह मत अच्छी तरह समझें। इसी प्रकार चित्रकाण्ड मण्डल के—

श्रवणस्योदये प्राची कृतिकायास्तथोदये······

कुण्डसिद्धौ च निशि वा श्रवणोदये······

कुण्डदर्पण में···यद्वा पुष्योदयात्

इस प्रकार के अनेक कुण्ड साधन ग्रन्थों में अनेक बातें उपलब्ध होती हैं। ये वचन सर्वत्र सब देशों में उपयुक्त कदापि नहीं हो सकते हैं, किसी निर्दिष्ट नगर में भले ही सही हो जाँय। ज्योतिष सिद्धान्तों से अनभिज्ञ कुण्डसाधन करने वाले ग्रन्थकारों ने वास्तव अकाश की स्थिति को नहीं समझ कर अपने-अपने ग्रन्थों में युक्ति शून्य बातें लिख दी हैं।

पृष्ठ ३५ से अनुवाद

इसी प्रकार वेदांग ज्योतिषोक्त परमाल्प दिन २४ घटी से साधित पलभा ८।२६ है। इससे अक्षक्षेत्रीय गोलीयानुपात से ३५।६ यह काश्मीर का अक्षांश हो सकता है, इससे पूर्वोक्त समीकरणों की सहायता से आज से $\frac{१०५८५८०}{५०} = २११७१\frac{३}{५}$ वर्ष पूर्व में विकल्प से २५६ वर्ष पूर्व में वेद काल निर्णय हो सकता है।

एवं श्रवण···धनिष्ठादि से भी—स्वातीचित्राभ्यां युगमात्रोदिताभ्याम्···इत्यादि से पूर्वापररेखा का किसी प्रकार व्यवहारिक ज्ञान वैदिकों ने किया है—

इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों में विवेचित प्राचीन वैदिक ग्रंथों में स्वदेशीयोपयोग के पूर्व दिशाज्ञान के जो नो नक्षत्र प्राचीन मुनियों ने कहे हैं—उसके अनन्तर गोलज्ञान शून्य अन्य आचार्यों ने भी अनुपयुक्त मतों को अपने-अपने समय में भ्रान्ति से संग्रह कर पूर्व दिशा ज्ञान के लिए लिखे हैं। इस लिए देशों की भौगोलिकता के अज्ञान से, तथा पूर्वमतों और स्वतन्त्रमतों के साङ्कर्य से नहीं कहा जा सकता है कि प्राचीनों ने कौन-कौन से नक्षत्रों को किस-कस देशभिप्राय से पूरब में माना है। इस लिए देशों की अज्ञानता से ब्राह्मण ग्रन्थों का समय ज्ञान संभव नहीं है। यह सब क्षितिज, उनमण्डल, नाडी वृत्त, पूर्वापरवृत्त, सम्पातरूप प्राची चिह्न को मानकर कहा गया है। युगमात्रोदित कृतिका नक्षत्रों का अपने देश में जहाँ पर दर्शन हो उसी का नाम वदिक प्राची है यदि वैदिकों का यह मत है तब तो समयादि ज्ञान के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

फलित ज्यौतिष में कृतिका नक्षत्र

(१) फलित ज्योतिष के मुहूर्त्त ग्रंथों में अश्विनी प्रभृति २७ नक्षत्रों में से प्रत्येक में किये जाने वाले शुभ कर्मों के निर्देश के साथ ही नक्षत्रों के साथ सूर्य आदि सात वारों के योग के अनुसार भी किये जाने वाले शुभाशुभ कर्मों की ओर आचार्यों ने संकेत किया है।

(२) यात्रा प्रकरण में—प्राची, याम्या, प्रतीची और उत्तरा इन चार दिशाओं की यात्राओं के लिये मुख्यतया यात्रा मुहूर्त्त दिए गये हैं। पूर्व दिशा के लिये अश्विनी आदि नक्षत्रों की यात्रा शुभ फलदायिनी कही गई है, और अश्विनी, (पूर्व के लिए) पुष्य,(उत्तर के लिए) हस्त, (दक्षिण के लिए) और अनराधा (उत्तर के लिए) आदि में चारो दिशाओं की भी यात्रा विशेष महत्वपूर्ण मानी गयी है। ये चारों दिग्द्वार नक्षत्र कहे गए हैं।

लेकिन यात्रा तो आठों दिशाओं की आवश्यक होती है तो विदिशाओं के लिए किन नक्षत्रों में यात्रा की जाय ?

इस प्रसंग में आचार्यों ने कहा है कि—

"पूर्वादिषु चतुर्दिक्षु सप्तसप्तानलर्क्षतः।
वायव्याग्नेय दिक्संस्थं पारिघं नैव लङ्घयेत्" ॥

तात्पर्य यह है कि कृतिका नक्षत्र से प्रारंभ कर सातवें नक्षत्र श्लेषा तक, प्राची से आग्नेयी, मघा से विशाखा तक में अग्नि से नैऋत्य, अनुराधा से अभिजित् तक में नैऋत्य से वायुदिशा, एवं धनिष्ठा से भरणी तक वायु से ईशान दिशा तक की यह उक्त स्थिति, समझ कर बताई है। अग्नि दिशा से वायु दिशा तक अर्द्ध परिधि स्थित नक्षत्रों (पारिध दण्ड) को लाँघकर उनकी विपरीत दिशाओं के गमन में महान् अनिष्ट का भय बताते हुए यात्रा का निषेध करते हुए अग्नि दिशा की सीमा—

पूरब से ४५° दक्षिण की तरफ तक बताई है।

"अग्नेर्दिशं नृप इत्यात्पुरुहुतदिग्भैरेवं प्रदक्षिण गतोऽपि"

पूर्व दिशा से ४५° दक्षिण की तरफ कृतिकादि सात नक्षत्रों में राजा की अग्नि दिशा की यात्रा श्रेयस्कर होती है। कृतिका नक्षत्र का यहाँ यह स्पष्ट तात्पर्य है।

उक्त स्थिति कैसे होती है ?

गोल को देखने से स्पस्ट रूप से प्रत्यक्ष होता है कि क्षितिजवृत्त में पूर्वस्वस्तिक विन्दु से ४५° दक्षिण तक की अग्नि दिशा तक म कृतिकादि सप्त नक्षत्रों की स्थिति होती है।

"एता ह् वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते"

शतपथ ब्राह्मण के इस वाक्य का स्पष्ट संबंध उक्त मुहूर्त्त ग्रंथों के वाक्यार्थ से ही है।

(३) खगोल में प्राची विन्दु तो एक नियत विन्दु है। जिस नक्षत्र बिम्ब की वस्तु स्थिति (या उस पर का कदम्बप्रोतीय शराग्र स्थान) उक्त सूक्ष्म प्राची विन्दु पर होगा, उसे ही प्राची विन्दुस्थ कहेंगे। कृतिका नक्षत्र के छह् नक्षत्रों का एक आकार षट्कृतिका रूप का है। उन छह् नक्षत्रों में से कौन सा नक्षत्र बिम्ब प्राची विन्दु पर था ? नवीनों ने इस पर अपना कोई अनुसंधान नहीं बताया है।

छह् नक्षत्रों का समूह रूप आकाश का एक भाग ($\frac{३६०}{२७}$) एक विन्दु रूप प्राची विन्दु में कदापि नहीं हो सकता। यह सुतरां असंभव है।

विवेचन,) शतपथ ज्ञान से उत्तरोत्तर के क्रमशः कालों में लिखे गये सभी ग्रन्थों में मिलते हैं। अतः "सूर्यसिद्धान्त" के उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त कहने न कहने का कोई प्रभाव तो नहीं है।

वास्तविकता यह है कि हमारे प्राचीन सभी ज्योतिषी इस अयनांश को ४४१ शक संवत् से वर्त्तमान के शून्यसम्पातीय विन्दु से निरन्तर गिनते आ रहे हैं। हमारे गणित की शैली में इस ढंग का संस्कार सुविधाजनक है, अन्य नहीं। अतः उक्त सम्पादक का इस वाक्य को प्रक्षेप कहना अशोभन है, यह उनका महान् भ्रम है। यदि ऐसा होता तो भारतीयों को इस अयनांश का कुछ भी पता नहीं रहता। यह दूसरी बात है कि हमारे ...स्वाङ्ग उसी प्रकार निरयण गणित करते आ रहे हैं, जैसे नवीन (दृश्य) पञ्चांग ...स आदि में सायन नहीं अपि च निरयण मार्ग का अनुसरण कर रहा ...। जैसा उल्लेख जिस प्रकार यह पञ्चांग कर रहा है, वैसा ही हमारे पञ्चांग भी ...र रहे हैं। इन दोनों में कोई विशेष गाणितिक अन्तर नहीं है, हाँ इस पाश्चात्य नाटिकल अलमनाक (सायन पञ्चांग) में दो चार नये ग्रहों के विवरणों को छोड़ भारतीय आध्यात्मिकता में उसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

सम्पात विन्दु उत्तरोत्तर खिसकते जाने के मत की पुष्टि तो हमारे आचार्यों के उक्त वचन स्पष्टतः कर ही रहे हैं, इसमें प्रश्न यही शेष रह जाता है कि यह कितने अंश तक जायेगा। अब तक के कुछ आचार्यों ने २७ अंश तक इसकी सीमा खींची है। पर उनका आदेश तो यह है कि प्रति वर्ष वेध करके गणित को शुद्ध करना चाहिए। अतः जब अयन २७ अंशों से आगे बढ़ने लगेगा, उस समय के वेधकर्त्ता को यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ेगा कि यह अयनांश २७° में समाप्त हो गया है। अथवा कम होते होते शून्य में आ गया है, या आगे २८° में चला जा रहा है। तब तक इस विषय पर विवाद करना व्यर्थ समय का दुरुपयोग करना है। क्योंकि ज्यौतिष तो प्रत्यक्ष देखने की बात है, केवल पुस्तकी विद्या नहीं है; अतः इस सम्बन्ध में पारस्परिक आलोचना का क्षेत्र नहीं खुलना चाहिए। प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्'।

नवीनों के मत से वर्त्तमान अयनांश की स्वल्पान्तर से वार्षिक गति ४९"।५० के तुल्य है। (२६००० वर्षों में पूरे भगोल के परिवर्तन से $\frac{३६०\times ६०\times ६०}{२६०००} = \frac{६४८}{१३} =$ ४९"।५०) सूर्यसिद्धान्त का परम अधिक अयनांश २७° के पूरे होने में २७° में वर्त्तमान अयनांश को कमकरने से २७°–२३।१५ (वर्त्तमान अयन सम्पात) = ३।४५° = २२५ कला = १३५०० विकलाओं में १३५०० $\div \frac{६४८}{१३}$ = २७० वर्ष १० महीने होते हैं।

अतएव आज से आगे २७० वर्ष १० महीने में ही, अयनांश आन्दोलन का आन्दोलन वाद स्पष्ट होगा, इसी समय से नवीन आचार्यों की परम्परा ग्राह्य होगी। अभी दोनों एक मत हैं। अथवा २७० वर्ष के पश्चात् सूर्य सिद्धान्त के परम अयनांश २७° की मान्यता होगी, उस समय में भारतीय ग्रह गणित सम्बन्धी सिद्धान्त अधिक शुद्ध होने के कारण अनिवार्यतः अधिक महत्त्वपूर्ण बन जायेगा।

कृतिकादि नक्षत्रों की स्थिति सामान्यतया पूर्व से ४५° दक्षिण तक पूर्व में थी और आज भी है, नहीं तो ज्योतिष का फलित भाग उसकी भविष्य की स्थिति पर भी प्रकाश डाल चुका होता, क्योंकि फलित ज्यौतिष-शास्त्र ही भविष्य का मापदण्ड है।

इसी प्रकार स्वर शास्त्रों में भी कृतिका नक्षत्र की ही प्रधानता है, जिसमें अद्यावधि कोई परिवर्तन नहीं है। जैसे "आ, ई, ऊ, ए वर्णानलभम्"—

"अकारः प्रथमो वासुदेवस्तत्प्रधानत्वात् अकार एवाद्यो गृहीतः"।

पूर्वादि आठों दिशाओं में अ, क, च, ट, त, प, य, श इन आठो वर्गों के आ[illegible] से अकारादि वर्गों की स्थापना पूर्वादि दिशा और विदिशा में कही गई है। [illegible] कादि नक्षत्र संबंध से है।

आचार्य पराशरोक्त दशाओं में जातक की प्रथमा दशा सूर्य ग्रह की होती है, कृतिका नक्षत्र से जन्मनक्षत्र तक तीन आवृतियों में होती है

"गणयेत्कृतिकाभाच्च यावद्वै जन्मभावधि
नवभिश्च हरेद्भागं शेषं ग्रह दशा भवेत्"।

योगिनी दशाओं में भी अश्विनी से जन्म नक्षत्र तक गणना कर उसमें तीन जोड़कर फिर आठ का भाग देना चाहिये (यहाँ भी कृतिकादि क्रम से है तात्पर्य।)

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण काल से और उसके पूर्व से "कृतिका प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते" इस वाक्य की संगति हुई है। आज की साम्पतिक कृतिका जहाँ भी हो किन्तु उसका व्यवहार तो अनादि (प्राक्तन) काल से एक ही स्थिर अर्थ में हो रहा है।

विशेष

यदि शतपथ ब्राह्मण काल से कृतिका नक्षत्र से अयनांश की गतियों का कुछ भी संबंध होता तो ज्योतिषशास्त्र प्रणेता अष्टादश आचार्यों के ग्रंथों में शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित कृतिका स्थिति के प्रसंग में अयनांश का उल्लेख भी होता, क्योंकि उनके समय में भी निस्संदेह अयन चलन था।

यदि इस प्रसंग में पूर्ववर्ती आचार्यों के बुद्धि-विभ्रम को कारण माना जाय तब भी तो परवर्ती आर्यभट्ट, लल्ल, बराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीपति, द्वितीय आर्यभट्ट, भास्कर, गणेश, कमलाकर, एवं रंगनाथ मुनीश्वर प्रभृति गणितगोल के मर्मज्ञ उद्भट खगोल शास्त्रियों द्वारा शतपथ ब्राह्मण के उक्त वाक्य का उल्लेख होना चाहिये था। उन्हें भ्रम नहीं होता क्योंकि अयन चलन पर उक्त आचार्यों ने अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किये हैं। जैसे—

दूसरी बात यह भी है कि भारतीय ज्योतिषी—

अयनांश को ४४१ शक संवत् से गिनते आ रहे हैं। इससे यह निश्चित है कि इस संवत् के समीपस्थ लेखक ने इस क्रान्ति पात को अपने आखों देखकर लिखा था। पाश्चात्य ज्योतिषी भी लगभग इसी तिथि से अयनांश की गणना करते हैं। और इसके गणित का विशेष प्रचार तो १६ वीं शताब्दी से हुआ है, हमारे यहाँ यह अयन सम्पात (क्रान्ति के

अतएत नवीन ग्रह गणितज्ञों से अनुरोध है कि उक्त विवाद पर प्राची एवं प्रतीची उभय पक्षों के खगोलशास्त्रियों के विचारों के सम्यक् अध्ययन के पश्चात् कोई निष्पक्ष निर्णय दिया जाना चाहिये जिसे हम हृदय से स्वीकार करें। नवीन ग्रह गणित की वर्तमान गवेषणायें अवश्य स्तुत्य हैं। उनकी इन ग्रहगणित की अनेक श्रमपूर्ण गवेषणाओं का हम हृदय से आदर भी करते हैं।

भूमण्डल की भारत भूमि में भास्करावतार "भास्कराचार्य"

अब प्रकृत में भास्कराचार्य प्रणीत ग्रहगणित के इस महत्तम ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि के स्पष्टाधिकार और त्रिप्रश्नाधिकार की जो यथोचित विवेचना की गई है उस पर कुछ वक्तव्य आवश्यक है।

भास्कर ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रायः सभी मतों का आदर किया है, तथा विशेष स्थलों पर उनके मतों का खण्डन भी किया है।

११वीं शताब्दी से आज तक इस ग्रन्थ का महत्त्व अवाधगति से चला आ रहा है। ऐसे महान ग्रहगोलज्ञ का संक्षिप्त परिचय निम्न है। आर्य भट्ट और उनकी शिष्य परम्परा के "लल्लाचार्य", "वराहमिहिर", "मुञ्जाल" द्वितीय "आर्य भट्ट" तथा "ब्रह्मगुप्त" के पश्चात्, सह्यपर्वत के निकट विज्जड़विड (ऐतिहासिकों के मत से आधुनिक बीजापुर) नामक स्थान में शाण्डिल्य गोत्रीय श्रीमान् महेश्वर उपाध्याय के घर में १०३६ शक संवत् में भारतवर्ष का भूषण रूप साक्षात् भास्करावतार आचार्य "भास्कर" उत्पन्न हुए थे। विष्णु पुराण ग्रन्थ के पद्यों के अधिक प्रमाणभूत दृष्टान्तों से, तथा मिताक्षरा रूपता के "यस्मात् क्षुब्ध प्रकृतिपुरुषाभ्याम्" श्लोक की मिताक्षरा में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक मूर्त भेदों का वैष्णव आगमों में विशेष समादर होने से, ये "कार्णाटक" वैष्णव ब्राह्मण थे, ऐसा अनुमान लगाया जाता है।

इनके लिखे निम्न पाँचों ग्रन्थ सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। (१) लीलावती (अंकगणित) (२) बीजगणित, (३) गोलाध्याय, (४) ग्रहगणिताध्याय तथा (५) ब्रह्मसिद्धान्ततुल्य करण कुतूहल।

गोलाध्याय में नाडीवलय यन्त्र के निर्माण के अवसर पर कहा है, "स चाङ्कनप्रकारः "सर्वतोभद्रयन्त्रे"। किन्तु भास्कराचार्य का सर्वतो भद्र यन्त्र अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

अपने बीजगणित के उपसंहार में उन्होंने लिखा है कि भास्कराचार्य के गुरु उनके पिता श्रीमान् पं० "महेश्वर उपाध्याय" ही थे। क्योंकि सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ की प्राचीन प्रतिलिपियों में अध्याय समाप्ति पर यह लेख मिलता है, "महेश्वरोपाध्यायसुत भास्कराचार्य विरचिते"।

वासनावार्त्तिककार नृसिंह दैवज्ञ ने गणिताध्याय के प्रथम श्लोक की व्याख्या के ही अवसर पर आचार्य भास्कर की बड़े आदर के शब्दों में महत्त्वपूर्ण स्तुति की है। जैसे—(संस्कृत का हिन्दी अनुवाद)।

"शाण्डिल्यमुनि गोत्रोत्पन्न, कुम्भोद्भव, दिग् अंगनाओं के आभरण सर्वस्व, सह्य पर्वताश्रय विज्जड नगर निवासी, जिन्होंने दण्डक वन को पवित्र किया है, जिन्होंने अनेकों यज्ञों के सम्पादन से पुण्य सञ्चय किया है, और जो याज्ञिकों के अग्रगण्य, युजुः शाखियों के उपाध्याय, साम्वत्सरिकों (ज्योतिषियों) के आचार्य, काव्य, नाटक, और

अलंकार वेत्ताओं के अध्यापक, बुद्धि बर्द्धन के उपायों के कारक, ब्रह्मसिद्धान्त और वसिष्ठ सिद्धान्त के तुल्य सर्वतोभद्रादि यन्त्रों के निर्माता महाराष्ट्रियों के आश्रय हैं। ऐसे महेश्वर आचार्य के नन्दन, परम कारुणिक श्रीभास्कराचार्य ने "श्रीधर" "ब्रह्मगुप्त" "लल्ल" "चतुर्वेदाचार्य" निर्मित अपार गणित सागर के विचार जल कल्लोलों में अनेक सन्देह सन्दोह गृहीत रूपी मकरादि ग्राह जन्तुओं से गृहीत जीवों का उद्धार करने की इच्छा से सिद्धान्त शिरोमणि की रचना की।"

शास्त्रान्तर में भी भास्कराचार्य सम्बद्ध एक पद्य की उपलब्धि से उक्त कथन की परिपूर्ण पुष्टि होती है, जो निम्न है—

"अष्टौ व्याकरणानि, षट् च भिषजां व्याचष्ट ताः संहिताः।
षट्तर्कान् गणितानि पञ्च चतुरो वेदानधीते स्म यः॥
रत्नानां त्रितयं द्वयञ्च बुबुधे मीमांसयोरन्तरम्।
तद्ब्रह्मैकमगाधबोधमहिमा सोऽस्याः कविर्भास्करः"॥

भास्कराचार्य की लीलावती (अंकगणित) ग्रन्थ के "लीलावती" नाम करण के विषय में अनेक किम्वदन्तियाँ हैं। भास्कराचार्य ने अपने लीलावती ग्रन्थ में यत्र तत्र सर्वत्र-अधोलिखित सम्बोधनों का प्रयोग किया है।

जैसे :—अंकों के योग के उदाहरण के अवसर पर, "अये! बाले! लीलावति! मतिमति"! इत्यादि। कहो कि २।५।३२।१९३।१८।१० और १०० अंकों का एकीकरण कितना होगा? साथ ही 'शतोपेतानेतानयुत वियुतांश्चापि वद मे यदि व्यक्ते युक्ति व्यवकलन मार्गेऽसि कुशला'। उक्त योगांक को १०००० में घटाने से क्या फल होगा? एक ही श्लोक में अंकों के स्थानीयमानों के अनुसार योग और अन्तर का कैसा सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया गया है, पाठकस्वयं विचारें। (योग=३६० इसे १००० में घटाने से अन्तर=९६४)

गुणन और भजन का एक ही पद्य से उदाहरण :—

बाले बालकुरङ्ग लोल नयने! लीलावति प्रोच्यताम्।
पञ्चत्र्येकमिता दिवाकर गुणा अङ्काः कति स्युर्यदि॥
रूपस्थानविभागखण्डगुणेन कल्याऽसि कल्याणिनि!
च्छिन्नास्तेन गुणेन ते च गुणिता जाताः कति स्युर्वद॥

बालकुरङ्ग की तरह चञ्चलाक्षि हे बाले लीलावति! १३५ को १२ से गुणा कर गुणनफल में गुणक का भाग देने से कितनें अंक होते हैं? अंकों के स्थान विभागीय खण्ड गुणन में हे कल्याणिनि! यदि तुम कल्या (चतुरा) हो।

यहाँ पर लब्धि × भाजक = भाज्य के संकेत का भी बालकों के लिये स्पष्ट किया गया है।

वर्ग और वर्गमूल के लिये तथा अन्यत्र भी सखे! सम्बोधन का व्यवहार किया गया है। घन और घनमूल के प्रश्नों के लिये।

घन पदं च ततोऽपि घनात्सखे! यदि घनेऽस्ति घना भवतो मतिः।

अर्थात् घनमूल जानने में यदि तुम्हारी मति घनीभूत हो तो कथित अंकों का घनमूल बताओ।

कृपण से भुलाकर याचना नहीं करनी चाहिए इस अभिप्राय को--प्रभाग जाति भिन्न के सूत्र से स्पष्ट किया है।

उदाहरण--

हे सुमते ! हे वत्स ! यदि तुम जानती हो (जानते हो) तो (१ द्रम=[प्रायः १ चौउन्नी) का $\frac{१}{२}$ का $\frac{२}{३}$ का $\frac{३}{४}$ का $\frac{१}{५}$ का $\frac{१}{१६}$ का $\frac{१}{४}$) एक भिखारी ने एक धनी से एक द्रम की मांग की, धनी ने फटकार दी। तब भिखारी ने एक द्रम का आधा माँगा। इसी प्रकार पुनः भिखारी ने द्रम के आधे का $\frac{२}{३}$ माँगा एवं धनी की अस्वीकृति ही होने से, धनी से भिखारी ने क्रमशः १ का $\frac{१}{२}$ का $\frac{२}{३}$ का $\frac{३}{४}$ का $\frac{१}{५}$ का $\frac{१}{१६}$ का अन्त में $\frac{१}{४}$ माँगा। तब धनी ने स्वीकृति दी, तो बताओ उस कृपण धनी से भिखारी को क्या प्राप्त हुआ ?

उत्तर :-- $\frac{६}{७६८०}$ या $\frac{१}{१२८०}$ द्रम, भिखारी को मिले।

परिभाषा प्रकरण के अनुसार, २० कौड़ी=१ काकिणी। ४ काकिणी=१ पण (प्रायः पैसा) १६ पण=१ द्रम के क्रम से उक्त द्रमों की $\frac{१\times१६\times४\times२०}{१२८०}=१$ वराटक भिखारी को भीख में मिला। अर्थात् भिखारी को एक कौड़ी मिली।

व्यस्त गणित के उदाहरण में–राशि वेत्सि चञ्चलाक्षि ! विमले ! विशेषणों का प्रयोग हुआ है। प्राचीन पुस्तकों में एक और उदाहरण पति-पत्नियों के प्रणय कलह का मिलता है। विद्वानों ने इसे प्रक्षिप्त उदाहरण भी कहा है। वह कि प्रणयावसर में मौक्तिक हार के टूट जाने से मुक्ता के दानों के इधर-उधर बिखरने पर पति के द्वारा उनके पाये जाने तथा उनकी संख्या के विषय में किये गये प्रश्न से संबद्ध है। इसी प्रकार--विश्लेष जाति के उदाहरण पर, कान्ते ! केतक मालती परिमल इत्यादि। गुण कर्म के उदाहरण के अवसर पर—बाले ! मराल कुल मूल दलानीति······तीरे विलास भरमन्थरगाण्यपश्यम्। कुर्वंच्च केलि कलहं कल हंस युग्मं--ऐसे सरस वाक्यों का उदाहरण, तथा बाले ! बाल मृणालशालिनि ! जले केलि क्रिया लालसमित्यादि तथा निशि परमललुब्धं पद्ममध्ये निरुद्धं रणति प्रति रणन्तं ब्रूहि कान्ते ! अलि संख्याम्, इत्यादि प्रकार के सम्बोधनों का प्रयोग किया है। उक्त सम्बोधनों से बहुत लोगों ने या ग्रन्थ के एकाध टुकड़ों के ही जानकारों ने माना है कि "भास्कराचार्य" ने अपनी लड़की लीलावती के नाम के सम्बोधनों का प्रयोग किया है।

अलंकारिकों को विचारना चाहिए कि उक्त मत कहाँ तक तथ्यसंगत हो सकता है।

लीलावती ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में स्वयं आचार्य ने कहा है कि–सुन्दर गुणन, भजन, वर्ग, वर्गमूल, घन घनमूल जाति, प्रभागजाति भिन्न क्षेत्र व्यवहार, वृत्तक्षेत्र व्यवहार, छाया व्यवहार, कुट्टक व्यवहार, अंकपाश आदि के गणितों से विभूषित और जिसके समग्रगणित व्यवहार दोष शून्य हैं, ऐसी सर्वांग लीलावती नाम की पुस्तिका जिन्हें कण्ठस्थ हो उनकी सुखद गणित सम्पत्ति सदा वर्धमान होती है।

अथवा—और भी एक अत्यन्त स्पष्ट अर्थ होता है कि—

सुन्दर गुण, वर्ग जाति आदि से विभूषित अंग वाली, अत्यन्त पवित्र व्यवहार युक्त कण्ठसक्ता (स्त्री, वामा, भार्या, अर्द्धाङ्गिनी) पति प्रिया तथा विनोद जिसमें विद्यमान हो ऐसी सुन्दर सरस भाषिणी या सुन्दर सरस युक्तियों की दृष्टान्त दायिका लीलावती (भार्या)

गृहिणी रूप से जिन गृहस्थों के घरों को अलंकृत करती है, उन गृहपतियों की सुख सम्पत्तियाँ (पुत्र मित्र लक्ष्मी) सदैव वृद्धिगत होती हैं। जैसे —

"येषां सुजातिगुणवर्गविभूषिताङ्गी शुद्धाखिलव्यवहृतिः खलु कण्ठसक्ता।
लीलावतीह सरसोक्तिमुदाहरन्ती तेषां सदैव सुखसम्पदुपैति वृद्धिम्॥"

उक्त विवेचनाओं से मेरा विचार इस निष्कर्ष पर पहुंच पाया है कि कुशल आचार्य ने उक्त ग्रन्थ का "लीलावती" नाम करण पत्नी की अमरकीर्ति की स्थापना के लिये किया होगा।

एक संभावित कल्पना यह भी हो सकती है कि --ऐसी महान् विभूतियों को दैवी लौकिक देन कम देखी गई हैं—अनपत्य (सन्तानहीन) होने से भी पति पत्नी का पुरुष प्रकृति रूप में साक्षात् विलय हो जाता है जैसा भास्कराचार्य को भी यदि हुआ होगा तो भी राष्ट्र की भविष्य की समग्र शिक्षित सन्तानें उन्हें स्मरण करती हुई दीर्घ समय तक अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पण करती रहेंगी। जैसा भास्कराचार्य के जन्म शक १०३६ से आज के वर्त्तमान शक १८८५ तक प्रत्येक शताब्दी से भास्कराचार्य के ग्रहगणित के आधार की अपनी-अपनी बहुविध रचनाओं से विद्वानों ने आचार्य का धवल यश दिगदिगन्त तक पहुंचाया है।

(१) भास्कराचार्य की अंकगणित की कुछ प्रतिभाएँ

भास्कराचार्य ने लीलावती ग्रन्थ के क्षेत्र व्यवहार में चतुर्भुज क्षेत्र के क्षेत्रफल निकालने के सम्बन्ध में अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है। एक चतुर्भुज क्षेत्र है। जिसकी दोनों भुजाएँ क्रमशः ५२ और ३९ हैं। जिसकी भूमि आधार ६० के तुल्य है, तथा जिसका मुख २५ हाथ के तुल्य है। प्राचीनों ने इस क्षेत्र को अतुल्य लम्बक कहते हुये इसके दोनों कर्णों को क्रमशः ५६ और ६३ के तुल्य ही कहा है।

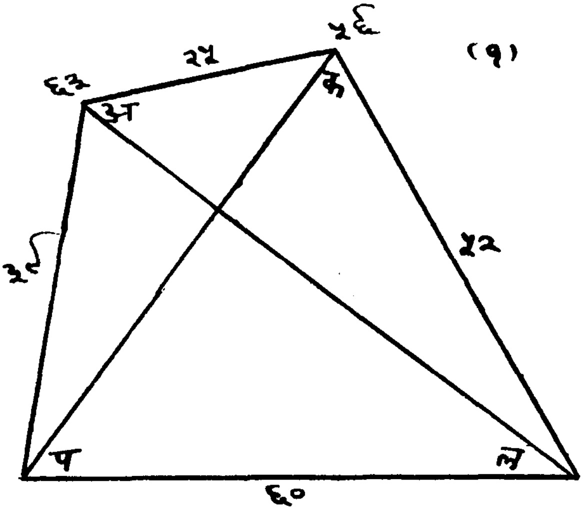

भास्कराचार्य ने प्राचीनों के इस गणित को एक देशीय गणित कहा है। "ब्रह्मगुप्ताचार्य"–मत को आगम मानते हुये भी आचार्य ने सिद्धान्त पक्ष स्थापित करने में सङ्कोच नहीं किया है। ब्रह्मगुप्त का निःसंकोच खण्डन भी किया है।

भास्कराचार्य का कथन है कि —चतुर्भुज की चारों भुजाओं के नियत होने पर भी उसके

नियत कर्ण नहीं हो सकते। कर्णों की नियत स्थिति न होने से लम्ब मानों में भी अन्तर पड़ता है, जिससे चतुर्भुज का क्षेत्रफल भी एक रूप का कदापि न होकर अवयश्य अनेक रूप का हो सकता है।

जैसे, उक्त अ क ल प चतुर्भुज के अ क और ल क अथवा क कोण की दोनों भुजाओं को भीतर की तरफ संकुचित करने से क ल और क अ भुजाओं के योग ७७ के तुल्य तथा ब्रह्मगुप्त के मत से वृहत्कर्ण ६३ के तुल्य मानने पर लघुकर्ण का मान ५६ आता है ठीक है। किन्तु भास्कराचार्य का कथन है कि—

(१) चतुर्भुज के एकान्तर कोणों के खिंचाव से चतुर्भुज संकुचित होकर त्रिभुज के रूप में परिणत हो जाता है। एक कोण में लगी हुई दो भुजाओं के योग के तुल्य आधार का मान हो जाता है। और चतुर्भुज की शेष दोनों भुजाएँ त्रिभुज की भुजाएँ बन जाती हैं। दूसरा संकुचित कर्ण चतुर्भुज के लम्ब से कम नहीं होगा और वे दोनों भुजाएँ आधार से बड़ी नहीं होंगी। इस कथन के अनुसार ५६ की जगह पर कर्ण के ३२ मानने से इसी चतुर्भुज का दूसरा कर्ण ७६$\frac{२२}{२५}$ आता है। (सामने चित्र देखिये)

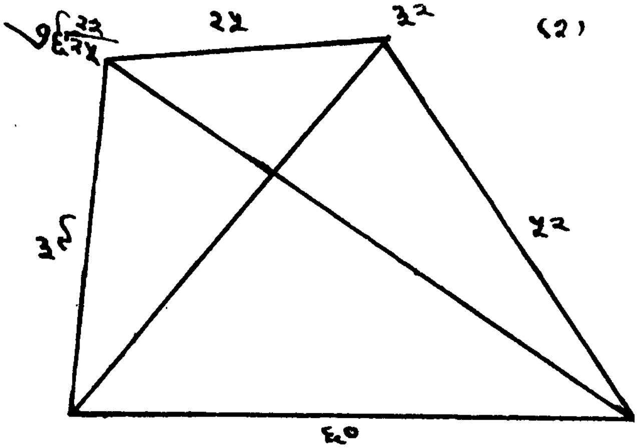

(२) इसी क्षेत्र को समलम्ब चतुर्भुज की स्थिति में रखने से ६०—२५=३५ को आधार मानकर, अन्तर्लम्ब त्रिभुज के स्वरूप में ३५ आधार के दो विभागों में एक विभाग का मान $\frac{३}{५}$ और दूसरे विभाग का मान $\frac{१७२}{५}$ होता है। तथा शीर्षकोण से आधार तक लम्ब का मान $\sqrt{\frac{३८०१६}{२५}}$ आता है।

आसन्नमूल लेने से लम्ब का मान ३८$\frac{६२२}{६२५}$ आता है। $\sqrt{(६० - \frac{३}{५})^{२} + \frac{३८०१६}{२५}}$ आसन्न मूल ७१$\frac{१}{२०}$ तथा $\sqrt{\left(६० - \frac{१७२}{५}\right)^{२} + \frac{३८०१६}{२५}}$ आसन्न मूल ४६$\frac{१३}{२०}$ यह द्वितीय कर्ण होता है।

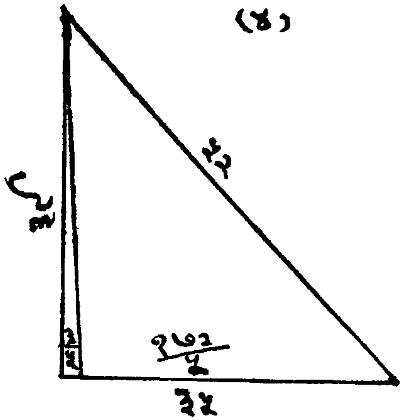

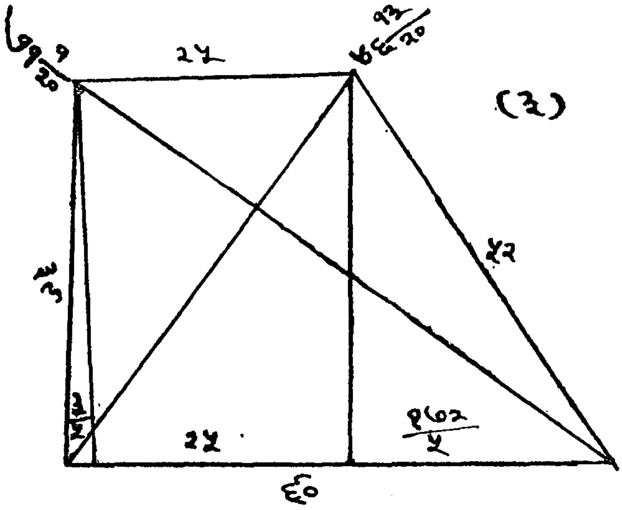

उक्त स्पष्ट विवेचनों से भास्कराचार्य का कथन ("चतुरस्त्रे तेष्वेव बाहुष्वपरौ च कर्णौ बहुधा भवतः" इन्हीं भुजाओं में और भी कर्ण हो सकते हैं, तथा इन्हीं भुजाओं से निर्मित चतुर्भुज का क्षेत्रफल भी बहुत तरह का हो सकता है) युक्ति युक्त है। आधुनिक अंक गणित में इस प्रकार की सूक्ष्म देनें यदि हैं तो वह सब भास्कराचार्य की ही हो सकती हैं। यदि नही हैं तो गङ्गातट पर भी प्यासे होने की तरह आश्चर्य की ही बात कहनी पड़ेगी।

(२) बीज गणित

भास्कराचार्य के बीज गणित में (१) अवर्गाङ्क अंकों का मूल ज्ञात करने के नियम, (२) कुट्टक गणित की अनेक विशेषताएँ, (३) वर्ग प्रकृति गणित में योग अन्तर की भावनाओं से कनिष्ठज्येष्ट के ज्ञान के अनेक नियम, (४) एक वर्णसमीकरण के पञ्चकशतदत्तधनात् इत्यादि के उदाहरण में कल्पना लाघव से व्यक्त मान ज्ञात करने की युक्तियाँ, (५) त्रिभिः पारावता पञ्च इत्यादि उदाहरण में क्रिया लाघव से कपोतादि मान ज्ञात करने की विधि, (६) कौ राशी वद पञ्चषट्क विहृताविल्यादि उदाहरण में क्रिया संकोच का कल्पना कौशल, (७) वर्ग समीकरण में विविध मान प्रदर्शन सिद्धान्त प्रतिपादन (८) आचार्य पद्मनाभ के बीजसूत्र का व्यभिचार प्रदर्शन, (९) अनेक वर्ण मध्यमाहरण के 'यत्स्यात्साल्पवधार्धतो घन पदम्' इत्यादि उदाहरण में राशि कल्पना की अपूर्व युक्ति प्रदर्शन (१०) और भाविता-अध्याय में अभिन्न मान के लिये, 'भावितं पक्षतोऽभीष्टादित्यादि" सूत्र से अपूर्व गणित क्रिया प्रदर्शन प्रभृति बीजगणितीय बुद्धिकौशल, गणितज्ञों के लिये आश्चर्यजनक सिद्ध हो चुके हैं।

चौथा (४) उक्त विशेषताओं में व्यक्त मान ज्ञात करने का एक उदाहरण पाठकों के विनोद के लिये उपस्थित करना उचित होगा।

जैसेः—पांच रुपये सैकड़े से किसी अभीष्ट समय तक के लिये दिये गये किसी मूलधन का जो ब्याज मिला, उस ब्याज के वर्ग को उसी मूल धन में कम करने से जो धन बचा

उसे द्वितीय मूलधन मान कर उसे दस रुपया सैकड़े की दर से उसी पूर्वसमय तक के लिये दिया गया और उसका भी व्याज पूर्व मूल धन के व्याज के ठीक बराबर मिला तो प्रथम और द्वितीय मूलधनों का मान बताओ।

यहाँ यदि प्रथम मूलधन=य तथा समय =५ मास मानें, तब क्रिया करने से $\frac{य}{४}$ यह प्रथम धन का फल हुआ। इसका वर्ग $\frac{य^२}{१६}$ हुआ। इसे प्रथम मूल धन में से कम करने से द्वितीय मूलधन होता है, अतः $य - \frac{य^२}{१६} = \frac{१६ य - य^२}{१६}$ यह द्वितीय मूलधन हुआ।

यह भी पूर्व के ५ मास तक के लिये दिया गया और पूर्व के ५) सैकड़े से द्विगुणित सैकड़े अर्थात् १०) सैकड़े से दिया गया

अतः १००······१······१०

$$१ \quad \cdots \quad \frac{१०}{१००} = \frac{१}{१०}$$

$$१ \quad ५ \quad \frac{५}{१०} = \frac{१}{२}$$

$\therefore \frac{१६ य - य^२}{१६} \cdots ५ \quad \frac{१६ य - य^२}{१६} \times \frac{१}{२} = \frac{३२ य - य^२}{३२}$। यह द्वितीय धन का व्याज है, जो पूर्व धन के व्याज के तुल्य है। दोनों को तुल्य करने से-

$$\frac{य}{४} = \frac{१६ य - य^२}{३२} = ८ य = १६ य - य^२ ।$$

$\therefore ८ = १६ - य \therefore य = ८$, यह प्रथम मूलधन है। इस य मान का द्वितीय मूलधन में उत्थापन करने से $\frac{१६य - य^२}{१६} = \frac{१६ \times ८ - ६४}{१६} = \frac{६४}{१६} = ४$ यह द्वितीय मूलधन हुआ।

यहाँ पर आचार्य ने उक्त समीकरण को दिखाते हुये भी अपने रचित गद्य में एक सिद्धान्त उपपन्न किया है, और उक्त क्रिया को गौरव क्रिया भी कहा है। जैसे–आचार्य के गद्य के आशय के अनुसार कल्पना करिये कि द्वितीय मूल धन=द्वि। प्रथम द्वितीय व्याजों का सम्बन्ध $= \frac{१०}{५} = २ =$ गुणक=गु। प्रथम धन=गुण गुणित द्वितीय धन। प्रथम मूलधन— द्वितीय मूलधन=फल वर्ग। अतः द्वितीय धन गुणित गुण—द्वितीय धन=फल वर्ग।

अर्थात्—द्वितीय मूलधन (गुण—१) =फलवर्ग।

$$\therefore \text{द्वितीय मूलधन} = \frac{\text{फलवर्ग}}{\text{गुण} - १}$$

जैसे :—

कल्पना कीजिए कि फल का (व्याज) वर्ग २५६ है। इसमें प्रथम द्वितीय प्रतिशत व्याजों का सम्बन्ध $\frac{१०}{५} = २$ यह गुणक है। इस गुण में एक कम करने से २–१=१ का भाग

देने से $\frac{२५६}{१}$=२५६, यह द्वितीय मूलधन हुआ। इस द्वितीय मूलधन को गुणक २ से गुणा करने से ५१२ यह प्रथम मूलधन होगा। आलाप मिलाने से $\overset{१२८}{५१२} \times \frac{१}{\underset{५}{२०}} = \frac{१२८}{५}$ यह कलान्तर (व्याज) हुआ।

समय जानने के लिए यदि $\frac{१२८}{५}$ धन में १ महीना समय है तो फल वर्ग ($\sqrt{२५६}$ =१६) के मूल १६ धन में कितने महीने होंगे, = $\frac{५}{८}$ महीना यही समय ज्ञात हुआ।

तदनन्तर ५१२ धन का $\frac{५}{८}$ महीने में ५ प्रतिशत से लब्ध फल, $\frac{५१२ \times ५ \times ५}{१०० \times ८}$ =१६, यह प्रथम धन का फल हुआ। एवं फल के वर्ग २५६ को प्रथम मूलधन में कम करने से द्वितीय मूलधन २५६ का १० प्रति सैकड़े से $\frac{५}{८}$ महीने में $\frac{२५६ \times १० \times ५}{१०० \times ८}$ = १६ के तुल्य पूर्व धन के व्याज के तुल्य कलान्तर (व्याज) प्रत्यक्ष है।

आचार्य का अभिप्राय है कि जब ऐसे कुछ स्थलों पर अव्यक्त कल्पना से गणित गौरव होता है, तथा समय को मानने तथा अव्यक्त कल्पना से क्रिया निर्वाह नहीं होता तब अपनी बुद्धि से ही सभी समस्याएँ हल हो जाती हैं। बुद्धि की शरण में जाना चाहिये। अ, ब, क, ल इत्यादि अव्यक्त कल्पना मान मात्र बीजगणित नहीं है, बुद्धि ही बीजगणित है। उक्त स्थल में व्याज के वर्ग की कल्पना का भी चमत्कार बुद्धि से करना चाहिये इत्यादि। यथा—

नैव वर्गात्मकं बीजं न बीजानि पृथक् पृथक्।
एकमेव मतिर्बीजमनल्पा कल्पना यतः॥

अर्थात् गणित हल करने की महती कल्पना का ही नाम बीजगणित है, ऐसा भाव प्रदर्शित किया गया है।

वास्तव में ग्रहगणिताध्याय में उक्त बीजगणित और अंकगणित का यत्र तत्र सर्वत्र बाहुल्येन उपयोग हुआ है, जिसका ऊपर साधारणतया दिग्दर्शन किया गया है।

(३) सिद्धान्त शिरोमणि का ग्रहगणिताध्याय

यह ग्रहगणिताध्याय ग्रह खगोल का प्रधान विषय है। जिसमें—(१) मध्यमाधिकार (२) स्पष्टाधिकार (३) त्रिप्रश्नाधिकार (४) पर्वसम्भवाधिकार (५) चन्द्र ग्रहणाधिकार (६) सूर्यग्रहणाधिकार (७) ग्रहछायाधिकार (८) उदयास्ताधिकार (९) चन्द्रश्रृङ्गोन्नत्यधिकार (१०) ग्रहयुति अधिकार (११) भग्रहयुति अधिकार (१२) पाताधिकार ये १२ अधिकार या अध्याय हैं।

मध्यमाधिकार—ग्रहगोलीय ग्रह बिम्ब की एक रूपा स्थिर गति परम्परा के गणित से ज्ञात ग्रहों के वास्तविक दृश्य ग्रह नहीं होने से, जिस अधिकार में मध्यम मान से काल

मान, भगणमान, परिधिमान प्रभृति विषयों को जानने के लिए आकाशीय संस्थान के गणितों की प्रक्रियाएँ वर्णित की गई हैं, उसे सभी प्रागाचार्यों ने मध्यमाधिकार कहा है जिसका इसी प्रकाशन की भाँति प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से गत वर्ष हो चुका है।

स्पष्टाधिकार--ग्रह का वास्तविक स्थान, उसका प्रयोजन, उच्च के आकर्षण (खिचाव) से वृत्त चतुर्थांश के चापों की ज्या बनाने का तथा ज्याओं के चाप को जानने के प्रकारों का बहुमूल्य स्पष्ट भोग्य खण्डसाधन रूप सूक्ष्म गणित, सूर्य और पृथ्वी का परम अधिक और परम न्यून उत्तर दक्षिण का (दोनों ध्रुवों के मध्यगत वृत्तरूप मार्ग में) अन्तर ज्ञान, अपने विमण्डलीय मन्दप्रतिवृत्त, शीघ्रप्रतिवृत्त प्रभृति वृत्तों के सम्पात विन्दुस्थित ग्रह के तत्तद्वृत्तीय मन्दोच्चों और शीघ्रोच्चों के साथ का आकर्षण फल ज्ञापक चाप का (जिसे केन्द्र कहते हैं) ज्ञान, आकर्षण फल की अनुलोम विलोम स्थितियों से मध्यमग्रह से आगे या पीछे की स्पष्ट ग्रहस्थिति ज्ञान, दिनद्वय की गतियों के अन्तर क्रम की ह्रास वृद्धि, ग्रहों की स्पष्ट मन्दनीच्चोच्च, शीघ्रनीच्चोच्च परिधियों का स्पष्टीकरण, भूगर्भ से या भूपृष्ठ से ग्रहबिम्ब के गर्भ केन्द्र तक की दूरी (ग्रहकर्ण) ज्ञान, रवि, चन्द्रमा के स्पष्टीकरण की अपेक्षा मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र और शनि के स्पष्टीकरण के लिये अनेक विशेष परिष्कृत युक्तियों का ज्ञान, भौमादि पंचतारा ग्रहों की वक्रगति की संभव स्थिति का ज्ञान, उक्त पांचो ग्रहों के उदय एवं अस्त आदि का ज्ञान, सम्पातिक विंदु चलन और उसकी गति और पलभा अक्षांशादि का ज्ञान, द्युज्या, कुज्या, क्रान्तिज्या प्रभृति पंचज्या साधन ज्ञान, चर ज्ञान, दिन रात्रि का प्रमाण ज्ञान, विषुवद्वृत्त धरातल में राशिवृत्त के बारहों विभागों में से प्रत्येक के क्षितिज में उदय काल की इयत्ता का अनेक प्रकारों से ज्ञान, महाविषुवद्वृत्त और क्रान्तिवृत्त में प्रत्येक के द्वादश भागों में क्षेत्रात्मक और कलात्मक कोटि कर्णों का और उनके अन्तरों का उदयान्तरात्मक ज्ञान, औदयिक ग्रहज्ञान, तिथि नक्षत्र-योग करणात्मक पंचांग साधन, संक्रान्ति और नक्षत्रतिथियोगसन्धिज्ञान प्रभृति विषयों का इस स्पष्टाधिकार में विषद और सूक्ष्म विवेचन आचार्य ने किया है।

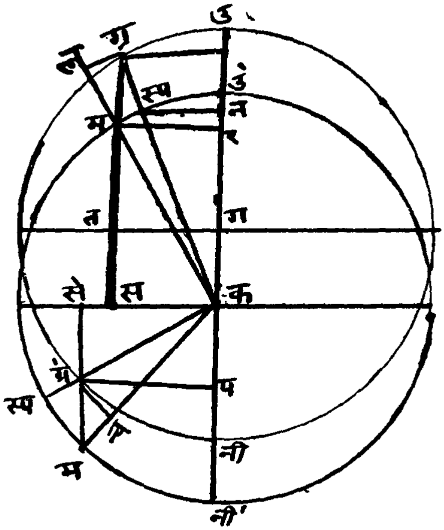

जिसे मैंने स्व विरचित शिखा भाष्य में निम्न भांति दिया है। जिसका एक अंश यहां पर उदाहरण स्वरूप में दिया जा रहा है।

ऊपर के क्षेत्रों को देखते हुये—

ग्र उ=शीघ्र प्रतिवृत्तीय शीघ्र केन्द्र भुजांश=भु।

म उं=कक्षावृत्तीय शीघ्र केन्द्र भुज भाग =भु।

स्प उं=कक्षावृत्त में स्पष्ट केन्द्रांश =चा ।

क ग्र=शीघ्र कर्ण =क ।

म स्प=कक्षावृत्त में शीघ्रफल =फ ।

म उं—स्प उं=भु—चा । पृष्ठस्थ क्षेत्र देखने से—त्रिकोणमिति गणित द्वारा—

$$\text{स्पष्ट केन्द्रज्या} = \frac{\text{ज्या भु} \times \text{त्रि}}{\text{क}} = \text{ज्या चा}$$ । इसके चाप नाम चा कहना चाहिए ।

अतः शीघ्र फल=भु—चा ।

यतः शीघ्र केन्द्र तो प्रतिवृत्त में होता है । प्रतिमण्डल का भुज भी प्रतिमण्डलीय भुज विधि से होगा । भुज की सत्ता पद के आधीन है । तीन-तीन राशियों का एक पद होता है, यह पद की परिभाषा से स्पष्ट है । इसलिये तीन राशि का १ पद प्रतिमण्डल में ग्रहण करने से, प्रतिवृत्त और कक्षावृत्त के योग में दोनों वृत्तों के भुज चापों की समता मानने से, इन दोनों का अन्तर भी शून्य के बराबर हो जाने से, शीघ्रफलाभाव स्थान भी इसी को कहना चाहिए, किन्तु खगोलीय युक्ति से ऐसा संभव नहीं होता । जैसे—

$$\text{शीघ्रफल ज्या} = \frac{\text{ज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{क}} = \frac{\text{२ ज्या के} \times \text{ज्या अ} \times \text{त्रि}}{\text{२ त्रि} \times \text{क}}$$

$$= \frac{\text{२ ज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{२ त्रि}}$$ (यहाँ पर त्रिज्या कर्ण के तुल्य होती है)

यदि अन्त्यफलज्या के आधे चाप का नाम=अ_1 मानें, तो

$$\frac{\text{ज्या अ}}{\text{२}} = \text{ज्या अ}_1$$ । $\text{ज्या के} = \text{को ज्या अ}_1$

$$\therefore \text{शीघ्रफल ज्या} = \frac{\text{२ को ज्या अ}_1 \times \text{ज्या अ}_1}{\text{त्रि}} = \text{ज्या}_2 \text{ अ}_1$$

इससे स्पष्ट है कि अन्त्यफल ज्या के आधे चाप को २ से गुणा करने पर जो आता है वही प्रतिवृत्त और कक्षावृत्त के योग विन्दु पर फल होता है । यहाँ पर शून्य के बराबर फल नहीं देखा जा रहा है, उक्त युक्ति से यह सुस्पष्ट है । इससे मालूम पड़ता है कि प्रतिवृत्तीय पद कल्पना का कोई विशेष आधार है, जो कक्षावृत्तीय पद की तुल्यता नहीं रखता ।

इसलिये प्रतिवृत्तीय पद विधान की क्या युक्ति कही जाय यही यहाँ पर विशेष विचारणीय विषय है । यह निम्न भांति समझना चाहिए ।

शीघ्रोच्च स्थान में शीघ्रकेन्द्र शून्य के तुल्य है । यहीं पर शीघ्रफल का भी अभाव है । इससे आगे शीघ्रकेन्द्र की बृद्धि होगी और शीघ्रफल भी वर्धमान होगा । या शीघ्रफल का जहाँ परमत्व होगा, वहीं तक फल वर्धमान होगा, वहीं तक प्रतिवृत्त के पद की भी सीमा कहनी चाहिए यही युक्ति समीचीन होगी । अब परम फल कहाँ और कितना होगा इस पर विचार करना चाहिए ।

क्षेत्र नं० १

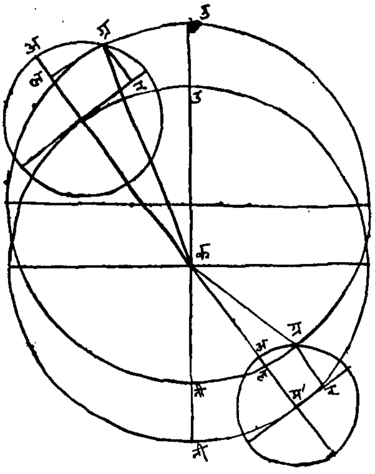

क्षेत्र नं० ९

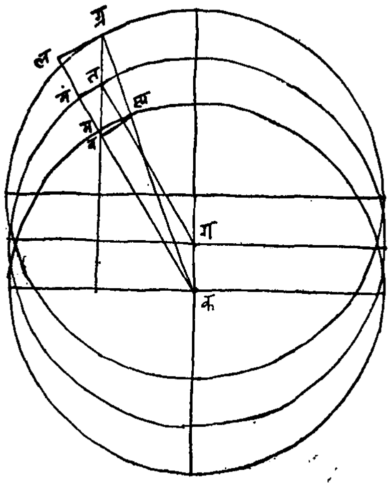

यतः $\text{ज्या फ} = \dfrac{\text{ज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{क}}$ । यहाँ पर फल की परमता मान कर उक्त समीकरणों के दोनों पक्षों की तात्कालिक गति ज्ञान से—

$$\circ = \frac{\text{कोज्या के} \times \text{ज्या अं,} \times \text{क}}{\text{त्रि} \times \text{क}^{२}} \pm \frac{\text{ज्या}^{२}\ \text{के} \times \text{ज्या}^{२}\ \text{अ}}{\text{त्रि. क}^{२}\text{. क}}$$

$$= \text{को फ} \times \text{क} \mp \text{भु फ} \times \text{ज्या फ}$$

$$= \text{त्रि} \times \text{को फ} \mp \frac{\text{भु फ} \times \text{ज्या फ} \times \text{त्रि}}{\text{क}}$$

$$= \text{त्रि} \times \text{को फ} \mp \text{ज्या}^{२}\ \text{फ}$$

$$= \text{त्रि (स्प को} \sim \text{त्रि)} \mp \text{ज्या}^{२}\ \text{फ}$$

$$= \text{त्रि स्प को} \sim \text{को ज्या}^{२}\ \text{फ}$$

$$= \text{को ज्या फ} \times \text{क} \sim \text{को ज्या}^{२}\ \text{फ}$$

$$= \text{को ज्या फ (क} \sim \text{को ज्या फ)}$$

यहाँ पर गुण्य और गुणक दोनों खण्डों में गुणन फल के शून्य के बराबर होने से दोनों खण्ड (गुण्य और गुणक) शून्य के तुल्य होंगे।

इसलिये

$\text{क} \sim \text{को ज्या फ} = 0.$

$\therefore \text{क} = \text{को ज्या फ}$

$\because \text{मू} = 0$ $\qquad\qquad \therefore \text{ज्या अ} = \text{ज्या फ}$

इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस स्थल में परम फल, अन्त्यफल ज्या चाप के तुल्य होगा उसी जगह पर फलकोटिज्या कर्ण के तुल्य होगी। यहाँ पर फलज्या और अन्त्यफलज्या की तुल्यता से केन्द्र ज्या और कर्ण, तथा केन्द्रकोटिज्या और अन्त्यफलज्या की तुल्यता होगी यह स्पष्ट है। कक्षामध्यग रेखा और प्रतिवृत्त के सम्पात में ही यह स्थिति होगी, अन्यत्र

कहीं भी कदापि नहीं होगी, गोल युक्ति से यह सुतरां सुस्पष्ट है। इसलिये इसी स्थान पर प्रतिमण्डल का विषम पदान्त होगा, यहीं तक फल वर्धमान रहेगा। इसके बाद क्रमशः फल का ह्रास होने लगेगा, क्योंकि नीच स्थान में फल का अभाव होता है। इस प्रकार पुनः वर्धमान फल कक्षामध्यग रेखा और प्रतिवृत्त सम्पात में अन्त्यफल ज्या तुल्य परम होकर, पुनः अपचीयमान होने से शीघ्रोच्च स्थान में शून्य होता रहेगा।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हुआ कि कक्षामध्यग तिर्यक्रेखा और प्रतिवृत्त के सम्पात से ही प्रतिवृत्त के पद का विचार करना चाहिए। क्योंकि कक्षावृत्त और प्रतिवृत्त के मध्य की दोनों रेखाओं का अन्तर सर्वत्र अन्त्यफलज्या के तुल्य होने से तीन राशि में अन्त्यफलज्या चाप को यथाक्रम जोड़ने और घटाने से प्रतिमण्डलीय पद सिद्ध होंगे। कक्षामध्यग तिर्यक् रेखा और उच्च रेखा से ही प्रतिमण्डलवृत्त का उक्त विभाग विभाजित होता है। इसीलिये "कर्णहृताभुजज्या" इस स्थल पर आचार्य ने यहाँ पर "प्रतिमण्डलीय उक्त क्रम का भुज ग्रहण करना चाहिए" ऐसा स्पष्ट किया है। इस प्रकार की पद कल्पना से वृत द्वय योग में फलाभावोत्पत्ति जन्य विरोध का भी सम्यक् परिहार हो जाता है, क्योंकि यहाँ पर भुज चापों की असमता, अन्त्यफलज्यार्ध चाप तुल्य अन्तर से ही होती है।

नवीनमत—नवीनों के मत से सभी ग्रह सूर्य केन्द्राभिप्रायिक-दीर्घवृत्त कक्षाओं में भ्रमण करते हैं। दीर्घवृत्तीय केन्द्राम्तरात्मक फल से संस्कृत मध्यम ग्रह मन्दस्पष्ट ग्रह होता है। यहाँ पर ग्रह स्फुटत्व का अभाव है।

दोनों ग्रहों के बिम्बों के अन्तर रूप बिम्बान्तर सूत्र का अपर नाम मन्द कर्ण है,। रवि-केन्द्रीय त्रिज्या गोल में मन्द कर्णाग्र संसक्त ग्रह की स्थिति जानी गई है। इस मन्दस्पष्ट ग्रह को भू-केन्द्रीय त्रिज्या गोल में स्पष्टता कही जावेगी। क्योंकि भू-केन्द्रिक त्रिज्यागोल में ही मानव की दृष्टि होती है, और दृग्गणितैक्यग्रह भी यही कहा जाता है। सूर्य केन्द्र से ग्रह तक बिम्बान्तर सूत्र (मन्दकर्ण), भूमध्य से ग्रह तक शीघ्र कर्ण, यह दूसरा अवयव है। भूमि और सूर्य के केन्द्रों का अन्तर यही रवि कर्ण है। इस प्रकार इस सरल त्रिभुज में त्रिकोणमिति गणित से—मन्दकर्ण संसक्त मन्दस्पष्ट ग्रह का ज्ञान होगा। रवि कर्णाग्र में स्पष्ट ग्रह है उसका भी ज्ञान है। इन दोनों के अन्तर ज्ञान से, रवि कर्ण और मन्दकर्ण से शीघ्र कर्ण का भी ज्ञान होगा। इस प्रकार सभी ग्रहों का शीघ्र कर्ण ज्ञान कर शीघ्र कर्णाग्र संसक्त स्फुटग्रह का ज्ञान करना चाहिए। शीघ्रफल लाने का विचार निम्न भाँति होगा।

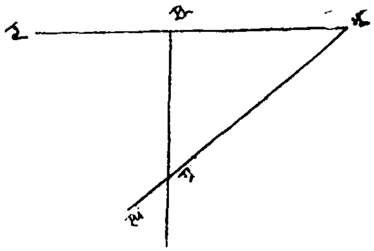

कल्पना कीजिये सू=केन्द्र है

ग्र=सूर्यकेन्द्राभिप्रायिक दीर्घवृत्तीय ग्रह

भू=अपने कक्ष में चलित पृथ्वी=भू।

सू ग्र=ग्रह मन्द कर्ण=म क।

भू सू=रवि कर्ण=र क।

भू ग्र=ग्रह शीघ्र कर्ण=शी क।

इस क्षेत्र के सू ग्र रेखा के अग्र में 'म' बिन्दु है।

यहाँ पर सू दृष्टि स्थान से ग ग्रह म स्थान में दिखाई देगा। दृष्टि स्थान से यही ग्रह स्प बिन्दु पर दिखाई देगा। र=स्पष्ट रवि। मन्द फल संस्कृत मध्यम ग्रह=म, ग्रह है।

∴ <र सू ग्र=र—म=अं। अब, भू सू ग्र सरल त्रिभुज में भू ग्र कर्ण मान त्रिकोण मिति से जानना चाहिए। इस प्रकार सभी ग्रहों के शीघ्र कर्ण लाकर त्रिभुज के भू ग्र संलग्न कोणों में जो न्यून कोण है, उसका ज्ञान करना चाहिए। यही ग्रहों का शीघ्र फल होगा। बुध शुक्र के स्फुटी करण के लिये स्पष्ट रवि में, तथा और वाह्य ग्रहों के लिये मन्द स्पष्ट ग्रह में ही संस्कार करना चाहिए।

बुध शुक्र सूर्य के अन्तर्ग्रह हैं।

र क>म क ∴<ग्र सू भू=शीघ्र फल।

$$\therefore \text{ज्या शी फ} = \frac{\text{ज्या अं} \times \text{म क}}{\text{शी क}}$$

इसका चाप=शी फ=र स्प।

∴ स्फुट शुक्र अथवा स्फुट बुध=र∓शी फ।

भौमादि ग्रहों के लिये तो

र क<म क ∴शीघ्र फल=<सू ग्र भू।

यहाँ भी

$$\text{शीघ्र फल ज्या} = \frac{\text{ज्या अं} \times \text{र क}}{\text{शी क}}$$ इसका चाप=शीघ्र फल।

∴अं=स्प र—म±शी फ

∴ स्पष्ट ग्रह=म∓शी फ

इससे यह सिद्ध हुआ कि बुध शुक्र सूर्य के अन्तर्ग्रह होने से शीघ्रफल स्फुट रवि में तथा भौमादि वाह्य ग्रह होने से शीघ्रफल संस्कार इन्हीं में किया जाना चाहिए।

दृग्ग्रह की आवश्यकता है। इसके साधन की अनेक युक्तियाँ अनेक समयों में गणित खगोल पण्डितों के मस्तिष्क में आई हैं और आती रहेंगी—जिसे प्राचीन नवीन और मत कहा जावेगा—

मेरा विश्वास है कि प्राचीनों ने इस साधन में जो गवेषणा की है उसकी अपेक्षा नवीन मत में कोई सूक्ष्मता मालूम नहीं पड़ती है, प्राचीन सिद्धान्त ही अत्यन्त सूक्ष्म विचार का है और सूक्ष्म है विद्वानों की यह नवीन गवेषणा जो प्राचीन सिद्धान्तों के ही आधार से अभी तक अनवरत चली आ रही है।

त्रिप्रश्नाधिकार

इस अधिकार में तीन प्रश्नों का विशद विचार किया गया है। वे (१) अमुकदेश से अमुक देश किस दिशा में है ? (यह भौगोलिक प्रश्न है।) (२) उस देश में कितने अक्षांश हैं ? अर्थात् विषुवद्वृत्त से उत्तर या दक्षिण म वह देश कितनी दूरी पर है। (३) इस समय-समय क्या हुआ है ? अर्थात् सूर्योदय से अब तक कितना समय बीत चुका अथवा सूर्यास्त होने में अब कितना शेष समय है। पृथ्वी के किस विन्दु पर इस समय अर्द्धरात्रि या प्रातः अथवा संगव या मध्याह्न या अपराह्न या सायंकाल हो रहा है, इत्यादि ऐसे तीनों प्रश्नों का स्पष्ट परिज्ञान के विभाग का नाम त्रिप्रश्नाधिकार है।

इसमें—फलित ज्योतिष का मूल आधार लग्न का साधन, द्वादश, पलभा, पलकर्ण रूप प्राकृतिक समकोण सरल त्रिभुज के सजातीय प्रसिद्ध ७ और अक्ष क्षेत्र, तथा इस सम्बन्ध से सहस्रों अक्ष क्षेत्रों का परस्पर का सम्बन्ध विचार, दिशा के नियम से छायाज्ञान प्रकार, काल नियम से छायाज्ञान आदि के प्रकार का ज्ञान कराया जाता है।

इष्ट समय और तात्कालिक रवि ज्ञान से ज्यौतिष के फलित स्कन्ध की मूल भित्ति लग्न का ज्ञान, लग्न और रवि के ज्ञान, से इष्ट समय का ज्ञान, स्वदेशीय दिशाओं और विदिशाओं (प्राक, पश्चिम, याम्य, उत्तर) का ज्ञान, उनके परिलेख, शंकु स्वरूप प्रतिपादन, इष्ट काल में शंकु से छाया और छायाकर्ण साधन, प्राकृतिक अक्षक्षेत्रीय मूल क्षेत्र के भुज कोटिकर्णों में १२ पलभा, पलकर्ण का ज्ञान, इस सरल समकोण त्रिभुज से सम्बन्धित प्रसिद्ध अन्य ७ सात अक्षक्षेत्र, तथा इन आठों अक्षक्षेत्रों के सम्बन्ध के सहस्रों खगोलीय सरल समकोण त्रिभुजों का गणित, अहोरात्रवृत्तस्थ रवि के ईशान अग्नि नैऋत्य वायु दिशाओं के कोण शंकुओं और कोण छाया का ज्ञान, इष्टस्थानीय रवि के शंकु और दृग्ज्या से छाया ज्ञान, किसी इच्छादिक् छाया ज्ञान के उपाय और उनपर अनेक विशेषोक्तियाँ, काल नियम से छाया ज्ञान, नतोन्नतकाल ज्ञान, इष्ट शंकुज्ञान, तथा विशेषोक्तियाँ, छाया से रवि का भुज ज्ञान श्लोक १···७३ तक त्रिप्रश्नाधिकारान्तर्गत महाप्रश्नाध्याय में प्रश्न और उनके समाधान श्लोक ७३···१०४ तक, नलक यन्त्र और नलक यन्त्र से स्पष्टाधिकार और त्रिप्रश्नोक्तगणित से साधित ग्रह को नलिकावेध से आकाश में देखने का प्रकार ज्ञान, ग्रह बिम्ब के प्रतिबिम्ब को जल में देखने के प्रकार का ज्ञान (श्लोक १०५···१०८ तक) इस प्रकार से आकाशीय ग्रह को देख कर नृपति की ज्योतिश्शास्त्र के ग्रहगणित में पूर्ण विश्वास प्राप्त तथा आकाशीय चमत्कार के प्रत्यक्ष से नृपति प्रसन्नता के (वर्णन) साथ त्रिप्रश्नाधिकार की समाप्ति आचार्य ने की है।

त्रिप्रश्नाधिकार का ७१ वां श्लोक—मध्याह्न काल में शंकु की छाया जान कर ही अपने मार्ग में जहाँ पर रवि है, उस स्थान को जाना गया है। जिसे मैंने स्वरचित शिखा भाष्य में निम्न भांति दिया है। जैसे :—

दीपिका—दिनार्द्धे रविः याम्योत्तरवृत्ताहोरात्रवृत्तसम्पातेऽतस्तत्र छायया नतांशानयनं समुचितमेव। तदानयनमाचार्योक्तं स्पष्टमेवेति।

शिखा—त्रिज्या गुणित मध्याह्न छाया में मध्याह्न छाया कर्ण का भाग देने से लब्ध फल का चाप मध्याह्नकालीन नतांश होता है। यदि छायाग्र उत्तर है तो नतांश दक्षिण के एवं दक्षिण छायाग्र में नतांश उत्तर के समझने चाहिए। नतांश अक्षांश का दिगैक्य में अन्तर दिग्भेद में योग करने से क्रान्त्यंश होते हैं। क्रान्त्यंश ज्ञान से विपरीत क्रियया-रवि ज्ञान हो जाता है। इसी विषय को आचार्य ने गोलाध्याय में विशेष रूप से कहा है। इसी प्रकार क्रान्ति और नतांश के ज्ञान से अक्षांश का ज्ञान भी सुगम है।

युक्ति—दिनार्धकाल में रवि, याम्योत्तरवृत्तस्थ होने से मध्याह्नकालीन छाया से नतांश ज्ञान करना उचित है।

जैसे—$\text{नतज्या} = \frac{\text{छा} \times \text{त्रि}}{\text{छा. क}}$। इसका चाप नतांश।

तथा, इष्टस्थानीय अक्षांश के ज्ञान से छायाग्र यदि दक्षिण हो तो अक्षांश $\sim$ नतांश $=$ क्रान्त्यंश होते हैं। छायाग्र यदि उत्तर की तरफ हो तो नतांश $\sim$ अक्षांश $=$ क्रान्त्यंश होते हैं। क्रान्ति ज्ञान के अनन्तर विपरीत क्रम से $\frac{\text{त्रि} \times \text{इष्टक्रान्तिज्या}}{\text{जिनज्या}} = \text{इष्टकालीन रवि}$ की भुज ज्या। इसका चाप प्रथम पदीय रवि होगा। एवं द्वितीयतृतीयादि पद ज्ञान का प्रकार गोलाध्याय में विशद रूपेण मिलेगा।

विशेष वक्तव्य—आचार्य ने दृश्य छाया से गर्भीय नतांश का ज्ञान किया है। इसलिये आचार्य के उक्त प्रकार, में स्थूलता कहनी चाहिए। यह स्थूलता ऐसे स्थल में स्वीकृत नहीं होती।

यहाँ क्या स्थूलता है? वह निम्न भांति है। इसकी सूक्ष्मता के लिये—क्षेत्र देखिये—

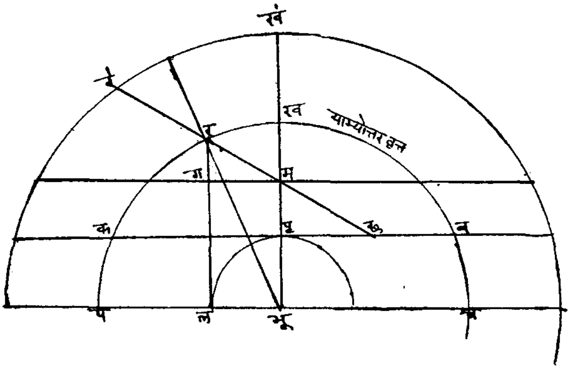

पं च=गर्भीय क्षितिज।
क व=पृष्ठीय क्षितिज।
प ख च=याम्योत्तर वृत्त।
र=रविः।

र ल=मध्याह्न शंकु ।

पृ=पृष्ठ स्थान ।

पृ म=१२ अंगुल शंकु ।

पृ छ=दृश्य चाप ।

छ म=छाया कर्ण ।

पृ छ म त्रिभुज में कोणानुपात से ज्या∠पृ म छ= $\frac{\text{त्रि}\times\text{छा}}{\text{छा क}}$

किन्तु ∠पृ म छ= ∠ ख म र

अतः ज्या∠ख म र = $\frac{\text{त्रि}\times\text{छा}}{\text{छा. क}}$

अतः म केन्द्र से जो त्रिज्या गोल में, म ख ऊर्ध्वाधर सूत्र तथा म र सूत्र को बढ़ाने से कल्पित खं रं चिह्नों के अन्तरांशज्या पूर्व साधित कोण पृ म छ की ज्या होगी जिसका चाप=खं रं=साधित नतांश। ख र=गर्भीय नतांश के तुल्य खं रं पृष्ठीय नतांश को मानना भयंकर भूल है, जो आचार्य ने यहाँ पर की है।

सूक्ष्मता कैसे हो ?—इसके लिये—

ज्या∠ख म र=ज्या∠भू म र=कोण की ज्या=१८०-कोणऽज्या से=साधित नत ज्या।

ज्या∠भू र म = $\frac{\text{ज्या}\angle\text{भू म र (भू पृ}+\text{१२)}}{\text{त्रि}}$ = इष्ट लम्बन ज्या।

यतः भू र=त्रि। भू पृ=भू व्यासार्ध। पृ म=१२ अंगुल शंकु।

∴ इ लम्बन ज्या= ∠भू र म= $\frac{\text{साधितनतज्या}\times\text{योग}}{\text{त्रि}}$ ∵ यो=भूव्याद+१२

इसका चाप=इष्ट लम्बन।

आचार्य साधित नतांश—इष्ट लम्बन=गर्भीय नतांश।

इस प्रकार अव्यक्त कल्पना से उक्त विषय पर और भी प्रकार हो सकते हैं जिनको ग्रन्थ गौरव भय से यहाँ पर नहीं दिया जा सका है।

सिद्धान्त शिरोमणि में—'आर्यभट्ट'-'लल्ल'-'ब्रह्मगुप्त', वराहमिहिर, मुञ्जाल, श्रीपति, सूर्यसिद्धान्त, विष्णुधर्मोत्तर पुराण इत्यादि अनेक ग्रहगणित के आचार्यों एवं ग्रन्थों का स्वयं भास्कराचार्य ने अपने इस ग्रन्थ में उल्लेख किया है।

सिद्धान्त शिरोमणि की टीकाएँ (ग्रहगणित का क्रमिक विकास)—मुनीश्वर की "मरीचि" टीका, नृसिंह दैवज्ञ की वासनावार्त्तिक, लक्ष्मीदासकृत गणिततत्व चिन्तामणि, गणेशदैवज्ञकृत, शिरोमणि शिखा तथा सूर्यदास आदि की भी टीकाएँ हैं। कुछ पूर्ण रूप से और कुछ खण्डित प्रकरणों की खण्डित टीकाएँ सरस्वती भवन पुस्तकालय में उपलब्ध हैं।

मरीचि भाष्य जो अभी तक प्रकाशित नहीं था—इन सब टीकाओं में "मरीचि" टीका अभी तक ज्योतिर्विदों में विशेष मान्य टीका कही गई है। यह मरीचि समग्र रूप में उपलब्ध है। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के (प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के विशाल

संग्रह) सरस्वती-भवन पुस्तकालय में प्रायः इस मरीचि की पाण्डुलिपियों की ११ से अधिक प्रतियाँ हैं। प्रायः अधिकतर अपूर्ण हैं। कुछ संख्या की पाण्डुलिपि प्रायः पूर्ण है। जिनमें से अभी तक एक भी मुद्रित नहीं थी।

ईसबी १६०३ में सूर्य सिद्धान्त के गूढ़ार्थ प्रकाशक सौरभाष्य के रचयिता श्रीरंगनाथ के सुयोग्य पुत्र (शिष्य) जिसका अपर नाम विश्वरूप मुनीश्वर है, —ने ज्योतिष ग्रह गणित के "सिद्धान्त सार्वभौम" ग्रन्थ की, शक १५६८ भाद्र शुक्ल पञ्चमी सोमवार पुष्य नक्षत्र में रचना की है—स्व रचित ग्रन्थ की स्वाशय प्रकाशिनी नाम की टीका भी स्वयं मुनीश्वर ने लिखी है।

मुनीश्वर ने निसृष्टार्थदूती नाम की लीलावती की टीका, पाटीसार नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ एवं सिद्धान्त शिरोमणि की 'मरीचि' नाम की टीका लिखी हैं। 'मरीचि'—नाम की तो टीका है, किन्तु प्राचीनों के बहुत मतों के साथ साथ ग्रहगोल का नि:शेष पाण्डित्य और अनेक सूक्ष्म कथनों के साथ अत्यन्त सुन्दर न्याय (तर्क) शास्त्र की सरणि से सिद्धान्त शिरोमणि का एक ऐसा सुन्दर उत्तम भाष्य अभी तक यही मरीचि सिद्ध हुई है। पण्डित परम्परा में "मरीचि" ने टीका नाम से प्रसिद्धि नहीं पाई है अपि च इस मरीचि टीका ने भी ग्रहगणित गोल का एक ग्रन्थ रूप से अपना नाम सार्थक किया है। वस्तुतः मेरी बुद्धि से इसे ग्रहगणित गोल का "मरीचि भाष्य" कहना चाहिये।

मरीचि भाष्यकार, आचार्य मुनीश्वर भास्कर के परम भक्त थे, जैसे उन्होंने सिद्धान्त सार्वभौम में स्वयं कहा है :—

"गूढं स्थूलं स्व सिद्धान्तं मत्वा यस्तच्छिरोमणिम्।
कृतवान्मनुजव्याजादसौ जयति भास्करः"॥

'भास्कराचार्य मनुष्य रूप से अवतरित हैं' ऐसा उक्त कथन से स्पष्ट है। भास्कराचार्य के प्रति मुनीश्वर की यह अनुपम भक्ति, ग्रहगोल मर्मज्ञ सिद्धान्त तत्त्व विवेककार "कमलाकर" भट्ट को, रुचिकर नहीं हुई। जिसका परिणाम यह भी हुआ कि कमलाकर भट्ट के छोटे भाई श्रीरंगनाथ ने मुनीश्वर कृत क्षेत्र भङ्गी का कमल[illegible]ाज्ञा से खण्डन कर दिया। इस खण्डन का भी खण्डन प्रकार मुनीश्वर का उप[illegible]।

अपने समय में मुनीश्वर प्रख्यात काव्य कोष व्याकरणाभिज्ञ तथा ज्योतिष शास्त्र के गोल क्षेत्र विचारों में अत्यन्त प्रौढ थे। इसमें इनकी कृतियाँ ही प्रमाण हैं।

मरीचि के आदि में—

श्री रङ्गनाथाभिध तात पादाः कृष्णानुजाः श्रीकमलाधिपास्ते।
त्रिस्कन्ध पारङ्गमरङ्गमल्ला बल्लालजा भूमितले जयन्ति॥
नारायणो गणितशास्त्रकलाकलापः।
श्री सेवितः सकलशास्त्रसरोजभृङ्गः॥
दैवज्ञकृष्णगुरुपादरतो गुरुर्मे
क्ष्मायां जयत्यखिल पण्डितवन्द्यपादः
मुनीश्वरापराख्येन विश्वरूपेण धृष्यते
बुद्धिशाणे मरीच्यर्थं तत्सिद्धान्त शिरोमणिः॥

तात्पर्य है कि मुनीश्वर ने बुद्धिशाण में शिरोमणि को घर्षण करके उससे किरणें उत्पादित की हैं। ततः प्रभृति इस सिद्धान्त शिरोमणि की यह मरीचि टीका वस्तुतः 'मरीचि' (किरण) का कार्य अनवरत कर रही है।

मरीचिकार मुनीश्वर की उत्पत्ति क्षण के पूर्वक्षण में पिता रंगनाथ की प्रतिज्ञा—

शक १५२५ चैत्र शुक्ल चतुर्दशी बुधवार के सूर्योदय से ५२।३० घटिका रात्रि के इष्ट समय में, रंगनाथ गणक की धर्मपत्नी प्रसव वेदना से अधिक पीड़ित हो गई थी। धर्मपत्नी की इस वेदना से पतिदेव रंगनाथ भी आधीर हो गये थे। इस आपत्ति के समय दुःख के उपशमन के लिए भगवान ग्रहमण्डल का ध्यान करते हुए रंगनाथ ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ की टिप्पणी करूँगा, ऐसे संकल्प के प्रवृत्ति क्षण में रंगनाथ के आनन्दवर्द्धन मुनीश्वर का प्रादुर्भाव हो गया। इसलिये अपने वंशवर्णन पूर्वक ग्रन्थ समाप्ति में रंगनाथ ने स्वयं लिखा है। मेरे लिखे सूर्यसिद्धान्त का "सौर भाष्य" भाई मुनीश्वर का लिखा है—इत्यादि।

रंगनाथ ने सूर्यसिद्धान्त की टिप्पणियाँ भी प्रायः भास्कराचार्य की सिद्धान्त शिरोमणि के अनुसार ही लिखी हैं। इन टिप्पणियों सहित सूर्यसिद्धान्त की पुस्तक एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित हुई है।

मरीचि समाप्ति (गोलाध्याय) में मुनीश्वर ने स्व रचित इस मरीचि भाष्य का रचना काल बताया है—

"शाको भू युतो नन्दभूहृत् फलस्य निरेकस्य मूलं निरेकं भवेद्भम्
तदर्द्धं भवेन्मास इन्दूनितोऽयं तिथिर्द्व्यूनिता पक्षवारौ भवेताम्"।

अभीष्ट शक में १ जोड़कर उन्नीस का भाग देकर लब्धि में एक कम कर मूल लेने से, मूल में १ कम करने से नक्षत्र ज्ञान होता है। नक्षत्र का आधा मास, मास में १ कम करने से तिथि एवं तिथि में दो कम करने से पक्ष और वार होते हैं।

तथा उपान्तिम श्लोक—

नक्षत्रवारतिथिपक्ष , श्च योगो।
विश्वैर्युताऽखिलयुतैः पदमभ्रवेदाः॥
अस्यादिमोऽत्र परिपूर्त्ति मितो मरीचिः।
श्री वासुदेव गणकात्मज निर्मितोऽयम्॥
खाङ्गबाण धरणीमित शाके चन्द्रवार सितपक्ष शुचौ हि।
लेखितं गणकदर्शनहेतो रुत्तरार्द्धमिदमात्ममरीचेः॥

अन्तिम श्लोक के पूर्वार्द्ध से विपरीत क्रिया से शक १५५७ में मरीचि का पूर्वार्द्ध समाप्ति समय, उत्तरार्द्ध श्लोक से 'मरीचि का उत्तरार्द्ध समाप्ति समय शक १५६० सिद्ध होता है।

म. म. प. सुधाकर द्विवेदी ने—"सिद्धान्त शिरोमणि की पदार्थ प्रकाशिका 'मरीचि' टीका के सदृश और टीकाएँ नहीं देखी गई हैं। मरीचि में बहुत से प्राचीनों की उक्तियाँ देखने योग्य हैं। इसीलिये सभी ज्योतिर्वेत्ताओं ने इसका आदर किया है"

मरीचि के सम्बन्ध में अपना उक्त मत व्यक्त किया है।

मरीचि की श्लोक संख्या ५ सहस्त्र के तुल्य है। सिद्धान्त शिरोमणि की लीलावती (अंकगणित) विभाग पर, गङ्गाधर, गणेश दैवज्ञ, सूर्यदास, लक्ष्मीदास, मुनीश्वर, रामकृष्ण तथा कृपानाथ प्रभृति गणितज्ञों की टीकाओं के साथ साथ आजतक अनेक टीकाएँ होती जा रही हैं। आधुनिक में पं० मुरलीधर ठक्कर की की हुई उपपत्ति विशेष आदर की है।

मुगल सम्राट् "अकबर" का गणित शास्त्र का अनुराग—नृपति अकबर शाह की आज्ञा से फैजी नामक विद्वान् ने पारसी भाषा में १५८७ सन में उक्त लीलावती ग्रन्थ का अनुवाद किया था। सन १६३४ में शाहजहाँ राज्य समय में आत "उल्लाह-रसीदी" ने भास्करीय बीजगणित का अनुवाद भी अरबी भाषा में किया था।

पाश्चात्य देश के विद्वानों ने भास्कराचार्य के अंकगणित और बीजगणित का अंग्रेजी अनुवाद कराया है--सन् १८१७ ईसवी सन् में "हेनरी ठामस कोलब्रूक" (Henry Thomas Colebrooke). महाशय ने लीलावती और बीजगणित दोनों ग्रन्थों का आङ्ग्ल भाषा में अनुवाद किया था। जे. टेलर. (J. Tayler) साहिब ने सन १८१६ में लीलावती का अनुवाद किया था, तथा १८१३ ई० में स्ट्रेची (E. Strachy) ने बीजगणित का अनुवाद किया था।

उक्त अनुवाद परम्पराओं से, पश्चिम में भारत के भास्करीय गणितों ने स्थान पा लिया है रूपान्तर से पश्चिम का बहु विकसित स्तुत्यर्ह गणित लौटकर आज हमारे पास आ रहा है—जिसका हृदय से हम स्वागत कर रहे हैं।

किन्तु भास्कराचार्य के ग्रह गणिताध्याय और ग्रह गोलाध्याय इन दोनों खगोलीय ग्रह गणितों के विशाल अध्यायों के पारसी, अरबी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद यदि हुये होंगे तो उनकी जानकारी मुझे नहीं है।

मूल ग्रन्थ का यदि भाषान्तर में अनुवाद नहीं हुआ तो टीकाओं का अनुवाद तो नहीं ही हुआ होगा।

मुद्रणकाल के इस युग में, अभी तक "मुनीश्वर" कृत उक्त मरीचि भाष्य भी प्रकाशित क्यों नहीं हो पाया ? यह आश्चर्य की बात है।

मरीचि भाष्य के पश्चात् के कुछ ही आचार्य, मरीचि भाष्य की स्मृति दिलाते हैं। इस टीका से सर्व साधारण परिचित भी नहीं हैं।

लगभग १५८७ ई० में अकबर राजा के सभा के प्रधान पण्डित श्री "नीलकण्ठ दैवज्ञ" ने नीलकण्ठी (फलित ज्यौतिष) ग्रन्थ की रचना की। इसका नाम ताजिक शास्त्र भी है। संभवतः अरबी भाषा का यह अनुवाद ग्रन्थ हो सकता है। इस ग्रन्थ से वर्ष-कुण्डली निर्माण के पुरःसर मनुष्य का वर्ष भर का शुभ और अशुभ फल विचारा जाता है। अरबी भाषा की उक्त पद्धति का संस्कृत में अनुवाद करते हुए भी इकबाल, इन्दुवार, इत्थशाल इशराफ-नक्त यमया-मणऊ-कबूल-गैर कबूल-खल्लाशर-रद्द-दुफाली कुत्थ-दुत्थोत्थबीर-तुम्बीरकुत्थ-दुरुफेति उक्त योगों को अरबी पारसी भाषागत नामों के अनुसार ही नीलकण्ठ ने रख दिया है। जैसे प्रागिक्कवालो पर इन्दुवारस्तथेत्थशाल इत्यादि (नीलकण्ठी का योगाध्याय देखिये)

इस ग्रन्थ का सर्वत्र प्रभाव पड़ा, फलित ज्यौतिष का ही स्कन्ध वर्धमान होने लगा। गणितस्कन्ध के ग्रहगणित सिद्धान्तों से जन समाज के अतिरिक्त पढ़ने पढ़ाने वालों को भी प्रायः अरुचि सी हो गई थी या क्या हुआ था, निश्चत रूप से कहा नहीं जा सकता।

जो भी हो फलमात्र से उपजीवकों के लिये उक्त ग्रन्थ से लोक प्रसिद्धि प्राप्त करने में बड़ा बल मिला।

इसी वेग से फलित ज्योतिष के ग्रन्थों का अधिक प्रकाशन हुआ। उक्त नीलकण्ठी ग्रन्थ घर घर में उपलब्ध है, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि ग्रहगणित का उक्त "मरीचि" भाष्य सर्वत्र लुप्त प्राय ही रहा इसका प्रकाशन तो दूर रहा।

गत वर्ष काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से इस सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ का मध्यमाधिकार भाग प्रकाशित हुआ। संयोग की बात है कि वर्त्तमान शक १८८५ में क्षयमास का उल्लेख, भारत सरकार से प्रकाशित हो रहे राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग ने एवं अन्य देशी पञ्चाङ्गों ने अपने पञ्चाङ्गों में किया। विवाद था ही, किन्तु भास्कराचार्य के क्षयमास गणित के ही प्रमाणीभूत वाक्यों को भारत के सभी पञ्चाङ्गकारों ने अपने-अपने पञ्चाङ्गों में उद्धृत किया। क्योंकि क्षयमास के गणित की संभवासम्भव स्थिति सर्व प्रथम इसी ग्रन्थ में मिलती है। (सन १९०९-२० के बीच मध्यमाधिकारान्त भाग तक का मरीचि भाष्य और वासनावार्त्तिक को महामहोपाध्याय पं० मुरलीधर झा भूतपूर्व प्रधान अध्यापक ज्यौ० गवर्नमेंन्ट संस्कृत कालेज बनारस ने प्रकाशित किया था)। मरीच भाष्य ने क्षयमास गणित पर भी, बहुत ही उत्तम गवेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है, जिसका समग्र अंश मैंने भी उक्त मध्यमाधिकार में दिया है। इस विवेचन से देश के धर्मशास्त्र के उच्चस्तर के विद्वानों को बड़ी सहायता मिली। मुक्त कण्ठ से समग्र सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ को, मरीचि भाष्य के प्रकाशन के साथ, साथ मेरे दोनों बड़े परिष्कारों की विचार शैलियों (संस्कृत में पण्डितोपयोगी 'दीपिका' तथा हिन्दी में सुपरिष्कृत "शिखा") के प्रकाशन के लिये विद्वानों ने सम्मत्ति देकर, विश्वविद्यालय से इस क्रम के अनुसार समग्र अधिकारों (अध्यायों) के प्रकाशन की संस्तुति की।

विश्वविद्यालय के पूर्ण सहयोग के साथ इसके प्रकाशन की अर्थ राशि के लिये भारत सरकार के विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से प्रार्थना की गई जो स्वीकृत हुई। तदनुसार इस ग्रन्थ के ये दो भागों की एक प्रति (स्पष्टाधिकार और त्रिप्रश्नाधिकार) पाठकों की सेवा में विनीत भाव से प्रस्तुत की जा रही है।

"मरीचि" प्रकाशन की महान् कठिनाइयाँ

मेरे लिए यह बहुत ही कठिन नहीं कठिनतम कार्य हो गया।

मरीचि की पाण्डुलिपि (मैनस्क्रिप्ट) की उपलब्धि में भी बाधाएँ अधिक आईं—अस्तु सौभाग्य की बात है कि सरस्वती भवन में वहीं पर उसे देखने की सुविधाओं की आज्ञा तत्रत्य पुस्तकालयाध्यक्ष (लाइब्रेरियन) महोदय से मिल गई।

"मरीचि" भाष्य की प्रतिलिपि की कठिनाइयाँ

१—प्राचीन लिपियों और आधुनिक लिपियों में कहीं-कहीं महान् अन्तर है।

२—मरीचि के प्रतिलिपिकार जो उपलब्ध हुए हैं उनके देखने से मालूम पड़ता है कि वे ग्रह गणितज्ञ नहीं थे—अतः प्रतिलिपियों की ठीक प्रतिलिपियाँ नहीं हो पाईं।

३—जो मूल प्रति जहाँ जिन्हें उपलब्ध हुई होंगी उनकी ये उपलब्ध प्रतिलिपियो की शैली क्लिष्ट है।

४—अक्षर घने हैं। प्रत्येक पृष्ठ का आदि अन्त सब भरा हुआ है, अनुच्छेदों की पृथक योजना नहीं की गई।

५—श्लोक संख्या सर्वत्र नहीं है।

६—पृष्ठ संख्याएँ भी कठिनता से प्राप्त होती हैं।

७—किसी वाक्य के आदि और अन्त का कोई संकेत नहीं है। इत्यादि अनेक त्रुटियाँ प्रतिलिपि करने वालों से हुई हैं।

८—विराम चिह्नों का तो सर्वथा अभाव ही है।

९—कहीं-कहीं तो बड़े ही कष्ट से वर्ण पढ़े जा सके। कहीं तो गति नहीं ही हुई अतः उस जगह छोड़कर···संकेत से आगे चलना पड़ा।

१०—पाण्डुलिपियों में प्रायः कहीं कहीं पाठ भेद भी है। फिर भी "मरीचि" की पाण्डुलिपियों में, ६२०८, ६२१०, ३७२५७, ३५५७८, ३७२६०, ३४९७९, ३४५४९, ३४९७१ और ३५२४१ में प्रायः सर्वत्र साम्य है।

प्रायः सर्वत्र प्रतिलिपि लेखक की जो भयंकर उल्लेखनीय बहुत सी अशुद्धियां हैं, उनमें कुछों की सूची नीचे दी जा रही है, जिनका मैंने ग्रन्थ की पूर्वापर संगति से जो शुद्ध पाठ समझा, वह भी उनके आगे दिया जा रहा है। इस प्रकार की अनेक त्रुटियों की शुद्धि यथा संभव सर्वत्र ग्रन्थ में की जाते हुए भी बाहुल्येन अवश्य अशुद्धियाँ रह गई होंगी। तथा गणित में भी पर्याप्त श्रम कर गणित के शुद्ध अङ्कों को भी यथास्थान बदल दिया गया है तिस पर भी कुछ स्थलों पर गणित में भी अशुद्धियाँ रह सकती हैं, जो द्वितीयादि संस्करणों में सुविधा से ठीक हो जावेंगी। अशुद्ध पाठ और ग्रन्थ की संगति से तारतम्य समझ कर शुद्ध पाठ—

उत्क्रमज्योत्पत्तिस्क्तः—उत्क्रमज्योत्पत्तिस्तु	शयतिःव्याह—ख्यातिमाह
प्रोद्यो—प्रोक्त	रव्यादभोग्य—स्याद्भोग्य
छुद्धयो—शुद्धयो	मिताक—मितांक
ज्योक्रभा—ज्याक्रमः	खण्डैक्यः—खण्डैक्यम्
धनु:ष—धनुषः	ज्येत्यनि—ज्येत्यति
स्वाभिमत—स्वाभिमत	साधिन—साधिता
चाषत्वात्—चापत्वात्	वापयोः—चापयोः
उक्रम—उत्क्रम-अनेक (स्थलों पर)	साहचर्य्या—साहचर्यान्निरोधेन
असात्येन—असाध्यत्वेन	द्वनुरथि—द्वनुरपि
सीचनं—साधनम्	सूक्ष्यं—सूक्ष्मम्।

वाप— चाप
ध्येन—ध्येयम्
ज्यान्तरात्प्रक—ज्यान्तरात्मक
ज्याक्ययवेन—ज्यावयवेन
युद्ध—शुद्ध
वा शब्दो व्यवस्थार्थः—वा शब्दो विकल्पार्थः।
ज्या चापः यो साहचर्यात्—ज्या चापयोस्साहचर्यात्
सत्य—सप्त
धन्रूपेषु—धनरूपेषु
परिधिस्त—परिधिस्स
परिधिस्क्त—परिधिः, सः
भव्योत्रं—लब्धोनं
तदित्यस्याच्चयात्—तदितरस्यापचयात्
भविष्यात्पिण्डात—भविष्यपिण्डात्
व्रातम्—जातम्
वनाङ्क—वर्गाङ्कः
क्वत्ते—वत्ते
तेनानीताभिर्युता—तेनानीताभिर्युताः—
दशात्पम्—वशाप्तम्।
खेन्द्रं—खेन्दु
यदाभं—यदाप्तम्।
इत्याफक्लानि—इत्याद्युक्तानि।
शुत्मस—शुक्ल
गुपा—गुण
कृन्वा—कृत्वा
अस्त्र—अत्र
दशात्य—दशाप्त
अत्रोन्त्रामज्येप्क्तलक्षण—अत्रोत्क्रमज्येत्युपलक्षणम्
कुतूहलेनेनैव—कुतूहलेनैव
धनुषोनुक्तत्वात्—धनुषरुक्तत्वात्
स्वार्थ १२०—खार्क १२०
त्वयुक्र—त्वयुक्ता।
ग्रहमध्यमश्वमुक्तमुखावहम्—ग्रहमध्यमश्च भुक्तसुखावहम्
सिञ्जिनीभिः—शिञ्जिनीभिः

वश्मि—वच्मि।
वापानां—चापानाम्
अत्रोधो—अत्राधो
परभावयौः—परमावयवैः
अक्षाणिभावः—अक्षाभावः
अधस्छत्वम्—अधःस्थत्वम्।
सूर्यस्यतत्स्छत्त्व—सूर्यस्य तत्स्थत्वम्।
केवलं ज्ञानाभावात्—केवलं तद्ज्ञानाभावात्।
अक्षारी भेदापत्तेः—अक्षांश भेदापत्तेः
सलंव क्षेत्र—समलम्ब क्षेत्रे
वाडकोटि कर्णैः—बाहुकोटिकर्णैः
कुज्योन तविति—कुज्योनतद्धृतिः
(यह अशुद्ध प्रयोग सैकड़ों जगह है)
कुज्योनः तछृत्ति—कुज्योन तद्धृतिः
इत प्रकारानीत—एतत्प्रकारानीत
सकर्णक्षेत्र—समकर्णक्षेत्र
तदुत्तर्णगोले—तदुत्तरगोले
यशान्यां—ऐशान्याम्
अव्यक्त वर्गोनापवर्गोनापवत्तं किः कार्यः—अव्यक्तवर्गोणापवर्त्तङ्कः कार्यः।
अथ तदांका कृतां—अथ तट्टीका कृता
वुष्टतापेत्र—दुष्टतापन्ने
स्यादिति न क्षेति—स्यादिति न क्षतिः
इत्फपपन्नम्—इत्युपपन्नम्
वस्क्ततस्तु—वस्तुतस्तु
तदातक्त—तदातत्तु
नवज्या—नतज्या
परम क्रान्तिज्या १३२७—परम क्रान्तिज्या १३९७
सायोपजीव्य—छायोपजीव्य
णष्टौदिकोंशोका—प्रकारेणाष्टौदिशोऽङ्काः।
दिज्यास्त्वर्यः—दिग्ज्या स्यादित्यर्थः
अधोग्यवादि धत्यल्यान्तरेण—अधोवयवादि स्वल्पान्तरेण
छायाकां—छायैक्यम्
२२ ५२
प्रकाराम्याः—प्रकाराम्याम् स्पष्टः

छेद इष्ट आविष्ट इति—छेद इष्ट प्रविष्ट इति
दमं फल—मन्दफलम्
सूर्यस्यांशत्प्र—सूर्यस्याप्तफलम्
लाधंवने—लाघवेन
लधुं—लब्धम्
तहिति—तदिति
फलघ्री—फलघ्नी
मूल—पद
स्च्छायानात्—स्थापनात्
कोडी करणम्—कोटी करणम्
बुद्धयति—शुद्धयति
तावछार्दूल—तावच्छार्दूल
वृत्तवाद्यस्य—वृत्तवाह्यस्य
स्वः समुच्चये—च्वः समुच्चये
संयात—सम्पात
बुद्धयतीति सिद्धम्—शुद्धयतीति सिद्धम्
तदयांम्—तदुदयान्तरम्
घुरान्तम्रे—घुरात्रवृत्ते
सूत्रएछान—सूत्रस्थान
कस्यविदवधि—कस्यचिदवधि
सूर्यस्योत्रत्वम्—सूर्यस्योन्नतत्वम्
रुजं रिजुं—ऋजुम्
वक्तु—वक्र
युक्तमतैव—युक्तमत एव
नययोगव्यवछेदार्थः—अन्य योगः
तज्या लम्बज्येति—तज्ज्या लम्बज्येति
कोडी करणम्—कोटि करणम्।
व युक्तं—न युक्तम्
नव संज्ञाव्यत्यय—न च संज्ञाव्यत्ययः।
सूराः—सुराः।
गव्राध्यय—गजाध्ययः
उक्त कं मिताः—उक्ताङ्कमिताः।
अनुपार्पत्तिं—अनुपपत्तिम्
उपपापत्ति—उपपत्तिः

इस प्रकार की यह एक बृहत्सूची होगी। पाठकों के केवल दिग्दर्शन के लिये उक्त सूची दी जा रही है।

वस्तुतः—समग्र मरीचि के अध्ययनाध्यापन से या विद्वानों के स्वयं उत्कृष्ट मनोयोग द्वारा पठन से भी मूल कोष और मूल कोष की प्रतिलिपि करने में जो कुछ त्रुटियाँ फिर भी रह गई हैं, उनका द्वितीय-संस्करणों में अविलम्ब अवश्य सुधार हो जावेगा ऐसी सदाशा है।

फिर भी अन्य शास्त्रों की पाण्डुलिपियों में पाठ भेद होने से भी अनेक उनके त्रुटियाँ व्याख्यान और अर्थ भाष्य में हो सकती हैं, किन्तु यहाँ उक्त भय नहीं है। पाठ भेद से गणित में भेद नहीं हो सकता इससे कोई क्षति नहीं हुई। तब भी—

उत्कृष्ट मनोयोग से मूल ग्रन्थ को पूर्ण—मरीचि भाष्य का मनन करके उसके संशोधित संस्करण को सर्व प्रथम आज प्रकाशित किया जा रहा है।

आशा है कि उक्त सभी प्रकार की त्रुटियों का यथोचित निराकरण करने में अब विद्वानों को मेरी तरह की कठिनाइयों का अनुभव नहीं करना पड़ेगा।

ग्रन्थ का अभ्यास होने से—तथा

ग्रहगणित ज्योतिष ग्रन्थों के पारिभाषिक शब्दों की बुद्धिस्थ व्यापकता होने से, साहस के साथ इसकी प्रेस प्रतिलिपियां की जा सकीं।

पूरी मरीचि की प्रतिलिपि मेरे द्वारा केवल व्यक्तिगत परिश्रम से नहीं संभव हो सकी। अतः लेखकों से सहायता लेना अनिवार्य हो गया, किन्तु खेद है कि आशा के विपरीत मुझे लेने के देने पड़े, और कार्य में भी अनावश्यक विलम्ब हो गया।

मेरी निजी दो टीकाओं से ग्रन्थ का आकार परिवर्धित होकर इतना विशाल हो गया कि मुझको इस कार्य के सम्पन्न होने में निराशा सी प्रतीत होने लगी, किन्तु धैर्य एवं सतत अध्यवसाय के द्वारा अन्ततोगत्वा इस कार्य में जो कुछ सफलता प्राप्त हुई है उसका निर्णय पाठकों पर है।

एक बात—

ग्रन्थ के सम्पादन में आवश्यक सामान्य सहायताएँ भी किसी से प्राप्त न हो सकने के कारण तत्सम्बन्धी समग्र कार्यो (अथ से इति तक) को एकाकी ही सम्पन्न करना पड़ा, अतः संभव है कि यत्र तत्र त्रुटियाँ रह गई हैं। "गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः"। अतः मैं आशा करता हूँ कि सज्जन लोग उक्त त्रुटियों को क्षमा ही करेंगे।

आज की राष्ट्र-भाषा "हिन्दी" में "शिखा" नामक ग्रहगणित गोल का भाष्य

शिखा—

सिद्धान्त की निष्पत्ति का मौलिक अनुसन्धान करने के साथ ही साथ मुझे उसे हिन्दी भाषा में व्यक्त करने में भी बड़ी कठिनाइयों का अनुभव हुआ क्योंकि छात्र जीवन से अब तक सदैव संस्कृताभ्यासी ही रहा हूँ।

अतः हिन्दी भाषा की वाक्य योजना एवं विराम चिन्हों का प्रयोग आदि में त्रुटियाँ अवश्य रह गई हैं जिनके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ। और जिनका द्वितीय संस्करण में निराकरण करने में किसी भी व्यक्ति को किसी भी कठिनाई का अब अनुभव न होगा।

अपने इस प्रयास में मुझे निम्नाङ्कित संस्थाओं और महोदयों का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, जिसके लिये मैं यहाँ पर उन्हें अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

(१) स्वनाम धन्य पद्म भूषण पण्डित सम्राट पं० "राजेश्वर" शास्त्री द्राविड़ काशी,
(२) स्वनाम धन्य पद्म भूषण प्रसिद्ध ज्योतिर्वेत्ता पं० "सूर्यनारायण" व्यास उज्जैन
(३) वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्राचीन बृहद्ग्रन्थ भण्डार सरस्वती भवन,

केन्द्रीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

भारत सरकार का विश्वविद्यालय अनुदान आयोग साधुवादार्ह है—

बृटिश साम्राज्यकाल से ही संस्कृत भाषा मृत मान कर सदैव उपेक्षित ही रही है। अंग्रेजी तथा संस्कृत में लिखे हुए ज्योतिष के ग्रन्थ भी प्रकाशित करने में राजकीय सहायता प्राप्त नहीं हो सकती थी। परन्तु यह बड़े सन्तोष एवं परम साधुवाद देने योग्य कार्य है कि

स्वतंत्र भारत के केन्द्रीय विश्वविद्यालयीय अनुदान आयोग ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए अनुदान देकर ज्योतिष शास्त्र को पुनरुज्जीवित करने का उज्ज्वल श्रेय लिया है।

इस प्रकार के कार्यों से अन्य संस्कृत लेखकों को भी प्रोत्साहन मिलेगा। इस सहायता के लिए उक्त अनुदान आयोग के सभापति महोदय विशेषरूप से साधुवादार्ह हैं क्योंकि उन्होंने इस विषय में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पत्रों पर विशेष ध्यान देकर अपनी व्यक्तिगत रुचि द्वारा आवश्यक अर्थ राशि प्रदान कर मुझे प्रोत्साहित किया है। इसलिए मैं और विश्वविद्यालय हृदय से उनके आभारी हैं।

इति

केदारदत्त जोशी
रीडर—ज्योतिष विभाग
संस्कृत महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५

गणित ज्यौतिष में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं के लाभार्थ ग्रहगोल, खगोल और भूगोल समझने की कुछ परिभाषाएँ तथा ग्रह गणित सम्बन्धी परिभाषिक शब्दों की एक सूची भी साथ ही साथ प्रकाशित की जा रही है। जिसमें प्रत्येक पारिभाषिक शब्द हिन्दी भाषा में लिखा गया है। संस्कृत हिन्दी एवं आङ्गल, इनमें से किसी एक भाषा का भी ज्ञान रखने वाला व्यक्ति इन तत्थ्यों को भली-भांति समझ सकता है।

सर्व साधारण के समझने के लिये ग्रह गणित गोल की कुछ परिभाषाएँ तथा संक्षेप से आवश्यक पारिभाषिक शब्दों का परिचय

१—किसी भी खगोलीय वृत्त के तीन केन्द्र होते हैं, एक गर्भीय केन्द्र और दो पृष्ठीय केन्द्र होते है।

२—पृष्ठीय केन्द्रों से ९० नब्बे अंश के तुल्य चाप से बृहद्वृत्त बनते हैं। नब्बे अंश से कम दूरी के चाप से बनाये गये वृत्तों को लघुवृत्त कहते हैं। वृहद्वृत्त और लघुवृत्त परस्पर समानान्तर भी होते हैं। जैसे नाडीवृत्त (Equator) का समानान्तर (Parallel of Latitude) वृत्त अहोरात्रवृत्त (Diurnal circle) है।

३—पृथ्वी के गोल केन्द्र से ध्रुव की तरफ वर्द्धित रेखा जहाँ पृथ्वी पृष्ठ में लगती समझा जाता है वहीं पर पृथ्वी में ध्रुव विन्दु है। उत्तर की ओर उत्तर ध्रुव अर्थात् ध्रुव निष्ठ देवताओं के लिये वास्तविक ध्रुवतारा उनके शिर पर आकाश में खमध्य में होती है। इसी प्रकार दक्षिण ध्रुव पृष्ठ में बसने वालों के लिये दक्षिण ध्रुव, आकाश में उनके शिर के ऊपर दीखेगा।

४—अपने स्थान से आकाश में अपने शिर के ऊपर अपना खमध्य (आकाश मध्य= (Zenith) विन्दु है। ठीक अपने खमध्य से १८०° की दूरी पर अधः खमध्य (Nadir) है। अपने दोनों खमध्यों और दोनों ध्रुवों पर गये हुये वृत्त का नाम याम्योत्तर वृत्त (Meridian circle) है।

५—ध्रुव से (Pole star) नब्बे अंश की दूरी पर नाडीवृत्त (Equator circle) होता है। यहाँ पर अक्षांश (Latitude) शून्य होता है।

६—नाडीवृत्त (Equator) और याम्योत्तर वृत्त (Meridian Circle) के सम्पात (Node) विन्दु का नाम निरक्ष खमध्य कहते हैं।

७—निरक्ष खमध्य से नब्बे अंश चाप की दूरी पर से बनाये गये वृत्त (Circle) को उन्मण्डल (Six O'clock circle) वृत्त कहते हैं।

८—अपने खमध्य (Zenith) से नब्बे अंश चाप की दूरी से जो वृत्त बनता है उसे क्षितिज (Horvon) वृत्त कहते हैं।

९—अपने क्षितिज (Horizon) वृत्त और याम्योत्तर वृत्त (Meridian circle) के सम्पात बिन्दु का नाम समस्थान (Connecting Point) है। यही समस्थान विन्दु पूर्वापर (Prime vertical Circle) वृत्त का पृष्ठीय केन्द्र है।

(१०) समस्थान और ध्रुव स्थान (Pole Star Pace) का याम्योत्तर वृत्तीय (Meridian circle) अन्तर चाप का नाम अथवा स्वखमध्य (Zenith) और निरक्ष खमध्य का याम्योत्तर वृत्तीय अन्तर चाप का नाम अक्षांश (Latitude, Terrestrial-Axis) है।

(११) ध्रुव स्थान (Pole star) और स्वखमध्य (Zenith) का याम्योत्तर-वृत्तीय अन्तर चाप का नाम लम्बांश (९०°—अक्षांश) है।

(१२) दोनों समस्थान चिन्हों से ४५° पैंतालीस अंश पूरब और पश्चिम की तरफ की दूरी पर अपने क्षितिज (Horizon) वृत्तीय विन्दु पर और दोनों खस्वस्तिक और अधः स्वस्तिक (Zenith and Nadir) विन्दुओं पर गये हुए वृत्तों के नाम कोणवृत्त हैं (१) ईशान (North East) से नैऋत्य (South West) तक का कोणवृत्त है। (२) वायव्य से (North West) अग्नि कोण (South East) तक गया हुआ होता है। इन्हें विदिग्वृत्त भी कहते हैं।

(१३) नाडीवृत्त (Equator circle) अपना पूर्वापरवृत्त (Prime vertical circle) उन्मण्डल (Six o'clock circle) और क्षितिज (Horizon) वृत्तों के पृष्ठीय केन्द्र (Center) याम्योत्तर वृत्त (Meridian circle) में होते हैं। इसलिये याम्योत्तर वृत्त के पृष्ठीय केन्द्र पूर्वस्वस्तिक विन्दु पर उक्त चारों वृत्तों का सम्पात (Connecting Point) विन्दु का गोल में, पूर्वस्वस्तिक नाम है।

(१४) आकाशस्थ ग्रह बिम्ब के गर्भ केन्द्र और दोनों खमध्यों (Zenith and Nadir) पर गये हुये वृत्त का नाम दृग्वृत्त (Vertical circle) है। इस दृग्वृत्त में खमध्य (Zenith) से ग्रह (Planet) बिम्ब तक नतांश (Zenith distance) तथा क्षितिज से (Horizon) ग्रह (Planet) बिम्ब तक उन्नतांश (Altitude) नतांश की ज्या दृग्ज्या एवं उन्नतांश की ज्या शंकु होती है।

(१५) ध्रुव स्थान से २४° चौबीस अंश चाप की दूरी पर कदम्ब भ्रमवृत्त में कदम्ब तारा (Pole of the Ecliptic) रहती है।

कदम्ब को केन्द्र मान कर नब्बे अंश की दूरी के चाप से जो वृत्त बनेगा उसे क्रान्ति वृत्त (Ecliptic or Orbit) कहते हैं।

(१६) इसी प्रकार कदम्ब से शर चाप की दूरी पर (चन्द्रमा आदिक ग्रह जिस वृत्त में अपनी गतियों से चलकर राशि चक्र की परिक्रमा करते हैं उस मार्ग का नाम विमण्डल है। विमण्डल वृत्त का पृष्ठीय केन्द्र विकदम्ब होता है। यथा चन्द्र भ्रमण मार्ग का नाम चन्द्र विमण्डल होता है। इसी प्रकार और ग्रहों का भी विमण्डल होता है।

(१७) नाडी (Equator) वृत्त और क्रान्ति वृत्त (Ecliptic or Orbit) के सम्पात विन्दु का नाम गोल सन्धि (Node of an orbit) या क्रान्ति पात है। इन दो बड़े वृत्तों के इन दो सम्पातों में एक सम्पात का नाम सायन मेषादि (वसन्त-सम्पात) (Ascending node of the Equator, First Point of Aples, Vernal Equinox) और दूसरे सम्पात का नाम सायन तुलादि (Descending node of the Equator, first Point of Libra, Autumnal Equinox) है।

(१८) इन सम्पातों में किसी एक केन्द्र (Centre of a Circle) से नब्बे चाप की दूरी पर बने हुये वृत्त का नाम अयन प्रोत वृत्त (Solstitial Colure circle) है।

(१९) मेष से कन्या तक ६ राशि उत्तर गोलार्द्ध (Northern Hemisphere) में, तुला से मीन तक ६ राशियाँ दक्षिण गोलार्द्ध (Southern Hemisphere) में होती हैं।

(२०) उक्त इसी प्रकार कर्क से धनु राशि तक उत्तर अयन एवं मकर से ६ राशि मिथुन तक दक्षिण अयन अर्थात् अयन सन्धि (Solstitial Point) होती है।

(२१) क्रान्ति वृत्त और विवृत्त के योग विन्दु का नाम क्रान्ति पात (Equinoctial Point) है। इसी को सूर्य चन्द्र ग्रहण का कारणीभूत राहु (Ascending Node of the Moon's Orbit)।

(२२) किसी भी अभीष्ट समय में क्रान्ति वृत्त का जो प्रदेश विन्दु उदय क्षितिज (Horizon) में लगा रहता है उसे लग्न अस्तक्षितिजीय विन्दु को अस्त लग्न कहते हैं।

(२३) जिन जिन विन्दुओं से कोई महद्वृत्त किया जाता है उन्हीं विन्दुओं के नाम से उस महद्वृत्त को वही विन्दुप्रोत नाम दिया जाता है। जैसे :—दोनों ध्रुवों से इष्ट स्थान पर किये गये वृत्त का नाम ध्रुवप्रोत वृत्त एवं दोनों समस्थानों और ग्रह बिम्ब पर गये वृत्त का नाम समप्रोतवृत्त कहा जाता है।

(२४) नाडी वृत्त से ग्रह बिम्ब तक ध्रुवप्रोत वृत्त में क्रान्ति (Declination) चाप होता है। क्रान्ति चाप को ९० नब्बे में घटाने से शेष का नाम द्युज्या चाप होता है। ध्रुव विन्दु को केन्द्र (Centre of a Circle) मान कर द्युज्या चाप तुल्य व्यासार्ध से रचित वृत्त (Circle) का नाम अहोरात्र वृत्त (Diurnal Circle) है।

(२५) ग्रह बिम्ब के केन्द्र में होते हुये कदम्बप्रोतवृत्त जहाँ पर क्रान्तिवृत्त के साथ सम्पात करता है, उस सम्पात विन्दु से ग्रह बिम्ब तक कदम्ब प्रोत वृत्त में ग्रह का शर (Celestial Latitude) होता है। यह बिम्बीय और स्थानीय अहोरात्र वृत्तों का अन्तर है, जिससे ग्रह की स्पष्टा क्रान्ति ज्ञात होती है।

(२६) क्षितिज और अहोरात्र वृत्त के सम्पात के ऊपर किया गया ध्रुव प्रोत वृत्त जहाँ पर नाडी वृत्त के साथ सम्पात करता है उस सम्पात विन्दु से पूर्व स्वस्तिक विन्दु तक चर काल होता है। इसके अहोरात्र वृत्तीय लघु स्वरूप का नाम कुज्या है।

(२७) ग्रह बिम्ब स पूर्वापरवृत्त तक समप्रोतवृत्त में भुजांश चाप है। भुजांश चाप को नब्बे में कम करने से शेष का नाम उपवृत्त व्यास होता है। भुजांश चाप की ज्या नलिका वेध के समय भुज संज्ञक है।

(२८) गोल सन्धि से ग्रह बिम्बीय स्थान तक क्रान्ति वृत्तीय चाप का नाम भुजांश चाप है, जो चापीय क्षेत्र का कर्ण है। तथा गोल सन्धि से ग्रह बिम्ब के ऊपर गये हुये ध्रुव प्रोत वृत्त का क्रान्तिवृत्तीय स्थान तक भुजांश कर्ण एवं नाड़ीवृत्तीय स्थान तक विषुवांशकोटि, एवं ध्रुव प्रोतवृत्त में ग्रह की क्रान्ति-भुज, यह एक प्रसिद्ध चापीय क्षेत्र है।

(२९) क्षितिज और अहोरात्र वृत्त के सम्पात विन्दु से पूर्व स्वस्तिक तक क्षितिज वृत्तीय चाप का नाम अग्रा चाप है।

(३०) इसी प्रकार क्षितिज और दृग्वृत्त के सम्पात से पूर्व स्वस्तिक तक क्षितिज वृत्तीय चाप का नाम दिगंश चाप है।

(३१) भूगोल केन्द्र से अपने खमध्य तक गये हुये सूत्र को ऊर्ध्वाधर सूत्र कहते हैं। एवं भूगर्भ से निरक्ष खमध्य तक गये सूत्र को निरक्षोर्ध्वाधर सूत्र कहते हैं।

(३२) इसी प्रकार भूगर्भ से —पूर्व स्वस्तिक तक गत वायु रूप सूत्र का नाम पूर्वापर सूत्र, ध्रुव स्थान गत सूत्र का नाम ध्रुव सूत्र या ध्रुव यष्टि (Polar Axis) समस्थान गत सूत्र का नाम सम सूत्र, कोणवृत्त क्षितिज सम्पात गत सूत्र का नाम कोण सूत्र, दृग्मण्डल क्षितिज सम्पातगत सूत्र का नाम दृक्कुज सूत्र, भूगर्भ से क्षितिज अहोरात्र वृत्त सम्पात गत सूत्र का नाम स्वोदयास्तसूत्र, उन्मण्डल अहोरात्र सम्पात गत सूत्र का नाम निरक्षोदयास्त सूत्र और भूगर्भ से इष्ट स्थान तक गये सूत्र का नाम इष्ट सूत्र है।

(३३) याम्योत्तर अहोरात्रवृत्त सम्पातस्थ ग्रह बिम्ब केन्द्र से उदयास्त सूत्र के ऊपर लम्ब रूप सूत्र का नाम हृति है।

तथा पूर्वापर अहोरात्र वृत्त सम्पात से स्वोदयास्त सूत्र पर लम्ब सूत्र का नाम तद्धृति है। एवं किसी भी इष्ट स्थानीय ग्रहबिम्ब से स्वोदयास्त सूत्र पर लम्ब रूप सूत्र को इष्ट हृति कहते हैं।

(३४) निरक्षोदयास्त सूत्र तक उक्त इष्टहृति आदि के खण्डों का नाम कला है। यह सब द्युज्या वृत्तीय लघुवृत्तीय होते हैं। अतः ग्रहगणित के उपयोग के लिये इनका मान त्रिज्यावृत्त बृहद्वृत्त में परिणत कर बृहद्वृतीय किया जाता है।

(३५) द्युज्यावृत्तीय हृति का त्रिज्यावृत्तीय परिणत स्वरूप अन्त्या होता है।

(३६) सर्वत्र पूर्वापर और स्वोदयास्त सूत्रों का अन्तर अग्रा होती है। पूर्वापर और निरक्षोदयास्त सूत्रों का अन्तर क्रान्ति ज्या होती है। निरक्षोदयास्त और स्वोदयास्त सूत्रों का अन्तर कुज्या होती है।

(३७) इष्ट स्थानीय ग्रह बिम्ब से स्वोदयास्त सूत्र तक गये हुये सूत्र को इष्ट शंकु कहते हैं।

यह शंकु अनेक स्थानों से अनेक प्रकार के होते हैं। मुख्यतः, पूर्वापराहोरात्र-वृत्त सम्पात से क्षितिज धरातलगत सूत्र को पूर्वापर शंकु (सम शंकु), एवं याम्योत्तराहोत्र-वृत्त सम्पात से क्षितिज धरातलगत सूत्र को मध्याह्न शंकु, कोणवृत्ताहोरात्रवृत्तसम्पात से क्षितिज धरातलगत शंकु का नाम कोण शंकु, होता है।

(३८) शंकुमूल से स्वोदयास्त सूत्र तक लम्ब रूप याम्योत्तर अन्तर को शंकुतल कहते हैं। इस प्रकार इष्टशंकु कोटि, इष्टहृति कर्ण एवं इष्टशंकुतल भुज ऐसे बहुविध सरल समकोणक त्रिभुजों की खगोलीय बहुविध रचनाओं से तत्तत्स्थलों की छाया आदि ज्ञात करते हुये ग्रहगोलगणित की पृष्ठभूमि सुदृढ़ होती है—

इस प्रकार संक्षेप से खगोल का परिचय करते हुये तथा पौर्वात्य पाश्चात्य खगोलीय अधोलिखित शब्द संकेतों की सूची से—मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थ में वर्णित ग्रहगणित के विशेष परिष्कारों के शिखा नामक भाष्य से सर्व साधारण को अवश्य लाभ होगा, जिसे मैं अपना सफल प्रयास समझूंगा।

वस्तुतः प्राचीन परम्परा से ही भारतीय ग्रन्थ भण्डार की ज्ञान प्राप्ति के लिये गुरुमुख होना तो अनिवार्य है। बिना गुरुमुख हुये ग्रन्थ की विशेष फक्किकाएँ समझ में नहीं ही आ सकती हैं। ग्रन्थ का हृदय तो गुरु का हृदय है और उस हृदय को विनीत जिज्ञासु परम गुरु भक्त सुयोग्य शिष्य ही प्राप्त कर सकता है। इसीलिये आचार्यों ने बड़े श्रम साध्य ग्रन्थ के क्लिष्ट स्थलों को समझ कर सरल बनाते हुये शिष्य परम्परा से अनुरोध किया है कि ("नैतद्देयं दुर्विनीताय शिष्याय" तथा दिव्यं ज्ञानमतीन्द्रियमित्यादि) इस पवित्र ज्ञान को सुविनीत शिष्य को समझ कर ही देना चाहिए। (सि० शि०)

गुरुमुख

वर्षों तक स्वयमेव पुस्तकों का अध्ययन करके जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसमें सन्देह, त्रुटियों तथा अधिक समय का व्यर्थ यापन होता है। अतएव इस विषय में प्राचीन आचार्यों का यह मत कि "ज्ञान को गुरु के सान्निध्य में ही उचित रूप में प्राप्त किया जा सकता है" मान्य एवं ग्राह्य है। ग्रन्थ के कठिन एवं सन्दिग्ध स्थल अनुभवी गुरु के सान्निध्य में ही सम्यक् प्रकारेण अवगन्तव्य हो पाते हैं, इसके अतिरिक्त अनेक वर्षों तक अध्यापन कार्य के अनुभव से ग्रन्थ की अपेक्षा कुछ विशेष तथ्यों का अनुसन्धान-योग्य अध्यापक स्वयं कर लेते हैं, उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये गुरु के सान्निध्य में रह कर ज्ञान प्राप्त करना विशेष लाभदायक है।

यदि इस विषय में कोई जिज्ञासु प्रगति के लिये चेष्टा करता है तो उसे समुचित ज्ञान देनेवाले गुरुओं का सान्निध्य अवश्य प्राप्त हो जावेगा। उस स्थिति में अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रयोग ज्ञातव्य विषय के ज्ञान को अधिक पूर्ण बना देगा।

ज्योतिष-शास्त्र में अंकों के संकेत की शब्द सूची

१. एक, पृथ्वी, चंद्र, रूप तथा पृथ्वीवाचक सभी शब्द ।
२. द्वौ, अश्वि, पक्ष, अक्षि, दो, यम, युग्म ।
३. त्रि, ग्राम, राम, पुर, लोक, गुण, अग्नि ।
४. चतुः, समुद्र, वेद, युग, कृत ।
५. पंच, बाण, वायु, भूत, अक्ष ।
६. षट्, रस, अंग, ऋतु, तर्क, दर्शन ।
७. सप्त, ऋषि, स्वर, तुरग, पर्वत ।
८. अष्ट, वसु, सर्प, गज ।
९. नव, संख्या, नन्द, रंध्र, निधि, गो, अंक, ग्रह ।
१०. दश, दिक् ।
११. एकादश, शिव तथा सभी रुद्रवाचक शब्द ।
१२. द्वादश, सूर्य तथा सूर्यवाचक सभी शब्द ।
१३. त्रयोदश, विश्व, काम ।
१४. चतुर्दश, मनु, इंद्र, भुवन ।
१५. पंचदश, दिन, तिथि मासार्ध ।
१६. षोडश, भूप, अष्टि ।
१७. सप्तदश, अत्यष्टि (अष्टि-षोडश का अतिक्रामक अंक) ।
१८. अष्टादश, धृति ।
१९. एकोनविंशति, अतिधृति ।
२०. विंशति, नख, कृति ।
२१. एकविंशति, प्रकृति, मूर्छना ।
२२. द्वाविंशति, जाति ।
२३. त्रयोविंशति, आकृति, विकृति ।
२४. चतुर्विंशति, सिद्ध, जिन, (जैनियों के देवता २४ है) ।
२५. पंचविंशति, तत्त्व, अतिकृति ।
२६. षड्विंशति, अहोकृति ।
२७. सप्तविंशति, नक्षत्र, भ ।
२८. द्वात्रिंशत्, दाँत ।
३३. त्रयस्त्रिंशत्, सुर देवतावाचक सभी शब्द ।
४९. ऊनपंचाशत्, तान ।
५०. पञ्चाशत ।
५९. एकोनषष्टि ।
६९. एकोन सप्तति ।
८०. अशीति ।
८९. एकोननवति ।
९९. एकोनशत ।
१००. शत ।
१०००. सहस्र ।
१०००० अयुत दश सहस्र ।
१०००००. लक्ष-लाख ।

उक्त सभी शब्दों के, अन्य पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी उन उन अङ्कों के लिये किया जा सकता है ।

इसी प्रकार एक-एक शून्य बढ़ाने से प्रयुत-दश लाख, कोटि-करोड़, अर्बुद-अरब, अब्ज-दश अरब, खर्व-खरव, निखर्व-दश खरव, महापद्म-पद्म, शङ्कु-शंकु जलधि-अन्त्य—ये प्रत्येक की दशगुणित आगे के अंको की संज्ञाएँ हैं ।

ज्यौतिष के प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्दों के आंङ्ग्ल भाषा में पर्याय-शब्द

नक्षत्रचक्र Zodiac
नतकाल Hour angle
नतांश Zenith distance
नति Parallax in latitude
नीच Parhelion; but नीच of the moon is called Perigee

पद Quadrant
परमक्रांति Obliquity of the ecliptic
परमलंबन Horizontal Parallax
पात Node of an orbit
प्रतिवृत्त Eccentric circle
भगण Sidereal revolution
भेदयुति Occultation
भोग Longitude
मार्गी (गति) Direct motion
मंदकर्ण Radius vector
मंदकेन्द्र Anomaly
मंदफल Equation of the centre
मंदस्पष्टग्रह True heliscentric planet
युति Conjunction
राहु Ascending Node of Moon's orbit
वक्रगति Retrograde motion
वरुण Neptune
वसंतसंपात Vernal equinox
विषुववृत्त Equator
विषुवांश Right Ascension
वेलांतर Equation of time
शर Latitude
शीघ्रकर्ण Distance of a planet from the earth
शीघ्रफल Annual parallax
समवृत्त Prime Vertical
स्पष्टग्रह Geocentric Longitude of a planet
पाटी–गणित, व्यक्त–गणित, अङ्क–गणित Arithmetic
संख्या Number
सम Even
विषम Odd
शून्य Zero, Ciphor
संकलन Addition
व्यवकलन Substraction
„ फल Balance
गुण्य Multiplican
गुणक Multiplier
गुणनयुल Product
गुणन Multiplication
भाज्य Divided
भाजक Divisor
भजन फल Quotient
शेष Remainder
भजन Division
वर्ग Square
वर्गमूल Square root
घन Cube
घनमूल Cube root
घातक्रिया Involution
घात मापक Coefficient of power
महत्तमापवर्तन Greatest common Measure
लघुतमापवर्त्य Least common multiple
अपवर्तन (नांक) Common Factor
भिन्न Fraction
„ अंश Numerater
„ हर, छेद Dinominator
भाग जाति Simple fraction
प्रभाग जाति Compound Fraction
भागानुबन्ध Mixed Fraction
विततभिन्न-Continued Fraction
दशमलव Decimal Fraction
„ विन्दु „ Point
„ आवर्त Recurring decimal
व्यस्त (विलोम) विधि Inverse process
वर्ग कर्म Operation Relative to Square
त्रैराशिक Rule of three

व्यस्तत्रैराशिक Inverse Rule of three

पञ्चराशिक Double Rule of three

मूल धन Principal

मिश्रधन Amount Arithmetic

कलान्तर Interest

चक्रवृद्धि कलान्तर Compound interest

भाण्ड प्रतिभाण्ड Barter

श्रेणी योगान्तर Arithmetical Progression

परिधि Circumference

व्यास Diameter

वृत्त Circle

अर्ध वृत्त Semi circle

वृत्त ज्या Chord

क्षेत्र Figure

क्षेत्र फल Area

घनफल Volume

मापन Mensuration

सूचीक्षेत्र Pyramid

छिन्नशिखा Frustum

लंब Perpendicular

आबाधा Segment of the base

त्रिभुज Trilateral

चतुर्भुज Quadrilateral

पञ्चभुज Pentagon

षड्भुज Hexagon

सप्तभुज Heptagon

अष्टभुज Octogon

नवभुज Nonagon

ऋजुभुजक्षेत्र Rectilinear figure Polygon

कुट्टक (गुणक) Inderminate Multiplier

अङ्कपाश Permutation and Combination

उदाहरण Example

बीजगणित, अव्यक्तगणित Algebra

धन Plus

राशि अज्ञात Unknown quantity

ऋण Minus

राशि Negative quantity

उत्थापन Substitution

करणी Surds

वर्गात्मक करणी Quadratic Surds

एकवर्ण समीकरण Simple equation

मध्यमाहरण Adfected quadratic equation

वर्गसमीकरण Quadratic equation

अनेकवर्गसमीकरण Equation Containing more than one unknown quantity

मध्यमाहरण Quadratic equation containing

क्षेत्रमिति रेखागणित Euclids Elements geometry

स्वयं सिद्धार्थ Axioms

अवाध्योपक्रम Postulates

साध्य प्रतिज्ञा Theorem proposition hypothesis

अनुमान Corollary

परिभाषा Definition(first principle

विन्दु Point

विन्दुपथ Locus

रेखा Line

सरल रेखा Straight line

वक्र रेखा Curved line

सम धरातल Plane surface

विषम धरातल Curved surface

घन धरातल Solid surface

कोण Angle
सम कोण Right Angle
अधि कोण Obtuse angle
न्यून कोण Acute Angle
आसन्न कोण Adjacent Angle
एकान्तर कोण Alternate angle
अन्तः कोण Interior angle, Internal angle
वहिः कोण Exterior or External Angle
अन्तर्गत कोण Subtended angle
पूरक कोण Complementary angle
सम्मुख कोण Opposite angle
केन्द्रस्थ कोण Angle at the centre
परिधिस्थ कोण Angle at the circumference
धन कोण Positive angle
ऋण कोण Negative angle
परावर्तन कोण Reflection angle
घनकोण Solid angle
गोलीय कोण Spherical angle
सहायक कोण Subsidiary angle
शीर्ष कोण Vertex angle
उभयनिष्ठ कोण Common angle
भुज Side base
कर्ण Hypotenuse
त्रिभुज समभुज Equilateral Triangle
त्रिभुज समद्विबाहु Isosceles Triangle
त्रिभुज विषम Scalene triangle
त्रिभुज समकोण Right angled triangle
त्रिभुज अधिक कोण Obtuse triangle
त्रिभुज न्यूनकोण Acute triangle
समानान्तर रेखा Parallel straight line
चतुर्भुज Quadrilateral
चतुर्भुज सम्मुखकोण रेखाकर्ण Diagonal
समानान्तर चतुर्भुज Parallelogram
समानान्तर समलम्ब Trapezoid
विषमकोण चतुर्भुज Rhombus
आयत Rectangle
विषमायत Trapezium
वर्गक्षेत्र Square
वृत्तखण्ड Sector
अन्तर्वृत्त Inscribed
बहिर्वृत्त Escribed
उपरिगत वृत्त Circumscribed
गोल Sphere
गोलखण्ड Segment
गोलकोण Spherical angle
गोल धरातल Superfices
गोल क्षेत्रमिति Spherical geometry
त्रिकोणमिति Trigonometry plane
त्रिकोणमिति गोलीय Spherical Trigonometry
प्रघात मापक Logarithm
शङ्कुः Cone.
शंकु कुच्छेद Conic section
चल गणित Differential and integral calculus
गति विद्या Dynamics
स्थिति विद्या Statics
ज्या Sine
कोटिज्या Cosine
स्पर्शरेखा Tangent
कोटिस्पर्श रेखा Co-tangent
छेदन रेखा Secant
कोटिच्छेदन रेखा Cosecant
उत्क्रमज्या Versed sine
कोटयुत्क्रमज्या Co-Versed sine
चाप Arc
चापकोटि Compliment

चापीयमान Circular measure
चापीय भुज युग्म Co-ordinate
मान Value
अनन्त Infinite
अन्तर Difference
परिमाण Magnitude
फल (लब्ध) Resultant
एक (प्रमाण) Unit
पद समह Expression
राशि Term, quantity
द्विसमकोणावशिष्ट Suppliment

नक्षत्र मण्डल

अश्विनी Arietis
भरणी Musca 35 Arietis
कृत्तिका Tauri, Pleides
रोहिणी Tauri, Aldebaran
मृगशीर्ष Orionis
पुनर्वसु Geminorum Pollux
पुष्य Cancri
आश्लेषा Cancri
मघा Leonis, Regulus
पूर्व फाल्गुनी Leonis
उत्तर फाल्गुनी Leonis
हस्त Or S corvi
चित्रा Verginis Spica
स्वाती Bootis, Arcturus
विशाखा Or K Librae,
अनुराधा Scorpionis
ज्येष्ठा Scorpionis, Anteres
मूल Scorpionis
पूर्वाषाढ़ा Sogittarii
उत्तराषाढ़ा Sgettrii
अभिजित् Lyrivega
श्रवण Aquihae, altaire
धनिष्ठा Delphini
शततारका Aquarii
पूर्व भाद्रपद Pegasi, Markale
उत्तर भाद्रपद Andromedo
रेवती Piscuim
अगत्स्य Canopus
मृगव्याध (लुब्धक) Sirius
ब्रह्म हृदय Aurigal (capella)
अग्नि Tauri
प्रजापति Aurigal
अपांवत्स Virginis
आप Virginis
सप्तर्षि Ursa Mojoris

दिशाएँ

पूर्व East
पश्चिम West
उत्तर North
दक्षिण South
अग्निकोण South east
नैर्ऋत्य South west
वायव्य North west
ईशान North east

वार और ग्रह

रवि Sun
चन्द्र Moon
भौम Mars
बुध Murcury
गुरु Jupiter
शुक्र Venus
शनि Saturn
राहु Ascending node
केतु Descending node

१२ राशियाँ

मेष Aries
वृष Taurus

मिथुन Gemini
कर्क Cancer
सिंह Leo
कन्या Virgo
तुला Libra
वृश्चिक Scorpio
धनु Sagittarius
मकर Capricornus
कुंभ Aquarius
मीन Pisces
राशिचक्र Zodiac
आकृति विशिष्ट तारापुञ्ज या त्रिभागात्मक नक्षत्र } Constellation or Asterism
राशि Sign
अंश O degree
कला ,, minutes of arc
विकला ,, seconds on arc
तिथिपत्र Calendar
पंचाङ्ग Almanac
सावन दिन Terestrial
चान्द्र-दिन Lunar day
मध्यम सावन Mean solar day
स्पष्ट सावन Apparent solar day
नाक्षत्र सावन Sidereal day
मास month
मास पक्ष शुक्ल Light part
" " कृष्ण Dark part
सौर मास Solar month
चान्द्र मास Lunar month, lunation
अधिमास Intercalary month or Additive month
क्षयमास Subestractive month
वर्ष Year
वर्ष करणाद Epoch (Epact)
वर्ष सौर Solar or tropical year
वर्ष नाक्षत्र Sidereal year
ऋतु Season
अयनसंधि Solstitial point
उत्तर गोलार्ध Northern hemisphere
दक्षिण गोलार्ध Southern hemisphere
भूमध्य रेखा Standard meridian
भूपरिधि Circumference of the Earth
भूपरिधि स्पष्ट Rectified circumference
अक्ष पल Latitude (terrestrial)
अक्ष Axis
अण्डानुकारिणी Oval
दीर्घवृत्त कक्षा में Elliptical orbits
बृहदक्ष Major axis
लघ्वक्ष minor axis
अक्षकेन्द्र वा नाभि Focus
बृहदक्ष एव ग्रहोच्चरेखा Apsides
अक्ष कर्ण Hypotenuse (of the shadow)
अक्ष क्षेत्राणि Latitudinal Triangles
अक्षभा वा पलभा Gnomonical shadow or Equinoctial shadow
अग्रा Amplitude
अन्त्यफलज्या वा परम फलज्या } Accentricity or the sine of the greatest equation of the centere
अनुपात Proportion
अपम वा क्रान्ति Declination
मध्यमा क्रान्ति Mean declination
स्पष्टा क्रान्ति Apparent declination
परम क्रान्ति Obliquity of the ecliptic
क्रान्तिकोटि (द्युज्या) Cosine of dechination

अयनचलन Precission of the equinoxes
अयनप्रोतिवृत्त Solstitial colure
अहोरात्रवृत्त Diurnal circle
असत्कृत कर्म Successive approximation
बीज कर्म Emperical correction
आलोक Phenomena
इनान्तर Elongation
इनान्तर परम Greatest elongation
इष्टकाल Given time
उच्च (रवि वा भूमि) Aphelion Higher apsis
„ नीच perihelion
„ चन्द्र Appogee
„ नीच perigee
उदय Rising, Heliacal rising
अस्त Setting, Heliacal setting
उदयान्तर (कालसमीकरण) Equation of time
उन्नतांश Attitude
नतांश Zenith distance
नतकाल Hour angle
उन्मण्डल Six O'clock circle
उपकरण Argument (elements)
उपपत्ति Proof
कक्षा orbit
कक्षा नमन Inclination of the Orbit
कक्षा केन्द्र च्युति Eccentricity of an Orbit
कदम्ब Pole of the Ecliptic
कटिबन्ध Zones
किरण Ray
किरण विकिरण Spectrum
किरण परावर्तन (प्रतिफलन) Reflection
कर्ण (मन्द) Radius Vector
कर्ण (शीघ्र) distance of a planet from the Earth
केतु desending node of the moon's orbit
राहु Ascending node of the moon's orbit
केन्द्र Centre of a circle
केन्द्र मध्यम Mean anomaly
केन्द्र स्पष्ट True anomaly
क्रान्तिपात Equinoctial point
क्रान्तिपात (वसंत संपात) Ascending node of the equator, first point of aries, vernal equinox.
क्रान्तिपात (शारद संपात) Descending node of the epuator first point of Libra Autumnal equinox.
क्राति वृत्त Ecliptic
क्रान्ति सूत्र The circle of the deiclnation
क्षितिज Horizon
क्षितिज दृश्य Sensible Horizon
क्षितिज वास्तविक Rational Horizon
क्षेप । विक्षेप । शर. Celestial latitude
स्पष्ट शर Heliocentric latitude
क्षेप सूत्र The circle of celestial latitude
क्षेत्र figure, diagram
खस्वस्तिक Zenith
अधः स्वस्तिक Nadir
गोल Sphere
खगोल Celestial sphere
दृग्गोल Armillary sphere
भगोल चित्र double sphere, Globe (celestīal)

गोल संधि Node of an orbit
गुरुत्व Gravity
गुरुत्वाकर्षण gravitation (universal)
केन्द्राकर्षण शक्ति Centripetal force
केन्द्रोत्सारण शक्ति Centrifugal force
भूम्याकर्षण Attraction of the earth
ग्रह Planet
उपग्रह Satellites
अन्तर्ग्रह Interior planets
बहिर्ग्रह Exterior planets
लघुग्रह Asteroides
लघुग्रह मध्यम Mean heliocentric Position of a planet
" मन्दफल Equation of the centre
" शीघ्रफल (द्वितीय) Annual parallax
" मन्द स्पष्ट True heliocentre Position
" स्पष्ट Geocentric position of a planet
" बिम्ब Disc
" " प्रान्त Limb
" भगण Revolution
" भुजांश Longitude
" भ्रमण (स्वाक्ष) Rotation
ग्रहगति Daily motion, Proper motion.
ग्रहण Eclipse
सूर्य ग्रहण Solar eclipse
चन्द्र ग्रहण Lunar eclipse
पूर्ण खग्रास ग्रहण Total eclipse
खण्ड ग्रहण Partial eclipse
कङ्कण ग्रहण वलय Annular eclipse
ग्रहण घनच्छाया Umbra
" विरलच्छाया Penumbra
ग्रहण बिम्बार्ध Semidiametre
" शृङ्गोन्नति Crescent
" कलावृद्धि Phases
" दृश्यस्थिति Libration
भूभा Earth's shadow
" सूची Conical shadow
" स्पर्श Contact
संमीलन Immersion
उन्मीलन Emersion
परिलेख (छेद्यक) Projection
ग्रहयुति (Inferior or superior) conjnction.
भेदयुति Occultation
त्रिभान्तर Quapdature
षडभान्तर Opposition
चन्द्र युति } Syzygy
" षडभान्तर }
चर Ascentional difference
तात्कालिक गति Intantaneous velocity
वक्रगति Retrograde motion
त्रिज्या Radius
दिगंश Amplitude
दिगंश कोटि AZIMUTH
दृगवृत्त Vertical circle
दृक्सूत्र Line of vison
दृक्क्षेप The sine of the nonagesimal
दृक्क्षेप वृत्त The azimuth circle for the nonagesimal
द्रष्टा Spectator
धूमकेतु Comet
उल्का Meteors
ध्रुवतारा Pole star
ध्रुवयष्टि Polar axis
ध्रुवङ्क (स्थिर गुणक) Constant

नक्षत्र Star
नक्षत्रपुंज Star clusters
नक्षत्र स्थिर fixed star
ग्रह नक्षत्र Heavenly body
सदोदित नक्षत्र Circumpolar star
योगतारा principal star
नीहारिका Nebulae
परम Maximum
परम न्यून Minimum
भूपृष्ठ Earth's surface
परिणत Reduced
पद Quadrant
पदान्त Quadrature
पात Node
प्राकृतिक physical naturl
लग्न Horoscope or ascending point of the Eclipte
लग्न मध्य Culminting point of the Eclipte
लग्न त्रिभोन Nonagesimal point
लम्बन parallax
लम्बन (वार्षिक) शीघ्रफल Annual parallax.
लम्बन दृगमण्डलीय parallax in zenith distances
लम्बन स्पष्ट Parallax in longitude
लम्बन परम Horizontal parallax
विशुवांश लम्बन parallax in Right ascension
क्रान्ति लम्बन parallax in declination
नति शरलंवन Parallax in latitude
विषुवांश Right ascension
विषुव काल Sidereal time
वृत्त Circle
उपवृत्त Secondary circle
विषुवत Equator
समानान्तर Parrallel of latitude
समानान्तर सममण्डल Prime vertical circle
याम्योत्तर Meridian circle
इष्टसमवृत्त The circle of position
कक्षावृत्त Concentric
प्रतिवृत्त Eccentric
नीचोच्चवृत्त Epicycle
दीर्घवृत्त Ellipse
सहायक वृत्त Auxilliary cipcle
परवलय Parebola
अतिपरवलय Hyperbola
वलन Variation of the Ecliptic
वलन आक्ष Latitudinal variation
वलन आयन Solstitial variation
वलन स्पस्ट Rectified variation
वायुमण्डल, भूवायु(आवह) Atmosphere
समय (काल) Time
समीकरण Equation
संस्कार Corrections
संबन्ध (निष्पत्ति) Ratio
सावधिक काल Periodic time
सारणी (ग्रह) Planetary Table
संधिप्रकाश (वैदिक उषाकाल) Twilight
सूत्र Formula
स्थिर विन्दु Stationary point
ग्रहों के नवीन संस्कार
किरणवक्री भवन Refraction
च्युति Evection
भूचलन Aberration
अक्षचलन Nutation
पाक्षिक (तिथिसंस्कार) Veriation
वार्षिक समीकरण Annual equation
ज्योतिष यन्त्र Astronomical Instruments

पलभा यन्त्र Sun-dial
शंकु (१२ अंगुल) Gnoman
घटी यन्त्र Clepsydra प्राचीन पानी की घटी
तुरीय यन्त्र Quadrant
षष्ठ यन्त्र Sextant
दूरदर्शक Telescope
दोलक Pendulum
दोलक आन्दोलन Oscillation
यंत्रराज (यवन) Astrolube
यंत्र विज्ञान Mechanics
यंत्र रचना Mechanism

श्रीमद्भास्कराचार्य्यविरचित

सिद्धान्तशिरोमणेः

वासनाभाष्यसहितः

गणिताध्यायः

मरीच्यभिधया टीकया दीपिकाटीकया सपरिष्कारेण शिखानुवादेन च सहितः

स्पष्टाधिकारः

इदानीं स्पष्टगतिर्व्याख्यायते। तत्रादौ तदारम्भप्रयोजनमाह—

यात्राविवाहोत्सवजातकादौ
खेटैः स्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्।
स्यात्, प्रोच्यते तेन नभश्चराणां
स्फुटक्रिया दृग्गणितैक्यकृद्या॥ १॥

वासनाभाष्य-स्पष्टार्थम्।

मरीचिः—श्री गणेशाय नमः 8 श्री विष्णवे नमः 8 अथ स्पष्टाधिकारो व्याख्यायते। तत्र पूर्वापर ग्रन्थैकवाक्यता प्रत्तिपत्तये संगतिं प्रदर्शयन्नेव शिष्यावधानार्थं स्पष्टाधिकारनिरूपणमुपजातिकया प्रतिजानीते। यात्राविवाहोत्सव जातकादाविति..................

तेन कारणेन नभश्चराणां मध्याधिकारानीतसूर्यादि-सप्तग्रहाणां सा स्फुट क्रिया स्पष्टत्वसम्पादकेतिकर्त्तव्यता। ग्रहस्पष्टत्वं च यन्त्रवेधेन रेवत्याः सका— शात्क्रान्तिमण्डलावयवे भाद्ये यस्मिन्नवस्थितिः प्रत्यक्षेणातस्तज्ज्ञानं वेधनिरपेक्षणगणितादिना यथा सिद्ध्यति, तथेतिकर्त्तव्यता मया प्रोच्यते। सूक्ष्मत्वेनोच्यते। अत्र हेतुमाह। येति या क्रिया दृग्गणितैक्यकृत्। वेधज्ञातग्रहगणितानीतग्रहयोरैक्यमभेदः। तद्धेतुभूतेत्यर्थः। अन्यथा विसम्वादापत्तेः। एतेन स्पष्टलक्षणमुक्तम्। ननु यदर्थमेतावान्प्रयासस्तदेवेति प्रयोजकम्। नहि

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्त्तत इत्यतः कारणमाह। यात्रेति, उत्सवः नामकर्मादि-मौञ्जीबन्धनान्तः जातको जन्मकालः। आदिपदाद्वर्षप्रवृत्तिप्रश्नादिषु च। स्फुटैः। एवकारो मध्यमादि स्पष्टादि निरासार्थम्। खेटैः-ग्रहैः। फलस्फुटत्वं फलव्यक्तत्वम्। फलानुभवः स्यात्। यतस्ते दृष्टियोग्या अतश्चारेणौवोक्तफलसंवादः स्यादित्यर्थः। न मध्यचारेण गुरौ ज्ञे बाल्यग्रगते शुक्रे कर्मगते विधौ। आप्यगे जलकार्याणामारम्भः। सिद्धिदः स्मृतः। गुरुरेकोऽपि केन्द्रस्थः शुक्रो वा यदि वा बुधः हरेः स्मृतिर्यथा पापान्हन्तिदोषानकालजान्। काव्ये गुरौ वा सौम्ये वा यदा केन्द्रत्रिकोणगे नाशयत्यखिलान्दोषान्पापानिव हरेः स्मृतिः। ज्ञेज्यशुक्रार्कभौमेषु बन्ध्वस्तादित्रिषुत्रिषु गतस्याग्रे रिपुचमूर्लीयतेऽग्नौ जन्तुर्यथेत्यादिकश्यपादिवचनानां निरवकाशापत्तेः। मध्यमरविबुधशुक्राणां तुल्यत्वात्। न च बुधशुक्रयोः शीघ्रोच्चानयनस्योक्तत्वात्तद्वशेन तच्चारफलमिति वाच्यम्। एवमपि भौमगुरुशनिकृतयोगफलासंभवापत्तेः। सूर्यस्यशीघ्रोच्चत्वात्। ग्रहणादिषु सप्तग्रहाणां क्लृप्तत्वेन तच्चारफलकल्पनेति लाघवाच्च। उच्चस्यावस्तुभूतत्वेन काल्पनिकत्वाच्च। अतएव विवाहवृन्दावने"ऽस्तु किन्तु नहि तन्निवेशितं राहुवद्ग्रहपदे विरञ्चिना कल्पनात्तदियमुच्चमुच्चरन्कोऽपि रोपित—फलं न च श्रुत" इत्यनेन स्पष्टमुच्चस्य चारफलाभावः प्रतिपादितः। तथा च फलादेशार्थं स्पष्टग्रहाणामावश्यकत्वेन निराश्रयेण तत्साधनस्याशक्यत्वात्तदाश्रय हेतुभूतं मध्यगणितप्रतिपादकं मध्यमाधिकारं प्राङ् निरूप्येदानीं तदानीतस्यैव किञ्चित्संस्कारेण स्पष्टत्वं भवतीति निश्चित्य तत्फलानयनप्रक्रियाप्रतिपादकं स्पष्टाधिकारमुपजीव्योपजीव्यकभावसङ्गत्याऽरब्धवानिति तात्पर्यम्।

श्रीमद्भास्कराचार्यविरचितग्रहगणिताध्यायगतस्य ।
स्पष्टाधिकारस्य नवटीका दीपिका शिखेयञ्च ॥१॥
संस्कृतहिन्दीवाण्योः केदारदत्तजोशिना विरचिता ।
'सुधाकर' शिष्यं गुरुं 'बलदेव' पाठकं नन्दयतु ॥२॥

दीपिका—मध्यमाधिकारे ग्रहस्य भगणेनैव संसिद्धिर्भवति। अत्र मध्यम इति पदेन स्फुट इति पदस्य सापेक्षत्वं स्वयमेवाऽऽयाति। अतएव मध्यमाधिकारोक्तमध्यमग्रहस्य स्फुटत्वं यथा स्यात्तथोपायो गवेषणीय इत्येषामुपायानां ज्ञानमस्मिन्नधिकारेऽऽचार्येणोक्तन्तेनास्य स्पष्टाधिकार इति सार्थकं नाम इति दिक्।

वस्तुतः गोलस्थितिदर्शनेन स्फुटग्रहस्यैव वेधविनिगमकत्वमित्युच्यते। तत्रानुदिनं वेधप्रक्रियया तत्साधनस्यासौविध्यादागमोक्त्यात्र ग्रहभगणद्वारा मध्यग्रहज्ञानपुरःसरंमनेकाभिः गणितप्रक्रियाभिस्साधितमन्दशीघ्रादिभिः फलैस्संस्कृतो मध्यएव वेधोपलब्ध स्पष्टग्रहतुल्यो भवतीति ज्ञात्वा स्पष्टाधिकारे तेषां विनियोगस्तु ग्रहस्य स्पष्टतायैराचार्यै कृत इत्यलं प्रसंगागतविचारेण।

शिखा—मध्यम ग्रह का जो स्थान क्रान्ति वृत्त (ECLIPTIC) में है, उस स्थान पर स्पष्ट ग्रह का (जिसे हम खुली आंख से प्रत्यक्ष देखते हैं) विम्ब नहीं है। मध्यम ग्रह विन्दु से

स्पष्ट ग्रह विम्ब, पूर्वापर रूप अन्तरित विन्दु पर है। प्रयोजन स्पष्ट ग्रह से है। क्योंकि सुदूर यात्रा, पुत्रोत्पत्ति जैसे मंगलोत्सव, जीवन की सार्थकता जैसा प्रसिद्ध विवाहादि शुभ कर्म, तथा शरीर धन, वन्धु, गृह, विद्याबुद्धि, जय पराजय, अखण्ड दाम्पत्य, अल्प, मध्य दीर्घ आयु विचार, तीर्थ आदि स्थानों का पर्यटन, पद, मान नेतृत्व, प्रभृति प्रतिष्ठा अनेक प्रकार की धन सम्पत्ति आदि का सञ्चय, जीवन पर्यन्त अनेक प्रकार के सद्व्यय या असद्व्यय का विचार के साथ-साथ परम पद (मोक्ष) प्राप्ति का समग्र विचार ज्योतिशशास्त्र में स्पष्ट ग्रह के आधार पर ही कहा गया है। इसलिये स्पष्ट ग्रह का स्थान क्रान्ति वृत्त (राशि वृत्त) में किस जगह पर है उसका जानना नितान्त आवश्यक है।

मध्यमाधिकार में ग्रह का स्थान मध्यम स्थान जाना जा चुका है। बिना मध्यम स्थान के ज्ञान के स्पष्ट ग्रह का ज्ञान गणित से संभव नहीं है। इसलिये स्पष्ट ग्रह का अनेक युक्तियों से ज्ञान इस अधिकार (स्पष्टाधिकार) में किया जा रहा है।

यहाँ पर एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट ग्रह ज्ञान कैसे होता है उसे समझना चाहिए।

कल्पना कीजिये कि एक सुदृढ़ काष्ठ की गेंद है जिसे हमने अपने खड़े हुये स्थान से हाथ से एक बढ़िया सीमेन्ट की सड़क पर फेंका और घड़ी देखते हुये अन्दाज किया कि ३ मिनट में वह गेंद ३०० फीट की दूरी पर रुक कर स्थिर हो गयी। त्रैराशिक गणित से यह अनुमान ठीक होगा कि वह गेंद १ मिनट में १०० फीट ही की गति से गयी है। किन्तु यह १ मि० की १०० फीट की गति गेंद की थी ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि गेंद प्रथम मिनिट के प्रथम क्षण में परम वेग से जा रही थी, उसकी गति प्रत्येक क्षण में विलक्षण थी। घड़ी में १ मिनिट होने पर प्रायः वह १५० फीट तक पहुँची थी, पुनः दूसरे मिनिट की समाप्ति तक वह १५० फी०+१२० फी०=२७० फीट तक गयी अब उसकी गति शीघ्र कम होते होते जब गति की शून्यता हो गई तो तीसरे मिनिट में वह ३०० फीट की दूरी पर रुक गयी, या तीसरे मिनिट के अन्त में वह केवल ३० ही फीट जा सकी। अब देखिये प्रथम मिनिट के आदि में उसकी गति अत्यधिक थी, और तीसरे मिनिट के अन्त में गति शून्य हो गई, और यह भी निश्चित है कि इस गेंद की १ मिनिट के १ सेकेण्ड की गति की अपेक्षा १ मिनिट के दूसरे सेकेण्ड की गति भी विचित्र भिन्न-भिन्न थी, अब बुद्धिमानों ने प्रत्येक सेकेण्ड की गतियों को जानकर एक-एक मिनिट की गतियों का योग करते हुये ६०×३=१८० सेकेण्डों की गतियों का (जो १८० प्रकार की हैं) योग कर यह जाना कि ३ मि० में, ३०० फीट पहुंची। हां मध्यम मान से १ मि० में १०० फीट कहना ठीक है, यहाँ पर यह जानना नितान्त आवश्यक है कि मध्यम मान से १ मि० में १०० फीट जो हम मान रहे हैं वह ठीक नहीं है, वह तो १ मि० में १५० फीट गयी है, इसलिये स्पष्ट मान ही प्रत्यक्ष है, किन्तु इसको हम मध्यम गति के आधार से ही जान सकेंगे। इसे आधुनिक गणित में त्वरित गति (Motion Under Acceleration) कहते हैं। एवं आकाश में भी मध्यम ग्रह से स्पष्ट ग्रह स्थान अवश्य भिन्न समझना चाहिये। क्योंकि कोई भी ग्रह पिण्ड हमारे भू पृष्ठ से ठीक स्थिर ऊंचाई पर नहीं है। वह एक चक्कर पूरा करने में कभी पृथ्वी

के समीप और कभी अत्यन्त दूर होता है, तथा एक ही धरातल में भी नहीं चलते हुये विषुवद् वृत्त के आकाशीय ग्रह गोलीय कक्षा धरातल से उत्तर चलते हुये परम उत्तर जाकर पुनः प्रत्यावर्तित होकर चलित मेषादि विन्दु में पहुंचते हुये दक्षिण की तरफ भी जाता है। और परं दक्षिण गमन के बाद पुनः दक्षिण के अन्तर को ह्रासोन्मुख करते हुये क्रान्ति वृत्त (ECLIPTIC) और नाड़ी वृत्त (EQUATOR) के सम्पात पर पहुंचते हुये अपनी कक्षा का एक भ्रमण पूरा करता है जिसे हम भगण कहते हैं।*

इसी प्रकार मेषादि विन्दु से पूरब की ओर जाते हुये पुनः मेषादि में आने तक के समय में ३६०° अपने कक्षा धरातलीय वृत्त में अर्थात् भ्रमण पूरा करने से $\left(\frac{३६०^{\circ} \times १ \text{ दिन}}{\text{भगण भोग काल}}\right)$ भगण भोग काल में ३६०° चलता है तो १ दिन में कितनी गति होगी इत्यादि एक दिन की गति का ज्ञान हुआ। इस त्रैराशिक अनुपात की जो गति आई, वह एकरूप की गति हुई, किन्तु ग्रह के विलक्षण वेग से चलते रहने से यह गति मध्यमागति नाम की हुई, जिसे स्थूल गति कहेंगें और जिसका विवेचन मध्यमाधिकार में किया गया है। और इसे जानकर ही स्पष्ट गति जो विलक्षण वेग की है उसे जानना है। इसीलिये स्पष्ट गति ज्ञापक अधिकार का नाम स्पष्टाधिकार कहा गया है।

तथा मध्यम ग्रह को स्पष्ट ग्रह बनाने के और भी अनेक माप हैं। चापीय गणित से अनेक समीकरणों के योग और अन्तर से स्पष्ट फल का ज्ञान किया गया है। इन ग्रहों की दीर्घ वर्तुल आकृति की जो कक्षायें हैं, उनकी गणित क्रिया भेदों के ज्ञान से स्पष्ट फल का ज्ञान किया गया है। जैसे समतल भू पृष्ठ से, लम्ब रूप दृङ्मण्डल में फैंके गये एक पाषाण खण्ड का विलक्षण वेग क्षीयमाण देखा गया है। प्रथम क्षण में वेग गुरु है, द्वितीय क्षण में वेग कुछ मन्द है, तृतीय क्षण में मन्दतर एवं आगे मन्दतम। इस प्रकार के मन्दायमान वेग से ऊपर जाता हुआ अन्त में वेग शून्य होने पर इस ऊर्ध्व वेग शून्य विन्दु को उच्च विन्दु एवं धीरे-धीरे नीचे पृथ्वी के आकर्षण वेग और वर्धमान वेग का जहाँ पृथ्वी पर पाषाण खण्ड का संयोग हुआ उसे नीच विन्दु कहना चाहिए। एक सूत्र में पाषाण खण्ड को बांध कर उसे घुमाने से इस हाथ के वेग और ऊर्ध्वाधर के वेग से वर्तुल मार्ग और दीर्घ वर्तुल मार्ग पर पाषाण खण्ड का भ्रमण प्रत्यक्ष सिद्ध है।

ठीक इसी प्रकार, सूर्य विम्ब की विशेष शक्ति रूप केन्द्र से समान गतिक ग्रह वर्त्तुल कक्षा में मध्यम मान से चलने के कारण इसे मध्यम ग्रह कहना उचित है। किन्तु स्पष्ट ग्रह तो दीर्घ वर्त्तुल कक्षा में अनियत स्पष्ट गति से समान काल में विलक्षण वेग से चलता हुआ जहां देखा जायगा उसे ही दृश्य ग्रह कहेंगे। तब मध्यम ग्रह का क्या उपयोग ? ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि मध्यम शब्द से ही स्पष्ट की प्रतीति होती है। मध्यम ग्रह स्थान से स्पष्ट ग्रह (दृश्य ग्रह) का स्थान कुछ पीछे या कुछ आगे ही होगा। इसलिये

*भारतीय खगोल विज्ञान की जो प्रगति और उसका क्रमिक विकास ११वीं शताब्दी तक में महत्व प्राप्त कर चुका था १७वीं शताब्दी में कैपलर (KAPLER) ने यूरोप में इस विषय पर लिखा है।

अस्पष्ट मध्यम मान की स्पष्टता जानने के लिये मध्यमाधिकार के बाद स्पष्टाधिकार का होना सर्वथा उचित है।

इस गति गणित परम्परा से स्पष्ट ग्रह का ज्ञान हुआ। बाद में वेध से भी स्पष्ट ग्रह को आकाश में देखकर उसकी भी राशि, अंश और कला आदि आंकनी चाहिए। वेध और गणित में एक वाक्यता देखी गई तो यही ग्रह, दृग्गणितैक्य सिद्ध ग्रह है ऐसा खगोल शास्त्रियों का दृढ़ मत है। वेध से जाने गये और गणित से लाये गये इन दोनों ग्रहों में यदि परस्पर अन्तर पाया गया तो अपने गणित में पुनः अनेक विध, समीकरणों से इसका सूक्ष्म ज्ञान कर अवश्य इस ग्रह को दृग्गणितैक्य ही करना चाहिए। भास्कराचार्य ने दृग्गणितैक्य मत को ही सहर्ष स्वीकार कर उद्घोषणा की है कि, स्फुटक्रिया दृग्गणितैक्यकृद् या इति।

प्राचीन आचार्य भू गर्भाभिप्रायिक ग्रह साधन करते हैं। दृक् प्रत्यय के लिये भू पृष्ठीय ग्रह होना चाहिए। इसलिये गर्भीय पृष्ठीय का अन्तर रूप विशेष संस्कार भी अपेक्षित है। इस प्रकार गणितागत ग्रह आकाश में प्रमाणी भूत होगा। यही दृग्गणितैक्य शब्द का तात्पर्य है।

ग्रह स्पष्टीकरण में, प्राचीन और अर्वाचीन मतों की एकवाक्यता होती हुई भी गणित प्रक्रिया के भेद से ग्रहों में कुछ अन्तर हो ही जाता है, इसलिये सभी आचार्यों ने शृङ्गोन्नत्ति, दृक्कर्म, सूर्य और चन्द्र ग्रहण आदि जिस प्रकार ठीक हों उस प्रकार गणित के संस्कार विशेषों को तत्तत्समय में युक्ति के साथ समझते हुये ग्रहों में देना चाहिए इसी बात की बराबर पुष्टि की है। बहुत समय से सोचते विचारते हुये मैंने भी दृक्प्रात्यय सिद्ध ग्रह को ही स्पष्ट ग्रह सहर्ष स्वीकार किया है। संभवतः इससे फलादेश ठीक हो सकेगा।

इदानीमर्द्धज्याकारणं ताश्चाह।

अर्द्धज्याग्रे खेचरो मध्यसूत्रात्
तिर्य्यक्संस्थो जायते येन तेन।
अर्द्धज्याभिः कर्म्म सर्वं ग्रहाणा-
मर्द्धज्येव ज्याभिधानात्र वेद्या ॥ २ ॥

तत्त्वाश्विनो नन्दसमुद्रवेदा-
श्चन्द्राद्रिषट्का गगनाङ्कनागाः।
पञ्चाभ्ररुद्रास्तिथिविश्वतुल्या
आद्यैर्निरुक्ता नखबाणचन्द्राः ॥ ३ ॥

नन्दावनीशैलभुवो दिगङ्क-
चन्द्रा हुताशग्रहपूर्णदस्राः।
तुरङ्गषट्काकृतयः कुराम-
सिद्धाः शराष्टेषुयमाः क्रमेण ॥ ४ ॥

गजाश्विभान्यङ्कशराष्टदस्रा-
स्तुरङ्गसप्तग्रहलोचनानि ।
अम्भोधिकुम्भाभ्रगुणास्तुरङ्ग-
शैलेन्दुरामा रसभूतदन्ताः ॥ ५ ॥

कुदन्तलोका द्वितुरङ्गदेवा
गोऽश्राब्धिलोकाः कुगुणाब्धिरामाः ।
भुजङ्गलोकाब्धिगुणाः क्रमज्या
अथोत्क्रमज्या मुनयोऽङ्कदस्राः ॥ ६ ॥

रसर्त्तवो भूधरभूमिचन्द्रा
द्व्यष्टेन्दवो भूरसलोचनानि ।
कृतेषुरामाः शशिषट्कवेदा
नन्दाद्रिबाणा गगनेन्दुशैलाः ॥ ७ ॥

गुणेषुनागा नगखाभ्रचन्द्राः
कुशैलरुद्राः शरवेदविश्वे ।
भुजङ्गनेत्रेषुभुवो नवेन्दु-
सप्तेन्दवोऽथो धृतिनन्दचन्द्राः ॥ ८ ॥

त्रिसूर्य्यनेत्राण्यमरत्रिदस्रा
वस्वब्धितत्त्वानि नगर्त्तुभानि ।
गोष्टाङ्कदस्रा दहनेन्दुदन्ता
नागाग्निवेदाज्यभुजत्रिभज्या ॥ ९ ॥

स्याद्व्यासखण्डं खलु खण्डकानि
प्रोक्तानि जीवाविवराणि तज्ज्ञैः ।

वा० भा०—इह हि स्पष्टीकरणप्रभृति सर्वं कर्म्मार्द्धज्याभिः प्रतिपाद्यते; यतो ग्रहवलये कोऽप्यवधिभूतः प्रदेशो मध्यशब्देनोच्यते। तस्मान्मध्याद्वलयगर्भगामि सूत्रं मध्यसूत्रमित्युच्यते। तस्मान्मध्यसूत्रात् तिर्य्यक्स्थो ग्रहो वलयेऽर्द्धज्याग्रे भवति। अतोऽर्द्धज्याभिः सर्व्वं कर्म्म। तत्र भगणकलाङ्कितवृत्तचतुर्थांशे ईदृशान्येव चतुर्विंशतिर्ज्यार्द्धानि भवन्ति। अत एव सूर्य्यसिद्धान्तार्य्यभटतन्त्रेष्वेतान्येव। एषामुपपत्तिर्गोलेऽनेकधा कथिता। तेषां ज्यार्द्धानामन्तराणि ज्याखण्डसंज्ञानि।

क्रमज्याः,—२२५ । ४४९ । ६७१ । ८९० । ११०५ । १३१५ । १५२० । १७१९ । १९१० । २०९३ । २२६७ । २४३१ । २५८५ । २७२८ । २८५९ । २९७७ । ३०८४ । ३१७७ । ३२५६ । ३३२१ । ३३७२ । ३४०९ । ३४३१ । ३३४८ ।

अन्तराणि,—२२४ । २२२ । २१९ । २१५ । २१० । २०५ । १९९ । १९१ । १८३ । १७४ । १६४ । १५४ । १४३ । १३१ । ११८ । १०७ । ९३ । ७९ । ६५ । ५१ । ३७ । २२ । ७ ।

उत्क्रमज्याः,—७ । २९ । ६६ । ११७ । १८२ । २६१ । ३५४ । ४६१ । ५७९ । ७१० । ८५३ । १००७ । ११७१ । १३४५ । १५२८ । १७१९ । १९१८ । २१२३ । २३३३ । २५४८ । २७६७ । २९८९ । ३२१३ । ३४३८ ।

अन्तराणि,—२२ । ३७ । ५१ । ६५ । ७९ । ९३ । १०७ । ११८ । १३१ । १४३ । १५४ । १६४ । १७४ । १८३ । १९१ । ११९ । २०५ । २१० । २१५ । २१९ । २२२ । २२४ । २२५ ।

मरीचिः—अथ स्फुटक्रियादिग्रहकर्मणां साधनार्थं सूर्यादिभिरतीन्द्रियदृग्भिस्तदुपजीव्यभूतपदार्थो ज्यासंज्ञः कल्पितः । स्नायुभिर्वपुरिवेह निबद्धं ज्याभिरेव निखिलं ग्रहकर्मेत्युक्तत्वाच्च । तत्र तदानयनार्थं चतुर्विंशज्ज्यार्द्धपिण्डा क्रमादमी तत्त्वाश्विनो········इत्याद्युक्त्वाऽग्रे लिप्तास्तत्त्वयमैर्भज्या········ क्रमज्यास्वपिस्मृत इत्युक्तम् । तदत्र पृथग्ज्यापिण्डानामनुक्तत्वाज्ज्यार्धपिण्डा एव ज्यापिण्डा, अन्यथा विरोधापत्तेः । न च वैपरीत्येन ज्यापिण्डकं गतमित्यादावैव ज्यार्द्धपिण्डकमित्याद्यूह्यमिति वाच्यम् । सर्वत्राग्रे ज्यापदोपादानेन प्रत्येकं तदर्थेति गौरवात् । लाघवादेकत्रोक्तस्य ज्यार्द्धं पिण्डा इत्यस्य ज्यापिण्डत्वमुक्तम् । न च ज्यार्द्धपिण्डकथनपूर्वकज्यानयनस्योक्तत्वेन ज्यानयनावसरे ज्यार्द्धपिण्डानां द्वैगुण्यग्रहणेन ज्यासिद्धेर्युक्तत्वेन विरोधानापत्तिरिति वाच्यम् । तर्हि ज्यार्द्धं पिण्डानां निष्प्रयोजनेन लाघवाद्द्विगुणीकृत्य ज्यापिण्डनिबन्धनापत्तेः । "परमापक्रमज्यातु सप्तरन्ध्रगुणेंदव इत्युक्तं चतुर्विंशत्यंशज्यायाः भवद्रीत्या विसम्वादाच्च । तस्मादुक्तानां ज्यापिण्डनिबन्धनापत्तेः । परमापक्रमज्यातु सप्तरन्ध्रगुणेन्दव" इत्युक्तेश्चतुर्विंशत्यंशज्यायाः भवद्रीत्या विसम्वादाच्च । तस्मादुक्तांकानां ज्यापिण्डत्वे सिद्धे ज्यार्द्धपिण्डेति कथमुक्तम् । स्वायत्ते शब्दप्रयोगे किमित्यवाचकं प्रयोक्ष्यामह इति न्यायादित्यतः प्राचीनग्रन्थाभिप्रायं स्वोक्त्या प्रकटयन्नहमेतादृशं संशयग्रस्तं न वक्ष्ये इति शालिन्याऽऽह ॥ अर्द्धज्याग्रे········वेद्येति । ग्रहकक्षावृत्ते चक्रकलाङ्कितेऽहर्गणानीतग्रहस्य चिन्हे क्रियमाणे स्वकक्षायां मध्यसूत्रादर्द्धज्याग्रे ग्रहः तिर्यक्संस्थो जायते । अयमर्थः । ग्रहकक्षावृत्ते कोप्यवधिभूतः प्रदेशोच्चस्थानाङ्कितो मध्यशब्देनोच्यते । तस्मान्मध्याद्वलयगर्भस्पृग्वृत्तांतःसूत्रं मध्यसूत्रमुच्यते । तत्सूत्रान्तयोरुत्पन्नयोर्मत्स्ययोः सूत्रं तत्तुल्यं तदपि तदेव । मध्यसूत्रमेव गर्भसूत्रम् । तत्रोच्चतुल्ये नीचतुल्ये वा ग्रहे पूर्वं मध्यसूत्रस्थो भवतीति वक्ष्यमाणयुक्त्या फलाभावः । एवं वृत्ते यथा तत्सूत्रेण ग्रहस्यान्तर तथा

फलमपि वक्ष्यमाणयुक्त्योत्पद्यते । तथा च ग्रहस्थानासन्नपूर्वमध्यसूत्रान्तःस्पृग्वृत्तनेमिप्रदेशग्रहाश्रयीभूतवृत्तनेमिप्रदेशान्तरनेमिभागतुल्येनान्तरेण ग्रहापरभागेतादृशमध्य सूत्रान्तस्पृग्वृत्तप्रदेशाद्वृत्ते चिन्हं कार्यम् । तच्चिन्ह-ग्रहाचिन्हयोरन्तरसूत्रं वृत्तमध्ये ज्यासदृशध्य-म् । अन्तरसूत्र प्रान्तावच्छिन्नासन्नवृत्तभागचापसदृशः । अतो ग्रहो मध्यसूत्रादर्द्धज्याग्रे भवति । एवं द्वितीयमध्यसूत्रादपि अर्द्धज्याग्र भवति । तथार्द्धज्यान्तरेण येन कारणेन फलमुत्पद्यते तेन कारणेनार्द्धज्यया फलमुत्पादितभूत एतदुत्पन्नलक्षणेन ग्रहाणां सर्व स्पष्टाद्युपयुक्तं कर्म । गणितेतिकर्त्तव्यता अर्द्धज्याभिः साध्यते । अतो वस्तुभूतार्धज्यायाः साधनार्थं ज्यार्द्धपिण्डा एवोक्ताः पूर्वग्रन्थेन इति न क्षतिः । ननु वस्तुभूताया अर्द्धज्यायाः साधने पूर्वग्रन्थे ज्यापदयोगः सर्वत्र कथं युक्त इत्यत आह् । अर्द्धज्येति । अत्र पूर्वग्रन्थे स्वग्रन्थे च ज्याभिधानात् ज्यापदवाच्यः । अर्द्धज्या कर्मोपयुक्ता वेद्या । एवकारः सम्पूर्णज्यासूत्रव्यवच्छेदाय प्राचीनानां लाघवेन तथैव संकेतकल्पनात् । धनुःपदेनाप्यर्द्धधनुः । तादृशमध्यसूत्रान्तर्लग्नवृत्तप्रदेशादर्धचापाकारवृत्तप्रदेशान्तर्लाघवेन तथैव संकेतकल्पनात् ।

धनुःपदेनाप्यर्धधनुः । तादृश मध्यसूत्रान्तर्लग्नवृत्तप्रदेशादर्धचापाकार वृत्त प्रदेशान्तरेण ग्रहावस्थानादिति ध्येयम् । तथा चार्द्धज्यार्द्धचापयोर्हेतुभूतयोरपेक्षायां सर्वत्र केवलं ज्या धनुः शब्दौ प्रयुक्ताविति, न संशयग्रस्तत्वं मदुक्तस्येतिभावः । न च यथार्द्धज्यया गणितनिर्वाहस्तथा सम्पूर्णज्यारूपया द्विगुणयानयोक्तरीत्या निर्वाहो भवत्येव । गुणहारयोर्द्वैगुण्यनिबन्धनादिति कथं पूर्णज्यात्यागेन अर्द्धज्याग्रहणं युक्तमिति वाच्यम् । ग्रहफलादीनां मध्यसूत्रान्तरादुत्पत्तेस्तद्ग्रहयोरन्तरे सम्पूर्णज्याभावात् न्यूनाङ्कैर्गणितक्रियालाघवाच्च । अतएव क्रमज्योत्क्रमज्यकाङ्काभ्यामुक्ताभ्यां कृतियोगमूलं मध्यसूत्रान्तसंलग्नवृत्तप्रदेशग्रहाश्रयवृत्तप्रदेशान्तरवृत्तप्रदेशचापस्य सम्पूर्णज्या । अनया रीत्या ज्याङ्ककथने न सम्पूर्णतादृश ज्यासिद्धानुक्रमोत्क्रमज्यांकैस्तज्या सिद्धेश्चार्द्धज्याजीव्योपजीव्य ग्रहकर्म कथनं कथमुक्त मित्यपास्तम् । अथमूलभूतज्यासाधनं ज्यातो धनुरानयनं च श्लोकदशकेनाह "तत्वाश्विनोनन्द समुद्रवेदा..........लघु खण्डकैर्ज्येति"..........

एताः क्रमेण क्रमज्याः । अग्र उत्क्रमज्याया अपि साधनादत्र क्रमपदं तद्वारणार्थं चतुर्विंशतिसंख्यकास्तत्वाश्विन इति आद्युक्तांकमिताः स्वसाधनार्थमुपयुक्ता भवन्ति । सांख्यशास्त्रे पञ्चविंशतितत्त्वानां प्रसिद्धत्वात् तत्पदेन पञ्चविंशति संख्या । लोकशब्देन त्रिसंख्या स्वर्गमृत्युपातालभेदात् । ननु ब्रह्मगुप्तेन स्व सिद्धान्ते अर्द्धज्या मनुयमला मुनियमवेदावसुज्वलनषट्का इत्यादि श्लोकचतुष्टयेन या चतुर्विंशतिर्ज्या उक्तास्तार्विरोधादाह आद्यैरिति । आद्यैः सूर्यब्रह्मादिभिरार्षैर्निरुक्ताः । तथा च ब्रह्मगुप्तस्वीकृतानां कल्पितत्वान्मया सूर्याद्युक्तमेवांगीकृतमितिभावः । न च सर्वज्यानिबन्धनानन्तरमादौ आद्यैर्निरुक्ता इति वक्तुमुचितमिति वाच्यम् । लघु आर्यमहासिद्धान्ते षष्ठसप्तमज्यारूपाधिकोक्ता तद

युक्तमिति सूचनार्थं षष्ठसप्तमज्याङ्कयोर्मध्ये, आद्यैर्निरुक्ता इत्यस्य युक्तत्वात्। एवं सप्तमदशाष्टादशज्या रूपोना उक्तातदप्ययुक्तम्।

अत्र षोडशज्यायां "तुरंग सप्तग्रहलोचनानी"त्यत्र मूलग्रन्थानुरोधेन भुजंग-सप्तग्रहलोचनानीत्युक्तः पाठः। तथैव सूर्यसिद्धान्ते चतुर्विंशज्ज्यार्द्धपिण्डाः क्रमादमी।[1]

"तत्वाश्विनोऽङ्काब्धिकृता रूपभूमिधरर्तवः।
खाङ्काष्टौ पञ्चशून्येषा, वाणरूपगुणेन्दवः॥
शून्यलोचनपञ्चैकाश्छिद्ररूपमुनीन्दवः ।
वियच्चन्द्रा·································॥
रन्ध्रपञ्चाष्टकयमा··························।
षडम्बुलोचनगुणाश्चन्द्रनेत्राग्निवह्नयः ॥
यमाद्रिवह्निज्वलना रन्ध्रशून्यकृताग्नयः।
रूपाग्निसागरगुणा वस्वग्निकृतवह्नयः॥" इति॥

अथाग्रे उपयुक्तोत्क्रमज्यासाधनार्थं प्रसंगाल्लाघवाच्चतुर्विंशत्युत्क्रमज्या आह—अथेति शशि वेद इत्यादि·····सूर्यसिद्धान्तानुरोधेन "गगनाङ्कवेदा" इति युक्तः पाठः। अथ प्रसंगा "जिनांशमौर्व्यागुणिताकदोर्ज्या त्रिज्योद्धृता क्रान्तिगुण" इति वक्ष्यमाण "स्पष्टार्कदोर्ज्याजिनभागजीवया हता हृता व्यासदलेन जायते" इति "लल्लोक्तेन", भाजके दृश्यमानं विरोधं परिहरति। त्रिभज्येति। राशित्रयस्यानन्त-रोक्तज्यासाधन प्रकारेण या ज्या चतुर्विंशीसिद्धा भवति, सा साध्या। साध्य खण्डं स्यात्। चक्रकलातुल्यपरिधेर्व्यासार्धयोरैक्यान्न क्षतिः। अथ वक्ष्यमाण-खण्डकं शब्दाभिधेयमाह—खल्विति। तज्ज्ञैः—ज्याभेदज्ञैः। लल्लादिभिः। ज्यान्तराणि खण्डकानि प्रोक्तानि। खल्वसंशयम्। ज्याया अपि ज्याखण्डका-भिधेयत्वोक्तेः। तत्र प्रथमं खण्डं प्रथमज्यातुल्यमेव, तत्पूर्वं ज्याया अभावात्। तथा च "लल्लः" षड्विंशतिः शरयमा युगलोचनानीत्यादि·········ज्या खण्डकानि कथयामि अथवा पिण्डानि-इति।

दीपिका—ग्रहो वृत्ते भ्रमतीति प्राचीनानां सम्प्रदायः। तस्य केन्द्रं भूकेन्द्रमिति। भूमिगर्भाद्ग्रहगोलगामिनी या सरलारेखा सैव मध्यसूत्रशब्देनोच्यते। कक्षावृत्तमध्य-सूत्रसम्पातनिष्ठविन्दौ विद्यमाने ग्रहे, मध्यस्फुटयोरैक्यात्तदन्तराभावस्ततोऽन्यत्रान्तरस्य सत्वात्त-तोऽन्यत्र कक्षायां ग्रहस्थितौ मध्यसूत्राज्ज्यार्धान्तरे तिर्यक्स्थत्वं ग्रहस्येति क्षेत्र दर्शनेन स्पष्टमेव। पूर्णज्यायाः ज्याविधानादत उक्तं "अर्द्धज्याग्रे खेचरो मध्यसूत्रात्तिर्यक् संस्थ" इति। स्फुटीकरणस्य ज्याधीनत्वेनात्रगमात्तत्रादौ ज्यास्वरूपप्रतिपादनं समीचीनमित्यलं. विशेषवक्तव्येनैतत्सर्वं शिखायां विशेषेण दृष्टव्यमिति दिक्।

शिखा—आकाशीय किसी भी ग्रह का विम्ब उसके भ्रमण वृत्त में है। ग्रह विम्ब के गर्भ केन्द्र में होता हुआ कदम्ब प्रोत वृत्त जहाँ पर क्रान्ति वृत्त में लगेगा उस विन्दु को

[1] मरीच्युद्धृत पाठस्तु साम्प्रतिकोपलब्धसूर्यसिद्धान्ताद्भिन्न इव प्रतिभाति।

क्रान्तिवृत्तीय ग्रह स्थान कहेंगे। मेषादि सायन सम्पात से क्रान्ति वृत्तीय ग्रह स्थान तक जो क्रान्ति वृत्त का चाप है, उसे भुजांश चाप कहा है। नाड़ी क्रान्ति वृत्त के सम्पात से ग्रह भुजांश (९०°) नब्बे अंश तक हो सकता है, यह परम भुजांश है। इसी प्रकार द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पद में भी समझना चाहिए। अनन्त आकाश की ओर दृष्टि करने से एक गोल आकृति सामने दीखती है, उसी को हम ० शून्य इस संकेत से समझते हैं। इस शून्य वृत्त के चार भागों में प्रत्येक का नाम पाद है। इस चतुष्पाद वृत्त के पूर्ण भ्रमण काल का नाम ग्रह भगण भोग काल है। सौर गणित परम्परा से इस वृत्त का भ्रमण ३६० सौर दिन में हो रहा है। इसलिये $\frac{३६०}{४}$ = ९०°, यह एक पाद का मान हुआ। इसे हम वृत्त का चतुर्थ अंश होने से ९०° नव्वे अंश कहते हैं। अ से क तक जो चाप अ क नाम का है उसका मान ९०° नव्वे अंश है, और इस वृत्त का मापक, <कोण अ ग क भी ९०° का हुआ—ऐसा भी कह सकते हैं। इस कोण के ९० विभाग कर प्रत्येक विभाग को १° एक अंश कहेंगे। तथा इससे भी सूक्ष्म विभाग करें तो एक अंश के ६०वें भाग का नाम १ कला एवं विकला आदि की भी कल्पना होगी।

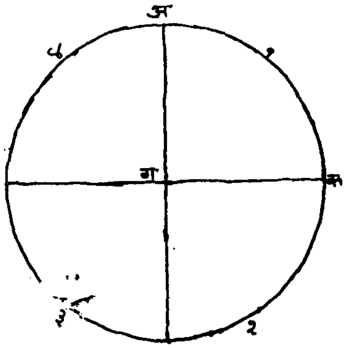

यह शंका हो सकती है कि वृत्त के चतुर्थांश की कल्पना सौर दिन की प्रत्यक्षता से-$\frac{३६०}{४}$ = नब्बे ९०° तो ठीक है किन्तु १ अंश के ६० विभाग करने की उपपत्ति क्या है?

यहाँ पर भी हम १ अंश भोग काल को १ सौर दिन कहते हैं। ६ प्राण (असु) चलने में जो काल मध्यमाधिकार में कहा गया उस पद्धति को समझ कर १° एक अंश भोग में जो समय लगा है, उसे हम ६० घटी या २४ घण्टा के माप से वैज्ञानिक परम्परा से माप चुके हैं। इसलिये १° एक अंश में ६० ही विभाग होंगे क्योंकि "अंश भोगने सौर-दिनम्" यह सुस्पष्ट है। इत्यादि।

इस प्रकार ग्रह का जो चापीय राशि अंश कलादि के मान का स्थान-क्रान्ति वृत्त में है, उस चापात्मक प्रदेश का सरलात्मक मान क्या होगा? इसका जानना नितरां आवश्यक है। क्योंकि स्पष्टीकरण का समग्र गणित ज्या के आधीन होने से ज्या का स्वरूप प्रतिपादन करना अत्यावश्यक है। धनुष में जो चाप है उसकी प्रत्यञ्चा (सरल डोरी) का नाम पूर्ण-ज्या है—इसी अभिप्राय से चाप का नाम धनु: और इसकी ज्या का दूसरा पर्याय नाम जीवा भी कहा है।

संहिता शास्त्र में किसी भी वृत्त का ९६वां भाग सरलाकार होता है "वृत्तस्य षण्णवत्यंशो दण्डवत्परिदृश्यते" ऐसा निर्देश मिलता है। एक वृत्त की १२ राशियों की १२ × ३० × ६० = २१६०० कलाएं होती हैं। $\frac{२१६००}{९६} = \frac{१८००}{८}$ = २२५ कला का चाप

सरलाकार देखा गया है। इसलिये एक वृत्त के चतुर्थांश की ३ राशियों की, ७ × ३० = ९० अंश के ९० × ६० = ५४०० कला का, अथवा १५ घटी (६ घण्टा) × ६० = ९०० पल के असु (प्राण, ९०० × ६ = ५४०० असु का, $\frac{९६}{४}$ = २४वाँ भाग भी $\frac{५४००}{२४}$ = २२५ कला अथवा असु, इस प्रथम चाप २२५ की ज्या भी = २२५ के ही तुल्य कह सकते हैं। इससे १ वृत्तपाद में २४ ज्या होंगी यह भी सिद्ध हो रहा है। इस प्रकार के २४ चापों की भी २४ ही ज्या और २४ ही उत्क्रम ज्या भी होंगी जो आचार्य ने पृथक् पृथक् बता दी हैं।

१ × २२५ = प्रथम चाप। २ × २२५ = ४५० द्वितीय चाप। एवं २२५ × ३ = ६७५ तृतीय चाप इत्यादि। इसी प्रकार प्रथम ज्या २२५ द्वितीय ज्या ४४९ तृतीय ज्या = ६७१ पढ़ी हैं। आधुनिक त्रैकोणमितिक गणितों में सूक्ष्मज्या और कोटिज्या आदि के साधन के सरल से सरल एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रकार सर्वत्र सुलभ हैं। आर्यभट ने भी "अर्धज्यैव ज्या विधानादत्र वेद्या" इस अभिप्राय से पूर्णज्या को समस्त ज्या और इसकी अर्धज्या को अर्धज्या कहा है। जैसे मखि भखि फखि धखि णखि ञखि ङखि हस्क स्वकि किषा श्घकि किघ्व घ्ल कि कि ग्र हक्य धा हा स्त स्मगश्कङ्व "ल्क प्र फ छ कलार्धज्याः"—इस प्रकार अग्रिमज्या और गतज्या के अन्तर का नाम ज्या खण्ड भी कहा है। आर्यभट के मत से ये—२२५, २२४, २२२, २१९, २१५, २१०, २०५, १९९, ११७, १८३, १७४, १६२, १५४, १४३, १३१, ११९, १०६, ९३, ७९, ६५, ५१, ३७, २२, ७ ज्या खण्ड हैं। १२ वीं १५ वीं और १६ वीं में भास्कराचार्य की अपेक्षा २ और १ का न्यूनाधिक अन्तर स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

यहाँ पर भास्कराचार्य ने जो २४ ज्या पढ़ी हैं, उनकी प्रामाणिकता के लिये अपने वासना भाष्य में—"अत एव सूर्यसिद्धान्तार्यभटतन्त्रेस्वेतान्येव"—आर्य भट और सूर्य सिद्धान्तानुसार-भी यही ज्या लाई गई हैं, ऐसा भी कहा है।

आधुनिक सूक्ष्म ज्या साधन प्रक्रिया से १ करोड़ व्यासार्ध माप के वृत्त में,

$$\text{प्रथम ज्या} = २२४ + \frac{८५५८५७८}{१००००००००}$$

$$\text{द्वितीय ज्या} = ४४८ + \frac{७५२५१३६}{१००००००००}$$

$$\text{तृतीय ज्या} = ६७० + \frac{७२०४५१४}{\text{१ करोड़}}$$

प्रायः विकसित गणित के ज्या गणित की इस नवीन प्रणाली की अपेक्षा अपनी प्राचीन ज्या प्रणाली में कोई विशेष उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। क्योंकि भाज्य और हर का स्वल्पान्तरित सम्बन्ध १ एक के तुल्य हो जाने से भास्कराचार्य का ज्या गणित आधुनिक गणित की सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट मेल खाता है।

दो आसन्न जीवा से लाघव प्रकार से अन्य ज्या साधन करने के लिये म०म० सुधाकर द्विवेदी का निम्न प्रकार उल्लेखनीय है :—

गत ज्या=ज्या (इ—प्र)

ऐष्य ज्या=ज्या (इ+प्र)

अतः, ग ज्या+ऐष्य ज्या=ज्या (इ—प्र)+ज्या (इ+प्र)

$$= \frac{\text{२ ज्या इ. को ज्या प्र.}}{\text{त्रि}} \text{ [त्रिकोण मिति से]}$$

$$= \frac{\text{२ ज्या इ}}{\text{त्रि}}\left(\text{त्रि} - \frac{\text{त्रि}}{\text{४६७}}\right)$$

$$= \text{२ ज्या इ}\left(\text{१} - \frac{\text{१}}{\text{४६७}}\right)$$

द्विगुणित जीवा में इसी का ४६७ वाँ भाग कम करने से आगे की बड़ी जीवा हो जाती है। इसी प्रकार आसन्न की दो जीवा के ज्ञान से सभी जीवा निकाली जा सकती हैं। भास्कराचार्य की ज्योत्पत्ति प्रकरण में इस पर विशेष विचार किया जावेगा।

इस नवीन प्रणाली से भी यदि देखा जाय तो ("अर्धाधिके रूपं ग्राह्यमर्धाल्पे-त्याज्यम्") भाजक के आधे शेष से अधिक शेष में लब्धि में १ जोड़ कर कम में १ घटाने की प्राचीनों की उक्ति का गणित में व्यवहार करने से हमारे प्राचीन आचार्यों का ज्या गणित सुतरां सूक्ष्म है। ६, ७, और १६ वीं में १ का अन्तर पड़ रहा है, विचारणीय है। सभी की तुलना में ज्या और चाप के साधन में भोग्य खण्ड की स्पष्टता का भास्कराचार्य का ज्या साधन प्रकार सूक्ष्म है जो विशेष महत्त्व रखता है (आगे के श्लोक १७ और १८ में देखिये)

इदानीं ज्यासाधनमाह —

तत्त्वाश्विभक्ता असवः कला वा
तल्लब्धसङ्ख्या गतशिञ्जिनी सा ॥ १० ॥
यातैष्यजीवान्तरशेषघातात्
तत्त्वाश्विलब्ध्या सहितेप्सिता स्यात् ।

वा० भा० :—यदि कलानां जीवाः साध्या, स्तदा ताः कलास्तत्त्वाश्विभिः २२५ भाज्याः; यदि कालावयवस्य तदाऽसवस्तत्त्वाश्विभिर्भाज्याः। यल्लब्धं तत्संख्या गतज्या ग्राह्या। यातैष्यजीवयोरन्तरस्य शेषकलानाञ्च घातात् तत्त्वाश्वि-भक्ताद् या लब्धिः, तया लब्ध्या सहिता सती ईप्सिता स्यात्।

ग्रह गोलाध्याय की ज्योत्पत्ति प्रकरण में भी आसन्नजीवा से अन्य ज्या साधन का यह प्रकार (FROLA) भी भास्कराचार्य ने पहिले ही बता दिया था।

अत्रोपपत्तिः:—चतुर्विंशतिः किल ज्यार्द्धानि। वृत्तचतुर्थांशे कलाः खखाब्धिविषयाः ५४००। आसां कलानां चतुर्विंशतिभागस्तत्त्वाश्विनः २२५। अतो गतकलासु तत्त्वाश्विहृतासु गतज्या लभ्यते। अथ वृत्ते ज्याग्रयोरन्तरं तत्त्वाश्विकलामितधनुःखण्डम्। यद्यनेन धनुःखण्डेन गतागतज्यान्तरतुल्यं ज्याखण्डं लभ्यते, तदा शेषकलातुल्येन किम्? इति। फलेन युक्ता सती गतज्येप्सिता स्यादित्युपपन्नम्।

मरीचिः—तत्वाश्विभक्ता इति असवः। यदि कालस्य ज्या साधनमिष्टम्, तदा पञ्चदशघट्यन्तर्गतस्य तत्कालस्योक्तपरिभाषानुरोधेनाऽसवः कार्याः। यदि ग्रहराश्यादिकस्य, तदा तस्य राशित्रयान्तर्गतस्य, परिभाषया कलाः कार्या इति। वा शब्दो बिकल्पार्थः। अन्यथा पञ्चविंशत्यधिकद्विशतकलासूक्तप्रकारेण पञ्चविंशत्यादि लवेन ज्यानयनासंभवापत्तेः। पञ्चविंशतियुतशतद्वयभक्तास्तल्लब्धसंख्या गतशिञ्जिनी ज्ञाता स्यात्। भागे यल्लब्धं तत्संख्याश्चतुर्विंशज्यासु या ज्या भवति सा गतज्या। इयं गताग्रिमज्ययोरन्तरेण भोग्यखण्डेन गुणिताच्छेषकलासमूहात्पञ्चविंशत्यधिकशतद्वयभक्ताद्यालब्धिः तया युक्तेप्सितेष्टज्या स्यात्।

दीपिका:—गतेष्टज्ययोरन्तरतुल्यमेवेष्टज्यायाः वृद्धिस्तेन तदन्तरमिलिता गतज्याऽभीष्टा भवतीति स्फुटमित्येतदानयनार्थमुपायः स च शिखायां दृष्टव्यः।

शिखा:—असु अथवा कलाओं में २२५ से भाग देने से लब्धि संख्या तुल्य गतज्या होती है। शेष कलाओं को गतैष्यज्याओं के अन्तर से गुणा कर २२५ से भाग देने से प्राप्त ज्यावृद्धि को गतज्या में जोड़ने से अभीष्ट ज्या हो जाती है। गतज्या और इष्ट ज्या के अन्तर के तुल्य अग्रिम ज्या वृद्धि को जानने का उपाय निम्न लिखित है। जैसे इस क्षेत्र में[1]:—

अ क = ग त चाप
अ घ = एष्य चाप
क स = गत ज्या = ग ज्या
घ त = ऐष्य ऐज्या = ज्याऐ
घ च = गतगम्यज्यान्तर = ऐ ज्या — ग ज्या
ग न = इष्ट ज्या = इ ज्या
क घ = २२५
क ग = शेषांश = शे
ग प = गत ज्या और इष्ट ज्या की अन्तर रूप ज्या वृद्धि।

यहाँ क घ च, क ग प दोनों त्रिभुजों को सरल और सजातीय मान कर ग प का ज्ञान करना चाहिए। अर्थात् क घ = २२५ में, घ च = गत गम्य ज्यान्तर पाते हैं, तो शेष क ग चाप में क्या मिलेगा? $\frac{(\text{एज्या} - \text{ग ज्या})\ \text{शे}}{२२५}$ = ग प। इसको न प के तुल्य क स में जोड़ने से ग न इस इष्ट ज्या का ज्ञान हो जावेगा। यहाँ पर यह गणित कुछ स्थूल है

क्योंकि चापाकार कर्ण को सरलाकार माना गया है। जीवाओं की संख्या जो २४ ही

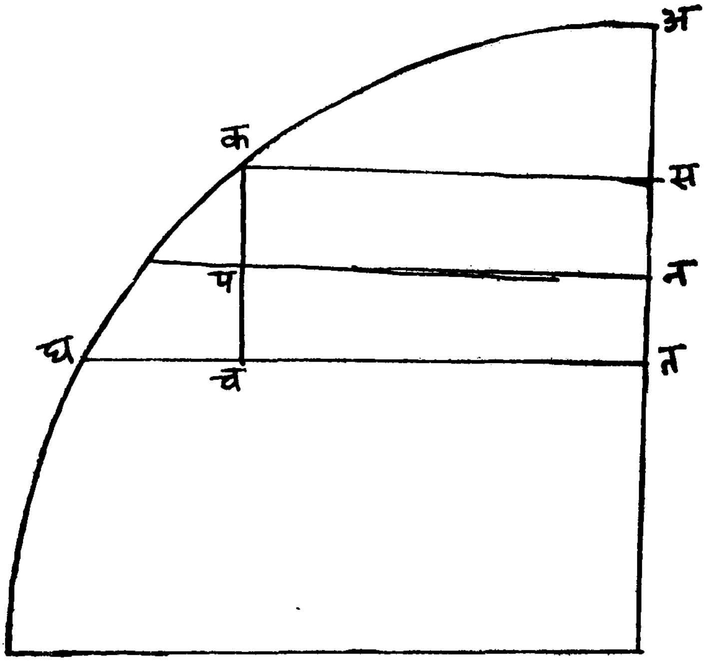

मानी गई हैं, इनसे जैसे-जैसे अधिक संख्याएं यदि मानी जावेगी तब तैसे-तैसे यह प्रकार भी सूक्ष्म से सूक्ष्म हो सकता है।

अथ धनुःकरणमाह।—

जर्यां प्रोज्झ्य तत्त्वाश्विहतावशेषं
यातैष्यजीवाविवरेण भक्तम् ।। ११ ।।
जीवा विशुद्धा यतमाऽत्र तद्घ्नै-
स्तत्त्वाश्विभिस्तत् सहितं धनुः स्यात् ।

वा० भा० :—यस्य धनुः कार्य्यं, तस्माद् या जीवा विशुध्यति सा शोध्या। शेषात् तत्त्वाश्विगुणाद्गतागतज्यान्तरहृताद्यल्लभ्यते तत् स्थाप्यम्। ततो यतमा जीवा विशुद्धा, तद्गुणितैस्तत्त्वाश्विभिः सहितं धनुः स्यात्।

मरीचिः—अथ धनुरानयनमाह। ज्यामिति। अत्रऽभीष्टज्यायां ज्यामुक्त-चतुर्विंशत्यंतर्गतास्वासन्नामनधिकामित्यर्थः। प्रोह्य-संशोध्य शोधितज्या-तदग्र-

[1] इस क्षेत्र में न विन्दु से अ घ, चाप की तरफ बढ़ती हुई न प, रेखा का चाप के साथ जहाँ संयोग हो रहा है, वहीं पर "ग" विन्दु है जो क्षेत्र में छूट गया है।

ज्ययोरंतरेण भोग्यखंडेन तत्त्वाश्विहृतं भक्तं च तच्छेषं भक्तं यत्फलं तत् शोधितज्या यतमातत्संख्यागुणितैस्तत्वांश्विभिः युक्तं धनुः कलामानं स्यात्।

अथ प्रसंगात्क्रांतिज्यानयनोपयुक्तां चतुर्विंशत्यंशज्यां सिद्धां लाघवादाह- "अश्वांकविश्वे" इति। अत्राऽष्टाग्निवेदराममितेत्रिज्यानुरोधे चतुर्विंशदंशज्यात्र्यून-चतुर्दशशतमिता।

अथैतज्जीवाऽतो वक्ष्यमाणगणितकरणांकबाहुल्येन श्रमाधिक्यमतआह- यद्वेति। सुखार्थं तत्छ्रमं विना गणितसिध्यर्थं लघूनि स्वल्पानि च तानि खण्डकानि तैरुक्तचतुर्विंशतितोन्यून खण्डेरित्यर्थः। लघूनि स्वल्पप्रमाणानि च तानि खण्डकानि च तैरुक्तज्या सुज्ञातखण्डानीमानि तेभ्यो प्रमाणौ खण्डकैरित्यर्थः, लघुखण्डकैः— समनन्तरोक्तैर्ज्योऽर्द्धयुक्ता साध्या ज्याचापयो स्साहचर्याद्धनुरपि इत्यर्थसिद्धं ध्येयम्। [1]अत्र प्रथमाऽष्टम-नवम-दशम-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठसप्तमवृत्तानामुपजातिकाञ्च षष्ठवृत्तविपरीतस्थानिकत्वम्।

अत्रोपपत्तिः। क्रान्तिवृत्तादिषु भगणभागाँकितेषु गोलस्वरूपेषु धनूरूपेषु तेषु जीवोपचये फलोपचय दर्शनेन-जीवातु यातेनैव वक्ष्यमाणसर्वफलानयनमुचितमिति, मत्वा सोम-सूर्यादिभिरतिविस्तरैः क्रियागौरवशंकया षण्णवतिरेवार्धज्याः कल्पितासु नवतिभागोपलक्षित वृत्तचतुर्थांशे प्रत्येकं तुल्यस्वरूपतयां संस्थितिसांम्ये चतुर्विंशतिरेव संपद्यत-इति। तथाहि-जलवत्समीकृतायां भूमावभीष्टेन दीर्घतमेन कर्कटकेन वृत्तमुल्लिख्य तस्य क्रांतिवृत्तासंज्ञां कृत्वा षड्शताधिकैकविंशतिसहस्रमितकलाभिः सममेवांकितं कृत्वा तस्य शलाकादीना षण्णवत्यंशंसाधितेनापि प्रकारेण षण्णवतिभागसमानेव कलाचिन्हप्रदेशान् कृत्वा तत्प्रदेशभागानां षण्णवतिमितानां वृत्ते यत्राऽर्ध भवति, तत्रैकं सूत्रं, रेखां वा विशिष्टां प्रकल्प्य, वृत्तस्य दलद्वयं कुर्यात्। तद्रेखातांन्मत्स्यतुल्यामन्यरेखां वृत्ते कुर्यात्, एवमेकारेखा पूर्वापर दिग्रेखा प्रकल्प्य, तदितरा दक्षिणोत्तरेति। तत्र षण्णवतिभागैश्चक्रकला: २१६०० तदेकभागेन कान्यनुपातेन षण्णवत्यंशे तत्त्वाश्विमिताः कला: २२५ भवन्तीति तदन्तरे प्राग्रेखायास्तदन्तरेणोभयचिह्नयोः सूत्रं जीवाकारं भवति। एवं प्राग्रेखाग्रात् उभयतस्तुल्यान्तरेण विद्यमानयोश्चिह्नयोः सूत्रं वृत्ते ज्या स्यात्॥ तथा च वृत्तेऽष्टचत्वारिंशज्या भवन्ति। पूर्वार्धे चतुर्विंशतिज्याः। एताः सम्पूर्णा इति। वृत्तचतुर्थांशे सम्पूर्णज्याधार्धज्याकारमिति तत्र चतुर्विंशतिरेव ज्यार्धानिति। एषामेव पूर्वश्लोके सर्वगणितोपजीव्यत्वोक्तेश्चतुर्विंशतिज्यार्द्धानि निबद्धानि। तत्र वृत्तचतुर्थांशेऽतिमज्यार्धचतुर्विंशवृत्तव्यासार्द्धं भवतीति वृत्तपरिधिव्यासार्द्धमेवांतिमज्या वृत्ते चक्रकलांकितत्वेन कलात्मकः परिधिरयं २१६०० खखषड्स्वर्गमितः। अस्मात्—

व्यासे भनंदाग्निहते विभक्ते खबाणसूर्यैं परिधिस्ससूक्ष्म—

[1] अत्र ग्रन्थे कियानंशो त्रुटित इति भाति।

इत्युक्तवैपरीत्येन व्यासः कलात्मकः। ६८७५। २८। ३५ अस्यार्द्धम् व्यासार्धम्। ।३४३७।४४।१७ इदमन्तिमंचतुर्विंशज्यार्द्धं तत्र स्वल्पांतरादधोवयवस्यैको गृहीतः, तेनेदं ३४३८ जातम्।

यद्वा वृत्तेपरिधिमानस्य काल्पनिकत्वेन व्यासार्द्धं तत्तुल्यं युक्तमेव गजाग्निवेदाग्निमितव्यासार्द्धादुक्तप्रकारेण चक्रकलातो भिन्नपरिधेस्तत्र सत्त्वात्। वृत्तचतुर्थांशे राशित्रयाङ्कितेश्चतुर्विंशज्यार्द्धस्यैवांतिमव्यासार्द्धमेव त्रिराशिज्या। अत एव त्रिज्यामानमिष्टं सम्भवति। एवं तत्र यानि ज्यार्द्धानि उक्तानि, तानि त्रिज्यानुकूलान्येव यथोपचयमुत्पद्यन्ते इति। सम्पूर्ण जाग्रयोरवधित्वेन यो वृत्तभागोऽनुधिकः तत्सम्पूर्णं धनुः, तदर्द्धमर्द्धं धनुरिति, तत्र चतुर्विंशतिधनुःखण्डानि। ज्याचापान्तरे यो प्राग्रेखाप्रदेशः, साक्रमज्या। ता अपि तत्र चतुर्विंशतिरित्युपनिबद्धाः। क्रमज्यासम्बन्धेन ज्यामानांकोत्पत्तिस्तु सूर्यसिद्धान्ते।

राशिलिप्ताष्टमो भागः प्रथमं ज्यार्धमुच्यते।
तत्तद्विभक्तं लब्धोनमिश्रितं तत् द्वितीयकं॥
आद्येनैवं क्रमात्पिंडान् भक्त्वा लब्धोनसंयुताः।
खण्डकाःस्युश्चतुर्विंशज्यार्द्धं पिण्डाः क्रमादमीति"॥

अस्यार्थः। एकराशौ याः कलास्तासा १८०० मष्टमोऽशः २२५ प्रथमज्यार्द्धमुच्यत इत्यनेनावास्तवत्वेऽपि स्वल्पान्तरेणांऽगीकृतमित्यदोषः। अन्यथा प्रथमचापज्ययोस्तुल्यत्वेन दोषापत्तेः तन्मानयोर्युक्त्या तुल्यत्वा सम्भवात्।

द्वितीयज्यार्द्धानयनमाह तदिति। तत्-प्रथमज्यार्द्धं २२५ तद्विभक्तार्द्धं तेनाऽर्धज्यार्धेन २२५ भक्तं १ भागे यल्लब्धं, तेन लब्धेन ऊनम्-हीनम्। अत्रापि तदित्यस्यापचयात्प्रथमम्। ज्यामिति २२४ अनेन निष्पन्नेन मिश्रितम्-युक्तम् तत्-प्रथमज्यार्द्धं २२५ द्वितीयज्यार्द्धं भवति ४४९॥ आदिज्यार्द्धानयनार्थमुक्तप्रकारमेवऽतिदिशन्नाह-आद्येनेति। एवमुक्तरीत्या पिंडान्। जातमानज्यार्द्धंपिण्डान्। प्रथमज्यार्द्धेन २२५ भक्त्वा क्रमात् लब्धोनितं, यानि लब्धानि तैरूनम्। अत्रापि तदितरस्यापचयात्। प्रथमज्यार्द्धं लब्धैक्योनम्। अनेन भविष्यत्पिंडाव्यवहितपूर्वपिंडयुतः अग्रिमखण्डकस्स्यात्। एवमुत्पन्नाश्चतुर्विंशतिखण्डा। एते ज्यार्द्धपिण्डाः क्रमात् भवन्ति इत्यर्थः। यथा तृतीयखण्ड ज्ञानार्थे आद्यद्वितीयपिंडौ २२५।४४९ आद्य पिंड २२५ भक्तौ प्रथमपिंडस्थाने लब्धमेकं १, द्वितीयपिंडस्थाने लब्धं द्वयं २, अर्धाभ्यधिकावयवस्यैकत्वेन ग्रहणस्य साम्प्रदायिकत्वात्स्वल्पान्तरत्वाच्च लब्धैक्योनं ३ प्रथमज्यार्द्धं २२२ अनेन द्वितीय खंडो ४४९ युतस्तृतीयखंडो जातः ६७१, अयं तत्त्वाश्विभक्तोपलब्धं स्वल्पान्तरेण, ३ पूर्वं लब्धैक्यं युत्तं ६, अनेन तत्वाश्विनो हीनाः २१९। एतैस्तृतीयखण्डकयुतं जातं चतुर्थम् ८९०॥ इदंतत्वाश्विभक्तं ४ अनेन पूर्वं योजके २१९ हीने २१५ अनेन चतुर्थम् ८९० युतं पञ्चमं जातम् ११०५ अस्माल्लब्धेन ५, पूर्वयोजको हीनो २१० तेन युतं

षष्ठं जातम् १३१५, पुनरस्मादाद्यांशम् ५। अत्राऽर्धाभ्यधिकावयवस्य त्यागात्। अनेन पूर्वयोजको २१० हीनो २०५ तेन युतं जातं सप्तमं १५२०। अस्मादर्धाभ्यधिकावयवत्यागेन लब्धं ६, एतदूनं पूर्वं, १९९, अनेन युतं जातमष्टमम् १७१९, अस्मादाद्याप्तात् ७, अर्धाभ्यधिकावयवस्यैकत्वेन व्यवहारात्पूर्वरीत्या जातं नवमम् १९१०। अस्मादाद्यांशात्, अर्धोनत्वेऽवयवत्यागस्य साम्प्रदायिकत्वात्, पूर्वरीत्या जातम् दशम् २०९३, अतः पूर्वरीत्या एकादशं २२६१, अस्माद्द्वादशं २४३१, अस्मादप्याद्याल्लब्धमर्धोधिकावयवस्य त्यागेन १०, अतस्त्रयोदशम् २५८५। अस्माच्चतुर्दशम् २७२८। अतः पञ्चदशम् २८५९। अस्माल्लब्धमधिकावयवत्यागेन १, अतः षोडशं २९७८। अतः सप्तदशम् ३०८४। अस्मादतोऽर्धाधिकावयवत्यागेन लब्धम् १३। ततो जातमष्टादशम् ३१७७। अतः, एकोनविंशम् ३२५६। अतो विंशतितमम् ३३२१। अर्धाधिकावयवत्यागे लब्धम् १, अत एकविंशतितमम् ३३७२। अर्धाधिकावयवत्यागेनातोलब्धं २४ अतो द्वाविंशतितमं ३४०९। अतस्त्रयोविंशं ३४३४।३११ अतश्चतुर्विंशं त्रिज्या व्यासार्द्धे ३४३८, यद्यप्यत्र षट्-सप्त-द्वादश-पचदश-सप्तदश-विंशत्येकविंशति-पिंडमानेभ्योऽपि सम्प्रदायानुरोधस्य सर्वत्र तुल्यत्वेनार्धाभ्यधिकावयवस्यार्धाधिके, एकाधिकग्रहणमुचितम्। तेन च सूर्यसिद्धान्तोक्तचतुर्विंशज्यार्द्धानां कथितांकानामनुक्तावपि तथापि—

"एकविंशाच्च विंशाच्च षष्ठात्पंचदशापि।
सप्तमाद्द्वादशात्सप्तदशान्नार्द्धोत्तरं मतमि"ति॥

बृहत्सूर्यसिद्धान्त वचनेन तदग्रहात्। अत एव सूर्यसिद्धान्तोक्ता ज्योत्पत्तिरतिस्थूला। यतः कानिचित्खंडान्युत्पद्यन्ते, कानिचिन्नोत्पद्यन्ते। किं बहुना परास्ता लक्ष्मीदासकृतसिद्धान्तशिरोमणिटीकायां ज्योत्पत्तिव्याख्यानोदाहरणांते लिखितबृहत्सूर्यसिद्धान्तवचनस्य दर्शनात्। अत उपपन्नं तत्त्वाश्विन इत्यादि क्रमज्याइत्यंता। ननु सूर्योक्तरीत्योपपन्नमपियुक्त्या नोपपन्नमितिचेत्? सूर्योक्तस्यापाततःसयुक्तिकत्वेनोपन्नं सम्यगेव। तथाहि—प्रथमषण्णवत्यंशे तत्त्वाश्विकतामिते धनुष्यर्धे ज्याया अपि स्वल्पान्तरेण तद्रूपाभासत्वे प्रथमज्याचापकलातुल्या वृते प्रथमचापकलानां चक्रकलाषण्णवत्यंशसमत्वाल्लाघवेनैकराशिकला-ष्टमांशत्वमपि युक्तमत उक्तं राशिलिप्तेत्याद्यम्। अथाग्रिमजीवाप्रथमज्याया येनान्तरेणास्ति दैकज्ञाने द्वितीयजीवानयनज्ञानं स्यात्। अतो द्वितीयखंडज्ञानं तृतीयज्यां विनापेक्षितमेवं द्वितीयजीवातस्तृतीयजीवा येनान्तरेण तदन्तरमग्रिमविनाऽपेक्षितमेवमन्यत्राऽपि। तस्मात् प्रत्येकं ज्यान्तररूपाणि खडकान्यानेयानि।

तत्र प्रथमं खंडं प्रथमज्यादितुल्यम्। द्वितीयं प्रथमज्योनद्वितीयज्या तुल्यमेवमग्रेऽपि। एवमत्र वृत्ते ज्यांतराणां यथोत्तरमपचयदर्शनात् तत्तत्खंडकानामन्तरं क्रमेणोपचितं भवति। ततस्त्रिज्या यदा ज्याभवत्यंते तदा ज्याखंडकमंतरम् परमितम्। पूर्वग्रन्थानीतद्वाविंशत्यादिज्याभ्यो ज्यांतररूपखंडद्वाराज्ञातम् १५।१६।४८। ततोऽनुपातः, यदि त्रिज्यया खंडान्तरमिदं, तदा प्रथमज्यया

किमिति गुणहरौ प्रथमखंडान्तरत्रिज्यारूपौ गुणेनापवर्तितौ जातौ गुण १ हरौ २२५। अतः प्रथम ज्या हरभक्ता फलं प्रथमखंडं द्वितीयखंडान्तरं स्यादिदं प्रथम खंडे प्रथमज्यातुल्ये हीनं द्वितीयं खण्डकं स्यात्तेन प्रथमज्यायुता द्वितीयज्या-स्यादिति किं चित्रम्। अत, उपपन्नं तदित्याद्यर्थम्। यत्तु तत्त्वाश्विमितचाप-जीवया प्रथमद्वितीयखण्डयोरन्तरमेकतुल्यं लभ्यते तदेष्टज्यया किमित्यनुपातेन खण्डकान्तराणीति। तन्नाश्रयजीवाप्रमाणकानुपातस्य युक्त्यभावादसंगतत्वात्। द्वितीयखण्डज्ञानाभावात्तयोरन्तरस्यैकमितत्वेनचासिद्धेश्च। एवमुक्तानुपाते नयज्ज्या-याः खण्डान्तरमानीयते तत्पूर्वखण्डे हीनमग्रिमज्यायाः अन्तरं खण्डरूपंस्यात्, गतज्याः यावत्यस्ताः हरभक्ताः फलैक्येन प्रथमखण्डहीनमग्रिमज्यासम्बन्धि-खण्डकं भवतीति वा। इदं पूर्वज्यायां युतं तदग्रिमाज्यास्यादित्युपपन्नमाद्येनैवं क्रमादित्यादि। अथ यत्परमखण्डान्तरम्, तदपि···तस्मादधिकं गृहीतमित्यनुपातेन खंडातरानयनं न सम्भवतीति।

श्रीभगवता सूर्येण लोकानुग्रहार्थं परमकारुणिकेन हठात्तद्रीत्या तदानयनं कर्तुमिति षट्सप्तद्वादशादिषूक्तेष्वानीतखण्डान्तरस्यावास्तवत्वेनाग्रिमजीवाया उक्त-रीत्या विसम्वादापत्तिभिया भगवता सूर्येण बृहत्स्वसिद्धान्ते स्वप्रकारस्य शुद्ध-त्वस्थापनार्थमेकविंशादित्याद्युक्तम्। यद्वा सूर्योक्तस्य वेदवत्सत्वमाणञ्चेन्नतद्री-त्योपपन्नस्य युक्त्यानुपपन्नत्वेऽपि वाधकाभावात्। तदुक्तं ब्रह्मसिद्धान्ते "श्रुतिर्यत्र प्रमाणं स्याद्युक्तिः का तत्र नारदे"ति। एतेन प्रथमज्या स्थूलत्वेन ज्ञाता, ततो वृत्ते प्रथमज्याभुजस्त्रिज्याकर्णस्तद्वर्गान्तरपदं कोटिरित्यानीता। ततस्त्रिज्यातुल्य कोटिज्यया प्रथमज्यारूपं परमज्यान्तरं लभ्यते तदेष्टकोटिज्यया किमिति, द्वितीयं खण्डम्। एवं द्वितीयज्यातः कोटिज्यामानमुपपाद्य, उक्तरीत्या तृतीयं ज्यान्तरमेव-मग्रेपीत्युपपत्त्या ज्या आनीतास्ततः कल्पितयुक्तिं स्वकीयां मन्यमानः, प्रागल्भयोर्मूल-मौर्वीदलतोऽखिलानि जीवादलान्यानयति क्रमेण। मन्यामहे तं गणितज्ञचक्र-भचक्रचाराकलने···इति प्रकाशितं तत्सर्वं निरस्तं सूक्ष्माज्यासाधनात् तत्संयुक्ता-त्प्रथमदलतः स्याद्द्वितीयं तथैवम्। यद्यातैष्यांतरयुतिदलं ज्यांतरं तत्स्फुटं स्यादेवं सर्वाण्यपि···भवंति क्रमेणेति, सूक्ष्मसाधनेतु एतद्युक्तेर्गत्यानयने भास्कराचार्ये-णाङ्गीकारादत्रभवदीयस्त्वात्। किं च भवत्प्रतिज्ञाभंगः, तथा हि—प्रथमज्यातः कोटिज्या त्रयोविंशी, चतुर्विंशीत्रिज्या एवंजीवात्रयेणाग्रिमज्या सिद्धौ या ज्या मूलमौर्वीत्यादिप्रतिज्ञाप्रागल्भ्यं दत्तजलाञ्जलिकं स्यात्। सूर्यसिद्धान्ते प्रथमज्यातः स्वोत्पत्तिप्रकारस्य प्रसिद्धत्वाच्चेदित्यलं परदोषगवेषणाय।

उत्क्रमज्योत्पादनन्तु कोटिक्रमज्योनात्रिज्या भुजो क्रमज्येति वक्ष्यमाण-प्रकारेण प्रथमज्यायाः कोटिज्या त्रयोविंशी तदूनत्रिज्या प्रथमोत्क्रमज्या। द्वितीय-ज्यायाः कोटिज्या द्वाविंशी, तदूनत्रिज्या द्वितीयोत्क्रमज्या। एवं यदीयकोटिज्योनात्रि-ज्यातदीयसंख्याका क्रमज्या भवतीति वृत्ते प्रत्यक्षम्। अत एव प्रोक्तोत्क्रमेण व्यासार्द्धा-दुत्क्रमज्यार्धपिंडका इति सूर्यसिद्धान्ते तदुत्पत्तिरुक्ता। अत उपपन्नमथेत्यादित्यंतम्।

ननु वृत्तचतुर्थांशे त्रिज्यायाः व्यासार्द्धत्वेन तत्र त्रिराशिकलानां पर्यवसन्नवधाधनुः पंचाशच्छतकलाभिः, त्रिज्या तदेष्टकलाभिः केत्यनुपातस्य युक्त्या सरलया कथंनोपपन्नाः ज्यात्रैराशिककारणस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्। अन्यथानुपातसिद्धगणितस्यसकलस्याऽप्रामाणिकत्वापत्तेरितिचेत्, न वृत्तान्तर्निरूपितज्यारूपाणां वृत्तपरिध्याश्रितसमानचापोपचयस्य परस्परमन्तराभावात्, समानान्तरविषये त्वनुपातप्रवृत्तेः न हि वृत्ते परिधिचतुर्थांशसमं व्यासार्द्धं कुत्रापि सम्भवति, येन चापोपचयवज्ज्योपचयस्तुल्यः स्यात्। अन्यथा क्रमोत्क्रमज्ययोस्तुल्यत्त्वापत्तेः, उभयसाधनेऽनुपातस्य तुल्यत्वात्। किं च ज्याभिरुत्पन्ना जात्यत्र्यस्राणां ज्यारूपभुजकोटिसाधनं वर्गमूलोपजीव्यमिति, त्रैराशिकाप्रवृत्तेः। वर्गे समद्विघातत्वेन पारिभाषिकत्वादनुपाताविषयत्वात्। न हि चतुर्णां षोडषवर्गस्तदायं वर्गांक इत्यनुपातेन पञ्चविशंतिः पञ्चवर्गे रूपासिद्धा। अत एवैकस्मिन्वृत्ते साधितज्यानामन्यवृत्ते व्यासार्द्धानुपातादिना परिणामो युक्तः। व्यासार्द्धानुरोधाज्ज्यानां सत्वात्।

ननु तथापि निःसंदिग्धयुक्त्या सूक्ष्मा ज्योत्पत्तिर्नोक्तेति चेत्, गोलाध्याये। अयमर्थः स्वीकृत एव तादृशोपपत्तेस्सत्वात्। इष्टज्यानयनोपपत्तिस्तु द्वादशराशिकलाः षष्टिघटीरूपदिनस्यासवः परिभाषया तुल्या इति कालावयवस्य ज्यासाधनार्थमसव एव कलाः भवन्ति, कालक्षेत्रपरिभाषानिरूपणक्रमानुरोधादसवः कला वा इति क्रमानुसरणम्। अत्रोक्तज्यास्वेकैका ज्या तत्त्वाश्विकलातुल्यचापांतरेणान्तरितत्त्वात्तत्त्वाश्विकलाभिरेकसंख्याकज्या लभ्यते तदेष्टकलाभिः कियतीत्यनुपातेन लब्धसंख्यया गतज्या स्यात्। यदा तु पञ्चविंशत्यादिलब्धम्, तदा द्वितीयादि चतुर्थांशज्याःग्राह्यास्तत्र चतुर्षु चतुर्थांशेषु तुल्यरूपत्वेनैकचतुर्थांश एव गृहीतः। अतो यद्राश्याद्यंत्रिभमध्ये, कालावयवो वा पंचदशघटीमध्ये तस्य ज्या भवति। पञ्चविंशत्यादिषण्णवत्यंन्तं ज्यानामनुक्तत्वात्। इष्टज्याकरणार्थन्तु भतत्त्वाश्विकलाभिर्गताग्रिमज्ययोरंतरमितज्याखंडं, तदा तत्त्वाश्व्यान्तर्गतशेषकलाभिः किमित्यनुपातानीतफलेन गतज्या या ज्येष्ठज्या स्यादित्युपपन्नं तत्त्वाश्वीत्यादीप्सितास्यादित्यंतम्।

न च यथाज्योत्पन्नानुपातासंभवस्तथा ज्यासाधनेऽपि ज्यान्तररूपज्याखंडस्यज्यांशत्वादंशानुपातेन ज्यान्तरसाधनस्याप्ययुक्तत्वात् 'कथमुपपन्नमिति वाच्यम्। वस्तुभूतसूक्ष्मज्याया उक्तरीत्यानीतज्यया स्वल्पान्तरत्वात्। अन्यथानुपपत्तेः नहिसूक्ष्मज्योत्पत्तिप्रकारेण पूर्णांकविकलान्तरावयवे सिद्धाज्या चन्द्रकक्षायोजनसंख्यामिताः ३२४००० सम्भवन्ति। येन विकलांतावयवं ग्रहस्य सर्वाभ्युपगमाद्विनानुपातं सूक्ष्मज्याज्ञानं स्यात्। ननु यद्यपि चतुर्विंशत्यधिकाः सूक्ष्मप्रकारेणद्विगुणादिचतुर्विंशतिसंख्याकेष्टसंख्याकाः साध्याः, ततोऽनुपातेनेष्टज्यायामत्यल्पमन्तरं स्यादिति चेत् न यथोत्तरञ्च सूक्ष्माश्रयणे नानवस्थापत्तेः। किञ्च अस्मदंगीकृतानुपातस्य सूर्यसिद्धान्तोक्तेनागमप्रामाण्यात्। धनुःकलानयनोपपत्तिरिष्टज्यानयनोपपत्ति व्यत्यासेन। तथा हि इष्टज्यावयव उक्त चतुर्विंशज्ज्याऽमुकस्यास्तीतिज्ञानार्थमिष्टज्यायामुक्तज्ज्यान्तर्गतास्वासन्नाः अग्रिमज्या शोध्या। शेषं शोधित-

जीवाग्रिमजीवयोरवयवः। अतः शोधितज्या तदग्रिमज्ययोरंतरेण भोग्यखण्डेन तज्ज्याचापांतरकलास्तत्त्वाश्विमिता स्तदा तेन ज्यावयवेन का इत्यनुपातेन फलमिष्ट-गतज्याचापयोरन्तरकलाः।

दीपिका—उक्तवज्ज्याभ्योऽस्वात्मकं कलात्मकञ्च चापानयननमतीव स्पष्टम्।

शिखा:—ज्या साधन गणित के ठीक विपरीत गणित के द्वारा चाप साधन होता है। उक्त पूर्व प्रकार किसी इष्ट चाप से ज्या बनानी चाहिए। जब ज्या बन गई तो प्रश्न हो सकता है कि यह ज्या कितने चाप की है? तो ज्या के विलोम गणित से चाप का ज्ञान हो जाता है।

पूर्व के पृष्ठ १२० के क्षेत्र में क घ च और क ग प दोनों त्रिभुजों का साजात्य होने से

$$\text{क ग} = \frac{\text{क घ} \times \text{ग प}}{\text{घ च}} = \frac{२२५ \times \text{ज्यान्तर}}{\text{भोग्य खण्ड}}$$ इस, क ग चाप की जितनी संख्यक ज्या घटी है उतनी संख्या गुणित २२५ में जोड़ देने से चाप की स्पष्टता होती है।

जैसे २४° चौबीस अंश चाप की ज्या क्या होगी? इसे निम्न भांति गणित से समझना चाहिए।

$२४^{\circ} \times ६० = १४४०$ कलाएँ हुईं।

२२५)१४४०(६ षष्ठी ज्या=१३१५ } दोनों ज्याओं का
 १३५० सप्तमी ज्या=१५२० } अन्तर=२०५
 ९०=शेष

$$\frac{\text{शेष} \times २०५}{२२५} = \frac{९० \times २०५}{२२५} = \frac{१८४५०}{२२५} = ८२$$

गत ज्या+ज्या वृद्धि=१३१५+८२=१३९७, अत एव "अश्वाङ्कविश्वेऽत्रजिनांश-जीवा" १३९७, आचार्य ने बताई है।

ठीक इसके विपरीत १३९७ यह इतनी ज्या कितने चाप की है?

१३९७ में षष्ठी ज्या १३१५ कम करने से ८२ शेष बचता है। $\text{शेष} \times २२५ = ८२ \times २२५$

ऐष्यज्या—गतज्या=१५२०—१३१५=२०५

$$\therefore \frac{८२ \times २२५}{२०५} = ९०,$$

छठी ज्या घटी है, इसलिये $६ \times २२५ = १३५०$ हुआ। १३५०+९०=१४४० यह कलात्मक चाप हुआ। $१४४०' \div ६० = २४^{\circ}$ इस प्रकार चौबीस अंश के चाप का ज्ञान हो गया।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि किसी चाप की ज्या (चाप वक्र रेखा, एवं ज्या सरल रेखा होने से) चाप से कम होती है।

प्रत्येक वृत्त की परिधि में (प्रत्येक वृत्त में १२ राशियां, अथवा ४ समकोण) ३६०° का परम कोण होने से, ३६०×६०=२१६०० कलाओं में विभक्त किया गया-है। इसलिये इस परिधि का सूक्ष्म व्यास$=\frac{२१६००\times १२५०}{३९२७}=६८७५\frac{१८७५}{३९२७}$ स्वल्पान्तर से ६८७६ के तुल्य होगा। अत एव$\frac{६८७६}{२}=३४६८$ के तुल्य ग्रह कक्षा का व्यासार्ध कहा गया है, इसी व्यासार्ध को ग्रह गोलीय त्रिज्या शब्द से व्यवहृरित किया गया है।

उक्त ज्या और चाप का ज्ञान प्रकार क्रम ज्या से है। उत्क्रम ज्या चाप से भी इसे जान सकते हैं।

इदानीं परमक्रान्तिज्यामाह—

अश्वाङ्कविश्वे १३९७ ऽत्र जिनांशजीवा
यद्वा सुखार्थं लघुखण्डकैर्ज्या ॥१२॥
रूपाश्विनो विंशतिरङ्कचन्द्राः २१।२०।१९
अत्यष्टितिथ्यर्कनवेषुदस्राः १७।१५।१२।९।५।२
ज्याखण्डकान्यंशमितेर्दशाप्तं
स्युर्यातखण्डान्यथ भोग्यनिघ्नाः ॥१३॥
शेषांशकाः खेन्दुहृता यदाप्तं
तद्यातखण्डैक्ययुतं लघुज्या।
जिनांशजीवाङ्कृता विपादाः ४८।४५
स्यादुत्क्रमज्याऽत्र विलोमखण्डैः ॥१४॥
विशोध्य खण्डानि दशघ्नशेषा-
दशुद्धलब्धं धनुरंशकाद्यम्।
विशुद्धसङ्ख्याहतदिग्युतं स्याद्
भोग्यात् स्फुटाज्ज्यातिपरिस्फुटाऽत्र ॥१५॥

वा० भा०—चतुर्विंशतिभागानां जीवा अश्वाङ्कविश्व १३९७ तुल्या भवति। इयं परमक्रान्तिज्या सन्ततोपयोगित्वात् पठिता। अथ लघुखण्डकैर्ज्या साध्यते-सुखार्थम्। कानि तानि खण्डकानि? "रूपाश्विनः" इत्यादीनि नव। अथ ज्यासाधनम्।—यस्य ज्या साध्या, तस्य भागान् कृत्वा दशभिः १० भजेत्। तत्र यावल्लभ्यते तावन्ति गतखण्डकानि स्युः। अथ शेषांशान् भोग्यखण्डेन सङ्गुण्य दशभिर्भजेत्। फलं यातखण्डैक्येन युतं लघ्वी ज्यका स्यात्। एवमत्र

त्रिभज्या खार्क १२० मिता स्यात् । तथा जिनांशजचा पादोना नवाब्धयः ४८ । ४५ । अत्रोत्क्रमजाचानां पृथक्पाठाभावात् कथमुत्क्रमजचाः साध्याः ? इत्यत आह ।—"स्यादुत्क्रमजचात्र विलोमखण्डैः" इति । अथ धनुः साधनम् :—यस्य धनुः साध्यते तस्मादाद्यखण्डादारभ्य यावन्ति खण्डकानि शुध्यन्ति तावन्ति शोधयेत् । शेषाद्दशगुणादशुद्धखण्डभक्ताद् यल्लब्धमंशाद्यं तद्विशुद्धखण्डसङ्ख्या-गुणैर्दशभिर्युतं धनुः स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः प्राग्वदनुपातेन ।—अत्र यावद्यावन्महद् व्यासार्द्धं बहूनि च खण्डानि तावत् तावत् स्फुटा जचा स्यात्; तदन्यथा स्थूला । अत उक्तं—"भोग्यात् स्फुटाज्यातिपरिस्फुटात्र" इति ।

मरीचि :—एताः शोधितज्याचापकलाभिरेकज्यया तत्वाश्विमिताः ननु-कलास्तदा शोधित ज्या संख्यया का इत्यनुपातेनाऽऽनीताभिर्युता इष्टज्यायाश्चाप-कलाः स्युरित्युपपन्नं ज्यामित्यादि स्या'दित्यन्तम् ।

चतुर्विंशत्यंशज्योत्पत्तिस्तु ज्यासाधन गणितेन । तद्यथा चतुर्विंशत्यंशानां कलाः १४४०, तत्त्वाश्विभक्ताः ६, फलसंख्याका गतज्या ६ तन्मानं च १३१५, शेषं ९० यातैष्यज्ययो १३१५.१५२० रन्तरेण २०५ गुणितं १८४५०, तत्त्वाश्विभक्तम् ८२ अनेन गतज्यामानं युतं जातं चतुर्विंशत्यंशज्यामानं त्र्यूनचतुर्दशशतम् । इदं गजाग्निवेदाग्निमित—व्यासार्द्धानुरुद्धज्याभिरुत्पन्नेति नान्यव्यासार्द्धे इति सूचना-र्थमात्रेत्युक्तम् । बृहत्खण्डेभ्यो गणितकरणे क्लेशबाहुल्याद्बहुकालसाध्यतः, सिद्धेश्च स्वल्पकालेन श्रमं बिना तत्सद्ध्यर्थं लघुखण्डकैर्ज्या साध्या लाघवात् ।

ननु यथा यथा महति खण्डानि तथा सूक्ष्मज्या सिध्येदिति—वैपरीत्येन यथा न्यून खण्डानि तथा तथा स्थूलाज्या सिध्येदिति कथमुक्तं लघुखण्डकैरित्यादि ? चेत्—इति खार्कमित व्यासार्धमिति वदद्भिराचार्यैः । स्फुटं स्थूलांगीकारात् ।

अथवा बृहज्ज्यासाधनकथनश्रमस्य इहापि-संकोचा-पत्तेरित्यलं पल्लवितैन ॥१२॥

अथ पूर्वप्रतिज्ञातज्यासाधनमिन्द्रवज्रोपजातिकाभ्यामाह—

रूपाश्विनो विंशतिरंकचंद्रा अत्यष्टि-तिथ्यर्क-नवेषु दस्राः ।
ज्याखण्डकान्यंशमितेर्दशाप्तं स्युर्भुक्तखण्डान्यथ भोग्यनिघ्नाः ॥
शेषांशकाः खेन्दुहृता यदाप्तं तद्भुक्तखण्डैक्ययुतं भवेज्ज्या ।
जिनांशजीवांककृताविपादास्यादुत्क्रमज्याऽत्र विलोम खण्डैः ॥

इति । ज्या साधनार्थमेतानि रूपाश्विन इत्याद्युक्तानि । ज्याखण्डकानि-ज्यान्तराणि नवसंख्याकानि । तत्र जले शुक्लरूपातिरिक्तरूपाभावाज्जलरूपं रूपपदेन गृह्यते, रूपादिभिरित्यादिनैकसंख्या प्रसिद्धा । अत्यष्टीत्यादौ ……………… खण्डकानि । तत्र सप्तदशाक्षरचरणवृत्तस्यऽत्यष्टिसंज्ञत्वात्ततत्पदेन सप्तदश । यस्य

ज्या साध्या तस्य राश्याद्यात्मकस्य कालस्य घटयात्मकस्य वा, परिभाषयांऽशात्मिका-संख्या कार्या। षष्टिघटीभिश्चक्रांशाः, ३६० तदेष्टघटीभिः केत्यनुपातेन हरापवर्तितगुणहरेण घट्याद्यं षड्गुणं कालस्यांशमितिः स्यात्। तस्याः सकाशाद्दशभिर्भागेन यल्लब्धम्, तन्मितानि गतखण्डानि। अथ एतावत्सिद्धंकृत्वा ज्या साधनम्—तदाह-भोग्येति। दशभिर्भागे ये शेषांशास्तेऽग्रिमखण्डेन गुणिताः दशभक्ताः यत्संख्याकं फलं सावयवं तत् गतखण्डानां योगेन युतं ज्या स्यात्। अथ बृहज्ज्यानुरोधेन या चतुर्विंशज्या तां लघुज्यानुरोधेनाह-जिनांशेति। पञ्चचत्वारिंशदवयवयुताष्टचत्वारिंशच्चतुर्विंशत्यंशानां ज्या, तथा च लघुज्ययात्यंशानयने नाऽऽसंगतत्वमिति भावः।

ननु पूर्वंक्रमोत्क्रमज्यांककथनद्वारा साधनरीत्या ज्याद्वयमुक्तमत्रानुत्क्रमज्यासाधनं कथं कार्यमत आह-स्यादिति। अत्र खण्डकोपयुक्तज्यासाधने-विलोमखण्डेः। द्वि-पञ्च-नव-द्वादश-पञ्चदश-सप्तदशैकोनविंशत्येक-विंशतिरूपैर्नवभिरंशमितै दशाप्ताभिरित्युक्तरीत्या, उत्क्रमज्या स्यात्। अत्रोत्क्रमज्येत्युपलक्षणम् क्रमधनुरपि। करणकुतूहलेनैव व्यस्तैर्दलैर्व्यस्तधनुर्ज्यके स्त इत्युक्तत्वात्। धनुरुक्तत्वादादौधनुःपददानमयुक्तम्, ज्याचापयोः साहचर्यादर्थतः सिद्धमिति वा ध्येयम्।

अत्रोपपत्तिः। व्यासार्द्धे, इष्टप्रमाणस्य प्रतिपादितत्वात्पूर्वं यथा गजाग्निवेदराममिता त्रिज्या कल्पिता तथा लाघवार्थं विंशत्यधिकशतं त्रिज्यामानं कल्पितम्। उभयथा प्रयोजकफलस्य संवाहात्। नचेष्टत्रिज्यायामपि यथा-यथा त्रिज्या वर्द्धकप्रमाणं कल्प्यते तथा-तथा वर्गमूलादिग्रहणद्वारा सूक्ष्मा ज्या भवन्ति। वृत्तस्यापि महत्त्वसंभवेन तदैतज्यानां मानं विविच्य दर्शनङ्गणयित्वा ज्यामानांकग्रहे सूक्ष्मत्वाच्च। अतः सूर्याद्यंगीकारान्महत्त्रिज्या तन्मिता कल्पिता युक्ता। खार्कमितत्रिज्या त्वयुक्ता मूलाभावात्। तदानीतजीवानां—स्थूलत्वे प्रयोजक फलस्यापि सूक्ष्मत्वासिद्धेश्चेति कथं त्रिज्या कल्पनं युक्तमिति वाच्यम्, स्वल्पान्तरत्वेन तदन्तरस्योपेक्ष्यणीयत्वात्। अन्यथा, प्रत्यब्दशुद्धिविधिना ग्रहमध्यमश्रोक्त सुखावह अतो लघुशिञ्जिनीभिः वच्मि।

"स्फुटत्वमत्राथदशांशलभ्या ज्ञेयश्व कार्मुकविधौ गुणकौ दशांशः।
षडविंशतिः शरयमायुगलोचननि रूपाश्विनो नवभुवस्तिथयस्त्रिनेत्राः॥

१०	२०	३०	४०	५०	६०	७०	८०	९०
२०	४१	६०	७७	९१	१०३	११२	११८	
५०	०	०	६	५३	५६	४३	१०	१२०
१६	४४	०	११	२६	४०	४२	३७	
१०	२०	३०	४०	५०	६०	७०	८०	९०
१०	२०	१८	१७	१४	१२	८	५	१
५०	१०	५९	६	४७	३	४७	२६	४९
१६	२८	१६	११	१५	१४	२	५५	२३

शैलायेमौच कथितानि नवक्रमेण ज्यांखण्डकानि कथयाम्यथपिंडितानि ।
अंगाश्विनः कुविषया विषयस्वराःस्युस्तस्माच्चतुर्विरहितं च शतं शरेशाः ॥

व्योमाग्निशीतकिरणाः शशिवेदचंद्राः········शशिनो गगनेषु चंद्राः ।"

इति धीवृद्धिदावुक्तं स्यात्तत्संगत्वापत्तेः । ततो वृत्तचतुर्थांशे नवतिभागांकिते स्वेच्छयानवसंख्याकाः ज्याः कृताः ॥ दशान्तरचापानां तन्मानानयनार्थं दशदशांशानां-बृहज्ज्योक्तविधिना बृहज्याः साधिताः । यथा ५९७ । ११७५ । १७१९ । २२०९ । २६३२ । २९७८ । ३२९० । ३३८४ । ३४३८ । आभ्यः कल्पित४० त्रिज्यानुरूपा । ४१ । तेनेष्ट । १२० । त्रिज्या प्रमाणेन साधिताः । यथाऽत्रांकनिबन्धनलाघवार्थं ज्यान्तरारायेवोक्तानि ज्यानयने गुणनार्थं तदावश्यकत्वाच्च । तत्र प्रथमं प्रथमज्या तुल्यम् । द्वितीयम् प्रथमोनद्वितीयम् । तृतीयम् द्वितीयोनतृतीयमित्यादि । यथा, अर्द्धाधिकावयवस्योपर्येकाधिकत्वेन सम्प्रदायभयादुभयथा स्थूलत्वग्रहानुरूपाश्विन इत्याद्युक्तखंडान्युपपन्नानि । ततः पूर्वरीत्या दशभिरंशैरेकाज्या तदेष्टांशै कियत्य, इत्यनुपातेनागतलवतुल्यगतखण्डानां योगो गता ज्या । ततोऽपि दशभिरंशै गताग्रिम ज्यांतरात्मकं भोग्यखण्डम्, तदावशिष्टांशेनकिमित्यनुपातेनागतफलयुतेरिष्टज्या स्यात् । अत उपपन्नमंशमिते रित्यादिज्यासाधनम् । यदि गजाग्निवेदराममित त्रिज्यायां स्यादंकविश्वमिता चतुर्विंशत्यंकज्या'तदाखार्क मितत्रिज्यया कियन्मितेत्यागता सावयवा । ४८ । ४५ । ४० । अत्राधोत्रयवस्याद्धाभ्यधिकत्वात् षट्चत्वारिंशमितो युक्तः परमावयवैः—पद लाघवार्थमंककृताविपदा इत्युक्तमल्पान्तरत्वात् । उत्क्रमज्योत्पत्तिस्तु प्रोक्तक्रमेण व्यासार्द्धादुत्क्रमज्यार्द्धपिंडका इति सूर्यसिद्धान्तोक्तेनाप्तज्ययोरंतरं प्रथमोत्क्रमज्या, तत्तु क्रमज्यान्तखण्डम्, एवं द्वितीयसप्तमयोरतरं षष्ठांत्ययोरंतरं तृतीयेत्यादि । आसां खण्डानि तु, प्रथममुत्क्रमज्यातुल्यं द्वितीयम्, प्रथमोनद्वितीयम्, तृतीयम् द्वितीयोनतृतीयं एवमग्रेऽपि । तत्र केवलयो र्यदंत्तंतदेव समांकशुद्धयोरपीति । लाघवादुत्क्रमेणजीवानामेवांतराण्युत्क्रमज्याखण्डानि क्रमेण कृतानि एतानि । विपरीतक्रमज्याखण्डात्मकानि । एभ्य उक्त विधिना ज्याक्रमो भवति । अत उक्तं स्यादुत्क्रमज्येत्यादि । स्यादेतत्-अवयवस्यैकरूपत्वेन क्रमोत्क्रमज्याभ्यां क्रमधनुरेव सिध्येत् । कथमुक्तक्रमधनुरपि । उत्क्रमज्येत्युपलक्षणादिति ।

न हि वृत्ते क्रमज्यातो भिन्ना शररूपोत्क्रमज्या यथा दृश्यते तथा क्रमचापाद्भिन्नमुत्क्रमचापमस्ति । येन तत्सं्नार्थमुपलक्षणत्वमुत्क्रमज्यायाः संभवतीति चेत् न एकस्यैव धनुषः क्रमज्योत्क्रमज्याभ्यां स्वाभिमतखण्डक्रमशोधनद्वारा क्रमोत्क्रमचापत्वाभ्युपगमात् । न हि क्रमोत्क्रमखण्डशोधनद्वारोत्क्रमज्यातः, क्रमशोधनद्वारा साधितमुत्क्रमधनुर्भवतीत्यंगीक्रियते, येन वृत्ते तादृशस्योत्क्रमधनुषोऽसाध्यत्वेन दूषणं लभ्येत् । अन्यथा गणिते यत्र ज्यासाधनं विनाप्रकारान्तरेणोत्क्रमज्यायाः सिद्धायाः धनुरापेक्षायां नानभिज्ञतयाऽज्ञातोत्क्रमज्यकेन केन-

चिदुत्क्रमखण्डशोधनपूर्वकं धनुरानयनं कथं क्रियेत। अत एव करणकुतूहले प्रकटमुक्तं युक्तमिति दिक्॥ १४॥

अथ लघु खण्डेभ्यो धनुः साधनं विशेषं च विपरीताख्यानिमाह—

विशोध्यखण्डानि दशघ्नशेषादशुद्धलब्धं धनुरंशकाद्यम्।
विशुद्धसंख्याहतदिग्युतं स्याद्भोग्या-स्फुटा ज्यातिपरिस्फुटात्रेति॥

यस्या ज्यायाश्चापमिष्यते, तस्यामभीष्टायां यावंति रूपाश्विन इत्यादीनि खण्डानि शुध्यंति तावंति क्रमेण शोध्यानि। शेषं दशघ्नम्। यत्र शुद्धमव्यवहितं तेन भक्तं यल्लब्धं सावयवं तत्। शोधितखण्डसंख्यामितांकगुणितदशभियुतमंशकलाविकलात्मकं धनुः स्यात्।

नन्विदं ज्याधनुःसाधनमतिस्थूलं यतोऽककृता विपदा इत्युक्तचतुर्विंशत्यंशज्यावत् अभिमतो न सिध्यति। तथा हि चतुर्विंशत्यंशाः। २४। दश भक्ता फलं गतखण्डानि २१। २०। शेषम् ४। भोग्य १९ गुणम् ७६। दशभक्ताः ७। ३६ गतखण्डैक्यम् ४१ युतम् ४८। ३६ जाता ज्येयमधस्तनांकेन चोना। एवमन्यत्रापि ज्यायाः स्थूलत्वमेवेति कथं वक्तुमुचितम्। अन्यथा शरगुणत्रिज्या नवतिभक्ता फलं स्थूलउपेत्यतिलाघवप्रकारेण ज्यासाधनस्य बंधनापत्तेरित्यत आह। भोग्यादिति। अत्रखण्डकल्पसाधने भोग्यात् स्फुटात्। अनंतरोक्तप्रकारेणसाधितस्फुटभोग्यखण्डात्। पूर्वविधिना साधितज्या, अति परिस्फुटा, सूक्ष्मा भवति। ज्याचापयोः साहचर्याद्धनुरपि सूक्ष्मं स्यात्। चापसाधनार्थमपि स्पष्टभोग्यखण्डानयनस्योक्तत्वादितिध्येयम्। तथा च सुखार्थमित्युक्तेन च साधनमनतिस्थूलमिति न क्षतिः।

अत्रोपपत्तिः :—खंडैक्यशोधने ज्याशुद्धा भवति इति, खण्डानि प्रत्येकं शोधितानि। ज्यान्तरात्मकभोग्यैकभोग्यखण्डेनदशांशास्तदा शेषात्मकेन ज्यावयवेन क इत्यनुपातात् फलम्। शुद्धखण्डसंख्यारूपज्यासंख्यागुणितदशभिर्योऽयमित्युक्तरीत्या, वैपरीत्येन च सुगमा। अथ दशदशांशांतरितज्यान्तरानुपातेन स्थूलत्वमुक्तम्, प्रत्यंशं विलक्षणं ज्यान्तरं यदा ज्ञातम्, तदनुपातेन सूक्ष्माज्या स्यात्। एकरूपज्यान्तरस्य दशांशषस्यग्रहात्। स्वाभीष्ट ज्यान्तरमेव स्फुटं भोग्यखण्डमित्युपपन्नम्॥ १५॥

दीपिका—३४३८ संख्यात्मके त्रिज्या व्यासार्धे चतुर्विंशति संख्याकानि ज्यार्धपिण्डानि पूर्वं पठितान्याचार्येणेदानीन्तु गणितलाघवार्थं खार्क १२० समां त्रिज्यां प्रकल्प्य दशभिरंशैर्ज्यापिण्डानि प्रसाध्य द्वयोर्द्वयोरासन्नज्ययोरन्तरं कृत्वा ज्याखण्डकानि विहितानि। तानि चैकस्मिन्वृत्तपादे, $\left(\frac{९०}{१०}=९\right)$ नव मितानि भवन्ति इति तानि चैवम्—

$$\frac{\text{ज्या प्र} \times १२०}{\text{त्रि}} = २१$$

४

$$\frac{\text{ज्या द्वि}\times\text{१२०}}{\text{त्रि}}=\text{ल}\text{ ।}\quad \text{२१}-\text{ल}=\text{२०}$$

$$\frac{\text{ज्या तृ}\times\text{१२०}}{\text{त्रि}}=\text{ल}^{\prime}\text{ ।}\quad \text{ल}-\text{ल}^{\prime}=\text{१९}$$

$$\frac{\text{ज्या च}\times\text{१२०}}{\text{त्रि}}=\text{ल}^{\prime\prime}\text{ ।}\quad \text{ल}^{\prime}-\text{ल}^{\prime\prime}=\text{१७}$$

एवमग्रेऽपि वोध्यम् ।

शिखा—वृहज्ज्यासाधन प्रकार से २४° की ज्या १३९७ होती है यह पूर्व श्लोक में स्पष्ट है । गणित की लाघव प्रणाली होनी चाहिए इस अभिप्राय से एक वृत्त में ९० अंशों का नवां भाग १० अंश के बराबर होता है, इस लिये दश दश अंशों की ज्या १२० व्यासार्ध में जो होती हैं, उन्हें लाकर दोनों आसन्न जीवावों के अन्तर रूप ज्या खण्डों का मान पढ़ा गया है । इसमें भी अनिर्वाच्य अन्तर रह जाता है । आचार्य के पठित खण्डों का और सूक्ष्म ज्या नयन प्रकार से लाये गये खण्डों का जो अन्तर है उसे नीचे की सरणि से स्पष्ट समझा जा सकता है ।

जैसे—

आचार्य मत से	सूक्ष्म ज्या साधन से
ज्या १०° = २१	$\text{२०}+\frac{\text{८३७७८४०}}{\text{१००००००००}}$
ज्या २०° = ४१	$\text{४१}+\frac{\text{४२५३२०}}{\text{१००००००००}}$
ज्या ३० = ६०	६०
ज्या ४० = ७७	$\text{७७}+\frac{\text{१३४५१२०}}{\text{१००००००००}}$
ज्या ५० = ९२	$\text{९२}+\frac{\text{९२५२२८०}}{\text{१००००००००}}$
ज्या ६० = १०४	$\text{१०३}+\frac{\text{९२३०६००}}{\text{१००००००००}}$
ज्या ७० = ११३	$\text{११२}+\frac{\text{७६३११२०}}{\text{१००००००}}$
ज्या ८० = ११८	$\text{११८}+\frac{\text{१७६९३६०}}{\text{१०००००००००}}$
ज्या ९० = १२०	१२०

शेष अवयव त्याग देने से, २०।४१।६०।७७।९२।१०३।११२।११८।१२०,

आसन्न दो जीवाओं का अन्तर २०।२१।१९।१७।१५।११।९।६।२।

आचार्य ने यह खण्ड लिये हैं—२१।२०।१९।१७।१५।१२।९।५।२

प्रथम ज्या २१, छठी १०४, सातवीं ११३ के तुल्य हो रही हैं। आधे से अधिक शेष को १ के बराबर मानकर आचार्य का ज्या साधन भी सूक्ष्म ज्या साधन के तुल्य सिद्ध हो रहा है।

लघु ज्या साधन से २४° की ज्या साधन नीचे के उदाहरण से समझा जा सकता है।

$\frac{२४}{१०}$ = लब्धि = २ शेष = ४।

यहाँ अनुपात से यदि १० अंश में भोग्य खण्ड तो शेष ४ अंश में क्या मिलेगा? $\frac{१९ \times ४}{१०} = \frac{३८}{५}$ = ७।३६। गत खण्डों का योग = २१ + २० = ४१, अतः ४१ + ७।३६ = ४८।३६ के तुल्य लघु ज्या (१२० त्रिज्या) साधन से इष्ट ज्या हुई। यह स्थूल है। आचार्य ने "भोग्यात् स्फुटा ज्यातिपरिस्फुटेति" इस वाक्य से स्थूलता का स्पष्ट संकेत किया है। क्योंकि १०° दश अंश चापाकार कर्ण को सरल त्रिभुज में सरल रेखाकार मान कर उक्त गणित किया है। इस लिये इस स्थूलता की सूक्ष्मता के लिये, भोग्य खण्ड अर्थात् जिस भोग्य खण्ड को शेष अंश से गुणा कर १० से भाग दिया गया है, उसी भोग्य खण्ड को स्पष्ट करना है जिससे कि वास्तव फल उपलब्ध हो उसी का स्पष्टीकरण आगे किया गया है—जैसे

इदानीं भोग्यखण्डस्पष्टीकरणमाह।—

यातैष्ययोः खण्डकयोर्विशेषः
शेषांशनिघ्नो नखहृत् तदूनम्।
युतं गतैष्यैक्यदलं स्फुटं स्यात्
क्रमोत्क्रमजयाकरणेऽत्र भोग्यम् ॥१६॥

वा० भा०—गतैष्ययोः खण्डकयोर्यदन्तरं तज्ज्यासाधने दशभक्तभागेभ्यो ये शेषांशास्तैर्गुणितं नखैर्भजेत्। फलेन गतैष्ययोः खण्डयोर्योगार्द्धमूनीकृतं स्फुट-भोग्यं भवति। उत्क्रमज्याकरणे तु युतम्।

अत्रोपपत्तिः—गतैष्ययोः खण्डयोर्योगार्द्धं खण्डसन्धौ खण्डं भवितुमर्हति। भोग्यखण्डन्तु भोग्यान्तस्थाने; तदन्तरेऽनुपातः। यदि दशभिर्भागैस्तयोरन्तरार्द्धं लभ्यते, तदा शेषांशैः किम्? इति। एवं त्रैराशिकेन गतैष्यखण्डान्तरगुणितानां शेषांशानां विंशतिर्भागहारः स्यात्। फलेन गतैष्ययोर्योगार्द्धमत ऊनं क्रियते, यतः क्रमज्याकरणे खण्डान्यपचयेन वर्त्तन्ते। उत्क्रमज्याकरणे तूपचयेनातस्तत्र युतमित्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथैतदर्थमेव ज्यानयने स्फुटभोग्यखण्डसाधनमुपजातिकयाह— यातैष्ययोः········भोग्यमिति। अंशमितेर्दशाप्तफलेन ये उत्क्रान्तगतयातैष्य-खण्डे, तदन्तरम्। दशतष्टांशरूपमिति रूपशेषांशैर्गुणितं विंशतिभक्तं पूर्वज्ञातयातैष्य-खण्डकयो र्योगार्धं क्रमोत्क्रमज्यासाधनार्थं क्रमेण तेन फलेन हीनं युतं कार्यम्।

एवं सिद्धमत्र दशांशान्तरितज्याखण्डविषये स्फुटं भोग्यखण्डं स्यात्। एतेनैदुक्तं भवति, यत्र कुत्रापि ज्यासाधनार्थं गतैष्यखण्डान्तरं ज्यान्तरांशमिति तष्ट-रूपशेषांशगुणं द्विगुणेन ज्यान्तरांशमानेन भक्तं फलेन गतैष्यखण्डयोगार्द्धं हीनं-युतं क्रमोत्क्रमज्यार्थं स्वभोग्यखण्डं स्पष्टं स्यात् इति। एतेन गणितप्रकरणे "तोडरानन्दे" गतखण्डस्वगतोनतद्गतमत्रागतैष्यविवरं तु स्यादैष्यं गतगम्यान्त-रालखण्डं रसैर्विभजेत्, ऊनान्वितममुनैष्यात् तदैक्यदलं क्रमोत्क्रमज्यादौ भोग्य-खण्दलं स्पष्टं स्यादमुना ज्यादेर्विधिं कुर्यादिति भोग्यखण्डसाधनभ्रमविजृम्भितं शेषांशगुणने छेददर्शनात्।

तथा च चतुर्विंशति भोग्यज्यासाधने गतं विंशतिमितमंष्यमेकोनविंशतिमितं तदन्तरेण च शेषांश गुणिताः विंशति भक्ता, फलेन ०।१२ गतभोग्ययोगार्द्धं हीनं स्फुटं भोग्यखण्डं १९।१८। अनेनांशाः गुणिताः ७७।१२। दशभक्ताः फलम् ७।४३।१२। गत खण्डं २१।२० योगः ४१ युतं जाता ज्या स्वल्पान्तरेण सूक्ष्मा ४८।४३।१२। एवञ्च लघुज्यानयनप्रकारः स्फुटभोग्यखण्डद्वाराऽनतिस्थूल इत्यनु-चितम्, तत्कथनमत एवसुखार्थमित्यप्युक्तम्।

नन्वतिस्थूल इति कथमुक्तम्। असकृत्कर्मणा सूक्ष्मज्यायाश्च सिद्धेस्तथाहि—स्फुटभोग्यखण्डाद्, १९।१८ अस्मात् सूक्ष्मज्यानायात्यतः स्फुटखण्डमुक्तप्रकारेण-यातैष्यखण्डान्तर ०।४२ शेषांषनिघ्नं २।४८ विंशतिभक्तम् ०।८।२४। इदं प्रोक्तं गतैष्यखण्डं २०।१९ योगार्द्धा—१९।३० देवहीनं स्फुटखण्डम् १९।२१।३६। न-चात्रापि ययोः खण्डयोरन्तरं तयोरेव योगार्द्धं ग्रहीतुं युक्तं न प्रोक्तयोरिति-वाच्यम्। तथा सति धूलीकर्मणा बह्वन्तरेणासकृत्कर्मद्वारा सूक्ष्मज्याया-असिद्धेः। युक्त्यानिरासश्चोपपत्तिविचारे स्फुट एव द्वितीयभोग्यखण्डादपि न सिद्ध्यत्यतस्तृतीयमुक्त प्रकारेण १९।२२।२२।१२। अतश्चतुर्थम् १९।२२।२८।२६।२४ पञ्चमम् १९।२२।२९।४१।१६।४७ पुनः षष्ठम् १९।२२।२९।५६।१५-२१।३६ सप्तमम् १९।२२।२९।५९।१५।४।१९।१२ पुनरष्टमम् १९।२२।२९।५९।५१।०।५१।५०।२४। नव-मम् १९।२२।२९।५९।५८।१२।१०।२२।४।४८। दशमम् १९।२२।२९।५९।५९।३८।२०।३४ १४।५७।३६। अस्मादुक्तविधिना ज्या सूक्ष्माऽत्यासन्ना ४८।४४।५९।५९।५९।२०।१३ ४५।५९।२।२४ पुनर्भोग्यखण्डसाधनेन निरन्तरा सूक्ष्मा ज्या स्यात्। एव मुत्क्रम ज्यायामपि। तथा च यथा यथा पुनः पुनर्भोग्यखण्डसाधनं तथातथोत्तरं सूक्ष्मा ज्या सिद्ध्यति। अन्यथा भोग्यात्स्फुटादित्याद्यतिदिशति परिस्फुटेत्यस्यव्यर्थ-त्वापत्तेः। अत आचार्यैः भोग्यखण्डसाधने सकृदिति कथञ्च नोक्त मिति चेन्न। असकृत्साधनावधिरूपयावदवशेष नियमस्याभावादनवस्थापत्तेः।

न चात्र यावदिष्टसिद्धेरेवावधित्वमिति वाच्यम्। सूक्ष्मज्यायाः पूर्वमवसा-नात्। न च बृहज्ज्यासाधनप्रकारेणानुपातात्सूक्ष्मज्या प्रथममानीय तत्सिद्धिर्या-वदसकृद्भोग्यखण्डं साध्यमितस्तदवधिरिति वाच्यम्। बृहज्ज्यासाधनप्रयास-

गौरवभयेनोक्तस्य लघुभूतलघुज्यानयनस्यापि तदपेक्षायामतिगौरवाद्व्यर्थत्वाच्च। किञ्च। सुखार्थमुक्तस्य लघुज्यानयनस्य पुनः पुनः साधनद्वारा बृहज्ज्यासाधनादपिप्रयास बाहुल्यादनिरूपणापत्तेरिति स्वल्पान्तर ग्रहस्य साम्प्रदायिकत्वान्नक्षतिः। ननु तथापि ज्यान्तरांशान्तर्गतांशानां ज्यासाधने स्फुटभोग्यखण्ड ग्रहणे व्यभिचारः।

तथाहि। भागाः दश भक्ता फलस्य शून्यत्वेन गतखण्डं शून्यमितं। भोग्यन्त्वेकविंशतिमितम्। तदन्तरेण भोग्यखण्डात्मकेन गुणिताः शेषांशाः १६८ विंशतिभक्ताः ८।२४ फलेन गतैष्यखण्डं ०।२१ योगार्द्धं १०।३० मूनं स्फुटं खण्डं २।६। अनेन गुणिताः शेषांशाः १६।४८ दशभक्ताः फलं १।४०।४८। इदं यथा गतस्थूल ज्यया १६।४८ पि न सममिति कथमुक्तं भोग्यखण्डसाधनमिति चेन्न। उक्त खण्डानां मध्ये यातखण्डे सति प्रकारस्योक्तत्वात्तत्रैतस्य विषयत्वेन व्यभिचाराभावात्। तत्र यातखण्डाभावात्। यथा गतैष्यज्यासूक्ष्मासन्नेति।

अत्रोपपत्तिः। प्रथमांशदशके भोग्यखण्डमेकविंशतिमितम्। द्वितीयांशदशके विंशतिमितं भोग्य खण्डमेवमग्रेऽपि। अत्र तादृशाकान्तादग्रेऽकस्मात्खण्डान्तरमेव भोग्यखण्डान्तरमिति न युक्तम्। अन्तरस्य क्रमोपचयत्वात्। तस्मादुक्तखण्डानां दशकान्त एव भोग्यखण्डत्वनिर्णयात्तदंतर्गतभागेष्वेष्टेषु भोग्यखण्डं साध्यम्। तत्र गतैष्ययोः खण्डयो र्योगार्द्धं वर्त्तमानगतदशकयोः सन्धौ खण्डकं भवितुमर्हति। यथा एकादि दशकादौ गतखण्डमेकविंशति मितम्। भोग्यखण्डं विंशति मितम्। तद्योगार्द्धं सार्द्धविंशतिमितम्। दशमैकादशांशयोः सन्धौ मुख्यं गतखण्डं एकविंशत्यंशादि दशांशान्तर्गतगतांशानां ज्यासाधने विंशत्येकविंशत्यंशयोः सन्धौ गतखण्डमुक्तरीत्या सार्द्धैकोनविंशतिमितमेवमग्रेऽपि भोग्यखण्डन्तु वर्त्तमान दशकान्तवज्ज्योत्पन्नत्वात्।

यथा द्वितीयदशकान्ते भोग्यखण्डं विंशतिमितम्। तृतीयदशकान्ते एकोनविंशतिमितमित्यादि। एवमुक्तरीत्या स्व स्वगतभोग्यखण्डान्तरं प्रोक्तखण्डान्तरगतगतभोग्यखण्डान्तरार्द्धरूपमेव ज्यान्तरांशै र्भोग्यखण्डयोरन्तरं भवतीति स्फुटम्। ततो दशभिरंशैः प्रोक्तगतभोग्यखण्डान्तरार्द्धरूपं तदन्तरं तदा दशतष्टांशैः किमित्यनुपातेन शेषांशाः खण्डान्तरार्द्ध गुणाः दश भक्ताः कार्या इत्यत्र लाघवाच्छेषांशाः प्रोक्तखण्डान्तरगुणाः विंशतिभक्ताः कृताः। फलमिष्टांशेषु गतभोग्यखण्डान्तरे इदं गतखण्डेभ्यो भोग्य खण्डस्य गतखण्डादूनत्वाधिकत्वे हीनयुतं कार्यं क्रमेणेति प्रोक्तान्तर्गतस्फुटम्। तत्र क्रमोत्क्रमज्ययोः खण्डेषूत्तरोत्तरक्रमेणापचयापचययोरुक्तत्वात् भोग्यखण्डयोगार्द्धरूपं संधिस्थं गतखण्डे। तत्तज्ज्यानयने हीनयुतं फलं कार्यम्। तदिष्टांशेषु स्फुटभोग्यखण्डं भवति। ज्यान्तारांशेषु दश भक्तेषूक्त रीत्या तज्ज्यान्तरांशाः द्विगुणाः भागहारस्तत्र विंशतिभागहारेण व्यभिचारः स्वतः सिद्ध इति तद्वारणार्थमत्रेत्युक्तम्। तेन नखेति द्विगुणज्यान्तरांशमानोपलक्षकं सूचितम्। तदेवमुपपन्नम्। यातैष्ययोरित्यादि भोग्य खण्ड साधनमिति। ननु गतैष्यखण्डयोगार्द्धं स्वगतखण्डत्वकल्पनं न युक्तं ज्यान्तरेणासिद्धेः। प्रत्यंश-

दशकं यानि खण्डानि रूपाश्विनोविंशतिरित्यादीतिसिद्धानि तान्येव प्रति दशकान्ते स्फुटानिभवितुमर्हन्ति। तत्रैव जीवानामनुपातसिद्धत्वात्। आचार्योक्तस्फुटीकरणेनापि तान्येव तथा भवन्ति। नह्येकत्रोभययोः स्फुटता संभवति। न च पठितं स्थूलं योगार्द्धंतु सूक्ष्ममितिवाच्यम्। सूक्ष्मस्फुटीकरणेन पठितस्य स्फुटत्वेसिद्धे तत्स्थूलत्वं वदतो व्याघातात्। किञ्चयोगार्द्धस्य सूक्ष्मत्वे खण्डान्येवं स्युः।

२०।१९।१८।१६।१३।१०। ७। ३।२
३०।३०। ०। ०।३०।३०।३०।३०।०

नवमन्तु यथास्थितमैष्यखण्डाभावात्। एवमुत्क्रम खण्डानि।

३।७।१०।१३।१६।१८।१९।२०।२१ एतेषां योगाभ्याम् ११०।१२९ त्रिज्यया भाव्यम्।
३०।०।३०।३०। ०। ०।३०।३०। ० ३०। ३०

तदेतदतिविरुद्धम्। नह्याद्यन्तखण्डयोरर्द्धे आद्यान्त्ययोः खण्डे युक्ते। येन तद्योगस्त्रिज्यातुल्यः स्यादितिवाच्यम्। तथात्वेत्याद्यंत्यदशकयोर्ज्यासाधनेऽव्यभिचारापत्तेः। न च दशकान्ते पठितमेव स्फुटमग्रिमांशजीवा सूक्ष्मत्वार्थयोगार्द्धतुल्यंतत्रस्फुटमिति नोक्त दोष इति वाच्यम्। प्रथम विकलायामेवान्तर पूर्वार्द्धस्यापचयोपचयौ दशभिरंशैरन्तरोत्तरार्द्धस्येत्यनुपातवैचित्र्यस्यायुक्तत्वात्। नवेषु सन्धौ तु सप्तत्यन्ते नव। अग्रिमविकलायां च सप्तेति बालानामप्युपहासपदम्। एतेन बृहज्ज्या प्रकारेण दशांशानां ज्या साध्या, ततोऽनुपातेन खार्कमितत्रिज्याप्रमाणेन साध्या। तन्मानं रसांशोन रूपाश्विनः २०।५० इदं प्रथमं परमं भोग्यखण्डम्। ततस्त्रिज्यातुल्यकोटिज्ययेदं तदेष्ट कोटि ज्यया किमित्यनुपातेन दशदशांशानां कोटिज्याभिः पूर्ववत्साधिताभिः प्रत्येकं दशकान्तेषु भोग्यखण्डानि साधितानि।

२०।१९।१८।१५।१३।१०।७। ३
३१।३५। ३।५७।२५।२५।७।३०*

अत्राचार्यैः स्वल्पान्तरत्वात्प्रोक्तयातैष्यखण्डयोगार्द्धमितानि स्वीकृतानि। प्रथमं खण्डं रूपाश्विमितं स्वीकृतमित्यदोष इति नवीनोक्तिरपास्ता गतभोग्याग्रिमभोग्यखण्डयोरन्तरस्य प्रोक्तखण्डान्तरत्वेन दशभिरंशैरिदमन्तरं तदा शेषांशैः किमित्यनुपातसिद्धफलेन गतैष्यखण्डयोगार्द्धरूपसन्धिस्थभोग्यखण्डं गतं हीनं युतं भोग्यखण्डमिष्टं स्यादिति सिद्धेऽपि विंशतिभाहारानुपातात्। अनुपाते दशानामेव प्रमाणत्वात्। नहि द्वयोर्भोग्यखण्डकयोरन्तरे प्रोक्तखण्डान्तरार्द्धरूपम्। येन हरघातो हर इति विंशतिर्भागहारउत्पद्यते। नहि दशकादावेव योगार्द्धरूपं गत भोग्यखण्डम्। दशकान्तेतूक्तं भोग्यखण्डम्। येन तदन्तरेण प्रोक्तखण्डान्तरार्द्धमन्तरं तयोः स्यात्। उक्त युक्त्यादावेव भोग्यखण्डग्राह्यमन्तेनेत्यत्र नियामकाभावात्। न च नखेत्यत्र दशेतिपाठेन युक्तं मदुक्तमितिवाच्यम्। सूक्ष्मज्यार्थसाधित भोग्यखण्डेन स्थूलत्वनिरासात्तथाहि चतुर्विंशत्यंशाः दशतष्टाः यातैष्यान्तरगुणाः १ दशभक्ताः फलेन ०।२४ गतैष्यैक्यदलमूनं भोग्यखण्डं १९।६ अस्माज्योक्ताः ४८।३८।२४ नोत्पद्यन्त इति। तस्मात्प्रतिदशकान्ते स्पष्टखण्डानां सिद्धत्वान्मध्ये

* क्वचिद् द्वितीय पुस्तके ३९ इत्यपि दृश्यते।

स्फुटत्वार्थं दशभिरंशैर्यदि खण्डान्तरतुल्यावपचयोपचयौ तदेष्टैः कावित्यनुपातेनानीतफलं भुक्तखण्डे ज्याक्रमेणहीनं युतं भोग्यखण्डं स्पष्टं स्यादिति युक्ति युक्ता, अतएव 'करणकंठीखे' भास्करोक्तमयुक्तमितिमन्यमानैः 'केशवार्कैः' "ज्यान्तरेषु गतभोग्यकान्तरं रवीन्दुभिर्विवरताडितं भजेत् तेन भुक्तमधिकोनमूनयुग् भोग्यखण्डकमिति स्फुटं भवेदि"त्येतन्मंगीकृतम्। येन योतैष्ययोः खण्डकयोर्विशेषः……चापार्थमेव स्फुट भोग्यखण्डसाधनमुपपन्नोपपन्नमिति चेत्। न। अनवबोधात्। तथाहि। इह यथा नवत्यंशानां ज्या नवखण्डयोगरूपा खार्कमितासूक्ष्माऽस्ति न तथानुपातसिद्धा। प्रथमांशदशकस्ययथासूक्ष्मज्या न तथानुपातसिद्धा प्रत्यंशज्याः एवंद्वितीयदशकेऽपि सूक्ष्मज्याखण्डं २० अनुपाततः प्रत्यशं जाताज्या स्थूलाः। जीवोपचयवैलक्षण्यात्। इयान् परंविशेषः। नवत्यंशज्यातः प्रतिदशकज्यासाधने प्रत्यंशज्या साधने वा जीवोपचयस्यातिवैलक्षण्येनाऽतिस्थूलत्वम्। इह तु दशकज्यातोऽनुपातेजीवोपचयस्य किञ्चिद्वैलक्षण्येन किञ्चिचिदेव स्थूलत्वम्। अत्राचार्यैः सूक्ष्मत्त्वार्थं यतितम्। तद्यथा-प्रथम दशके प्रत्यशं स्थूलं ज्याखण्डमिदम् २।६। सूक्ष्मत्वे तु प्रथमांशे किञ्चिदधिकेन दशमांशे तुकिञ्चिन्न्यूनेन ज्याखण्डेन भाव्यम्। खण्डानामुत्तरोत्तरमपचयात् उत्क्रमज्यायान्तु विपरीतम्। खण्डानां तत्रोत्तरोत्तरमुपचयात् एवं द्वितीयदशके

१	२	३	४	५	६	७	८	९	
१३	२६	४०	५३	६६	८०	९३	१२६	१२०	
२०	४०	०	२०	४०	०	२०	४०	०	
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
२	४	६	८	१०	१२	१४	१६	१८	२१
६	१२	१८	२४	३०	३६	४२	४८	५४	०

ज्याखण्डं प्रत्यंशमिदम् २।० अत्रापि प्रथमांशादावितः किञ्चिदधिकेन भाव्यम्। य एव द्वितीय दशकादिः स एव प्रथम दशकान्तः। तत्र च प्रथम दशक प्रत्यंश खण्डादस्मा-२।६ न्न्यूनेन तथा द्वितीयदशकप्रत्यंशखण्डादस्मा-२।० दधिकेन-सूक्ष्म खण्डेन भाव्यम्। तच्चानयोः २।६।२०।० योगार्द्धमितं युक्तम् २।३। अंशजातयोः खण्डयोर्योगार्द्धं यथांशं स्यात् सूक्ष्मखण्डम् एवं महतोरपि खण्डयोरनयो २१।२० र्योगार्द्धं सूक्ष्मं तत्रमहत्खण्डं २०।३ ततउक्तवदनुपातेनांशज्यासिद्धेः। अतआचार्यैः खण्डसन्धौ गतैष्यखण्डयोर्योगार्द्धं खण्डं युक्तं कथितम्। एतेनैकत्रैव खण्डद्वयं सूक्ष्मत्वविरोधोऽपि परिहृतो भवति। यथा दशानामंशानां ज्यासाधने रूपाश्विनः सूक्ष्म खण्डं तस्य विलक्षणानामतिप्रत्यंशखण्डानां योग रूपत्वात्। अतएवज्यासाधने

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
२	४	६	८	१०	१२	१४	१६	१८	२०

प्रोक्तगतखण्डानां योगा एव योज्य तेन योगार्द्धानामिति। दशमांशस्य ज्यासाधने तु सूक्ष्मं योगार्द्धमितं २०।३०। यतोऽस्मादेव दशमांशज्या साधने सूक्ष्मता। युक्तयुक्तेः। तथा च दशमांशस्पष्टखण्डयोगार्द्धमितममिमांशेष्विदमेव किञ्चिन्न्यूनं

भोग्यखण्डंस्यादिति दशांशानां प्रोक्तमेव भोग्यखण्डेन योगार्द्धम्। एतस्य दशमाऽशे···षत्वात्। ततो दशभिरंशैः प्रोक्तखण्डयोगार्द्धभोग्यखण्डयोरन्तरतुल्यौभोग्यखण्डापचयोषचयौ तदा शेषांशै काविव्यनुपातेनीतरस्य प्रोक्तखण्डान्तरार्द्धत्वा दिष्टांशेषु यातैष्ययो रित्याद्युपपन्नं भोग्यखण्डसाधनम्।

यद्यपि खण्डसंधौ खण्डयोगार्द्धादपि किञ्चिदधिकेन स्फुटखण्डेन भाव्यम्। प्रथमखण्डानामपचयतोऽग्रिमखण्डानामपचयस्याधिक्यात्। उत्क्रमजीवायान्तु न्यूनेन भाव्यम्। तत्र प्रथमखण्डानामुपचयतोऽग्रिमखण्डानामुपचयस्यन्यूनत्वादिति नोपपन्नम्। तथापि तत्साधनस्य दुःशक्यत्वादल्पीतरत्वाच्चतदुपेक्षितम्। एतेनागत भोग्यखण्डेन यातैष्ययोरित्याद्युक्तरीत्यासकृत्साधनं निरस्तम्। आद्यन्तयोर्खण्डयोर्नियतत्वेनान्तरस्य नियतत्वाभावात्। न च मध्येऽन्तरस्यैकरूपेणाप्तत्वागतभोग्य खण्डस्थेष्टांशेषु सत्वाद्दशांशानामसत्वाच्च दशांशानामेकरूपप्रोक्तभोग्यखण्डस्यैव सत्त्वाच्चोक्त रीत्याऽसकृत्साधनस्यायुक्तत्वात्। सूक्ष्मार्थं कल्पितेनासकृत्साधनेन बह्वन्तरत्वाच्च। अतएव भोग्यखण्डांतरस्यासकृदायनामपि निरस्तम्। आद्यन्तयोः खण्डयो र्नियतत्वेनान्तरस्य नियत्वाभावात्। नवमध्येऽन्तरस्यैकरूपेणाप्तत्वाद्विलक्षणान्तर सिद्ध्यर्थमसकृत्करणं युक्तमितिवाच्यम्। दशांशानां भोग्यखण्डस्यावैलक्षण्येनानुपातेनान्तरसाधनस्यायुक्तत्वात्। सन्धिस्थगतखण्डस्यावास्तवत्वाच्च। गणितश्रमाधिक्येन गौरवाच्च। अथ च मध्यमखण्डादस्मा २।६ न्यूनं दशमांतखण्डं २।३ तथैवाधिकप्रथमांशादौ खण्डम् २।९ उपचयापचयवैलक्षण्यत्वनुपातेन दुःसाध्यमेव। एवं सति मध्यमखण्डमर्थात् पञ्चमान्ते सूक्ष्मम् एवं जातान्यादिमध्यान्त २।६ खण्डानि २।२।२ / ९।६।३ दश गुणानि महान्ति च।

२१।२१।२०
३०। ०।३०
२०।२०।२०
९१।६०।३०

एवमनुपातेन प्रत्यंश एषां योगो दशांशानां ज्या २१ मध्यखण्डंदशगुणं सा वा उपचयापचययोस्तुल्यत्वात्तथा च प्रथमदशकादौ द्वाविंशतिमितगतखण्डकल्पनेनैकांशज्येयं २।८।४२ ननु प्रथमांशज्यायामतिस्थूला २।८।४२ यतो बृहद्द्वयासार्धस्यैकांशज्ययाऽनयानुपातेनैकांशज्या सूक्ष्मेय २।५।४० मन्तरं मध्यमखण्डमेव सूक्ष्मासन्न २।६ मिति।

२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
८	७	७	६	६	५	४	४	३	२
२४	४८	१२	३६	०	२४	४८	१२	३६	०

मध्यमखण्डावप्रयुक्तैका उपचयापचयवैलक्षण्यप्रयुक्ताद्वितीयेऽति स्थूलता द्वयमस्ति तत्रखण्डावयवग्रहणे सूक्ष्माणि ज्याखण्डान्येतानि। एतेभ्य उक्तरीत्या प्रत्यंशखण्डानि।

१	२	३	४	५	६	७	८	९
२०	२०	१८	१७	१४	११	८	५	५
५०	१२	५७	८	४०	५९	५०	२४	४९
१६	१७	२७	४	३६	५२	२५	५०	२३

नन्वाचार्य्यैस्तु नैवं कृतमस्ति। कृतेऽपि मध्यमापेक्षया स्थूलतैवं जाता

तदयं खण्डस्फुटीकरणश्रमो व्यर्थ एवेति चेन्न पञ्चांशेभ्यः पुरत उत्तरोत्तरसूक्ष्मता-सिद्धेः। तथाहि पठितखण्डेभ्य एवात्रैव जीवात्रैविध्यमस्ति। पठितखण्डेभ्य-एकं भवत्कृतस्फुटीकरणेन द्वितीयम्। आचार्यकृतस्फुटीकरणेन तृतीयम्।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
६	६	५	५	५	४	४	३	३	३
२३	१०	४७	२४	१	२८	१६	५३	३०	८

एकादशेंऽशे, क्रमेण एकविंशे, एकत्रिंशे, एकचत्वारिंशे, एकपञ्चांशत्तम एकषष्टिमिति एकसप्ततावे- (२।०) | (२।५।२४) | (२।२।४२) काशीतौ | (१।५४) (१।५९।२४) (१।५६।४२) चात्रोक्त- (१।४२) (१।५२।५८) (१।४७।२४) दशकानां खण्डयोगे सर्वेषामविवाद एव।

(१।३०।०) (०।५१।३६) (०।१२।०) (०।२८।१२) (०।२।६) अग्रिमांशजीवायान्तु प्रत्यंशनवतिपर्यन्तं सूक्ष्मज्यास्तत्खण्डानि च विलोक्य कुत्र स्थूलता कुत्र च

१	१	१
३०	२८	२०
०	१२	६

सूक्ष्मतेति (१।५४।४२) (१।१०।६) (१।२) सुधीभिः पक्षपातं विहाय वक्तव्यम्। मनसि वा सन्तोष्टव्यम्। तदर्थमेताः प्रत्यंशे जीवास्तत्खण्डानि च सूक्ष्माणि प्रसाध्य लिख्यन्ते। अत्र प्रत्युत मध्यमापेक्षया भवत्कृत स्फुटीकरणे स्थूलतेति मौनमेव युक्तम्। आचार्य्यैस्तु प्रथमं दशके पञ्चांशपर्यन्तं मध्यमापेक्षयाऽपि किञ्चित्स्थूलत्वमनन्तरमस्फुटीकरणेऽपि स्वल्पमन्तरमिति तत्स्फुटीकरणमुपेक्षितमेव। श्लोकोपपत्त्यर्थं द्वाविंशतिगतखण्डकल्पनगौरवाच्चेत्यस्मद्गुरुतरयुक्त्या सर्वसंमञ्जसमुपपन्नम्।

किञ्च। पूर्वोक्तवृहत्त्रिज्याप्रमाणेन चतुर्विंशतिखण्डानि पादोनचतुरंशान्तरेण स्थितानि, तानि सार्द्धसप्तांशान्तरेण द्वादशखण्डानि कृतानि। यथा-एभ्यः खण्डेभ्योऽनुपातेनोक्तज्याः मध्यस्थाः न सिद्ध्यन्तीति भोग्यखण्डकरणमत्राप्यावश्यकम्। तच्च भवद्रीत्या यदि क्रियते तर्हि मध्यस्थजीवा तदानीता न घटति। आचार्योक्तरीत्या तु ज्योक्तोत्पद्यते।

यथा। सपादषड्विंशत्यंशज्यासाधने कलाः १५७५ पञ्चाशद्युतचतुःशत ४५० भक्ताः फलं एतन्मिता गतज्या १३१५। शेषम् २२५। भोग्यखण्डेन ४०४। गुणितं स्वहरभक्तं फलेन २०२ युता गतज्या जाता चतुर्विंशत्यन्तर्गता सप्तमी १५१७। इयं नखवाणचन्द्रा इत्युक्तज्यया न समा त्रिभिरन्तरितत्वात्। अतो भोग्यखण्डं स्पष्टं साध्यते। तत्र भवद्रीत्यागतभोग्यखण्डान्तरम् २१ शेषकलागुणं पञ्चाशद्युतचतुश्शतभक्तम्। फलेन १०।३० गतखण्डं ४।२५ हीनं जातं स्पष्टभोग्यखण्डं ४।१४।३० अस्माज्ज्यो १५२२।१५क्ता सपादद्वयाधिकातो भवद्रीत्या भोग्यखण्डानयनमुक्तम्। आचार्यमते तु गतभोग्यान्तरं २१ शेषकलागुणं नवशतभक्तं फलेन ५।१५ गतभोग्ययोगार्द्धं ८२६

हीनम् ४१४।३० स्पष्टभोग्यखण्ड ४०६।१५ अस्माज्ज्या १५।१६।३७।३० अर्धाभ्य-धिकावयवस्यैकाधिकग्रहणेनोक्ताज्ज्या १५२० एवमन्यत्रापीत्याचार्योक्तं साध्वित्यलं पल्लवितेन ॥१६॥

०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
०	२	४	६	८	१०	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४	२६
०	५	११	१७	२२	२७	३३	३७	४२	४६	५०	५३	५६	५९
०	४०	१६	१०	१४	३०	३६	२	२	२०	३६	५०	५६	३८
	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६
	२९	३१	३३	५६	३७	३९	४१	२१	४४	४६	४८	५०	५२
	१	३	४	५	४	४	२	४३	५७	५३	४८	४२	३६
	५०	३०	५६	४	५६	६	३२	० १६	१२	१८	३०	५२	१६
	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९
	५४	५६	५८	६०	६१	६३	६५	६७	६८	७०	७२	७३	७५
	३०	२०	१०	०	४८	२५	२१	६	४९	३२	१३	५२	३१
	४०	१६	२०	०	१६	२४	२४	१२	२४	२	४४	४६	६
	४०	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१	५२
	७७	७९	८०	८१	८२	८४	८६	८७	८९	९०	९१	९३	९४
	८	२३	१७	५०	२०	५०	१९	४५	१०	३३	५५	१५	३३
	४	३०	४४	२२	३२	५०	३४	४४	३८	५४	३०	२६	४०
	५३	५४	५५	५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३	६४	६५
	९५	९७	९८	९९	१००	१०१	१०२	१०३	१०४	१०५	१०६	१०७	१०८
	५०	४	१७	२९	३८	४६	५१	५५	५७	५७	५५	५१	४५
	१०	५४	५२	४	२६	५६	३६	२३	१६	१४	१०	२०	२६
	६६	६७	६८	६९	७०	७१	७२	७३	७४	७५	७६	७७	७८
	१०९	११०	१११	११२	११२	११३	११४	११४	११५	११५	११६	११६	११७
	३७	२७	१४	१	४५	२७	५	४५	२१	१४	२६	५५	२२
	३२	३८	२६	४६	४८	४४	३६	२६	६	४०	८	२८	४०
	७९	८०	८१	८२	८३	८४	८५	८६	८७	८८	८९	९०	
	११७	११८	११८	११८	११९	११९	११९	११९	११९	११९	११९	१२०	
	४७	१०	३१	४९	६	२०	३२	४२	५०	५५	५८	०	
	४२	३८	२२	५६	२२	३४	१८	२८	८	३६	५४	०	

दीपिका—स्पष्टम्

शिखा—उक्त भोग्य खण्ड की स्पष्टता का उपाय—

अ ग=गत चाप=ग

ग च=शेषांश=शे

ग द=गतज्या=ज्याग

अ च=इष्ट चाप=इ

व च=इष्ट ज्या=ज्याइ

प ग वा क ग=प्रथम चापांश=१०°

प ज=भोग्य ज्या=ज्या भो

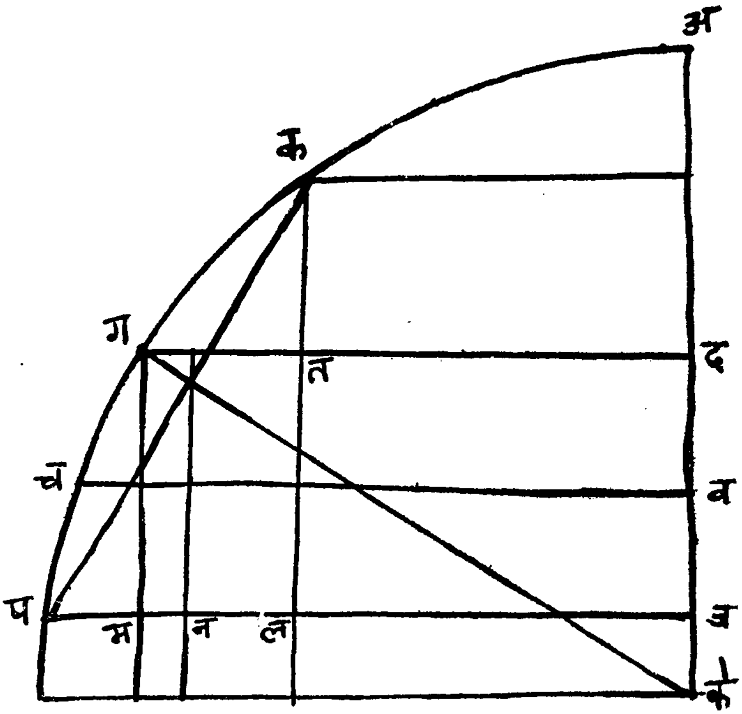

म न=गत खण्ड=ग खं

प म=भोग्य खण्ड=भो खं

य प=प्र ज्या=ज्या प्र

ग य=प्रथमोत्क्रमज्या=ज्या उ प्र ।

ज्यामिति गणित से

$$\text{ज्या इ}=\text{ज्या }(\text{ग}+\text{शे})=\frac{\text{ज्या ग. को ज्या शे.}+\text{को ज्}}{\text{त्रि}}$$

गत ज्या कम करने से

$$\text{ज्यान्तर}=\frac{\text{को ज्या ग. ज्या शे}}{\text{त्रि}}-\frac{\text{ज्या ग. उ ज्या शे}}{\text{त्रि}}=$$

यहाँ शेष अंश १० अंश से कम होने से ज्या साधन प्रत्रि

$$\text{ज्या शे}=\frac{\text{ज्या प्र. शे}}{१०}$$

इस क्षेत्र में गद रेखा में ग विन्दु से म न की तुल्य और क प रेखा के सम्पात विन्दु पर य विन्दु समझन

तथा ज्या शे $=\frac{\text{उ ज्या प्र. शे.}^{2}}{१००}$

इन दोनों ज्या शे. और उ ज्या शे. का, आ समीकरण स्वरूप में उत्थापन दे देने से

$$\text{ज्यान्तर}=\frac{\text{को ज्या ग. ज्या प्र}}{\text{त्रि}}\times\frac{\text{शे}}{१०}-\frac{\text{ज्या ग. उ ज्या प्र.}}{\text{त्रि}}\times\frac{\text{शे}^{2}}{१००}=\text{इ}$$

यहाँ के ग द, प य न ये दोनों त्रिभुज परस्पर सजातीय हैं। अतः

$$\frac{\text{के द}\times\text{प य}}{\text{के ग}}=\text{प न}=\frac{\text{को ज्याग. ज्या प्र.}}{\text{त्रि}}$$

$$=\frac{\text{गन}+\text{प म}}{२}=\frac{\text{ग खं}+\text{भो खं}}{२}=\frac{\text{यो}}{२}$$

इसी प्रकार के ग द, य ग र ये त्रिभुज भी सजातीय होने से—

$$\text{ग र}=\frac{\text{ग द}\times\text{य ग}}{\text{क ग}}=\frac{\text{ज्या ग}\times\text{उ ज्या प्र}}{\text{त्रि}}=\text{न म}=\frac{\text{प न}-\text{प म}}{२}$$

$$=\frac{\text{ग खं}-\text{भो खं}}{२}=\frac{\text{अं}}{२}$$

इ समीकरण में उक्त स्वरूपों को स्थापित करने से

$$\text{ज्यान्तर}=\frac{\text{यो}\times\text{शे}}{२\times१०}-\frac{\text{अं}\times\text{शे}^{2}}{२\times१००}$$

$$=\frac{\text{शे}}{१०}\left(\text{यो}\tfrac{१}{२}-\frac{\text{अं शे}}{२०}\right)=\text{ई}$$

यहाँ पर यो$\frac{१}{२}\times\frac{\text{अंशे}}{२०}$, इस स्वरूप को भोग्य खण्ड मानने से $\frac{\text{शे}\times\text{भो. खं}}{१०}$ यह स्वरूप उत्पन्न हो जाने से १० अंश में भोग्य खण्ड मिलता है तो शेष अंश में क्या मिलेगा ? वास्तव [illegible] स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इस ज्यान्तर को गतज्या में जोड़ने से अभीष्ट ज्या [illegible]कार उत्क्रम ज्या [illegible] [illegible]ी जानना चाहिए। जैसे—

$$\frac{\text{[illegible]}\times\text{शे को}-\text{ज्या ग}\times\text{शे ज्या}}{\text{त्रि}}=\text{के द}$$

$$\text{[illegible]}=\text{ग को}-\text{इ को}=$$

$$\frac{\text{को}-\text{ग को}\times\text{शे. को}+\text{ज्या ग}\times\text{शे ज्या}}{\text{त्रि}}$$

$$\frac{\text{त्रि}-\text{शे को})+\text{ज्या ग}\times\text{शे. ज्या}}{\text{त्रि}}$$

$$\frac{\text{उ.}+\text{ज्या ग}\times\text{शे ज्या}}{\text{त्रि}}$$

$$\frac{\text{उ.}\times\text{शे}^{2}}{\text{त्रि}}+\frac{\text{ज्या ग}\times\text{प्र ज्या}\times\text{शे}}{\text{त्रि}\times१०}$$

$$\frac{\text{शे}}{\text{१०}}\left(\frac{\text{ग को}\times\text{प्र उ}\times\text{शे}}{\text{त्रि}\times\text{१०}}+\frac{\text{ज्या ग}\times\text{ज्या प्र}}{\text{त्रि}}\right)$$

$$\frac{\text{शे}}{\text{१०}}\left(\frac{\text{अं}\times\text{शे}}{\text{२०}}+\text{यो द}\right)=\frac{\text{शे}\times\text{स्प भो खं}}{\text{१०}}$$ उपपन्न हुआ ।

यहां शेष चाप मान जैसे जैसे बढ़ता है तैसे तैसे इसकी ज्या गति क्षीण होतीं देखी जा रही है । परमाधिक १० अंश के तुल्य शेषांश मान में भोग्य खण्ड, गतैष्य खण्डों का योग का आधा, इनके अन्तरार्ध से क्षीयमाण देखा जाता है । जैसे-जैसे शेषांश मान कम होगा वैसे वैसे गतैष्य खण्ड के अन्तर के आधे का अपचय (क्षीयमाण) होने से परम अल्प अर्थात् शून्य के तुल्य शेष अंश के मान में अन्तर का आधा भी शून्य होने से खण्ड सन्धि पर गतैष्य खण्डों का योग के आधे के तुल्य ही स्फुट भोग्य खण्ड हो सकता है । इनके बीच में अनुपात से, (अपचयोपचय) ह्रास और बुद्धि का मान साधित किया गया है—इसीलिये "गतैष्ययोः खण्डयोर्योगार्धं खण्ड सन्धौ खण्डं भवितुमर्हति । भोग्यखण्डन्तु भोग्यान्तस्थाने" यह सब वासना भाष्य की फक्किकाएँ स्पष्ट उपपन्न हुई दिखाई दे रही हैं ।

कमलाकर भट्ट प्रभृति और आचार्यों ने भी कुछ आलोचनाएँ की हैं । किन्तु आचार्य भास्कर के इस सूक्ष्म ज्या गणित पाण्डित्य को ठीक से न समझ सकने से इस पर अब तक की भी आलोचनाएँ व्यर्थ सिद्ध हो रही हैं ।

इदानीं भोग्यखण्डस्य धनुःकरणाय स्फुटीकरणमाह ।—

विशोध्य खण्डान्यवशेषकार्द्ध-
निघ्नं गतैष्यान्तरमेष्यभक्तम् ।
फलोनयुग्येयगतैक्यखण्डं
चापार्थमेवं स्फुटभोग्यखण्डम् ॥१७॥

वा० भा०—अत्र धनुःकरणे खण्डेषु विशुद्धेषु यच्छेषं तस्यार्द्धेन गतैष्यखण्डान्तरं गुणितमेष्यखण्डेन भजेत् । फलेन गतैष्यखण्डैक्यदलं प्राग्वत् क्रमधनुःकरणाय योज्यम् ।

अत्रापि सैव वासना । इदं धनुःखण्डस्फुटीकरणं किञ्चित् स्थूलम् । स्थूलमपि सुखार्थमङ्गीकृतम् । अन्यथा बीजकर्म्मणा असकृत्कर्म्मणा वा स्फुटं कर्त्तुं युज्यते ।

मरीचिः—अथ धनुरानयनोपयुक्तं स्पष्ट भोग्यखण्डसाधनमुपजातिकयाह-विशोध्य······खण्डमिति । यज्ज्यायाः धनुरपेक्षते तदिष्टज्यायां स्वाभिमतखण्डानि क्रमेण विशोध्यानि । शोधितान्तिमखण्डतदग्रिमखण्डयोरन्तरं शेषार्धेनगुणितं शुद्धान्तिमखण्डाग्रिमखण्डेनभक्तं फलेन क्रमखण्डेषुशोधितेषु हीनं उत्क्रमखण्डेषुशोधितेषु युतं शोधितेति खण्डतदग्रिम खण्डयोर्योगार्द्धं कार्यम् । एवमनेनप्रका-

रेणोत्पन्नं स्फुटभोग्यखण्डम् । चापार्थं धनुः साधनार्हं भवति । ज्यायास्त्रिज्यानुरूपेणासत्वात्-त्रिज्याया एकात्मकत्वाभावात्केवलशेषपदेन तष्टांशमानमेवायात्यतस्तन्निवारणार्थं विशोध्यखण्डानीति पुनरुक्तमिति ध्येयम् ।

अत्रोपपत्तिः—भोग्यखण्डात्मकज्यान्तरेण कल्पितगतभोग्यखण्डप्रोक्तभोग्यखण्डान्तरं प्रोक्तगतभोग्यखण्डान्तरार्द्धरूपं लभ्यते, तदा शेषज्यावयवेनकिमित्यनुपातेन शेषज्यावयवगुणितं क्रमोत्क्रमखण्डे इति गतैष्यान्तरार्द्धम् । तत्र लाघवाच्छेषं ज्यावयवार्द्धनगुणितं गतैष्यान्तरं भोग्यखण्डभक्तफलेन कल्पितगतभोग्यखण्डयोगार्द्धरूपं हीनं युक्तं क्रमोत्क्रमखण्ड इति । पूर्वंव्यत्ययेन सुगमोक्त एवाशयः ।

ज्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
खण्डा-	४४९	८९०	१३१५	१७१९	२०९३	२४३१	२७२८	२९७८	३१७७	३३३७	३४१२	३४३८
नि	४४९	४४१	४२५	४०४	३७४	३३८	२९७	२५०	१९९	१४४	४९	२९

दीपिका—आचार्यः हरे स्पष्टभोग्यखण्डस्थानेऽन्योन्याश्रयभयात्पाठपठितभोग्यखण्डमेव गृहीतवानतः किञ्चित्स्थूलमित्युक्तमाचार्येणेति—तद्यथा—

शिखा—ज्या साधन करते समय गत और ऐष्य खण्डों के अन्तर ज्या बनाने में १० का भाग देने से जो शेष बचता है उन शेषांशों को गत और ऐष्य खण्डों के अन्तर से गुणा कर बीस का भाग देने से लब्धि को क्रम और उत्क्रम ज्या बनाने में क्रमशः गतैष्य ज्यान्तर में कम और अधिक करने से वह ज्या साधनोपयुक्त स्पष्ट भोग्य खण्ड होता है ।

एवं धनुष बनाते समय खण्डों में जितने खण्ड घट जायं और जो शेष रहे उसके आधे से गतैष्य खण्डान्तर को गुणा कर ऐष्य खण्ड से भाग देने से फल को गतैष्य खण्डैक्य के आधे में क्रमशः क्रम धनुष में कम और उत्क्रम धनुष में अधिक करने से धनुष साधनोपयुक्त भोग्य हो जाता है जैसे—क्रमोत्क्रमज्या करते समय

$$\text{शेष सम्बन्धि ज्या वृद्धि} = \frac{\text{शे}}{१०}\left(\text{योंद} \pm \frac{\text{अं}\times\text{शे}}{२०}\right)$$

$$\therefore १०\ \text{शेज्यावृ} = \text{शे}\left(\text{योद} \pm \frac{\text{अं}\times\text{शे}}{२०}\right)$$

$$\therefore \text{शे} = \frac{१०\times\text{शे. ज्या}}{\text{यो} \pm \frac{\text{अं}\times\text{शे}}{२०}} \qquad \because \text{शे} = \frac{१०\ \text{ज्या वृ}}{\text{भो खं}}$$

$$= \frac{१०\times\text{शे. ज्या}}{\text{योद} \pm \frac{१०\times\text{ज्यावृ}\times\text{अं}}{२०\times\text{भो खं}}}$$

$$= \frac{१०\ \text{ज्या वृ}}{\text{योद} \pm \frac{\text{ज्यावृ}\times\text{अ}}{२\ \text{भो खं}}}$$

$\therefore$ शे $= \dfrac{१० \text{ ज्या वृ}}{\text{योद} = \dfrac{\text{अंशेज्या}}{२ \text{ भो खं}}} = \dfrac{१० \text{ ज्या वृ}}{\text{स्प भो खं}}$ आचार्य का मत उपपन्न हुआ।

अथवा वीज गणित से—गतैष्य खण्डान्तर के मान का संकेत "वि" है।

स्पष्ट भोग्य खण्ड मान=य। शेषांश $= \dfrac{१० \times \text{शेज्या}}{\text{य}}$

$$\text{य} = \frac{\text{यो}}{२} \mp \frac{\text{वि.} \times \text{शे}}{२०} = \frac{\text{यो}}{२} \mp \frac{\text{वि} \times १० \times \text{शेज्या}}{२० \times \text{य}} = \frac{\text{यो}}{२} \mp \frac{\text{वि} \times \text{शेज्या}}{२ \text{ या}}$$

$$२\text{य} = \text{यो} \mp \frac{\text{वि} \times \text{शेज्या}}{\text{य}}$$

$$२\text{य}^२ = \text{यो} \mp \text{वि} \times \text{शेज्या}$$

$$२\text{य}^२ - \text{यो. य} = \mp \text{ वि. शेज्या}$$

$$४\text{य}^२ - २\text{य. यो} = \pm २\text{वि. शेज्या}$$

$$४\text{य}^२ - २\text{य. यो} = \mp \frac{\text{यो}^२}{४} = \frac{\text{यो}^२}{४} \mp २ \text{ वि. शेज्या}$$

$$२\text{य} - \frac{\text{यो}}{४} = \sqrt{\frac{\text{यो}^२}{४} + २ \text{ विशेज्या}} = \text{मू}$$

$$२\text{य} = \text{मू} + \frac{\text{यो}}{२}$$

$$\therefore \text{या} = \frac{\text{मू} + \dfrac{\text{यो}}{२}}{२}$$

इस प्रकार असकृत गणित से (अनेक बार के गणित करने से) भोग्य खण्ड स्पष्ट भोग्य खण्ड हो जाता है यह शिरोमणि के संशोधक का मत है।*

खण्डानि विशोध्याथो शेषं यातैष्यखण्डविवरघ्नं।
द्विगुणेन तेन यातैष्यैक्यार्धकृतेर्विहीनयुक्तायाः।
मूलेन तदैक्यार्धं युक्तं दलितं भवत्स्पष्टम्।
भोग्यं क्रमोत्क्रमधनुःकरणायैवं गुरुत्वतो न कृतम्॥

अर्थात्—पहिले विशोध्य खण्डानि से इष्ट ज्या का धनुष का, क्रमज्या के लिये "यातैष्ययोः खण्डकयोर्विशेषः" इस प्रकार भोग्य खण्ड साधन करना चाहिए। फिर इसी को

* महामहोपाध्याय श्री पं० बापूदेव शास्त्री जी सिद्धान्तशिरोमणि के संशोधक नाम से प्रसिद्ध हुये हैं। (गणकतरङ्गिणी में देखिये।)

भोग्य खण्ड मान कर पुनः "विशोध्य खण्डानि" से इष्ट ज्या धनुष की क्रमज्या से भोग्य खण्ड अनेक बार करने से स्पष्ट होता है, इस अनिर्वाच्य अन्तर को समझते हुये भी इस अनेक बार के गणित गौरव की आचार्य ने उपेक्षा की है तो भी संशोधक का गणित कौशल स्तुत्य है।

इदानीं केन्द्रमभिधीयते ; ततो धनर्णकल्पनां भुजकोटिकल्पनाञ्च श्लोकचतुष्टयेनाह —

मृदूच्चेन हीनो ग्रहो मन्दकेन्द्रं
चलोच्चं ग्रहोनं भवेच्छीघ्रकेन्द्रम् ।
तुलाजादिकेन्द्रे फलं स्वर्णमेवं
मृदु ज्ञेयमस्माद्विलोमञ्च शीघ्रम् ॥ १८ ॥

त्रिभिर्भैः पदं तानि चत्वारि चक्रे-
क्रमात् स्यादयुग्युग्मसंज्ञा च तेषाम् ।
अयुग्मे पदे यातमेष्यन्तु युग्मे-
भुजो बाहुहीनं त्रिभं कोटिरुक्ता ॥ १९ ॥

ये दोःकोट्योः स्तः क्रमज्ये तदूने-
त्रिज्ये ते वा कोटिदोरुत्क्रमज्ये ।
ये दोःकोट्योरुत्क्रमज्ये तदूने
त्रिज्ये ते वा कोटिदोष्णोः क्रमज्ये ॥ २० ॥

दोः कोटिज्यावर्गहीनौ त्रिभज्या-
वर्गौ मूले वा तयोः कोटिदोर्ज्ये ।
एवं द्युज्याक्रान्तिजीवे मिथः स्तो
दृग्जयाशङ्कू यच्छ्रुतिर्वा त्रिभज्या ॥ २१ ॥

स्पष्टानि—अत्रोपपत्तिर्गोले कथितैव, तथापि बालावबोधार्थं किञ्चिदुच्यते । अत्र समायां भूमौ त्रिज्यातुल्येन कर्कटकेन वृत्तं कृत्वा भांशैः ३६० अङ्कयम् । तन्मध्ये पूर्वापरां याम्योत्तराञ्च रेखां कृत्वा प्राच्याः सकाशात् सव्यक्रमेण किल पदानि कल्प्यानि वृत्ते रेखाऽवच्छिन्नानि । तेषां क्रमेणायुग्मयुग्मसंज्ञा च । अत्र प्रथमपदे प्राच्याः सकाशाद्वृत्तेऽभीष्टस्थाने बिन्दुः कार्य्यः । तस्य बिन्दोः प्राच्यपरायाञ्च यदन्तरं सा दोर्ज्या । बिन्दोर्याम्योत्तरायाञ्च यदन्तरं सा कोटिज्या ; तद्धनुषी भुजकोटिसंज्ञे । यथा यथा स बिन्दुरग्रतश्चाल्यते, तथा तथा दोर्ज्योपचीयते कोटिज्या चापचीयते । पदान्तं प्राप्ते बिन्दौ कोटेरभावः । दोर्ज्या च व्यासार्द्धतुल्या स्यात् । ततो द्वितीयपदे कोटेरुपचयः । तत्पदान्ते कोटिः परमा । भुजस्याभावः । अत एवोक्तम्,—"अयुग्मे पदे यातमेष्यन्तु युग्मे" इति । तथाऽत्र

धनुषि ज्यारूपा या सा क्रमज्या। शररूपं यदन्तरं सोत्क्रमज्या। बाणोनं व्यासार्द्धं चैतदितरज्यातुल्यं स्याज्जीवोनं व्यासार्द्धं तदितरबाणतुल्यं स्यादिति वृत्तोपरि सर्वं दर्शनीयम्।

मरीचिः—अथ मध्यग्रहस्य यत्फलसंस्कारेण स्पष्टत्वं भवति तत्फलज्ञानमावश्यकं तत्साधनार्थमुपजीव्यभूतं केन्द्रं, तद्वशात्फलस्यास्पष्टग्रहे धनर्णत्वञ्च भुजंगप्रयातेनाह—

"मृदूच्चेन हीनो ग्रहो मन्दकेन्द्रं चलोच्चं ग्रहोनं भवेच्छीघ्रकेन्द्रम्,
तुलाजादि केन्द्रे फलं स्वर्णमेव मृदुज्ञेयमस्माद्विलोमं च शीघ्रमि ति।"

ग्रहोऽहर्गणानीतो भगणाद्यः सूर्यादिसामान्यतमः। स मृदूच्चेन। अहर्गणानीतस्वमन्दोच्चेन "भगणाद्येन हीनः शेषं भगणादिकं मन्दकेन्द्रम्, मन्दोच्चोपजीव्यत्वात्। इदं मन्दफलसाधनार्थम्।

शीघ्रफलसाधनोपजीव्यकेन्द्रमाह—चलोच्चमिति। अहर्गणानीतभगणादिशीघ्रोच्चं स्वीयम्, ग्रहेण हीनांशं शेषं भगणाद्यं शीघ्रकेन्द्रम्। न च खेचरोच्चभगणान्तरेणेत्याद्युक्तेन केन्द्रभगणज्ञानात्—"द्युचरचक्रहतो दिनसंचय" इत्यादिना केन्द्रज्ञानं पूर्वमेवोक्तप्रायमिति, पुनरुक्तमिति वाच्यम्। अत्र शीघ्रकेन्द्रस्य मन्दफलसंस्कृतमध्यग्रहोनशीघ्रोच्चत्वेन शीघ्रफलसाधनार्थमंगीकारात्पूर्वसाधितस्याप्रयोजकत्वात्। असकृत्कर्मणि केन्द्रयोः प्रत्येकं भिन्नत्वाभ्युपगमेनैकसूर्यकेन्द्रस्य पूर्वसाधितस्यानुपयुक्तत्वाच्च।

अथ मन्दशीघ्रफलयोर्धनर्णत्वज्ञानार्थमाह—तुलाजादीति। अस्मात् केन्द्रादेव वक्ष्यमाणप्रकारानीतं फलं मृदु मंदफलं तुलादिषड्भे मेषादिषड्भे मंदकेन्द्रे सति क्रमेण स्वर्णं ज्ञेयं मध्यग्रहे धनमृणं स्यात्। शीघ्रं-शीघ्रफलम्। विलोमं-विपरीतम्। तत्तुलादिषड्भे। मेषादिषड्भे शीघ्रकेन्द्रे क्रमेण मन्दस्पष्टग्रहे ऋणं धनं ज्ञेयम्। चः समुच्चये।

अत्रोपपत्तिः—उच्चाद्यथाग्रहस्यान्तरं, तथा फलमुत्पद्यत इत्यग्रे प्रतिपादनाद्ग्रहोच्चान्तरं कार्यमुपजीव्यत्वात्। तत्र मन्दोच्चभगणानां ग्रहभगणेभ्यो न्यूनत्वान्मन्दोच्चेनैव ग्रहो हीनो भवति। ग्रहभगणेभ्यःशीघ्रोच्चभगणानामधिकत्वाद्ग्रहेणैव हीनमुच्चं भवतीति युक्तम्, उपपन्नं केन्द्रयोः साधनम्, फलस्य धनर्णत्वोपपत्तिश्च। उच्चेन हीने ग्रहकेन्द्रे उच्चस्थानान्मेषादिराशीनां गणना। ग्रहेण हीने उच्चे ग्रहस्थानान्मेषादिगणना केन्द्रे भवति। तत्र पूर्वकेन्द्रे मेषादिषड्राश्यन्तर्गते ग्रह उच्चादग्र एव भवति, तुलादि षड्भान्तर्गते तूच्चात्पश्चादेव ग्रहो भवति। द्वितीयकेन्द्रे तु मेषादिषड्भान्तर्गते उच्चस्थानाद्ग्रहः पश्चादेव। तुलादिषड्भान्तर्गते तु ततोऽग्रत एवमुच्चादग्रे मध्यमग्रहस्य वक्ष्यमाणविधिना कक्षामंदप्रतिवृत्तयोरधिष्ठाने मध्यमग्रहात्कक्षावृत्तस्थात्पश्चादेव स्पष्टग्रहस्थानं कक्षावृत्ते भवति। प्रतिवृत्तस्थमध्यग्रहस्थानभूमध्यान्तर्वर्तिसूत्रसंसक्तकक्षाप्रदेशे स्पष्टग्रहस्थानत्वात्। अतो मध्य-

स्पष्टस्थानान्तरं कक्षावृत्तस्थं फलं मध्यमे ऋणम् । पश्चात्तु पूर्वरीत्या मध्यग्रहात्स्पष्टोऽग्र एवेति धनम्। एवमेव मन्दस्फुटस्य कक्षाशीघ्रप्रतिवृत्तयोरधिष्ठानेनोक्तरीत्या धनर्णत्वं ज्ञेयमित्याद्याचार्यवक्ष्यमाणोक्त्योपपन्नम् तुलाजादीत्यादिसंक्षेपः ॥१८॥

अथ ज्यासाधनं राशित्रयान्तर्गतराश्यादेरुक्तं प्राक्। तत्र यदा द्वादशान्तर्गतराश्यादेः राशित्रयान्तर्गतत्वाभावः, तदा तज्ज्यासाधनं कथमतस्तत्रापि पदकथनपूर्वकभुजकोटिकथनव्याजेन राशित्रयांतर्गतत्वं "भुजो बाहुहीनं त्रिभं कोटिरुक्त"ति ।

राशित्रयेण पदम्—राशित्रयं पदसंज्ञम्। राशित्रयान्तर्गतराश्यादेर्ज्यासाधनविषयत्वात्। पदान्तर्गतराश्यादेर्ज्यासाधनं युक्तम् । पदान्तर्गतत्वे तदाहतानीति। एवं चक्रे द्वादशराशिषु पदानि चतुःसंख्याकानि। तथा च राशित्रयान्तर्गते प्रथमपदं, ततः षड्भान्तर्गते द्वितीयं पदमिति त्रिराश्यूनं राश्यादिकं कार्यम्। ततो नवान्तर्गते षड्नं तृतीयपदान्तर्गतं, ततो द्वादशान्तर्गते नवोनचतुर्थपदान्तर्गतमिति राश्याद्यत्रिराश्यन्तर्गतं भवतीति ज्यासाधनं भवत्येवेति न क्षतिः।

अथ चतुर्णां पदानां लाघवात्कोटीकरणमाह-क्रमादिति। तेषां प्रथमादिचतुर्णां पदानां क्रमेणायुग्मसंज्ञा-विषमसंज्ञा स्यात् । प्रथमं तृतीयं पदं विषमसंज्ञम्। द्वितीयं चतुर्थं समसंज्ञमित्यर्थः। संज्ञाफलरूपं वक्ष्यमाणोपयुक्तं भुजसाधनज्ञानमाह—अयुग्मेति । विषमे पदे यद्राश्याद्यं त्रिराश्यंतर्गतं पदगतं तदेव भुजः। समपदे तु पदस्य यदैष्यं पदगतोनत्रिभरूपं भुजः। अन्यथा प्रथमे तृतीये पदे गतम्, द्वितीये चतुर्थे ऐष्यमित्युक्तौ शब्दगौरवापत्तेः। अथ भुजकोट्योः साहचर्यात्कोटिज्ञानमप्याह—बाहुहीनमिति। भुजेनोनं राशित्रयं कोटिः। उक्तेत्यनेन यत्केन्द्रादिक मुक्तं तत्पूर्वाचार्योक्तं स्वकल्पितैर्नेति भावः।

उक्तं च वसिष्ठ-सूर्य-सिद्धान्ते—

"मन्दोच्चं ग्रहतः शोध्यं ग्रहं शीघ्राद्विशोध्यच
शेषं केन्द्रं पदं तस्माद्भुजज्या कोटिरेव च।
गताद्भुज्या विषमे गम्यात्कोटिः पदे भवेत्
युग्मे तु गम्याद्बाहुज्या कोटिज्यातु गताद्भवेदिति ॥"

अत्रोपपत्तिः-वृत्ते द्वादशराश्यंकिते केन्द्राद्वृत्तांतावध्यूर्ध्वाधरतिर्यग्रेखे कार्ये। तत्र वृत्तचतुर्थांशेऽर्द्धज्या उत्पन्नेति, ज्यास्थाने वृत्तचतुर्थांशो राशित्रयमितः, एवं चतुर्षु पदेषु ज्यासाधनस्यैकरूपत्वेन राश्यादेर्यत्पदस्थत्वं तत्पद एव तस्य ज्या कार्येति। राश्यादेः पदज्ञानमावश्यकं, तत्रापि प्रथमतृतीययो र्द्वितीयचतुर्थयोः प्रत्येकं ह्रासवृद्धिसमतया, एकसंज्ञत्वमुक्तम्। प्रथमपदे पदगतानुरोधेन, यद्भवति तस्य प्रथमपदान्ते परमत्वम्। ततो द्वितीयपदे पदगताद्ध्रसतीति पदस्य भोग्येन तद्भवतीति। एवं द्वितीयपदान्ते तद्भाव-ततस्तृतीयपदे पदगतानुरोधेन प्रथमपदवद्भवति। एवं तृतीयपदान्ते परमत्वं ततश्चतुर्थपदेऽपचय इति पदभोग्येन तत्स्थितिः। एवं प्रथमपदे, ऐष्यानुरोधेन यत्तद्द्वितीयपदे गतानुरोधेन तृतीय प्रथम-

वत्। चतुर्थे द्वितीयवत्। तथा च विषमे गतानुरोधेन समे ऐष्यानुरोधेनेति। विषमपदगतं समपदभोग्यमेकवस्तूपजीव्यमिति, द्वयोः संग्रहार्थमेकसंज्ञा युक्तेति-भुजसंज्ञा। अर्थात्पदमध्ये तदितरस्य कोटिसंज्ञा युक्ता। न च संज्ञाव्यत्यय इति वाच्यं प्राचीनानुरोधात्। अतएव भुजकोटिज्ये वृत्तचतुर्थांशे भुजकोटी, त्रिज्या-कर्ण इति क्षेत्रकल्पनं प्राचीनानां युक्तमित्युपपन्नं त्रिभिरित्यादि ॥१९॥

अथ भुजकोट्योः क्रमज्योत्क्रमज्यान्यतरज्ञाने, तदितरज्ञानं प्रकारान्तरेण शालिन्याऽऽह—"ये दोकोट्योः········क्रमज्ये" इति। भुजकोट्योर्ये ज्यासाधन-प्रकारेण क्रमज्ये स्तः, ताभ्यां-ऊने त्रिज्ये ते शेषमिते क्रमेण कोटिभुजयोरुत्क्रम-ज्ये वा। अंशेभ्यो ज्यासाधनप्रकारेणोत्क्रमज्यासिद्धेः। भुजक्रमज्ययोना त्रिज्या कोट्युत्क्रमज्या स्यात, कोटिक्रमज्ययोना त्रिज्या भुजोत्क्रमज्या स्यादित्यर्थः। अत्र स्वजातीयभ्रमवारणाय क्रमपदमिति ध्येयम्।

अत्रोपपत्तिः—वृत्तचतुर्थांशे यथोक्ते दोर्ज्याकोटिज्ये प्राच्यपरव्यासार्ध-दक्षिणोत्तरव्यासार्धसूत्राभ्यां देये। ततो दोर्ज्या तच्चापान्तरे प्राच्यपरव्यासार्धे-भुजोत्क्रमज्या। एवं कोटिज्या तच्चापान्तरे दक्षिणोत्तर व्यासार्द्धे कोट्युत्क्रमज्येति। तत्र भुजक्रमज्योनं दक्षिणोत्तरव्यासार्द्धं कोट्युत्क्रमज्या। कोट्युत्क्रमज्योनं दक्षिणोत्तर व्यासार्द्धं भुजक्रमज्या तुल्यम्। एवं कोटिक्रमज्योनं पूर्वापरव्यासार्द्धं भुजोत्क्रमज्या-भुजोत्क्रमज्योनं पूर्वापरव्यासार्द्धं कोटिक्रमज्यातुल्यम्। भुजकोटिज्याभ्यां भुज-कोटिभ्यां पदे आयतक्षेत्रस्योत्पन्नत्वादित्याद्युक्तप्रायं सुगमं च व्यासार्द्धमानस्य सर्वतो वृत्ते त्रिज्यातुल्यत्त्वादित्युक्तमुपपन्नम् ॥२०॥

अथ भुजकोटिक्रमज्यान्यतरज्ञाने, तदितरक्रमज्याज्ञानं शालिन्याऽऽह—

दोः कोटिज्यावर्गहीनौ त्रिभज्या वर्गौ मूले वा तयोः कोटिदोर्ज्ये।
एवं द्युज्याक्रांतिजीवे मिथः स्तो दृग्ज्याशंकूत द्युतिर्वा त्रिभज्ये॥

भुजक्रमज्यावर्गोनस्त्रिज्यावर्गस्तन्मूलं कोटिक्रमज्या। तत्तु भुजोत्क्रमज्यावर्गो-नस्त्रिज्यावर्गस्तन्मूलं कोट्युत्क्रमज्या। कोट्युत्क्रमज्यावर्गोनस्त्रिज्यावर्गस्तन्मूलं भुजो-त्क्रमज्येति वा। अत्र "समद्विघातः कृतिरुच्यते"······तथा "त्यक्त्वान्त्याद्विषमा-त्कृतिं द्विगुणयेत्······"इत्यादिना "पंक्तेर्दलं स्यात्पद"मित्यनेन मूलं ज्ञेयम्। तत्र सावयवयो निरवयवयो र्वा करणीराशौ षट्त्रिंशच्छतगुणितात्तस्मान्मूलं षष्टिभक्तं मूलं स्यादिति ध्येयम्।

उक्तप्रकारमन्यत्राप्यतिदिशति एवमिति—द्युज्याक्रान्तिज्ये वक्ष्यमाणे मिथः अन्योन्यमेवमुक्तरीत्या। द्युज्यावर्गोनस्त्रिज्यावर्गस्तन्मूलं क्रान्तिज्या। क्रान्तिज्या-वर्गोनस्त्रिज्यावर्गस्तन्मूलं द्युज्येत्यर्थः। त्रिप्रश्नाधिकारेप्येतदतिदेशस्थलमाह— दृग्ज्या शंकू इति। दृग्ज्यावर्गोनस्त्रिज्यावर्गस्तन्मूलं शंकुः, शंकुवर्गोनस्त्रिज्या वर्गस्तन्मूलं दृग्ज्येत्यर्थः।

ननु यथा त्रिप्रश्नाधिकारे स्थलं दर्शितं तथान्येप्यधिकारेषु कथं न दर्शितमत-

आह—यद्धृतिरिति। त्रिज्या ययोः भुजकोट्योः कर्णस्तावुक्तरीत्या मिथःस्तः किं बहुस्थलदर्शनेन।

अत्रोपपत्तिः—वृत्तचतुर्थांशे भुजज्या भुजः। तदुत्क्रमज्योनपूर्वापरव्यासार्धं कोटिज्यातुल्य कोटिः। वृत्तमध्याद्भुजान्तगसूत्रं व्यासार्धतुल्यं कर्ण इति जात्य त्र्यस्रस्य प्रत्यक्षत्वाद् भुजकोटिज्यान्यतरवर्गोनत्रिज्यावर्गस्तन्मूलं तदितरं स्यादिति युक्तम्। त्रिज्यावर्गस्तद्वर्गयोगत्वात्। एवं ययोर्भुजकोट्योस्त्रिज्या कर्णस्तावुक्तदिशा-भवतः। कर्णवर्गस्य भुजकोटिवर्गयोगत्वात्। अतएवोत्क्रमज्यया क्षेत्राभावात्तद-सिद्धिः, द्युज्याकोटिः, क्रान्तिज्याभुजस्त्रिज्याकर्ण इति क्रान्तिक्षेत्रे। शंकुः कोटिः, दृग्ज्याभुजस्त्रिज्याकर्ण, इति छायाक्षेत्रेऽपि द्युज्याक्रान्तिज्ये शंकुदृग्ज्ये भुजकोटिरूपे उक्तरीत्या भवत इति किं चित्रम् ॥२१॥

दीपिका—"पूर्वापरापकृष्टास्ते गतिं यान्ति पृथग्विधामिति तथा···ग्रहात्प्राग्भगणार्धस्थः प्राङ्मुखं कर्षतिग्रहम्। उच्च संज्ञोऽपरार्धस्थस्तद्वत् पश्चान्मुखं ग्रहमिति"—सौरसिद्धान्ते सम्युगुक्तत्वादुच्चो नाम प्रातिमण्डलिकः प्रदेशविशेषः ग्रहविम्बाकर्षण-समर्थः दैवसंज्ञकश्च प्रसिद्धः। मध्यमग्रहसम्बन्धेन मन्दोच्चं, मन्दस्फुटसम्बन्धेन शीघ्रोच्च-मिति मनसि ध्येयम्। शेषं स्पष्टम्।

शिखा—अपनी कक्षा में विलक्षण गति से जाता हुआ ग्रह किस स्थान पर है उसे जानना है। मध्यमाधिकार में अहर्गण और भगण से ग्रह का मध्यम स्थान ज्ञात किया गया है वह स्थूल है। इस स्थूल ग्रह को मध्यम ग्रह कहा है। इस मध्यम ग्रह की राशि आदि की स्थिति आकाश में जहाँ पर है वह हमारे दृष्टि पथ में नहीं हो रही है, दृश्य ग्रह के विम्ब से यह मध्यम ग्रह अन्तरित है। यह अन्तर अनेक प्रकार के हैं।

आकाशीय ग्रह भ्रमण मार्ग में प्रत्येक ग्रह को आकर्षण करने वाला एक-एक शक्ति पुञ्ज है जिसकी उच्च संज्ञा है। इस उच्च का कोई स्वरूप तो नहीं है, किन्तु यह अदृश्यकाल का एक अमूर्त्त स्वरूप है जो ग्रहों की गति का कारण है। इन्हीं से ग्रहों में गति उत्पन्न होती है। यह उच्च दक्षिण और बायें, वायु रूप रस्सी से ग्रह विम्ब को अपनी ओर खींचते हैं। पूरब आकर्षण से मध्यम ग्रह से स्पष्ट ग्रह (दृश्य ग्रह) आगे, एवं पश्चिम के आकर्षण से मध्यम ग्रह से स्पष्ट ग्रह पीछे दृश्य होता है। ईश्वरदत्त आकर्षण शक्ति से ये ग्रह चलते हैं। यह नवीनों के आकर्षण सिद्धान्त के ये मत भी आचार्यों के उक्त इसी मत के आधार पर प्रचलित है।

ग्रह गोल केन्द्र से मन्दप्रतिवृत्त के केन्द्र तक गये हुये दृक्सूत्र संलग्न मन्दप्रतिवृत्तीय मन्दोच्च (आकर्षण केन्द्र) की स्थिति से (मन्दोच्च से अथवा आकर्षण केन्द्र से) मध्यम ग्रह तक मन्दप्रतिवृत्त का चाप मन्द केन्द्र, एवं भूमि मध्य केन्द्र से ग्रह गोल मध्य तक ले जाये गये सूत्र संलग्न शीघ्रप्रतिवृत्त में (शीघ्रोच्च के भ्रमण से) मन्दस्पष्ट ग्रह से शीघ्रोच्च तक शीघ्र शब्द सम्बन्धेन शीघ्र केन्द्र है। इसीलिये मन्दोच्च में मध्यम ग्रह को घटा देने से मन्द केन्द्र और शीघ्रोच्च में मन्दस्पष्ट ग्रह को घटा देने से शीघ्र केन्द्र होता है। आचार्य का कथन सयुक्तिक ठीक है। मन्दोच्च से आगे तीन राशि के अन्तर तक ग्रह होने से कर्कादि केन्द्र, एवं पीछे तीन राशि के अन्तर तक ग्रह के होने से मकरादि केन्द्र सिद्ध होता है।

मन्दोच्च + ३ राशि = कर्कादि केन्द्र ।

मन्दोच्च — ३ राशि = मकरादि केन्द्र ।

इसी प्रकार ग्रह से शीघ्रोच्च तक शीघ्र केन्द्र होन से—

शीघ्रोच्च + ३ राशि = मकरादि केन्द्र ।

शीघ्रोच्च — ३ राशि = कर्कादि केन्द्र ।

केन्द्र के उपचय से यहाँ पर ग्रह की वक्रगति कल्पना करनी चाहिए ।

प्रत्येक वृत्त में १२ राशियां हैं। अतः ३ तीन राशि का एक वृत्त पाद (वृत्त का चतुर्थांश) $\left(\frac{३६०^\circ}{४} = \frac{९०^\circ}{३} = ३०^\circ = \text{एक राशि} \right)$ कहना ठीक है। इस प्रकार एक वृत्त में ४ चार पाद हुये। इसी अभिप्राय से छन्द शास्त्र में भी प्रत्येक छन्द के ४ पाद कहे गये हैं। प्रथम पाद को विषम पाद या विषम पद, एवं द्वितीय को सम पद, तृतीय को विषम पद, तथा चतुर्थ पाद को समपद कहा गया है। एक पद में ९०° तथा ९०°×६०=५४०० कलायें भी स्पष्ट हैं।

नीचे के इस क्षेत्र को देखने से सब स्पष्ट होगा। जैसे क प ह म वृत्त में कह और

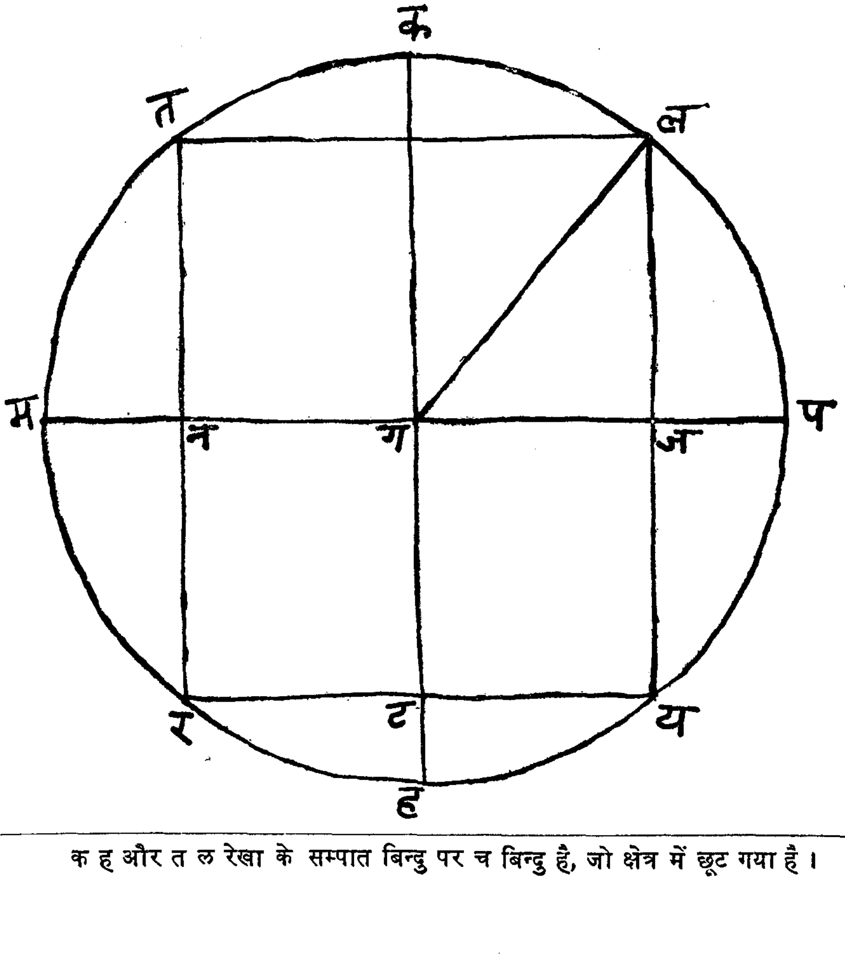

क ह और त ल रेखा के सम्पात बिन्दु पर च बिन्दु है, जो क्षेत्र में छूट गया है।

म प रेखाऐं परस्पर लम्ब रूप हैं। क ग प, प ग ह, ग ह म, और म ग क ये चार सजातीय चाप क्षेत्र हैं। यहां पर क प ग यह प्रथम पद, विषम पद, प ह ग द्वितीय पद, समपद, ह ग म तृतीय पद, विषम पद, और म ग क चतुर्थ पद, सम पद संज्ञक हैं।

कल्पना कीजिये प्रथम पद में कोई ल बिन्दु है अतः क ल=गतचाप=भुज, लप=ऐष्य चाप=कोटि, तथा लच=भुज चाप की ज्या, एवं लज=कोटिचाप की ज्या, कही जावेगी।

यदि क विन्दु ग्रह कक्षा का उच्च विन्दु, और ल विन्दु को ग्रह विम्ब का केन्द्र मानें तो उक्त भुजज्या को केन्द्रज्या एवं कोटिज्या को केन्द्र कोटिज्या कहा जावेगा।

दूसरे पद में क य=केन्द्र यह चाप ऐष्य चाप होगा। भुज चाप तीन राशि से सदा कम होने से क ह=६ रा—य क=य ह, यही भुज चाप हुआ। भुज चाप को ९०° में घटाने से कोटि चाप होता है इसलिये ९०°—य ह चाप=य प चाप, यह कोटि चाप हुआ। तो यट=भुजज्या=केन्द्रज्या, यज=कोटिज्या=केन्द्र कोटिज्या हुई। इसी प्रकार, तृतीय चतुर्थ पद में भी समझना चाहिए। इसी अभिप्राय से आचार्य ने विषम पद में भुज, गत चाप, कोटि ऐष्य चाप, तथा सम पद में गत चाप कोटि, और ऐष्य चाप को भुज संज्ञा दी है। "अयुग्मे पदे यातमेष्य मिति"—इसी प्रकार—

कच=भुज की उत्क्रमज्या, कग—गच=त्रिज्या—भुज कोटिज्या=त्रि—कोटिज्या भुज। तथा पज=कोटि की उत्क्रमज्या=गप—गज=त्रि—भुजज्या=त्रि—ज्याभु अर्थात् कोटिज्या को त्रिज्या में कम करने से भुज की उत्क्रमज्या तथा भुजज्या को त्रिज्या में कम करने से कोटि की उत्क्रमज्या होती है।

ग से ल विन्दु तक गई हुई रेखा ग ल का नाम वृत्त व्यासार्ध या त्रिज्या कहा है। गल^2 =ग ज^2+ज ल^2=त्रिज्या^{2}=भुजज्या^{2}+कोटिज्या^{2} $\therefore$ त्रिज्या^{2}—भुजज्या^{2}=कोटिज्या^{2} या त्रि^{2}—कोटिज्या^{2}=भुजज्या$^\circ$। "दोः कोटिज्या वर्ग हीनौः"······उपपन्न हुआ।

एवं द्युज्याक्रान्तिजीवे······इसी उक्त प्रकार—इस पर त्रिप्रश्नाधिकार में विशेष विचार मिलेगा।

इस ज्या, कोटिज्या, उत्क्रम, कोटि उत्क्रम आदि चापीय गणित को समझ कर उच्च बिन्दु से ग्रह बिम्ब तक का चाप रूप अन्तर जाना गया है। मध्यमा धिकार में मध्यम ग्रह का ज्ञान किया गया है इसे दृक्प्रत्यय करने के लिये और भी आधुनिक मुख्य संस्कार हैं किन्तु, मन्दोच्च और शीघ्रोच्च के आकर्षण से मध्यम ग्रह में, मन्द फल और शीघ्र फल को गोल क्रमानुसार धन और ऋण करने से स्पष्ट ग्रह जाना गया है। वह कैसे ? प्रथम मन्द फल लाने के प्रकार को नीचे के क्षेत्रदर्शन से सम्यक् समझा जायगा—जैसे—

भूगर्भीय—क केन्द्र से त्रिज्या (क स्प=क स्प'=क ग्र$_2$=क ग्र$_1$) व्यासार्ध से कक्षावृत्त, म स्प स्प' म' ग्र$_2$ग्र$_1$ बनाना चाहिए। फिर भूगर्भ से प्रत्येक ग्रह का जो परम फल (परमाधिक फल) है उस सम्बन्ध के वृत्त की त्रिज्या का नाम जो अन्त्य फलज्या है उतनी दूरी उच्चगत रेखा मे उच्चाभिमुख चल कर इस विन्दु से भी त्रिज्या व्यासार्ध से जो

वृत्त बनेगा उसका नाम मन्द प्रतिवृत्त होगा, उसे भी ग्र उ ग्र'$_1$ग्र^{2}ग्र^1 को भी बनाना चाहिए। ये दोनों वृत्त एक धरातल गत तुल्य व्यासार्धों से भिन्न-भिन्न केन्द्रों से होने से सम्पात करेंगे।

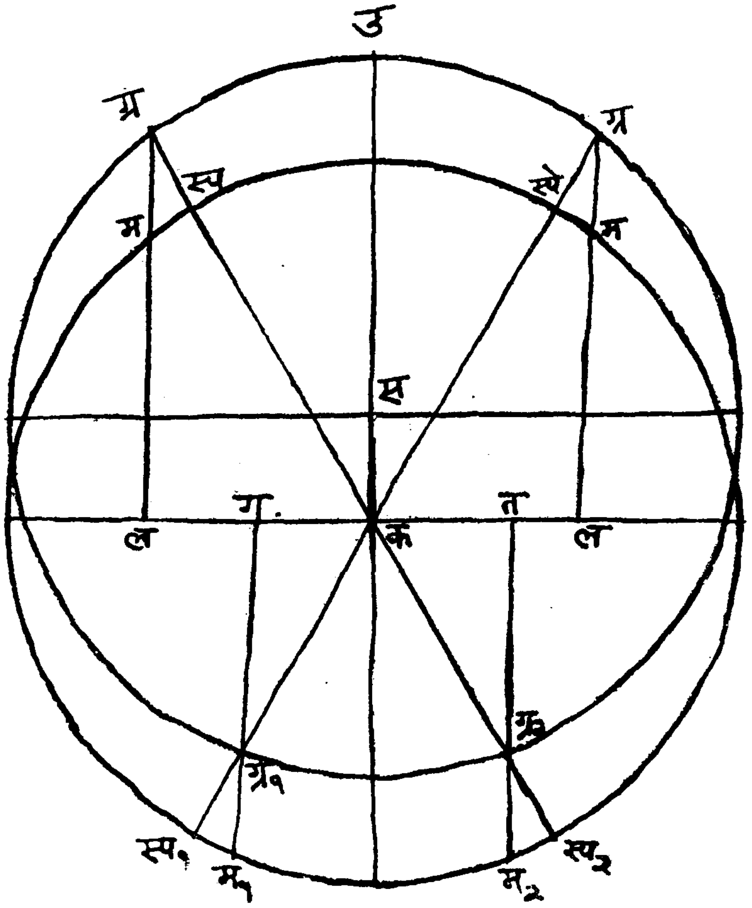

प्रतिवृत्त में प्रथम पदीय मध्यम ग्रह=ग्र

कोटि रेखा संसक्त कक्षावृत्त में मध्यम ग्रह=म

कर्ण रेखा संसक्त कक्षावृत्त में मन्द स्पष्ट ग्रह=स्प

स्प म=मन्द फल चाप। मन्दोच्च=उ। मन्द केन्द्र=उ ग्र।

द्वितीय पद में—प्रतिवृत्त में मध्यम ग्रह=ग्र$_1$

कोटि रेखा में मध्यम ग्रह=म$_1$

कर्ण रेखा संसक्त मन्द स्पष्ट ग्रह=स्प$_1$ मन्द फल चाप=स्प$_1$ म$_1$

• क्षेत्र में दाहिनी तरफ म और ग्र बिन्दु पर संकेत छूट गया है इसलिये म=म' ग्र=ग्र', समझना चाहिये।

तीसरे पद में—

प्रतिवृत्तीय मध्यम ग्रह=ग्र$_{२}$

कक्षावृत्तीय कोटि रेखा में मन्द स्पष्ट ग्रह=स्प$_{२}$ । मन्द फल चाप=स्प$_{२}$ म$_{२}$

एवम् चतुर्थ पद में

प्रति वृत्तीय मध्यम ग्रह=ग्र$'$

कक्षा वृत्तीय मध्यम ग्रह=म$'$

प्रतिवृत्तीय मन्द स्पष्ट ग्रह=स्प$'$। मन्द फल चाप=स्प म$'$। यहाँ पर प्रथम द्वितीय पदों में मन्दफल ऋण, तृतीय चतुर्थ पद में मन्दफल धन होता है—क्षेत्र में स्पष्ट दीखता है। अर्थात् मन्दोच्च से नीच तक ग्रह होने से मन्दोच्च और ग्रह का अन्तर मेषादि ६ राशि होने से मन्दफल से कम मध्यम ग्रह मन्द स्पस्ट ग्रह होता है। इसी प्रकार नीच से उच्च तक तुलादि ६ राशि केन्द होने से मन्दफल से अधिक मध्यम ग्रह मन्द स्पष्ट ग्रह होता है—खगोल गणित पटु इस बात को अच्छी तरह समझते हैं।

शीघ्रफल में ठीक इसके विपरीत धन और ऋण की स्थिति होती है। शीघ्रोच्च स्थान में शीघ्रफल का अभाव उसके बाद फल प्रवृत्ति होने से मध्यम ग्रह अपने शीघ्रोच्च से कमगतिक होने से प्रतिवृत्त में अवलम्बित होता है। इसलिये शीघ्रोच्च से नीच तक जब शीघ्र केन्द्र होता है वहां ग्रह और उच्च का अन्तर मेषादि ६ राशि के मध्य में होने से शीघ्रफल धन होता है। एवं नीच से उच्च तक तुलादि केन्द्र ६ राशि होने से शीघ्रफल ऋण होगा ही इसीलिये,"तुलाजादि केन्द्रें फलं स्वर्णमेवं मृदुज्ञेयमस्माद्विलोमञ्च शीघ्रम्" स्पष्ट उपपन्न हुआ।

पूर्व आकर्षण से मध्यम ग्रह से स्पष्ट ग्रह आगे होने से फल धन और पश्चिम आकर्षण से मध्यम ग्रह से स्पष्ट ग्रह पीछे आकर्षण होने से फल ऋण होगा यह विचार को ध्यान में रखने से उक्त बात शीघ्र समझ में आवेगी।

अथ मन्दपरिधीनाह—

मन्दोच्चनीचपरिधिस्त्रिलवोनशक्र–१३।४०
भागा रवेर्जिनकलोनरदा ३१।३६ हिमांशोः।
खाश्वा ७० भुजङ्गदहना ३८ अमरा ३३ भवाश्च ११
पूर्णेषवो ५० निगदिताः क्षितिजादिकानाम् ॥ २२ ॥

वा० भा०—इह ग्रहफलोपपत्त्यर्थं मन्दोच्चनीचवृत्तानि पूर्वैः कल्पितानि। तेषां प्रमाणान्येतावन्तो भागाः।

अत्रोपपत्तिः।—ग्रहस्य यन्त्रवेधविधिना यत् परमं फलमुत्पद्यते तस्य ज्या परमफलज्यान्त्यफलज्या चोच्यते। अन्त्यफलज्यातुल्यव्यासार्द्धेन यद्वृत्तमुत्पद्यते तन्नीचोच्चवृत्तम्। तत्परिधिस्त्रैराशिकेन। यदि त्रिज्याव्यासार्द्धे भांशाः ३६० रिधिस्तदाऽन्त्यफलज्याव्यासार्द्धे किम्? इति लब्धं परिधिभागाः। एवमर्का- त्रिलवोनशक्रा इत्यादय उत्पद्यन्ते।

मरीचिः—अथ मन्दफलानयनार्थं ग्रहाणां मन्दपरिधि सिंहोद्धत्याह—मन्दोच्चनीच·········इति। क्षितिजादिकानामिति। फलोपपत्यर्थं मन्दोच्चनीच-वृत्तानि पूर्वैः प्रथमं कल्पितानि, तेषां परिधिमानमेतावंतो भागास्तत्र सूर्यस्य चत्वारिंशत्कलाधिकत्रयोदशांशाश्चन्द्रस्य षट्त्रिंशत्कलायुतैकत्रिंशदंशाः, क्षितिजादि-कानाम्—मंगल-बुध-गुरु-शुक्र-शनीनाम्, क्रमेण परिध्यंशाः सप्ततिः। अष्टत्रिंशत्। त्रयस्त्रिंशत्। एकादश। पंचाशत्।

ननु सूर्यसिद्धान्तादौ—

"रवेर्मन्दपरिध्यंशाः मनवः शीतगो रदाः।
युग्मान्ते विषमान्ते च नखलिप्तोनितास्तयोः॥
युग्मान्तेऽर्थाद्रयः खाग्निसुराः सूर्या नवार्णवाः।
ओजे द्व्यगा वसुयमा रदा रुद्रा गजाब्धय॥

इत्यनेन भिन्ना एव पदद्वय भेदे तवोक्तास्तत्कथमुक्तं भिन्नमानं पदद्वये एकमानं चेत्यत आह—निगदिता इति। तथा च······विष्णुधर्मोत्तरांतर्गतब्रह्मसिद्धान्तोक्त-भगणानामुक्तत्वात्तदुक्ता एव परिधिभागा अंगीकृता इति न क्षतिरितिभावः। तथा च विष्णुधर्मोत्तरे "त्रिभागोनाश्चतुर्दशभागाः सूर्यस्य। एक त्रिंशद्भागाः षट्त्रिंशत्कलाश्चन्द्रमसः। सप्ततिर्भौमस्य। वसुरामा बुधस्य। गुणरामा जीवस्य। भवाः शुक्रस्य। त्रिंशच्छनैश्चरस्य। एवं मन्दपरिधय इति। न चैवं शनेः। पञ्चाशत्कथमुक्तास्त्रिंशदेव वक्तव्याः। अतएव तदनुसारिणा ब्रह्मगुप्ताचार्येण बुध-मन्दपरिध्यंशाः वसुरामाः सुरगुरोस्त्रयस्त्रिंशत्। रविजस्य शून्यरामा इत्युक्तम्। अर्कजस्य खगुणा इति सिद्धान्तशेखरेपीतिचेन्न। आचार्येण स्ववर्तमानकाले त्रिंशताकाशे आनीत स्फुटदर्शनेदर्शनात्प्रत्यक्षदृष्टशनेर्विपरीतकर्मणा मन्दपरिधेः पंचाशन्मितस्य तन्मिता'एवोक्ताः। यथाशनिमन्दोच्चभगणाश्चतुःपंचाशदंगीकृताः।' मूले तु स्वल्पान्तरेण सूर्यसिद्धान्तोक्तयुग्मपदान्तीयपरिधिसमानाः। अतएव तत्काले सूर्यसिद्धान्तो न दृग्योग्यः। अन्यथा तन्मूलकत्वेनैव ग्रन्थकरणापत्तेः। यद्वा पूर्णोषव इवेत्यत्रत्रिंशत्क्रमादिति पाठस्य क्वचिद्दर्शनात्तदंगीकारात्। अतएव करणकुतूहलोक्त मुनिपंचचन्द्रैरित्यत्रोपपत्तौ "नामदेन" ब्रह्मसिद्धान्ते त्रिंशदुक्ताः। *शिरोमणिसिद्धान्तेऽपि त्रिंशत्क्रमान्निगदितेति वा पाठ उक्तोऽस्तीत्युक्ताः। एवमत्र विचारे कृते मेषादिकेन्द्रे मुनिपंचचन्द्रा इत्यनेन भागहारेण प्राय आकाशे दृग्योग्य स्यात्तुलादि केन्द्रे शशिपञ्चदस्रैरित्यनेन भागहारेण भवत्यतो मेषादिकेन्द्रे त्रिंशन्मन्द-परिधिस्तुलादौ पूर्णोषव इति संभाव्यते। कुतूहलोक्तमंदकेन्द्राच्छिरोमण्युक्तकेन्द्रस्य वैपरीत्यादित्युक्तं युज्यते।

अत्रोपपत्तिः—कक्षावृत्ते यत्र मध्यग्रहस्तत्स्थानं केन्द्रं कृत्वा परममन्दफल-क्रमज्या तुल्येन व्यासार्द्धेन यद्वृत्तं तन्मन्दनीचोच्चवृत्तमिति पूर्वव्यपदेशात्तस्य-

*अत्र "सिद्धान्तशिरोमणौ", इत्यस्य स्थाने लेखकदोषाच्छिरोमणिसिद्धान्ते इत्युक्त-मिति प्रतिभाति।

कक्षावृत्तस्थभागप्रमाणेन यद्भागमितः परिधिस्तदंशमितो मन्दनीचोच्चवृत्त परिधिः। भगणोपपत्तौ प्रत्यहं वेधेन स्पष्टग्रहज्ञानात्तथा शीघ्रफलव्यस्तसंस्कारेण मन्दस्पष्टस्य प्रत्यहे ज्ञानात्तन्मध्ययोरन्तरं मन्दफलमित्युक्तरीत्या प्रत्यहं मन्दफलानि जातानि। तेषां मध्ये यदेवात्यूनं तत्परमं मन्दफलमित्युक्तभगणोपपत्तौ-ज्ञानात्तस्योक्तविधिना या क्रमज्या सा परमफलज्या ततस्त्रिज्याव्यासार्द्धेन कक्षावृत्ते षष्ट्यधिकशतत्रयमिता भागास्तदा परमफलक्रमज्याव्यासार्द्धेन सा मंदनीचो-च्चवृत्तपरिधौ केत्यनुपातेन तत्रकक्षाभागमानेन संपूर्णभागास्ते उक्तांकमिताः। अतएव परमफलोत्क्रमज्ययोक्तपरिध्यंशानुपपत्तिः। कक्षावृत्तानपेक्ष्यत्वे च तत्रापि स्वतन्त्रत्वेन तुल्यभागमानेन षष्ट्यधिकशतत्रयभागास्संति। अतोऽधिकन्यूनमानेन द्वयोः सत्वे न क्षतिः ॥२२॥

दीपिका—अत्र परं मन्दफलस्य ज्या मन्दान्त्यफलज्या उच्यते। अन्त्यफलज्याा व्यासार्धेन विधीयमानं यद्वृत्तं तदेव नीचोच्चवृत्तमिति मनसि ध्येयम्। तस्य परिधिस्तन्नीच्चोच्चवृत्तपरिधिश्चोच्यते। त्रिज्याव्यासार्धे भांशपरिधिस्तदान्त्यफलज्या व्यासार्धे क इत्यनुपातेन मन्दनीच्चोच्चवृत्तपरिधिज्ञानं सुगमम्। वेधेन सर्वेषां ग्रहाणामन्त्यफलज्या मानानि समानीयाचार्येणेह मन्द परिधय पठिताः।

शिखा—मध्यम ग्रह और मन्द स्पष्ट ग्रह के परम अन्तर का नाम परम मन्द फल है। मन्दफल चाप की ज्या का नाम मन्दफलज्या है। परम मन्दफलज्या का नाम मन्दान्त्य फलज्या है। परम मन्दफलज्या व्यासार्ध से निर्मित वृत्त का नाम मन्द नीचोच्च वृत्त है। इस वृत्त की परिधि का नाम मन्द नीचोच्च वृत्त परिधि है। किसी बड़े वृत्त की त्रिज्या में उस वृत्त में ३६०° अंश होते हैं तो इस मन्दान्त्य फलज्या व्यासार्ध में कितने अंश होंगे, इस माप से यह मन्दनीच्चोच्च वृत्त की परिधि होगी।

मध्यमाधिकार में वेध से ग्रहों का परंफल जाना गया है इसी आधार से प्रत्येक ग्रह की मन्दनीच्चोच्च वृत्त परिधियां आचार्य ने पढ़ी हैं।

सूर्य	की	मन्दपरिधि	१३°।४०′
चन्द्रमा	,,	,,	३१।३६′
मंगल	,,	,,	७०°।०′
बुध	,,	,,	३८°।०′
गुरु	,,	,,	३३°।०′
शुक्र	,,	,,	११°।०′
शनि	,,	,,	५०°।०′

ब्रह्मगुप्त के ब्रह्म सिद्धान्त को आगम मान कर भास्कराचार्य ने इस सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

ब्रह्मगुप्त ने निरक्षदेशीय (नाड़ीवृत्त धरातलीय) निरक्षोदयादि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की परिधियां देख कर उन्हें अपने स्फुटब्रह्मसिद्धान्त में लिखा है, जो भास्कराचार्य से नहीं मिलती हैं। इसका क्या कारण हो सकता है? ब्रह्म गुप्त मत से—

बु०	३०°।०′	२८°।०′
वृ०	३३°।०′	३२°।०′
शु०	१२°।०′	११°।०′
श०	४९°।०′	४८°।०′

"यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" वैयाकरण विद्वानों की इस उक्ति के अनुसार दृग्गणित की एकता स्थापित करने के अभिप्राय को महत्व देने की भावना से आचार्य भास्कर ने अपने गुरु ब्रह्मगुप्त की मन्दपरिधि की स्थूलता का सूक्ष्म रूप समझ कर ग्रहों की सूक्ष्म दृग्गणितैक्य सम्बन्ध की मन्दपरिधियां पढ़ी हैं, ऐसा मेरा विचार विद्वानों को भी सोचना और समझना चाहिए। क्योंकि मन्द परिधियां स्थिर नहीं हैं—ऐसा सभी आचार्यों का कथन है। इसलिये मन्दफल भी भिन्न-भिन्न होता है—यह बात वेध से स्पष्ट है। तारतम्य से स्थान विशेष (समविषम पदान्त) की मन्दपरिधि की स्वल्पान्तर से स्थिरता मानकर इष्ट स्थानीय परिधि जानी गई है, और इसी आधार से इष्ट स्थानीय मन्दफल ज्ञात किया गया है—

इससे वेध का ही प्रामाण्य सिद्ध होता है। इसलिये दृग्गणितैक्य मत की स्वीकृति में सभी आचार्यों की एक वाक्यता ध्वनित होती है।

अथ भौमादीनां चलपरिधीनाह।—

एषां चलाः कृतजिनाश्विलवेन हीना २४३।४०
दन्तेन्दवो १३२ वसुरसा ६८ वसुबाणदस्राः २५८।
पूर्णाब्धयो ४० ऽथ भृगुजस्य तु मन्दकेन्द्र-
दोः शिञ्जनी द्विगुणिता त्रिगुणेन ३४३८ भक्ता ॥२३॥
लब्धेन मन्दपरिधी रहितः स्फुटः स्यात्।
तच्छीघ्रकेन्द्रभुजमौर्व्यथ बाणनिघ्नी।
त्रिज्योद्धृताशुपरिधिः फलयुक् स्फुटः स्या-
द्भौमाशुकेन्द्रपदगम्यगताल्पजीवा ॥२४॥
त्र्यंशोनशैल ६।४० गुणितार्द्धयुतस्य राशे-
र्मौर्व्योधृताप्तलवहीनयुतं मृदूच्चम्।
भौमस्य कर्किमकरादिगते स्वकेन्द्रे
लब्धांशकैर्विरहितः परिधिस्तु शैघ्र्यः ॥२५॥

वा० भा०—एषां भौमादीनां चलाश्चलनीचोच्चवृत्तपरिधिभागा एते। अथ शुक्रस्य मन्दकेन्द्रे या दोर्ज्या सा द्विगुणिता त्रिगुणेन ३४३८ भाज्या। फलेन मन्द-परिधिस्तस्य रहितः सन् स्फुटो भवति। अथ भौमस्य प्रथमं शीघ्रकेन्द्रं कृत्वा तद्

रवि के धनफल की स्थिति में लङ्कादेशीय पूर्वक्षितिज में रवि की परिधि		=१३°।२०′
,, ,,	मध्यान्ह में	=१३°।४०′
,, ,,	पश्चिम में	=१४°।०′
,, ,, ऋण फल की स्थिति में लङ्कादेशीय पश्चिम में		=१३°।२०′
इसी प्रकार चन्द्रमा के ऋण फल में लङ्का क्षितिज के पूर्व में		=३०°।४४′
	मध्यान्ह में	=३१°।३६′
	पश्चिम क्षितिज में	=३२°।२८′
	चन्द्र धन फल पूर्व क्षितिज में	=३०°।४४′
	मध्यान्ह में	=३१°।३६′
	पश्चिम क्षितिज में	=३०°।४४′

इसी प्रकार	मंगल की मन्दनीचोच्च वृत्तपरिधि		=७०°
	बुध ,,	,,	=३८°
	गुरु ,,	,,	=३३°
	शुक्र की समपदान्त में	,,	=११°
	विषम पदान्त में	,,	=९°
	शनि की मन्द परिधि	,,	=३०°

"आर्य भट्ट" ने वेध से सब ग्रहों की परिधियाँ जान कर उनमें ४½ अंश से अपवर्त्तन-देकर ग्रहों की मन्दनीचोच्चवृत्त की परिधियां पढ़ी हैं—

इन सबको ४½ से गुणने से

सूर्य की	मन्दनी.	वृ.प.	३	१३°।३०′
चन्द्रमा	,,	,,	७	३१°।३०′
मंगल	,,	,,	१४	६३°।०′
बुध	,,	,,	७	३१°।३०′
गुरु	,,	,,	७	३१°।३०′
शुक्र	,,	,,	४	१८°।०′
शनि	,,	,,	९	४०°।३०′

यहां आर्यभट्ट और ब्रह्म गुप्त का सूक्ष्म अन्तर प्रत्यक्ष है। लल्लाचार्य और आर्यभट्ट की समता होना स्वाभाविक है—क्योंकि "तच्छिष्यो लल्लः" आर्य भट्ट का शिष्य लल्ल था ऐसी किंवदन्ती भी है।

आजकल प्रचलित सूर्यसिद्धान्त के मत से ग्रहों की मन्द परिधियां

	समपदान्त में	विषम पदान्त में
सू०	१४°।०′	१३°।४०′
चं०	३२°।०′	३१°।४०′
मं०	७५°।०′	७२°।०′

यस्मिन् पदे वर्त्तते, तस्य यद्गतं, यच्च गम्यं, तयोरल्पस्य या ज्या, सा त्रिभागोनैः सप्तभिरंशैः ६। ४० गुणनीया। ततः पञ्चचत्वारिंशद्भागानां ज्ययानया २४३१ भाज्या। यल्लब्धं भागादिफलं तदनष्टं स्थाप्यम्; तेन कुजस्य मन्दोच्चं सहितं कार्य्यम्। यदि शीघ्रकेन्द्रं मकरादिषट्के, कर्क्यादिषट्के तु हीनं कार्य्यम्। एवं मन्दोच्चं स्फुटं भवति। अथ कुजस्य यः पठितः शीघ्रपरिधिः स तेनानष्टस्थापितेन फलेन सदैव वर्जितः सन् स्फुटो भवति।

अत्रोपपत्तिः;—एषां भौमादीनां यानि परमाणि शीघ्रफलान्युपलभ्यन्ते तेषां ज्यान्त्यफलज्या; ततः प्राग्वत् परिधिभागाः। अथ शुक्रस्य ये मन्दपरिधिभागा रुद्रतुल्याः पठितास्ते युग्मपदान्ते। ओजपदान्ते तु नव ९। अवान्तरेऽनुपातः। यदि त्रिज्यया परिध्यन्तरं द्वयं २ लभ्यते तदेष्टदोर्ज्यया किम्? इति। फलेन परिधिरपचीयमानत्वाद्वर्जितः कृतः। तथा तस्य यः शीघ्रपरिधिः पठितो वसुबाणदस्रा इति २५८ एष युग्मपदान्ते। ओजपदान्ते तु पञ्चाधिकः २६३। अवान्तरेऽनुपातेन यत् फलं तदुपचीयमानत्वाद्धनं कृतम्। अथ भौमस्य यन्मन्दोच्चं गणितागतं तच्छीघ्रकेन्द्रपदसन्धिषु सर्वेषु तथाविधमेव। पदमध्ये पुनस्त्रिभागोनैः सप्तभिरंशैरधिकमेव भवति मृगादि केन्द्रे। कर्क्यादौ तु हीनम्। तथा तस्य यः शीघ्रपरिधिः पठितः, असौ पदसन्धिषु। पदमध्ये तु तैर्भागैरून एव। तदनन्तरेऽनुपातः। यद्यर्द्धयुतराशिज्यया २४३१ त्रिभागोनाः सप्त भागा लभ्यन्ते, तदा पदगतगम्याल्पज्यया किम्? इति। फलमुपचया-पचयवशाद्धनर्णम्। अत्रागम एव प्रमाणम्।

मरीचिः—अथ भौमादीनां शीघ्रफलानयनार्थं शीघ्रपरिधीन्, शुक्रपरिधेः स्पष्टत्वे च भौममन्दोच्चे विशेषं तच्छीघ्रपरिधावपि वसंततिलकात्रयेणाह— एष्पांचलाः······भक्तेति। लब्धेनं मन्द परिधी रहितः स्फुटः स्यात्तच्छीघ्रकेन्द्र भुजमौर्व्यथवाणनिघ्नी। त्रिज्योद्धृताशुपरिधिः फल युक् स्फुटः स्याद्-भौमाशुकेन्द्र पदगम्य गताल्प जीवा।···परिधिस्तु शैघ्र इति।

एषां मंगलादीनां चलाः शीघ्रनीचोच्चपरिधयः। शीघ्रफलोपपत्यर्थं शीघ्रनीचोच्चवृत्तानि पूर्वैः कल्पितानि। तेषां परिधिमानमेतावंतो भागास्तत्र भौमस्य चत्त्वारिंशत्कलाधिकास्त्रिचत्त्वारिंशदधिकशतद्वयं भागाः। त्रिलवेन हीना इत्यस्य सम्बन्धात्। बुधस्य द्वात्रिंशदधिकशतभागाः। गुरोरष्टषष्टिः। शुक्रस्याष्टपञ्चाशद्युतशतद्वयं भागाः। शनेश्चत्वारिंशत् त्रिलवेन हीना इत्यस्यान्वयात्। सूर्यचन्द्रयोस्तु तदभावात्तदभावः प्रसिद्धः। अतएव पूर्वश्लोके लाघवार्थं पूर्वार्धेन सूर्यचन्द्रयोर्मन्दोच्चनीचपरिधि कथनम्। तथा च विष्णुधर्मोत्तरे भौमस्य शीघ्र परिधिर्गुणवेदाश्विनो भागाः लिप्ताश्चत्वारिंशत्। बुधस्य यमाग्नि चन्द्राः, अष्टरसाः जीवस्य वस्वर्थपक्षाः, शुक्रस्य पंचत्रिंशत्सौरस्येति। न चात्रापि शनेः पंचत्रिंशद्वक्तव्याः कथं चत्वारिंशत्। अतएव ब्रह्मगुप्तेन ज्ञशीघ्रपरिधिर्द्विगुणचन्द्राः देवगुरोरष्टरसा भास्करपुत्रस्य शरगुणाः स्पष्ट इत्युक्तमितिवाच्यम्। स्वसत्ताकाले चत्वारिंशत्परिधेः

प्रत्यक्ष शनितो विलोमकर्मणा दृष्टत्वात्तदंगीकारात्। मूलं तु सूर्यसिद्धान्तीयौ-जपदांतीयशनिशीघ्रपरिधिः वियद्वेदाः शीघ्र कर्मणि कीर्तिता इत्युक्तेः। अतएव तदनुसृत्य "सिद्धान्तशेखरे"ऽपि स्वकालानुरोधेन वसुरामाभास्करैरित्युक्तं पूर्णाश्च इत्यत्र पंचाग्नय इति पाठ दर्शनाद्वा।

ननु मतभेदात्सूर्यसिद्धान्तोक्तवद्युग्मविषमपदपूर्वकं मन्दशीघ्रपरिधि कथनं नास्त्यपि न क्षतिस्तथापि ब्रह्मगुप्तेन मन्दोच्चनीचवृत्तस्य परिधिभागाः सितस्य विषमान्ते न च युग्माते रुद्राः शीघ्रौजान्तेऽग्निरसयमलाः युग्मान्तेऽष्टशर यमा इत्यनेन सूर्य सिद्धान्तोक्तवत्। शुक्रस्य तूक्तम् ओजयुगमान्तर गुणा भुजज्या त्रिज्ययोद्धृता युग्मवृत्ते धनर्णं स्यादोजादूनेऽधिके स्फुटेति सूर्योक्तवत्। त्रिज्याहृता भुजज्या युगयुक्परिधिद्वयान्तरगुणाभ्यां युग्मान्तपरिधिरधिको हीनो हीनोऽधिकः स्पष्ट इति स्पष्टपरिधिसाधनं चोक्तं तत्कथमनेन शुक्रपरिधियुग्मपदांतीय एवौज पदान्ते सर्वत्र चोक्तः। स्फुटोक्तेरभावादित्यत आह-अथेति—अनन्तरं स्वोपजीव्य ब्रह्मगुप्तोक्त विशेष उच्यत्ते, अन्यथा विरोधापत्तेः। तत्र मन्द परिधावाह—भृगु-जस्येति शुक्रस्य। मन्द केन्द्रदोः शिंजीनी। शुक्रमन्दोच्चेन हीनः सूर्यस्तस्य राश्यादेः पदं कार्यं तस्योक्तरीत्या भुजस्तस्योक्तविधिना क्रमज्यासाध्या। अर्द्धज्यैव ज्याभिधानाऽत्र सर्वत्र केवल ज्या पदेन क्रमज्याग्रहणस्यांगीकारात्। सा द्विगुणा। त्रिगुणेन त्रिज्यया, गुणशब्दस्य ज्यावाचकत्वात्, भक्ता लब्धेन अत्र यत्फलं तेन मन्द-परिधिः पूर्वोक्त एकादश हीनः स्फुटः। वक्ष्यमाणकर्मण्युपयुक्तो मन्दपरिधः स्यात्। तथा च भुजपरमत्वे उक्तरीत्या नवपरिधिर्भवतीति विषम पदान्ते नवमितः परिधिः सिद्धः। विषमपदान्ते भजस्य परमत्वात्। इष्ट भुजादेवेष्टपरिधिरपितदनु-रोधात्सिद्ध इति लाघवेन सर्वमुक्तमिति भावः। तथापि शीघ्र परिधौ दोषताद-वस्थमेवेति तदाह-तदिति।

अथानन्तरम्। स्पष्टमन्दपरिधेर्मन्दफलं वक्ष्यमाणरीत्या साध्यम्। तत्संस्कृतो मध्यमः सूर्यो मन्दस्फुटः शुक्रो भवतीत्यर्थः। तस्यैतस्य मन्दस्पष्टशुक्रस्य शीघ्रकेन्द्रं मन्दस्पष्टशुक्रेण हीनं शीघ्रोच्चन्तस्य राश्यादेरुक्तरीत्या भुजस्तस्य ज्या पञ्चगुणा त्रिज्याभक्ता। फलयुक्तः पूर्वोक्तशीघ्रपरिधिरष्टपञ्चाशदधिक-शतद्वयमितः स्फुटः शीघ्रफलसाधनोपयुक्तः शुक्रशीघ्रपरिधिस्स्यात्। तथा चात्रापि विषमपदान्ते भुजस्य परमत्वेन नोक्तरीत्या परिधिस्त्रिषु त्रिषष्ठ्यधिकशत-द्वयमितः सिद्ध एवान्यत्रापि तदनुरोधेन स्फुटोऽपि सिद्ध इति लाघवं दर्शित-मिति भावः। ननु तथापिकुजशीघ्रकेन्द्रपदगतयाज्यया त्रिभागोनैः सप्तभिरंशै-र्गुणिताद्यध्यर्द्धराशिज्यया हृतांशैः। अधिकोनः कुजमन्दौ मृगकर्क्यादौ स्फुटौ भवतः तत्स्फुटपरिधिः खनगाः शीघ्रपरिधिराप्तभागोनाः वेदाजिनास्त्र्यंशोनाः। स्पष्टीकरणं कुजस्यैवमित्यनेन ब्रह्मगुप्तेन भौमशीघ्रपरिधौ विशेष उक्तस्तत्प्रसंगा-त्संस्कारफलैक्याच्च भौममन्दोच्चेऽपि संस्कारविशेष उक्त इत्यत्रानुक्तत्त्वेन पुनरुप जीव्यविरोध इत्यत्राह—भौमे इत्यादि।

मंगलस्य शीघ्रकेन्द्रं मध्यभौमेन हीनो मध्यार्कस्तस्योक्तरीत्या पदं गतम्। तत्पृथक्त्रिभादूनं पदभोग्यम्। गतभोग्ययो र्मध्ये यदल्पस्य ज्या, भुजकोटिज्यान्यतराल्पा ग्राह्येत्यर्थः। चत्वारिंशदधोऽवयवयुतैः षड्भिर्गुणिता। राशेरेकेराशेरर्धयुतस्य। एक राश्यर्धयुतस्यैकराशेः सार्धराशेः पञ्चचत्वारिंश-दंशानां मौर्व्याज्यया त्रिज्यावर्गार्धमूलेनेत्यर्थः। नतु द्वादशज्यया। चतुर्विंशतितो न्यूनाधिकखण्डकरणे व्यभिचारात्। भक्ता मंगलस्य पूर्वानीत मन्दोच्चं कर्कादिषड्राश्यन्तर्गते मकरादि षड्राश्यन्तर्गते च केन्द्रे सति क्रमेण प्राग्भागादिफलेन हीनं युक्तं कार्यं एतन्मन्दफलोपसाधनोपयुक्तमित्यर्थः। न तु केवलं विशेषोक्तेः। एतेन प्रथममन्दफलार्थं स्पष्टमन्दोच्चं गणितेन "लक्ष्मीदासेन" कृतं तदपास्तम्। विनिगमनाभावात्। प्रतिस्फुटीकरणे शीघ्रपरिधिमन्दोच्चयोः संस्कारः कार्य इति "पथूदकोक्ते" श्च।

शीघ्र परिधे स्पष्टत्वमाह—लब्धांशकैरिति। पूर्वानीतफलांशादिकैः। भौमस्य शैघ्र्यः शीघ्रनीचोच्चसम्बन्धीपरिधिः प्रागुक्तश्चत्वारिंशत्कलाधिकं त्रिचत्वारिंशतशतद्वयमितः। अतः कार्यश्चकारो शीघ्रफलसाधनोपयुक्तो भवतीत्यर्थः। अन्येषाम्मन्दोच्चानि यथा स्थितान्येव कार्योपयुक्तानि भौमशुक्रव्यतिरिक्तानाम्। शीघ्रपरिधयः। उक्ता एवोपयुक्ता शुक्र व्यतिरिक्तानाम्, मन्द परिधय उक्ता। एव स्पष्टाः। इति पर्यवसितेन न विरोधः।

अत्रोपपत्तिः—भौमादीनां भगणोपपत्त्या परमफलांशाः ज्ञातास्तज्ज्या परमफलज्या। अनया व्यासार्धमित्या मन्दनीचोच्चवृत्ताधिष्ठितग्रहद्वारा ज्ञातमन्दकर्णसूत्रग्रहकक्षाप्रदेशसम्पातरूपमन्दस्पष्टकक्षाप्रदेशस्थानं मध्यं कृत्वा यद्वृत्तं तच्छीघ्र नीचोच्चवृत्तमतः पूर्वानुपातरीत्या शीघ्रपरमफलज्याया इच्छात्वकल्पनेन सिद्धास्तद्वृत्तमानभागा उक्तांकमिताः। सूर्यचन्द्रयोस्तु शीघ्रफलानुपलब्ध्या तत्परिध्यभावः सिद्धः।

अथ शुक्रस्य मन्द परिधिरेकादशमितः, स युग्म पदान्ते। ओज पदान्ते तु नव। अत्रोच्चाद्ग्रहपर्यन्तं केन्द्रात्मककक्षावृत्तप्रदेशे पदानि ज्ञेयानि। तथा च यथा युग्म पदान्ताद्विषमपदस्य गतं यथा भवति तथा तथोक्तपरिधे रपचयो भवति। एवं विषम पदान्ते पदगतस्य परमत्वे नोक्त परिधेः परमोपचयः। ततो युग्मपदान्ते पदभोग्यं यथा यथा ह्रसाति तथा तथापचय एवं भोग्याभावेऽपचयाभावः। अतो द्विमितेन परमापचयेनेष्टकेन्द्रभुजादपचयः साध्यः। भुजस्य तत्तत्पदेतत्तद्रूपत्वात्। अतः, परं भुजज्यया त्रिज्यातुल्ययाद्विमितपरिध्यन्तरं तदेष्ट भुजज्यया किमित्यनुपातेनेष्टकेन्द्र परिध्यन्तरं भवति उक्त परिधेरन्तेरणापचयत्वात्तदन्तरं परिधौ हीनमिति। एवं शुक्रस्य शीघ्रपरिधिरुक्तोऽष्टपंचाशद्युतशतद्वयमितः शीघ्रकेन्द्रस्य युग्मपदान्ते। विषमपदान्ते पञ्चाधिको लक्षितः। तथा च त्रिज्या तुल्यभुजज्यया पंचान्तरं तदेष्ट भुजज्यया किमित्यनुपातेनेष्ट केन्द्रे परिध्यन्तरम्। अनेनोक्त परिधे रुपचयत्वादुक्तपरिधौ युतमित्युपपन्नमथेत्यादि शुक्रस्पष्टपरिधिसाधनम्।

अथ भौमस्य यन्मन्दोच्चं मध्याधिकारानीतं तच्छीघ्रकेन्द्रपदसन्धिषु लक्षितं चतुर्षु पदमध्येषु। गणितागत मन्दोच्चं चत्वारिंशत्कलाधिकषड्भिरंशैर्मकरादिपड्शीघ्रकेन्द्रेऽधिकम्। कर्कादिसड्भे शीघ्रकेन्द्रे हीनमिति लक्षितं मुनिभिः।

एवं भौमस्यशीघ्रपरिधिस्तदंशैरेव पदमध्येषु हीनोपलक्षितः, पदांतेषूक्त एव। इदमतरं पदादेः क्रमेणोपचितं पदमध्ये परमं भवति। ततोऽपचयक्रमेण पदान्ते तदभाव इतीष्टस्थानमुपचयपदार्द्धेऽथवापचयपदार्द्धेऽस्तीति ज्ञानार्थं पदगतभोग्ययोर्मध्येऽल्प ग्रहणम्। अत्राल्पत्वमनधिकत्वं तथा पंचचत्वारिंशद्भागज्यया भुज कोटिज्ययान्यतरया परममन्तरं ६।४० तदेष्टाल्पज्ययाकिमित्यनुपातेनानीततत्फलेन भौममन्दोच्चम्, मृगादिकर्कादिशीघ्रकेन्द्रवशाद्युतोनं स्पष्टं भवति। शीघ्र परिधिस्तु सर्वदा हीन एवेति। तथा दर्शनादित्युपपन्नं भौमाशुकेन्द्रपदेत्यादि।

नन्विदं-कर्म यथा क्रमज्योत्पादितं तथोत्क्रमज्ययापि युक्तमुक्तं युक्तेरोजपदान्ते भुजस्य परमत्वेनोत्क्रमज्याया अपि त्रिज्यातुल्यत्वात्। तथा चोत्क्रमज्या निरास पूर्वकं कथं क्रमज्या ग्रहणं ज्यापदोपादानात्। न च गुणहरयोरुभयत्राभेदेन क्रमज्योत्क्रमज्ययो र्भेदाच्च फलविसंवादादुत्क्रमज्यात्यागऽति वाच्यम्। भौममन्दोच्चसंस्कारफलानयने उत्क्रमज्यया गुणहरयोर्भेदेन गुण्यगुणकयोरभेदा दुत्क्रमज्यांगीकारापत्तेः न चेष्टापत्तिः फलसंवादाभावात्। युक्त्या द्वयोस्तुल्यकारणत्वेनैकत्यागे विनिगमनाविरहाच्च। नह्यत्र दृष्टमन्तरफलक्रमज्यानुरुद्धं येनोत्क्रमज्यानिरासः। अत एव सार्द्धराशिकलाभिः २७०० तत्परमान्तरं तदा पदगत-भोग्यन्तरात्मकलाभिः किमिति स्थूलानुपातेन गुणहरौ गुणेनापवर्त्य करणकुतूहले भौमाशुकेन्द्रे पदयातगम्यस्वल्पस्य लिपाः खखवेदभक्ता इत्युक्तमाचार्यैरिति चेन्न, वृत्ते क्रमोत्क्रमज्याश्रये ग्रहणात्क्रमज्यायाः सम्बन्धाभावात्। तथा कथंचित्सम्बन्धविवक्षायामतिप्रसक्तेः। क्रमज्यासंबन्धस्त्वर्द्धज्याग्रे इत्यादिनाचार्यैः पूर्वमेव साक्षात्प्रतिपादितः। अतएव स्थूलकलानुपातेन फलानयनं साक्षात्सम्बन्धाद्युक्तम्। क्रमज्याद्वारोत्क्रमज्या सम्बन्धेनाऽपि तद्धेतुरेवास्तु किन्ते नेतिन्यायेनान्यथासिद्धत्वेन च ग्रहकर्मण्युक्तक्रमज्यानिरासः स्फुट एवात एवोत्क्रमज्याया साक्षात् सम्बन्धे क्वचित्, त्रिप्रश्नाधिकारे क्रमज्यानिरासस्तद्ग्रहणं च युक्तम्। अनयोः स्वरूपवैषम्यादेकोक्त्या तदानीतफलयोर्भेदोऽपि संगच्छत एव मन्यत्रापीतिदिक्।

ननु भगणोपपत्तौ परमं फलं भगणभोगकाले वारद्वयं भवति, तदभावश्च वारद्वयं युग्म पदान्ते। तथा च युग्मपदान्ते परिधिर्विषमपदान्तस्थ परमफलोत्पन्नपरिधेर्भिन्नः कथं भवति। युग्मपदान्ते फलस्यापचयेनाभावात्। न हि भगणभोग काले त्रिवारं परमफलोत्पत्तिः। येन पूर्वज्ञातपरमफलान्यपरमफलेन परिधेरन्यत्वं सम्भवति। किंच प्रत्यहं परिधेर्भिन्नत्वेन प्रत्यहं परमफलस्य भिन्नत्वे सिद्धे परमत्वव्याघातः। ततोऽपि फलस्याधिक्यसंभवात्। अपि च शीघ्र केन्द्रवशान्मन्दोच्चस्यान्तरं साधितमित्यपि व्यधिकरणम्। तथा दर्शनस्य

मनुष्यकृत्यसाध्यत्वात्। अतएव लघ्वार्यभटेन भागाद्या या लिप्ता रविपरिधि-१३४० रित्युक्ता। चन्द्रान्मृदुपरिधिलवात्मात्मारी सारुजाधाम्द्राः लिप्ताल्यतागीता के मागो माद्यु सं क्रमशश्चलपरिधीनां भागाः कलाः कुजादीनामिति ग्रहाणां परिधी-नुत्त्काग्रे, एतत्संस्कारविनैवैभ्य उक्तरीत्या फलसाधनं निबद्धम्। तदिदमथभृगुजस्य तु मन्दकेन्द्रदोःशिजिनीत्याद्युक्तमाचार्योपहासकरमितिप्रतिभातीतिचेत्-न, भौमशीघ्र-केन्द्रपदभुक्ताभुक्तयोरल्पस्य जीवा चतुर्भिः शतैर्गुणिता द्वादश्या-जीवया विभजेल्ल-ब्धेन मकरादिकेद्दे भौममन्दोच्चं युतं कार्यम् कर्कादिगे हीनमिति। शीघ्रपरिधि-स्थान एवोभयोः केन्द्रयो रिति शुक्रमन्दकेन्द्रज्याव्यासार्द्धोद्धृताल्लब्धेन तन्मन्द-परिधिरूनः स्पष्टो भवति। तस्यैव शीघ्रकेन्द्रज्या व्यासार्धपञ्चांशेन विभजेल्लब्धेन शुक्रशीघ्रपरिधियुतः स्पष्टो भवति। विष्णुधर्मोत्तरे ग्रहगत्यध्याये स्वोपजीव्ये उक्तत्वेनागमप्रामाण्येन युक्तिविरुद्धस्यार्थस्यांगीकारात्। अतएव पूर्व श्लोके इदमागम प्रामाण्येनोच्यत इति सूचनार्थं निगदिता इत्युक्तम्। अन्यथा सूर्य सिद्धान्तोक्त परिधीनां लक्षितस्वपरिधीनामभेदापत्तेरित्यलम् ॥२५॥

दीपिका—अत्र पूज्य गुरुचरणाः—अत्रोपलब्धिरेव वासना। तथापि त्रिज्याव्यासार्धे परिधिर्येन मापकेन मापिता भांशविभागाःस्युस्तेनैव यदि मन्दान्त्यफलज्यावृत्तं शीघ्रान्त्य-फलज्यावृत्तञ्च माप्यते तदोक्तस्थानेषु एतावन्तो मन्दपरिधय शीघ्रपरिधयश्च स्युरिति। तद्यथा $\text{मं०प०} = \frac{३६०^\circ \times \text{मंफज्या}}{\text{त्रि}}$। तथा $\text{शी० प०} = \frac{३६०^\circ \times \text{शीघ्रफज्या}}{\text{त्रि}}$ इत्युपपन्नं भवति।

शिखा—सूर्य और चन्द्रमा एक मन्दफल संस्कार से ही स्पष्ट हो जाते हैं। किन्तु-भौमादि पांच तारा ग्रहों की मन्दफल संस्कार के बाद भी स्पष्टता नहीं देखी जाने से यह पता लगा कि और भी कोई आकर्षण पुञ्ज है जो ग्रहनिष्ठ वृत्त धरातल से ग्रह को पूरब और पश्चिम की ओर आकर्षण करता है। मन्दोच्च आकर्षण की अपेक्षा भी अधिक आकृष्ट करने वाला यह शक्ति केन्द्र है, इसलिये इसे प्रागाचार्यों ने शीघ्रोच्च की संज्ञा दी है। शीघ्रोच्च और मन्दप्रतिवृत्त में मन्दफल संस्कृत मन्दस्पष्ट ग्रह का अन्तर शीघ्र केन्द्र होगा। इस शीघ्र केन्द्र से साधित फल का नाम शीघ्र फल है। मन्दफल साधन की तरह यह शीघ्रफल भी लाया गया है। जैसे मन्दफल साधन में मन्दपरिधियां कही हैं वैसे ही यहां पर शीघ्रपरिधियां भी पढ़ी हैं।

		सूर्य सिद्धान्त मत से	
	आचार्य मत से	समपद में	विषमपद में
जैसे मंगल की शीघ्र परिधि	=२४३°।४०′	२३५°	२३२°
बुध शीघ्रोच्च की ,, ,,	=१३२°।०	१३३°	१३२°
गुरु की शीघ्रपरिधि ,, ,,	=६८° ।०	७०°	७२°
शुक्र शीघ्रोच्च की शीघ्रपरिधि	=२५८°।०	२६२°	२६०°
शनि की शीघ्रपरिधि	=४०° ।०	३९°	४०
ब्रह्मगुप्ताचार्य मत से शनि की शीघ्रपरिधि	=३५° ।०		

सूर्य सिद्धान्त ने शीघ्र परिधियों को भी सम और विषम पद में मन्दपरिधि की तरह पृथक् पृथक् कहा है।

जैसे मन्दपरिधि का व्यासार्ध परम मन्दान्त्यफलज्या की तरह है, वैसे ही शीघ्रपरिधि का व्यासार्ध भी शीघ्रान्त्यफलज्या संज्ञक है। इष्ट स्थान में मन्दपरिधियों की स्पष्टता समझी गई है—सम और विषम पदों में एक रूपता नहीं देखी जाने से पूर्व में जैसे अनुपात किया है, तैसे ही आचार्य ने यहां पर भी शीघ्रपरिधियां एक रूप की नहीं देख कर "अवान्तरेऽनुपातेन यत्फलम्" इत्यादि से इष्ट स्थानीय शुक्र और मंगल की परिधियों के संस्कार कहे हैं, और अन्त में वेध की प्रामाणिकता को समझते हुये भी आगम प्रामाण्य को महत्व दिया है। क्योंकि अपनी शास्त्रीय परम्परा में आगम शब्द बड़े महत्व का है। आचार्य ने तो ब्रह्मगुप्त के ब्रह्म सिद्धान्त को आगम कहते हुये भी शनि की शीघ्रपरिधि में ब्रह्मगुप्त से 5° की अधिकता मानी है—ऐसा क्यों? तो कहना पड़ेगा कि गणित का प्रत्यक्ष प्रमाण वेध ही है।

इदानीं भुजकोट्योः फलानयन माह।—

स्वेनाहते परिधिना भुजकोटि जीवे
भांशैः हृते च भुजकोटिफलाह्वये स्तः।
त्रिज्योद्धृते च यदि वान्त्यफलज्यकाभ्यां
त्रिज्योद्भवं फलमिहान्त्यफलस्य जीवा ॥२६॥

भा० वा०—स्पष्टम्।

अत्रोपपत्तिः;—यावत् केन्द्रं प्रतिमण्डले तावदेव नीचोच्चवृत्ते स्यात्। अतः प्रतिमण्डलदोःकोटिज्ये अनुपातेन नीचोच्चवृत्ते परिणाम्येते। यदि भांशवृत्त एते दोःकोटिज्ये तदा परिध्यंशवृत्ते किम्? इति। अथवा त्रिज्याव्यासार्धे एते दोःकोटिज्ये तदाऽन्त्यफलज्याव्यासार्धे किम्? इति। फलं तुल्यमेव। अन्त्यफलज्या पूर्वं नोक्ता, तदर्थं "त्रिज्योद्भवं फलम्" इत्यादि। त्रिज्या पृथग् ग्रहाणां मन्दशीघ्रपरिधिभागैर्गुण्या भांशैः ३६० भाज्यान्त्यफलज्या भवतीत्यर्थः।

मरीचिः—अथोपयुक्त केन्द्रभुजकोटिफलानयनं सिंहोद्धतयाह—"स्वेनाहते परिधिना भुजकोटिजीवे भांशैर्हृते च.............जीवे"ति। भुज कोटि जीवे मन्द्रकेन्द्रजे शीघ्रकेन्द्रजे अर्द्धज्यैव ज्याभिधानाऽत्रवेद्युत्यक्तत्वात्क्रमपदं विनापि सर्वत्र ज्याशब्देन क्रमज्याया एव ग्रहः सुलभः, स्वेन–यथायोग्यमन्देन शैघ्रेण परिधिना, पूर्वं ज्ञातेन गुणितैर्भांशैः, द्वादशराशीनामंशैः षष्ट्याधिकशतत्रयेणेत्यर्थः, भक्ते फले भुजकोटि फलाह्वये स्तः, अयमर्थः–यो ग्रहः स्पष्टः साध्योऽस्ति तस्य मध्यमस्य पूर्वरीत्या मन्दकेन्द्रस्य भुजकोटिज्ये साध्ये ते स्वीयमान्दपरिधिना गुण्ये षष्ट्यधिकशतत्रयभक्ते फले क्रमेण मन्दकेन्द्रस्य भुजफलं कोटिफलं च स्यात्। एवं तस्यैव पूर्वरीत्या शीघ्रकेन्द्रस्य भुजकोटिज्ये स्वीयशीघ्रपरिधिणोक्तप्रकारेण शीघ्रभुजफलकोटिफले स्त इति। अत्र गणितसौकर्यार्थं लघुभुज

प्रकारान्तरमाह—त्रिज्योद्धृते इति यदि, चकाराद्भुजकोटिज्ये, अन्त्यफलज्य-काघ्न्यौ यथा योग्यम्। परम फलज्यया गुणिते त्रिज्याभक्तक्रियेते तदापि पूर्वोक्त एव भुजकोटिफले वा प्रकारान्तरेण स्तः।

नन्विदमन्त्यफलज्याज्ञानाभावात्कथं कर्तुं शक्यमत आह—त्रिज्योद्भवमिति। भुजकोटिजीवे इति स्थाने त्रिज्यांके गृहीते पूर्वोक्त प्रकारेण यत्फलम्, त्रिज्योत्पन्नं तत्, इह एतद्ग्रंथोक्तमन्त्यफलज्योपजीव्यकर्मणीति निमित्तं सप्तमी। अन्त्य फलस्य परमफलस्य, ज्या स्यात्। तथा च गुणकज्ञानसंभवाद्द्वितीयप्रकारो युक्त एवेति भावः। ननु द्वितीय प्रकारकथनं न युक्तं पूर्व प्रकारे श्रमापेक्षयाधिक गुणसत्वेन गौरवात्। तथाहि-भुजकोट्योः पूर्व प्रकारे हरोयं ३६०। द्वितीय प्रकारे हरश्च गजाग्निवेदाग्निमित त्रिज्यारूपो ३४३८ गुणश्च पूर्वप्रकारे परिधिः, द्वितीय प्रकारे तदधिकान्त्यफलज्यांको गुण इति। किं च द्वितीयप्रकारे गुणकनिमित्तं प्रथमप्रकारस्यावश्यकत्वेन तच्छ्रमाधिक्यात्। न च त्रिज्यायाः नियतत्वे न परिधेश्च पूर्वप्रकारेणैकदानीतफलं स्थिरमिति सर्वदा द्वितीयप्रकारे पूर्वप्रकारश्रमाधिक्याभाव इति वाच्यम्।

शुक्र परिधेर्भौमशीघ्रपरिधेश्च स्पष्टत्वेनानियतत्वात्तच्छ्रमस्य सर्वदा तत्र संभवात्। अतएव प्रथमप्रकारस्य तद्गुणे भुजकोटिज्ये भगणांशविभाजिते इत्यस्यै-वावश्यकत्वे सूर्यसिद्धान्तेऽङ्गीकार इति चेन्न पूर्वप्रकारीयहरा-न्न्यूनत्रिज्याकल्पने तदनुरोधेनान्त्फलज्याया उक्त परिधित कुत्रचिन्न्यूनत्वसंभवेन तादृशस्थले पूर्व-प्रकारश्रमाद्द्वितीयप्रकारे न्यूनश्रमत्वात्। यथाचार्यकल्पितलघुत्रिज्यया १२० द्वितीय प्रकारे हरः १२० पूर्वप्रकारेण परिधित्र्यंशरूपान्त्यफलज्यागुण इत्यतिलाघव-दर्शनात्। एवमन्येष्टत्रिज्यावशादपीति।

अत्रोपपत्तिः—अहर्गणानुपातेनानीतो ग्रहः, आकाशे न्यूनाधिको यदन्तरेण दृश्यते तत् फलं न्यूनाधिकदर्शनात्कारणं तस्य पूर्वाचार्यैः कल्पितम्। क्रान्ति वृत्तानुसारि कक्षा मण्डले ग्रहे भूस्थैर्द्रष्टव्यः। भूगर्भे तस्य मध्यत्वात्। यद्वृत्ते ग्रहो भ्रमति तद्वृत्तमध्यभूगर्भस्थत्वाभावेन मध्यमग्रहस्यादर्शनात्। अन्यथा मध्यस्यैव सर्वदा दर्शनापत्तेः। तस्माद्भूमध्यान्यमध्यकेन्द्रवृत्ताधिष्ठितग्रहः कक्षा-वलये कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नात्पश्चादग्रे वा दृश्यते। तत्र यावान्क्षेत्रावयवस्तदात्मक एव स्पष्टो ग्रहः, कक्षास्थमध्यस्पष्टान्तरं कक्षायां फलमिति तदुत्पादनप्रकारा-चार्यैरतीन्द्रियदृग्भिः प्रतिवृत्तभंगी नीचोच्चवृत्तभंगी च कल्पिता। तत्र प्रतिवृत्त भंगी व्यवस्था तु समानभूदेशे, एकत्र भूमध्यं प्रकल्प्य ततो त्रिज्याव्यासार्द्धेन वृत्तं कार्यम्। तत्रासव्यक्रमेण मेषादिद्वादशराशीसमप्रदेशानंकयेत्। एकस्मिन् राशौ त्रिंशद्भागांश्च एकैकभागे षष्टिकलास्तत् एवैककलायां षष्टिविकला इत्यादि। तत्रानुपातानीतो ग्रहो मंदोच्चं मेषस्थानाद्राश्यवयवचिन्हेन देयं यथोक्त-स्थाने। ततो भूमध्योच्चस्थानगवृत्तमध्ये रेखा कार्या। तदंतजातमत्स्या त्तन्मानवृत्तमध्ये तत्तिर्यग्रेखा कार्या। ततो भूमध्यादुच्चोन्मुखरेखायां तद्ग्रहस्य

परममन्द फलज्यां दत्वा चिह्नं कार्यम्। तन्मध्यं कृत्वा पूर्वव्यासार्धेन वृत्तं कार्यम्। तत उच्चस्थानाद्रेखा, वृत्तपरिध्यावधि सरला कार्या। तत्र मन्दप्रतिमण्डले मध्यकेन्द्रोपरिगामिनी प्रतिवृत्तोच्चरेखा संपातद्वयोत्पन्नमत्स्याभ्यां रेखा कार्या। उच्चस्थानासन्ने प्रतिवृत्तोच्चरेखासंपातेप्युच्चं चिह्नं कृत्वा ततः सव्येनोच्चक्षेत्रावयवो, यत्प्रतिवृत्तप्रदेशे भवति तत्र मेषादिचिह्न कार्यम्। तत पूर्ववत्प्रतिवृत्ते भगणभागाद्यंकिते मध्यो ग्रहः कक्षावृत्ते देयः। अत्र वृत्ते कक्षास्थग्रहोच्चरेखांतरमित भुजज्या वदुच्चरेखाग्रहान्तरवृत्तांत्तस्थव्यासार्धानुरोधिगणितागतकेन्द्रभुजज्याप्रतिवृत्तस्थ मध्यतिर्यग्रेखाग्रहयोरन्तरं कक्षावृत्तान्तरस्वकोटिज्या गणितानीता भवति। ततः प्रतिवृत्तस्थ मध्यग्रहो भूस्थैः कक्षायां यत्र दृश्यते तन्मन्दस्पष्ट स्थानम्। तत्तु भूमध्यप्रतिवृत्तस्थग्रहोपगतसूत्रकक्षावृत्तप्रदेशसंपाते, इदं कक्षास्थमध्यग्रह चिह्नादग्रे पृष्ठे वा तदा क्रमेण तदन्तररूपं मन्दफलं मध्यग्रहस्य धनमृणमिति पूर्वं युक्तम्। एवं कक्षास्थ मन्दस्फुटस्थानं सिद्धम्।

अथ कक्षायां शीघ्रोच्चं यथागतं दत्वोक्तरीत्या शीघ्रपरमफलज्यया प्रति वृत्तं कृत्वा तत्रोक्तरीत्या मन्दस्फुटग्रहशीघ्रोच्चे दत्वा कक्षावृत्तवदानीतशीघ्र केन्द्रभुजज्या कोटिज्ये शीघ्रप्रतिवृत्तस्थमध्यरेखाभ्यां पूर्ववद् यथा योग्यं तत्र स्तः। शीघ्रप्रतिवृत्तस्थो ग्रहः कक्षात्वलये यत्र दृग्गोचरस्तत्क्षेत्रावयवात्मकः स्पष्टो ग्रहः। दृग्गोचरस्थानं तु शीघ्रप्रतिवृत्तस्थग्रहगतभूगर्भीयसूत्रकक्षावृत्तप्रदेशसंपाते। इदं मन्दस्पष्टादग्रे पश्चाद्वा क्रमेण शीघ्रफलं तदन्तररूपं मन्दस्पष्टग्रहस्य धनमृणमिति पूर्वमुक्त प्रायः।

अथ नीचोच्चवृत्तंभगी रीतिस्तु कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नं मध्यं प्रकल्प्य मंदपरम फलज्यया व्यासार्द्धेन यद्वृत्तं भवति तन्मन्दनीचोच्चवृत्तम्। ग्रहभूमध्योपरिगामिनी वृत्तद्वये ऋज्वी रेखैका कार्या। तद्रेखानीचोच्चवृत्तसंपातयोः रूर्ध्वाधःस्थयोः क्रमेण मन्दोच्चनीचस्थाने कल्पयेत्ततस्तद्वृते भगणांशांकिते उच्चस्थानादुच्चस्यांशादिकमपसव्येन देयम्। तत्र मेषचिह्नं कृत्वा द्वादशराशयः सव्येनांक्याः। तत्र मध्यग्रहो मेषस्थानादंकितक्रमेण देयम्। अथात्रापि ग्रहोच्चरेखान्तरं वृत्तांत्तस्थकक्षावृत्तवद्भुजज्या। नीचोच्चवृत्तमध्यस्थग्रहस्पष्टरचिततिर्यग्रेखा तदंतरं कोटिज्या प्रतिवृत्तवद्भाव्या। परंतु कक्षावृत्ततुल्यप्रतिवृतेत्तदर्शनस्य युक्तत्वे नात्र तद्वृते प्रतिवृताल्पे कथं गणितानीत दोःकोटिज्ययोर्दर्शनं युक्तं संभवति। अत्रान्त्यफलत्रिकज्याया अदर्शनात्। तस्मात्प्रतिवृत्तस्थगणितानीते दोः कोटिज्ये नीचोच्चवृत्ते परिणामिते उक्तरूपे दोःकोटिज्ये तत्र भवतः। अतएव प्रतिवृत्तस्थभांश ३६० परिधिना प्रतिवृत्ते गणितानीते भुजकोटिज्ये तदा प्रतिवृत्ताद्धांशपरिध्यनुसृतोक्तनीच्चोच्चवृत्तपरिधिनात्र के इत्यनुपातेन त्रिज्याव्यासार्द्धे दोः कोटिज्ये तदा परमफलज्याव्यासार्द्धे के इत्यनुपातेन वा नीच्चोच्चवृत्ते भुजकोटिज्ये भवत इति युक्तम्। अनयैव युक्त्या पूर्वानुपातेन त्रिज्यातः परम फलज्योत्पत्तिरन्यथा तत्रानुपाताभ्यां कथं भुजकोटिज्योत्पत्तिः स्यात्। परिणामित-

भुजकोटिज्ययोरसंकरार्थमन्यसंज्ञा कार्या। तत्र भुजकोटिज्योत्पन्नस्य फलरूपत्वात्तत्पदपूर्वकफलसंज्ञा कृता। लाघवात्। अथ भूगर्भीय मन्दनीचोच्चवृत्ताधिष्ठितमध्यग्रहस्थानदृक्सूत्रकक्षाप्रदेशसम्पाते कक्षास्थमध्यग्रहस्थानासन्ने मन्दस्पष्ट ग्रहस्थानमिति पूर्वरीत्या फलं धनमृणं सिद्धम्। एवं कक्षास्थमन्दस्पष्ट ग्रहस्थानं केन्द्रं कृत्वा परमशीघ्रफलज्यया यद्वृत्तं शीघ्रनीचोच्चवृत्तम्। अत्रापि प्राग्रीत्याशीघ्रोच्चं ततः स्वभोगं सव्येन भगणांकिते दत्वा मेषादिचिह्नं, ततः सव्येन द्वादशराशयोऽक्या तत्र ग्रहो मंद स्पष्टो देयः। ततः ग्रहोच्चरेखान्तरं भुजज्यातिर्यग्रेखाग्रहान्तरं कोटिज्येति प्राग्रीत्या शीघ्रकेन्द्रभुजकोटिज्याभ्यां गणितागताभ्यां शीघ्रप्रतिवृत्तस्थाभ्यां परिणामेन शीघ्रकेन्द्रभुजकोटिफले स्तस्ततो भूगर्भीयशीघ्रप्रतिवृत्तस्थ ग्रहगतसूत्रकक्षासंपाते यावान् क्षेत्रविभागस्ताकत्स्पष्टो ग्रहः कक्षावलये दृश्य इति तदंतरालं शीघ्रफलं धनमृणं पूर्वरीत्येति संक्षेपः ॥२६॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—मन्द और शीघ्र परिधियों की स्पष्टता के [illegible] र भुजफल, कोटि और अन्त्यफलज्या का मान निकालने का प्रकार कहा [illegible] में मन्दकेन्द्रज्या, या शीघ्रकेन्द्रज्या, मिलती है [illegible]

$$\frac{\text{[illegible]ा} \times \text{मन्दनीच वृत्तपरिधि}}{\text{३६०}^{\circ}} = \text{मन्दभुज फल} = \frac{\text{केज्या} \times \text{अं फ.}}{\text{त्रि}}$$

$$= \frac{\text{केन्द्रज्या} \times \text{अन्त्यफलज्या}}{\text{त्रि}}$$

$$\frac{\text{शीघ्रकेन्द्रज्या} \times \text{शीघ्रनीचोच्च वृत्तपरिधि}}{\text{३६०}} = \frac{\text{शीकेन्द्रज्या} \times \text{शीघ्रान्त्यफलज्या}}{\text{त्रि}} =$$

शीघ्रभुजफल उपपन्न हुआ।

जहाँ पर मन्दकेन्द्रदोर्ज्या, एवं शीघ्रकेन्द्रदोर्ज्या का मान त्रिज्या के तुल्य होगा वहाँ पर परममन्दफलज्या (मन्दान्त्यफलज्या) तथा परमशीघ्रफलज्या (शीघ्रान्त्यफलज्या) के ही तुल्य मन्द और शीघ्र फल होंगे।

इदानीं कर्णानयनं प्रकारचतुष्टयेनाह।—

स्वकोटिजीवान्त्यफलज्ययोर्योगो मृगादावथ कर्कटादौ।
केन्द्रेऽन्तरं तद्भुजजीवयोर्यद्वर्गैक्यमूलं कथितः स कर्णः ॥२७॥
त्रिज्या तथा कोटिफलेन युक्ता हीना च तद्दोःफलवर्गयोगात्।
मूलं श्रुतिर्वान्त्यफलत्रिमौर्व्यो वर्गैक्यराशेश्च तथा युतोनात् ॥२८॥
त्रिभज्यया कोटिफलद्विनिघ्न्या कोटिज्यया वान्त्यफलद्विनिघ्न्या।
मूलं श्रुतिर्वा मृदुदोःफलस्य चापं बुधा मन्दफलं वदन्ति ॥२९॥

वा० भा०—मृगादौ केन्द्रे कोटिज्यान्त्यफलज्ययो र्यो योगः कर्क्यादौ तु यदन्तरं तस्य भुजज्यायाश्च वर्गैक्यपदं कर्णः स्यात्; तथा मृगादिकेन्द्रे त्रिज्याकोटिफलयोर्योगः कर्क्यादौ तु यदन्तरं तस्य भुजफलस्य च वर्गैक्यपदं वा कर्णः स्यात्; तथा मृगादिकेन्द्रे त्रिज्यान्त्यफलज्ययोर्वर्गयोगात् त्रिज्यया कोटिफलगुणया द्विगुणया च युतादथवा कोटिज्ययान्त्यफलज्यागुणया द्विगुणया च युतात् कर्क्यादौ तु हीनान्मूलं वा श्रुतिः स्यात्। अथ मन्दभुजफलस्य धनुर्ग्रहस्य मन्दफलं भवति।

अत्रोपपत्तिः ;—समायां भूमौ बिन्दुं कृत्वा तां भूमिं प्रकल्प्य ततस्त्रिज्यामितेन कर्कटकेन कक्षाख्यमण्डलं लिखेत्। तद्भगणाङ्कितं कृत्वा मेषादेरारभ्य ग्रहमुच्चं च दत्त्वा तत्र चिन्हे कार्य्ये। ततो भूबिन्दूच्चचिह्नयोरुपरि रेखा दीर्घा कार्य्या। सोच्चरेखोच्यते। अथ तदुत्थमत्स्येन कक्षामण्डलेऽन्या तिर्य्यग्रेखा च कार्य्या। भूबिन्दोरुपर्य्यन्त्यफलज्यामुच्चोन्मुखीं दत्त्वा तदग्रे त्रिज्यामितकर्कटेन प्रतिमण्डलञ्च [illegible] उच्चरेखया सह यत्र सम्पातस्तत्र प्रतिमण्डलेऽप्युच्चं ज्ञेयम्। तस्मा-दुच्चभोगं विलोमं दत्त्वा तत्र प्रतिमण्डले मेषादिर्ज्ञेयः। ततो ग्रहमनुलोमं दत्त्वा [illegible] कार्य्यम्। [illegible] तिमण्डलमध्येऽप्यन्या तिर्य्यग्रेखा कार्य्या। तिर्य्य- [illegible] सर्वत्र भवति। ग्रहोच्चरेखयोरन्तरं दोर्ज्या। [illegible] दाद्भबिन्दगामि सत्रं कर्णः। कर्ण- [illegible]

ग्रह [illegible] मण्डलस्थग्रह [illegible]

सूत्रस्य के [illegible] सम्पातस्तत्र स्फुटो ग्रहः। [illegible] फलम्। तच्च मध्यग्रहात् स्फुटेऽग्रस्थे धनं पृष्ठस्थे त्वृणमिति [illegible]

अथात्र कर्णस्योपपत्तिः-कक्षावृत्तप्रतिवृत्ततिर्य्यक्स्थरेखयोरन्तरे [illegible] ज्या। प्रतिमण्डले कोटिज्यान्त्यफलज्याग्रादुपरि भवति मृगादिकेन्द्रेऽत [illegible] स्फुटा कोटिः। कर्क्यादौ तु तदधोऽतस्तत्र तदन्तरं स्फुटा कोटिः। स्फुटकोटिमूलस्य भूबिन्दोश्च यदन्तरं तद्भुजज्यातुल्यमेव स्यात्। अतस्तयोर्भुजकोट्योर्वर्गयोगात् पदं कर्ण इत्युपपन्नम्। अथ क्रियोपसंहारः।—कोटिज्यान्त्यफलज्ययोर्योगस्यान्तरस्य च वर्गः कार्य्यः। स चैवम्। "खण्डद्वयस्याभिहतिर्द्विनिघ्नी तत्खण्डवर्गैक्ययुता कृतिः स्यात्" इति। तत्र कोटिज्यैकं खण्डम्। अन्त्यफलज्या द्वितीयं खण्डम्। आभ्यां कृता कृतिः। कोअं २ कोव १ अंव १। इयं योगस्य। अन्तरस्येयं कोअं २ कोव १ अंव १। इदानीं दोर्ज्यावर्गः साध्यते।—कोटिज्यावर्गोनत्रिज्यावर्गो दोर्ज्यावर्गः स्यादिति जातो दोर्ज्यावर्गः कोव १ त्रिव १। अनयोर्यावद्योगः क्रियते तावद्धनर्णयोः कोटिज्यावर्गयोस्तुल्यत्वान्नाशे कृते त्रिज्यान्त्यफलज्ययोर्वर्गैक्यं कोटिज्ययान्त्यफलज्यागुणया द्विनिघ्न्या च युतं जातम्। एवं मृगादिकेन्द्रे। कर्क्यादिकेन्द्रे तु तया हीनं भवति। एवं तन्मूलं कर्ण इत्युपपन्नम्। इदं कर्णानयनद्वयं प्रतिमण्डलभङ्ग्या। अथ नीचोच्चवृत्तभङ्ग्या चोच्यते।—

कक्षामण्डले मध्यग्रहस्थानेऽन्त्यफलज्यामितकर्कटेन वृत्तं विलिख्य भूबिन्दोर्मध्यग्रहोपरिगामिनी रेखा कार्य्या, सा तत्रोच्चरेखा। तस्य वृत्तस्य रेखया सह यौ योगौ तयोरुपरितन उच्चसंज्ञः; अधस्तनो नीचसंज्ञः। तद्रेखातोऽन्या तिर्य्यग् वृत्तमध्ये मत्स्येन रेखा कार्य्या। तदपि वृत्तमुच्चप्रदेशाद्भांशैरङ्क्यम्। तत्र उच्चा-

च्छीघ्रकेन्द्रमनुलोमं देयम्; मन्दकेन्द्रन्तु विलोमं देयम्। तत्र शीघ्रकेन्द्राग्रे पारमार्थिको ग्रहः। मन्दाग्रे मन्दस्फुटः। अत्रापि ग्रहोच्चरेखयोरन्तरं भुजफलं ग्रहतिर्य्यग्रेखयोरन्तरं कोटिफलं ग्रहभूम्योरन्तरं प्राग्वत् कर्णः। अथ तदानयनम्—मकरादिकेन्द्रे त्रिज्योर्ध्वतः कोटिफलं दृश्यते। कर्क्यादौ तु तदधः अतस्तदैक्यान्तरं स्फुटा कोटिः। भुजफलन्तु तत्र भुजः। तयोर्वर्गयोगपदं कर्णं इत्युपपन्नम्। अत्रापि क्रियोपसंहारः। अत्र स्फुटकोटिवर्गः खण्डद्वयेन प्राग्वत्। तत्रैकं खण्डं त्रिज्या। द्वितीयं कोटिफलम्। अतः खण्डद्वयस्याभिहतिर्द्विनिघ्नीत्यादिना जातो वर्गः। त्रिकोफ २ त्रिव १ कोफव १। अयं योगस्य। अन्तरस्यायम्। त्रिकोफ २̇ त्रिव १ कोफव १। कोटिफलवर्गोनोऽन्त्यफलज्यावर्गो भुजफलवर्गो जातः। कोफव १̇ अंव १ अनयोर्योगे कोटिफलवर्गनाशे त्रिज्यान्त्यफलज्यावर्गैक्यं त्रिज्याकोटिफलघातेन द्विगुणेन मृगादिकेन्द्रे युतं कर्क्यादौ तु रहितं तस्य पदं कर्ण इत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथ फलानयनोपयुक्त कर्णानयनं विपरीताख्ययाह-"स्वकोटिजीवान्त्यफलज्ययोर्यो योगोमृगादावथकर्कटादौ। केन्द्रेऽन्तरं तद्भुजजीवयोर्यद्वर्गैक्यमूलं कथितः स कर्णः" इति ॥ अथ भुजकोटिज्यातत्फलसाधनानन्तरे मृगादौ मकरादिषड्राश्यन्तर्गते केन्द्रे मन्दकेन्द्रे शीघ्रकेन्द्रे वा क्रमेण स्वकोटिजीवान्त्यफलज्ययोः मन्दकर्णार्थं मन्दकोटिज्यापरममन्दफलज्ययोः शीघ्रकर्णार्थं शीघ्रकेन्द्रकोटिज्यापरमशीघ्रफलज्ययोरिति विवेकार्थं यदंकमितो योग ऐक्यं कर्कादिषड्भान्तर्गते केन्द्रे तयोरेव यथोक्तयोर्यदन्तरं तद्भुजजीवयोः योगान्तरान्यतरयोग्यम्। साध्यकर्णवशान्मन्दकेन्द्रशीघ्रकेन्द्रभुजज्यान्यतरज्याभोगया······तयोरित्यर्थः। वर्गैक्यमूलं समद्विघातयोर्योगस्य पदं यत्, उक्तप्रकारेणानीतं सः मूलांकमितः कर्णः, मंदः शीघ्रो वा स्यादित्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः—कक्षावृत्ते कोटिज्या कोटिः, भुजज्या भुजस्त्रिज्याकर्ण इति प्रागुक्तवद्वृत्तसमत्वात्प्रतिवृत्तेऽपि ग्रहोच्चरेखांतःसूत्रं केन्द्रं, भुजज्या भुजः, प्रतिवृत्तस्थ मध्यतिर्यग्रेखाग्रहान्तसूत्रं कोटिज्या कोटिः, प्रतिवृत्तमध्यग्रहान्तरं त्रिज्याकर्ण इति युक्तम्। अथ भूगर्भस्थानां प्रतिवृत्तस्थग्रहदर्शनस्य कक्षावृत्ते स्पष्टत्वाद् वृत्तमध्य ग्रहान्तरं त्रिज्याकर्ण इति युक्तम। अथ भूगर्भस्थानां प्रतिवृत्तस्थग्रहदर्शनस्य कक्षावृत्तस्पष्टत्वाद्वृत्तद्वयेन क्षेत्रमुपकल्पितं फलानयनार्थम्। तथाहि—कक्षामध्यस्थतिर्यग्रेखाप्रतिवृत्तस्थग्रहान्तरसूत्रं कोटिः। भुजज्या भुज, इत्यायतसमकर्णचतुर्भुजे भूमध्यप्रतिवृत्तस्थग्रहावधि सूत्रं दृक्सूत्रं कर्ण इति क्षेत्रं जात्यमुभयतःप्रत्यक्षम्। तत्र मकरादिकेन्द्रे प्रतिवृत्तस्थग्रहतिर्यङ्मध्यरेखान्तरं कोटिज्यारूपं वृत्ततिर्यग्रेखयोरंतरेणान्त्यफलज्यातुल्येन युतं कोटिः। कर्कादिकेन्द्रे, तु तादृशकोटिज्यारूपमन्त्यफलज्याहीनं कोटिरिति प्रत्यक्षम्। उच्चरेखाया एकत्वेन भुजज्या भुजताभ्यां तत्कृत्योर्योगपदं कर्ण इत्युक्तरीत्या कर्णज्ञानं सिद्धमत उपपन्नं कोटिजीवान्त्यफलज्ययोरित्याद्युक्तम् ॥२७॥

अथ लाघवात्प्रकारान्तरेण कर्णानयनं मन्दफलसाधनमिन्द्रवज्रोपजातिकाभ्यामाह—"त्रिज्या तथा कोटिफलेनयुक्ता हीना च तद्दोः फलवर्गयोगात्। मूलं श्रुतिर्वान्त्यफलत्रिमौर्व्योर्वर्गैक्य राशेश्चतथा युतोनात्। त्रिभज्यया कोटिफलद्विनिघ्न्या कोटिज्यया वान्त्यफलद्विनिघ्न्या मूलं श्रुतिर्वा मृदुदोः फलस्य चापं बुधा मन्दफलं वदन्ति" इति—त्रिज्याकोटिफलेन प्रागानीतेन तथा मकरादिकर्कादिषड्राश्यन्तर्गतकेन्द्रे क्रमेण युक्ता हीना वा कार्या तद्दोःफलवर्गयोगात्। त्रिज्याकोटिफलयोरैक्यमन्तरं वा योज्यम्। भुजफलं प्रागानीतयोः समद्विघातयोरैक्यात् मूलं प्रकारान्तरेण कर्णः।

अथ लघुभूतं तदानयनप्रकारमाह-अन्त्यफलेति। परम फलज्या त्रिज्ययोर्वर्गैक्यराशेः। समद्विघातयोर्योगांकात्। चकाराद्द्विष्ठा। एकत्र कोटिफलद्विनिघ्नया त्रिभज्यया। त्रिज्याकोटिफलघातेन द्विगुणेनेत्यर्थः। अपरत्रान्त्यफलद्विनिघ्न्या कोटिज्याद्विगुणपरमफलज्ययोर्घातेनेत्यर्थः। तथा मकरकर्कादिषड्राश्यन्तर्गतकेन्द्रवशात्। क्रमेण युतोनात् मूलमुभयत्र तुल्यः कर्णः प्रकारान्तरेण स्यादित्यर्थः।

अथ यदर्थमेतावान्प्रयासस्तदाह—मृदुदोः फलस्येति। मन्दकेन्द्रभुज फलस्य स्वेनाहते···इत्यादिनोक्तप्रकारेणानीतस्य पूर्वोक्तरीत्या यद्धनुस्तन्मन्दफलम्। नन्वेवमर्थाच्छीघ्रकेन्द्रभुजफलस्य धनुः शीघ्रफलमपि संभवतीति दो: फलस्य चापं फलमिति साधारण्येन कथं नोक्तम्। मृदु, मंदशब्दग्रहणं च व्यर्थमत आह-बुधा इति। अतीन्द्रियद्रष्टारः सूर्यवसिष्ठादयः वदंति। तथाचोक्तं सूर्यसिद्धान्ते "तद्भुजज्याफलधनुर्मान्दं लिप्तादिकं फलमिति"। लघुवसिष्ठसिद्धान्तेऽपि तथाच—

"मन्द केन्द्रस्य बाहुज्या स्वनीचोच्चेन संगुणा।
भगणांशकृताल्लब्धधनुर्मंदफलं स्मृतमिति"॥

शीघ्रफलमेतादृशं न भवति तद्विशेषोक्तेरितिभिन्नरीतित्वाद्यदुक्तं तत्ससमीचीनमिति भावः।

अत्रोपपत्तिः—नीचोच्चवृत्तभंग्या, नीचोच्चवृत्ते पूर्वानीते भुजकोटिफले तद्वृत्तमध्यरेखाभ्यां तद्वृत्तस्थग्रहपर्यन्तं यथायोग्यं भुजकोटी, अन्त्यफलज्याकर्ण इति क्षेत्रं स्वतन्त्रम्। अथ तत्र वृत्तद्वयाभ्यामपि क्षेत्रमेकं प्रागवदुपकल्पितम्। तथाहि-नीच्चोचवृत्तस्थः ग्रहकक्षावृत्तमध्यस्थतिर्यग्रेखयोरंतरसूत्रमूर्ध्वाधरं कोटिः। कोटिमूलाद् भूमध्यपर्यन्तमन्तरं कक्षामध्यत्तिर्यग्रेखाभुजफलतुल्यं भुजः। ग्रहभूमध्यान्तरालं तिर्यक्कर्ण इति जात्यत्र्यस्त्रक्षेत्रं प्रत्यक्षम्। तत्र मकरादि केन्द्रे कोटिसूत्रे कक्षामध्यगतिर्यग्रेखानीचोच्चवृत्ततिर्यग्रेखयोरंतरं त्रिज्यातुल्य मिति प्रत्यक्षम्। तदुपरि ग्रहस्थानपर्यन्तं कोटिफलं कोटिरिति, तद्योगे महत्क्षेत्रस्य कोटिः। कर्कादिकेन्द्रे तु त्रिज्यातुल्यतिर्यग्रेखांतर एव कोटिफलस्य सत्त्वेन तदंतरं मुख्यक्षेत्रस्य कोटिरिति प्रत्यक्षम्। वृत्तद्वयोर्ध्वरेखैक्याद् भुजफलं

भुजः। आभ्यां पूर्ववत्कर्णं इत्युपपन्नं त्रिज्येत्याद्यव्यवहितवा*। अथैतद्रीत्या मकरादिकेन्द्र, त्रिज्या कोटिफलयोर्योगवर्गः भुजफलवर्गयुतः कर्कादिकेन्द्रे त्रिज्या-कोटिफलयोरंतरवर्गः भुजफलवर्गयुतः कर्णवर्गो भवति। तत्राचार्यैः लाघवार्थं कोटिफलवर्गोनोऽन्त्यफलज्या वर्गो भुजफलवर्गो भवतीति कृतः। तद्वृते भुज-कोटिफलान्त्यफलज्यानां भुजकोटिकर्णरूपत्वेन कोटिश्रुतिकृत्योरंतरात्पदं बाहुरित्यु-क्तत्वात्। अत्र त्रिज्याकोटिफलयोर्युतिवर्गो योज्य इति खंडद्वयस्याभिहतिर्द्विनिघ्नी, तत्खंडवर्गैक्ययुताकृतिर्वेत्युक्तप्रकारेण वर्गः त्रिज्याकोटिफलरूपखण्डद्वयाभ्यां कृतो जातः। त्रिज्याकोटिफलघातो द्विगुणः कोटिफलत्रिज्यावर्गाभ्यां योज्य इति। कर्कादौ तु तदंतरवर्गे योज्य इति "चतुर्गुणस्य घातस्य युतिवर्गस्य चान्तरम् राश्यन्तर कृत्तेस्तुल्यमि"ति बीजगणितोक्त प्रकारेण पूर्वं युतिवर्गः त्रिज्याकोटिफल-घातेन द्विगुणेन युतस्तद्वर्गयोग इति रूपचतुर्गुणेन त्रिज्याकोटिफलघातेन हीन इति सिद्धोऽतरवर्गः कोटिफलत्रिज्याघातेन द्विगुणेन हीनस्तद्वर्गयोग इति रूपः। अथ युतिवर्गस्यान्तरवर्गस्य वा कोटिफलवर्गोनोऽन्त्यफलज्यावर्गो योज्य-स्तत्रयुत्यन्तरवर्गयोरंतर्गतस्य त्रिज्यावर्गस्यान्त्यफलज्यावर्गो युतः कृत इत्युप-पन्नमन्त्यफलत्रिमौर्व्योर्वर्गैक्यराशेरिति। अथ श्रुत्यंतरवर्गान्तरगतद्विघ्नघातः क्रमेण हीन युतः कार्य इत्युपपन्नं तथायुतोनादिति। त्रिभज्यया कोटिफलद्विनिघ्न्येति च। कोटिफलवर्गस्य भुजज्यावर्गे ऊनत्वेन कोटिवर्गेऽधिकत्वेन सत्त्वात्तन्नाशः। खंडद्वयस्याभिहति रित्यत्र चतुर्गुणस्येत्यत्राप्युपपत्तेः। सुगमत्वात्प्रसिद्धत्वाच्चा-स्मद्गुरुत्तरकृतबीजटीकायां सम्यक्प्रतिपादितत्वाच्च सर्वं समञ्जसम्।

अथ प्रतिवृत्तभंग्या कोटिज्जात्यफलज्ययो र्योगान्तरयोर्वर्गौ भुजज्या वर्गयुतौ क्रमेण कर्णवर्गौ स्त इति। तत्र श्रुत्यन्तरम्, आद्यात्तरलिखनपूर्वकं बीजरीत्या को १ अं. १। को १ अं १ वा। को अं १। अनयोर्वर्गौ तत्र युतेः कोव १ को अं २ अं व १ अन्तरस्य को व १ को अं २ अं व १ अनयोर्लाघवा-त्कोटिज्या वर्गोनत्रिज्यावर्ग इति, कोवं १ त्रि. व १ रूपो भुजवर्गो योज्यः, तत्र योज्य-योजकांतर्गतयोः कोटिज्यान्त्यफलवर्गयोर्धनर्णयोर्योगे नाशस्त्रिज्या वा युता कृता, इति कोव १ त्रिव १ रूपो भुजवर्गो योज्यस्तत्रयोज्ययोजकान्तर्गतयोः कोटिज्यान्त्यफल-वर्गयोर्धनर्णयोगे नाशस्त्रिज्या युता कृतेति जातौ कर्णवर्गौ। तत्र मकरादिकेन्द्रे को अंशे अंव १ त्रिव कर्कादिकेन्द्रे को अं २ अंव १ त्रिव १। अत्रकर्णवर्गेऽन्त्यफलत्रिमौ-र्व्योर्वर्गैक्यराशेश्च तथा युतोनादिति कोटिज्यया वान्त्यफलद्विनिघ्न्येतिचोपपन्नम्। अस्यकर्णवर्गत्वान्मूलं कर्ण इत्युपपन्नम्। प्रकारत्रयं कर्णवर्गस्यैवापि तद्द्वारा कर्णस्यापीति ज्ञेयम्। मन्दफलोपपत्तिः प्रागुक्तरीत्या च तुल्ये ग्रहे कच स्पष्टमध्यमस्थानयोरभेद दर्शनात्फलाभावः।

एव मुक्तत्वाद् षडभांतरे ग्रहेऽपीति। नीचसमे ग्रहे फलाभाव

---

* मूलकोषेऽव्यवहिवान्तमिति पाठो दृश्यते।

यथा यथान्तरं ग्रहस्य तथा तथा कक्षायां मध्यस्पष्टग्रहयोः स्थानभेदात्तदंतरालं कक्षावृत्ते फलमुत्पद्यते। यदा ग्रहोच्चयोरन्तरं राशित्रयं तदा नीचोच्चवृत्ते ग्रहस्तिर्यग्रेखाग्रे भवतीति मध्यमस्य तत्केन्द्रत्वान्मध्यमतद्वृत्तनेमिस्थग्रहयोरन्तरं ज्याकारं परमफलज्येति। तत्र तन्मितमेव भुजफलम्। अन्यत्रापि तत्केन्द्रस्थित मध्यमग्रहस्पष्टकृतवृत्तोर्ध्वाधररेखातस्तद्वृत्तनेमिस्थग्रहस्य यदंतरं ज्याकारं तदेव फलज्या। भुजफलञ्च भुजज्योत्पन्नं भुजफलमेवेति। अथ मध्यमस्पष्टान्तरं परिधाव-पेक्षितम्। अन्यथांतरज्ञानेऽपि मध्यमस्य तद्ज्ञानेन स्पष्टज्ञानासंभव इत्यतो ज्याकारफलस्य धनुः परिधिस्थमन्तरं भवति तत्क्षेत्रावयवात्मकमिति साजात्येन संस्कारयोग्यम्, तन्मन्दफलम्, मन्दोच्चोत्पन्नत्वात्। अत उक्तं मृदुदोः फलस्य-चापमित्यादि।

ननु कक्षाकर्णसूत्रसम्पाते स्पष्टग्रहदर्शनात्कक्षास्थमध्यस्पष्टग्रहान्तरं मन्दफलं कक्षावृत्ते तदर्धज्या कक्षावृत्तान्तः फलज्या, भुजफलतुल्यानैवेति कथमुक्तं मृदुदोः फलस्य चापं मन्दफलमिति, तच्चापस्य नीचोच्चवृत्ते स्वोक्तपरिधिभागाङ्किते ग्रहो-च्चान्तरस्थित परिधिस्थित तद्भागात्मकत्वात्। तस्मान्नीचोच्चवृत्तज्याकारं फलं कक्षावृत्ते कृत्वा तच्चापं कक्षावृत्ते तदंतरं फलमितीदं वक्ष्यमाणशीघ्रफलवन्मन्द-कर्णानुपातेनैव सिध्यतीति पूर्वप्रतिपादित युक्तिविरुद्धमेतदिति चेत् न—

शैघ्र्यं कोटिफलं केन्द्रे मकरादौ धनं स्मृतम्।
संशोध्य तु त्रिजीवायां कर्क्यादौ कोटिजं फल-
न्तद्बाहुफलवर्गैक्यान्मूलं कर्णश्चलाभिधः।"

इति सूर्य सिद्धान्तोक्तेन मन्दकर्णाभावांऽगीकारेण तदनुपातानंगीकारात्। अन्यथा प्रकारसादृश्येन सूर्यसिद्धान्ते शैघ्र्यं चलाभिध इत्यनयोर्व्यर्थत्वापत्तेः। मन्दफलानयनस्य तदनुपातं विनैव स्पष्टोक्तेश्च।

अत एवागम प्रामाण्येनावास्तवं मदफलमपि वास्तवत्वेन गृहीतमिति सूचनार्थः बुधाः वदन्तीत्युक्तम्। न च स्वल्पान्तरात्तदनुपातो न कृतः, यथा—

"यद्वाखगानां मृदुकेन्द्रदोर्ज्या वेदोद्धृता प्राप्तरसैर्विभक्ता।
फलं कलाद्यं परिधिघ्नमेवं सुखार्थमेतन्मृदुसंज्ञकंस्यादि-"

इति सिद्धांतसुंदरे ज्यात्मकमेवफलं गृहीतं कलाद्यमित्युपपत्तिविचारे स्पष्टमिति वाच्यम्। सूक्ष्मविचारे वास्तवपदार्थकथनस्यावश्यकत्वात्। कुत्रचिद्बन्हन्तर-त्वाच्च। कर्णानुपातः सूर्यादिभिर्नैवकृतः। मन्दफलं ज्यात्मकमेव कलाद्यं न मिति दृष्टान्तद्राष्टान्तिकयोर्वैषम्याच्च। दृष्टान्तोक्ते ज्याचापयोस्तुल्यत्व-तं स्थूलत्वाच्चेति संक्षेपः ॥२९॥

भाष्योक्त मुपपत्तिरूपं गद्यमेवाऽत्र सुस्पष्टम्।

बिम्ब तक गया हुआ कल्पित सूत्र का नाम ग्रह कर्ण है। भूपृष्ठ का नाम पृष्ठीय कर्ण है। सूक्ष्म गणित के लिये इसी का

ज्ञान करना चाहिए। किंतु प्रकृत में गर्भीय कर्ण का ज्ञान आवश्यक है। कर्णतुल्य दूरी पर कर्ण के अग्र में जो भुजफल चाप है उसे अपने दृश्यत्रिज्या गोल में लाना है इसलिये कर्ण गोलीय कर्ण का ज्ञान आचार्य ने ४ प्रकार से किया है—उसकी उपपत्ति निम्न भांति है।

पहिले—जल या पारा आदि से भूमि को समतल बनाना चाहिए। समतल भूमि में एक बिन्दु करना चाहिए और इसे (भूमि केन्द्र) भूकेन्द्र कहना चाहिए। भूकेन्द्र बिन्दु से त्रिज्या व्यासार्ध से एक वृत्त करना चाहिए। इस वृत्त का नाम कक्षावृत्त कहिए। इस वृत्त में १२ राशि एक राशि में ३० अंश और एक अंश में ६० कला आदि की कल्पनाऐं भी कर लेनी चाहिए। मध्यमाधिकार से लाये गये राश्यादिक ग्रह और उच्च को मेषादि बिन्दु से यथा स्थान समझ कर उस जगह पर ग्रह और जहां पर उच्च है वहां उच्च बिन्दु मान लेना चाहिए। भूबिन्दु से उच्चबिन्दु तक की रेखा उच्च रेखा कही गई है।

इस उच्च रेखा के केन्द्र बिन्दु में एक लम्ब रेखा करनी चाहिए। भूबिन्दु से प्रत्येक ग्रह की परम अन्त्य फलज्या तुल्य रेखा को उच्च रेखा में से नाप कर इस अन्त्यफलज्याग्र बिन्दु से त्रिज्या व्यासार्ध से एक और वृत्त करते हुये कक्षावृत्तीय वर्धित उच्च रेखा का इस वृत्त के साथ जहां सम्पात हुआ वहां पर प्रतिवृत्तीय उच्च कहना चाहिए। इन दो वृत्तीय उच्च बिन्दुओं से ठीक ६ राशि की दूरी पर दो नीच बिन्दु (एक कक्षावृत्तीय दूसरा प्रति-वृत्तीय) की भी कल्पना करनी चाहिए। प्रतिवृत्तीय उच्च बिन्दु से विलोम उच्च की राश्यादि देकर प्रतिवृत्त में भी मेषादि बिन्दु का ज्ञान करना चाहिए। इस प्रतिवृत्तीय मेषादि बिन्दु से अनुलोम ग्रह बिन्दु का ज्ञान करना चाहिए। प्रतिवृत्त के केन्द्र में भी उच्च रेखा पर लम्ब रेखा करनी चाहिए। इन दोनों रेखाओं का (कक्षा और प्रतिवृत्त के मध्यगामिनी रेखाओं का) अन्तर सर्वत्र अन्त्यफलज्या के तुल्य होगा। प्रतिवृत्तीय ग्रह और उच्च का अन्तर चाप की ज्या का नाम भुजज्या और उच्च रेखा समानान्तर रेखाओं के अन्तर रेखा में कोटिज्या होगी। प्रतिमण्डलीय ग्रह से भूबिन्दु तक गई रेखा का नाम कर्ण रेखा है। इस कर्ण सूत्र का कक्षावृत्त में जहां पर सम्पात है वहीं पर स्पष्ट ग्रह है कर्ण सक्त दृष्टि सूत्र होने से स्पष्ट है। प्रतिमण्डलीय मध्यम ग्रह से उच्च रेखा की समानान्तर रेखा कक्षावृत्त के सम्पात पर मध्यम ग्रह है। कक्षावृत्त में मध्यम ग्रह और स्पस्ट ग्रह का अन्तर रूप कक्षावृत्तीय चाप का नाम फल चाप है। इसी को जानना है।

मध्यम ग्रह बिन्दु से स्पष्ट ग्रह बिन्दु आगे मेषादि की तरह होने से यह फल धन, मध्यम ग्रह में जोड़ने से स्पष्ट ग्रह, एवं मध्यम ग्रह बिन्दु से स्पष्ट ग्रह बिन्दु पीछे मीनादि बिन्दु की तरह होने से यह फल ऋण समझते हुये मध्यम ग्रह में घटाना चाहिए।

मकरादि केन्द्र प्रतिमण्डल में कोटिज्या, अन्त्यफलज्या के ऊपर होने से, त्रिज्या + अन्त्यफलज्या = स्पष्टा कोटि, तथा कर्कादि केन्द्र में त्रिज्या − अन्त्यफलज्या = स्पष्टा कोटि होती है। स्पष्टाकोटि के मूल से भू बिन्दु तक गई हुई रेखा का नाम भुजज्या है। इसलिये भुजज्या और कोटिज्या का वर्गयोग मूल कर्ण के बराबर अति स्पष्ट है।

क्षेत्र देखिये

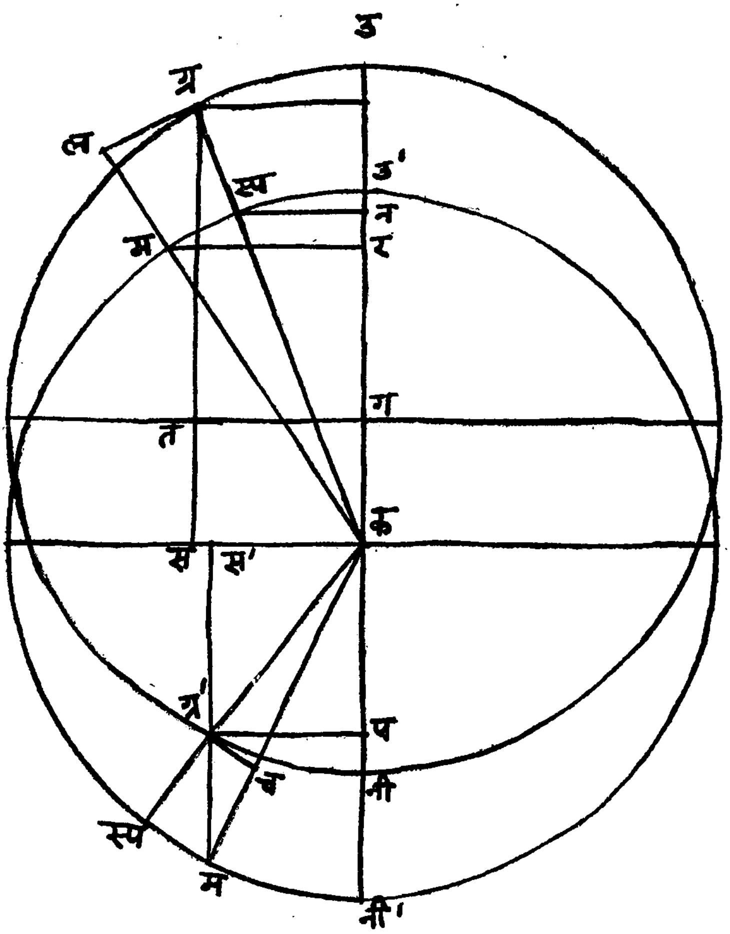

प्रतिवृत्त में ग्रह=ग्र

कक्षावृत्त में मध्य ग्रह=म

क ग=अन्त्यफलज्या=ज्या अ=सत=म ग्र

प्रतिवृत्ति में उच्चस्थान=उ

कक्षा वृत्त में उच्चस्थान=उं

उ ग्र=केन्द्र । कस=केन्द्रज्या=ज्या के

विशेष—इस क्षेत्र में नीचे की क च म रेखा की तरह ही ऊपर की क म ल रेखा समझनी चाहिए । क्योंकि ग्र स, और क ल रेखा का कक्षावृत्त और कोटिरेखा के सम्पात के साथ सम्पात होना चाहिए । इन तीनों के सम्पात बिन्दु का ही नाम म बिन्दु हैं ।

म स=केन्द्र कोटिज्या=कोज्या के

∴ ग्र स=स्पष्टाकोटि=म स+म ग्र=कोज्या के+ज्याअ, यह मकरादि केन्द्र होने से, (कोज्या के+ज्या अ)^2+ज्या के=क ग्र^2=शीघ्र कर्ण का वर्ग प्रत्यक्ष है।

कर्कादिकेन्द्र में सं ग्रं=म सं—म ग्रं=कोज्या के—ज्या अं।

क ग्रं=कर्ण=क

क ग्रं सं समकोण त्रिभुज में=क ग्रं^{2}=ग्र सं^{2}+क सं^{2}

क^2=स्प को^{2}+ज्या के^{2}...

∴क=$\sqrt{\text{स्प को}^2+\text{ज्या के}^2}$...(१)

अथवा क^2=(के कोज्या±ज्या अ^2)+ज्या^{2} के

=के कोज्या^{2}±२ के कोज्या-ज्या अ+ज्या^{2} अ+ज्या^{2} के

=त्रि^{2}+ज्या^{2} अ±२ के कोज्या ज्या अ···(२) ∵ के कोज्या^{2}+ज्या^{2} के =त्रि^{2}

अतः क=$\sqrt{\text{त्रि}^2+\text{ज्या}^2\ \text{अ}\pm\text{२ के कोज्या ज्या अ}}$।

इन दो प्रकारों से कर्ण ज्ञान स्पष्ट है।

इस क्षेत्र में पूर्व प्रकार से कक्षावृत्त और प्रतिवृत्त बनाये गये हैं। कक्षावृत्तीय मध्यम ग्रह स्थान से मन्दान्त्यफलज्या व्यासार्ध से बनाया गया वृत्त मन्दनीचोच्च वृत्त है। ग्रहकक्षा केन्द्र से कक्षावृत्तीय मध्यम ग्रह तक गई रेखा मन्दनीचोच्चवृत्त का उच्च है। प्रतिवृत्त माप की केन्द्रज्या नीचोच्चवृत्त में उच्च और प्रतिवृत्तीय ग्रह के मध्य चाप की ज्या के तुल्य है। शीघ्रोच्च या मन्दोच्च से प्रतिवृत्त में ग्रह जितनी दूरी पर रहते हैं उतनी ही दूरी पर मन्दनीच्चोच्च वृत्त की परिधि से भी विलोम दिशा की ओर रहेंगे। क्षेत्र देखने से स्पष्ट समझ में आरहा है। अर्थात् प्रतिवृत्तीय भुजज्या, नीचोच्चवृत्त में परणत होने से भुज-फल संज्ञक एवं कोटिज्या, कोटिफल संज्ञक है। जैसे—

क्षेत्र सं० (१) अग्रिम पृष्ठ में देखिये

मकरादि केन्द्र में, म ल+क म=क ल

अथवा क ल=त्रि+को. फ.=स्पष्टा कोटि=स्प. को. ∴क ग्र^2=क ल^2+ग्र ल^2

=स्प को^{2}+भु फ^2=क^2।

कर्कादि केन्द्र में क मं—मं लं=क लं∴क लं=त्रि—को. फ=स्प. को।

क ग्र^2=क लं^{2}+ग्रं लं^{2}=स्प को^{2}+भु फ^2=क^2 (३) (तृतीय प्रकार)

अथवा क^2=(त्रि±को फ)^2+भु फ^2=त्रि^{2}±२ त्रि को फ+को फ^2+भु फ^2

=त्रि^{2}+ज्या^{2} अ±२ त्रि. को फ, यतः को फ^2+भु फ^2=अन्त्य फलज्या^{2}

(४) कर्ण लाने का यह चतुर्थ प्रकार प्रत्यक्ष हुआ।

यहाँ पर $\frac{\text{ज्या के}\times\text{ज्या अन्त्य फ}}{\text{त्रि}}=\frac{\text{ज्या के}\times\text{मन्दनी. प}}{\text{३६०}}$=भुजफलज्या

$\frac{\text{कोज्या के}\times\text{ज्या अन्त्य फ}}{\text{त्रि}}=\frac{\text{को. फ}\times\text{मन्दनी. वृ-प}}{\text{३६०}}$=कोटिफलज्या

पहिले 'स्वेनाहते परिधिना'—भी उपपन्न हुआ स्पष्ट रेखा जारहा है।

क्षेत्र संख्या (२) अग्रिम पृष्ठ में देखिये

क्षेत्र सं० (१)

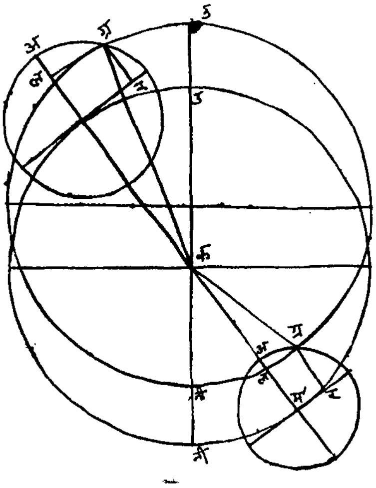

क्षेत्र सं० (२)

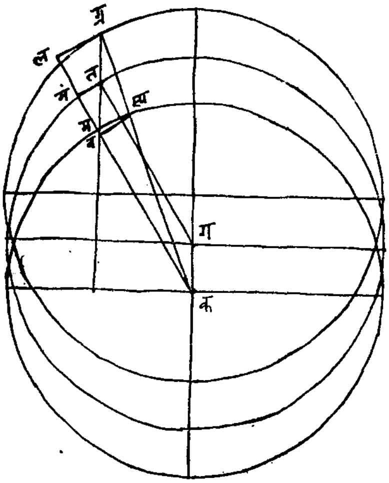

ग्र=पारमार्थिक मध्यम ग्रह।

त=प्रतिवृत्तीय गणितागत ग्रह।

म=कक्षा वृत्तीय ग्रह।

क ग=मन्दान्त्यफलज्या=ज्या अ।

=स्प व=मत

क न=केन्द्रज्या=ज्या के।

$$\text{ग्र ल} = \frac{\text{क न} \times \text{ग्र म}}{\text{क म}} = \frac{\text{ज्या के} \times \text{ग्र म}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{ग्र म} = \frac{\text{स्प व} \times \text{क ग्र}}{\text{क स्प}} = \frac{\text{ज्या अ} \times \text{वास्तव कर्ण}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{ग्र ल} = \frac{\text{ज्या के}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{ज्या अ} \times \text{वास्तव कर्ण}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{त्रैराशिक से ज्या स्प म} = \frac{\text{ग्र ल} \times \text{क स्प}}{\text{क ग्र}} = \frac{\text{ज्या के}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{ज्या अ} \times \text{वा क}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{त्रि}}{\text{वा क.}}$$

$$= \frac{\text{ज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{ज्या के} \times \text{परिधि}}{३६०} = \text{त मं}$$

=दो : फल

=भुज फल

प्राचीन आचार्य इसी का नाम मन्द फलज्या कहते हैं। इसका चाप मन्द फल कहना चाहिये।

क्षेत्र सं० (१) में नींचोच्च वृत्त के मकरादि केन्द्र बिन्दु में म, बिन्दु' तथा कर्कादि केन्द्र में, ग्रल रेखा फलज्या समझनी चाहिए।

"तद्गुणे भुज कोटिज्ये भगणांश विभाजिते ।
तद्भुजज्या फल धनुर्मान्दं लिप्तादिकं फलम् ॥"

सौर सिद्धान्त के उक्त वाक्य से भुजफल का ही चाप मन्दफल कहा गया है। कमलाकर भट्ट इस भुजफल को भी कर्ण के अग्र में (मन्द प्रतिवृत्त में) मानकर त्रिज्यावृत्त में कर्णानुपात से लाते हैं—सौर सिद्धान्त का भी यही आशय है यह भट्ट मत है। सम और विषम पद की विभिन्न परिधियों को सौर सिद्धान्त ने कर्णानुपात से स्पष्ट किया है, एक रूप की परिधि बीज गणित से कमलाकर भट्ट मत से निम्नभांति है।

कल्पना किया स्थिर परिधि $= \text{या} = \dfrac{\text{त्रि} \times \text{या}}{३६०} =$

विषम पद के अन्त में कर्ण $= \sqrt{\text{त्रि}^2 + \text{ज्या}^2 \text{ अ}} = \text{क}$

अत: विषम पदान्त में स्पष्ट परिधि $= \dfrac{\text{या} \times \text{त्रि}}{\text{क}} =$ विषम पदीय परिधि।

$= \text{वि. प.}$

$$\therefore \text{वि. प}^2 = \frac{\text{या}^2 \times \text{त्रि}^2}{\text{त्रि}^2 + \text{ज्या}^2 \text{ अ}} = \frac{\text{या}^2 \times \text{त्रि}^2}{\text{त्रि}^2 + \dfrac{\text{त्रि}^2 \times \text{या}^2}{३६०^\circ}} = \frac{\text{या}^2 \times \text{त्रि}^2 \times ३६०^\circ}{\text{त्रि}^2 \times ३६०^{\circ 2} + \text{त्रि}^2 \times \text{या}^2}$$

समीकरण से, $\text{या}^2 = \dfrac{\text{वि. प}^2 \times ३६०^\circ}{३६०^{\circ 2} - \text{वि प}^2}$ इसका मूल स्थिर परिधि मान होगा।

इष्ट स्थान में $\dfrac{\text{या.} \times \text{त्रि}}{\text{मंद कर्ण}} =$ स्फुट परिधि।

तब सूर्य सिद्धान्त के प्रकार से

$$\text{भुजफल} = \frac{\text{ज्या के} \times \text{स्फु. प.}}{३६०^\circ} = \frac{\text{ज्या के}}{३६०^\circ} \times \frac{\text{या} \times \text{त्रि}}{\text{मन्द कर्ण}}$$

$$= \frac{\text{ज्या के} \times \text{या} \times \text{त्रि}}{३६०^\circ \times \text{मन्द कर्ण}} = \frac{\text{स्फुट परिधि} \times \text{ज्या के}}{३६०^\circ}$$

उक्त समीकरण से कर्णानुपातीय सौरसिद्धान्तीय भुजफल का ज्ञान स्पष्ट है। इसलिये कर्णानुपात करना चाहिए। जिन्होंने कर्णानुपात नहीं किया है वे सूर्य सिद्धान्त मत को सम्यक् प्रकार से नहीं समझते हैं यह कमलाकर भट्ट का आक्षेप पूर्वाचार्यों के (भास्कराचार्य प्रभृति) लिये है। भास्कराचार्य के कथन से "स्वल्पान्तरत्वान्मृदुकर्मणीह कर्णः कृतो नेति वदन्ति केचित्" कर्णानुपात जनित फल के तुल्य ही त्रिज्याग्रीय भुजफल होता है ऐसी ध्वनि निकलती है।

वास्तव में विषम और सम पदान्तों में विभिन्न अन्त्यफलज्या मानों को देख कर आचार्य ने भिन्न-भिन्न परिधियाँ विषम और सम पदों में पढ़ी हैं—"ओजयुग्मान्तर भुजज्या" इस क्रिया से उन्हें इष्ट स्थान में स्पष्ट परिधि किया गया है इस लिये कमलाकर भट्ट प्रभृतियों ने जो कल्पनाएँ की हैं वह यहां युक्ति संगत नहीं हैं—ऐसा गुरुणां गरु. म. म. सुधाकर द्विवेदि का कथन सुतरां साधु है।

पाश्चात्य ग्रहगणित विद्वान् {डेनिश (Danish) तथा केप्लर (Kapler) प्रभृति} ग्रह मन्द फल साधना के लिये तीन विशिष्ट सिद्धान्त (Formulae) का प्रयोग करते हैं वे—ये हैं—

(१) पृथ्वी आदि सभी ग्रह सूर्य केन्द्राभिप्रायिक दीर्घवर्त्तुल कक्षा में भ्रमण करते हैं। दीर्घवृत्त के दो केन्द्र होते हैं। एक केन्द्र में सूर्य केन्द्र और दूसरा केन्द्र रिक्त माना गया है।

(२) सूर्य केन्द्र से इष्ट ग्रह तक गया हुआ सूत्र मन्द कर्ण नाम का है। समान काल में समान क्षेत्रफल पैदा करता है।

(३) दो ग्रहों के सूर्य परिक्रमा का जो काल है उसके वर्ग और दोनों ग्रहों के मन्दकर्णों के घनों की निष्पत्ति (सम्बन्ध) तुल्य होती है।

यह प्रसंगागत प्रकरण है। नवीन ग्रह गणित पद्धति से तथा उक्त प्राचीन मन्दफलानयन प्रकार से लाये गये फलों में अन्तर नहीं देखा जा रहा है। क्योंकि हमारे गणित से लाये गये सूर्य चन्द्र स्पष्ट नवीन गणित से अविर्वाच्य अन्तरित दीखे जा रहे हैं।

इदानीमर्केन्द्वोः फलानयनं लघुज्यया लघुप्रकारेणाह ।—

ये केन्द्रदोर्ज्ये लघुखण्डकोत्थे
क्रमाद्रवीन्द्वोर्नखसंगुणे ते।
भक्ते त्रिखेशै ११०३ र्मुनिसप्तवेदैः-४७७
यद्वा तयोर्मन्दफले लवाद्ये ॥३०॥

वा० भा०—स्पष्टम्।

अत्रोपपत्तिः—अर्कस्य बृहज्ज्याभिः परमं फलमानीतं भागद्वयं सार्द्धदश-कलाधिकं किल भवति। २।१०।३१। यदि लघ्वया त्रिज्यातुल्यया दोर्ज्ययेदं फलं तदाभीष्टया किम्? इति। एवमनुपातेन दोर्ज्यायाः फलं गुणस्त्रिज्या १२० हरः। अथ सञ्चारः। यदि फलमिते गुणे त्रिज्याहरस्तदा विंशतिमिते किमित्युत्पद्यन्ते त्रिखेशाः ११०३। अथ चन्द्रस्य परमं फलमष्टविकलाऽधिककलाद्वयाधिकाः पञ्च भागाः ५।२।८। इहापि नखगुणत्रिज्यायाः २४०० फलेन भागे हृते लभ्यन्ते मुनिसप्तवेदाः ४७७।

मरीचिः—अथ प्रसंगाल्लघुभूतप्रकारेण सूर्यचन्द्रयोरेव मन्दफलानयनमुपजातिकयाह—"ये केन्द्रदोर्ज्ये लघुखंडकोत्थे क्रमाद्रवीद्वोर्नखसंगुणे ते, भक्ते त्रिखेशैर्मुनिसप्तवेदैः, यद्वा तयोर्मन्दफले लवाद्ये, इति सूर्यचन्द्रयोः केन्द्रभुजज्ये ये वा लघुखण्डकोत्थे रूपाश्विन इत्याद्युक्तविधिनोत्पन्ने ते विंशति गुणे। क्रमेण रवीन्दु, भक्ते स्वहराभ्यां फले तयोः सूयचन्द्रयोर्मन्दफले भागाद्ये। यद्वा। प्रकारान्तरेण उक्तरीत्या लघुज्यया मन्दफलानयनसंभवात्। तथात्र सूर्यमन्दकेन्द्रभुजज्या विंशतिगुणा अधिकैकादशतभक्ता फलं सूर्यमन्दं फलम्। चन्द्रमन्द फलं स्यादित्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः—स्वेनाहते परिधिना भुजकोटिजीवे भांशैः हृते च भुजकोटि फलाह्वये स्त इति रीत्या बृहत्त्रिज्याग्रहणेनाप्तफलज्या सूर्यस्य १२०।३१। चन्द्रस्य

३०१।४६।४८। अस्याः धनुः परमफलकलास्तत्र सूर्यस्यान्त्यफलज्यायास्तत्वाश्विनोन्यूनत्वादंत्यफलज्या तुल्यमेव धनुः १३०।३१। चन्द्रस्य तु परमकला ३०२।७।२२। इदं मन्दफलं परमभुक्तरीत्या परमभुजज्योत्पन्नमिति। सा तु परमा त्रिज्यातुल्या। तत्र लाघवार्थम्। लघुत्रिज्या खार्कमिता धृता। एतदनुरोधेनेष्टभुजज्याया अपेक्षितावाल्लघुखंडकोत्थ केन्द्रदोर्ज्ये, इत्युक्तम्। अन्यथा संगतत्वापतेः। लघुखंडकोत्थ इतिखार्क त्रिज्यात इष्टज्याया उपलक्षणम्। एतेनान्यखंडेभ्योऽपि। तत्प्रमाणेनान्यप्रकारेण वा ज्याग्रहे न दोष इति सूचितम्। तथा च खार्कमितत्रिज्यातुल्यभुजपरमज्यया परममिदं कलाद्यं मन्दफलं तदेष्टभुजज्यया किमित्यनुपातेनेष्टभुजज्यायाः मन्दफलत्रिज्ये गुणहरौ। तत्र गुणस्य सावयवत्वेन गणितश्रमाधिक्याल्लाघवेनाऽत्र गुणः सवर्णितः। सूर्यस्य ७८३१। चन्द्रस्य १८१२७।२२। गुणसवर्णनाद्धरश्च ७२०० भागात्मककरणार्थं षष्टिहर इतिहरघातो हरः कलिमानमितः ४३२०००। अत्र गुणहारगुणविंशांशाभ्यामाभ्यां ३९१।३३।९०६।२*२।६ अपवर्तितो गुणस्थाने विंशतिः। हरस्तु सूर्यस्य ११०३।१८। चन्द्रस्य ४७६।३३। अत्र सूर्यहराधोऽवयवस्यार्धोनत्वात्तत्यागेन हरः ११०३ चन्द्रस्य त्वधिकत्वादेकाधिकोऽर्धांको-हरः ४७७ कृतो लाघवात्स्वल्पान्तरत्वाच्च। यद्यपि फलज्यामानीय धनुकरणमुचितम्, सूक्ष्मत्वात्तथाप्यल्पान्तरत्वादनुपातेन फलांशानयनेऽपि न क्षतिः, अतएवानयारीत्या भौमादीनां न साधितं सूर्यचन्द्रयोस्तु पंचांगसाधनादावश्यकत्त्वात्सुखार्थं मल्पान्तरेण तदंतरेणापि तदंगीकारो नवत्यंशानामिदं परमफलं तदेष्टभुजांशानां किमित्यनुपातेन ज्यासाधनं विना कथं लाघवान्नानीतम्। स्थूलत्वांगीकारादितिवाच्यम्, वह्वन्तरत्वात्। पूर्वमंशानुपातस्य निरस्तत्वाच्चेत्युपपन्नं ये केन्द्रदोर्ज्ये, इत्यादि ३०

दीपिका—त्रिज्यातुल्यकेन्द्रज्यया परमं फलन्तदाभीष्टया केन्द्रज्यया किमित्यनुपातेन जातं मन्दफलम् $= \dfrac{\text{पर मन्दफल} \times \text{ज्याके.}}{\text{त्रि}}$ इति स्वरूपमवलम्ब्यास्योपपत्तिः शिखायां सम्यक् विवेचिता सैवात्रापि मनसि प्रधार्या।

शिखा—त्रिज्यातुल्य केन्द्रज्या में परम मन्दफल मिलता है तो इष्ट केन्द्रज्या में क्या ? इस अनुपात से लघु खण्डीय जीवा से इष्ट स्थानीय फल लाया गया है वह निम्न भांति होगा।

इष्ट स्थानीय फलज्या $= \dfrac{\text{परं फलज्या} \times \text{इष्ट केन्द्रज्या}}{\text{त्रि}}$। रवि का परम मन्दफल $=$ २।१०।२१ इस लिये उक्त समीकरण में परम फल का उत्थापन देने से तथा लघुज्या प्रकार में त्रिज्या का मान १२० मानने से रवि का मन्दफल $= \dfrac{\text{ज्याके} (२।१०।२१)}{१२०} =$

$\dfrac{७८२१ \times \text{ज्याके}}{१२० \times ६० \times ६०} = \dfrac{७८३१.\text{ज्याके} \times २०}{८६४००००} = \dfrac{२० \times \text{ज्याके}}{११०३}$ स्वल्पान्तर से।

* मूलकोषेऽपि २२।९०६ एवमेव दृश्यते, वस्तुतः ९०६।२१, एवंरूपेण भाव्यम्।

इसी प्रकार चन्द्रमा का मन्दफल भी जानना चाहिए। चन्द्रमा का परम मन्दफल ५°।१२'।२८" के तुल्य होता है। अतः अनुपात से $= \frac{\text{परम चन्द्र फलज्या} \times \text{केन्द्रज्या}}{\text{त्रि}} =$

चन्द्रमा की इष्ट स्थानीय मन्द फलज्या $= \frac{\text{ज्याके } (५।२।२८)}{१२०} = \frac{१८१२८ \times \text{ज्याके}}{१२० \times ६० \times ६०}$

$= \frac{१८१२८ \times \text{ज्याके} \times २०}{१२० \times ६० \times ६० \times २०} = \frac{१८१२८ \times \text{ज्याके} \times २०}{१२० \times ६० \times ६० \times २० = ८६४००००} = \frac{२० \text{ ज्याके}'}{४७७'}$

भाजक के आधे से शेष अधिक होने पर अपने ग्रहगणित में लब्धि को १ अधिक मान लेने की परम्परा है।

विशेष—ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्रह्म स्फुटसिद्धान्त में पठित मन्द परिधियों से परं मन्दफल साधन किया है और भौमादि पञ्च तारा ग्रहों की मन्दपरिधि कलाएं पढ़ी हैं।

इदानीमर्केन्द्वोर्गतिस्पष्टीकरणम्—

तत्कोटिजीवा कृतबाणभक्ता रवेर्विधोर्वेदहताद्रिभक्ता।
लब्धाः कलाः कर्किमृगादिकेन्द्रे गतेः फलं तत् क्रमशो धनर्णम् ॥३१॥

तत्कोटिजीवेति। लघ्वी कोटिज्या "कृतबाणभक्ता" रवेर्गतिफलं स्यात्। विधोस्तु केन्द्रकोटिज्या लघ्वी वेदगुणा सप्तभक्ता गतिफलं स्यात्। तत् फलं कर्क्यादिकेन्द्रे धनं मकरादावृणं गतेः कार्य्यम्। एवं तात्कालिकी स्फुटा गतिर्भवति।

अत्रोपपत्तिः—तत्र वक्ष्यमाणप्रकारेण "कोटीफलघ्नी मृदुकेन्द्रभुक्तिः" इत्यादिनाऽऽनीते रविचन्द्रयोः परमे गतिफले कलाद्ये २/१४। ६/४८। आभ्यां गतिफलज्ञानार्थमनुपातः। यदि लब्ध्या त्रिज्यातुल्यया कोटिज्यया एते रविचन्द्रयोर्गतिफले तदेष्टया किम्? इति। अत्र गुणकेन गुणकभाजकावपवर्त्त्य ज्ञाता भाजके युगशराः ५४। चन्द्रस्य गतिफलचतुर्थांशेन गतिफलं त्रिज्याञ्चापवर्त्त्य ज्ञातो गुणकः ४। भाजकश्च ७। इत्युपपन्नम्। धनर्णतोपपत्तिरग्रे वक्ष्ये।

मरीचिः—अथ प्रसंगात्तयोर्लघुज्यंया गतिफलानयनपूर्वकं स्पष्टगतिसाधनमुपजातिकयाह-"तकोटिजीवाकृतवाण भक्तारवेर्विधोर्वेदहताद्रिभक्ता। लब्धाः कलाः कर्किमृगादिकेन्द्रे गतेः फलं तत्क्रमशोधनर्णमिति"। तत्कोटि जीवाः मंदकेन्द्र कोटिज्या खार्कत्रिज्याप्रमाणेनेत्यर्थः। लब्धं कलादिकं गतेः, मध्यगतेः स्पष्टत्वनिमित्तं फलं भवति। तदितिफलं कर्किमृगादिकेन्द्रे क्रमशः मध्यगतौ धनर्णं युतं हीनं स्पष्टागतिः स्यात्। इदं पंचांगादिसाधने उपयुक्तत्वेन लाघवादुक्तमस्ति।

अत्रोपपत्तिः—वक्ष्यमाणयुक्त्या यत्र ग्रहस्य फलाभावस्तत्र गतिफलं परमम्। यत्र तत्परमं तत्र गति फलाभाव इति दोर्ज्योपचये कोटिज्यापचयरूपे फलापचयः। दोर्ज्योपचये कोटिज्यापचयरूपे फलापचय इति सिद्धत्वात्कोटिज्यातः, आनयनं गतिफलस्य युक्तम्। तथा च खार्कत्रिज्यातुल्यकोटिज्यया परमं गतिफलं तदेष्टकोटिज्यया किमित्यनुपातेन खार्कत्रिज्यांतर्गतेष्टकोटिज्यायाः परमगतिफलांकस्थार्कमितत्रिज्ये

गुणहरौ । कोटीफलघ्नी मृदुकेन्द्रभुक्तिस्त्रिज्योद्धृतेति वक्ष्यमाणेनान्त्यफलज्या, मन्दकेन्द्रगतिगुणा त्रिज्याभक्ता फलं परमगतिफलम् । तत्तु खेः २।१४।३०। चन्द्रस्य ६८।४८।३५। गुणहरौ गुणेनापवर्त्य हरस्थाने सूर्यस्य ५३।३२। चन्द्रस्य १।४४।३८। अत्र सूर्य गतेः फलस्य स्वल्पत्वेन विकलादिषु स्वल्पान्तरत्वात् सूर्यहरः स्वाधोऽवयवस्याधिकत्वादेकाधिको गृहीतः ५४। एवं चन्द्रहरस्य ग्रहणे चन्द्रगतेः फलस्य बहुत्वेन कलादिषु बह्वंतरत्वापतिर्भियाचार्येण स्वल्पान्तरादुक्तरीत्या पादोनद्वयं हरो गृहीतः। हरस्यैकत्र करणार्थं चतुर्गुणः कृतः। अत उक्तम्—कृतवाण भक्ता रवेर्विधोर्वेदहताद्रिभक्तेति । धनर्णोपपत्तिस्तु ग्रहस्यर्णफलह्रासे धनफलवृद्धौ गतेः फलं धनमिति । कर्कादौ धनम् । धनफलह्रासे ऋणफलवृद्धौ गतेः फलमृण मिति मकरादावृणमिति संक्षेपः ॥३१॥

दीपिका—रविचन्द्रयोः स्फुटगतेः, अन्येषां मन्दस्पष्ट गतेश्चानयनार्थं तत्र तावद्द्विनिगमकं मन्दगतिफलं साधयत्याचार्य स्तच्चैवं स्फुटं शिखायां दृष्टव्यम् ।

शिखा—कोटीफलघ्नी मृदुकेन्द्रभुक्तिरित्यादि, आचार्य कथन से केन्द्र गति फल $= \frac{\text{कोफ} \times \text{मकेग}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{कोज्या के} \times \text{ज्याअं}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{मकेग}}{\text{त्रि}}$। यहां पर रवि का परम मन्दफल $=$ २।१० $= \frac{१३}{६}$। अतः लघुज्या प्रकार से अन्त्य फलज्या $= \frac{२१}{१०} \times \frac{१३}{६} = \frac{९१}{२०}$ । रवि की मन्दोच्च गति शून्य के बराबर होने से रवि की मन्द केन्द्रगति $=$ ५९।८ $= \frac{३५४८''}{६०}$ ।

इसी प्रकार चन्द्रमा का अंशादिपरम फल $५^\circ।२' = \frac{१५१}{३०}$ । लघुज्या प्रकार से इसकी ज्या $= \frac{२१}{१०} \times \frac{१५१}{३०} = \frac{१०५७}{१००}$ चन्द्रमा की मध्यमा गति $=$ ७९०।३० ।

चन्द्रमा की उच्चगति $= ६'।४०$ । चन्द्रमा की केन्द्रगति $= ७८३'।५५'' = \frac{४७०१५}{६०}$ ।

उत्थापन से रवि मन्दगति फल $=$

$$\frac{\text{कोज्याके} \times ३५४८ \times ९१}{१२० \times १२० \times ६० \times २०} = \frac{\text{कोज्याके} \times ३२२८६८}{१७२८००००} = \frac{\text{कोज्याके}}{५४} \text{ (स्वल्पान्तर से)} ।$$

इसी प्रकार चन्द्रमा का गतिफल $=$

$$\frac{\text{कोज्या के} \times १०५७ \times ६७०१५ \times ४}{१४४०० \times १९० \times ६० \times ३} = \frac{४ \times \text{कोज्या के} \times ४९६९७८५५}{३४५६००००००} = \frac{४ \text{ कोज्या के}}{७} =$$

चन्द्र गतिफल ।

इस प्रकार रवि चन्द्रमा के गतिफल साधन से मकर कर्कादि केन्द्र में गतिफल को क्रमशः ऋण धन करने से रवि चन्द्रमा की मन्द स्पष्ट गति होती हैं। धन और ऋण करने की युक्ति निम्नभाँति है ।

जैसे—

प्रथम पद में अद्यतन मध्यम ग्रह—अद्यतन मन्दफल=अद्यतन स्पष्ट ग्रह ।
श्वस्तन ,, —श्वस्तन ,, =श्वस्तन स्पष्ट ग्रह ।
∴ मध्यम ग्रह—फल गति =स्पष्टा गति······(१)

द्वितीय पद में अ. मध्यम ग्रह—अद्यतन मन्दफल=अद्यतन स्पष्ट ग्रह ।
श्व. मध्यम ग्रह—श्वस्तन मन्दफल=श्वस्तन स्पष्ट ग्रह ।
∴ मध्यम गति+फल गति =स्पष्टा गति ।······(२)

तृतीय पद में अ. मध्यम ग्रह+अद्यतन मन्दफल=अद्यतन स्पष्ट ग्रह ।
श्व. मध्यम ग्रह+श्वस्तन मन्दफल=श्वस्तन स्पष्ट ग्रह ।
∴ मध्यम गति+फल गति =स्पष्टा गति ।······(३) ।

चतुर्थ पद में अ. मध्यम ग्रह+अद्यतन मन्दफल=अद्यतन स्पष्ट ग्रह ।
श्व. मध्यम ग्रह+श्वस्तन मन्दफल=श्वस्तन स्पष्ट ग्रह ।
∴ मध्यम ग्रह—फल गति =स्पष्टा गति ।······(४)

(१) (४) समीकरणों में प्रथम पद में ऋण मन्दफल के उपचीय मान से चतुर्थ पद में धन मन्दफल के अपचीय मान से, मकरादि केन्द्र में मन्दफल ऋण होता है । इसी प्रकार (२) (३) समीकरणों में द्वितीय तृतीय पदों के ऋण धन फलों के अपचय और उपचय से कर्कादि केन्द्र में मन्दगतिफल धन होता हैं । "आचार्य" के कथन के साथ "मरीचि" की व्याख्या का स्पष्ट आशय भी स्पष्ट उपपन्न हुआ प्रत्यक्ष है ।

इदानी भौमादीनां शीघ्रफलानयनम् ।—

द्राग्दोःफलात् सङ्गुणितात् त्रिमौर्व्या
घाताद्भुजज्यान्त्यफलज्ययोर्वा ।
कर्णोद्धृताद्यत् सममेव लब्धम् ।
तत् कार्मुकं शीघ्रफलं ग्रहाणाम् ॥३२॥

वा० भा० स्पष्टम् ।

अत्र वासना त्रैराशिकेन । कर्णकोटिसूत्रयोर्यदि कर्णाग्रे भुजफलतुल्यमन्तरं तदा त्रिज्याग्रे किम् ? इति । अतस्त्रिज्याघ्नं भुजफलं कर्णेन हृतम् । तच्चापकरणेन वृत्तगतत्वं फलस्योपपन्नम् । अथान्यप्रकारेण ।—दोर्ज्यान्त्यफलज्याघ्नी त्रिज्यया भक्ता भुजफलं भवति । यदि कर्णाग्रे एतावदन्तरं तदा त्रिज्याग्रे किम् ? इति । पूर्वं त्रिज्या हरः । इदानीं स गुणस्तुल्यत्वान्नाशे कृते सति "घाताद्भुजज्यान्त्यफलज्ययोर्वा" इत्युपपन्नम् ।

मरीचिः—अथेन्द्रवज्रया शीघ्रफलानयनमाह-द्राग्दोः फलात्संगुणितात् तत्कार्मुकं शीघ्रफलं ग्रहाणामिति ॥३८॥* त्रिज्यया गुणितात् । शीघ्रकेन्द्रभुजफलात् ।

* अत्र श्लोक संख्या "३८" इति मूल पुस्तके भ्रमात्मकः पाठः । वस्तुतस्तु श्लोक संख्या ३२ इत्येवं तथ्यम् ।

शीघ्रकर्णभक्ताद्वालब्धम्। लाघवेनाह-घातादिति। शीघ्रकेन्द्रभुज्यया शीघ्रान्त्यफलज्ययोर्घाताद्वा कर्णभक्तात्फलं, तत्कार्मुकन्तत्फलस्योक्तविधिना चापं एवकारो-मन्दफलरीत्या शीघ्रकेन्द्रभुजफलचापं शीघ्रफलं स्यादिति वारणाय। ग्रहाणांशी—घ्रफलं स्यात्।

न च प्रकारद्वये हरस्यैकत्वेन भाज्यस्य तत्तद्घातस्य भिन्नरूपत्वेन। च फलयोर्भेदाच्छीघ्रफलस्यैकस्यानयनमसंगतम्। फलभेदात्। न हि शीघ्रफलद्वयस्यांगीकारस्तेन द्वयोः प्रामाण्यमिति वाच्यम्। वा कारानुपपत्तेः। शीघ्रफलद्वय-संस्कृतग्रहयो र्भेदात् कःस्पष्ट इत्याकांक्षोत्तरदानापत्तेश्चेत्यत आह-सममिति। तथा च प्रकारद्वयेऽपि भाज्यांकस्य तुल्यत्वेन फलस्योभयत्राभिन्नत्वाच्छीघ्रफलमेकमेवेति नासंगतमितिभावः।

अत्रोपपत्तिः—पूर्वोक्तरीत्या कक्षामंडलस्थमन्दस्पष्टस्ये स्पष्टस्थानयोरन्तरं कक्षावृत्तस्थं शीघ्रफलमिति तद्ज्ञानं तदानंतराशज्याज्ञानेन धनुः प्रकारात्तथा च मन्दस्पष्टस्पृष्टकक्षामध्यगरेखातः स्पष्ट ग्रहस्थानपर्यन्तं कक्षावृत्तांतस्तिर्यक् सूत्रस्यार्द्धज्याकारस्य ज्ञानमावश्यकम्। तच्चनीचोच्चवृते ऊर्ध्वरेखातो ग्रहपर्यन्तं भुजफलरूपं ज्यारूपमन्तरं ज्ञातं कर्णाग्रे, अपेक्षितं कक्षावृत्ते श्रुतिसूत्रसक्तकक्षा-वृत्तप्रदेशपर्यंतं, कर्णसूत्रे कक्षापर्यन्तं भूगभो-त्रिज्याया एष सत्वात्कर्णाग्रे भुजफल-रूपाज्या तदा त्रिज्याग्रे केत्यनुपातेन तद्धनुः शीघ्रफल मित्युपपन्नम्, द्रागूदोः फलात्सं-गुणितात्त्रिभौर्व्या कर्णोद्धृतादिति। द्वितीय प्रकारोपपत्तिस्तु, शीघ्रकेन्द्रदोः फलस्य त्रिज्योद्धृते च यदि वान्त्यफलज्यकाघ्न्या वित्यनेन शीघ्रकेन्द्रदोर्ज्यायाः शीघ्रान्त्यफल-ज्यागुणस्त्रिज्याहर इति रूपस्योक्तकर्णानुपातेन कर्णो हरस्त्रिज्या गुण इति सिद्धावत्र त्रिज्ययोर्गुणहरयो स्तुल्यत्वेन नाशात्फलितम्। शीघ्रकेन्द्रदोर्ज्यायाः शीघ्रान्त्यफल-ज्यागुणस्त्रिज्याहर इति। अत उक्तं घातादित्याद्युपपन्नम्॥३२॥

इदानीं प्रकारान्तरेण फलमाह।—

दीपिका—एकेनैवानयनेन फलद्वयोत्पत्तिस्तयोः समता स्यात्तत्सर्वं शिखायामेव दृष्टव्यम्।

शिखा—भुजज्या को अन्त्य फलज्या से गुणा कर त्रिज्या से भाग देना चाहिए इसको भुजफल कहना चाहिए। भुजफल को त्रिज्या से गुणा कर कर्ण से भाग देना चाहिए जो आवै उसका चाप शीघ्रफल होता है—यह कैसे ?

स्वकोटिजीवान्त्यफलज्योर्यो र्योगो मृगादावित्यादि श्लोक की उपपत्ति का क्षेत्र यहां भी देखना चाहिए। इस क्षेत्र में—

ग्र	=	शीघ्र प्रतिवृत्तीय ग्रह
म	=	कक्षावृत्त में मन्द स्पष्ट ग्रह
स्प	=	कक्षावृत्तीय स्फुट ग्रह
मस्प	=	शीघ्र फलांश
क ग्र	=	शीघ्रकर्ण=क
म र	=	शीघ्रकेन्द्रज्या=ज्या के

उ ग्र = शीघ्र केन्द्रांश

क स = शीघ्र केन्द्रज्या

ग्र ल = भुज फल

ज्यारूप म = शीघ्र फलज्या = ज्या फ

क म = त्रि

ग्र म = अन्त्यफलज्या = ज्या अ

क म स, ग्र म ल त्रिभुजों के साजात्य से

$$\text{ग्र ल} = \frac{\text{क स} \times \text{ग्र म}}{\text{क म}}$$

$$\text{भुजफल} = \frac{\text{ज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{त्रि}}$$

इस प्रकार क ग्र ल, क स्प च त्रिभुजों की सजातीयता

$$\text{ज्या स्प म} = \frac{\text{ग्र ल} \times \text{क स्प}}{\text{क ग्र}}$$

$$\text{ज्याफल} = \frac{\text{भुजफल} \times \text{त्रि}}{\text{क}}$$ यहाँ पर भुजफल का उत्थापन देने से—

$$= \frac{\text{ज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{त्रि}}{\text{क}}$$

$$\text{वा ज्या फ} = \frac{\text{ज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{क}}$$

यही ग्रहों का शीघ्र फल चाप है यह आचार्य का मत उपपन्न हुआ।

इदानीं प्रकारान्तरेण फल माह—

त्रिज्याहता कर्णहृता भुजज्या
तच्चापबाह्वोर्विवरं फलं वा।
ज्ञेयोऽत्र बाहुः प्रतिमण्डलस्य
चापेन शीघ्रान्त्यफलज्यकायाः ॥३३॥
त्रिभं युतोनोनयुतं पदानि
दोस्तेषु यातैष्यमयुग्मयुग्मे।

वा० भा०—भुजज्या त्रिज्यया गुण्या कर्णेन भाज्या लब्धस्य यच्चापं तस्य बाहोश्च यदन्तरं तद्ग्रहस्य शीघ्रफलम्। परमत्र बाहुः प्रतिमण्डलस्य ज्ञेयः। अथ तद्बाहुज्ञानार्थमाह—"चापेन शीघ्रान्त्यफलज्यकायाः" इति। ग्रहस्य परमेण शीघ्रफलेन युतोनोनयुतं कार्य्यम्। किम्? राशित्रयं चतुःस्थम्। तानि प्रतिमण्डलपदानि भवन्ति। तद्यथा, बुधस्य परमं शीघ्रफलमेकविंशतिभागाः पादोनद्वात्रिंशत्कलाऽधिकाः २१। ३१। ४३। अनेन कृतानि पदानि।

३	२	२	३
२१	८	८	२१
३१	२८	२८	३१
४३	१७	१७	४३

एतानि बुधस्य प्रतिमण्डलपदानि। यदा प्रतिमण्डलभुजः क्रियते, तदायुग्मे पदे यातमेष्यं तु युग्म इत्यादिनैव। तद्यथा :— यदा सार्द्धराशित्रयस्य केन्द्रस्य भुजः क्रियते, तदा तावानेव भवति। यदा सार्द्धराश्यष्टकस्य केन्द्रस्य भुजः क्रियते, तदा सार्द्धराशित्रयं भवतीति ज्ञेयम्। "तच्चापबाह्वोर्विवरं फलं वा" इत्यत्रायं बाहुर्ज्ञेय इत्यर्थः।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन। कर्णोच्चरेखयोरन्तरं यदि कर्णाग्रे भुजज्यातुल्यं भवति, तदा त्रिज्याग्रे किम्? इति। फलं स्फुटग्रहोच्चरेखयोरन्तरं ज्यारूपं स्यात्। तच्चापस्य प्रतिमण्डलबाह्वोश्च यदन्तरं तच्छीघ्रफलं स्यात्। अतोऽत्र प्रतिमण्डलस्य बाहुः। यतः प्रतिमण्डलस्यौजपदान्तं यावत् फलस्योपचयः ततोऽपचयः। तथा चोक्तं गोले।—

"कक्षामध्यगतिर्य्यग्रेखाप्रतिवृत्तसम्पाते।
मध्यैव गतिः स्पष्टा परं फलं तत्र खेटस्य॥"

मरीचिः—अथ प्रकारान्तरेण लघुभूतेन फलानयनं सविशेषं ग्रहस्य स्पष्टत्व सिद्ध्यर्थं फलदानक्रमं सविशेषं चेन्द्रवज्रोपजातिकाभ्यामाह।

त्रिज्याहता कर्णहृता भुजज्या तच्चापबाह्वोर्विवरं फलं वा। ज्ञेयोऽत्र बाहुः प्रतिमण्डलस्य चापेन शीघ्रान्त्यफलज्याकायाः। त्रिभं युतोनोनयुतं पदानि दोस्तेषु- यातैष्यमयुग्मयुग्मे॥ स्यात्संकृतो मंदफलेन मध्यो मन्दस्फुटोऽस्माच्चलकेन्द्र पूर्वम् ॥३४॥ विधाय शैघ्र्येण फलेन चैवं खेटः स्फुटः स्यादसकृत्फलाभ्यां दलीकृताभ्यां प्रथमं फलाभ्यां तत्तोऽखिलाभ्यामसकृत्कुजस्त्विति।

शीघ्रकेन्द्रभुजज्या त्रिज्यया हता कर्णभक्ता फलस्ययच्चापं पूर्वोक्तभुजः। चापं यदात्मकं तदात्मको ग्राह्यः। तयोरन्तरं प्रकारान्तरेण शीघ्रफलं पूर्वागतं समं भवति। ननु त्रिज्याभ्यस्तं भुजफलं चलकर्णविभाजितं लब्धस्य चापं शैघ्र्यमिदं लिप्तादिफलं शैघ्र्यमिदं स्मृतमिति। सूर्यसिद्धान्ताभिमतपूर्वोक्त प्रकारानीतफलतुल्यतेनैतत्प्रकारानीत फलस्य साधुत्वमिति भवदंगीकृतेन च युक्तम्। परमशीघ्रफलांशान्तर्गतभागाधिकत्रिभमिते केन्द्रे तदंतर्गतांशोननवभमिते केन्द्रे कल्पितप्रकारानीतं फलस्य पूर्वप्रकारानीतफलेन वह्वंतरेण विसंवादात्। तथाहि बुधस्य परिधि दंतभू। १३२। मितोऽस्मात्रिज्योद्भव-फलमिहान्त्यफलस्य जीवेत्युक्त प्रकारेण परम फलज्या १२६०।३६। अस्याश्चापं षष्टिभक्तं परमशीघ्रफलम् २१।३१।४३। त्रिचत्वारिंशदधिकैकत्रिंशत्कलारंशद्विकलाधिकैकविंशत्यंशाः एतदंतर्गतांशैः पंचदशभिर्युक्तं राशित्रयं केन्द्रं कल्पितम् ३।१५। अस्यभुजः २।१५। कोटिश्च ०।१५। लाघवार्थमनयोर्लघुत्रिज्याप्रमाणेन भुजज्या ११५।५४।३९ कोटिज्ये ३१।३।३०। आभ्यां भुजफल ४२।३० कोटिफले ११।२३।१७। परमफलज्या ४४ त्रिज्ययो १२० वर्ग १९३६।१४४०। योगः १४६३६। त्रिभज्यया कोटिफलद्विनिघ्न्या कोटिज्यया वान्त्यफलद्विघ्नया २७३३।८ हीनोऽ१३६०२।५२ अस्यमूलं कर्णः ११६।३७।५४। शीघ्र

केन्द्र भुजफलं ४२।३०।२ त्रिज्यया १२० गुणितम् ५१००।४। अथवा भुजज्या ११५।५४।३८। परमफलज्यागुणा पूर्वागत एव भाज्यः ५१००।४ कर्णभक्तः फलम् ४३।४०। अस्य धनुः शीघ्रफलं पंचदश विकलाधिकसिद्धकलायुते विंशत्यंशाः २१।२४।१५। अथ भुजज्या ११५।५४।३०। त्रिज्यागुणा १३९०९।१८ कर्णभक्ताप्तं ११९।१५।३० अस्य धनुरंशाः ८४।५५।२२। पूर्वं भुजांशश्च ७५। अनयोरंतरं शीघ्रं फलं किंचिदूनादशांशाः पूर्वागतकिंचिदधिकैकविंशत्यंशैर्बहुंतरिता इति कल्पित-प्रकारस्य व्यभिचारः। एवमन्यत्रापि सर्वेषां च वोध्यस्तत्कथं लघुमूलप्रकार कथनं युक्तमित्यत आह—ज्ञेय इति।

अत्र अंतरनिमित्तं भुजः प्रतिमण्डलस्य प्रतिमण्डलसम्बन्धी प्रसिद्धभुजा-दन्यः कल्पितः। प्रतिमण्डलाख्यो भुजो ज्ञेय ग्राह्य इत्यर्थः। तेन व्यभिचारा-भावात्। प्रकारस्य, साधुत्वमिति भावः। तद्भुजज्ञानार्थमाह्-चापेनेत्यादि, शीघ्रान्त्य-फलज्यकायाः शीघ्रपरमफलज्यायाः मन्दकर्मण्येतस्य प्रयोजनाभाव इति सूचयितुं शीघ्रेत्युक्तम्। धनुष-यदात्मकेन त्रिभंराशित्रयंचतुःस्थं कमेण युतोनोनयुतंकृतं सत्। पदानि त्रिभिभैः पदमितिवदन्यानि चत्वारित्पदान्यतुलानि भवंति। यथा बुधपदानि राश्यादीनि यथा वा पूर्वरीत्या गुरुशन्योः शीघ्रफलांशाः १०।५३।६।२२।४२ पदानि च भौमशुक्रयोस्त्वनियतत्वान्न दर्शितानि।

ननु भुजकथनस्यावश्यकत्वे पदकथनमर्थान्तरमत आह्-दोरिति-तेषु। चतुर्षु-

गुरोः पदानि। शनेः पदादि।

३	२	२	३	३	२	२	३
१०	१९	१९	१०	६	२३	२३	६
५३	६	६	५३	२३*	३७	३७	१२†
६	५४	५४	६	४२	१८	१८	४२

बुधे पदानि।

३	२	२	३
२१	८	८	२१
३१	२८	२८	३१
४३	१७	१७	४३

पदेषु प्रतिपादितेषु अयुग्मयुग्मे विषम समपदे, क्रमेण यातैष्य पदस्य भुज इति पूर्वरीत्या ज्ञेयः। न विशेषः। तथा च पूर्वं चतुर्णां पदानां समानत्वादिदानीं तु चतुर्थप्रथमयो द्वितीयतृतीययोः समानत्वात्पूर्वरीत्यैव भुजसाधने पदभेदेनैव भुजभेद इति पदकथनमनर्थांतरमिति भावः। एवं च केन्द्रपरमफलांशयुत त्रिराश्यूनं तदा तदेव भुजः। तदधिकं-षड्भाच्छोध्यम्। ततः परमफलांशहीननवराशिपर्यन्त षड्राश्यूनम्। ततो द्वादशुद्ध-मित्यागतभुजेनांतरं फलचापस्य कार्यम्। फलचापंतु पूर्वभुजादेव। अस्य भुजस्य क्वचित्त्रिराश्यधिकत्वेनज्यासाधानुपत्तेः। तथा भवत्प्रदर्शितव्यभिचारस्थले फल-चापस्य ८४।५४।२२ अन्तरार्थं केन्द्रमेव भुजः। ३।१५। अस्यांशाः १०५ फलञ्च २०।५१।३८। गणितस्य स्थूलत्वेन स्वल्पांतरत्वान्न दोषः। अन्यत्र तु प्रकारद्वयेन भुजैक्यान्न दोषः।

दीपिका—स्पष्टम्

*क्वचिद्ग्रन्थान्तरे २२ †क्वचिद् ग्रन्थान्तरे। ४२

शिखा—स्पष्टग्रह और मन्द स्पष्ट ग्रहों का अन्तर शीघ्रफल होता है शीघ्रकेन्द्र ... स्पष्ट केन्द्र का कक्षावृत्तीय अन्तर भी यही है। आचार्य शीघ्रफल लाने के इस प्रकार को विशेष परिस्कार से स्पष्ट कर रहा है।

पहिले के क्षेत्र कों देखते हुये—

ग्र उ = शीघ्र प्रतिवृत्तीय शीघ्र केन्द्र भुजांश=भु।

म उं = कक्षावृत्तीय शीघ्र केन्द्र भुज भाग =भु।

स्प उं = कक्षावृत्त में स्पष्ट केन्द्रांश =चा।

क ग्र = शीघ्र कर्ण =क।

म स्प = कक्षावृत्त में शीघ्रफल =फ।

म उं—स्प उं=भु—चा। पृष्ठस्थ क्षेत्र देखने से—त्रिकोणमिति गणित द्वारा—

स्पष्ट केन्द्रज्या$=\frac{\text{ज्या भु}\times\text{त्रि}}{\text{क}}=$ज्या चा। इसके चाप नाम चा कहना चाहिए।

अत: शीघ्र फल=भु—चा।

यत: शीघ्र केन्द्र तो प्रतिवृत्त में होता है। प्रतिमण्डल का भुज भी प्रतिमण्डलीय भुज विधि से होगा। भुज की सत्ता पद के आधीन है। तीन-तीन राशियों का एक पद होता है यह पद की परिभाषा से स्पष्ट है। इसलिये तीन राशि का १ पद प्रतिमण्डल में ग्रहण करने से प्रतिवृत्त और कक्षावृत्त के योग में दोनों वृत्तों के भुज चापों की समता मानने से इन दोनों का अन्तर भी शून्य के बराबर हो जाने से शीघ्र फलाभाव स्थान भी इसी को कहना चाहिए, किन्तु खगोलीय युक्ति से ऐसा संभव नहीं होता क्योंकि जैसे—

$$\text{शीघ्रफल ज्या}=\frac{\text{ज्या के}\times\text{ज्या अ}}{\text{क}}=\frac{\text{२ ज्या के}\times\text{ज्या अ}\times\text{त्रि}}{\text{२ त्रि}\times\text{क}}$$

$$=\frac{\text{२ ज्या के}\times\text{ज्या अ}}{\text{२ त्रि}}$$ (यहाँ पर त्रिज्या ... के तुल्य होती है)

यदि अन्त्यफलज्या के आधे चाप का नाम=$\text{अ}_१$ मानें तो

$\frac{\text{ज्या अ}}{२}=$ ज्या $\text{अ}_१$। ज्या के=को ज्या $\text{अ}_१$

$$\therefore\ \text{शीघ्रफल ज्या}=\frac{\text{२ को ज्या अ}_१\times\text{ज्या अ}_१}{\text{त्रि}}=\text{ज्या}_२\ \text{अ}_१$$

इससे स्पष्ट है कि अन्त्यफल ज्या के आधे चाप को २ से गुणा करने पर जो आता है वही प्रतिवृत्त और कक्षावृत्त के योग विन्दु पर फल होता है यहाँ पर शून्य के बराबर फल नहीं देखा जा रहा है, उक्त युक्ति से यह सुस्पष्ट है। इससे मालूम पड़ता है कि प्रतिवृत्तीय पद कल्पना का कोई विशेष आधार है, जो कक्षावृत्तीय पद की तुल्यता नहीं रखता।

इसलिये प्रतिवृत्तीय पद विधान की क्या युक्ति कही जाय यही यहाँ पर विशेष विचारणीय विषय है। वह निम्न भाँति समझना चाहिए।

— - शीघ्रोच्च स्थान में शीघ्रकेन्द्र शून्य के तुल्य है। यहीं पर शीघ्रफल का भी अभाव है। इससे आगे शीघ्रकेन्द्र की वृद्धि होगी और शीघ्रफल भी वर्धमान होगा। या शीघ्रफल का जहाँ परमत्व होगा वहीं तक फल वर्धमान होगा वहीं तक प्रतिवृत्त के पद की भी सीमा कहनी चाहिए यही युक्ति समीचीन होगी। अब परम फल कहाँ और कितना होगा इस पर विचार करना चाहिए।

यतः ज्या फ $= \frac{\text{ज्या के} \times \text{ज्या अ,}}{\text{क}}$। यहाँ पर फल की परमता मान कर उक्त समीकरणों के दोनों पक्षों की तात्कालिक गति ज्ञान से—

$$\circ = \frac{\text{कोज्या के} \times \text{ज्या अं} \times \text{क}}{\text{त्रि} \times \text{क}^2} \pm \frac{\text{ज्या}^2\text{ के} \times \text{ज्या}^2\text{ अ}}{\text{त्रि. क}^2\text{. क}}$$

$$= \text{को फ} \times \text{क} \mp \text{भु फ} \times \text{ज्या फ}$$

$$= \text{त्रि} \times \text{को फ} \mp \frac{\text{भु फ} \times \text{ज्या फ} \times \text{त्रि}}{\text{क}}$$

$$= \text{त्रि} \times \text{को फ} \mp \text{ज्या}^2 \text{ फ}$$

$$= \text{त्रि (स्प को} \sim \text{२ त्रि)} \mp \text{ज्या}^2 \text{ फ}$$

$$= \text{त्रि स्प को} \sim \text{को ज्या}^2 \text{ फ}$$

$$= \text{को ज्या फ} \times \text{क} \sim \text{को ज्या}^2 \text{ फ}$$

$$= \text{को ज्या फ (क} \sim \text{को ज्या फ)}$$

यहाँ पर गुण्य और गुणक दोनों खण्डों में गुणन फल के शून्य के बराबर होने से दोनों खण्ड (गुण्य और गुणक) शून्य के तुल्य होंगे।

इसलिये

$$\text{क} \sim \text{को ज्या फ} \neq 0$$

$$\therefore \text{क} = \text{को ज्या फ,}$$

$$\therefore \text{मू} = 0 \qquad \therefore \text{ज्या अ} = \text{ज्या फ}$$

इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस स्थल में परम फल अन्त्यफल ज्या चाप के तुल्य होगा उसी जगह पर फलकोटिज्या कर्ण के तुल्य होगी। वहाँ पर फलज्या और अन्त्यफलज्या की तुल्यता से केन्द्र ज्या और कर्ण, तथा केन्द्रकोटिज्या और अन्त्यफलज्या की तुल्यता होगी यह स्पष्ट है। कक्षामध्यग रेखा और प्रतिवृत्त के सम्पात में ही यह स्थिति होगी अन्यत्र कहीं भी कदापि नहीं होगी, गोल युक्ति से यह सुतरां सुस्पष्ट है। इसलिये इसी स्थान पर प्रतिमण्डल का विषम पदान्त होगा, यहीं तक फल वर्धमान रहेगा। इसके बाद क्रमशः फल का ह्रास होने लगेगा क्योंकि नीच स्थान में फल का अभाव होता है। इस प्रकार पुनः वर्धमान फल कक्षामध्यग रेखा और प्रतिवृत्त सम्पात में अन्त्यफल ज्या तुल्य परम होकर पुनः अपचीयमान होने से शीघ्रोच्च स्थान में शून्य होता रहेगा।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हुआ कि कक्षामध्यग तिर्यग्रेखा और प्रतिवृत्त के सम्पात से ही प्रतिवृत्त के पद का विचार करना चाहिए। क्योंकि कक्षावृत्त और प्रतिवृत्त के मध्य की दोनों

रेखाओं का अन्तर सर्वत्र अन्त्यफलज्या के तुल्य होने से तीन राशि में अन्त्यफलज्या चाप को यथाक्रम जोड़ने और घटाने से प्रतिमण्डलीय पद सिद्ध होंगे। कक्षामध्यग तिर्यक् रेखा और उच्च रेखा से ही प्रतिमण्डलवृत्त का उक्त विभाग विभाजित होता है। इसीलिये "कर्णहृता-भुजज्या" इस स्थल पर आचार्य ने यहाँ पर प्रतिमण्डलीय उक्त क्रम का भुज ग्रहण करना चाहिए ऐसा स्पष्ट किया है। इस प्रकार की पद कल्पना से वृत्त द्वय योग में फलाभावोत्पत्ति जन्य विरोध का भी सम्यक् परिहार हो जाता है क्योंकि यहाँ पर भुज चापों की असमता, अन्त्यफलज्यार्ध चाप तुल्य अन्तर से ही होती है।

नवीनमत—नवीनों के मत से सभी ग्रह सूर्य केन्द्राभिप्रायिक-दीर्घवृत्त कक्षाओं में भ्रमण करते हैं। दीर्घवृत्तीय केन्द्रान्तरात्मक फल से संस्कृत मध्यम ग्रह मन्दस्पष्ट ग्रह होता है। यहाँ पर ग्रह स्फुटत्व का अभाव है।

दोनों ग्रहों के विम्बों के अन्तर रूप विम्बान्तर सूत्र का अपर नाम मन्द कर्ण है, रवि केन्द्रीय त्रिज्या गोल में मन्द कर्णाग्र संसक्त ग्रह की स्थिति जानी गई है। इस मन्दस्पष्ट ग्रह की भू-केन्द्रीय त्रिज्या गोल में स्पष्टता कही जावेगी। क्योंकि भू-केन्द्रिक त्रिज्यागोल में ही मानव की दृष्टि होती है, और दृग्गणितैक्यग्रह भी यही कहा जाता है। सूर्य केन्द्र से ग्रह तक विम्बान्तर सूत्र। (मन्दकर्ण) भूमध्य से ग्रह तक शीघ्र कर्ण, यह दूसरा अवयव है। भूमि और सूर्य के केन्द्रों का अन्तर यही रवि कर्ण है। इस प्रकार इस सरल त्रिभुज में त्रिकोणमिति गणित से—मन्दकर्ण संसक्त मन्दस्पष्ट ग्रह का ज्ञान होगा। रवि कर्णाग्र में स्पष्ट ग्रह है उसका भी ज्ञान है। इन दोनों के अन्तर ज्ञान से रवि कर्ण और मन्दकर्ण से शीघ्र कर्ण का भी ज्ञान होगा। इस प्रकार सभी ग्रहों का शीघ्र कर्ण ज्ञान कर शीघ्र कर्णाग्र संसक्त स्फुटग्रह का ज्ञान करना चाहिए। शीघ्रफलानयन निम्न भाँति होगा।

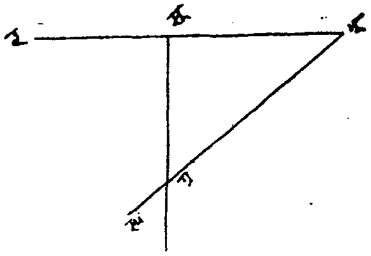

म

कल्पना कीजिये सू=केन्द्र है

ग्र=सूर्यकेन्द्राभिप्रायिक दीर्घवृत्तीय ग्रह

भू=अपने कक्ष में चलित पृथ्वी=भू।

सू ग्र=ग्रह मन्द कर्ण=म क।

भू सू=रवि कर्ण=र क।

भू ग्र=ग्रह शीघ्र कर्ण=शी क।

इस क्षेत्र के सूग्र रेखा के अग्र में 'म' बिन्दु है।

यहाँ पर सू दृष्टि स्थान से ग ग्रह म स्थान में दिखाई देगा। भू दृष्टि स्थान से यही ग्रह स्प विन्दु पर दिखाई देगा। र=स्पष्ट रवि। मन्द फल संस्कृत मध्यम ग्रह=म, ग्रह है।

∴ <र सू ग्र=र—म=अं। अब भू सू ग्र सरल त्रिभुज में भू ग्र कर्ण मान त्रिकोण मिति से जानना चाहिए। इस प्रकार सभी ग्रहों के शीघ्र कर्ण लाकर त्रिभुज के भू ग्र संलग्न कोणों में जो न्यून कोण है उसका ज्ञान करना चाहिच। यही ग्रहों का शीघ्र फल होगा। वुध शुक्र के स्फुटी करण के लिये स्पष्ट रवि में तथा और वाह्य ग्रहों के लिये मन्द स्पष्ट ग्रह में ही संस्कार करना चाहिए।

वुध शुक्र सूर्य के अन्तर्ग्रह हैं।

र क > म क ∴ <ग्र सू भू=शीघ्र फल।

$$\therefore \text{ज्या शी फ} = \frac{\text{ज्या अं} \times \text{म क}}{\text{शी क}}$$

इसका चाप=शी फ=र स्प।

∴ स्फुट शुक्र अथवा स्फुट वुध=र ∓ शी फ।

भौमादि ग्रहों के लिये तो

र क < म क ∴ शीघ्र फल= <सू ग्र भू।

यहाँ भी

$$\text{शीघ्र फल ज्या} = \frac{\text{ज्या अं} \times \text{र क}}{\text{शी क}}$$ इसका चाप=शीघ्र फल।

∴ अं=स्प र—म ± शी फ

∴ स्पष्ट ग्रह=म ∓ शी फ

इससे यह सिद्ध हुआ कि वुध शुक्र सूर्य के अन्तर्ग्रह होने से शीघ्रफल स्फुट रवि में तथा भौमादि वाह्य ग्रह होने से शीघ्रफल संस्कार इन्हीं में किया जाना चाहिए।

दृग्ग्रह की आवश्यकता है इसके साधन की अनेक युक्तियाँ अनेक समयों में गणित खगोल पण्डितों के मस्तिष्क में आई हैं आती रहेंगी—जिसे नवीन और प्राचीन मत कहा जावेगा—

मेरा विश्वास है कि प्राचीनों ने इस साधन में जो गवेषणा की है उसकी अपेक्षा नवीन मत में कोई सूक्ष्मता मालूम नहीं पड़ती है प्राचीन सिद्धान्त ही अत्यन्त सूक्ष्म विचार का है और सूक्ष्म है विद्वानों की यह नवीन गवेषणा प्राचीन सिद्धान्तों के ही आधार पर अभी तक अनवरत चली आ रही है।

इत्येवं फलानयनमुक्त्वेदानीं ग्रहस्पष्टीकरणमाह —

स्यात् संस्कृतो मन्दफलेन मध्यो
मन्दस्फुटोऽस्माच्चलकेन्द्रपूर्वम् ॥३४॥

विधाय शैघ्र्येण फलेन चैवम्
खेटः स्फुटः स्यादसकृत् फलाभ्याम् ।
दलीकृताभ्यां प्रथमं फलाभ्याम्
ततोऽखिलाभ्यामसकृत् कुजस्तु ॥३५॥
स्फुटौ रवीन्दू मृदुनैव वेद्यौ
शीघ्राख्यतुङ्गस्य तयोरभावात् ।

वा० भा०—आदौ ग्रहस्य मन्दफलमानीय तेन संस्कृतोऽसौ मन्दस्फुटः स्यात्। तं शीघ्रोच्चाद्विशोध्य शीघ्रकेन्द्रं कृत्वा ततः शीघ्रफलं तेन संस्कृतो मन्दस्फुटो ग्रहः स्फुटः स्यात्। तस्मात् स्फुटात् मन्दोच्चं विशोध्य मन्दफलमानीय तेन गणितागतो मध्यः संस्कृतो मन्दस्फुटः स्यात्। तेन पुनश्चलकेन्द्रं ततश्चलफलं तेन मन्दस्फुटः संस्कृतः स्फुटः स्यात्। एवमसकृद्यावदविशेषः।
अत्रोपपत्तिर्गोले।—

"शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्य मध्यस्थितिम्
ज्ञातुमादौ कृतं कर्म्म मान्दं ततः।
खेटबोधाय शैघ्र्यं मिथः संश्रिते
मान्दशैघ्र्ये हि तेनासकृत् साधिते" ॥

इति तथा मन्दकर्म्मणि कर्णो न कृतस्तत्कारणमपि गोले कथितम्। यत् तु "दलीकृताभ्यां प्रथमं फलाभ्याम्" इत्यादि कुजस्य विशेषस्तत्रोपलब्धिरेव वासना।

मरीचिः—अथ फलयोः प्रयोजनं स्पष्टग्रहज्ञानरूपमाह—स्यादिति। मन्दफलेनानीतेन मध्यो ग्रहः, संस्कृतः केन्द्रवशाद्युतोनितः मन्दस्फुटो ग्रहस्स्यात्। अस्मात्-मन्दस्पष्टात्। चलकेन्द्रपूर्वं, पूर्वपदात् भुजतज्जातं शीघ्रफलान्तं गणितं विधाय-कृत्वा शैघ्र्येण, शीघ्रसंबद्धेन फलेन, शीघ्रफलेनेत्यर्थः। चकारान्मदस्पष्टः। एवं स्वकेन्द्रवशात्संस्कृतः स्फुटः-स्पष्टः स्यात्। एवमनया रीत्या, फलाभ्याम्-मन्दफल शीघ्रफलाभ्यामसकृत्-वारंवारं संस्कृतो मध्यो ग्रहः खेटः स्यात्, रवे-आकाशेऽस्ति-भ्रमतीतिखेटः-आकाशे दृग्योग्यः स्यात्। अयमर्थः-अहर्गणानीतो मध्यो ग्रहः उक्तप्रकारेण स्वानीतमन्दफलेन संस्कृतो मन्दस्पष्टः, तत एनं मध्यमं प्रकल्प्योक्त-प्रकारेण शीघ्रफलं कृत्वा कल्पितमध्यमे संस्कार्यः, स्पष्टः। आकाशस्थवेधितग्रहेण स्वल्पांतरितः स्यात्। ततः, एनं मध्यमं प्रकल्प्य मन्दफलमानेयम्, तेनाहर्गणानीतो-मध्यः संस्कार्यो मन्दस्पष्टः। एनं मध्यं प्रकल्प्य शीघ्रफलं कृत्वाऽव्यवहित पूर्वमंद-स्पष्टे संस्कृतं ततोऽपि स्वल्पांतरेण स्पष्टः स्यादेवं मुहुर्निरंतरो यदा भवति, तदा खेटः स्यात्। न च गणितानीतग्रहस्यापि वेधितग्रहसंवादेन प्रामाण्याद्वेधस्यावश्य कत्वेन तेनैव तद्दानसंभवाद् गणितमन्यथासिद्धमिति वाच्यम्। गणितानीतग्रहस्य वस्तुतो निरंतरत्वेन वेधानावश्यकत्वात्। वेधनैरपेक्ष्येणैतद्गणितग्रंथप्रवृत्तेः। न चानवस्थापत्तिः। असकृत्कर्मणा साधितस्पष्टग्रहयोस्तुल्यता संपादनेन वेध सत्त्वात्।

भौमस्य विशेषमाह—दलीकृताभ्यामिति, कुजः-मंगलः। प्रथमदलीकृताभ्यां फलाभ्यां संस्कृतस्ततोऽखिलाभ्यां संपूर्णाभ्यां मन्दफल-शीघ्रफलाभ्यां मध्यसंस्कृत-इत्यसकृत्स्पष्टः स्यात्।

अयमर्थः ।। मध्यम भौमान्मन्दफलं साध्यं तदर्धमध्यमभौमे संस्कार्यं मन्दफलार्धं संस्कृतः। एवं मध्यं प्रकल्प्य शीघ्रफलमानेयं, तदर्धमन्दफलार्धसंस्कृते संस्कार्यम्। शीघ्रफलार्धसंस्कृतो भवति। अस्मान्मन्दफलं संपूर्णं मध्यमभौमे संस्कार्यं मन्दस्पष्टो भवत्यस्माच्छीघ्रफलं सम्पूर्णम्, मन्दस्पष्टे संस्कार्यं स्पष्टः स्यात्। अस्मान्मन्दफलार्धं मध्यमे संस्कार्यं मन्दफलार्धसंस्कृतः स्यादस्माच्छीघ्रफलार्धमव्यवहितपूर्वमन्दफलार्धसंस्कृते संस्कार्यः। शीघ्रफलार्धं मध्यमे संस्कार्यम्। मन्दफलार्धसंस्कृतः स्यादस्माच्छीघ्रफलार्धमव्यवहितपूर्वमन्दफलसंस्कृतोभवत्यस्मान्मन्दफलं संपूर्णं मध्यमे संस्कार्यं मंदस्पष्टः स्यात्। अस्माच्छीघ्रफलं संपूर्णमव्यवहितपूर्वं मन्दस्पष्टे संस्कार्यं स्पष्टः स्यादिति मुहुर्यावदविशेष इति विशेषो ज्ञेयो भौमस्येत्यर्थः ।

केचितु प्रथमं दलीकृताभ्यां फलाभ्यां संस्कृतस्ततोऽखिलाभ्यां फलाभ्यामसकृदिति । अयमर्थः । मध्यमभौमान्मन्दफलार्धं मध्यमभौमे देयम् । सः मंदफलार्धसंस्कृतः। अस्माच्छीघ्रफलार्धं मन्दफलार्धसंस्कृते देयं, शीघ्रफलार्धसंस्कृतः स्यात्। अस्मान्मन्दफलं संपूर्णं मध्यमे संस्कार्यम्। मन्दः स्पष्टः स्यात्। अस्माच्छीघ्रफलं संपूर्णमिदं स्पष्टे देयं स्पष्टः स्यात्। अस्मादपि मन्दफलं पूर्णं मध्यमे देयं मन्दस्पष्टः स्यात् । अस्मादपि शीघ्रफलमव्यवहितपूर्वमन्दस्पष्टे देयं स्पष्टः स्यादित्यसकृदित्याहुः, तत्र मानाभावात्, अनुगमाभावाच्च ।

अत्रोपपत्तिः—भूगर्भीयदृक्सूत्रं प्रतिवृत्तस्थग्रहगतकक्षावृत्तप्रदेशे यत्र लग्नं तन्मध्यस्थानान्तरे कक्षावृत्तप्रदेशे फलमिति व्युत्पादितं पूर्वम्। अत ऊर्ध्वाधररेखासंबद्धकक्षावृत्तप्रदेशादासन्नग्रहपर्यन्तं कक्षावृत्तप्रदेशस्य भुजत्वांगीकारान्मध्यग्रहस्थानीय-स्पष्टग्रहस्थानीयभुजयोरंतरं फलं स्यादिति सिद्धम्। तदर्थं मध्यग्रहस्थानीय भुजस्य स्वतो ज्ञानात्, स्पष्टग्रहस्थानीयभुजज्ञानमावश्यकम्। तथोक्तरीत्या स्पष्टग्रहेण हीनमुच्चं केन्द्रं कृत्वा भुजः साध्य इति न युक्तमात्माश्रयात्, स्पष्टस्याज्ञानाच्च। अन्यथा फलज्ञानस्य व्यर्थत्वापत्तेः। किन्तु कक्षास्थमध्यग्रहीयभुजस्य प्रतिवृत्तेऽपि स्वतन्त्रभुजत्वाकर्षणाग्रे प्रागानीतो भुजोऽस्त्यपेक्षितः। कक्षास्थस्पष्टग्रहस्थाने त्रिज्याग्र इति। तत्रानुपातेन सिद्धांशादीनामत्यंतं स्थूलत्वभुजज्यैव कर्णाग्रे इयं तदा त्रिज्याग्रे केत्यनुपातेन कक्षावृत्तांत ऊर्धाधररेखातः स्पष्टग्रहस्थानपर्यन्तं मध्यज्या कृता। वृत्ते करणार्थं चापं कार्यम्। तत्स्पष्टग्रहस्थानपर्यन्तं मध्यग्रहस्थानपर्यन्तस्य प्रथममेव ज्ञानात्तद्वयोरंतरं शीघ्रफलम्। मंदकर्णानुपातानंगीकारादेतद्रीत्या न मन्दफलं साधितमित्युपपन्नं त्रिज्या हतेत्यादिवान्तम्।

अथैवं कक्षाप्रतिवृत्तमध्यस्थतिर्यग्रेखयोर्मध्ये प्रतिवृत्ते ग्रहो भवति तदानुपातानीतभुजज्याचापं कक्षायाः प्रथमपदस्थाच्चतुर्थपदस्थं भवति। मध्यमग्रहभुजस्तु द्वितीये तृतीये क्रमेण वा भवति। तत्र तदंतरं ग्रहान्तरप्रदेशरूपकलातुल्यं न भवति। तदंतरस्याल्पत्वात्। क्वचित्तदन्तराभावाच्च। तत्र कक्षाप्रथमपदीयस्पष्टभोग्यकक्षा-द्वितीयपदीयमध्यमभुक्तकक्षाप्रदेशयोरैक्यस्य चतुर्थपदस्पष्टभुक्ततृतीयपदमध्यभोग्यकक्षावृत्तप्रदेशयोर्योगस्य वा क्रमेण फलत्वाच्च। तस्मात्कक्षास्थमध्यस्फुटभुजयोरेककक्षाप्रदेशावधित्वेन ज्ञानमावश्यकम्। तेन फलोत्पत्तिसंभवः। तिर्यग्रेखातदंतर्गतप्रतिवृत्तग्रहे दर्शनात्। तच्च तत्र प्रतिवृत्तोच्चस्थानात्प्रतिवृत्तस्थग्रहपर्यन्तं यः प्रतिवृत्तप्रदेशस्तत्तुल्यमेव कक्षावृत्ते उच्चस्थानान्मध्यमग्रहस्थानपर्यंतमन्तरं तस्यान्तरार्थं मध्यमभुजत्वे कल्पिते सर्वमुपपन्नं भवति।

अयं भुजस्तु प्रतिवृतवशात्कल्पित इत्युपपन्नं-ज्ञेयोऽत्र बाहुः प्रतिमण्डलस्येति। अथेदं प्रतिवृत्तस्थोच्चग्रहयोरंतरे यदि भुजः स्यात्तदा संभवति। तत्तु पूर्वरीत्या प्रतिवृत्तेऽपि कक्षागतमध्यभुजस्य न्यूनस्य भुजत्वकल्पनान्न संभवति। अन्यथानुपातानीतस्पष्टभुजानयनानुपपत्तेः। अतस्तदन्तरस्य भुजत्वाथ प्रतिवृत्ते कक्षा मध्यगतिर्यग्रेखासम्पातावधीनि चत्वारि पदानि कल्पितानि। प्रतिवृत्तग्रहस्य यथाक्रमं तद्रेखोल्लंघनानुलंघनाभ्यां यथोक्तस्य दर्शनात्। तिर्यग्रेखातः स्थिते, उक्त— विशेषस्य दर्शनाच्च। अतस्तद्वृत्ते उच्चस्थानात्कक्षावृत्ततिर्यग्रेखासंबद्धप्रदेशपर्यन्तं प्रथमं पदम्, ततो नीचस्थानपर्यंत द्वितीयम्, ततस्तद्रेखासंबद्धपर्यंतं तृतीयं द्वितीयसमम्। तत उच्चपर्यंतं चतुर्थं प्रथमसमम्। तत्र प्रतिवृत्ते स्वतिर्यग्रेखावच्छिन्नं पदं चतुष्टयं त्रिराशिमितं स्वतन्त्रमस्त्येवेति, तिर्यग्रेखान्तर्गतप्रतिवृत्तप्रदेशस्य परमफलतुल्यत्वाद्राशित्रयं परमफलचापयुतं प्रथमम्। चतुर्थं च द्वितीयं तदूनं त्रिभं तृतीयमपि। एभ्यः पूर्वभुजरीत्या तदंतरस्य त्रिराश्यधिकस्यापि भुजत्वसंभवः। रेखानंतर्गतप्रतिवृत्तग्रहे एभ्योऽपि पूर्वावगत भुजः सिध्यतीति सर्वत्र प्रतिवृत्तभुजग्रहणमुचितमित्युपपन्नं चापेनेत्यादि युग्म इत्यन्तम्।

फलदानोपपत्तिस्तु ग्रहः कक्षामण्डलमध्यः। मंदनीचोच्चवृत्ते मंदस्पष्टः। शीघ्रनीचोच्चवृत्ते स्फुट इति कक्षावृत्ते मंदनीचोच्चवृत्तमध्यस्य मध्यग्रहत्वान्मंदनीचोच्चवृत्तपरिधौ मंदस्पष्टग्रहभ्रमणादुक्तरीत्या मंदस्पष्टसाधनं मध्यमात्। एवं मन्दस्पष्टदर्शनस्थानं कक्षावृत्ते मध्यग्रहवच्छीघ्रनीचोच्चवृत्तमध्यं भवतीति तत्परिधौ स्पष्टभ्रमणादुक्तरीत्या मंदस्पष्टरूप मध्यमात्स्पष्टग्रहसाधनमेवं कक्षावृत्ते स्फुटग्रहदर्शनम्। अथ शीघ्रनीचोच्चवृत्तमध्यस्य वास्तवमन्दस्पष्टग्रहत्वाद्वस्तुतो ज्ञानान्मंदस्पष्टात्साधितशीघ्रफलसंस्कृतात् स्फुटज्ञानं भवतीति। तत्र वास्तवमन्दस्पष्टज्ञानं तु वास्तवग्रहानीतमंदफलं संस्कृतमध्यग्रहज्ञानेन। तत्तु मध्यग्रहानीतमंदफलसंस्कारेण मध्यग्रहस्यावास्तवत्वात्। तथा च प्रथमं वास्तवस्पष्टग्रहस्याज्ञानादशक्यम्। अन्यथा क्रियावैयर्थ्यापत्तेरपि तथापि मध्यानीतमंदफलसंस्कारेण मध्यस्य वास्तवमंदस्फुटासन्नत्वात्तदानीत शीघ्रफलसंस्कारेण वस्तुभूतस्फुटासन्नज्ञानात्ततोऽपि

मंदफलसंस्कारेण च मंदस्पष्टात्सूक्ष्ममंदस्पष्टज्ञानम् । ततः शीघ्रफलसंस्कारेण पूर्वस्पष्टात्सूक्ष्मस्पष्टज्ञानं एवमुत्तरोत्तरं सकृत्करणेन सूक्ष्मतासिद्धेः । तथा चासकृत्करणेन स्पष्टग्रहयोः समानत्वे सिद्धे वस्तुभूतस्पष्टान्मंदस्पष्टस्तस्मात्स्फुटः सिद्ध इति पर्यवसानात् । अत उपपन्नं स्यात्संस्कृतो मंदफलेनेत्याद्यसकृत्फलाभ्यामित्यन्तम् ।

ननु "एतदादौ कुजादीनां चतुर्थे चैव कर्मणि, शैघ्र्यं मांदं पुनर्मांदं शैघ्र्यंचत्वार्यनुक्रमादिति" सूर्यसिद्धान्तोक्तफलदानक्रमांगीकरणं युक्तमागम प्रामाण्यात् । न कल्पितक्रमानुसरणं युक्तं मूलाभावात् । न च सूर्यांगीकृतक्रमेऽन्योन्याश्रयदोषः । यथाहि—वास्तवेन चलफलेन तेन मन्दफलेन च संस्कृत एव रवेटः स्फुटः स्यात्तस्मादेव हि मन्दफलानयनं ततः शीघ्रफलस्यापि मन्दस्फुटादेवानयने वस्तुभूतत्वमिति । तथा च मन्दफल संस्कारमन्तरा शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्य मध्यं ज्ञातुमशक्यमित्यनुपपत्तिमुक्त्वा तत्र प्रथमं मांदमेव कर्मोपदिष्टमेवेति । मूलं तु विष्णु धर्मोत्तरान्तर्गतब्रह्मसिद्धान्ते द्वितीयग्रहगत्यध्याये मन्दफलं शीघ्रफलानयनं तत्संकारेण च क्रमादुक्त्वा तस्मात्पुनरपि केन्द्रं कृत्वा मध्यमेव ग्रहं भूयो भूयः संस्कुर्यात्फलाभ्यां यावदविशेषः स्फुटो ग्रहो भवतीत्युक्तमिति न वाच्यम् । भवदंगीकृतपक्षे प्यन्योन्याश्रय दोषस्य सत्त्वात् । तथा हि वस्तुभूतेन मन्दफलेन संस्कृतो मध्यः किलचलफलानयनार्हः । वास्तवं तु मन्दफलं स्फुटादेवानीतमन्यथा परिवर्तितानुसरणानुपपत्तेरिति चेन्न । व्यक्तिभेदोपगमेन बीजांकुरन्यायेनान्योन्याश्रय दोषाभावात् । किंतु तदाभास एव । यदि वस्तुस्फुटादेवास्तु फलोत्पादनदर्शनं तदैवोक्तदोषावकाशः । अत्र तु मध्यात् स्थूलफलानयनं ततो सकृत्कर्मणा ग्रह स्थूलफलरूपनानाव्यक्तिप्रकल्पनया तस्य स्फुटत्वमिति सूर्य्यसिद्धान्तेप्युक्तरीत्या दोषाभावेऽपि यावदविशेष इत्यंतमसकृत्करणानुक्तत्वादननुगमाच्च तदनंगीकारः । द्वयोरार्षत्वेन तुल्यत्वात् ।

अत्र केचित् न हि क्रमेण मंदशीघ्रोच्चाभ्यां ग्रहबिम्बंमाकृष्टं येन विरम्य फलयोः क्रमिकत्वाद्धनम् । किन्तु सम्भूयैवान्यथा परस्परोत्पत्तिकालस्य परस्परविच्छिन्नरूपत्वेन फलयोरनियतत्वेन गणितसाध्यतैव न स्यात् । अतः संभूयजनितान्तरस्योभयफलसंस्कृतरूपत्वेन सहैवानेतुमशक्यत्वात् । प्रत्येकमेवानयनाय केन्द्रं भुजज्यादिभिरनुपात एवोपाय उपलब्धः यद्यपि साधनमव्याहतमेव, तथापि सूक्ष्मत्वनिर्वाहाय फलयोः संभूयोपपन्नत्वेन स्वेच्छया प्रथममेकतरस्य गुरूलघुतारतम्यान्वेषणया न मध्यौ वस्तुतः फलसाधनार्हः । अपारमार्थिकत्वात् । नाऽपि स्फुटफललक्ष्यसंस्कारेण, अति विप्रकृष्टत्वात् । अतो मध्यस्फुटो स्थूलफलसाधनार्ह *(विबन्धस्तुतः,) किन्तु तदुभयमध्यवर्त्यर्द्ध स्फुटएवेति युक्तया संभाव्यैव पूर्वं ब्रह्मसोमसूर्यादिभि रुक्तम्—

"मध्ये शीघ्रफलस्यार्धं, मांदमर्धफलं तथा ।
मध्ये ग्रहे मंदफलं सकलं शीघ्रमेव चे"ति ॥

*अत्र यथाकोषं पाठोऽस्माभिर्निवेशितः । अत्र क्रियानंशो त्रुटित इति भाति ।

अथ मध्यग्रहान्मन्दशीघ्रफले स्थूले आनीयार्द्धिते कृत्वा ग्रहसंस्कार्यार्थात्स्फुटत्वं क्रियते, तथापि पुनः सौक्ष्म्यार्थे प्राथमिकमपि मन्दफलं स्थूलं न केवलान्मध्यमादानेतुं युक्तम्। शीघ्रफलान्तरेण सान्तरत्वात्। तदर्थमयमेव पक्षो ज्यायान्, न द्वितीयपरिवर्त्ते ग्रहस्यार्धस्फुटत्वेन फलानयनार्हतौपपत्तौ।

वस्तुतो मन्दफले परिज्ञाते शीघ्रनीचोचवृत्तमध्यस्य वास्तवमन्दस्फुटखेट-चिह्नएवोचितत्वेनान्तरमेव शीघ्रफलानयनस्याति समीचीनत्वात्। तथा च सूर्यमत-एव फलद्वस्य सौक्ष्म्यमिति निर्गवः। तथा तद्वाक्यं-"मध्ये स्वयं चलफलस्य दलं धनर्ण-कृत्वा ततो मृदुफले दलितं च तत्र। तत्संभवेन मृदुना सकलेन मध्ये मंदस्फुटः स्फुटतरोऽखिलं चले"नासकृन्मन्दफलं स्फुटाच्चलफलं यत्साध्यते तत्स्फुट न ज्ञे यः। प्रथमं मृदुस्फुटतरो मध्यग्रहात्केवलात्। तस्मादाशुफलाधमंदजफलार्द्धात् संस्कृता-न्मध्यमाज्जातं मंदफलं भवेत्स्फुटमलं किं चित्रमत्रक्रमे इत्याहु स्तन्न। अर्द्धस्फुटान्मन्द फलस्य भवद्भिरपि छेद्यकोपपत्तावनुक्तत्वात्। मध्यग्रहादेव मन्दफलोपपादनस्य प्रतिपादितत्वात्। सूक्ष्मत्वे तु स्पष्टादेवप्रतिपादनं युक्तम्। किञ्च प्रथमशीघ्रफला-नयनमपि मन्दस्पष्टाद्युक्तमित्यादि विचारणे कुत्राप्यवस्थानाभावेन निरालाम्वनत्वा-पत्तेः। असकृद्विधिं विना सौक्ष्मस्य ब्रह्मणापि दुरूपपादत्वात्। तथाचासकृत्करणेना-स्मन्मत एव सौक्ष्म्य-सिद्धः। मन्दशीघ्रफलैःकार्यमसकृत्कर्म मध्यमे, अविशेषफलं यावत्तावत्कार्यः स्फुटग्रह इति लघुवसिष्टोक्तेश्च, अपि च भवद्रीत्या मन्दार्धशीघ्रार्थ-संस्कृतमध्यग्रहान्मन्दफलसाधनापत्तेः। अतएवास्मन्मते भौमस्य स्पष्टत्वार्थं दलीकृताभ्यामित्यादिनैतत्तवोक्त मत्रोपपत्तिस्तु प्रत्यक्षोपलब्धिः। भौमस्य प्रथमे मन्द कर्मण्यर्द्धीकृताः—भौमस्य प्रथमे शीघ्रकर्मणि तदर्धीकृतमिति विष्णुधर्मोक्तं वा अन्यथा सर्वग्रहाणामुक्तत्वापत्तेः। अत एव ब्रह्मगुप्तसिद्धान्ते मन्दफलान्मध्यमः स्फुटो मन्दः। शीघ्रफलात्स्पष्टो ग्[illegible]देवमिति।

श्रीपति रपि—

"मृदुफलमादौ मध्यमं मेदिनीजे, तदनुचलफलस्यार्द्धमस्मिन्विधेयम्।
पुनरपि लवपूर्वे मांदशैघ्र्ये च मध्ये, ह्यसकृदवनिसूनोः, एवमाहुः स्फुटत्वमिति॥
बुधादिकानां तु परिस्फुटत्वं फलद्वयेनैवमखण्डितेन।
मध्यस्फुटैक्यस्य दलं तु मध्यं प्रकल्प तस्मादसकृत् स्फुटत्वमि"ति।

विशेषश्चाह-भौमस्योक्तं कार्यनाशकृदिति कश्चित्। केचित्तु भौमौक्तरीत्या सर्व-ग्रहाणामसकृन्नेत्याहुः। अन्ये तु मध्यमस्य मन्दफलं सम्पूर्णं ज्ञेयं ततस्तस्माच्छीघ्रफलं सम्पूर्णं मन्दस्पष्टे। ततः स्पष्टान्मन्दफलार्द्धं मध्यमे देयम्। ततोऽस्माच्छीघ्रं फलं मन्दफलार्द्धसंस्कृते, तस्मान्मन्दफलं सम्पूर्णं मध्यमे, अस्माच्छीघ्रफलं मन्दस्पष्टेऽव्यव-हितो स्पष्टो ग्रहः स्यान्नासकृदित्यूचुः। मध्यग्रहाच्छीघ्रफलार्द्धं च मध्यमेऽस्मान्मान्द फलं सम्पूर्णं मध्यमे मन्दस्पष्टः। अस्माच्छीघ्रफलं सम्पूर्णं मन्दस्पष्टे स्पष्टः, स्यादिति केचित्। परे तु बुधशुक्रयोः पूर्वमतोक्तेन स्पष्टत्वं अन्येषां तु भौमौक्तरीत्या नासकृदिति प्राहुः। अपरे तु बुधशुक्रयोः मन्दफलशीघ्रफलाभ्यां सम्पूर्णाभ्यामेक

वारं संस्कारः कार्यः। सूर्यपरमफलेनार्द्धितेन शुक्रोहीनः स्पष्टः स्यात्। रविमन्दोच्चोन-बुधशीघ्रोच्चं केन्द्रं प्रकल्प्य सूर्य्यमन्दफलं साध्यम्। तेन सूर्य्यस्य मन्दफलं धनं तदा बुधो युतः ऋणं तदा हीनः स्पष्टो बुधः स्यादित्याहुः। अत्र सर्वत्रोपलब्धिरित्यत्र मतगवेषणया ॥ ३५ ॥

न च मन्दफलसंस्कृतो मध्यो मन्दस्पष्टः शीघ्रफलसंस्कृतः स्पष्ट इत्युक्तं, तत्र सूर्यचन्द्रयोः शीघ्रफलाभावात्स्फुटत्व कथमतस्तदुत्तरगतिज्ञानं चोपजातिकयाह–

"स्फुटौखीन्दू मृदुनैववेद्यौ शीघ्राख्यतुंगस्य तयोरभावात्।
दिनातरं स्पष्टखगांतरं स्याद्गतिः स्फुटा तत्समयान्तराले ॥"

इति मृदुना-मन्दफलेन, खींदू संस्कृतौ स्फुटावेवकारः शीघ्रफलसंस्कारं विना न स्पष्ट सिद्धिरिति निवारणाय। वेद्यौ-ज्ञातव्यौ, मृदुनेत्येकवचनादसकृन्मन्दफलं न साध्यमिति सूचितम्। तथा च मांदं कर्मैकमर्केन्दोरिति सूर्यसिन्द्धातोक्त-मन्दस्पष्टावेव तौ स्पष्टावितिभावः।

नन्वनयोः कथं मन्दस्पष्टत्वमेव स्पष्टत्वं भौमादिवदनुगतत्वेनशीघ्रफलसंस्कारेण कथं न स्पष्टत्वमुक्तमतआह-शीघ्राख्यतुंगस्येति। तयोः सूयचन्द्रयोः शीघ्रोच्चस्य अभावात्-असत्वात्ततथा च सूर्यचन्द्रयोरार्षग्रन्थे शीघ्रोच्चस्य भगणानुक्ते भौमादिव-च्छीघ्रोच्चस्य खपुष्पायितत्वेन तदुपजीव्य शीघ्रफलस्य स्वतः सिद्धो भाव इति भावः। एतेन सूर्यचन्द्रयोः शीघ्रोच्चाभावेन राश्याद्यवयावात्मकं शून्यमेव शीघ्रोच्चं स्थाप-यित्वा ततः सूर्यचन्द्रयोर्द्वादशराशिभ्यः शोधनं कृत्वा शेषं शीघ्रं केन्द्रमस्माच्छीघ्र-फलमुक्तवत् साध्यमितिनिरस्तम्। शीघ्रपरिधेरनुक्तत्वेनोक्तरीत्या शून्यगुणने पुनः शीघ्रफलाभावापत्तेः। नहि शून्यमत्र हरोत्पद्यते येन खगुणश्चिन्त्यश्च शेषविधाविति कृत्वा शून्ये गुणके जाते खं हारश्चेत्पुनस्तदा राशिः। अविकृत एव ज्ञेय इत्युक्त प्रकारः सम्भवति।

दीपिका—अत्र पूज्य १०८ श्री गुरुचरणाः (म. म. पं. सुधाकरद्विवेदिवरान्ते बासिनः पं. बलदेव पाठकाः)

अत्र भगणोपपत्तिविधिना भगणादेर्भगणान्तं यावद्वेधेन स्पष्टग्रहज्ञानं कृत्वाद्यतनश्वस्तन स्पष्टग्रहयोरन्तररूपास्पष्टागति विलक्षणवेगेन दृष्टा। तेनाऽयं स्पष्टग्रहोऽनुपातेनासाध्य-स्तस्यैकरूपविषयत्वात्। अतो ग्रहगोलीयक्रान्तिवृत्तस्य शैघ्र्यप्रतिवृत्ताख्यस्य यद्विन्दोर्ज्ञानं वेधोपलब्धस्पष्टग्रहाद् भवेत्तं मन्दस्पष्टग्रहत्वेन कल्पितम्। तद्यथा-भूकेन्द्राद्वेधोपलब्धस्पष्ट ग्रहोपरि नीयमानं सूत्रं वर्द्धितं सच्छैघ्र्यप्रतिवृत्ते यत्र लग्नं स एवोक्त मन्दस्पष्टग्रहो ज्ञेयः। अथ भूकेन्द्रान्मन्दस्पष्टग्रहावधिकः शीघ्रकर्णः प्रथमावयवः, भूकेन्द्राद्ग्रहगोलकेन्द्रं यावदन्त्य-फलज्यामितो द्वितीयावयवः, ग्रहगोलकेन्द्रान्मन्दस्पष्टग्रहं यावद्ग्रहगोलव्यासार्धमितस्तृतीया-वयवः, अथ ग्रहोच्चयोरवगमात् कर्णोच्चरेखयोरुत्पन्नभूलग्नकोणमानं स्पष्टकेन्द्रांशसमं ज्ञातमेवातः—

$$\text{ज्या} \angle \text{मं स्पग्रल} = \frac{\text{स्प के. ज्या} \times \text{अन्त्यफलज्या}}{\text{त्रि}}\ ।$$

अस्याश्चापत्वेन संस्कृतो भूलग्नकोणोऽर्थात्स्पष्टकेन्द्रांशमानो मध्यमकेन्द्रांशमानमर्थात् शैघ्र्यप्रतिवृत्ते मन्दस्पष्टोच्चयोरन्तरं स्यात्, अनेन हीनं शीघ्रोच्चं मन्दस्पष्ट ग्रहः स्यादेवं प्रत्यहं भगणादेर्भगणान्तं यावन्मन्दस्पष्टग्रहं ज्ञात्वा तस्योत्तरोत्तरमधिकत्वान्मन्दस्पष्टग्रहस्य वक्रता नास्तीति सिद्धम्। मन्दस्पष्टस्पष्टग्रहयोरन्तरं शीघ्रफलं कल्प्येत। परमाधिके परमाल्पे च कर्णे ग्रहोच्चयोरन्तराभावाच्छीघ्रफलाभावस्तदुच्चनीचसमे ग्रहे भवितुमर्हतीति शीघ्रप्रतिवृत्तभङ्ग्यैवम्परिणमति। अत उच्चनीचयोर्मध्येऽस्ति कोऽपि बिन्दुर्यत्र केन्द्रांशमानं परमं स्यात्तत्रैव यन्मन्दस्पष्टस्पष्टग्रहयोरन्तरं तत्परमं शीघ्रफलमिति।

अथ च तथानीतमन्दस्पष्टग्रहद्वयान्तररूपा मन्दस्पष्टागतिरपि विलक्षणा दृष्टा तेन मन्दस्पष्ट ग्रहोऽपि स्पष्टग्रहवदनुपातेनासाध्य इति।

अतस्तद् ज्ञानार्थं समानवेगरूपः कश्चिद्ग्रहस्तथा कल्पनीयो यथा यावता कालेन विलक्षण वेगेन मन्दस्पष्टग्रहश्चक्रकलां पूरयति तावतैव कालेन कल्पितग्रहोऽपि समानवेगेन चक्रकलामतिक्रामेत्। तच्चैवम्—मन्दस्पष्टग्रहचक्रकलापूर्त्तिसञ्जातदिवसतुल्यानि चक्रकलायाः खण्डानि कृत्वैकखण्डसमाना मध्यमास्थिरागतिः स्वीकर्त्तव्येति। एवं प्रत्यहं यन्मन्दस्पष्टमध्यम ग्रहयोरन्तरं तन्मन्दफलम्, परमं तदन्तरं मन्दान्त्यफलं तदन्तराभावस्थान मेव मन्दोच्चमिति। परन्तु कल्पित ग्रहस्य रवे मूर्त्तिर्नास्तीति केवलं मन्दस्पष्ट ग्रहाऽवगमाय तत्कल्पितं तेन कल्पितग्रहस्य कोऽपि गोलस्तथा कल्पनीयो यथा वेधोपलब्धस्पष्टग्रहेण मन्द स्पष्टग्रहस्य ये धर्माः प्रदर्शितास्त एव मन्दस्पष्टेन कल्पितग्रहस्यापि स्युरिति।

ग्रह गोलकेन्द्रमेव भूकेन्द्रमेवं भूकेन्द्रं, तस्मादुच्चरेखायां परममन्दफलज्यातुल्यं दत्वा तस्मात्त्रिज्या व्यासार्धेन मन्दप्रतिवृत्तं कार्यम्। कल्पितभूकेन्द्रान्मन्दस्पष्टग्रहोपरि नीयमानं सूत्रं मन्दप्रतिवृत्ते यत्र लग्नं तत्र कल्पित ग्रहो मध्यमग्रहश्चेति वा कल्पनीयः। मध्यम ग्रहोच्चयोरन्तरं मन्दकेन्द्रम्। तदानयनं कर्णोच्चरेखयोरुत्पन्नकल्पितभूलग्नकोणस्यावगमात्सुवोधम्। तेन युक्तं मन्दोच्चं मध्यमग्रहस्स्यादिति प्राचीनै रसकृद्वेधेन मन्दप्रतिवृत्ते कर्णरेखयोस्तुल्यान्तरदर्शनान्निश्चयः कृतः, परमेवं प्रत्यहं वेधेन स्पष्टग्रहज्ञानमसंभवमतो यथासुखेन तद्ज्ञानं भवेत्तथा वेधजनितनिर्णीतधर्मविलोमवशाद्विदितमध्यमग्रहादेव स्पष्टग्रहज्ञानं कृतं, तद्यथानुपातस्यैकरूपविषयत्वादहर्गणान्मध्यमग्रहज्ञानं मन्दप्रत्तिवृत्ते जातं ततो मन्दफलद्वारा शैघ्र्यप्रतिवृत्ते मन्दस्पष्टग्रहस्य बोधस्स्यात्ततः साधितशीघ्रफलसंस्कारवशेन कल्पितभगोले कक्षावृत्ते पूर्वप्रदर्शितवेधोपलब्धस्पष्टग्रहज्ञानं भवत्येवेति मन्दफलपूर्वकशीघ्रफलसंस्कारः सिद्ध इति।

अथासकृत्कर्मोपपत्तिस्तत्र वेधेन गणितेन वा मध्यमागतिंज्ञात्वा तस्याः सूक्ष्मतरावयवायागात्तथा मन्दोच्चस्य शीघ्रोच्चस्याप्यनिर्वाच्यगतिवशेन बहुकालावधि तयोः स्थिर कल्पनावशात्तथा भास्करोदयान्तरस्य स्थूलत्वात्तथा मन्दकर्मणि भुजफलस्यैव मन्दफलकल्पनादित्याद्यनेकाशुद्धिवशात्कथमपि वास्तवं मन्दफलं नागच्छति, तेनानन्यगत्या वास्तवमन्दफलेन संस्कृतो मध्यम ग्रहोऽवास्तव मन्दस्फुटग्रहस्तस्मादवास्तवशीघ्रफलेन संस्कृतो मन्दस्फुटोऽवास्तवः स्पष्टग्रहः पुनरपि तस्मान्मन्दफल मित्यादिनासकृत् कर्मणा स्फुटग्रहमानयेदित्याचार्याशयः।

नवीनास्त्वेवं व्याचक्षते-मन्दोच्चस्य मध्यमग्रहस्यापि स्थूलत्वात्तस्माद्यन्मन्दफलं तदवास्तवं तेन संस्कृतो मध्यम ग्रहोऽवास्तव मन्दस्पष्टग्रहस्तमेव मध्यमं प्रकल्प्य तस्मान्मन्दफलं यत्तन्मध्यमग्रहे संस्कुर्यात्तेन किञ्चित्सूक्ष्मं मन्दस्फुटं ग्रहमेवासकृद्यावदिति शेषः। पुनर्वास्तवमन्दस्पष्टग्रहज्ञानात्सकृदेव स्पष्टग्रहज्ञानं संभवति यतो वास्तवमन्दस्पष्टग्रहाच्छीघ्रफलानयने स्पष्टग्रहस्य प्रयोजनाभावात्, अन्योऽन्याश्रयत्वाभावः, तेन शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्य मध्यस्थितिमित्यत्र हि यस्मात्ते मान्द्यशैघ्र्ये मिथः संश्रितेनातोऽसकृत्साधितेन भवत इति।

प्राचीनमतेनाऽसकृत्कर्मणा मन्दफलानयनं यत्तु समीचीनं विदितवास्तवमन्दस्पष्टशीघ्रोच्चावगमात्सकृदेव स्पष्टग्रहस्य ज्ञानादत्रासकृद्विधिः समीचीनो नास्तीति नवीना इति दिक्।

शिखा—अहर्गण से अनुपात द्वारा लाये गये ग्रह का नाम मध्यम ग्रह है। मध्यम ग्रह की राशि वृत्त में कोई आकृति नहीं हैं। दृष्टि से आकाश में जहां पर ग्रह विम्ब को देखा जाता है वही स्पष्ट ग्रह है। मध्यम ग्रह और स्पष्ट ग्रह का जो अन्तर है वही अन्तर फल नाम से कहा गया है। गोलाध्याय में इस प्रकरण पर आचार्य के विशेष विचार के साथ विचार किया जावेगा। यह फल दो प्रकार का है। (१) मन्दफल और (२) शीघ्र फल।

मध्यम ग्रह में मन्द फल के संस्कार से मन्द स्पष्ट ग्रह का ज्ञान किया गया है। सूर्य और चन्द्रमा का मन्दस्पष्ट ग्रह रूप का ही प्रतिविम्ब स्पष्ट दृग्गोचर हो जाता है। किन्तु भौमादि पांच ग्रहों में मन्दफल संस्कार के बाद आकाश में मन्दस्पष्ट भौमादि के विम्ब दृष्टि गोचर नहीं हुये, इनका और एक शीघ्रोच्चाकर्षण प्रसिद्ध संस्कार बाकी है। इसलिये शीघ्रोच्चाकर्षण जनित शीघ्रफल का संस्कार मन्दस्पष्ट ग्रह में करने से स्पष्ट ग्रह (भौमादि पाँच ग्रह) के प्रत्यक्ष विम्ब आकाश में वेध से भी दीखे जाते हैं।

वेध से आकाश में स्पष्टग्रह का स्थान जाना गया तब मध्यम ग्रह का ज्ञान विलोम गणित से किया गया है—यह बात मध्यमाधिकार में पूर्व में कह आये हैं। यहाँ पर असकृत् गणित कर्म बराबर एक ही प्रक्रिया से गणित कर स्पष्ट ग्रह से ही शीघ्रफल लाकर इस फल का विलोम संस्कार स्पष्ट ग्रह में करने से मन्द स्पष्ट का ज्ञान किया गया। किन्तु यह फल मन्द स्पष्ट केन्द्रज्या से ही लाना चाहिए था क्योंकि शीघ्रफल की साधनिका स्पष्ट केन्द्रज्या की अपेक्षा रखती है, एवं मन्दफल साधन के लिये मन्दस्पष्ट केन्द्रज्या की आवश्यकता है। मन्दस्पष्ट केन्द्रज्या से मन्दफल एवं स्पष्ट केन्द्रज्या से शीघ्रफल साधन करना चाहिए। मन्द स्पष्ट ग्रह का ज्ञान नहीं होने से मध्यम ग्रह से जो मन्दफल लाया जावेगा वह कुछ स्थूल होगा फिर शीघ्र फल साधन के लिये भी यही उक्त मन्दस्पष्ट केन्द्रज्या ग्रहण करने से शीघ्र फल भी स्थूल होगा इस लिये आचार्य ने इस सूक्ष्मता के लिये असकृत्कर्म गणित का आश्रय लिया है।

अर्थात् स्पष्ट ग्रह को ही मन्दस्पष्ट ग्रह मान कर इससे शीघ्र फल लाकर इसका स्पष्ट ग्रह में विलोम संस्कार करने से मन्दस्पष्ट ग्रह होगा। फिर इस मन्दस्पष्टग्रह को शीघ्रोच्च में घटाकर शीघ्र केन्द्र द्वारा साधित शीघ्र फल, पहिले की अपेक्षा सूक्ष्म शीघ्र फल होगा,

और इसका विलोम संस्कार स्पष्ट ग्रह (वेधोपलब्ध ग्रह में) में करने से पहले सूक्ष्म मन्दस्पष्ट होगा—इसी तरह यह क्रिया वार वार करते रहने से जब एक ही रूप का फल आवेगा तब समझना चाहिए यही मन्दस्पष्ट केन्द्रज्या स्थिर है और इसी से साधित शीघ्रफल का अनुलोम संस्कार इसी मन्द स्पष्ट में करने से अवश्य शीघ्र स्पष्ट ग्रह स्पष्ट होगा। इसी प्रकार मध्यम केन्द्रज्या से साधित मन्दफल भी स्थूल होगा। मन्दफल साधन के उपयुक्त इस मन्दस्पष्ट केन्द्रज्या से अनेक बार के फलों के विलोम संस्कारों से यह स्थिर मध्यम ग्रह होगा इससे साधित मन्दफल के अनुलोम संस्कार से मन्दस्पष्ट ग्रह की वास्तविक स्थिति ठीक होगी। भौमादि स्पष्टी करण में प्रथम दो फलों का आधा करके और दूसरे फलों का सम्पूर्ण संस्कार करते हुये ही असकृत्कर्म—(बारबार गणित) करते रहना चाहिए।

विशेष—मध्यमा गति के सूक्ष्म अवयवों को त्याग देने से, मन्दोच्च शीघ्रोच्चों की बहुत काल तक एक रूप गति मानने से तथा भास्कराचार्य के उदयान्तर कर्म की कुछ स्थूलता से तथा मन्द कर्म में भुजफल को ही मन्दफल मान लेने से इस प्रकार की अनेक स्थूलताओं से किसी प्रकार सूक्ष्म फल साधन नही हो सकता, इसलिये अनन्य विचित्र अवास्तव मन्दफल संस्कृत मध्यम ग्रह अवास्तव मन्दस्पष्ट ग्रह और इससे अवास्तव शीघ्रफल संस्कृत मन्दस्पष्ट ग्रह अवास्त्रव स्पष्ट ग्रह इस प्रकार पुनः पुनः वार वार गणित कर्म से स्फुट ग्रह का ज्ञान करना चाहिए—यही आचार्य का अभिप्राय है। जो प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

इदानीं गतिस्फुटीकरणमाह —

दिनान्तरस्पष्टखगान्तरं स्याद्
गतिः स्फुटा तत्समयान्तराले ॥३६॥
कोटीफलघ्नी मृदुकेन्द्रभुक्ति-
स्त्रिज्योद्धृता कर्किमृगादिकेन्द्रे ।
तया युतोना ग्रहमध्यभुक्ति-
स्तात्कालिकी मन्दपरिस्फुटा स्यात् ॥३७॥
समीपतिथ्यन्तसमीपचालनम्
विधोस्तु तत्कालजयैव युज्यते ।
सुदूरसञ्चालनमाद्यया यतः
प्रतिक्षणं सा न समा महत्त्वतः ॥३८॥

अद्यतनश्वस्तनस्फुटग्रहयोरौदयिकयोर्दिनार्द्धजयोर्वास्तकालिकयोर्वा यदन्तरं कलादिकं सा स्फुटा गतिः। अद्यतनाच्छ्वस्तने न्यूने वक्रा गतिर्ज्ञेया। तत्समयान्तराल इति, तस्य कालस्य मध्येऽनया गत्या ग्रहश्चालयितुं युज्यत इति। इयं

किल स्थूला गतिः। अथ सूक्ष्मा तात्कालिका कथ्यते। तुङ्गगत्यूना चन्द्रगतिः केन्द्रगतिः। अन्येषां ग्रहाणां ग्रहगतिरेव केन्द्रगतिः। मृदुकेन्द्रकोटिफलं कृत्वा तेन केन्द्रगतिर्गुण्या त्रिज्यया भाज्या लब्धेन कर्क्यादिकेन्द्रे ग्रहगतिर्युक्ता कार्य्या, मृगादौ तु रहिता कार्य्या। एवं तात्कालिकी मन्दपरिस्फुटा स्यात्। तात्कालिक्या भुक्त्या चन्द्रस्य विशिष्टं प्रयोजनम्। तदाह,—"समीपतिथ्यन्तसमीपचालनम्" इति, यत्कालिकश्चन्द्रस्तस्मात् कालाद्गतो वा गम्यो वा यदासन्नस्तिथ्यन्तस्तदा तात्कालिक्या गत्या तिथिसाधनं कर्त्तुं युज्यते, तथा समीपचालनञ्च। यदा तु दूरतरस्तिथ्यन्तो दूरचालनं वा चन्द्रस्य तदाद्यया स्थूलया कर्त्तुं युज्यते, स्थूलकालत्वात्। यतश्चन्द्रगतिर्महत्त्वात् प्रतिक्षणं समा न भवति। अतस्तदर्थमयं विशेषोऽभिहितः।

अथ गतिफलवासना।—अद्यतनश्वस्तनग्रहयोरन्तरं गतिः। अत एव ग्रहफलयोरन्तरं गतिफलं भवितुमर्हति। अथ तत्साधनम्।—अद्यतनश्वस्तनकेन्द्रयोरन्तरं केन्द्रगतिः। भुजज्याकरणे यद्भोग्यखण्डं तेन सा गुण्या, शरद्विदस्रैर्भाज्या। तत्र तावत् तात्कालिकभोग्यखण्डकरणायानुपातः। यदि त्रिज्यातुल्यया कोटिज्ययाद्यं भोग्यखण्डं शरद्विदस्रतुल्यं लभ्यते, तदेष्टया किम्? इति। अत्र कोटिज्यायाः शरद्विदस्रा २२५ गुणस्त्रिज्या हरः। फलं तात्कालिकं स्फुटभोग्यखण्डं, तेन केन्द्रगतिर्गुणनीया शरद्विदस्रैर्भाज्या। अत्र शरद्विदस्रमितयोर्गुणकभाजकयोस्तुल्यत्वान्नाशे कृते केन्द्रगतेः कोटिज्या गुणस्त्रिज्या हरः स्यात्। फलमद्यतनश्वस्तनकेन्द्रदोर्ज्ययोरन्तरं भवति। तत्फलकरणार्थं स्वपरिधिना गुण्यं भांशैः ३६० भाज्यम्। पूर्वं किल गुणकः कोटिज्या सा यावत् परिधिना गुण्यते भांशैः ३६० ह्रियते, तावत् कोटिफलं जायत इत्युपपन्नं "कोटीफलघ्नी मृदुकेन्द्रभुक्तिः" इत्यादि। एवमद्यतनश्वस्तनग्रहफलयोरन्तरं तद्गतेः फलं कर्क्यादिकेन्द्रे ग्रहणफलस्यापचीयमानत्वात् तुलादौ धनफलस्योपचीयम.नत्वाद्धनम्। मकरादौ तु धनफलस्यापचीयमानत्वान्मेषादावृणफलस्योपचीयमानत्वादृणमित्युपपन्नम्।

मरीचिः—गतिज्ञानमाह-दिनान्तरेति-दिनमहोरात्रमन्तरं ययोस्तौ दिनान्तरौ तौ च तौ स्पष्टखगौ च तयोरन्तरमित्यर्थः। यस्य ग्रहस्य गतिरिष्यते तत्तुल्येष्टकालेऽव्यवहितदिनद्वये स्पष्टस्साध्यस्तदंतरं स्पष्टागतिः। मन्दस्पष्टयोन्तरं मन्दस्पष्टागतिरित्युक्तमप्यर्थात्। ननु दिनद्वयसम्बद्धाद्दिनद्वये एकैवस्पष्टागतिरित्युक्तम्। गतिविरोधापत्तेः। तथाहि—पूर्वाद्यतनग्रहान्तरं पूर्वदिनाद्यतने च स्पष्टागतिरेवमद्यतनश्वस्तनग्रहान्तरमद्यश्वश्चेति। वर्त्तमानदिने गतिद्वैविध्यं नह्यन्तरं तुल्यम्। स्पष्टात्वानुपपत्तेः। नैकत्रविनिगमनाविरहादत आह-तत्समयान्तराले इति। ग्रहाधिकरणकालयोन्तरकाले तथा चाद्यतनश्वस्तनस्पष्टग्रहयोरन्तरं, अद्यतनस्पष्टागतिः। पूर्वदिनाद्यतनग्रहान्तरं पूर्वदिनगतिः, श्वस्ततनपरश्वस्तन ग्रहान्तरं श्वस्तनागतिः। पूर्वग्रहदिनीयत्वं गते रित्यर्थः। तथा च "वसिष्ठः"—"भवेत्स्पष्टत्तराभुक्तिरतीतैष्य ग्रहांतरमिति"।

अत्रोपपत्ति—महर्षिभिर्भौमादिवत् सूर्यचन्द्रयोर्वेधेन मध्यस्पष्टान्तररूपं फलस्याभावपरमत्वे सुखेन ज्ञाते इत्येकमेवफलं स्वल्पत्वान्मन्दाख्यं दृष्टम्। द्वितीयशीघ्राख्यं न दृष्टमिति तदभावस्थानरूपोच्चनीचप्रदेशप्रसिद्धया शीघ्रोच्चभगणाः नोक्ताः, अतः स्वतः सिद्धः शीघ्रोच्चाभावस्तस्मात्तत्फलाभावान्मन्दफलेनैव स्फुटत्वमिति स्वतः सिद्धम्। अत एव मन्दोच्चानामल्पगतित्वाच्चन्द्रार्कयोः शीघ्रोच्चाद्यभावनियतस्यैव केन्द्रस्य परिज्ञानादर्कपरिवर्त्तनादेव मध्यस्फुटग्रहयोरन्तरं परिचीयत इतिनाऽसकृत्। इतरेषां पुनः शीघ्रोच्चानां बहुगतित्वाद्वस्तुगत्या केन्द्रस्य परिज्ञातुं अशक्यत्वाद्विनाऽसकृत् कर्मसाधनमप्यशक्यत्वमिति युक्तमेवासकृत्कर्मेत्याहुः।

यथा मध्यग्रहयोरन्तरं मध्यागतिः। अन्यथा पूर्वदिनग्रहस्य गतियुक्तस्याग्रिमदिन ग्रहत्वानुपपत्तेः। तथा स्पष्टग्रहयोर्दिनान्तरालयोरन्तरं तदन्तरालरूपदिने गतिर्भवति। युक्तश्चस्तुल्यत्वात्। प्राचीनानां गतिपदस्य सावनषष्टिघटिकाकाले ग्रहभोग्यक्षेत्रावयवकलासु सुसंकेताद्दिनगतिः। अन्यथा यस्कालिकग्रहयोरन्तरं तदन्तराले गतिरित्युक्तं स्यात्। इयमग्रिमग्रहस्याधिकत्वे न्यूनत्वे क्रमेण मार्गीवक्रा चेति ध्येयम्। अत उपपन्नं-स्पष्टावित्यादि ॥३६॥

ननु यथा गणितेन प्रतिक्षणमन्तरवैलक्षण्येन स्पष्टग्रह वैलक्षण्यम्। तथा स्पष्टगतावपि वैलक्षण्यमुचितम्। अन्यथा प्रतिक्षणोत्पन्नस्पष्टग्रहस्यानुगतांतरात्वापत्तेरिति दिने एकरूपागतिरयुक्ता। अग्रिमदिने कस्मादेव गतिवैलक्षण्यं वा युक्तकत्वादित्यतस्तात्कालिकमन्दस्पष्टगतिसाधनमुपजातिकयाह—

"कोटी फलघ्नी मृदुकेन्द्रभुक्तिस्त्रिज्योद्धृताकर्किमृगादिकेन्द्रे।
तया युतोनाग्रहमध्यभुक्तिस्तात्कालिकामन्दपरिस्फुटास्यादि"ति।

मृदुकेन्द्रभुक्तिः—यथा मन्दोच्चेनोनोग्रहो मन्दकेन्द्रः तथा युतोनाद्यथा मन्दोच्च गत्यूनग्रहमध्यगतिमन्दकेन्द्रभुक्तिरिति स्वतः सिद्धम्। तथा चन्द्रस्योच्चगतेर्बहुत्वात्केन्द्रगतिरन्यैव, अन्यैषांतु स्वल्पांरत्वाद् ग्रहमध्यगतिरेव मन्दकेन्द्रगतिरितिध्येयम्। सा कोटी फलघ्नी "कृदिकारादक्तिनः, सर्वतोक्तिन अर्थादित्ये केन्द्रेति" वार्तिक वचनात् कोटीत्यत्रवेष्टम्।

तेन दीर्घइकारान्तः कोटीतिशब्दः सुवच इति ध्येयम्। अन्तिम परिवर्त्ते "स्वेनाहत" इति वाक्यानीतस्वमन्दकोटिफलेन गुणाः। एतेन गतिफलं ग्रहफलवदसकृत्साध्यमिति पूर्वाचार्योक्तं निरस्तम्।

त्रिज्या भक्ता। तथा तादृशा फलेनेत्यर्थः। ग्रहमध्यगतिः महीमितादित्याद्यानीता कलात्मिकागतिः-कर्किमृगादिकेन्द्रे कर्कादिषड्भेमकरादिषड्भे मन्दकेन्द्रे सति क्रमेण युतोना कार्या, सा ग्रहस्य मन्दस्पष्टागतिः तात्कालिका-तात्कालिकोग्रहस्तत्कालएवोत्पन्नास्यात्। तथा च कोटिफलस्यैववैलक्षण्यैर्थोजिह्नोत्पल्यशरिका। अष्ट लोहासामेवानैकदिनेनैकरूपागति सिध्यतीतिभावः।

अत्रोपपत्तिः—अद्यतनश्वस्तनग्रहयोरन्तरं गतिरिति मन्दस्य, स्पष्टग्रहयोरन्तरे

मन्दस्पष्टागतिर्मध्यमा-मन्दफलान्तरसंस्कृता भवत्यतो, मन्दफलान्तरं मन्दगतिफलम्। तत्रलाघवाज्ज्यान्तरादेव मन्दफलं साधितम्-मन्दफलान्तरं भवत्यतोदिनद्वये केन्द्रद्रोर्ज्ययोः साधितयोः, अन्तरं कार्यमिति। द्विनद्वयं क्रियागौरवम्विहायान्यथा लाघवेन ज्यान्तरमानीतम्। तद्यथा-ज्यान्तरस्य भोग्यखण्डकत्वेन ज्ञानात्तु भुजज्यानयने ज्ञातम्। परन्तु ज्यान्तरो, स कलान्तरेण ज्ञातम्। न केन्द्रांतररूपकेन्द्रगतिः, कलान्तरेणातः कलानुपातस्य स्थूलत्वाज्ज्यातोऽनुपातेन केन्द्रगतिप्रमाणेन साध्यम्। अन्यथा गत्यूपजीवकफलोपजीवीयज्यान्तरज्ञानानुपपत्तेः। तत्र ज्यान्तरांशकलाज्या प्रथमज्यैककेन्द्रगतिकलाज्या साध्येति प्रकृते न्यूनकलानां ज्याचापयोः समत्वात्कलानुपातस्तत्त्वाश्विकलाभिरागतः भोग्यखण्डरूपज्यान्तरंलभ्यते तदागतिकलाभिः किमितीति ज्यान्तरं सिद्धम्। ततः स्वेनाहृते परिधिना भुजकोटिजीवेत्युक्तरीत्या ज्याधन्वोस्स्वल्पत्वेनास्माहृति फलं सिद्ध्यत्यपि तथापि भुजज्यानयनज्ञानभोग्यखण्डस्योक्तज्यासम्बन्धादिष्टभुजज्यान्तरत्वाभावः। फलानुत्पत्तेः। अन्यथा स्पष्टभोग्यखण्डसाधन वैय्यर्थापत्तेः। अतो भुजज्याभावे कोटिज्यापरमत्वरूपे प्रथमज्यातुल्यभोग्यखण्डं परमं तदेष्टकोटिज्यायां किमित्यनुपातेन सूक्ष्मासन्नेनागतं भोग्यखंडमिष्टदोर्ज्ययोरन्तरगतिफलसाधनोपजीव्यं सिध्यति। अत एव प्रतिज्ञणां कोटिज्यान्यत्वेन खण्डभेदसिद्धेरुपयुक्तरीत्या स्पष्ट गतिभेदः सिद्धः। अन्यथा केवलं खंडादुक्तरीत्यानीतस्पष्टगतिर्दिनान्तरं स्पष्टखगातरंस्यादित्युक्तस्पष्टगतिभिन्नत्वानापत्तेः। अत एव मन्दकेन्द्रगतिरर्कचन्द्रयोः ज्यांतरेण गुणितात्, हृताद्ययाजीवया खपरिणाह ताडिता खतुरामभिर्हृता कृतेः फलमित्यादिना श्रीपत्यादिभिस्तातकालिकभोग्यखण्ड करणंविना दिनान्तरस्पष्टखगान्तररूपैव बलाद्गतिरानीता। तथा च प्रकृते कोटिज्या गुणमिति प्रथमज्ययोर्गुणहरयो र्नाशात्कोटिज्या केन्द्रगतिज्या गुणा त्रिज्याभक्तेति ज्यान्तरं तत्कालजम्। अस्मान्मदफलमुक्तरीत्या साध्यमिति प्रथममिदं परिधिगुणं भांश भक्तं गतिफलज्या स्यात्। तत्र कोटिज्यैव विशिष्टा कृतेतिलाधवात्कोटिफलमित्युक्तम्। इदं केन्द्रगतिज्यागुणं त्रिज्या भक्तं ज्या, अस्याः प्रथमज्यांतर्गतत्वादेव ज्यांतरेण गुणा प्रथमज्यार्धभक्ता धनुः स्यात्। तत्र गतेः प्रथमचापांतर्गतत्वाद्गतिः, प्रथमज्यागुणाज्यांतरचापमुक्तेति गतिज्यायाः सत्वाद्धनुःकरणे नैव, परित्याहतिरेवसिद्धा। तथा च कोटीफलं केन्द्रगतिगुणं त्रिज्याभक्तं फलं दिनद्वयजमन्दफलांतर रूपं गतिफलं तात्कालिकमुत्पन्नम्। चद्रंकेन्द्रगतेस्ततत्त्वाश्विकलाधिकत्वाच्चन्द्रगतिफलसाधने ऋजुकेन्द्रभुक्तिरित्यत्र केन्द्रगतिज्या सप्तसप्तत्यधिकसप्तशतीग्राह्येति· युक्तं प्रतिभाति। फले तु शतत्रिंशद्विकला परमान्तरस्य गतिफले स्वल्पत्वेनोपेक्षा कृत्वा सर्वग्रहसाधारणोक्तं लाघवादुक्तम्। गतिधनर्णोपपतिस्तु उच्च तुल्ये ग्रहे फलाभावाद्द्वितीयदिने मन्दोच्चगतिरधिकत्वाद्ग्रहगतेर्मेषादिकेन्द्रं भवति तदा गतिभुजफलं ग्रहे धनमिति प्रथमदिनीयमध्यतुल्येष्टग्रहद्वितीयदिनीयस्पष्ट ग्रहयोरन्तरे मध्यागतिर्द्वितीयदिनीयमन्दफलेनूनास्पष्टागतिर्भवति। ततो द्वितीयदिने मन्दफलं पूर्वमन्दफलाधिकमेवर्णमिति, मन्दफलान्तररूपगतिफलेनो-

ना मध्यागतिः स्पष्टग्रहान्तरे भवति। एवं च ग्रहणे मन्दफले वृद्धौ गतिफलमृण मिदं परमफलपर्यन्तम्। ततो ग्रहणं फलस्योत्तरोत्तरं ह्रासत्वादुत्तरोत्तरं मध्य ग्रहमेषादिकेन्द्रत्वेन स्वल्पहीनत्वात् स्पष्टग्रहयोरन्तरे स्पष्टागतिः मध्यगतिफलयुग्भवति। एवं भुजफलाभावपर्यन्तमिति ग्रहणं फलराशेः गतिफलं धनम्। ततस्तुलादिकेन्द्रत्वात्यून वृद्धेश्चोत्तरं ग्रहोऽधिकयोजनात् स्पष्टग्रहान्तरे मध्यगतिः स्वफलयुता स्पष्टागति भवतीति धनफलवृद्धौ गतेःफलं धनम्। एव परमफलपर्यन्तम्। ततः फलस्य ह्रासत्वाद्धनत्वाच्चोत्तरोत्तरं ग्रहे न्यून योजनात् स्पष्टान्तरे मध्यागतिः स्वफलोना स्पष्टागतिर्भवतीति धनफलह्रासे, गतेः फलमृणमिति। अत एव चतुर्थपदयोस्त इति नाम मध्यो स्तस्तदधिका स्फुटा गतिरिति श्रीपत्युक्तं संगच्छति। तथा च चतुर्थपदमारभ्य प्रथमपदान्तपर्यन्तं मकरादिकेन्द्रम्। द्वितीयतृतीयपदयोः कर्कादि केन्द्रमिति कर्किमृगादिकेन्द्रे तया युतोना ग्रहमध्यभुक्तिः इत्युपपन्नम्। गतिफलस्य तात्कालिकत्वात्, तात्कालिकी मन्दस्पष्टागतिरित्युक्तम्। ननु करण कुतूहले ग्रहोनमुच्चं मृदुचंचलञ्च केन्द्रे भवेतां मृदुचंचलाख्ये, इत्येक री'त्यैव केन्द्रे उक्तं स्वर्णफलं एष तुलादि केन्द्रे इत्येकरीत्यैव फलसंस्कारः सम्यगुक्तः। वास्तवमेषादिकेन्द्रतुलादिकेन्द्रस्थानयोर्विपरीतकेन्द्र इत्युक्तमयुक्तं, केन्द्रवैपरीत्येन वास्तव कर्किमृगादि केन्द्रयोर्मकरकर्कादिकेन्द्रत्वावश्यंभावात्। अन्यथा मन्दफलस्य मेषतुलादि केन्द्रत्वे धनर्णत्वानुपपत्तेः। नहिवैपरित्यकेन्द्रे मेषतुलादिकेन्द्रमेव विपरीतकर्कमृगादिकेन्द्रमपि तस्योभयत्र तुल्यत्वं, एवमुभयत्रापि धनर्णसाम्यं युक्तम्। विनिगमकाभावात्। अथ वास्तवमृगादिकर्कादि शब्दान्तर्गतकेन्द्रयो गतिफलस्य क्रमेण धनर्णत्वं कर्किमृगादि केन्द्रे तया युतोन इत्यत्र क्रमेणेत्यस्यानुक्तत्वात्। उक्तंच्च सिद्धान्तसुन्दरे ज्ञानराजदैवज्ञैः-कर्किमकरमुखकेन्द्रतः फलेनोनयुक्निजगतिर्मृदुस्फुटा इति। केचित् बहुविरोधत्वाल्लेखकादि दोषं नक्रकर्काल्पादि वास्तवपाठव्यैपरीत्यमत्र वदिष्यन्तीति शङ्काकुलीनमानसा। तट्टीकाकारेण व्याख्यातमव्युत्पादितं च तद्यथा—

अत्र तु मुख्य पदमपरं तथा च यदानीतं गतिमन्दफलं तत् कर्कादौ केन्द्रे ग्रहमध्यगतावृणम्। मृगादौ तु धनं कार्यं, इत्यर्थः। पर्यवसति तदपि अग्रतो ग्रहमन्दोच्चयोः राशित्रयाऽधिकमन्तरम्-तदा मन्दकेन्द्रस्य विलोमतो जातत्वात् तद् ग्रहगत्यूनोग्रहस्योच्चसान्निध्यादाकर्षत्वेन भुवा विप्रकर्षाद्ग्रहस्फुट गतिर्मध्यम गतेरल्पैवभवितुमर्हति। यदापुनर्मंदकेन्द्रं राशिनवाधिकं तदा ग्रहस्य नीचासन्नतया तदपकृष्यभूमेरासन्नएवेति मन्द स्फुटागतिरधिकैवेति युक्त मुक्तमिति। तथा च करणकुतूहलोक्त वैपरीत्येन युक्तं इति चेन्न सत्, किं मधुपसङ्गत्या त्वमपि युक्तप्रतिपादितसकलाभिमतवास्तवकर्कमृगादिकेन्द्रे धनर्णमार्गमसहमानः कुपथेभ्रमणादुद्यतोऽसि। अन्यथा मन्दोच्चतुल्ये ग्रहे शून्ये केन्द्रस्य मकारादिकेन्द्रत्वात् परमगतिफलयोजनेन गतेः परमत्वं स्यात्। न च इष्टापत्तिः। तत्र मेषादिकेन्द्रत्वाद्द्वितीयदिनजमन्दफलस्य ग्रहणत्वेन मध्यगतावपि तस्य फलस्य रूपहीनत्वात्। किञ्चतदुक्त्या कर्कादिकं

मकरादिकेन्द्रं च क्रमेण नीचोच्चासन्नत्वेन ग्रहस्य सत्वात् उक्तस्योन्मत्तप्रलपितत्वेनोपेक्षणीयत्वात्। कर्कादौ तु धनं तत्र मकारादावृणं स्मृतं, इति त्वदुपजीवसूर्य्यसिद्धान्तविरोधाच्च। अपि च कर्किनक्रेतिवास्तवज्ञानराजोक्तपाठस्यापि सकलाभिमतार्थपरत्वात्। तथा हि मृदुस्फुटा कर्कमकरादिकेन्द्रवशात् फलेन क्रमेणोनयुक्ता, स्वमध्यगतिस्यादित्यर्थेन एतद् वैपरित्यादर्थादेव उक्तार्थसिद्धिः। यथा च कुतुहलोक्तगतिफलधनर्णत्वं त्वतर्कसहमिति चेत्। ग्रहणेन युक्तमिति पक्षेऽपि मकरकर्कादिकेन्द्रयो व्यवस्था भावात्। तथा हि वास्तवमेषादिकेन्द्रक्रमे तुलादिकेन्द्रस्य विलोमत्वात्। यदा कर्कादि केन्द्रक्रमारम्भस्तदा वैपरित्येन चापान्तात् विलोमम् केन्द्रमिति, एवं वास्तव मकारादिकेन्द्रक्रमारम्भस्तदा कर्कादितो विलोममेव केन्द्रवैपरित्येनेत्युभयत्रापि कर्कादौ धनमकरादावृणमित्यध्याहृतं युक्तमेव, इत्यल्लं पल्लवितेन ॥३७॥

ननु प्राचीनै रेकैवगतिरुक्ता स्थूलतया तु सूक्ष्मापि स्वकल्पितोक्ता, तदत्रयुक्तिप्रमाणेन सूक्ष्मा कार्यत्वमेति तदूरहस्यावश्यकत्वात्स्थूला कथमुक्ता। अन्यथा गत्युपजीवकर्मणि गतिद्वैविध्येन तद्ग्रहे व्याकुलता स्यात्। नच द्वयोर्गत्योः स्वल्पान्तरत्वात्, एकस्य कस्यापि ग्रहणं स्वेच्छयेति वाच्यम्। पूर्वमेवैकस्या एवोक्तत्वापत्तेः। चन्द्रगत्योर्बह्वन्तरत्वात् चेत्यतो गतिद्वयस्य प्रयोजनं वंशस्थ वृत्तेनाह—

"समीप तिथ्यंतसमीपचालनं विधोस्तु तत्कालजेयैवयुज्यते।
सुदूरसञ्चालनमाद्यया यतः, प्रतिक्षणं सा न समा महत्वतः॥"

इति। यत्कालिकचन्द्रस्तत् कालादूगतो गम्यो वा यदा समीपतिथ्यन्तः-आसन्नतिथ्यन्तो भवति तदा विधोस्तात्कालिकगत्या कोटिफलघ्नीत्यादि साधितया तुकारत् सूर्यगतिः स्वल्पान्तराद्द्वयोरन्यतरा ग्राह्येति सूचितम्। तिथ्यंतघटिकाः साध्या, एवं करणनक्षत्रयोगघटिकास्तिथेरुपलक्षणत्वात्। तथा यत् कालिकश्चन्द्रस्तत्कालात् पूर्वं अपरत्रवासन्नकालेऽपेक्षितस्तदा चन्द्रस्य चालनं कोटिफलेत्याद्यानीत तत्कालिकोत्पन्नगत्या कर्तुं युज्यते सूक्ष्मत्वात्।

स्थूलगतेः प्रयोजनमाह-सुदूरेति, यत् कालिकश्चन्द्रस्तत् कालात् सुदूरेति तिथ्याद्यन्तश्चालनकालस्तदा, आद्यया दिनान्तरस्पष्टखगान्तरोत्पनया गत्या तिथ्याद्याद्यन्तघटिकाचालनं च कार्यमित्यर्थः। ननु आद्यया मध्यमयेत्यर्थः। स्पष्टस्य मध्यमगत्या चालनायोगात्। ननु दूरेऽपि तत् कालिकगतेरेवावश्यकत्वं सूक्ष्मत्वात्-अत आह-यत्, इति। सा ताकालिकागतिः प्रतिक्षणं समा तुल्या न भवतीत्यर्थः। तथा च समीपकाले तात्कालिक गतेरेवासन्नत्वेन वास्तवत्वात्तथैव क्रियाकरणे युक्तम्। अन्यथा दिनव्याप्तस्थूलगत्या अवास्तवत्वात् क्रियाकरणेबह्वन्तरं स्यात्'। तथा दूरकाले तात्कालिकगते दूरत्वेनावास्तवत्त्वात्तया क्रियाकरणे बह्वन्तरं स्यात्। दिनव्याप्तस्थूलगतेरासन्नत्वेन वास्तवप्रायत्वात् क्रियाकरणे स्वल्पमंतरमिति। तेन मदुक्तगतेः पूर्वाचार्योक्त स्थूलगते-

आवश्यकत्वाद्गतिद्वयमुक्तमिति भावः॥ अत्र स्वयोगपूर्वार्धाभ्यंतरे समीपत्व-मुत्तरार्धाभ्यन्तरे दूरत्वमिति। यथा यथासन्नं दूरं वा तथा तत्तद्गत्या सूक्ष्ममिति।

ननूक्तस्य सप्तग्रहेषु तुल्यत्वाद्विधोरिति कथं युक्तमत आह—महत्वत इति तथा च सर्वेषामेतादृशकरणं युक्तमेव परन्तु गतिद्वयसाधने प्रयासाधिक्यात्स्वल्पान्तरत्वाच्च सर्वत्र तात्कालिकगतिग्रहणं लाघवायुक्तम्। चन्द्रस्य तु गतेर्महत्वात्प्रतिक्षणं बह्वन्तरेण विलक्षणत्वादुक्तविवेकानंगीकारे महदन्तरं गणितकर्मणि स्यादित्यावश्यकमितिभावः॥३८॥

दिपिका—का नामिका तत्कालिकी गतिस्तथा किन्नाम तात्कालिकं गतिफलम्? येन फलेनैकेनैव वेगेन संस्कृता मध्यमागतिः समानवेगेन मन्दस्पष्टागतिस्यात्तात्कालिकं गतिफलं गतिश्चतात्कलिकीति। एवं येन समानवेगेन शीघ्रफलेन संस्कृता तात्कालिकी मन्दस्फुटा गतिः समानवेगरूपास्पष्टागतिस्स्यात्तत्तात्कालिकं शीघ्रगतिफलं स्पष्टा गतिश्चापि तात्कालिकीति। इतोऽग्रे सर्वं स्फुटं शेषं शिखायां दृष्टव्यम्।

शिखा—ग्रह गतियाँ प्रत्येक क्षण में विलक्षण वेग की हैं। प्राचीन आचार्यों ने दो सूर्योदयों के अन्तर काल में, अर्थात् १ दिन में ग्रहों की गतियों को जानने का उपाय बताया है। जैसे यहाँ पर, दिन द्वय के मन्द फल ज्यान्तर को १ दिन की गति कहा गया है उसको लाने के लिये अद्यतन मन्दफलज्या $=\frac{\text{ज्याके}\times\text{ज्याअं}}{\text{त्रि}}$, एवं श्वस्तन मन्दफलज्या $=\frac{\text{ज्याके}'.\times\text{ज्याअं}}{\text{त्रि}}$, इन दोनों के अन्तर का नाम दैनन्दिनीय मन्दफलज्यान्तर $=\frac{\text{ज्याअं}}{\text{त्रि}}(\text{ज्याके}\sim\text{ज्याके}')$। इस समीकरण में पहिले के स्फुट भोग्य खण्ड साधन प्रकार से, $\frac{\text{भोख}.\times\text{केग}.}{२२५}=\text{ज्याके}\sim\text{ज्याके}'$, क्योंकि दोनों दिनों के केन्द्रज्या का अन्तर का नाम केन्द्रगति कहा है।

इसलिये—

$$\text{मन्दफलज्यान्तर}=\frac{\text{ज्याअं}}{\text{त्रि}}\times\frac{\text{भोख}\times\text{केग}}{२२५}।$$ यतः भोखं $=\frac{२२५}{...}$ ...ष्ट

भोखं का उत्थापन देने से—

$$\text{मन्दफलज्यान्तर}=\frac{\text{ज्याअं}}{\text{त्रि}}\times\frac{२२५\times\text{के को}.}{\text{त्रि}}\times\frac{\text{के ग}}{२२५}।\quad\because$$

$\therefore\ \frac{\text{को फ}.\times\text{के}.\text{ग}}{\text{त्रि}}$ कोटिफल को केन्द्रगनि से गुणा करना त्रि...

चार्य का गतिफल (मन्दफलज्यान्तर), का प्रकार यहीं पर

मन्दफलगति से संस्कृत की गई मध्यमा गति ही मन्द स्पष्टा ग...

विशेष—यहाँ पर आचार्य ने फलज्यान्तर को ही फ...

गणित में कुछ स्थूलता कही जा सकती है। इसलिये आधु...

ज्याफ $=\frac{\text{ज्याअं}\times\text{केज्या}}{\text{त्रि}}$। दोनों पक्षों के तात्कालि...

$$\frac{\text{फग} \times \text{कोज्याफ}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{ज्याअं}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{केकोज्या} \times \text{केग}}{\text{त्रि}}$$

$$\therefore\ \text{फग} = \frac{\text{ज्याअ} \times \text{केकोज्या}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{के. ग} \times \text{त्रि}}{\text{कोज्या फ} \times \text{त्रि}} = \frac{\text{को फ} \times \text{के ग} \times \text{त्रि}}{\text{त्रि} \times \text{कोज्या फ}} =$$

$$\frac{\text{भास्करीय गतिफल} \times \text{त्रि}}{\text{कोज्या फ}}$$, यही गति फल सूक्ष्म है।

गुरूणां गुरु म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी का यह विशेष कथन है कि, भास्कराचार्य के गतिफल को त्रिज्या से गुणा कर उसमें मन्दीयफलकोटिज्या का भाग दे देने से यह सूक्ष्म गतिफल होता है। गणित का ज्यों ज्यों विकास होता गया त्यों त्यों विद्वानों के मस्तिष्क में सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार आने लगे, किन्तु प्राचीनों का अभिप्राय है कि फल की अत्यल्पता से फलकोटिज्या भी प्रायः त्रिज्या के तुल्य ही होगी, इसलिये हर और भाज्य की समता से भास्कराचार्य का प्राचीन फलज्यान्तर सिद्धान्त भी स्वयं सूक्ष्म सिद्ध होता है।

कर्कादि केन्द्र में मध्यमगति में मन्दगतिफल को धन एवं मकरादि केन्द्र में मन्दगति फल को ऋण करना चाहिए, ऐसा क्यों? इसे निम्न युक्तियों से समझना चाहिए।

प्रथम पद में, अद्यतन मध्यमग्रह—अद्यतन मन्दफल=अद्यतन मन्द स्फुट ग्रह।
श्वस्तन ,, —श्वस्तन मन्दफल=श्वस्तन मन्द स्पष्ट ग्रह।
दोनों के अन्तर से, मध्यमागति —मन्दफल गति =मन्द स्फुट गति।
द्वितीय पद में अद्यतनमध्यमग्रह—अद्यतन मन्दफल=अद्यतन मन्द स्पष्ट ग्रह।
श्वस्तन —श्वस्तन मन्दफल=श्वस्तन मन्द स्पष्ट ग्रह।
दोनों के अन्तर से मध्यमागति +मन्दफल गति =मन्दस्पष्टा गति।
तृतीय पद में अद्यतनमध्यमग्रह+अद्यतन मन्दफल=अद्यतन मन्दस्पष्ट ग्रह।
श्वस्तनमध्यमग्रह+श्वस्तन मन्दफल=श्वस्तन मन्दस्पष्ट ग्रह।
मध्यमा[illegible]ति +मन्दफल गति =मन्दस्पष्टा गति।
[illegible]मध्यमग्र[illegible]-अद्यतन मन्दफल=अद्यतन मन्द स्पष्ट ग्रह।
[illegible]स्तनमध्यमग्रह+श्वस्तन मन्दफल=श्वस्तन मन्दस्पष्ट ग्रह।
मध्यमागति +मन्दफल गति =मन्दस्पष्ट गति।

पदीय समीकरणों को देखने से गतिफल की घन ऋण युक्ति

न्तरशिञ्जिनीघ्नी
श्रुतिहृद्विशोध्या।
स्फुटखेटभुक्तिः
[illegible]पगेत शुद्धौ ॥३९॥

ग्रहस्य ये शीघ्रफलांशा आगच्छन्ति ते नवतेः ९० शोध्याः। शेषांशानां या ज्या तया शीघ्रकेन्द्रगतिगुण्या शीघ्रकर्णेन भाज्या। लब्धं शीघ्रोच्चगतेः शोध्यम्। शेषं स्फुटागतिर्भवति। यदि न शुध्यति तदा विपरीतशोधने कृते वक्रा गतिर्भवति।

अत्रोपपत्तिः ;—अद्यतनश्वस्तनशीघ्रफलयोरन्तरं गतेः शीघ्रफलं स्यात्। तच्च यथा मान्दं गतिफलं ग्रहफलवदानीतं तथा यद्यानीयते कृतेऽपि कर्णानुपाते सान्तरमेव स्यात्। यथा धीवृद्धिदे। न हि केन्द्रगतिजमेव फलयोरन्तरं स्यात् किन्त्वन्यदपि। अद्यतनभुजफलश्वस्तनभुजफलान्तरे त्रिज्यागुणेऽद्यतनकर्णहृते यादृशं फलं न तादृशं श्वस्तनकर्णहृते। स्वल्पान्तरेऽपि कर्णे भाज्यस्य बहुत्वाद्बह्वन्तरं स्यादित्येतदानयनं हित्वान्यन्महामतिमद्भिः कल्पितम्। तद्यथा।—केन्द्रगतिरेव स्पष्टीकृता। तस्यां हि शीघ्रोच्चगतेः शोधितायां ग्रहस्य गतिः स्फुटैवावशिष्यत इति। तत्र स्फुटकेन्द्रगतिप्रदर्शनार्थं छेद्यकोक्तविधिना कक्षावृत्तं प्रतिमण्डलञ्च विलिख्य तयोरद्यतनग्रहस्थानोच्चस्थाने चिह्नयित्वा भूमध्यात् प्रतिमण्डलग्रहचिह्नगामिनी कर्णरेखा कार्य्या। रेखाकक्षावृत्तयोः सम्पातेऽद्यतनस्फुटो ग्रहः। यथा मध्यग्रहोच्चचिह्नयोर्मध्ये मध्यमं केन्द्रमेवं स्फुटोच्चयोर्मध्ये स्फुटं केन्द्रमित्यवगन्तव्यम्। स्फुटकेन्द्रे शीघ्रोच्चाच्छोधिते स्फुटो ग्रहोऽवशिष्यत इति भावः। अथ कक्षावृत्ते प्रतिवृत्ते च मध्यचिह्नात् केन्द्रगतिर्विलोमा देया। तदग्रे श्वस्तनं मध्यकेन्द्रम्। अत्राप्यन्या कर्णरेखा कार्य्या। कक्षावृत्ते रेखोच्चयोर्मध्ये श्वस्तनं स्फुटकेन्द्रम्। रेखयोर्मध्ये स्फुटा केन्द्रगतिः। इह स्फुटग्रहस्थानयोरन्तरत्वात् कथमियमेव स्फुटा ग्रहगतिर्न स्यादिति नाशङ्कनीयम्। यतोऽद्यतनकर्णरेखा केन्द्रगतिज्ञानार्थमेव रक्षिता। अन्यथा श्वस्तनग्रह उच्चे च मेषादेरनुलोमं चालिते सत्यद्यतनस्फुटग्रहाच्छ्वस्तनस्फुटोऽग्रत एव भवत्यवक्रो यदि। वक्रगतस्तु पृष्ठतः। तयोरन्तरं सा ग्रहगतिः स्पष्टा। इयन्तु केन्द्रगतिरेव। अथ तन्मानज्ञानार्थमुपायः—यथा भूमध्याद्विनिःसृता कर्णरेखा कक्षावृत्तेऽद्यतनमध्यग्रहात् फलतुल्येऽन्तरे लग्ना, एवं प्रतिमण्डलमध्याद्विनिःसृता रेखा प्रतिवृत्तग्रहात् फलतुल्येऽन्तरे यथा लगति, तथा कृता सती कर्णसमकलया तिष्ठति। तस्याः कर्णेन सह सर्व्वत्र तुल्यमेवान्तरं स्यादित्यर्थः। अथ तदवधित्वेन प्रतिमण्डले फलस्य ज्याङ्क्या यथा ज्याग्रं प्रतिवृत्तमध्यग्रहचिह्ने भवति। अथ केन्द्रगत्याधिकस्य च फलस्य ज्याङ्क्या। तयोर्जीवयोरन्तरं कर्णसूत्रात् तिर्य्यग्रूपं भवति। तदत्र गणितेन ज्याकरणवासनया सिध्यति। शीघ्रफलस्य जीवायां क्रियमाणायां यद्भोग्यखण्डं तेन केन्द्रगतिर्गुण्या। शरद्विदस्रैर्भाज्या। लब्धन्तु तयोर्जीवयोरन्तरं स्यात्। यतो ज्याग्रखण्डेन भोग्यखण्डेन जीवाया उपचयः। अथ तस्य भोग्यखण्डस्य स्फुटीकरणम्। यदि त्रिज्यातुल्यया कोटिज्ययाद्यं भोग्यखण्डं, तदा फलकोटिज्यया किम्? इति। एवं कृत आद्यखण्डं फलकोटिज्या च केन्द्रगतेर्गुणौ। शरद्विदस्रास्त्रिज्या च हरौ २२५।३४३८। अथान्योऽनुपातः।—यदि कर्णाग्र एतावदन्तरं तदा त्रिज्याग्रे किम्? इति। लब्धं कर्णावृत्ते ज्यारूपं भवति। तस्य धनुःकरणेऽल्पत्वाज्जीवा न शुध्यति, किन्तु

शरद्विदस्रा गुण आद्यखण्डं हरः स्यात्। तथा कृते दर्शनम्। गुणः। कें.ग.त्रि-फलको.आ.२२५। छेदः। त्रि.क.आ.२२५। अत्र शरद्विदस्रतुल्योयस्तथा त्रिज्या-तुल्ययोस्तथाद्यखण्डतुल्ययोश्च गुणकभाजकयोस्तुल्यत्वान्नाशे कृते केन्द्रगतेः फल-कोटिज्या गुणः कर्णो हरः स्यात्। फलन्तु स्फुटा केन्द्रगतिर्भवति। सा शीघ्रोच्च-गतेः शोध्या। शेषं स्फुटा ग्रहगतिर्भवति। अत उक्तं—"फलांशखाङ्कान्तरशिञ्जि-निघ्नी" इत्यादि। अत्र भोग्यखण्डस्फुटीकरणस्य फलं प्रदर्श्यते। कक्षामध्यगतिर्य्य-ग्रेखाप्रतिवृत्तसम्पाते भुजज्यातुल्यः कर्णो भवति। तावती च फलांशखाङ्कान्तर-शिञ्जिनी। अतस्तुल्यत्वाद्गुणकभाजकयोरविकृतैव केन्द्रगतिः। ततो मध्यैवात्र-गतिः स्पष्टा। अस्फुटखण्डग्रहणे—

"त्रिज्याहृता स्वचलकर्णहृताशुचाप-
भोग्यज्यया विगुणिता विहृताद्यमौर्व्या।"

इत्यनेनाप्यानयनेन न तत्र मध्यगतितुल्या सम्यग्भवतीति सर्व्वमत्र निरवद्य-मिति भावः।

मरीचिः—ननु सूर्यचन्द्रयोः स्पष्टौ रवीन्दू मृदुनेवेत्युक्तत्वात्तात्कालिकी मन्दस्पष्टागतिरेव स्पष्टागतिर्भवति परं भौमादीनां स्पष्टागतिसाधनं शीघ्रफलेन स्पष्टत्वोक्तेः स्पष्टगतिरपि मन्दस्पष्टागतेर्भिन्नेत्यतस्तात्कालिकस्पष्टगतिसाधनमुप-जातिकयाह—

फलांशखांकातरशिंजिनीघ्नी द्राकेन्द्रभुक्तिः श्रुतिहृद्विशोध्या।
स्वशीघ्रभुक्तेः स्फुटखेटभुक्तिः शेषं च वक्रा विपरीत शुद्धाविति॥

द्राकेन्द्र भुक्तिः-यथा मन्दस्पष्टग्रहेणोनं स्वशीघ्रोच्चं शीघ्रकेन्द्रं तथा मन्दस्पष्टगत्यूना शीघ्रोच्चगतिः शीघ्रकेन्द्रगतिरित्यर्थः। अन्तिमशीघ्रफलांशोन-नवत्यंशज्यागुणा शीघ्रकर्णभक्ता स्वशीघ्रोच्चगतेः शोध्या। शेषं कलादिका ग्रह-स्पष्टगतिर्भवति। ननु कर्णभक्ते फलं शीघ्रोच्चगतितोऽधिकं तदा फलं न्यूनं ततो न भवत्यतो आह—विपरीत शुद्धाविति। तदा फले, एव शीघ्रोच्चगतिः शोध्या शेषं वक्रा पश्चिमाभिमुखीगतिः पूर्वविपरीतेत्यर्थश्चः समुच्चये।"

अत्रोपपत्तिः—अद्यतनश्वस्तशीघ्रफलयोरन्तरम्, गतिशीघ्रफलं, तत्संस्कृता मन्दस्पष्टागतिः स्पष्टागतिर्भवति। तत्तु, यथा मान्दगतिफलं ग्रहकोटिफलानीतं तथानीय कर्णानुपातेन गतिशीघ्रफलं क्रियते मन्दफलादत्र कर्णानुपातविशेष-स्याधिकत्वात्। यथा च सिद्धान्त शेखरे "द्राकेद्रभुक्तिरथवा गुणिता स्वभोग्य-मौर्व्या गुणाकृति २२३ हृता परिणाह निघ्नी"।
चक्रांशकै रपि हृता गुणिता त्रिमौर्व्या, कर्णोद्धृता भवति शीघ्रफलं हि भुक्तेरिति।"

तर्हि फलान्तरस्य गतिफलत्वात्प्रत्यहं कर्णान्यत्वेन सान्तरतापत्तेः। तथा हि अद्यतनश्वस्तनजशीघ्रफले मन्दफलवदानीते त्रिज्यागुणे कर्णभक्ते फले स्तः। तदन्तरं गतिशीघ्रफलम्। तत्र प्रथममेव तदन्तरे त्रिज्यागुणे कर्णाभ्यां भक्ते

फलायोरन्तरमतीव स्यात्। न तुल्यत्वं दिनान्तरकर्णयोः स्वल्पान्तरत्वेऽपि त्रिज्यागुणस्य फलान्तरस्य भाज्यरूपस्य बहुत्वाद्बहुन्तरतापत्तेः। अतएव शीघ्रफलान्तरस्य केन्द्रगति ज्यांतरत्वाभावादुक्तरीत्या गतिफलसाधनं न युक्त मिति मत्वाचार्यैरन्यथा तदानयनाय यतितम्।

तद्यथा—ग्रहेणोनस्योच्चस्य शीघ्रकेन्द्रत्वात्। तत्केन्द्रोनं शीघ्रोच्चं ग्रहः स्याद्वैपरीत्येनेतियुक्त्या केन्द्रगत्यूनोच्चगतिर्ग्रहगतिर्भवतीति सिद्धम्। तत्र—मन्दस्पष्ट ग्रहगत्यूनशीघ्रोच्चगतेः शीघ्रकेन्द्रगतित्वात्तदूनोच्चगति र्मन्दस्पष्टगति र्भवत्यतः, शीघ्रकेन्द्रगतेर्मध्यमत्वात्, स्पष्टा केन्द्रगतिः साध्या, तदूनशीघ्रोच्चगतिरेव स्पष्ट गतित्व सम्पादनात्। तत्र तत्स्वरूपं छेद्यके प्रदर्श्यते।

कक्षावृत्तं शीघ्रप्रतिवृत्तं च विलिख्यैतयोरद्यतनग्रहोच्चस्थाने चिह्नयित्वा, भूमध्यात् प्रतिवृत्तग्रहगामिनी कर्णरेखा कार्या। रेखाकक्षावृत्तसम्पातेऽद्यतनः स्फुटोग्रह इति पूर्वं प्रतिपादितमेव। तत्र यथा मध्यग्रहोच्चचिन्हयोर्मध्ये कक्षाप्रति वृत्तप्रदेशे मध्यमं शीघ्रकेन्द्रं तथा स्पष्टग्रहस्थानोच्चस्थानमध्ये तद्वृत्तप्रदेशे स्पष्टशीघ्र केन्द्रम्। अतएवैतदूने शीघ्रोच्चे स्पष्टो ग्रहोऽवशिष्यते। यत्राद्यतनो मन्दस्पष्टोग्रहस्ततः श्वस्तनोमन्दस्पष्टः शीघ्रकेन्द्रगत्या पृष्टत एव भवति। ग्रहस्थानात्केन्द्रगतेः पश्चिमत्वादतोऽद्यतनमध्यग्रहस्थानाभ्यां केन्द्रगतिकलाभिर्वृत्तद्वये पृष्टतो यत्स्थानं तत्र श्वस्तनमध्यमशीघ्रकेन्द्रम्। तत्रापि प्रतिवृत्तग्रहपर्यंतं कर्ण रेखा कार्या। कक्षावृत्ते रेखोच्चयोर्मध्ये श्वस्तनं स्फुटकेन्द्रं रेखयोर्मध्ये स्फुटा केन्द्रगतिरिति।

ननु रेखाकक्षावृत्तसम्पाते स्पष्टग्रहस्थानत्वात्तदन्तरं स्पष्टाग्रहगतिरेव स्यादिति चेन्नैवम्। द्वितीयतादृशकर्णरेखायाः केन्द्रगतिज्ञानोपजीव्यत्वात्। अन्यथा ग्रहस्य पूर्वगमनेनाद्यतनस्पष्टग्रहस्थानात् श्वस्तनग्रहस्थानस्याग्रेसम्भावितत्त्वादुक्तरीत्या सर्वदा तत्पृष्ठे सम्भवानुपपत्तेः। स्पष्टग्रहगतिस्तु दिनद्वये वृत्तद्वये उच्चग्रहयोर्दानेनोक्तरीत्यापूर्वदिनस्पष्टग्रहस्थानमग्रे एव। यदि वक्री तदापश्चादेवेति तदन्तरे कक्षावृत्तप्रदेशे व्यक्तेति छेद्यके प्रत्यक्षम्।

अथ स्पष्टकेन्द्रगतेर्मानज्ञानार्थं तु यथोक्त मध्याद्विनिःसृता कर्णरेखाकक्षावृत्ते मध्यग्रहात्फलतुल्येऽन्तरे लग्ना कार्या। सा कर्णरेखातः समान्तरेणैव सर्वत्र स्यात्। अथ तदवधितः फलज्यांक्या। यथा तदग्रं प्रतिवृत्तस्थमन्दस्फुटग्रहे भवति। ततः केन्द्रगतिकलायुतशीघ्रफलकलानां ज्यावधि रेखात एव पूर्वज्याचिह्न मार्गेण प्रतिवृत्तेऽक्या। तयोरन्तरं कर्णसूत्रात्तिर्यग्रूपं केन्द्रगतिफलानां ज्यारूपं भवति। यथा ज्यान्तररूपखण्डकमेव ज्याचापान्तरवृत्तप्रदेशज्या प्रसिद्धा। एतत्तु शीघ्रफलज्यायाः केन्द्रगतिकलान्तरप्रमाणेन यद् भोग्यखडं तदेव फलज्याग्रतज्जीवा खण्डकेनैव सम्पूर्णतज्या दर्शनात्। अन्यथा ज्यांतरस्य खण्डकत्वानुपपत्तेः। तस्माच्छीघ्रफलज्याचापकरणे यद्भोग्यखण्डं तज्ज्यान्तरकलाप्रमाणान्तरेणेति केन्द्रगतिकलाप्रमाणान्तरेण कार्यम्। तत्र कलानुपातस्य स्थूलत्वाज्ज्यानुपातार्थं ज्यान्तरकलानां ज्या प्रथमज्यैव, केन्द्रगतिकलानां ज्या साध्या।

ततः प्रथमज्यया भोग्यखण्डस्वाभिमतं तदा केन्द्रगतिज्यया किमित्युपातेन फलं प्रतिवृत्ते केन्द्रगतिकलाऽज्या स्पष्टा। अपेक्षिता कक्षावृत्ते, तत्र ग्रहस्य स्पष्टत्वादतः कर्णाग्रे, इयं तदा त्रिज्याग्रे केत्यनुपाते केन्द्रगतिज्या स्पष्टा कक्षावृत्ते। अस्याः धनुः स्पष्टा केन्द्रगतिः। तत्र केन्द्रगतेः स्वल्पत्वादस्याः प्रथमज्यान्तर्गतत्वाज्ज्यांतर-चापं गुणः प्रथमज्याहरः। तत्र पूर्वकेन्द्रगतिज्यासाधनार्थं स्वल्पत्वात् प्रथम ज्यागुणः ज्याचापान्तरं चापं हरः। अतोगुणहरयोस्तुल्यत्वान्नाशे केन्द्रगति ज्या स्थाने केन्द्रगतिरेव। तथा च केन्द्रगतिर्मध्यभोग्यखण्डग्रहणस्य पूर्वरीत्या तात्का-लिकगतिसिध्यर्थं त्रिज्या तुल्यया फलकोटिज्यया परमया प्रथमज्या तुल्यं परमं भोग्यखण्डं तदेष्टशीघ्रफलांशकोटिज्यया किमित्यनुपातेन भोग्यखण्डं सूक्ष्मं भवति। तथा च पूर्वं त्रिज्याप्रथमज्ये गुणहराविदांनीतावेव हरगुणावतस्तयोस्तुल्यत्वान्नाशा-त्केन्द्रगतिः फलकोटिज्यागुणा कर्णभक्ता फलं स्पष्टा शीघ्रकेन्द्रगतिः। अथ दोः कोटिज्यावर्ग हीनौ त्रिभज्या वर्गौ मूले वा तयोः कोटि दोर्ज्ये, इत्यनेन शीघ्रफलज्या वर्गोनायास्त्रिज्याकृते मूलं कोटिज्या भवत्यपि वर्गमूलयोः प्रवेशेन त्रिज्या गौरवभया-ल्लाघवेन शीघ्रफलांशोननवत्यंशज्यारूपेण फलकोटिज्याकृता। एवं च यत्र फलकोटिज्या कर्णतः ऊनाधिका तदोक्तप्रकारेण मध्यमकेन्द्रगतेः फलरूपस्पष्ट-केन्द्रगतिरनधिकैवेतीयं केन्द्रगतिः शीघ्रोच्चगतेः शोध्या, शेषं स्पष्टा ग्रहगतिः। अतएव यत्र ग्रहस्य शीघ्रफलं परमन्तत्रगतेः फलाभावस्य सर्वाभ्युपगमत्वादुक्तप्रका-रेणापि तत्र फलकोटिज्या कर्णयोस्तुल्यत्वान्मध्यैव केन्द्रगतिः स्पष्टा सिद्ध्यतो भोग्य-खण्डार्थमनुपातो युक्तः। अन्यथा संगतत्वापत्तेः। एतेन—

"त्रिज्याहताग्रहगतिर्मृदुकर्णहृद्वा, मन्दस्फुटाभवति तद्रहिताशुभुक्तिः।
त्रिज्याहता स्वचलकर्णहृताशुचाप भोग्यज्यया विगुणिताविहृताद्यमौर्व्या" ॥

इति लल्लादिभिः शीघ्रकेन्द्र गतिसाधनमुक्तं निरस्तं प्रतिवृत्तप्रथमतृतीय पदान्तस्थानमितकेन्द्रयोः ग्रहस्य परमफलत्वात्वदुक्तरीत्या तत्र स्पष्टकेन्द्रगते-र्मध्य केन्द्रगतितुल्यत्वाभावात्, मन्दस्फुटगतितुल्य वास्तवस्पष्टगतेरसाधनात्। मन्दकर्मणि मन्दकर्मणानुपातानंगीकारान्मन्दकर्णानुपातेन मन्दस्पष्टगति साधनानुपपत्तेश्च। अतएव करणकुतूहले "द्राक्केन्द्रभुक्तिर्गुणिताशुचापभोग्य-ज्ययाखाब्धि ४० गुणा च भक्ता। सत्यन्त्यकर्णोन," इत्याचार्यैः स्थूलमप्यंगी-कृतम्। स्वल्पान्तरत्वात् लघ्वार्यभट्टेनापि फलकोटिज्यानिघ्नां चलकेन्द्रगतिं-विभाजयेच्छ्रुत्येत्याचार्याङ्गीकृतमेव सूक्ष्ममुक्तम्। एवं यत्र फलकोटिज्या कर्णतो-ऽधिका तदा स्पष्टकेन्द्रगतेर्मध्यकेन्द्रगत्यधिकत्वादपि यदा कदाचिच्छीघ्रोच्चगति-र्न्यूनत्वं सम्भवति तदा शीघ्रोच्चगतिः शुद्धैव भवति इति शेषं स्पष्टा ग्रहगतिः, उक्त युक्तेः।

एवं यत्र नीचासन्ने फलकोटिज्यातः कर्णस्य न्यूनत्वादुक्तप्रकारेण शीघ्रोच्च-गतेरपि यदा स्पष्टकेन्द्रगतिरधिका, तदोक्तरीत्या शीघ्रोच्चगतेर्न शुध्यतीति स्पष्ट-केन्द्रगतावेव शीघ्रगतिः शोध्या, शेषं स्पष्टा पश्चिमगतिः। उक्त युक्तेर्विपरीत सद्-

भावात्। अतएव संशोध्यमानं स्वमृणत्वमेतीत्युक्तेः, ऋणस्याधिकत्वाद्धनर्णयोरन्तरमेव योगइत्यन्तरस्यार्णं शेषत्वात्। यथोक्ता विपरीतस्यार्णत्वमेवेति वक्रगतिर्भवति। एवं द्वितीये पदे यदा स्पष्टगतिः, केन्द्रस्य शीघ्रोच्चगतितुल्या तदा स्पष्टग्रहगतिः शून्यमग्रेऽपि कर्णस्य फलकोटिज्याया क्रमेणापचयोपचयत्वादुच्चगतितः स्पष्टकेन्द्रगते रधिकत्वाद्वक्रगत्यारम्भः। तृतीय पदे फलकोटिज्या कर्णयोः, क्रमेणापचयोपचयत्वात्तदा स्पष्टकेन्द्रगतिरुच्चगतितुल्या तदा शून्यगतिरग्रेऽपि केन्द्रगते रुच्चगत्यधिकत्वाद्वक्रगत्यन्तो मार्गगत्यारम्भश्च। प्रथमचतुर्थपदयोः, कर्णस्य फलकोटिज्यातोऽधिकत्वेन सर्वदोक्तरीत्या शीघ्रोच्चगतितुल्यो तदा स्पष्टग्रहगतिः शून्यमग्रेऽपि कर्णस्य फलकोटिज्यया च क्रमेणापचयोपचयत्वादुच्चगतितः स्पष्टकेन्द्रगतेरधिकत्त्वाद्वक्रगत्यारम्भः। तृतीयपदे फलकोटिज्या कर्णयोः क्रमेणापचयोपचयत्त्वाद्यदा स्पष्टकेन्द्रगति रुच्चगतितुल्या तदा शून्यगतिरग्रेऽपि केन्द्र गतेरुच्चगत्यधिकत्त्वाद्वक्रगत्यन्तो मार्गगत्यारम्भश्च। प्रथमचतुर्थपदयोः कर्णस्य फलकोटिज्यातोऽधिकत्वेन सर्वदोक्तरीत्या शीघ्रोच्चगतितः स्पष्ट शीघ्रकेन्द्रगतेन्यूनत्वात्तत्र न वक्रसम्भावना। अत उपपन्नं फलांश खांकान्तरशिजिनीघ्नीत्यादि। ऋजवस्तु कक्षामध्यगतिर्यग्रेखाप्रतिवृत्तसंपातस्थे मन्दस्पष्टगतेः शीघ्रफलाभावः। तत्र ग्रहस्य परमशीघ्रफलोत्पत्तेः शीघ्रोच्चनीचप्रदेशे ग्रहे शीघ्रफलाभावाद्गतेः शीघ्रफलं परमम्। तत्र यदा ग्रहशीघ्रफलाभावस्तदाशून्यराशिमितं षड्राशिमितं वा केन्द्रं भवति। उच्चग्रहान्तरस्यकेन्द्रत्वात्। द्वितीयदिने शीघ्रकेन्द्रगतितुल्यमेव केन्द्रं वर्द्धते तेन फलसाधनार्थं द्वितीयदिने भुजज्या प्रथमज्यागुणिता केन्द्रगतिज्यान्तरांशान्तर्गतत्वात् तुल्या केन्द्रगत ज्यांतरांशान्तरगतत्वात्। ततोऽस्याखिजावृत्ते च यदि अंत्यफलज्यकाभ्या[illegible]ति दोः फलं द्वितीयदिनजं विना कर्णानुपातमिदमेव शीघ्रफलज्या। अग्रे गतिफलानयनावपर एव कर्णानुपातस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तद्धनुः शीघ्रफलमिति फ[illegible]म्। द्वितीयदिने केन्द्रभुक्तिरंत्यफलज्या गुणस्त्रिज्याभक्तेति रूपं शीघ्रफल मि[illegible] [illegible]दिने [illegible]फ[illegible] [illegible]तः शीघ्रफलं

न्तरेण किमित्यनुपातेनान्त्यफलज्ययो र्गुणहरयोस्तुल्ययो र्नाशात्केन्द्रगतिः शीघ्रफल कोटिज्याकर्णान्तरगुणा त्रिज्याभक्ता नीचोच्चवृत्ते गतिशीघ्रफलं सिद्धम्। अत एव विना कर्णानुपातं परमशीघ्रफलज्याज्ञानेऽपि नीचोच्चवृत्ते गतिज्ञानस्यावश्यकत्वादनुपातो युक्त एव। कक्षावृत्ते ज्ञानार्थं कर्णाग्रे इदं, त्रिज्याग्रे किमित्यनुपातेन त्रिज्यागुणहरयोस्तुल्ययो र्नाशात्केन्द्रगतिः शीघ्रफलकोटिज्याकर्णान्तरगुणा शीघ्रकर्णभक्तेतिगतिशीघ्रफलं सिद्धम्। तच्च मेषादि केन्द्रे ग्रहफलस्य धनत्वाद्द्वितीये प्रतिवृत्तपदे फलस्य ह्रासात्, तृतीये पदे फलस्योपचयत्वात्तुलादि केन्द्रत्वेन कर्णत्वाच्च द्वितीयतृतीयपदप्रतिवृत्तकर्कादिषड्भांतर्गतेकेन्द्रे ऋणं गतिफलम्। चतुर्थपदे तुलादिकेन्द्रत्वेन फलस्यर्णत्वादपचयत्वाच्च। प्रथमपदे धनफलवृद्धेः सत्वाच्च, गतिफलं प्रतिवृत्तमकरादिषड्भान्तर्गतकेन्द्रे प्रथमान्त्यपदे धनं न चमन्द गतिफलस्योभयथा केन्द्रे कर्कादौ धनं मकरादावृणमिति प्रतिपादनात् कथमत्र वैपरीत्यमिति वाच्यम्। तत्र मेषादि तुलादि क्रमेण ग्रहमन्दफलस्य धनर्णत्वेनात्र मेषादि तुलादि क्रमेण ग्रहशीघ्र फलस्य धनर्णत्वेन प्रतिपादनात्। अतएवात्रोच्चेन हीनो ग्रहः केन्द्रमिति कृतेऽपि कर्कादावृणं मकरादौ धनमित्यैव युक्तम्। अतएव फलकोटिज्यातः कर्णाधिके धनं न्यूने ऋणमितिनिर्विवादमुक्तम्। तथा चोक्तं "सूर्य सिद्धान्ते" मन्दस्फुटीकृतां भुक्तिं प्रोज्झ्य शीघ्रोच्चभुक्तितः। तच्छेषं विवरेणाथ हन्यात्त्रिज्यांन्त्यकर्णयोः। चलकर्णहृतं भुक्तौ कर्णे ज्याधिके धनं ऋणमूनेऽधिके प्रोज्झ्य शेषं वक्रगतिर्भवेदि"ति। नचोक्त युक्त्या त्रिज्या स्थले फलकोटिज्याया अभावात्कथमुक्तार्थे संगतिरिति वाच्यम्। [illegible]तः सर्वथा फलकोटिज्यायास्त्रिज्यासन्नत्वेन गणितसौकर्यार्थं परमकारुणिकेन सूर्येण तुल्यान्तरेण त्रिज्या तुल्याया एवांगीकारात्। त्रिज्या शब्दस्य फलकोटिज्या तस्याः परत्वेन त्रिज्यातुल्यत्वेन विवराच्च। यत्तु त्रिज्या अंत्या परमा विद्यते यस्या इति व्युत्पत्त्या त्रिज्यास्पर्शत्वेन फलकोटिज्या, तस्या परमत्वे त्रिज्या[illegible]दिति तन्न। अति प्रसंगात्। "लल्ल"-

स्पष्टकेन्द्रगतिरूपं प्रथम खण्डजफलमित्युपपन्नं फलांशेत्यादीत्याहुस्तच्चिंत्यम् । उक्तरीत्या परम गतिफले स्वकेन्द्रमध्यमगतेः सम्बन्धाभावादुच्चनीचसमग्रहीय-मन्दकेन्द्रगतेः संबन्धाच्च स्वमन्दस्पष्टगतितत्केन्द्रगतियोगस्य शीघ्रोच्चगतित्वा-भावात् । उच्चसमग्रहदिनीयमन्दस्पष्टगत्युत्पन्नप्रथमखण्डस्य फलस्याभीष्टस्पष्ट केन्द्रगतित्वाभावाच्च । अतएव स्वकेन्द्रगत्यैवानीतं सूर्यसिद्धान्तोक्तं फलमप्युक्त रीत्या नोपपन्नम् । न चोक्तरीत्या तत्केन्द्रगतितोऽप्यागते फले पुनस्तत्केन्द्र गत्येदं तदा स्वकेन्द्रगत्याकिमित्यनुपातेन तत्केन्द्रगत्योर्गुणहरयोः समत्वेन नाशात्तत्स्थाने स्वकेन्द्रगतिश्चोपपन्नेति युक्तमिति वाच्यम् । एतदनुपातस्य प्रवृत्तौ कारणाभावात् उक्तरीत्या वास्तवफलस्य तत्केन्द्रगत्यैव सिद्धत्वादिति मत्प्रतिमानादित्यलम् ॥३९॥

ननु त्वदुक्ता स्पष्टागतिः ब्रह्मगुप्ताद्यंगीकृतप्रकारागतस्पष्टगत्या स्वल्पान्तर-त्वाद्युक्तापि सर्वाचार्यश्रेष्ठप्रसिद्धलल्लाचार्यविरचित शिष्याधीवृद्धिदोक्त मुख्य प्रकारेण तद्वर्जिता स्वचलतुंगगतिः स्वभोग्यखण्डाहताशस्यमाप्तिहृता हृता च स्वेन स्फुटेन गुणकेन खनाग भुक्ता । त्रिज्या हृता श्रुतिहृताशुफलंगतेः स्यात् । मन्दस्फुटाग्रहगतिः स्फुटतामुपैति युक्तोनिता विरहिता सहितामुना च । शीघ्रा-भिधाननिजकेन्द्रपदक्रमेण वक्रागतिर्भवति चेद्गणतो विशुद्धाब्धिवाणादिभिः शशिगुणैः खरामैः खवाणैरगैर्लवैः त्रिगृहमाद्यपदयुतं स्यात् । ऊनं तृतीयमिति केन्द्र यदोक्तलदम बुधागतौ चलफलं खमृणविधेयमित्यनेनसाधितस्पष्टगत्या बह्वन्तरत्वदर्शनादसंगता ।

तथा हि केन्द्रं २।१५।०। भुज्यज्याभोग्यखण्डे ३३३१।५१ कोटिज्या ८९० अन्त्य फलज्या १२९०*।३१ कर्णः ३९२७ फलं शैघ्र्यं १७।५५।०†।० भोग्य खण्डं २१५ भास्करमते तु फलकोटिज्या ३२७०।१३ द्राक्केद्रगत्या* १८।६।१६।२४ गुणा ६०९ ५४८।३७ कर्ण-३९२७ भक्ताप्तफलम् । १५४।३ शीघ्रोच्चगतेः २४५।३३ (प) हीनं स्पष्टा ९१।२९ लल्लोक्तमुख्यप्रकारेण तु केन्द्रगतिः १८६।२४ शीघ्रकेन्द्रभुजज्या-नयने यद्भोग्यखण्डं ५१ तेन गुणा ९५०६।२४ तत्वाश्विभक्ता ४२।१५। अथ शैघ्र्या रामशराः शशांकदहनाः भूपाश्विवर्गेषवो नंदाग्निश्चक्षितिजज्ञजीवभृगुजछायासुतानां क्रमात् । द्विनद्वींदुद्विकुभिर्हृता चलभवां दोर्ज्यां भजेत्त्रिज्यया सर्वं शीघ्रभवाः फलेन रहिताः स्पष्टा स्युरेवं गुणा इत्युक्तप्रकारानीतगुणेन २९।४ सार्द्धतुष्टयापवर्तित परिधिरूपेण गुणिताः १२२८।४। अशीतिभक्ताः १५।२१ त्रिज्या गुणा ५२७७३।१८ कर्णभक्ता फलं १३।२० प्रतिवृत्तप्रथमपदांतगतत्वाद्धनमितिमध्यगतिः ५९।८ संस्कृता स्पष्टागतिः ७२।२८। तदत्र तदंन्तरेण स्पष्टागतिर्भास्कराभिमता ९१।२९ एकोनविंशति कलाभिरधिकेति ।

दीपिका—अस्योपपत्तिस्तावच्छीघ्रप्रतिवृत्तभङ्योच्यते ।
सा च शिखायां सुस्पष्टा, दृष्टव्येति ।

---

* क्वचित्–६ ल ३७ * क्वचित्–१६।६
† „ ५० प २

शिखा—पूर्वोक्त प्रतिवृत्तभङ्गि से शीघ्रफलज्या $= \dfrac{\text{ज्या स्फु. के} \times \text{ज्याअ}}{\text{त्रि}}$ । त्रिज्या और अन्त्यफलज्या की स्थिरता मानकर तात्कालिक सम्बन्ध से, $\dfrac{\text{शी फ ग. कोज्या शी. फ}}{\text{त्रि}}$

$$= \frac{\text{स्फु केग} \times \text{कोज्या स्फु के}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{ज्या अ}'}{\text{त्रि}}$$

यतः, शी के $\sim$ स्फु के $=$ शी फ ।

$\therefore$ शी फ ग $=$ शी के ग $\sim$ स्फु के ग

इसी प्रकार $\dfrac{\text{कोज्यास्फुके} \times \text{ज्या अ}}{\text{त्रि}} =$ मूल ।

$$\therefore \frac{\text{कोज्या शी फ (शी के ग} \sim \text{स्फु केग)}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{स्फु के ग} \times \text{मू.}}{\text{त्रि}}$$

कोज्या शी फ $\times$ शी के ग $\sim$ कोज्या शीफ $\sim$ स्फु के ग $=$ स्फु के ग $\times$ मू

कोज्या शी फ—शी के ग $=$ स्फु के ग. (कोज्या शीफ $\pm$ मू)

यहाँ पर कोज्या शी फ $\pm$ मू $=$ शीघ्र कर्ण ।

$$\text{स्फु के ग} = \frac{\text{कोज्या शी फ} \times \text{शी के ग}}{\text{शी क}}$$

शीघ्र फल कोटिज्या को शीघ्र केन्द्र से गुणा कर इसमें शीघ्र कर्ण का भाग देने से स्फुट केन्द्र गति होती है। स्फुट केन्द्र गति को शीघ्रोच्च गति में कम करने से स्पष्टा गति होती है—जैसे

शी उ $\pm$ स्फु के. $=$ स्प ग्र.

शी उ$'$ $\pm$ स्फु के$'$ $=$ स्प$'$ ग्र.

दोनों का अन्तर $=$ शी उ ग—स्फु के ग $=$ स्प. ग्र. ग ।

स्पस्ट केन्द्र गति, पद क्रम से सदा ऋण गत होने से शीघ्रोच्च गति के साथ इसके अन्तर से स्पष्ट गति होती है। द्वितीय पद में शीघ्र कर्ण की न्यूनता से शीघ्रोच्चगति से स्फुट केन्द्र गति की अधिकता का संभव होने से ग्रह की वक्रता का आभास होता है। विरुद्ध दिशा गमन का आभास होता है। इससे ग्रह पश्चिमाभिमुख चलता है ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए क्योंकि ग्रह सदा पूर्वाभिमुख ही चलते हैं।

यह आचार्य का मत उपपन्न हुआ है। अद्यतन और श्वस्तन कर्ण को तुल्य मानकर आचार्य ने उक्त प्रकार की उपपत्ति कही हैं—जो कर्णभेद हेतु से स्थूल कही जावेंगी। और क्षेत्र रचना की असमीचीनता से भी। इस लिये म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी जी ने इस पर क्षेत्र गत अच्छी उपपत्ति कही है जो निम्न भांति है।

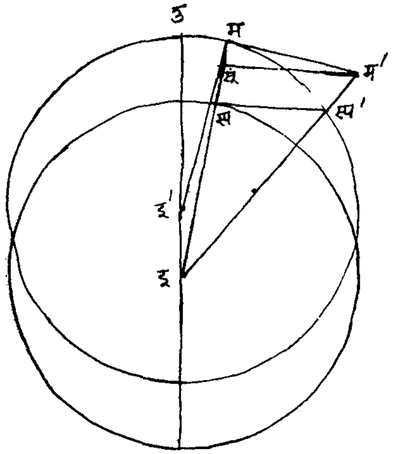

यहाँ पर प्रतिवृतीय मध्यम ग्रह स्थान से प्रतिवृत्त की स्पर्श रेखा करनी चाहिए। तथा यहाँ पर अल्प एक रूप वेग की शीघ्र केन्द्रगति दान विन्दु पर दूसरा ग्रह स्थान मानना चाहिए। इसके ऊपर भू केन्द्र से रेखा करनी चाहिए। यह रेखा कक्षा वृत्तीय स्पष्ट ग्रह स्थान से कक्षावृत्त की स्पर्श रेखा को जहां पर काटती है वहां से स्पष्ट ग्रह स्थान तक स्पर्श रेखा में एक रूप वेग की स्पष्टा केन्द्रगति हुई, ऐसी स्थिति समझनी चाहिए। प्रतिबृत्त में म=मध्यम ग्रह स्थान। म म'=प्रतिवृत्त स्पर्श रेखा में लघ्वी केन्द्र गति।

इ= भू केन्द्र। स्प=कक्षावृत में स्फुट ग्रह स्थान। स्प=स्थान से की गई कक्षा वृतीय स्पर्श रेखा इम' रेखा पर स्प' विन्दु पर लगती है। अतः स्प स्प' रेखा एक रूप वेग की केन्द्रगति है। इ म=शीघ्रकर्ण। इस शीघ्रकर्ण पर म' स्थान से किया लम्ब म म'= भुज। इम=कोटि। इम'=कर्ण। इसी प्रकार, इ स्प=कोटि। स्प स्प'=भुज। इ स्प'= कर्ण। यह दोनों क्षेत्र सजातीय हैं। इ'=प्रतिवृत्त का केन्द्र, उ=उच्च स्थान। ∠उ इ' म=शीघ्र केन्द्र। ∠उ इ म=स्पष्ट केन्द्र। ∠इ' म इ=शीघ्र फल। ∠इ म म'=शीघ्र फल कोटि।

अतः त्रिकोणमिति से $म'ल = \dfrac{\text{कोज्या शीफ} \times म\, म'}{\text{त्रि}}$। $म'ल = \dfrac{\text{ज्या शीफ} \times म\, म}{\text{त्रि}}$

यत: इ ल=शीक—म ल।

$$\text{अनुपात से स्प स्प}' = \frac{म'\, ल \times \text{त्रि}}{\text{शीक} - म\, ल} = \frac{\dfrac{\text{कोज्या शीफ}.\ म\, म'.\ \text{त्रि}}{\text{त्रि}}}{\text{शीक} - म\, ल}$$

$$= \frac{\text{कोज्या शीफ} \times म\, म'}{\text{शीक} - म\, ल}$$

म म' केन्द्र गति में यह स्पष्ट केन्द्र गति मिलती है तो ग्रह की अपनी केन्द्र गति में

जो गति मिलेगी वही स्पष्ट केन्द्र गति होगी $= \frac{\text{कोज्या शीफ} \times \text{के ग}}{\text{शीक} - \text{म ल}}$

$$= \frac{\text{कोज्या शीक} \times \text{के ग}}{\text{शीक} - \frac{\text{ज्या शीफ. म म}'}{\text{चि}}}$$

यहाँ यदि म म$'=0$, तो म स्थानीय तात्कालिक गति वश

तात्कालिक स्फुट केन्द्र गति $= \frac{\text{कोज्या शीफ} \times \text{के ग}}{\text{शी क}}$

इस प्रकार नीच्चोच वृत्तभङ्गि से भी भास्कराचार्य का स्फुट केन्द्रगति साधन प्रकार उपपन्न होता है। तत्तसमय में ज्ञान विज्ञान की सूक्ष्मता की गवेषणा तत्कालीन आचार्यों ने की है। १९ वीं शताब्दी के गणक सौर्वभौम सुधाकर ने भास्कर के इस सिद्धान्त को ही सूक्ष्म माना है, उपपत्ति के प्रकार में यदि स्थूलता है ही तब भी तो फल में तुल्यता ही है, विद्वान् इस पर स्वयं विचार करेंगे।

सम्प्रति का उपलब्ध यह जो लोक विश्रुत सूर्य सिद्धान्त है, इसके "मन्दस्फुटी कृतां भुक्ति प्रोज्म्य शीघ्रोच्चभुक्तित:" स्पष्टाधिकार श्लोक ५०–५१ के व्याख्यानों के अनुसार शीघ्रगति फल का साधन भास्कराचार्य के प्रकार से समता रखेगा, जब कि त्रिज्या शब्द का अर्थ यहाँ पर फल कोटिज्या किया जाय। सौर सिद्धान्त की गूढार्थ प्रकाशिका नाम की टीका रङ्गनाथ दैवज्ञ ने लिखी है। यत: रंगनाथ की इस टीका में भी बहुत्र स्थलों पर भ्रम है और अनेक स्थल गोल गणित से वहिर्भूत भी हैं, यह सब बातें सुधावर्षिणीकार सुधाकर ने सूर्य सिद्धान्त की सुधावर्षिणी में सयुक्ति स्पष्ट लिखा है, किंतु इस स्थल पर रंगनाथ का कथन ठीक प्रतीत हो सकता है, क्योंकि स्प के ग$= \frac{\text{शी के ग} \times \text{फ कोज्या फ}}{\text{क}}$

स्पष्ट केन्द्र शीघ्र केन्द्र गतियों का अन्तर$=$फल गति$=$शी के ग $\sim \frac{\text{शी के ग} \times \text{फ कोज्या}}{\text{क}} =$

$$\frac{\text{शी के ग} \times \text{क.} \sim \text{शी के ग} \times \text{कोज्या फ}}{\text{क}} = \frac{\text{शी के ग (क} \sim \text{कोज्या फ)}}{\text{क}}$$

इसी प्रकार सौरभाष्य में त्रिज्या शब्द का अर्थ फल कोटिज्या होना चाहिए, ऐसा नृसिंह दैवज्ञ का भी मत है। भास्कराचार्य की स्फुट केन्द्र गति $= \frac{\text{कोज्या फ} \times \text{शी के. ग}}{\text{शी क}}$

$$= \frac{\text{२ कोज्या फ} \times \text{ज्या फ} \times \text{त्रि} \times \text{शी के ग}}{\text{२ ज्या फ} \times \text{शी क} \times \text{त्रि}} \text{।}$$

$$= \frac{\text{ज्या २ फ} \times \text{त्रि} \times \text{शी के ग}}{\text{२ ज्या फ} \times \text{शी क}} \text{।}$$

$$= \frac{\text{ज्या २ फ} \times \text{त्रि} \times \text{शी के ग}}{\frac{\text{२ ज्या अ} \times \text{ज्या फ} \times \text{शीक}}{\text{ज्या अ}}} \text{।}$$

यहाँ पर, $\frac{\text{ज्या अ} \times \text{शी क}}{\text{ज्या अ}}$ = ज्या शी के।

यतः, $\frac{\text{ज्या २ फ} \times \text{त्रि} \times \text{शी के ग}}{\text{२ ज्या अ} \times \text{ज्या शी के}}$ = स्पष्ट केन्द्र गति।

त्रिज्या द्राक्केन्द्रभुक्तिनिघ्नी द्विघ्नद्राक्फलदोर्ज्यया।
क्षुणाऽन्त्यफलजीवाघ्न्या द्विघ्न्या द्राक्केन्द्रदोर्ज्यया।
भक्ता लब्धे स्वशीघ्रोच्चगतेः शुद्धेऽवशेषकम्।
स्पष्टा खेटगतिर्व्यस्त शुद्धौ वक्रगतिर्भवेत्॥

उक्त प्रक्रिया से यह म. म. बापूदेव शास्त्री (संशोधक) का प्रकार उपपन्न होता है।

शीघ्रकर्ण के बिना ही स्पष्ट केन्द्रगति का साधन किया है, यही इस प्रकार की विशेषता है। यद्यपि मूल में शीघ्रकर्ण के ही आधार पर उपपत्ति की गई है।

इदानीं लल्लोक्तगतिफलस्य दूषणमाह—

धीवृद्धिदे चलफलं द्युगतेर्यदुक्तं
लल्लेन तन्न सदिदं गणकैर्विचिन्त्यम्।
केन्द्रे त्रिभे च नवभे च फलस्य नाशाद्
भावात् तथा गतिफलस्य धनर्णसन्धौ ॥४०॥

धीवृद्धिदे तन्त्रे तद्गतेश्चलफलमुक्तं तदसत्। त्रिभे नवभे च केन्द्रे भोग्यखण्डाभावात् फलाभावः स्यात्। तथा धनर्णसन्धौ गतिफलाभावस्थानेऽपि फलमुत्पद्यत एव। तत्पक्षे गतिफलाभावकारणस्याभावात्। येऽत्र वासनाविदस्तैरुक्तमात्रमपीदं ज्ञायते, येऽन्ये न विदन्ति। अथवा वृथाऽभिमानिनस्तेषां धूलीकर्म्मणा प्रतीतिरुत्पाद्या। तद्यथा—भौमस्य धनर्णसन्धिकेन्द्रं सार्द्धराशिचतुष्टयम्। ४।१५ शुक्रस्य विंशतिभागाधिकम्। ४।२० अत्र यावदुक्तं गतिफलमानीयते तावत् सप्तदशकला १७ भौमस्य। शुक्रस्य द्वात्रिंशत् ३२ कला आगच्छति। तदसत्। अत्र स्वल्पान्तरत्वादिति चेत् तदपि न। एकत्रिंशत् कला गतिः सप्तदशकला अन्तरम्। तत् कथं स्वल्पमुच्यते? अत्र केचिद्वासनाबाह्याः स्वभोग्यखण्डाहतेत्याशुचापभोग्यखण्डाहतेति मन्यन्ते। एवं बुधगतिफलस्यर्णप्रवृत्तौ केन्द्रे राशिचतुष्टये भागेन कलापञ्चकेन चाधिके ४। १५ अवक्रस्थानेऽपि वक्रा गतिरायातीति सुधीभिरिदमपि विलोक्यम्।

मरीचिः—कथं भवदुक्तं प्रमाणमित्युपपत्तिज्ञानहीनानां स्वांगीकृतपक्षासहमानानामंगीकृतलल्लैकपक्षाणां शंकानिरासार्थं सिंहोद्धतयाह—धीवृद्धिदे चल फलं द्युगतेर्यदुक्तं लल्लेन तन्न सदिदं गणकैर्विचिन्त्यम्। केन्द्रे त्रिभे च नवभे च फलस्य नाशात्भावात्तथा गतिफलस्य धनर्णसंधाविति। लल्लेन चार्यपक्षांगीकृतादिनमन्दगतेः यत् तद्वर्जिता स्वचलकेन्द्रगतिः स्वभोग्य खंडाहतेत्यादिना शीघ्रफलं

शिष्यवृधीवृद्धिदतंत्रे उक्तम्। तत् सम्यक् न। अशुद्धमित्यर्थः। विसंवादात्। ननु त्वदुक्तमेवाशुद्धमुक्तहेतोरतआह–इदमिति, इदं मया यत्तदशुद्धमुक्त तदित्यर्थः। गणकैः लल्लोक्तपक्षांगीकृद्भिः विचिन्त्यम्। उपपत्या लल्लोक्तगतिशीघ्रफलोक्तगति नवेति मदुक्तकृदुपपत्तिसिद्धत्वादिति भावः।

ननु लल्लोक्त शीघ्रगतिफलस्यापि मन्दगतिफलरीत्योपपत्तिसिद्धत्वात्कथमसदित्यत आह–केन्द्रेति। त्रिराशिमिते केन्द्रे नवमितकेन्द्रे च भुजज्यायाः परमत्वात् भोग्यखण्डाभावः, तेनोक्तरीत्या शून्यभोग्यखण्डे न फलस्पष्टागति शीघ्रफलस्य नाशादभावान्मन्दस्य स्पष्टागतिरेव स्पष्टागतिर्भवति तच्चयुक्तम्। प्रथमतृतीयपदान्तयोर्ग्रहपरमफलत्वाद्गतिफलाभावेन मन्दस्पष्टगतेरेव स्पष्टत्वं च मन्द गतिफलवदिति परमशीघ्रफलयुत त्रिनवराश्यो स्तत्पदान्तत्वान्न त्रिनवराश्योः। अन्यथा गतिफलधनर्णत्वार्थं बाणादिभिरित्यादि पदान्तकथनस्यासंगतत्वापत्तेः। उपपत्यान्यभाष्यसंगतत्वेऽपि सर्वबोध साधारणार्थमिदं स्पष्टस्थलं दर्शितम्।

ननु भुजज्यायाः भोग्य खण्ड ग्रहणे न दूषणं न युक्तम्। लल्लेन शीघ्रफलज्याचापसाधने भोग्यखण्डस्यांगीकारात्। तथा च त्रिनवराश्योः, शीघ्रफलस्य सत्वाद् भोग्यखण्डोत्पत्ते र्मन्दस्पष्टगतिः सिद्धेति कथमयुक्तं तदिति आह—भावादिति-धनर्णसंधौ शीघ्रप्रतिवृत्तप्रथमतृतीयपदान्तयोरित्यर्थः। गतिशीघ्रफलस्य तथा लल्लोक्तप्रकारेण भावात्। उत्पत्तेरित्यर्थः। तथा च धनर्णसंधौ ग्रहशीघ्रफलस्य परमत्वेऽपि नवत्यंशांतर्गतत्वात्तद्भोग्यखण्डं भवत्येवेति फलं गतेरुत्पद्यते तन्मन्दगतौ संस्कार्यं स्पष्टागति र्मन्दस्पष्टागतेर्भिन्ना साऽयुक्ता। मन्दस्पष्टतुल्यगतेः सत्वेन गतिफलाभावापेक्षायामपि भोग्यखण्डाभावाभावेन फलोत्पत्तेः। उपपत्यान्यत्रापि दोषस्थलसत्वेऽपि मन्दबोधार्थमत्र दूषणं दर्शितम्। एतादृशभोग्यखण्डग्रहे कदापि मन्दस्पष्टगतितुल्यं स्पष्टगतेरसम्भव इति मन्दोपहासास्पदत्वात्। अत्र प्रथमखण्डग्रहेऽपि दूषणं यथा श्रुतेस्सैवेति। यथाहि—बुधस्य त्रिभे नवभे च भुजज्या त्रिज्या ३४३८ कर्णश्च ३६६१।५० शीघ्रफलज्या ११८३।३२ भोग्यखण्डम् २१० शीघ्रफलांशकोटिज्या ३२२७।५७। अत्र भास्करोक्तप्रकारेण गतिः स्पष्टा ८१।१२ लल्लोक्तप्रकारेण भुजज्या भोग्यखण्डाभावात् फल भावेन मध्यैव स्पष्टा गतिः। ५९।८। शीघ्रफलज्या भोग्यखण्डग्रहेतु २१० स्पष्टा गतिरि ११८।१५ यमसंगता। अथ धनर्णसन्धौ केन्द्रे ३।२१।३१।४३ बुधस्य भुजज्या ३१९७।२८ भोग्यखण्डे च ७९, कोटिज्या १२६०।३६ कर्कादिकेन्द्रत्वात्स्पष्टाकोटिः।०। कर्णः ३१९७।२८ फलज्या १२६०।३६ भोग्यखण्डं २१५ फलकोटिज्या ३१९७।२८ भास्करोक्तप्रकारेण स्पष्टागतिर्मध्यैव ५९।८ लल्लमते भुजज्या भोग्यखण्डेन ७९ फलं २६० गतिः ३३।८ फलं भोग्य खण्ड २१५ ग्रहे तु फलस्या ६६ धिकत्वान्मध्यगत्यूनफलं वक्रीगतिः ७ अतएवात्र वस्तुतोऽवक्रत्वेऽपि वक्रीगति रायतीति प्रत्यक्ष दोषः। भवदुक्तप्रकारेणनीताग्रिमग्रहस्य पूर्वदिनीयग्रहेऽतो न्यूनत्वाभावात्। लल्लोक्तद्वितीयप्रकारेणात्र स्पष्टगतेः ६२ मध्यगतितुल्यत्वाभावाद् द्वितीयप्रकारोऽपि न युक्तस्तथा च लल्लोक्तस्यायुक्तत्वात् मदुक्तं युक्तमेवेति भावः।

अत्रोपपत्तिः—प्रथमतृतीयपदान्तयोर्गतिफलाभावात् द्वितीयचतुर्थपदान्तयोर्गतिफलस्य परमत्वाच्च पूर्वापरस्थानयोः पदाभावपरमत्वे ततो गतिफलसाधनं युक्तम्। अतो भुजज्या भोग्यखण्डस्य फलभोग्यखण्डस्य च परमगतिफलात्पत्तौ परमत्वेऽपि गतिफलाभावे तद्भोग्यखण्डाभावाभावात्ततो गतिफलसाधनेऽसंगतत्वमेव भवतीति न चिन्त्यम्। अत एव भुजज्यातस्त्रिज्याहृता कर्णाहृताभुजज्येत्युक्तप्रकारेणानीतभुजज्यायाः कोटिज्या कार्या तस्याः पूर्वानुपातरीत्या भोग्यखण्डग्रहणे न दोषः। धनर्णसंधौ। तादृशकोटिज्याया-अभावाद् भोग्यखण्डाभावात्। नीचोच्चसमे ग्रहे तादृशकोटिज्यायाः परमत्वेन भोग्यखंडपरमत्वाच्च। तथा च त्रिभे नवभे भुजज्या ३४३८ अस्याः स्फुटभुजज्या ३२२७।५१ अस्या कोटिज्या १८८३।३२। अस्याः कोटिज्या ११८३।३२ अस्यां पूर्वानुपातेन भोग्य खण्डं ७७।२७ अनेन तद्वर्जितेत्युक्तप्रकारेण संगतिः ८०।५८। धनर्णसंधौ तु स्पष्टमेव। एवं पूर्वोक्तस्थले भुजज्या २९०७।२७ कोटिज्या १८३४।५० अस्याः भोग्यखण्डं १२०।५ अतो गतिफलं ३१।३७ स्पष्टागतिः ९०।४५। अतो लल्लोक्तप्रथमगतिसाधने यथा श्रुतेः दोषः। विशिष्टभुजज्यायाः, अनुक्तत्वात्। तादृश भुजज्याभोग्यखण्डग्रहे विवक्षिते तु गतिसाधनद्वयं समानं सूक्ष्मासन्नम्। परन्तु कर्णान्यत्वेन मन्दगतिफलसाधनवत्साधनं युक्तमिति दूषणे तात्पर्यमिति दिक्॥४०॥

दीपिका—अत्र भास्कराचार्येण लल्लमतं खण्डितमिति स्पष्टम्। लल्लाचार्येण विलक्षणवेगेन शीघ्रगतिफलं साधितम्। भास्कराचार्यस्तु तात्कालिकवेगेनैव शीघ्रगतिफलं साधितवानत अनयोर्विषयभेदादानयनप्रकारभेदोऽपि यदि स्यात्तर्हि किञ्चित्रमत्र ? यतः विषयैकतायां यदि सूत्रभेदस्तदा न तद्दूषणमतोऽत्राचार्यस्य लल्लमतखण्डनं न युक्तमिति केचित्।

शिखा—लल्लाचार्य ने अपने धीवृद्धिद तन्त्र में दो वृत्तों के योग विन्दु (कक्षावृत्त और प्रतिवृत्त के योग विन्दु पर) पर ग्रह गति का अभाव कहा है—यह ठीक नहीं है। क्योंकि तीन ३ राशि और नौ ९ राशि केन्द्र होने पर फल का अभाव, तथा फल की धन और ऋण सन्धि पर फल की सत्ता होने से लल्लाचार्य का गति फल साधन ठीक नहीं है।

तीन ३ राशि और नौ ९ राशि के तुल्य केन्द्र होने पर भोग्य खण्ड का अभाव होने से फल का अभाव होता है। इसी प्रकार धनर्ण सन्धि (गतिफलाभाव स्थान) में फल पैदा होता है, क्योंकि लल्लाचार्य के मत से गतिफल के अभाव के कारण का यहाँ पर अभाव है। धूलि कर्म से आचार्य उदाहरण द्वारा समझाते हैं। जैसे यदि मंगल ग्रह का धन ऋण की सन्धि केन्द्र ४।१५°; शुक्र का धन ऋण सन्धि केन्द्र=४।२०° हो तो उक्त प्रकार से मंगल का गतिफल=१७′, शुक्र का गतिफल=३२′, होता है, यह अशुद्ध है। इसे स्वल्पान्तर भी नहीं कह सकते। क्योंकि मंगल की मध्यमा गति ३१ कला है। और अन्तर १७′ है, इसे कैसे स्वल्पान्तर कहा जावेगा।

इसी प्रकार बुध गतिफल ऋण सन्धि केन्द्र में—४।१५ इस अवक्र स्थान में ही वक्र गति आती है, विद्वान् इस पर विचार करेंगे, आचार्य ने अपने वासना भाष्य में यह सब विवेचन किया है।

कहाँ पर गति फलाभाव होता है। इस पर विचार करना आवश्यक है।

$$\text{गतिफल} = \frac{\text{शी के ग} \times \text{मूल}}{\text{क}} = \frac{\text{शी के ग (क} \backsim \text{कोज्या फ)}}{\text{क}}$$

जहाँ पर भाज्य का अभाव होगा वहीं पर लब्धि का भी अभाव है। भाज्य में गुण्य या गुणक दोनों में एक किसी की शून्यता से भाज्य भी शून्य के तुल्य होगा। एवं शीघ्र केन्द्र गति की अशून्यता से मूल और कर्ण और फल कोटिज्यान्तर का अभाव भी अवश्य संभव होगा, क्योंकि एक की स्थिरता निश्चित है।

$\therefore$ यदि मूल$=0$, ज्या^{2} अ$-$ज्या^{2} फ$=0$

$\therefore$ ज्या अ$=$ज्या फ

अथवा क $\backsim$ कोज्या फ$=0$ $\therefore$ क$=$कोज्या फ। यहाँ पर फलज्या और अन्त्यफलज्या की समता से ज्या के$=$क

$$\therefore \text{ज्या के} = \text{कोज्या फ} \because \text{ज्या फ} = \frac{\text{ज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{क}}$$

फलज्या की परमता से तत्काल की गति भी शून्य होगी। दोनों पक्षों का तात्कालिक सम्बन्ध लेने से

$$0 = \frac{\text{कोज्या के. क—ता}}{\text{क}^2}$$

$$= \frac{\text{कोज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{क}} = \frac{\text{ता (क) ज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{क}^2}$$

क^2$=$ज्या^{2} अ$+$त्रि^{2}$\pm$२ कोज्या के. ज्या अ

$\therefore$ क$=$(त्रि^{2}$+$ज्या^{2} अ$\pm$२ कोज्या के.$\times$ज्या अ)$^{\frac{1}{2}}$

दोनों पक्षों का तात्कालिक सम्बन्ध ग्रहण से—

$$\text{ता (क)} = \pm \frac{\text{ज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{क}}$$

उत्थापन से

$$0 = \frac{\text{कोज्या के} \times \text{ज्या अ}}{\text{क}} \pm \frac{\text{ज्या}^2 \text{ के} \times \text{ज्या}^2 \text{ अ}}{\text{क}^2 \text{ क}}$$

$$= \frac{\text{कोज्या के ज्या अ}}{\text{क}} \pm \frac{\text{ज्या}^2 \text{ फ}}{\text{क}}$$

$$= \text{मूल} \pm \frac{\text{मूल}^2}{\text{क}}$$

0 $=$मू (क$\pm$मू)

यहाँ पर क$\pm$मू, इसकी शून्यता से

मू का मान शून्य होता है।

इसलिये मू मान के अभाव से शीघ्र फल ज्या की परमता होने से मूल का अभाव प्रत्यक्ष है। ऐसी स्थिति में, कर्ण और फल कोटिज्या की, शीघ्र केन्द्र ज्या

और कर्ण की, शीघ्र केन्द्रज्या और फलकोटिज्या की समता भी सुस्पष्ट है। ऐसी ही जगह पर गतिफल की भी परमता स्पष्ट है। यह स्थिति, कक्षा वृत्त की मध्यगामिनी रेखा का प्रतिवृत्त के साथ सम्पात विन्दु पर ही घटित होती है। यहाँ पर इस पक्ष में कोई विसम्वाद नहीं है, इसीलिये आचार्य ने कहा है कि कक्षा "मध्यगतिर्यग्रेखाप्रतिवृत्त सम्पात" पर ही मध्य गति ही स्पष्टा गति होती है। यह भास्कराचार्य का कथन अति स्पष्ट है। लल्लाचार्य ने कहा है कि, सौर गति साधन परम्परा से वृत्तद्वय योग में ही त्रिज्या और अन्त्य कर्ण की समता होती है, यहीं पर गतिफल का अभाव होता है और यहीं पर मध्यम स्पष्ट गतियों की तुल्यता भी होती है। लल्ल के इसी कथन पर भास्कर ने उक्त आक्षेप किया है।

सौर वासना में (सिद्धान्त तत्व विवेककार) कमलाकर भट्ट ने इस पर विशद विवेचन के साथ लल्लाचार्य के मत का प्रकारान्तर से समर्थन किया है। आसन्न दो दिन के उत्पन्न फलों का अन्तर जिस समय शून्य के तुल्य होता है, उसी समय गतिफल का अभाव, तथा इसी समय मध्यम स्फुट गतियों की भी तुल्यता होगी। इस कथन के साथ भास्कराचार्य के मत का भट्ट ने खण्डन ही किया है कि दो वृत्तों के आसन्न में ही गतिफल का अभाव होगा, न कि कक्षावृत्तीय मध्यगामिनी रेखा और प्रतिवृत्तीय सम्पात विन्दु पर। यदि दैनिक गति से ग्रह चालित किया जाय तो कक्षा मध्यगतिर्यग्रेखाप्रतिवृत्तसम्पात में गति फलाभाव नहीं होगा, ऐसा कमलाकर भट्ट का व्याख्यान ठीक हो सकता है। विलक्षण वेग से दिनान्तर में कहाँ पर गति फलाभाव होता है, इस पर विचार करना चाहिए।

सूर्यसिद्धान्त की सुधावर्षिणी में टीका म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी ने इस पर बड़ी ही गवेषणापूर्ण उत्तम युक्ति भास्कराचार्य के समर्थन में दी है जो निम्न भाँति है—क्षेत्र देखिये

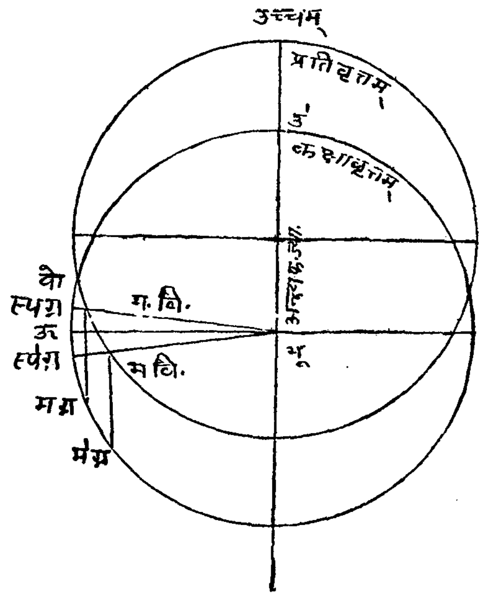

इस क्षेत्र में, अ=कक्षामध्यगतिर्यक् रेखा है। ∠अ भू स्पग्र = ∠अ भू स्पग्र' = मन्द-स्पष्ट केन्द्र गत्यर्धकला। स्पग्र=अद्यतन स्पष्ट ग्रह। स्पग्र'=श्वस्तन स्पष्ट ग्रह।

म विं=अद्यतन मध्य ग्रह प्रतिवृत्त में।

म ग्र=अद्यतन मध्य ग्रह कक्षावृत्त में।

म' विं=श्वस्तन मध्य ग्रह प्रतिवृत्त में।

म' ग्र=श्वस्तन मध्य ग्रह कक्षावृत्त में।

अ भू स्प=अद्यतन स्पष्ट केन्द्र $= ९० - \frac{\text{शी के ग}}{२}$।

अ भू स्प=श्वस्तन स्पष्ट केन्द्र $= ९० + \frac{\text{शी के ग}}{२}$।

यदि अन्त्यफलज्या $= \frac{\text{ज्या प्र स्प के} + \text{ज्या अं ज्या अं}}{\text{त्रि}} = \frac{}{\text{त्रि}}$ ज्या $\left(९० - \frac{\text{शी के ग}}{२}\right)$

$= \frac{\text{ज्या अं}}{\text{त्रि}}$ ज्या $\left(९० + \frac{\text{शी के ग}}{२}\right) = \frac{\text{ज्या अं}}{\text{त्रि}} \times$ कोज्या $\frac{\text{शी के ग}}{२}$। यतः, शीघ्र फल ९० से कम होता है और शीघ्र फलज्या की समता से अद्यतन और श्वस्तन शीघ्रफल तुल्य हैं। अतः कक्षा वृतीय स्प म ग्र चापके तुल्य स्प' म' ग्र है। इन दोनों में स्प' म ग्र चाप को घटा देने से स्प'ग्र स्पग्र चाप=म ग्र म' ग्र चाप। अतः एक दिनान्तर में स्पष्ट केन्द्र गति मध्यशीघ्र केन्द्र गति के तुल्य सिद्ध हुई।

कक्षा वृत्त में यो अ चाप=अन्त्यफलज्यार्धचाप। इसलिये मध्य केन्द्रगत्यर्धज्या को दो से गुणने पर यदि शीघ्रान्त्यफलज्या के तुल्य हो तो एक दिनान्तर में स्पष्ट ग्रहों के अन्तर के तुल्य दो वृत्तों के योग बिन्दु में ग्रह की गति मन्दस्पष्ट गति के तुल्य होगी, गोल गणित के विद्वान् इस पर बुद्धि से विचार करें।

जैसे १२० त्रिज्या में भौमादिक ग्रहों की स्वल्पान्तरित स्थिर शीघ्रफलान्त्य फलज्या भौ $= \frac{२३५}{३} = ७८$। बु $= \frac{१३३}{३} = ४४$। बृ. $= \frac{७०}{३} = २३।२०$ शु $= \frac{२६२}{३} = ८७।२०$।

श $= \frac{३९}{३} = १३$। इनके आधे अंशों का स्वल्पान्तरित चाप, भौ$=१९^\circ$। बु$=११^\circ$ बृ.$=६^\circ$। शु.$=२१^\circ$। श$=३^\circ$। ग्रहों के मध्यम शीघ्र केन्द्र गतियों का आधा एक अंश से कम है। केवल बुध का $१\frac{१}{२}$ अंश के आसन्न है। इसलिये वृत्तद्वययोग स्थान की अपेक्षा कक्षावृत्तकी मध्यगत तिर्यक् रेखा और प्रतिवृत्त के सम्पात के समीप ही ग्रहों की एक दिनान्तर रूप की स्पष्ट ग्रहों के अन्तर रूप की गति ही मध्यय गति के तुल्य होती है, यह निश्चय हुआ। इसलिये, कक्षावृत्त व प्रतिवृत्त के योग के एक देश में, ही "मध्यगति स्पष्टागति होती है"। अतः जिन खगोल गणितज्ञों का (कमलाकरभट्ट या लल्लाचार्य प्रभृतियों का) जो यह उक्त मत है, वह मत युक्ति शून्य है। (म. म. सुधाकर द्विवेदी के सूर्यसिद्धान्त की सुधावर्षिणो पृष्ठ ८२–८४ का अनुवाद)

इदानीं वक्रतासम्भवमाह—

द्राकेन्द्रभागैस्त्रिनृपैः १६३ शरेन्द्रै- १४५
स्तत्त्वेन्दुभिः १२५ पञ्चनृपै १६५ स्त्रिरुद्रैः ११३ ।
स्याद्वक्रता भूमिसुतादिकाना-
मवक्रता तद्रहितैश्च भांशैः ३६० ॥ ४१ ॥

यादृशे केन्द्रे गतिः पूर्णं भवति तादृशस्य केन्द्रस्य भागाः सुखार्थं पाठेन पठिताः। यतो वक्रारम्भे वक्रत्यागे च गतिः पूर्णं भवति। अतश्चक्राच्चुयतास्तेऽवक्रभागा भवन्तीत्युपपन्नम्। मार्गभागाः १९७।२१५।२३५।१९५।२१७।

मरीचिः—अथ कार्य विशेषे ग्रहवक्रत्वस्य संहितासु परित्यागोक्ते प्रागुक्ता स्पष्टा गतिरवश्यं साध्या। तत्सत्वासत्वज्ञानायेति गौरवाल्लाघवेनानल्पश्रमेण तत्सत्वासत्व ज्ञानमुपजातिकयाह—

दाक्केन्द्रभागौस्त्रिनृपैः शरेन्द्रै स्तत्वेन्दुभिः पञ्चनृपैस्त्रिरुद्रैः।
स्याद्वक्रता भूमिसुतादिकाना मवकता'तद्रहितैश्च भांशै''रिति॥

भौमादि शन्यन्तानां क्रमेणांतिमपरिवर्तशीघ्रकेन्द्रभागैः, त्रिषष्ट्यधिकशतमितैः पञ्चचत्वारिंशदधिकशतेन, पञ्चविंशत्यधिकशतेन, पञ्चषष्ट्यधिकशतैस्त्रयोधिकशतभागैः स्वैर्यदोत्पन्नै स्तदैव वक्रता, तत्कालादि वक्रता स्यात्। वक्रनिरास कालमाह—अवक्रतेति। तद्रहितैः भांशैः वक्रारम्भकालीनप्रोक्तद्राकेन्द्रांशोनषष्ट्यधिकशतत्रयभोगैः स्वैर्यदोत्पन्नैस्तदैव क्रमेण तेषामवक्रता। वक्रत्वपरिपूर्तिरग्रे पूर्वगमनेन मार्गत्वम्। सप्तनवत्यधिकशतैः पञ्चदशाधिकशतद्वयमितैः पञ्चत्रिंशदधिकशतद्वयमितैः सप्तचत्वारिंशदधिकशतमितैः क्रमेण तेषां मार्गारम्भइत्यर्थः। तथा च वक्रावक्रभागान्तर्गतशीघ्रकेन्द्रवक्रत्वम्। अवक्रवक्रभागान्तर्गतशीघ्रकेन्द्रमार्गत्वमिति लघुभूतेन गतिसाधनं विना ज्ञानम्भवति इति भावः।

अत्रोपपत्तिः—यदा स्पष्टकेन्द्रगतिरुच्चगतितुल्या तदा वक्रारम्भस्तन्निवृत्तिर्वा भवति इति प्रागुक्तम्। तत्र द्वितीयपदे वक्रगत्यारम्भस्योक्ते यत् फलकोटिज्यातस्तत्कर्णात, उक्तरीत्या शीघ्रोच्चगतितुल्या स्पष्टकेन्द्रगतिर्भवति। तत्सम्बन्धि शीघ्रकेन्द्रांशाः वक्रारम्भे तृतीयपदे तन्निवृत्त्यंशाः। तत्र यद्यपि मध्यमशीघ्रगतिमन्दस्पष्टगतिवैलक्षण्येन विलक्षणाद्वक्रारभे तन्निवृत्तौ च शीघ्रकेन्द्रांशानामनियतत्वात्तन्नियतोक्तिनिबन्धनमनुचितमेव। तथापि शिष्यसौकर्यार्थं वक्रतान्निवृत्यासन्नत्वेन च मध्यमग्रहगत्यूनशीघ्रोच्चगतिरूपस्थलमध्यमशीघ्रकेन्द्रगतेर्नियतत्वकल्पनेन नियतांशनिबंधनमुक्तम्। तच्चोक्तरीत्या भौमस्य पञ्चाशत्कलाधिकद्विषष्ट्यधिकशतभागपंचपञ्चाशत्काधिकतद्भागयोर्मध्ये भवति। तत्र लाघवादेकांकोक्त्यर्थं त्रिनृपैरित्युक्तम्। उभयथाऽवास्तवत्वात्। एवं बुधस्य किञ्चित्कलाधिकपञ्चचत्वारिंशदधिकशतभागेषु भवत्यपि पूर्णा एव ते गृहीताः।

एवमन्येषामप्यासन्ना भागा एवोक्ताः। न च कृततुचन्द्रैर्वेदेन्द्रैः शून्यत्र्येके, गुणाष्टिभिः शररुद्रैश्चतुर्थेषु केन्द्रांशैर्भूसुतादय, इति सूर्योक्तेन विरोध इति वाच्यम्। विष्णुधर्मोत्तरांतर्गतब्रह्मसिद्धांतानुसरणात्। तथा च तदुक्तम्।

अथ भौमादीनां वक्रकेन्द्राणि राश्यादीनि। पञ्चविश्वे, वेदाः पंचयमाः, वेदाः पंच। पंचपंचदस्रा त्रयस्त्रिदस्रा इति। अतएव अग्न्यष्टिभिरिषुमनुभिः शरसूर्यै रिषुरसेन्दुभिस्त्रिभवैः। शीघ्रांत्यकेन्द्रभागैर्भौमादीनां भवति वक्रमिति ब्रह्मगुप्तोक्तं युक्तम्। भगणपरिवर्त्ते भावाभावयोर्द्विवारं संभवात्पुनस्तादृशीकेन्द्र गतिर्यदा भवति तदा तन्निवृत्तिः। तत्र यद्भुजांशेषु तादृशी गतिर्जातेति तदा द्वितीयपदे तद्भुजांशेषु तादृशगतिरवश्यं भवति। अतो द्वितीयपदे वक्रभागोनषड्भांशानां भुजांशत्वात्तदधिकषड्राशौ तृतीयपदे तत्तुल्या एव भुजांशादिनियमाद्वक्रांशोन-भगणांश ३६० मित केन्द्रभागै स्तन्निवृतिरिति प्रत्यक्षं छेद्यके भवति। "वक्रिण-स्तैस्तु स्वै स्वैश्चक्राद्विशोधितैः। अवशिष्टांशतुल्यैः स्वैः केन्द्रे रुज्झन्तिवक्रता" मिति-सूर्यसिद्धान्तोक्तेरिति स्यादेतत्। स्वकक्षावृते पूर्वाभिमुखं गछन् ग्रहः प्रत्यहं कथं कदाचित्परावृत्य पश्चिमाभिमुखं गच्छतीति चेत्तस्य पूर्वायते गणितमार्गेण प्रत्यक्ष सत्वेऽपि तदधिष्ठानवृत्ते, उपपत्त्या, प्रत्ययादिति चेत्, उच्चतो-मन्दोच्चगतितो ग्रह-गतेरधिकत्वान्मन्दप्रतिवृत्ते मन्दोच्चस्थानात्केन्द्रगत्यनुरुद्धकेन्द्रांतरेण ग्रहः पूर्वतो-भवति। एवं शीघ्रोच्चगते ग्रहगत्यधिकत्वाच्छीघ्रप्रतिवृत्ते शीघ्रोच्चस्थानात्केन्द्र-गत्यनुरुद्धकेन्द्रांतरेण पूर्वतश्चलन्नपिपश्चाद्भवति। तथा च तत्र प्रतिवृतप्रथम-पदे धनफलस्योपचयत्वेन केन्द्रगत्या पश्चिमाभिमुखं चलन्नप्युत्तरोत्तरं कक्षावृत्ते प्रागधिष्ठितस्पष्टस्थानादुत्तरत्रराश्यंशांकितमार्गेऽग्रत एव स्पष्टस्थानं भवति। एवं यदा धनफलस्यापचयस्तदा प्रतिवृतद्वितीयपदे पश्चाद्गच्छन्ग्रह उत्तरोत्तरं कक्षावृत्ते स्वल्पफलेनाग्रतो नीयते तत्र पूर्वदिनीयकक्षावृत्ताधिष्ठितस्पष्टस्थानादग्रिमदिनीय-स्पष्टस्थानं पश्चिमतः संभवति तदा नीचासन्न एव ग्रहो भवति। अतएव ग्रहस्य वक्रत्वे नीचाधिष्ठनता सुस्था। अन्यथा केन्द्रगत्या ग्रहस्य पश्चिमगत्वेऽपि नीचा-श्रयतानुत्पत्तेः। एवं तृतीयपदे फलस्योपचयत्वेन ऋणत्वेन चोत्तरोत्तरं पश्चादा-नीयते इति यथा फलाल्पत्वं तथा कदाचित्पूर्वरीत्या वक्रत्वं भवतीति; फलाल्पत्वं तु नीचासन्नत्वे इति वक्रत्वेऽवश्यं नीचासन्नता। अतएव तत्र फलबाहुल्ये न कदा-चिन्मार्गगत्युत्पत्तिः। चतुर्थपदे तु ऋणफलस्यापचयत्वेनोत्तरोत्तरं न्यूनपश्चिमाप-कर्षणेन सर्वथा प्राक्कालीनकक्षास्पष्टस्थानादुत्तरकालीनस्पष्टस्थानं पूर्वत इत्यत एवो-च्चासन्नतापीत्यादि प्रतिपादित प्रायं चल प्रतिवृत्ते प्रत्यक्षम्। अतएव

दूरस्थितः स्वशीघ्रोच्चाद्ग्रहः शिथिलरश्मिभिः।
सव्येतराकृष्टतनुर्भवेद्वक्रगतिर्ग्रहः[1]।
महत्वाच्छीघ्रपरिधेः सप्तमे भृगुभूसुतौ।
अष्टमे जीवशशिजौ नवमे तु शनैश्वरः॥

[1] साम्प्रतिकोपलब्धसूर्यसिद्धान्तेऽयं पाठः भवेद्वक्रगतिस्तदा,।

इति सूर्य सिद्धान्तोक्तं संगच्छते। सूर्यचन्द्रयोस्तु शीघ्रोच्चाभावादुक्तरीत्याभावाच्च न वक्रगति संभवः। अतएव गुरुतमाः —श्री विष्णुदैवज्ञाः—

वक्रं प्रयातौ न हि पुष्यवंतौ वक्रादयो चक्रमपि प्रयांति। शीघ्रोच्चवंतो ननु युक्त मेतद्दक्षिप्रहीनः कुटिलत्वमेतीति। अत्र क्षिप्रं शीघ्रोच्चाभावः, न मंदोच्चमिति ध्येयम्। केचित्तु वक्रतानाम पूर्वगच्छन्ग्रहः स्वकक्षायां देशविशेषे-प्रागतिं विस्मृत्य वायुना प्रत्यन्निनीयमानोऽपि प्रत्यहं स्वयमपि कियदपि प्रत्यगेव गन्तुं प्रवर्तते। तच्च शीघ्रनीचोचासन्ने नाऽन्यत्र। अतस्तत्र करणोपन्यासः—

प्रथमं ग्रहः किमिति प्राग्गत्तिं परिहाय प्रत्यग्गन्तुं प्रवर्तत इत्यत्र तु धनुर्जीवाव्यवहारोपहितकक्षावृत्तप्रदेशे विशेषे स्वशक्त्या पूर्वगत्या भ्रमन् ग्रहश्चलोच्चाकृष्टस्तूर्द्धगतिवेगेन स्वशक्त्यूच्चाकर्षणोपजातेन व्रजति। तत्र च सहकारिस्वोच्चाकर्षणजनितवेगनिमित्तकस्वशक्त्यातिशयेनोच्चपदं प्राप्य ततोप्युच्चतरपदलिप्सया सहर्ष इव प्रभञ्जनात् क्षिप्तोऽपि स्वगतिं न जहाति। यतो न कोप्युच्चं पदमासाद्य विपर्यस्तगतिर्भवति। ततः कियताऽपि कालेन परिभ्रमेणैवोच्चासनतां परिहाय नीचेनापकृष्टसन्नुच्चप्रदेशान्निसृत्य नीचेनागच्छति तदा नीचस्यापकर्षकत्वेनप्रतिकूलतया सहकार्यसत्वेन स्वपदपरिभ्रंशादसंतुष्ट इव वेगाभावेनातिक्रामितशक्तिर्ग्रहः प्रबलेन मरुता पूर्वत्र जिगमिषुरपि गन्तुं न दीयते प्रत्यगेव नीयते। ततः प्रवलाल्पवलयोरुभयोरप्युभयत्राकर्षणादवलान्निगृहीत इव गच्छन्नक्रोऽप्यल्प गतिश्च भवति। यतो नीचभावमुपगतस्य कुतः सामर्थ्यातिशयः। प्रतिकूलमरुन्निरुद्ध इव नीचसानिध्येन कियत्कालमपि स्ववृत्तिं विस्मृतो यावत्तदुच्चप्रदेशं परित्यजति तावत्कथंचिदपि महतायासेन प्राप्तमप्यग्र्यं पदं नीचसंसर्गेण स्वाचारपरिभ्रष्ट इति मरुता वागेवे निष्कासितो भोक्तुं न शक्नोति। अत एव प्राक्स्थानादपरत्रैव भवति। नन्वेवमवेगित्वेऽपि वायुवशेन कथमपरत्रापसृतिरिति चेत्, न यथाकुतश्चित् स्थानादत्त्यूच्चमूर्ध्वं प्रेरितो वाणो मौर्व्युच्छलन् संजायमानप्रवलतरवेगेनोदिष्टस्थानानुरोधेनैव गच्छति। ततः प्रयातावसरे तथाविधवेगाभावेन संधानस्थानापेक्षया वाताद्याभिघातेनान्यत्र यततीतिवत्प्रकृतेऽपीति न क्षतिः। तद्वाक्यं च–तुंगं कार्मुकमौर्विकेरितशरो गत्वा निवृतो यथा प्राक्स्थानादपरत्र वायुवशतो गच्छत्यवेगस्तथा। कक्षावृत्तधनुर्गुणेरितराख्यवेगवतस्तच्चलोच्चं गतो नीचं याति यदा परगतिर्वक्री स एवोच्यते। कक्षातश्च्युतखगा इव नीचसंगात्पूर्वात्ममार्गमपहाय चरन्ति वक्रम्। चेदित्यहोऽत्र पृथुविंवविलोकतां किं सर्वोऽपि रूपमाविरलं विपदस्य पश्येदितिवदित्याहुः ॥४१॥

दीपिका—ग्रहस्य मार्गारम्भे वक्रारम्भे च स्पष्टागतिः, शून्यसमा, ("नहि प्रवृत्तस्य निर्वृत्ति विनाऽन्यस्य प्रवृत्तिरिति न्यायात्") तच्च यदा फलांशखाङ्कान्तरशिञ्जिनीघ्नीत्यादिना साधितं शीघ्रफलमुच्चगतेः समं तदैवाऽथवा, यदा शीघ्रगतिफलं शीघ्रकेन्द्रगतिसममथवा, यदा कर्णः फलकोटिज्यासमस्तदेवेत्यपि वक्तुं शक्यते। तथोच्चस्थाने फ. को=०, क=त्रि। द्वितीय पदे फलकोटिज्याया उपचयः, कर्णस्यापचयः। तदन्ते फ को=त्रि। क=त्रि—अं फ.। अतो नीचासन्ने कुत्रचिद्बिन्दौ फ को=क। इत्थं

भवितुमर्हति । एवं नीचादग्रे तृतीयपदेऽपि फलकोटिज्यायाः कर्णस्यापचयोपचयवशा त्कुत्रचिद्बिन्दौ, फ को=क । तच्च नीचादुभयतस्समे ऽन्तरेऽतः प्रथमं वक्रारम्भस्थानम् । द्वितीयं मार्गारम्भस्थानम् । तथाऽनयोरन्यतमस्य ज्ञानादन्यस्य ज्ञानं सुबोधम् । यया शीघ्र-केन्द्रकोटिज्ययेत्थं स्यात्तत्कोटिज्या प्रमाणं=या, ततो द्वितीयपदे शीक^2=त्रि^{2}+अं^{2}+२ अं. या । शीघ्रनीच्चोच्चवृत्तभङ्ग्या, शीघ्रफलकोटिज्या=$\frac{\text{त्रि}^2 - \text{अं या}}{\text{शी क}}$ । फलांश खाङ्कान्तरशिञ्जिनीघ्नीत्यादिना शी. ग. फ = उ ग = $\frac{(\text{त्रि}^2 - \text{अं या})\ \text{के ग}}{\text{शी क}^2}$

$$= \frac{(\text{त्रि}^2 - \text{अं या})\ \text{के ग}}{\text{त्रि}^2 + \text{अ}^2 - \text{२ अं. या}} \text{ ।}$$

यतः उ ग त्रि^{2}+उ ग. अं^{2}—२ अं. या. उ ग=के ग. त्रि^{2}—अं के ग. या ।

अतः, या. अं (२ उ ग—के ग)=त्रि^{2} (उ ग—के ग)+उ ग$\times$अ^2 ।

$$\text{या} = \frac{\text{त्रि}^2\ (\text{उ ग} - \text{के ग}) + \text{उ ग. अ}^2}{\text{अं}\ (\text{२ उ ग} - \text{के ग})} = \frac{\text{त्रि}^2\ \text{म ग} + \text{उ ग अ}^2}{\text{अं}\ (\text{उ ग} + \text{म ग})} \text{ ।}$$

एतेन "त्रिज्या कृतिः खचरमध्यभुक्तिनिघ्नी"ति म० म० पं० बापूदेवोक्तं वक्रारम्भ-शीघ्रकेद्रांशानयनमुपपन्नम् । वक्रारम्भकेन्द्रांशाः भगणात्पतितास्तृतीयपदस्थे तावति केन्द्रे तदेव गतिफलमतः पुनः स्पष्टगतेरधिकाद्वक्रत्यागइति सर्वं निरवद्यम् ।

शिखा—ग्रह के, वक्रारम्भ कालीन और वक्रत्याग कालीन शीघ्रांशों को आचार्य ने पढ़ा है। मंगल का जिस समय १६३°, बुध का १४५° वृहस्पति का १२५° शुक्र का १६५° और शनि का ११३° अंश शीघ्रकेन्द्रांश होता है, उस समय ये ग्रह वक्र होते हैं। और ३६०—१६३°=१९७° शीघ्रकेन्द्रांश में मंगलादिक मार्गी होते हैं। यहाँ पर सुविधावर्षिणीकार की विवेचना दीपिका में कथित संशोधक के प्रकारानुसार—निम्न भांति समझनी चाहिए।

१२० व्यासार्ध में मंगल की शीघ्रान्त्यफल ज्या=७८, मध्यगति=३१ । उच्च गति=५९ । अतः केन्द्रगति=५९—३१=२८

त्रि^{2}=(१२०)^2=१४४००
अन्त्यफलज्या का वर्ग=अं^{2} = = ६०८४
त्रि^{2}+अ^2 =२०४८४
उ ग^2 = ३४८१

२०४८४
१६३८७२
८१९३६
६१४५२

उ ग^2 (त्रि^{2}+अ^2)=७१३०४८०४
—त्रि^{2} के ग^2 ११२८९६००
=६००१५२०४

उ ग² = ३४८१
२ अं = १५६

२०८८६
१७४०५
३४८१

५४३०३६ = २ अं × उ ग

$$\text{अतः, } \frac{\text{उ ग}^2(\text{त्रि}+\text{अ}^2)-\text{त्रि}^2 \text{ के ग}^2}{\text{२ अं}\times\text{उ ग}} = \frac{\text{६००१५२०४}}{\text{५४३०३६}} = \text{१११ स्वल्पान्तर से।}$$

इसका चाप = ६८ द्वितीय पद में वक्रारम्भ होता है इसलिये (९०° + ६८°) = १५८°, यह मंगल का वक्रारम्भ का शीघ्र केंद्रांश हुआ। यहाँ पर त्रिज्या शब्द का अर्थ नृसिंह दैवज्ञ और रंगनाथ गणक ने फलकोटिज्या कहा है, जो सौरसिद्धान्त के मत से ठीक है। कमलाकर भट्ट ने त्रिज्या शब्द का फलकोटिज्या अर्थ मानने में आपत्ति की है, जो व्यर्थ है। स्पष्ट केन्द्रगति साधन से विपरीत प्रकार से वक्रकेन्द्रांश साधन के लिये सुधाकर द्विवेदी की सूर्य सिद्धान्त की सुधावर्षिणी देखनी चाहिए। सौर मत में और ब्रह्म गुप्त में वक्रारम्भ केन्द्रांशों में अन्तर है वह इसलिये कि अन्त्यफलज्याओं के मानों में कुछ भेद होने से ही यह अन्तर होता है।

सौर मत से भौमादिक वक्र केन्द्रांश = १६४°।१४४°।१३०°।१६३°।११५°
ब्रह्म सिद्धान्त या भास्कराचार्य के मत से १६३°।१४५°।१२५°।१६५°।११३°

एवं

सौरमत से मार्गारम्भ केन्द्रांश १९६°।२१६°।२३०°।१९७°।२४५°।
भास्कर या ब्रह्म गुप्तांचार्य मत से १९७।२१५।२३५।१९५।२४७°।

आधुनिक वेध परम्परा से भी उक्त प्राचीन मत के आस पास ही प्रायः वक्र और मार्ग के केन्द्रांश आते हैं।

इदानीमुदयास्तसम्भवमाह।

प्राच्यामुदेति क्षितिजोऽष्टदस्त्रैः २८
शक्रै १४ गुरुः सप्तकुभिश्च १७ मन्दः।
स्वस्वोदयांशोनितचक्रभागै-३३२।३४६।३४३
स्त्रयो व्रजन्त्यस्तमयं प्रतीच्याम् ॥४२॥
खाद्रै ५० जिनै २४ र्ज्ञसितयोरुदयः प्रतीच्या-
मस्तश्च पञ्चतिथिभि १५५ र्मुनिसप्तभूभिः १७७।
प्रागुद्गमः शरनखै २०५ स्त्रिधृतिप्रमाणै- १८३
रस्तश्च तत्र दशवह्निभि ३१० रङ्गदेवैः ३३६ ॥४३॥

अवक्रवक्रास्तमयोदयोक्त-
भागाधिकोनाः कलिका विभक्ताः ।
द्राक्केन्द्रभुक्त्याप्तदिनैर्गतैष्यै-
रवक्रवक्रास्तमयोदयाः स्युः ॥४४॥

स्पष्टार्थमिदम् ।

अत्रोपपत्तिः ; उदयास्तमयाध्याये ये कालांशाः पठिताः स्फुटार्कात् स्फुट-ग्रहे तैरन्तरिते उदयोऽस्तमयो वा भवति । इह तु मध्यमार्कात् स्थूलस्फुटे ग्रहे तावद्भिः क्षेत्रांशैरन्तरिते य उदयोऽस्तमयो वा स्थूलः स कथ्यते । इह यच्छीघ्रकेन्द्रं तन्मन्दस्फुटस्य मध्यरवेश्चान्तरम् । यथा क्षितिजस्याष्टदस्राः २८ । एभिः केन्द्र-भागैर्यावद्भौमस्य फलमानीयते तावदेकादशभागाः ११ भवन्ति । तैरधिको मन्दस्फुटो यावदर्काच्छोध्यते तावत् सप्तदशभागान्तरितो भवति । सप्तदश हि तस्य कलांशाः, अतस्तावति केन्द्र उदयः । एभिः केन्द्रभागैश्चक्राच्च्युतैः पश्चिमदिशि तावदेव भौमार्कयोरन्तरं स्यात् । अतस्तत्रास्तमयः । एवं यदा गुरोश्चतुर्दशभागाः १४ केन्द्रम् । तस्मात् केन्द्राद्भागत्रयं फलम् । तदधिकस्य गुरोरर्कस्य चान्तरमेकादश भागाः । एवं मन्दस्यापि स्फुटस्यार्केण सहान्तरं पञ्चदश कालांशाः १५ । एवमनयोर्भौमवच्चक्राच्छुद्धैरस्तमयः । बुधशुक्रयोस्तु खाब्धै ५० जिनैः २४ केन्द्रांशैर्विश्वरुद्रमिताः कालांशा उत्पद्यन्ते । तैर्भागैरधिकौ तौ तैरेव भागै रवेरग्रतः स्याताम् । यतो य एव मध्यो रविस्तावेव ज्ञशुक्रौ । अतः कालांशान्तरितयोरुदयः । एवं तयोर्ये उदयास्तभागाः पठितास्तैस्तैः कालां-शैस्तुल्यमेव फलं भवति । अवक्रवक्रोदयास्तभागेभ्य ऊनाधिकाः कला द्राक्केन्द्र-भुक्त्या हृता गतैष्यदिनानि भवन्तीति त्रैराशिकेनोपपन्नम् ।

मरीचिः—अथ संहितासु ग्रहणमस्तपरित्यागोक्ते प्रसंगेन शीघ्रकेन्द्रादेव तेषामुदयास्तज्ञानमुपजातिकासिंहोद्धताभ्यामाह—

"प्राच्यामुदेति क्षितिजोऽष्टदस्रैः शक्रैर्गुरुः सप्तकुभिश्च मन्दः ।
स्वस्वोदयांशोनितचक्रभागैस्त्रयो व्रजंत्यस्तमयं प्रतीच्याम् ॥
खाब्धैर्जिनैर्ज्ञसितयोरुदयः प्रतीच्यामस्तश्च पंचतिथिभिर्मुनिसप्तभूभिः ।
प्रागुद्गमः शरनखैस्त्रिधृतिप्रमाणैरस्तश्च तत्र दशवह्निभिरंगदेवैरि"ति ॥

अष्टाविंशतिशीघ्रकेन्द्रभागैः पूर्वस्मिन् भौम उदेति । उदयं-दर्शन योग्यतां गच्छति । बृहस्पतिः चतुर्दशभागैः प्राच्यामुदेति । शनैश्चरः प्राच्यां सप्तदश-भागै रुदेति । अस्तज्ञानमाह—स्वेति-निजनिजोदयसम्बन्धिशीघ्रकेन्द्रांशोनषष्ट्य-धिकशतत्रयभागैः शीघ्रकेन्द्रांशैः द्वात्रिंशदधिकशतत्रयांशैः, षट्चत्वारिंशदधिकशत-त्रयांशैः । त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयांशैः क्रमेणेत्यर्थः । त्रयः- भौमगुरुश्नैश्चरः-पश्चिमदिशि अस्तमयं दर्शनायोग्यतां व्रजन्ति, गच्छन्ति । तथा च स्वोदयास्तांश-

मध्ये शीघ्रे केन्द्रे, उदयः, अस्तोदयांशमध्येऽस्त इत्यर्थः। एषां पूर्वास्तपश्चिमोदययोरभाव इत्यर्थ सिद्धम्।

अथ बुधशुक्रयोरुदयास्तज्ञानमाह—रवाद्यैरिति-बुधशुक्रयोः क्रमेण पंचाशदंशैश्चतुर्विंशत्यंशैः शीघ्रकेन्द्रांशैः पश्चिमदिशि उदयः। पञ्चपञ्चाशतभागैः, सप्तसप्तत्यधिकशतांशैः क्रमेण, तयोरस्तश्चकारात्पश्चिमदिशि। पूर्वदिश्याह—प्रागुद्गम इति। पञ्चाधिकद्विशत्यंशैः, सप्तदशोनद्विशत्यंशै स्तयोः क्रमेण प्रागुद्गमः पूर्वोदयः। दशाधिकत्रिशतांशैः, षट्त्रिंशद्युतशतत्रयांशैः क्रमेण तयोस्तत्र प्राच्यामस्तश्चकारः समुच्चये।

अत्रोपपत्तिः—रवेःसमसूत्रस्थः, ग्रहो यदा भवति तदा परमास्तः। तदाद्यन्तौ सूर्यात्कालाशांतरितग्रहे भवेदिति।

सूर्यादभ्यधिका पश्चादस्तं जीवकुजार्कजाः।
ऊनाः प्रागुदयं यान्ति शुक्रज्ञौ वक्रिणौ तथा॥
ऊनाःविवस्वतः प्राच्यामस्तं चन्द्रज्ञभार्गवाः।
व्रजन्त्यभ्यधिकाः पश्चादुदयं शीघ्रयायिनः॥

इति सूर्यसिद्धान्तोक्तेन, भौमगुरुशनीनां स्वशीघ्रोच्चरूपसूर्यगतितः सर्वदा न्यूनगतित्वसम्भवात् सूर्यादूनाः पूर्वोदयं गच्छन्ति। अधिकाः—पश्चादस्तं यान्ति। सूर्यस्य शीघ्रत्वेन तत्कृतावियुतियुत्योः स्पष्टत्वात् वक्रगतिग्रहस्यापि सूर्यादूनाधिकत्वे प्रागुदयपश्चिमास्तौ। उभय कृतत्वात्। तत्र भौमगुरुशनीनां सूर्यासन्नत्वे शीघ्रोच्चासन्नत्वेन वक्रगत्यसंभवाद्बुधशुक्रयोस्तु, सूर्यासन्नत्वे कदाचिद्वक्रगतिसंभवादुक्तरीत्या पश्चिमास्तपूर्वोदयौ भवतः। सूर्याच्छीघ्रगतिग्रहस्य न्यूनत्वेऽधिकत्वे, पूर्वास्तपश्चिमोदयौ विपरीतत्वात्। अत एव भौमगुरुशनीनां सूर्याच्छीघ्रगत्यभावे नैतयोरभावः। चन्द्रस्य तु सर्वदा तच्छीघ्रगत्वेन पूर्वास्तपश्चिमोदयावेव। बुधशुक्रयोस्तु यदा सूर्यगत्यधिकगतिसम्भवस्तदा सूर्यासन्नत्वेनैतयोः संभव इति संक्षेपः। उदयास्ताधिकारेविस्तीर्य सम्यग् वक्ष्यामः। तथा च सूर्यात्कालांशांतरितग्रहे सत्युदयास्तयोरारम्भस्तत्र भौमगुरुशनीनां स्पष्टानां स्पष्टसूर्यात्तदंशान्तरेण न्यूनत्वे पूर्वोदयः। अधिकत्वे पश्चिमास्तः। एवं बुधशुक्रयोः वक्रत्वे ऽप्यन्यत्र तु तयो न्यूनत्वे पूर्वास्तः, अधिकत्वे पश्चिमोदय इति स्थितिस्तत्र पञ्चतारास्पष्टक्रियायां केन्द्रान्मध्यमसूर्यस्यावश्यं ज्ञानाल्लाघवेन मध्यमसूर्यात्कालांशान्तरिते स्पष्टग्रहे उदयास्तौ भवत इत्यंगीकृतम्। सूर्यमन्दफलस्य स्वल्पत्वेन वास्तवासन्नत्वान्मध्यमग्रहस्यापि ग्रहे बह्वन्तरत्वावास्तवत्वापत्तेः। सूक्ष्म तद्ज्ञाने द्वयोः स्पष्टत्वावश्यकत्वाच्च। तत्र यदा भौमगुरुशनयो मन्दस्पष्टा सूर्यान्न्यूनास्तदा शीघ्रकेन्द्रस्य मेषादित्वाच्छीघ्रफलं धनं तेन युताः स्पष्टा ऽपि सूर्यात्तदंशान्तरेण न्यूनाऽपेक्षिता उदये। तस्मान्मेषादिशीघ्रकेन्द्रे यत्केन्द्राच्छीघ्रफलं तत् केन्द्रहीनं कालांशाः भवंति। तत्केन्द्रे उदय सम्भावना

तेषां, तत्तूक्तक्रमेणाष्टाविंशतिः, चतुर्दश-सप्तदश-भागमितासन्नाऽतो लाघवदेकत्र केन्द्रांकग्रहार्थमुभयतो वास्तवत्वेन चाष्टाविंशति-चतुर्दश-सप्तदशभागमितं केन्द्रं युक्तं पूर्वैरंगीकृतत्वाच्च। यथा—भौमकेन्द्र-०।२८ भुजज्या ५६।१२ स्पष्टपरिधिः, २३९।१४ अन्त्यफलज्या ७९।४५ कोटिज्या* १०५।२८ कर्णः १९३।५२।२८ शीघ्रफलज्या २३।७।४ शीघ्रफलांशाः ११।३।३२ एतद्दून केन्द्र-०।१६।५६।२८। मिदमेव स्पष्टभौममध्यसूर्ययोरन्तरं सप्तदश कालांशासन्नम्। एवं मन्दस्पष्टादूनेऽर्के केन्द्रस्थ तुलादित्वाद्यत्केन्द्राच्छीघ्रफलकेन्द्रयुतं कालाशाः भवन्ति तत्केन्द्रेऽऽस्त सम्भावना। तत्रोदयकेन्द्रोनद्वादशराशिमितमेव भुजसमत्वेन फल तुल्यत्वात्तुलादिकेन्द्रत्वाच्च। अत एव उदयकेन्द्राशाः, भगणांशशुद्धा अस्तकेन्द्रांशा भवन्ति। यथा गुरुशीघ्रकेन्द्रम् १४। अस्मादुक्तरीत्त्याफल-२।१२।३४। मनेनोनकेन्द्रम् ११।४८† २६। इदमेकादशकालांशासन्नं स्पष्टसूर्यग्रहे कदाचित्सम्भवान्तगतत्वात्। एवं शनेः केन्द्रम् ०।१७ अस्मात्फलमनेन-१।४०।३६ हीनं केन्द्रम्-१५।१९।२४ पञ्चदशकालांशासन्नं स्पष्टार्कग्रहणेन न क्षतिः। एवं बुधशुक्रयोर्मध्ययोर्मध्यमसूर्यतुल्यत्वात् स्पष्टबुधशुक्राभ्यां मध्यमसूर्यस्य मन्दफलशीघ्रफलसंस्कारमित स्वकालांशान्तरं भवति। तदा वास्तवासन्नम्। एतस्याशक्यत्वाद्गौरवाच्चोभयतो वास्तवत्वाच्च केवलं शीघ्रफलसंस्कृतावेव स्पष्टौ गृहीतौ बुधशुक्रौ। मंदफलस्याल्पत्वेनाल्पांतरत्वान्न क्षतिः। तथा बुधशुक्रयोः यत्केन्द्रफलं शीघ्रंकालांशमितं भवति तदेव मध्यमसूर्यशीघ्रफलसंस्कृतमध्यमबुधशुक्रान्तरं स्वकालांशमितं भवति। तत्र मेषादिकेन्द्रे फलस्य धनत्वात् बुधशुकौ सूर्यादधिकावेव। वक्रे पश्चिमोदयं गच्छतः। तत्तु केन्द्रं तयोः पञ्चाशच्चतुर्विंशद्भागासन्नमिति पूर्णमेव गृहीतं स्थूलत्वात्। यथा बुधकेन्द्रं १।२० भुजज्या ९२, कोटिज्या ७७, कर्णः १५२, फलांशाः १२।४८।५६ त्रयोदशकालांशासन्ना इति सम्भवान्तर्गतत्वाच्छुककेन्द्रं ०।२४ अस्मात्फलम् ९।५५।।४९ दशकालांशा सर्वत्र तुलादिकेन्द्रे ऽवक्रत्वे तदंशान्तरेण न्यूनावेव पूर्वास्तं गच्छत्त इत्येतत्केन्द्रांशाश्चक्राच्छुद्धाऽस्तकेन्द्रांशाः भवन्ति। अत उक्त मस्तश्च तत्र दशवह्निभि रंगवेदैरिति। वक्रत्वे तु तदंशान्तरेणाधिके पश्चिमास्ताः। तत्तु वक्रकेन्द्रे मेषादिकेन्द्रे इत्येतन्मिता-१५५।१७७ सन्ने। यथाकेन्द्रम् ५।५ अस्मात्फलांशाः १३।३।४५ कालांशसमाः। न च बुधस्य वक्रत्वे, उक्त केन्द्रांशेभ्यः कालांशरूपफलमागतं तथा शुक्रकेन्द्रांशेभ्य उक्तेभ्यः कालांशमित फलं नाऽऽयातीति कथमेते उक्ताः १७७ तथाहि—केन्द्रम् ५।२७ अस्मात्फलांशाः ७।३७।४ एते दशभि र्बह्वन्तरित इति वाच्यम्। वक्रत्वेद्विहीनपूर्वोक्ताशांनां कालांशत्वादष्टकालांशासन्नफलत्वे न तत्केन्द्रस्य युक्तत्वात्। नचैवं पश्चादस्तमयोष्टाभिरुदयः, प्राङ्महत्तया। प्रागस्तमुदयः, पश्चादस्तत्वाद्दशभिर्भृगोः। एवं बुधो द्वादशभिश्चतुर्दशभिरंशकैः। बुधशुक्रयोरेकरीतित्वाद्बुधस्यापि द्वादशासन्नफलं ग्राह्यमिति वाच्यम्। बुधस्य तदाऽदृश्यत्वेनानीत-

* अत्र १०५।२८ इत्यस्य स्थाने १४।७।२८ इत्येवं भाव्यम्।

† ४७ इत्यायाति। ४८ अयं पाठो न युक्त इति।

फलस्य तुल्यांतरेण कालांशयोरन्तर्गतत्वान्न क्षतिः। एवं वक्रत्वे तदंशान्तरेण-न्यूनत्वे पूर्वोदय इति। तुलादिकेन्द्रे पश्चिमास्तकेन्द्रांशोनभगणांशाः केन्द्रं भवति। अत उक्तं, प्रागुद्गमः शरनखैस्त्रिधृति प्रमाणैरिति। तथा च विष्णुधर्मोत्तरान्तर्गतब्रह्मसिद्धान्ते—अथ पूर्वोदयकेन्द्राणि खमष्टयमाः। षट्पंचविंशतिः। खम्-नवः षड्गुणाः। खसप्तदशाः। अथ पश्चार्धास्तमयकेन्द्राणि। एकादशद्वौ। पंच-पंच एकादश। षोडष। पञ्चविंशतिः। एकादश-त्रयोदशाः।

अथबुध शुक्रयोः पूर्वार्धास्तमयकेन्द्रे। दशदशाः। एकादश-षट्। अथ तयोःपश्चार्द्धोदय केन्द्रे भुवो नखाः। खं जिना इति। अत एव ब्रह्मगुप्तोऽपि—अष्ट-यमैः कृतचन्द्रैः, मुनींदुभिः। भौमजीवरविजानामुदयः प्रागस्तमयस्तदूनचक्रांशकैः पश्चात्। खशैर्जिनै ज्ञसितयो रिषुतिथिभि मुनिनगेन्दुभिः पश्चादुदयास्तमयौ व्यस्तौ मण्डलभागै स्तदूनैः प्रागिति। चन्द्रस्य तु द्वादशांशमित कालांशत्वेन सूर्यचन्द्रयो र्द्वादश भागान्तरेण तौ भवत इत्यमादौ प्रतिपदंतेऽस्त उदयः सुलभ इति तत्संभवोऽनुक्त इति ध्येयम्।

वस्तुतः सम्भावनया व्यभिचारापत्तिभियोदयास्तौ निर्णेतुमशक्याविति। अत एवाचार्यैः सूक्ष्मज्ञानार्थमुदयास्ताधिकार—अग्रे उक्त ग्रहणसम्भूत्यधिकारवदत्रोदयास्तसम्भूतिरुक्तेति न क्षतिः ॥४३॥

ननूक्तमितकेन्द्र तत्सम्भवस्तदासन्नकेन्द्रे उदयास्तवक्रमार्गारम्भः कथं ज्ञेय इत्युपजातिकया-आह—

अवक्रवक्रास्तमोदयोक्तभागाधिकोनाः कलिका विभक्ताः।
द्राक्केन्द्रभुक्त्याप्तदिनैर्गतैष्यैरवक्रवक्रास्तमयोदया स्युरि"ति ॥४४॥

कलिकाः, अन्तिमशीघ्रकेन्द्रस्य राश्यादिकस्य कलाः। अवक्रवक्रास्तमयो-दयोक्तभागाधिकोनाः, पूर्वोक्त तत्तद्ग्रहकलाभ्यो याभिःकलाभिरधिकोनाः अधिका-ऊना वा भवन्ति तात्कालिका इत्यर्थः। द्राक्केन्द्रभुक्त्या, तद्दिने या शीघ्रकेन्द्र-कलात्मिकगतिस्तया भक्ता, प्राप्तदिनैः सावयवैरधिकोनैः गतैष्यैः स्वाभीष्ट-कालादवक्रवक्रास्तमयोदयारम्भाः स्युः। यदुक्तं भागान्तरेणानीतदिवसा तदारम्भ इत्यर्थः।

अत्रोपपत्ति :—यत्केन्द्रे तदारम्भ उक्तस्तस्मान्न्यूने स्वाभीष्टकेन्द्रे वक्रादिकं भविष्यत्यधिके पूर्वं जातमिति सुगमम्। केन्द्रस्य उत्तरोत्तराधिकत्वात्। गतैष्य-कालज्ञानं तु केन्द्रभुक्त्यैकं दिनं लभ्यते तदान्तरभागकलाभिः, कियत्यनुपातेनोपपन्नमत्राऽवास्तवत्वान्मध्यग्रहगत्यूनोच्चगतिरूपकेन्द्रगतिग्रहणेऽपि न क्षतिः। अत एव मध्यगत्योक्तभागान्तरं यथा सम्भवं कृत्वा तदवधि दिवसाः, उक्त रीत्यानीय-कैश्चिन्निबद्धाः। तथा चलल्लः—

रसरसाः क्रमशः शशिवाहवो यमनिशाकरशीतमरीचयः।
यमशरायुगपावकभूमयोऽ नुजगते दिवसा कथिता कुजात्॥

व्योमार्काक्षितिपानभोद्गतभुजो नागास्तथाषड्गुणाः।
वारुण्यां क्रमशःस्युरस्तदिवसाः भौमादिकानां दिनैः॥
आकाशाङ्गरसैस्तुरंगदहनै र्नासत्यशैलानलैः।
रूपाक्षाक्षिभिरश्विसागरगुणैरस्तं प्रयात्युद्गतः॥
यमगुणै दिवसैः शशिभूधरै र्भवति चाभ्युदयोऽस्तगयोस्तयोः।

इत्यादीति । सिद्धान्त रहस्येऽपि-"भौमस्यास्तादुदयकुटिलर्जुत्वमौढ्यं-क्रमात्स्यान्मासै र्वेदैरथ दशमितै र्लोचनाभ्याञ्च दिग्भिः। जीवस्योर्व्या सचरण युगैः सागरैः साग्निवेदैः साब्ध्यैकेन त्रियुगदहनैरर्धयुक्तै स्तथार्कैः। पूर्वास्तादुदयः परेऽनृजुगति स्तोयास्तमैन्द्रयुद्गमो। मार्गोऽस्तोऽत्र च दंतदंतदहनाष्टाब्ध्याशा-दंतै र्दिनैः। चान्द्रेस्तत्परतत्परं त्वथ भृगोस्तद्वद्द्विमास्या ततोऽष्टाभिर्व्यग्निभुवां-घ्रिणा विचरणैकेनाष्टमासैः क्रमादि"ति। एतेन मृदुसंस्कृतया ग्रहस्य गत्या-रहितया तूच्चजभुक्तिलिप्तिकाभिरित्यनेन बहुस्वल्पादिति साधारणेन केन्द्रगति-ग्रहणं निरस्तम्। एतस्या प्रत्यहं वैलक्षण्यात्॥४४॥

दीपिका—अथात्र रवेः समसूत्रस्थो यदा ग्रहो भवति तदा परमास्तमयः।

अनन्तरं रवेः शीघ्रगतित्वाद्यदा कालांशतुल्यं ग्रहादग्रतो गच्छति तदा रात्रि-शेषे: पूर्वस्यामुदेति। पुनश्च यदा रव्यस्तमायाति ततः कालांशतुल्येऽन्तरे सति पश्चि-मायामस्तमेति मन्दगतिग्रहः। शीघ्रगस्त्वतोऽन्यथा। अत एव ग्रहोदयास्ताधिकारे स्फुटमेवोक्तं रवेरूनभुक्तिर्ग्रहः प्रागुदेति प्रतीच्यामसावस्तमेत्यन्यथान्यः। अथ च मन्दगामिनां-कुजगुरुशनीनां मध्यमार्क एवोच्चमिति वेधेन किल निर्णीतं, तत् एव तेषामस्तोदय-संभवज्ञानं क्रियते इति यथोक्तं कक्षावृत्तं प्रतिवृतञ्च कृत्वा तत्रोच्चस्थानादग्रतः पृष्ठतश्च पठितकालांशतुल्ये ऽन्तरे कक्षावृत्ते स्पष्टग्रहः कल्प्यः। भूगर्भात्स्पष्टग्रहोपरि नीयमानं सूत्रं वर्धितं सद्यत्र प्रतिमण्डले लग्नं तत्र मन्दस्पष्टग्रहो बोध्यस्तस्माकोटिरेखा कर्णरेखयोरन्तरं कक्षावृत्ते शीघ्रफलं तेन युक्ताः पाठपठितकालांशाः प्रतिवृत्ते मन्दस्पष्टोच्चयोरन्तरांशाः शीघ्र-केन्द्रभागाः स्युस्तावद्भिः शीघ्रकेन्द्रांशैः कुजादीनामस्तोदयौ स्यातामिति।

शिखा—अपनी कक्षा में जिस समय सूर्य केन्द्र की राश्यादिक के तुल्य कोई भी ग्रह होगा उस समय उस ग्रह का परमास्त होगा। रवि के तेजः पुञ्ज से वहिर्भूत होने पर वह ग्रह आकाश में दिखाई देगा। जिस समय सूर्य और मंगल का अन्तर २८° एवं वृहस्पति और शनि का क्रमशः अन्तर १४°, १७° अंश के तुल्य होता है, उस समय ये तीनों ग्रह रात्रि की समाप्ति के समय पूरब में दिखाई देंगें। और जिस समय इनका और सूर्य का अन्तर ३६०—२८=३३२, ३४६°, ३४३° होगा' उस समय ये पश्चिम में अस्त होंगे। इसी प्रकार बुध और शुक्र के पश्चिम के ५०°, २४° उदय अंश, एवं १५५°, १७७° पश्चिम के अस्त अंश आचार्य ने कहे हैं। इसी प्रकार बुध और शुक्र के पूर्वोदय के २०५°, १८३° पूर्वास्त के ३१०°, ३३६° अंश कहे हैं। मार्ग वक्र उदय और अस्त के अंशों को जान कर इष्ट कालीन अंशों को भी समझ कर अनुपात द्वारा वक्र मार्ग उदय और अस्त के गत और अग्रिम दिन जानना सुगम होगा।

रवि से कम गतिक ग्रह, जब रवि इस ग्रह से कालांश तुल्य अधिक होगा तो यह ग्रह रात्रि शेष में पूरब में आकाश में, एवं रवि के अस्त होने पर रवि से कालांश तुल्य अधिक होने पर पश्चिम में (सायंकाल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह) ग्रह का पूर्ण बिम्ब दिखाई देता है। रवि से शीघ्र गतिक ग्रहों की उक्त स्थिति, कथित की विलोम स्थिति में समझनी चाहिए यह स्पष्ट है। ग्रहोदयास्ताधिकार में यह विषय विशेष स्पष्ट होगा।

मन्दगतिके मंगल गुरु और शनि का मध्यम सूर्य ही उच्च होता है। इसलिये इनका अस्त और उदय का संभव ज्ञान कैसे हो? यह निम्न भांति समझिये।

कक्षावृत्त प्रतिवृत्त की रचना कर, उच्च स्थान से पठित कालांश के तुल्य आगे और पीछे कक्षावृत्त में स्पष्ट ग्रह की कल्पना कर, भूगर्भ से स्पष्ट ग्रह तक ले जाया गया हुआ सूत्र बढ़ा देने से जहां पर प्रतिमण्डल में लगेगा, वहां पर मन्दस्पष्ट ग्रह जानना चाहिए। यहाँ से कर्ण और कोटि रेखाओं का अन्तर कक्षावृत्त में शीघ्र फल है, इसकी तरह पाठ पठित कालांशों को, प्रतिवृत्त में मन्दस्पष्ट और उच्च का अन्तरांश रूप शीघ्रकेन्द्र कहना चाहिए। इन्हीं शीघ्र केन्द्रांशों से भौमादिक ग्रहों का उदय अस्त होगा। स्पष्टता के लिये निम्न क्षेत्र देखिये—

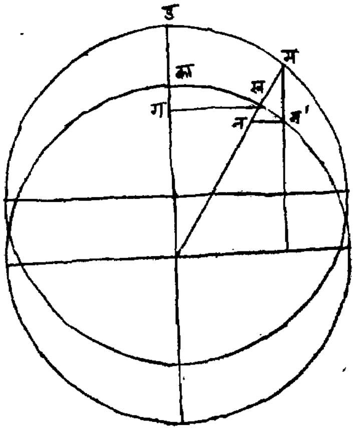

स्प ग=ज्या कालांश। न मं=शी. फ. ज्या। म मं=अं. फ। भू ग स्प, म मं न त्रिभुजों की सजातीयता है। ∴ शीघ्र ज्या $=\frac{\text{स्प ग}\times\text{म मं}}{\text{भू स्प}}=\frac{\text{ज्या कालांश}\times\text{अं फ}}{\text{त्रि}}$

इसका चाप स्प मं को कालांश में जोड़ने से म उ=शीघ्र केन्द्रांश मान हुआ।

जैसे भौम का कालांश मान=१७°

लघु ज्या प्रकार से कालांश ज्या=३४°

परम शीघ्रफलज्या =८१°

कक्षावृत्त का गर्भीय केन्द्र विन्दु का नाम भू विन्दु है। जो उक्त क्षेत्र में छूट गया है।

$\therefore$ शी. फ. ज्या $= \frac{३४ \times ८१}{१२०} = \frac{८१ \times १७}{६०} = \frac{२७ \times १७}{२०} = \frac{४५९}{२०} = २२\frac{१९}{२०}$

स्वल्पान्तर से इसका चाप $= ११^\circ$, इसको कालांश में जोड़ने से $१७ + ११ = २८^\circ$ केन्द्रांश मान उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार और ग्रहों का भी समझना चाहिए। यह प्रकार पूज्य १०८ श्री गुरु चरणों का (म. म. सुधाकर द्विवेदी श्रेष्ठ के परमप्रियशिष्य पं० बलदेव पाठक जी का) है कि—

त्रिज्या विभक्तान्त्यफलज्ययेह कालांशजीवा गुणिताप्तचापम्।
कालांशयुक्तं चलकेन्द्रमैन्द्रयुद्गमे भवेदीज्यकुजार्कजानाम्" ॥

रवि के मन्दफल तुल्य अन्तरित होने से यह प्रकार कुछ स्थूल भी कहा जा सकता है इसीलिये आचार्य ने उदयास्त संभव कहा है।

बुध और शुक्र के मन्दस्पष्ट स्वल्पान्तर से स्पष्ट रवि के तुल्य हैं। अतः इन दोनों के पश्चिमोदय के समय कालांश तुल्य धन शीघ्र फल में रवि से कालांश, तुल्य अधिक शीघ्र फल से विलोम रीति से स्पष्ट शीघ्र केन्द्रांश का ज्ञान सरल है। पुनः मध्यम केद्रांश भी सरल होगा। जैसे शीघ्रफल=कालांश। अतः ज्या शी फ=ज्या कालांश। इससे विलोम से शीघ्र केन्द्रांश ज्ञान सरल है।

इदानीं स्फुटग्रहान्मध्यग्रहानयनमाह।—

स्फुटग्रहं मध्यखगं प्रकल्प्य
कृत्वा फले मन्दचले यथोक्ते।
ताभ्यां मुहुर्व्यस्तधनर्णकाभ्यां
सुसंस्कृतो मध्यखगो भवेत् सः ॥४५॥

स्पष्टार्थमिदम्।

अत्र विलोमविधिरेव वासना।

मरीचिः—ननु सिद्धस्य स्पष्टग्रहस्य शुद्धाशुद्धत्वं कथं ज्ञेयमत उपजातिकयाह—स्फुटग्रहं मध्यखंगं प्रकल्प्य कृत्वा फले मंदचले यथोक्ते। ताभ्यां मुहुर्व्यस्तधनर्णकाभ्यां सुसंस्कृतो मध्यखगो भवेत्स इति। स्पष्टग्रहमेव मध्यखगम्—स्पष्टभिन्नग्रहं प्रकल्प्य ततो मंदचले फले मंदफलशीघ्रफले कृत्वा-प्रसाध्य तयोः पूर्वं स्पष्टात्साधनस्यानुक्तेः प्रकल्पेत्युक्तम्। अतत्त्वात्। ननु स्पष्टान्मध्यसाधनं पूर्ववैपरीत्यमित्यत्र फलानयनोक्तगणितक्रियायामपि छेदं गुणं गुणं छेदं वर्गं मूलं पदं कृतिम्। ऋणं स्वं स्वं ऋणं कुर्यादिति लीलावत्युक्तप्रकारेण वैपरीत्यं कार्यम्। तन्निरासायाऽह—यथोक्ते, इति। पूर्वरीत्यैव फलानयनम्। न वैपरीत्येनेति भावः। मुहुः—असकृत्, अयमर्थः—स्पष्टग्रहतुल्य मध्यग्रहादुक्तदिशा मंदफलं साध्यम्। सकृत्। ततः स्पष्टग्रहतुल्यमंदस्पष्टादुक्तदिशा शीघ्रफलं साध्यम्। तद्वक्ष्यमाणरीत्या स्पष्टतुल्यमध्यग्रहे व्यस्तं देयम्।

तस्मात्पुनः शीघ्रफलं तत्संस्कृतस्पष्टात्पुनः शीघ्रफलमित्यसकृत्प्रकारेण शीघ्रफलं स्थिरं कार्यमिति। ननु फलसाधने वैपरीत्यादर्शनात्कथमभीष्टसिद्धिरत आह—ताभ्यां व्यस्तधनर्णकाभ्यामित्यादि-ताभ्यां सकृत्साधितमंदफलं सकृत्साधितातिमशीघ्रफलाभ्यां व्यस्तं विपरीतं धनर्णक्रिययोस्ताभ्यां तुल्यादिगकेंद्ररीत्या-द्युक्तविधिना फलयोः धनर्णत्वं विपरीतसंज्ञं कृत्वा तादृशाभ्यामित्यर्थः। सः स्पष्टतुल्यमध्यग्रहः, सुसंस्कृतः। यथायोग्यं यथा स्थाने फलेन हीनो युक्तो वा। मध्यखगः प्रागहर्गणानीतमध्यमग्रहः स्यात्। फलसंस्कारे वैपरीत्यस्य दर्शनान्न क्षतिः। अत्र भौमानयने दलीकृताभ्यां प्रथमं फलाभ्यामित्योद्युक्तविशेषो मंदफलस्य सकृत्साधनान्न ध्येयः। सूर्यचंद्रयोस्तु मंदफलं भौमादिशीघ्रफलवदसकृत्साध्यम्। अत एव मुहुरित्यस्य मंदफलेप्यन्वयस्तदनुरोधेन युक्त इति ध्येयम्। तथा च स्पष्टग्रहादुक्तरीत्या मध्यमसिद्धिस्तदानीतः स्पष्टः शुद्धोऽन्यथाऽशुद्ध इति भावः।

अत्रोपपत्तिः—वास्तवमंदफलशीघ्रफलाभ्यां संस्कृतो मध्यः स्फुटतां यात इति स्पष्टस्तद्वास्तवफलाभ्यां विपरीतसंस्कारेण मध्यतां गमिष्यतीति किं चित्रम्। तत्र स्पष्टग्रहादानीतं मंदफलं वास्तवमिति प्रागुक्तयुक्त्या स्पष्टग्रहान्मंदफलं साधितम्। अतएवैतस्य सूक्ष्मत्वात्सकृत्साधनं नासकृत्। अथ वास्तवशीघ्रफलं वास्तवमंदस्पष्टादानेयम्। तत्र तस्याज्ञानात्स्फुटतुल्यान्मन्दस्पष्टाच्छीघ्रफलं साधितं स्थूलम्। एतद्विपरितसंस्कृतस्पष्टो मंदस्पष्टः किंचित्स्थूलः। अस्मादपि शीघ्रफलं पूर्वफलात् सूक्ष्ममित्यसकृत्प्रकारेण वास्तवं शीघ्रफलं भवति। आभ्यां विपरीतसंस्कृतस्पष्टग्रहो मध्यग्रहः स्यादित्युपपन्नं स्फुटग्रहमित्यादि। सूर्यचन्द्रयोर्यदि पूर्वमसत्प्रकारानीतमंदफलसंस्कारेण स्पष्टत्वं संपादितं तदा स्पष्टाभ्यां सकृन्मंदफलेन साधितेन व्यस्तसंस्कार्यौ। यदितु पूर्वमंदफलेन सकृत्साधितेन स्थूलेन स्पष्टौ कृतौ तदा स्थूलमंदफलसंस्कारेण मध्यत्वं स्यादिति स्पष्टान्मंदफलं स्थूलं नायात्यतो सकृत्साध्यमिति युक्तम्। "तन्मांदमसकृद्वामं फलं मध्यो दिवाकर" इति सूर्य सिद्धांतोक्तेश्च। अत एवात्राचार्यैः पूर्वोक्तानुरोधेन मंदफले मुहुरिति विषय भेदादुक्तं संगच्छते।

ननु तथापि प्रथमं शीघ्रफलं स्पष्टात्साधितमिति न युक्तं मंदस्पष्टाज्ञानात्। शीघ्रफलसंस्कारस्याधिकत्वात्। किंतु व्यस्तमंदफलसंस्कृतस्पष्टग्रहरूपकेवलशीघ्रफलसंस्कृतात्कल्पितमंदस्पष्टाद्युक्तम्। मंदफलशीघ्रफलान्तरेण स्वल्पेन मंदस्पष्टस्य, संस्कृतस्य ग्रहणात्। तथाच—स्पष्ट ग्रहान्मदफलं स्पष्टे व्यस्तं कृत्वा तस्माच्छीघ्रफलं-स्पष्टे व्यस्तं कृत्वासन्नो मंदस्पष्टोऽस्माच्छीघ्रफलम्, तत्संस्कृतस्पष्टान्पुनरित्यसकृत्। अत एव यथोक्ते, इत्यनेन स्पष्टतुल्यमध्यमान्मंदफलं तत्संस्कृतग्रहाच्छीघ्रफलमिति सूचितमिति चेन्न। शीघ्रफलस्य मंदफलतुल्यत्वग्रहे तयोर्भिन्नमार्गत्वादंतरापत्तेः। श्लोकार्थो न तथा तदलब्धेश्च। एतेन शीघ्रफलवन्मंदफलं स्पष्टादसकृत्साध्यमिति निरस्तम्। अत एव दलीकृताभ्या मित्याद्युक्तविशेषाप्रसंगः।

अत एव च स्पष्टग्रहान्मंदफलं शीघ्रफलं च पृथक् साध्यम्। ताभ्यां स्पष्टो व्यस्तसंस्कृतो मध्यमः स्यादस्मादपि पृथक् शीघ्रफलं मन्दफलं प्रसाध्य स्पष्टे व्यस्तं कार्यं मध्यमः, अस्मादपि पुनरित्यक्षरार्थोऽपि न युक्तः। एतेन स्पष्टग्रहान्मंदफलं व्यस्तं स्पष्टे तस्मादपि शीघ्रफलं व्यस्तं तत्र मध्यः स्यात्। अस्मान्मंदफलं व्यस्तं स्पष्टे ततोऽस्मादपि शीघ्रफलमस्मिन्व्यस्तं मध्यम इति पूर्वक्रमेणेति। स्पष्टग्रहात्प्रथमं शीघ्रफलं व्यस्तं स्पष्टे ततोऽस्मान्मंदफलमस्मिव्यस्तं मध्यः-अस्माच्छीघ्रफलं व्यस्तं स्पष्टे ततोऽस्मान्मंदफलमस्मिन् व्यस्तमिति पूर्वक्रमवैपरीत्येनासकृद्दलीकृताभ्यामित्युक्तविशेषश्चोभयत्र तुल्य इति मतद्वयं लक्ष्मीदासादि बहूक्तं निरस्तम्। मंदफलस्यासकृत्साधने युक्त्याभावात् श्लोकार्थोऽनुपपत्तेः फलयोर्भिन्नसंस्कारमित्याद्यस्यासंगतत्वापत्तेरिति दिक् ॥४५॥

दीपिका :—स्फुटग्रहं मध्यखगं प्रकल्प्य तस्मादानीतमन्दफलं विलोमं स्पष्टग्रहे दत्वा तं मन्दस्फुटं प्रकल्प्य तस्मादानीतशीघ्रफलं विलोमं मन्दस्फुटे दत्वा मध्यमग्रहः स्यात्। परमयमवास्तवोऽतः पुनरस्मान्मध्यग्रहादसकृदवास्तवमध्यग्रहानयनं कर्त्तव्यमित्याचार्यमतम्। किन्त्विह तन्मतं न समीचीनमिति, यतः स्यात्संस्कृतो मन्दफलेन मध्य इत्यत्र स्पष्टग्रहज्ञानादेरसकृत्स्पष्टीकरणमुक्तमतोऽत्र यदि स्पष्टग्रहान्मन्दफलं वास्तवं तथा च मन्दस्पष्टग्रहाच्छीघ्रफलमवास्तवं तदा सकृदेव स्पष्टग्रहान्मध्यग्रहज्ञानं संभवति।

नवीनास्तु असकृन्मन्दफलेन मन्दस्पष्टग्रहं ज्ञात्वा तस्माच्छकृदेव शीघ्रफलेन वास्तवमन्दस्पष्टग्रहं ज्ञात्वा तस्मादानीतमन्दफलेन सकृदेव स्पष्टग्रहस्स्यात्। वस्तुतस्त्वत्राचार्यस्यापि मध्यमग्रहात्स्पष्टावगमे, स्पष्टान्मध्यानयने भ्रम इव भाति।

शिखा :—यहां पर आचार्य ने स्पष्टग्रह को ही मध्यम ग्रह मान कर यथोक्त विधि से शीघ्र और मन्दफल लाकर व्यस्त रूप से इन फलों को धन वा ऋण मान कर स्पष्टग्रह में बार-बार संस्कार करते हुये (एकरूप जब तक न हो—) स्पष्टग्रह से मध्यमग्रह का ज्ञान किया है। वास्तव में यहां पर स्पष्टग्रह और मन्दोच्च का अन्तर, मन्दफल के लिये वास्तव मन्दकेन्द्र नहीं है। यह जान कर पहिले इसे मध्यमग्रह मानकर मन्दफल लाया गया है। इस मन्दफल का स्पष्टग्रह में विलोम संस्कार करते रहने से स्पष्टग्रह से शीघ्रफल के अन्तर तुल्य कोई ग्रह हुआ ऐसा कहेंगे, अथवा इसको ही अवास्तव मन्दस्पट ग्रह कहेंगे। किन्तु मन्दफल की अवास्तवता से आगत ग्रह भी अवास्तव और इससे जायमान शीघ्रफल भी अवास्तव शीघ्रफल हुआ। इसकी भी अवास्तवता से विलोम संस्कार से संस्कृत अवास्तव मन्दस्पष्ट ग्रह भो अवास्तव मध्यम ग्रह हुआ। इससे फिर मन्दफल साधन किया, जो पहले से कुछ सूक्ष्म हुआ। इस प्रकार बार बार क्रिया करने से वास्तविक मध्यम ग्रह का ज्ञान किया है। संशोधक ने रवि चन्द्रमा के स्पष्ट से तथा और ग्रहों के मन्द स्पष्ट से ही एक ही बार मन्दफल का लाने का सफल प्रयास किया है। ग्रन्थ गौरव भय से वह प्रकार यहां नहीं दिया जा सका है।

इदानीं पलभाज्ञानमाह ।—

क्रियतुलाधरसङ्क्रमपूर्वतो-
ऽयनलवोत्थदिनैर्विषुवद्दिनम् ।
मकरकर्कटसङ्क्रमतोऽयनं
द्युदलभा विषुवद्दिवसेऽक्षभा ॥४६॥

अयनांशानां कला रविभुक्त्या हृताः फलमयनलवोत्थदिनानि । तैर्दिनैर्मेष-सङ्क्रान्तेस्तुलासङ्क्रान्तेश्च प्राग्विषुवद्दिनं भवति । एवं मकरकर्कटसङ्क्रमतः प्रागयनदिनम् । तस्मिन् विषुवद्दिने मध्याह्ने या छाया सा पलभा ।

*अस्य क्षेत्रस्य वासना गोले ।

मरीचिः—अथ स्वनिरक्षदेशभूमिगोलस्यार्कोदयासन्नकालिकग्रहणं स्वदेश-तादृशकालित्वकरणार्थकालं विवुक्षुस्तत्रोपयोगित्वात् पलभायाः स्वरूपज्ञानं द्रुतविलंवितेनाह—क्रियतुलालाधरसंक्रमपूर्वतः पललवोथदिनैर्विषुवद्दिनम् । मकर-कर्कट संक्रमतोऽयनं द्युदलभाविषुवद्दिवसेऽक्षभेति ।

अयनलवोत्थदिनैः-गोलबन्धाधिकारोक्तसौरमतीयक्रांतिपातभगणानीतायनग्र-हस्य तत्परिभाषया भागाः कार्याः । यथाहि—भगणाद्ययनग्रहस्य भगणा-न्संमार्ज्य राश्याद्ययनग्रहस्य यथोक्तपरिभाषयांशाः षड्गुणाः, अष्टाधिक शततष्टाः शेषांशानांच चतुःपंचा-५४ शतोऽधिकत्वं ने
शेषांशानां सप्तविंशतिमितपदप्रमाणेनोक्तरीत्या भुजः अयनः
भवन्ति । अत एवैतल्लाघवार्थम् लवपदमयनराश
अन्यथायनोत्थदिनैरित्यस्यैवोक्तत्वापत्तेः । एतेनाचार्योक्त
क्तेन विरोधः प्रत्यक्षसिद्ध इति केषांचिदुक्तिर्निरस्ता
"त्रिंशत्कृत्यो ६०० युगे भानां चक्रं प्राक् परिलम्बते ।
गणाद्यदवाप्यते । तद्दोस्त्रिघ्नाद्दशाप्तांशा विज्ञेया अयनाभि
गतिकलाभिरेकं दिनं तदायनांशकलाभिः कियदित्यनुपाते
वसैरित्यर्थः । क्रियतुलाधरसंक्रमपूर्वतः सूर्यविम्बकेन्द्रस्य भ-
प्रदेशसंचारकालः संक्रमपदवाच्यः । पूर्वाभिमतो मुख्यः
गौणः । तद्ज्ञानं तु यत्काले स्पष्टसूर्यस्यांशादिसंख्याऽभावस्तत्र
मेषस्य तुलायाश्च संक्रमः, तत्कालात्तैः पूर्वस्मिन्नादावित्यर्थः । यः कालस्त
यद्दिनीयमध्याह्नकाल आसन्नस्तद्दिनं विषुवत्संज्ञमित्यर्थः । अतएव तत्कालस्योत्तर-पूर्वमध्यान्हाभ्यां तुल्यमन्तरम् । तत्र दिनद्वयं विषुवसंज्ञमुपयुक्तम् । प्रसंगादयन-प्रवृत्तिमाह—"मकरकर्कट संक्रमत" इति । एवं मकरकर्कसंक्रान्तिकालाभ्यां पूर्वं यस्तैः कालः सोऽयनसंज्ञः । तत्सम्बद्धाहोरात्रमयनदिनमित्यर्थः । ज्ञातविषु-

*अयं पाठस्तु. म. म. पं. बापूदेवशास्त्रिसंशोधितशिरोमणावेव लभ्यते, न सर्वत्रेति ।

वद्दिन फलितमाह—द्युदल नेति, विषुवद्दिने, या तत्र मध्याह्नछाया सूर्यस्य यंत्रवेधेन नतांशोन्नतांशाभ्यां प्रश्नाधिकारविधिना ज्ञाता साक्षभा पलभा संज्ञा। विषुवद्द्वयं चेदुभयत्र मध्याह्नछाया ज्ञा। तद्योगार्धं पलभेत्यर्थसिद्धम्। अतएवोक्तविधिना मेषतुलाविषुवद्दिनद्वयोपलब्धज्ञातपलभयोरतुल्यत्वेऽप्येतद्योगार्द्धं पलभेत्यप्युक्तं भवति। तथा च धीवृद्धिदे "भानौ गते क्रियतुल्यादिमहद्दले ये छाये तयोर्युतिदलं विषुवद्दलं प्रभा स्यादिति।

ननु स्थापितद्वादशांगुलशंकोः प्रक्षछाया पलभेति नामदोक्तार्थः। अध्याहारकल्पनागौरवात्। उपपत्तौ दोषाग्रतत्वात् च।

अत्रोपपत्तिः—स्वनिरक्षदेशस्वदेशक्षितिजयोरन्तरं साध्यम्। तैर्नवतिरक्ताकोदयकालिकग्रहाणां स्वदेशार्कोदयकालिकत्व संभवात्। तत्र निरक्षक्षितिजात्, स्वक्षितिजमक्षांशतो भिन्नमिति अक्षांशास्तत् साधनोपजीव्याः ज्ञेयाः। ते तु स्वनिरक्षस्वदेशस्वस्वस्तिकयो याम्योत्तरवृत्ते स्पष्टाः। निरक्षात्स्वार्द्धं तु विषुवद्वृत्तयाम्योत्तरवृत्तसम्पातः। तत्स्थानन्तु विषुवद्वृत्ते यदा तत्स्थाने उपलक्षको ग्रहो भवति तदैव। तत्तु विषुवक्रान्तिवृत्तसम्पाते यदा ग्रहविम्वस्थितिः। तत्र चन्द्रादीनां क्रान्तिवृत्ताच्छरान्तरेण विमण्डले सत्त्वादनियमेन तत्र तत्संचरणेऽपि स्थितिरतः सूर्यस्य क्रान्तिवृत्तं भ्रमत एव सञ्चरेण तत्स्थाने मण्डलकेन्द्रं भवति। तदा तन्नतांशज्ञानेन याम्योत्तरवृत्ते खस्वस्तिकांतररूपा अक्षांशाः ज्ञाता इति संक्षेपः। तत्र विषुवद्वृत्ते सूर्यविम्बावस्थानंतु मेषतुलादिप्रदेशसंचारेण कल्पादौ ...ाः स्थितत्वेन पौष्णान्ते भगणः स्मृत इत्युक्तत्वात्। तत्सं...ति क्रियातुलाधरसंक्रमेत्युक्तम्। अथ विषुवद्क्रान्तिवृत्त...षादिरूपो यदा क्षितिजे लगति तदास्य पूर्वापरवृत्तेऽपि स्वप्राच्या दृश्यत एव। इदानीं तु मेषादिस्थसूर्योदयः इति प्रत्यक्षोपलब्धरेवतीताराश्रयीभूतक्रान्तिवृत्ततारा...। स्ववृत्तानुकरणविषुवद्वृत्ताच्चलितो विषुवद्वृत्तस्य स्थिरत्वादित्यनुमीयते। अत्रेश्वरेच्छादृष्टवशात्क्रान्तिवृत्तस्य ...स्योपगमेन नक्षत्राधिष्ठितवृत्तस्य पूर्वपरतश्च वलनकल्पनावश्य ...चीचिन्हे तदुदयापत्तेः। विषुवद्वृत्ते संपातस्थाने पूर्वसंपातीय...न्यः प्रदेशो भवति। एवं पूर्वराश्यादि प्रदेशेषु तत्र भिन्नं क्रान्तिवृत्त...नवा... संपातस्थानात्क्रान्तिवृत्ते पूर्वकल्पितमेषाद्यंकितनवमप्रवहवायुवृत्तानुसारेण मेषादिद्वादशराशयः कल्पिता—अमुख्याः संति, मुख्यास्तु रेवतीताराधिष्ठितप्रदेशात् उपयुक्ताः। अत एवैतत्प्रमाणेन गणितागतग्रहैः फलादिकं च पूर्वैरुक्तम्। मुख्यामुख्यराशयोरंतरमयनांशाः—क्रान्तिवृत्ते। तद्ज्ञानन्तु इष्ट दिने वक्ष्यमाणप्रकारेण मध्यान्हछायायाः पूर्ववैपरीत्येन सायन एव। तत्काले गणितागतस्पष्टे निरयणोऽर्क एव तयोरंतरेणेति। तत्र च्छायार्काद्गणितागतार्के न्यूने मुख्यराशिभ्योऽमुख्य राशयः सम्पातादयः पश्चिमस्थाः, वैपरीत्ये पूर्वस्था

इति। तद्भगणभोगरीतिस्तु सूर्यमतेन पश्चात्क्रान्तिवृत्तं सप्तविंशतिभागैः परमैः क्रमेण चलति, ततश्च क्रमह्रासेन क्रान्तिवृत्तं निवर्त्य यथास्थितं भवति। ततः क्रान्तिवृत्तं पूर्वतः क्रमेण सप्तविंशतिभागैश्चलति। ततः परावृत्य क्रमेण यथास्थितं भवतीत्येको भगणः। अनया रीत्या सर्वत्र भगणाः आर्षोक्ताः ज्ञेयाः। अत्र द्वादशराशीनवास्तवान्प्रकल्प्यायनग्रहो भवति। तस्य भुजकरणेनायनांशानां ह्रासवृध्यंतर्गतज्ञानपूर्वकं ज्ञानं स्यादंत्तरं वायनग्रहस्य षडभाल्पत्वाधिकत्वे संपातात् पश्चिमपूर्वाः ऋणधनसंज्ञा इति संक्षेपः। तथा च मेषतुलासंक्रमकाले सूर्यस्य विषुवद्वृत्ते स्थानं भवति। किन्तु अमुख्यमेषतुलासंक्रमकाले इति तद्ज्ञानार्थमयनांशा संप्रतिपूर्वदिक्स्थत्वान्मुख्यसंक्रान्तितोऽयनांशभोगदिनैः सावयवैः पूर्वं मुख्यराशिसंक्रमणकालोऽतः पूर्वतोऽयनलवोत्थदिनैरित्युक्तम्। एवं मुख्यमेषतुलासंक्रमदिने सूर्यस्य विषुवद्वृत्तेऽवश्यं भ्रमणाद्विषुवदिनमित्युक्तम्। एवमेतादृश कर्कमकरसंक्रान्तौ पूर्वारब्धायनस्य परमत्वेन समाप्तेस्ततः पुनः परावर्त्तनेनेतराय न प्रवृत्ते श्चायनमित्युक्तम्। गोले प्रत्यक्षम्। एवं मुख्य संक्रान्तितोऽन्येषां संक्रान्तिर्भवति। तन्नामाप्ययनो मकरकर्कटेत्यस्योपलक्षणत्वात्। "संक्रातिषु यथाकालस्तदीयेऽप्ययने तथा। अयने विंशतिः पूर्वा मकरे विंशतिः परा इति" जावाल्युक्तेः। एवमत्र विषुवद्दिने मध्यान्हे नतांशा अक्षांशास्तदूननवत्यंशाः भूगर्भक्षितिजादुन्नतालवांशाः। तज्ज्या मध्यान्हे दृग्ज्याशंकू भुजकोटिरूपे। तत्र दृग्ज्या द्वादशांगुलशंकुपरिणामिता लघुक्षेत्रे भुजमिता कृता, गणितलाघवार्थम्। अतो त्रिप्रश्नविधिना सा छाया तुल्येति तत्क्रियागोपनार्थं द्युदलभा विषुवद्दिवसेइत्युक्तम्। अस्याः अक्षांशोत्पन्नत्वादक्षभात्वं विषुवद्दिनसंबंधाद्वैषुवतीत्वञ्चेति। द्वादशांगुलशङ्कोः प्रत्यक्ष छायातु सूर्यविंबोर्ध्वनेम्यां भूपृष्ठे चातो गणितार्थमनुपयुक्ता। गणितस्य वृत्तमध्याश्रयेण प्रवृत्तेः सूर्यविंबमध्यछाया भूगर्भे वस्तुतो सत्त्वेप्यपेक्षिता कल्पिता तूक्तदिशा। नतांशानां भूगर्भपृष्ठयोरभिन्नत्वात्।

ननु तुलामेषसंक्रमकाले, एव सूर्यमंडलविषुवद्वृत्तसंबंधात्त द्दुत्तरप्राक्कालीनमध्याह्ने तत्संबंधाभावात्कथमुक्तदिशाक्षभाज्ञानं *प्रतिक्षणं द्युरात्रस्य ग्रहाधिष्ठितस्य मार्गस्याभिन्नत्वात्। अत एवावास्तवत्वेन ज्ञातपलभयो र्योगार्द्धमासन्नदिनार्द्धग्रहणमित्युक्त विशेषः। सूक्ष्मासन्नत्वेन मध्याह्ने विषुषवद्वृत्ताधिष्ठानक्षणरूपछायाक्षभेति श्लोक †तात्पर्यार्थः। वस्तुतस्तु सूर्यस्पष्टगतेरनियमेनायंनांशदिनानामवास्तवानां ज्ञानादमुख्यराशिसंक्रमकालोप्युक्तरीया दुर्ज्ञेय इति अयनांश युतो यदा मेषतुलादौ निरवयवः सूर्यो यदा मध्याह्ने भवति तत्कालीनछाया तादृशी सूक्ष्मेति। अत एव गणेशदैवज्ञैः "मेषादिगे सायनभाग सूर्ये दिनार्धजाभा पलभा भवेत्सेत्युक्तं" ग्रहलाघवे। अयनांशानां पश्चिमत्वे संक्रमः पूर्वं यस्मात्तत्रेत्यर्थः। तेन च तदायनांशहीनसूर्यस्य मेषतुलासंक्रान्तिमध्याह्ने

* प्रतिक्षणीय वा पाठः।

† तात्पर्याच्च वा पाठः।

यदा तदेति ध्येयम् स्यादेतत्। संपातादिद्वादशराशीनां क्रान्तिवृत्तप्रदेशानियतानामेव प्रवहवृत्तवशान्नियतत्वेन मुख्यत्वात्तत्संक्रमकाल एव मुख्यसंक्रान्तिकालः। अन्यथा धर्मशास्त्रे संक्रान्तिनिरूपणमेषतुलयोर्मकरकर्कयोश्चसंक्रातो विषुवायनसंज्ञा। "मकरकर्कटसंक्रान्ती द्वे उदग्दक्षिणायने। विषुवेति तुलामेषौ गोलमध्ये ततोपरा" इति वसिष्ठादिवचनैः कथमुक्ता। नहि भवदभिमतपूर्वत इत्युक्तस्यासंगततापत्तेः। "अयनांशैः संस्कृतार्कान्मुख्यसंक्रांति रुच्यते। अमुख्या राशिसंक्रान्तिस्तुल्यः कालः विधिस्तयोः। स्नानदानजपश्राद्ध व्रतहोमादि कर्मभिः। सुकृतं चलसंक्रातावक्षयं पुरुषो श्रुते। चलसंस्कृततिग्मांशोः संक्रमो यः स संक्रमः। अजागलस्तन इव राशिसंक्रांति रुच्यते। पुण्यदाराशि संक्रातिः केऽचिदाहुर्मनीषिणः"। एतन्ममतं न स्यान्नास्य संक्रातिकत्त्वयः। दिवारात्रि प्रमाणानां निर्णयश्चलसंक्रम" इत्यादि वसिष्ठरोमशादिवचनानां जगन्मोहनेन दर्शनाच्च। अतः स्वाभिमतकालस्यैव मुख्यसंक्रान्तित्वेन प्रसिद्धत्वात्क्रियतुलाधरसंक्रमो विषुवद्दिनमित्यनेनैव चरितार्थत्वात्पूर्वतोऽयनलवोत्थदिनैरित्युक्तमसंगतमिति चेत्-न। अयनमित्युक्तेनाचार्येण संक्रान्तिषु यथा कालस्तदीयेप्ययने तथेति जावालिविशेषवचनांगीकृतोभयोः संक्रातित्वेऽपि संपातादिद्वादशराशिसंचारकालस्यासंक्रातित्वप्रतिपादनात्। अयनांशाभावकाले मेषतुलयोर्मृगकर्कयोर्विषुवायनसंभवादिदानीमप्युपचारस्तत्संज्ञा मुनिभिः, राशि संक्रातावुक्ता। वचनानां तत्कालाचरणावश्यकत्वप्रतिपादनपरत्वाच्चेत्यलमप्रसक्त विचारेण ॥४६॥

दीपिका :—अत्राचार्यभतेन सर्वदा धनायनांशा इति चित्रम्? अयनांशकलाः रविगत्या हृता-अयनलवोत्थ दिनानीति सुगमम्। शेषं स्पष्टम्।

शिखा :—आचार्य ने यहां पर अयनांश को सदा धन ही समझा है? सायन मेष और तुला की संक्रान्ति के दिन मध्याह्न समय १२ अंगुल शङ्कु की छाया मापनी चाहिये इसे पलभा कहा है। पलभा या विषुवती खखोल ज्यौतिष का प्रसिद्ध शब्द है। बिषुवद्दिन की मध्यान्हछाया भूमण्डल में किसी भी देश में देश भेद से अनेक रूप की होगी उसे पलभा कहेंगे। यह बड़े महत्त्व की वस्तु है। इसी से अनेक खगोलीय गणित विषय हल होते हैं। अक्षांश लम्बांश प्रभृति अनेक पदार्थों का ज्ञान त्रिप्रश्नाधिकार में होगा। एक दिन की क्रान्ति गति शून्य मानने से यह मेष तुला संक्रान्ति यदि किसी भी देश में मध्यान्ह काल में ही हो तभी पलभा सूक्ष्म कही जावेगी, विद्वान् इसे स्वतः समझेंगे ही।

इदानीं पञ्चज्यासाधनमाह—

युक्तायनांशादपमः प्रसाध्यः
कालौ च खेटात् खलु भुक्तभोग्यौ।

---

* ४६ श्लोक से ६५ श्लोक तक के सिद्धान्तों का विशेष विचार प्रायः इस ग्रन्थ के गोलाध्याय में होगा।

जिनांशमौर्व्या १३९७ गुणितार्कदोर्ज्या
त्रिज्यो ३४३८ द्धृता क्रान्तिगुणोऽस्य वर्गम् ॥४७॥
त्रिज्याकृतेः ११८१९८४४ प्रोह्य पदं द्युजीवा
क्रान्तिर्भवेत् क्रान्तिगुणस्य चापम् ।
अक्षप्रभासङ्गुणितापमज्या
तद्द्वादशांशो भवति क्षितिज्या ॥४८॥
सा त्रिज्यकाघ्नी विहृता द्युमौर्व्या
चरज्यकास्याश्च धनुश्चरं स्यात् ।

अत्र खेटादित्युपलक्षणम्। यस्मात् खेटाल्लग्नाद्वापमः साध्यस्तस्मात् सायनांशादेव। तथा यस्मादुदयसम्बन्धिनौ भुक्तभोग्यकालौ साध्यौ तस्मादपि सायनांशादेव। सायनार्कस्य दोर्ज्या जिनभागज्यया गुणिता त्रिजया भक्ता क्रान्तिज्या स्यादित्यादि स्पष्टार्थम्।

अस्योपपत्तिः—विषुवत्क्रान्तिवृत्तयोर्याम्योत्तरमन्तरं क्रान्तिः। तयोः सम्पाते क्रान्त्यभावः। ततस्त्रिभेऽन्तरे परमा जिनतुल्यभागाः। अतस्तत्सम्पातादारभ्य क्रान्तिः साध्या। उदयाश्च तत एव। स तु सम्पातो मेषादेः प्रागयनांशतुल्येऽन्तरे। अतः सायनांशात् खेटात् क्रान्तिर्भुक्तभोग्यकालौ च इत्युक्तम्। यदि त्रिज्यातुल्यया भुजज्यया जिनांशज्यातुल्या क्रान्तिज्या लभ्यते, तदेष्टज्यया किम्? इति। फलं क्रान्तिज्या विषुवद्वृत्तात् तिर्य्यग्रूपा भवति। क्रान्तिज्याभुजस्त्रिज्या कर्णस्तद्वर्गान्तरपदमहोरात्रवृत्तव्यासार्द्धम्। सैव द्युज्या। अथ कुज्योच्यते—यदि द्वादशकोटेःपलभा भुजस्तदा क्रान्तिज्याकोटेः किम्? इति। फलं क्षितिजोन्मण्डलयोर्मध्येऽहोरात्रवृत्ते ज्यारूपं स्यात्। सैव कुज्या। सा धनुःकरणार्थं त्रिज्यावृत्ते परिणाम्यते। यदि द्युज्याव्यासार्द्धे एतावती तदा त्रिज्याव्यासार्द्धे किम्? इति। फलं चरज्या। तद्धनुश्चरमित्युपपन्नम्।

मरीचिः—अतस्तदुपजीव्ययुतां द्युज्यां कुज्यां च सोपकरणमुपजातिकेन्द्रवज्राभ्यामाह-युक्तायनांशादपमः प्रसाध्यः, कालौच खेटात्खलु भुक्तभोग्यौ। जिनांशमौर्व्या गुणितार्कदोर्ज्या त्रिजोद्धृता कान्तिगुणोऽस्यवर्गम् ॥४७॥

त्रिज्याकृतेः प्रोह्य पदं द्युजीवा क्रान्तिर्भवेत्कान्तिगुणस्यचापम्। अक्षप्रभासंगुणितापमज्या तद्द्वादशांशो भवति क्षितिज्येति ॥४८॥

अपमज्या क्रान्तिज्या, अक्षभया पूर्वोक्तया गुणनीया तद्द्वादशांशः, या गुणिता सा द्वादश भक्ता कुज्या स्यात्। कातिज्याज्ञानाभावात्क्रान्तिज्यानयनं विवक्षुस्तत्रोपयुक्तं विशेषमाह—युक्तायनांशादिति। खेटात्। राश्याद्यवयवात्मकात्। युक्ताः अयनांशाः यस्मिन्। तस्मात् सायनान्न केवलादित्यर्थः। अत्रांशग्रहणं पूर्वो-

क्तार्थस्पष्टीकरणार्थं क्रांतिः साध्या। एतेन प्रस्फुटद्युमणिबाहुशिंजीनी ताडिता-ऽपरमापमज्यया। भाजिता त्रिभसमुत्थजीवया स्यादभीष्टसमयापमज्यकेति" ब्रह्मगुप्तादिभिः केवलसूर्यक्रान्तिज्या कृतेत्यपास्तम्। संस्कृताद्‌ग्रहाक्रान्ति छायाचरदलादिकमिति सूर्यसिद्धान्तोक्तेः। प्रसंगादन्यत्रापितदुपयोगमाह्-कालौ वेति। अग्रे लग्नकालयोः साधने अन्यत्रापि उपयुक्तौ भुक्तभोग्यकालौ, चः समुच्चयो, सायनांशादेव। तथा च मया प्राचीनानुरोधेनाग्रे क्रांतिज्याभुक्त-भोग्यकालौ च केवलादुक्तौ। तत्र केवलात्तन्न कार्यम्। विशेषोक्तेरिति भावः। क्रांतिज्यानयनमाह्—जिनांश मौर्व्येति। अर्कं दोर्ज्या सायनांशार्कभुजज्येत्यर्थः। यत्त्रिज्या प्रमाणेनेयं तत्प्रमाणेन चतुर्विंशत्यंशज्या ग्राह्या। क्रान्तिगुणःक्रान्तिज्या। अथ द्युज्यामाह्-अस्येति। अस्याः गुणस्य, अग्रे-उपयुक्तं-क्रान्तिप्रसंगादाह्-क्रान्ति रिति।

अत्रोपपत्तिः—क्रान्तिवृत्ताधिष्ठितग्रहचिन्हृत्तः दक्षिणोत्तरसमसूत्रज्ञात-विषुवद्धृत्त*-प्रदेशयोरंतरं क्रान्तिः। तद्यथा-गोले दृग्वृत्ताकारं भगणांशांकितं वृत्तं ध्रुवद्वये प्रोतं कार्यम्। तत्क्रान्तिवृतस्थगणितागतग्रहचिन्हप्रदेशे धार्यम्। तत्र विषुवद्‌वृत्तक्रान्तिवृत्तसंपातस्थप्रदेशाद्-ग्रहतद्‌वृतसंपातावधि येऽशांस्ते-क्रात्यंशाः सावयवाः। तज्या क्रांतिज्या। एवं विषुवद्‌वृत्तक्रान्तिवृत्तसंपाते ग्रह-चिन्हे तदभावः। संपातात्क्रान्तिवृत्ते त्रिभे विषुवद्‌वृत्ताच्चतुर्विंशांशैर्याम्योत्तरेण क्रान्तिवृत्तं भवतीति मुनिभिर्लक्षिताश्चतुर्विंशपरमक्रान्त्यंशाः। तज्या परमक्रा-न्तिज्या। सा प्रागेवोक्ता। यथा यथा संपाताद्‌ग्रहश्चलति, तथा तथा क्रान्तिरुत्प-द्यते। एवं त्रिभे परमा ततोऽग्रे तदपचयः। एवं द्वितीयसंपाते क्रान्त्यभावः। ततस्त-दुपचय इत्यादि। तथा च संपाताद्ग्रहज्ञानमपेक्षितम्। अतो अयनांशाः ग्रहे योज्याः। गणितागतग्रहराश्यादेः रेवतीस्थक्रांतिवृत्तप्रदेशावधित्वात्संप्रतिमेषसंपा-तस्थ तत्पश्चात्त्वेन तदंतरायनांशानां धनत्वात्। अतएव संपातस्य तत्पूर्वस्थत्वे-ऽयनांशोनग्रहस्यैवसंपातावधित्वात्। अत उक्तं युक्तायनांशादपम इति उदयानां-मध्ये तन्मूलकप्रतिपादनात्तदुपजीव्यभुक्तभोग्यकालसाधनं सायनांशादेवेति किं चित्रम्। अत उक्तं कालौचेत्यादिसायनग्रहस्य भुजकरणेन क्रांतिह्रासवृद्धि-कृत्पदांतर्गतेति। ततस्तदुपायः, त्रिज्यया तुल्ययायनांशग्रहभुजज्ययापरमाक्रान्तिज्या जिनांशज्या रुपालभ्यते तदेष्ट तादृश्या केत्यनुपातेन क्रांतिज्यातद्धनुर्वृत्तगा क्रान्तिः। सूर्योदयान्तरफलोपजीव्यत्वादर्कपदं, अन्यग्रहीयक्रान्तिज्यायाअनुपजीव्यत्वात्। क्रान्तिज्या भुजस्त्रिज्या कर्णः, ग्रह संबद्धाहोरात्रवृत्त व्यासार्द्धं कोटिरिति क्रान्तिक्षेत्रस्य गोले प्रत्यक्षत्वात्क्रांतिज्यावर्गोनायास्त्रिज्याकृतेर्मूलं कोटिरूपा द्युज्या। अहोरात्रस्य दिनपदवाच्यत्वात्। कुज्योपपत्तिस्तु द्वादशांगुलशंकुः कोटिः, पलभा भुजः, तद्वर्गयोगमूलरूपपलकर्णः, कर्ण इत्यक्षक्षेत्रमपवर्तितवृहच्छे-त्ररूपं भूमौ प्रत्यक्षम्। क्रांतिज्या कोटिस्तद्‌वृत्ते विषुवद्‌वृताद्‌ग्रहचिन्ह-

* विषुवद्‌वृत्तयोरित्यपि ग्रन्थान्तरे पाठः।

द्युरात्रवृत्तपर्यंतं क्षितिजे द्युरात्रपर्यंतविषुवद्वृत्तादग्रांशास्तज्ज्याग्राकर्णः। क्रान्त्यग्राग्रयोरंतरं तद्युरात्रवृत्ते तज्ज्या तद्व्यासार्धप्रमाणेन कुज्या भुज इत्यक्ष क्षेत्रं गोले चापप्रदेशसंबन्धात्स्पष्टमग्रे, उक्तम्। एतत्कोटिकर्णभुजजीवानां संपाताभावात्। तत्रानयोः क्षेत्रयोरभिन्नोपजीव्यत्वेन साजात्यात् द्वादशांगुलशंकुकोटौ पलभाभुजस्तदा क्रान्तिज्याकोटौ को भुज इत्यनुपातेनागतभुजस्य परंपरया भूसंबंधात्कुज्येति संज्ञा। अत उक्तमक्षप्रभेत्यादि ॥४८॥

दीपिका—पलभाज्ञानेन देशज्ञानं निश्चित्येदानीं चरस्वरूपं निर्दिशत्याचार्य—इति स्पष्टम्।

शिखा—मेषादि स्थिर सम्पात से ग्रह पूरब को चलित होते हैं, किन्तु यह सम्पात विन्दु पश्चिम को चलित होने से नाड़ी क्रान्ति वृत्तों के वास्तविक सम्पात विन्दु से ही ग्रहस्थान के ऊपर दोनों ध्रुवों से गये हुये ध्रुवप्रोत्त वृत्त में क्रान्ति चाप के तुल्य भुज, और सम्पात विन्दु से ग्रह स्थान तक क्रान्तिवृत्त में भुजांश रूपकर्ण, एवं सम्पात विन्दु से ध्रुवप्रोत नाड़ीवृत्त के सम्पात तक विषुवांश रूप नाड़ी वृत्त में कोटि, इस चापीय त्रिभुज का चापीय गणित जानने के लिये चल सम्पात से ग्रह स्थान तक का चाप, ग्रह में धन अयनांश में; अयनांश जोड़ने से ही (सायन ग्रह से) जाना जावेगा। (ऋण अयनांश में घटाने से)

इसके लिये, स्वदेशीय क्षितिज और निरक्ष देशीय क्षितिजों के वीच अहोरात्र वृत्त का जो चर चाप है उसका ज्ञान भी परमावश्यक है यह विषय गणिताध्याय और ग्रह गोलाध्याय के त्रिप्रश्नाधिकारों में विशेष समझाया जावेगा।

जैसे ज्या क्रां $= \frac{\text{जिनज्या} \times \text{इष्टभुजज्या}}{\text{त्रि}}$। क्राज्या के वर्ग को त्रिज्या वर्ग में कम करने से

$\text{त्रि}^2 - \text{क्रांज्या}^2 = \text{द्युज्या}^2$, इसी का मूल अहोरात्र वृत्त का व्यासार्ध होता है। $\frac{\text{पलभा} \times \text{क्राज्या}}{१२} =$ कुज्या। $\frac{\text{कुज्या} \times \text{त्रि}}{\text{द्युज्या}} =$ चरज्या इसी का धनुष चरचाप हुआ। भुजज्या, क्रान्तिज्या, द्युज्या कुज्या, और चरज्या ये ग्रहगणित की प्रसिद्ध पञ्चज्या हैं। जो आगे त्रिप्रश्नाधिकार में स्पष्ट होंगी। (क्षेत्र के साथ)।

अथ प्रकारान्तरेण चरानयनमाह।—

स्वदेशजैस्तच्चरखण्डकैर्वा
लघुज्यकावद्रविदोस्त्रिभागात् ॥४९॥
मेषादिराशित्रितयस्य यानि
चराण्यधोऽधः परिशोधितानि।
तानि स्वदेशे चरखण्डकानि
दिङ्नागसत्र्यंशगुणैः १०।८।$\frac{३}{१०}$ विनिघ्नी ॥५०॥

पलप्रभा तोयपलात्मकानि
स्थूलानि वा स्युश्चरखण्डकानि ।
स्थूलं चरं चाम्बुपलात्मकं तै-
स्तत्प्राणचापं यदि वापि सूक्ष्मम् ॥५१॥

अथवा तच्चरं वक्ष्यमाणैस्त्रिभिः खण्डकैः स्वदेशजैर्लघुज्याप्रकारेणांशमितेद्-शाप्तमित्यादिना साध्यम्। कस्मादित्याह्—रविदोस्त्रिभागात्। अर्कस्य सायनांशस्य यो भुजस्तस्य यस्त्र्यंशस्तस्मादंशमितेद्शाप्तमित्यादिना। अथ खण्डकानि।—मेषादिराशित्रितयस्येत्यादि सुगमम्। अथ स्थूलखण्डकैर्यच्चरं तत् स्थूलं पानीय-पलात्मकं भवति। तत् षड्गुणं प्राणात्मकम्। तस्माद्यदि धनुः क्रियते तदा सूक्ष्मं चरार्द्धं स्यात्।

अत्रोपपत्ति;—एकमङ्गुलं पलभां प्रकल्प्य एकद्वित्रिराशीनां पृथक् चरण्या-नीय तानि षड्भिर्विभज्य पानीयपलात्मकानि कृत्वा यावदधोऽधो विशोध्यन्ते, तावद्दिङ्नागत्र्यंशगुणा उत्पद्यन्ते। अतोऽनुपातः। यद्येकाङ्गुलया पलभयैतानि चरखण्डानि तदेष्टया किम्। इति। एवं चरखण्डानि स्युः। परं तानि ज्यात्म-कानि। यतः पूर्वं स्वल्पत्वात् धनुर्नोत्पन्नम्। अत एव "तत्प्राणचापं यदि वापि सूक्ष्मम्" इत्युक्तम्। खण्डकैश्चरकरणे लघुज्यासाधनवद्वासना। तत्र लघुज्या-खण्डकानि नव चरखण्डकानि त्रीणि परमे राशित्रये भुजे यथा त्रीणि लभ्यन्ते, तदर्थं "रविदोस्त्रिभागात्" इत्युक्तम्।

मरीचिः—अथ तस्यैव साक्षादुपजीव्यंतरानयनमाख्यानिक्याऽह्- सा त्रिज्याकाघ्नी विहृताद्युमौर्व्या चरज्याकास्याश्च धनुश्चरं स्यात्। स्वदेशजैस्तच्चर-खंडकैर्वा लघुज्यकावद्रविदोस्त्रिभागादिति—सा कुज्या। अस्याः-चरज्यायाः-चः समुच्चयः। अथ शिष्यसौकर्यार्थं लाघवेनेतदाह्-स्वदेशजैरिति। स्वाभीष्ट देशीयैश्चरखंडकैः समनंतरोक्तैः। सायनांशार्कभुजत्र्यंशात्-पूर्वोक्तलघुज्या-नयनरीत्या। तत् चाहं वा पूर्वानीतसमं स्यात्। एतदुक्तं भवति। सायनार्क-भुजस्य अंशो राश्यादिस्तदंशाः दशभक्ताः फलमित तच्चरखंडानि। शेषांशाः भोग्यचरखंडगुणाः दश भक्ताः फलं गतचरखंडयोगयुतं चरं स्यादिति।

अत्रोपपत्तिः—क्रान्त्यग्राग्रयोर्मध्यस्थद्युरात्रवृत्तप्रदेशश्चरसंज्ञकः। स तु-कुज्यायाश्चापरूपः, अतः साक्षात्त्रि-ज्यानुरुद्धःज्यायाश्चापसाधनस्योक्तत्वात्, । द्युज्यामित त्रिज्यानुरूपदृक्कुज्यायाः स्वत्रिज्यानुरुद्धत्वमावश्यकं तच्च द्युज्याप्रमा-णेन कुज्या तदा त्रिज्यामानेन केत्यनुपातेन फलं चरज्या तद्धनुश्चरमिति प्रका-रांतरोत्पत्तिस्तु चरस्य क्रांत्यधीनत्वात्सायनग्रह इत्युक्तमेव। प्रकृते उपयुक्तत्वेन र-विग्रहम्। अग्रे प्रतिराशौ खण्डानि पदमध्ये साधितानि त्रीणि। अतोऽन्तरे ज्या-साधनरीत्या त्रिंशद्भागहारेण तत्सिद्धिर्युक्तम्। तत्राचार्यै ज्र्याविध्युक्तदशभाग-हारेण साधनार्थं भुजत्र्यंशादेव साधनं पर्यवसितमिति लाघवाद्युक्तम्। ज्यावद्-

त्रापि स्थूलता खंडानां स्वल्पत्वाच्चेति स्वल्पान्तरत्वान्न दोष इत्यादि सुगममुक्तप्रायंच ॥४९॥

मरीचिः—अथ प्रकारांतरानयने चरखंडानामुपयुक्तत्वात्सविशेषं तत्साधनमुपजातिकाभ्यामाह—मेषादि राशि त्रितयस्य यानि चराण्यधोऽधः परिशोधितानि तानि स्वदेशे चरखंडकानि दिङ्नागसत्र्यंशगुणै र्विनिघ्नी पलप्रभा तोयपलात्मकानि स्थूलानि वास्युश्चरखंडकानि स्थूलं चरं चरांबुपलात्मकानि तत्प्राणचापं यदिवाऽपि सूक्ष्ममिति ॥५१॥ मेषादिराशित्रितयस्य सायनांशत्वेनैकस्य द्वयोस्त्रिभस्येत्यर्थः। यानि पूर्वोक्तप्रकारेण यन्मितानि चराणि भवंति, तान्यधोऽधः परिशोधितानि। पूर्वं परं यथास्थितं स्वत्र्त्रंशद्वितीयोनद्वितीयं प्रथमोनम्, तृतीयं त्रिभिः, विंशन्मिताधोऽवयवयुक्तत्रिभिर्गुणिता यद्वा—तानि त्रयाणि। स्वपलभादेशावच्छिन्नभूगर्भे चरखण्डकानि भवन्ति।

ननु सूक्ष्मचरसाधनश्रमस्य खंडसाधनेऽप्यतिप्रयोजकत्वादभीष्टचरानयनं तत्क्रमेणैव खंडनिरपेक्षतया युक्तम्। सूक्ष्मसिद्धेरुक्तश्रमस्योभयत्र तुल्यत्वादतः प्रकारांतरेण खण्डानयनमाह-दिगित्यादि, पलभा त्रिष्ठा, प्रथमे स्थाने दशगुणा, द्वितीयेऽष्टगुणा, तृतीये सत्र्यंशा, त्रिभिः विंशन्मिताधोवयवयुक्तत्रिभिर्गुणिता, यद्वा, सत्र्यंशगुणैरित्यत्र छेदघ्नरूपेषु, लवा धनर्णमेकस्य भागा अधिकोनकाश्चेदिति या युक्तांशा सवर्णनरीत्या दशगुणा त्रिभक्ता च कार्येत्यर्थः। अतएव करणकुतूहले "दशगजदशनिघ्नी साक्षभांत्या त्रिभक्तेत्यनेनाचार्यैस्तदेवोक्तम्। स्थानत्रये पानीयलात्मकानि चरखंडानि वा लघुप्रकारान्तरेण स्युः। ननु तथापि पूर्वसूक्ष्मप्रकारे साधितचरखण्डेभ्यो विसंवादोऽत आह—स्थूलानीति। खण्डेभ्यश्चर साधनस्य स्थूलत्वात् खंडान्यपिस्थूलानि स्वीकृतानि स्वल्पान्तरत्वादिति भावः। एभ्यश्चरसाधने विशेषमाह-स्थूलमिति। तैः स्थूलखण्डैः पूर्वप्रकारेण साधितचरं पलात्मकं स्थूलम्। सूक्ष्मखंडसाधितचरादित्यर्थः। अस्यापि सूक्ष्मत्वमाह-तदित्यादि यदि तस्य पलात्मकस्य प्राणानां षड्गुणरूपाणां धनुरपि सूक्ष्मम्। आनीतस्थूलाच्चरं भवतीत्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः—यथा पदमध्ये नवखंडैर्ज्या साध्यते तदा पदमध्ये त्रिभिः सूक्ष्मसाधितचरज्याखंडैस्तद्रीत्यनुरोधेन चरज्या तद्धनुश्चरम्। तत्र लाघवात् प्रतिराशौ साधितचरज्यानां चापानि तत्र चराणि तान्येवधोऽधः शोधितानि चरखण्डानि। एभ्यः पूर्वरीत्या साधने चरं भवतीति। चरज्या खडेभ्यः साधितचरात्स्थूलत्वेप्यल्पांतरत्वादंगीकृतम्। बृहज्ज्यया स्वल्पकं लघुज्ययांशात्मकं षष्टिगुणमस्वात्मकमिति विशेषः। प्रकारान्तरोपपत्तिस्तु एकांगुलपलभायामुक्तदिशा एकादिराशिनां चराणि साधितानि, तद्यथा-सायनभुजाः १।२।३ एषां ज्या [१७७९] [२९७७। २३।६।३] [३४३८] क्रांतिज्याः ६९८ १२०९ १३९७ द्युज्याः

३० ४७ ७ धनुरविकृत-

कुज्याः

३३६६	३२१८	३५४१*	५८	१००	११९	चर ज्या मिति	५९	१०७	१२७
१७	६	२२	१२	४८	२५		२६	४९	२५
४२	५४	३०	३०	५६	९		४६	६	२९

चराण्येतानि, अधोऽधः शुद्धानि खण्डानि-प्रतिराशौ सूक्ष्माणि। एषामस्वात्मकत्वाषड्भक्तानि पलात्मकानि सूक्ष्माणि खंडानि। अत्रोक्त-

५९	४८	१९	९	८	३
२६	२२	३६	५४	३	१६
४९	३३	२३	२९	४२	३
			१०	५०	५७

दिशाभीष्टदेशे खडसिध्यर्थं स्वपलभागुणो ऽवशिष्ट इति पलभागुणान्येतानि स्वदेशे चरखण्डानि, एकपलभया सिद्धान्येतानि तदाभीष्टपलभया कानीत्यनुपातेन वा भवंति। अत्र गुणकेषु लाघवार्थं स्वल्पांतरेण दिङ्नागसत्र्यंशगुणोद्धृता। अत उक्तं दिङ्नागेत्यादि।

अत एव खंडखाद्ये ब्रह्मगुप्तेनाऽपि नवतिथयोऽष्टि विभक्ताः। पंचरसावसुहृता दशत्रिहृताः विषुवच्छायागुणिताः स्वदेशजाश्चरदलाद्यमित्यंगीकृतप्रायम्। अथ गुणकानां स्थूलत्वेन यथा यथा पलभावृद्धिस्तथातथांतरमित्यतः स्थूलानीत्युक्तम्। अतएवैभ्यः साधितं चरपलात्मकं स्थूलम्। अथैकांगुलपलभायां चरखण्डानामपि वस्तुतो ज्याखण्डत्वात्तत्साधितचरखण्डेभ्यः साधितं चरं षड्भक्तज्यारूपं स्थूलं भवति। पूर्वं ज्यानां प्रथमज्यान्तर्गतत्वाच्चापकरणेऽविकारत्वात्। अग्रे गुणनेन प्रथम ज्यांतर्गतत्वाच्चापकरणं युक्तमित्यानीतषड्भक्तज्यारूपं चरं षड्गुणं ज्यात्मकं चरं भवति। अस्याश्चापं च कल्पित षड्भक्तज्यात्मकरूपचरात्सूक्ष्ममस्वात्मकं बृहज्याविधिना-परं गुणकान्तरवशात्स्थूलमत उक्तं तत्प्राणचापम् यदिवाऽपिसूक्ष्ममिति। यत्तु त्रैराशिकमेतत्सुखार्थमंगीकृतम्। अप्राप्तावपि प्राप्तिः कृता वृत्तक्षेत्रे यत्परिध्याश्रितं फलं तत्त्रैराशिकेन सिध्यति वर्गात्मकत्वात्। यत् उक्तमाचार्येणैव। वर्गं वर्गपदं घनं घनपदं संत्यज्य यद्गण्यते तत्त्रै-राशिकमेवेति। अत्र स्ववचविविरोधः। स कैर्वक्तुं शक्यते। न कैश्चिदपि। यदाचार्यैर्धीमद्भि र्महद्भिरंगीकृतं तद्दुष्टमप्यदुष्टं यावदष्टांगुलाक्षप्रभा-तावदंतरं नास्ति तत्परतः सांतराणि भवंतीति धीमद्भिर्विलोक्यमितिनामंदाद्युक्तमाहुस्तन्न, पलभात्रैराशिकउक्तदोषानवकाशात्। अन्तरस्य गुणान्तरवशात् उपलब्धेश्च। अन्यथा भवदभिमत कुज्यानयनानुपपत्तिः एतदनुपाते पर्यवसानात्॥५१॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—प्रकारान्तर से मेषादि तीन राशियों के स्वदेशीय चर खण्डों से लघुज्या साधन के समान रवि भुजांश के तृतीयांश से चर साधन किया गया है। क्योंकि एक अंगुल पलभा मानकर पृथक् पृथक् मेषादि तीन राशियों का चर साधन कर उसमें ६ का भाग देकर पलात्मक खण्डों को परस्पर शोधन करने से १०।८।३ ये तीन खण्ड उत्पन्न होते हैं।

---

*त्रिराशि-द्युज्या तु त्रिज्या तुल्यैव भवत्यतस्तन्मानं त्रिज्या ३४३८ मितमेव समीचीनं भवति ?

जैसे मेषान्त द्युज्या=३३६६। जिनज्या=१३९७। पलभा=१। भुजज्या=३०° ज्या भु=१७१९। अतः $\frac{\text{चरज्या}}{१०}$=६०, यहाँ ज्या चाप का अभेद मानकर चरासु=६०, चरासु के पल बनाने के लिये ६ का भाग देने से $\frac{६०}{६}$=१०=चर पल।

इस प्रकार वृषान्त द्युज्या=३२१८, भुजज्या=२९७७, अतः चरज्या=१०८ इसमें मेषान्त चर घटाने से १०८—६०=४८ इसमें ६ का भाग देने से $\frac{४८}{६}$=८ यह वृषान्त चर खण्ड हुआ। इसी प्रकार मिथुनान्त द्युज्या=३४३१ भुज ३४३८, चरज्या=१२८ ∴ १२८—१०८=२०÷६=$\frac{२०}{६}$=$\frac{१०}{३}$ यह मिथुनान्त चर खण्ड हुआ।

इस प्रकार अनुपात से १ एक अंगुल पलभा में उक्त चरखण्ड मिलते हैं, तो इष्टांगुल पलभा में इष्ट पलभा देशीय चरखण्ड का ज्ञान होगा। वास्तव में ज्या चाप का अभेद (यहाँ पर ज्या को चाप मानने से) माना है। इसलिये ज्या का चाप करने से सूक्ष्म मान होगा, इस बात को आचार्य ने सूक्ष्मता के लिये "तत्प्राण चापं यदि वाऽपि" सूक्ष्मम् भी स्वयं कह दिया है।

इदानीं दिनरात्रिमानमाह—

चरघटीसहिता रहिताः क्रमात्
तिथिमिता घटिकाः खलु गोलयोः।
भवति तद् द्युदलं निजसावनं
खगुणतः पतितं रजनीदलम् ॥५२॥

पञ्चदश नाड्य उत्तरगोले चरघटीभिः सहिता दक्षिणे रहिताः। एवं कृते निजसावनं द्युदलप्रमाणं भवति। यस्य ग्रहस्य चरं तस्येत्यर्थः। दिनदलं त्रिंशतो विशुद्धं रात्रिदलं भवति।

अत्र वासना। उन्मण्डलयाम्योत्तरवलययोर्मध्ये पञ्चदशघटिकाः। उन्मण्डलादधः क्षितिजमुत्तरगोले चरार्द्धकालेनातस्तदधिकाः पञ्चदश घटिकाः। याम्यगोले तु तदूर्द्धमतश्चरोनास्तत्र पञ्चदश।

मरीचिः—अथ प्रसंगादग्रे उपयुक्तयोर्दिनार्द्धरात्र्यर्द्धमानयोरानयनं द्रुतविलंबितेनाह—"चरघटीसहितारहिताः क्रमात्तिथिमिताघटिकाः खलु गोलयोः, भवति तत् द्युदलं निजसावनं खगुणतः पतितं रजनीदल मि"ति। गोलयोः अग्रे, गोलयोरुत्तरदक्षिणक्रमेण प्रतिपादनात्सायनांशमेषादि षड्भरूपोत्तरतुलादिषड्भरूपदक्षिणगोलयोरित्यर्थः। क्रमादुक्तक्रमेण। पंचदशघट्यः प्रागानीतचरं परिभाषया घटिकाद्यं कार्यम्। तेन युक्ताः हीना वा कार्याः। तत् तन्मितं

दिनार्धम्। निजसावनम्। यद्ग्रहचरेण तद्गोलवशात्कृतम्। तस्य ग्रहस्य स्वोदयद्वयांतररूपषष्टिसावनघटिकास्तदवयवरूपमित्यर्थः। एतेन चरसाधनोक्तार्कस्योपलक्षणत्वेन सर्वग्रहसाधारणश्चरप्रकार इति स्पष्टीकृतम्। तत्, दिनार्धं त्रिंशतः पतितं हीनं रात्र्यर्धं स्यात्। एतद्द्विगुणं तत्संपूर्णमानं स्यादित्युक्तप्रायम्। तथा च सूर्यसिद्धान्ते—

"तत्कार्मुकमुदक्क्रांतौ धनहानी पृथक् स्थिते।
स्वाहोरात्रचतुर्भागे, दिन-रात्रि-दले स्मृते॥
याम्यक्रान्तौ विपर्यस्ते द्विगुणेति तु दिन क्षपे इ"ति।

अत्रोपपत्तिः—स्वक्षितिजादधः संचरद्ग्रहबिंबकेन्द्रं तन्मानं घट्याद्यं कार्यम्। अत्र तदर्धमेवानीतमुपयुक्तत्वात्। तच्च निरक्षदेशभूगर्भक्षितिजस्य गोलमध्यस्थत्वात्। तत्क्षितिजयाम्योत्तरवृत्तयोरंतरे ग्रहाधिष्ठितद्युरात्रवृत्तचतुर्थांशरूपपंचदशघटिकाः।

अतो निरक्षदेशे सदा तद्दिनार्धम्। स्वदेशभूगर्भे तु तत् क्षितिजादुन्मण्डलाख्यात्स्वक्षितिजमुत्तरगोलेऽधोभवत्यत उन्मण्डलस्य क्षितिजान्तरालस्य द्युरात्रवृत्तप्रदेशघटीनामेवमततदुदयांतरत्वात्ताः योज्याः पंचदशघटीषु। तास्तु चरतुल्या एव। उन्मण्डलक्षितिजांतरसत्वात्। एवं दक्षिणगोले क्षितिजस्योन्मण्डलादूर्ध्वस्थत्वाच्चरहीनाः पंचदश दिनार्धमेवं स्वक्षितिजादूर्ध्वं संचरतत्वं रात्रित्वमिति याम्योत्तरवृत्तस्य गोलमध्यस्थत्वादहोरात्रवृत्ते तदुभयतस्त्रिंशद्घटिका दिनरात्र्यर्धयोगरूपा। अतो दिनार्धोनत्रिंशद्घटिका रात्र्यर्द्धमेवमपरकपालेऽपीति द्विगुणं तन्मानमिति गोले प्रत्यक्षम्।

ननु प्रतिक्षणं क्रान्तेर्भिन्नत्वेन द्युरात्रभेदाद्यत्कालिकग्रहादानीतं दिनार्धं रात्र्यर्धं वा तदष्ठितद्युरात्रवृत्तप्रदेशस्य क्षितिजयाम्योत्तरवृत्तान्तरस्यघटिकाद्यं मानं भवतीति। ननु ग्रहकेन्द्रक्षितिजसंयोगयाम्योत्तरसंयोगकालयोरंतररूपदिनार्धं रात्र्यर्धं वा सूक्ष्मं सिद्ध्यति। आनीतचरस्योभयकालसंबंधाभावात्। अत इदमुक्तमसंगतं गणितानीतग्रहस्य निरक्षमध्यार्कोदयासन्नकालीनत्वेनानीतचरस्य नियतसाध्यदिनसंबंधाभावाच्चेति चेन्न। तादृशसूक्ष्मतत्साधनस्य दुःशक्यत्वेनाल्पांतरात्स्थूलस्यैवांगीकारात्। अत्राचार्यैर्दिनमानानयनविधेरुक्तत्वाच्च। दिनसंबंधनिषेधस्यानुक्तत्वात्स्पष्टसूर्योदये सकलफलसंस्कारपूर्वकं ग्रहं कृत्वा ततः पुनश्चरं दिनमानोपयुक्तं कार्यम्। यद्दिनस्य मानं साध्यं तद्दिनीयग्रहचरं ग्राह्यम्। सूक्ष्मस्योभयथाभावाद्वा। अत्यन्तसूक्ष्मः स किलैकदेशो येनाखिलानां *......................नास्मादृशां दृग्विषयः सः। तस्मान्मूलानुकूलव्यवहार सिद्धिरिति केशवोक्तेश्च दिवसे प्रतिक्षणं चराण्यानीय तद्योगः स्वयोजकसंख्याभक्तः फलं चरम्। तदुपयुक्तं सूक्ष्ममिति वदंति॥५२॥

* उभयत्र पुस्तके नवतिथयोऽष्टि विभक्तेत्येव पाठो दृश्यते।

† अत्र मूले······अयमंशस्त्रुटित इव भाति।

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—निरक्ष देशीय (लङ्का) क्षितिज से निरक्ष देशीय याम्योत्तराहोरात्र वृत्त-सम्पात तक अहोरात्र का चतुर्थांश $\frac{६०}{४}$=१५ घटी होता है, जो गोल देखने से स्पष्ट है। स्वदेशीय क्षितिज और निरक्ष देशीय क्षितिजों का अन्तर चर है। उत्तर गोल में १५+चर=दिनार्ध=उदय से मध्याह्न तक, अथवा १५+चर=मध्याह्न से अस्त तक=दिनार्ध। एवं १५—चर, अस्त से अर्धरात्रि तक तथा अर्धरात्रि से उदय क्षितिज तक १५—चर=रात्र्यार्ध, इसलिये १५±चर=दिनार्ध, और रात्र्यर्ध उत्तर दक्षिणगोल में क्रमशः सिद्ध होते हैं।

इदानीं ग्रहाणां चरकर्माह —

चरघ्नभुक्तिर्द्युनिशासुभक्ता
तयोनयुक्तः खचरो विधेयः ।
क्रमादुदग्दक्षिणगोलगेऽर्के
सूर्योदये व्यस्तमतोऽस्तकाले ॥५३॥

ग्रहस्य भुक्तिश्चरासुभिर्गुण्याहोरात्रासुभिः २१६५९ भाज्या। फलकलाभिरुत्तरगोले ग्रहो रहितो दक्षिणगोले सहितः। एवमौदयिको ग्रहः। यद्यस्तकालिकस्तदातो व्यस्तम्। उत्तरगोले सहितो दक्षिणगोले रहित इत्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः—ये लङ्कोदयकालिकास्ते स्वोदयकालिकाः क्रियन्ते। अत्र तदुदययोर्मध्ये चरकालः। ततोऽनुपातः। यद्यहोरात्रासुभिः २१६५९ गतिकला-लभ्यन्ते, तदा चरासुभिः किम्? इति। फलकलाभिरूनो ग्रह उत्तरगोलस्थेऽर्केऽतः क्रियते यतस्तत्र लङ्कोदयात् प्राक् स्वोदयः यल्लङ्कायां क्षितिजं तदन्यदेश उन्मण्डलम्। अत उन्मण्डलादधःस्थे क्षितिजे ऋणम्। दक्षिणगोले तूपरिस्थिते धनम्। अस्त-काले त्वस्माद् विपरीतम्। यतस्तत्रोन्मण्डलं प्राप्य पश्चात् क्षितिजं प्राप्नोति रवि-रुत्तरगोले दक्षिणगोले त्वादावेव एवं सर्वमुपपन्नम् इत्यादि वासना गोले सम्यग-भिहिता; इह सङ्क्षिप्तोक्ता।

मरीचि:—अथ यदर्थमेतावान्प्रयासस्तत्फलानयन-पूर्वकं तत्संस्कारं ग्रहस्य सविशेष मुपजातिकयाह—"चरघ्नभुक्तिर्द्युनिशासु भक्ता तयोनयुक्तः खचरो विधेयः। क्रमादुदग्दक्षिण गोलगेऽर्के सूर्योदये व्यस्तमतोऽस्तकाले" इति पूर्वानीतात्मकचरगु-णिताग्रहगतिः। सूर्याहोरात्रासुभिः—

"ग्रहोदय प्राणहता खखाष्टैकोद्धृतागतिः।
चक्रासवो लब्धयुता स्वाहोरात्रासवः स्मृता"॥

इति सूर्यसिद्धान्तोक्तेन ज्ञातमानैर्भक्ता तया फलेन गत्यात्मकेनेत्यर्थः। सायनसूर्यस्योत्तरदक्षिणगोलयोः क्रमेण गतिसंबंधी ग्रहः प्रागानीतः सूर्योदये ऊनयुक्तः स्वभूगर्भसूर्योदये भवति। अथार्धदिन उक्तादहर्गणादस्तकालीनग्रह आनी-

तस्तद्विशेषमाह—व्यस्तमिति सूर्यास्तकाले साधितग्रहः, अतः सूर्योदयकालीन-संस्काराद्व्यस्तं विपरीतं उत्तरे धनं दक्षिणे हीनमिति संस्कार्यः। अर्थान्मध्याह्ने मध्यरात्रे वा तदा चरफलसंस्काराभाव इत्युक्तं भवति। तथा च सिद्धान्तशेखरे—

"ग्रहगतिचरखण्डप्राणपिण्डाभिघाता-
द्द्युसुभिरवाप्तं ताश्चलिप्ताग्रहेषु।
धनमृणमुदयेस्यु र्याम्यसौम्येऽर्के गोले।
दिन रजनी मध्ये व्यस्तमस्ते विधेयमिति॥"

अत्रोपपत्तिः—स्वनिरक्षमध्यार्कोदयासन्नकालिकग्रहाः स्वदेशे तादृश-कालीनाः कार्यास्तत्र निरक्षस्वदेशोदयासन्नकालयोरन्तरे चरतुल्यकालत्वात्तेन ग्रहश्चाल्योऽतो ग्रहसंस्कारार्थमहोरात्रासुभिर्गतिकलास्तदा चरासुभिः का इत्य-नुपातेन चरासूनां नाक्षत्रषष्टिघटिकावयवात्मकात्मकानां कलाकरणं युक्तम्। अतएव तदीयधन्वासुमयं चरार्द्धकं तदाह—ताश्चक्रकलोद्धृतागतिरिति चोक्त स्थमलम्। गतेर्नाक्षत्रदिने भोगाभावात्। अहोरात्रासूपपत्तिस्तु गोलाध्याये मध्यमवासनायां स्पष्टा। अथोत्तरगोले क्षितिजस्योन्मण्डलादधःस्थत्वेन निर-क्षार्कोदयात्पूर्वं सार्कोदयसद्भावाच्चरफलेन हीनो ग्रहः स्वोदयासन्नकाले। एवमत्र निरक्षास्तानन्तरस्वास्तकालसंभवात्तत्कालीनो ग्रहश्चरफलेन युतोऽस्तत्कालासन्ने। अग्रे उदयात्तत्फलस्योक्तत्वात्तत्संस्कारेण सूर्योदयो ततो भवतीति प्रथममेव स्वल्पां-तरादुक्तः सूर्योदयस्तदस्तो वा। एवं दक्षिणगोले उन्मण्डलस्य क्षितिजस्योर्ध्व-त्वात्स्वार्कोदयास्तत्सूर्योदयादनन्तरम्। अतश्चरफलं युक्तम्। एवमत्र स्वास्ता-दनंतरतदस्तात्तत्फलहीनो ग्रह इति। अतएव पूर्वापरांतराभाववद्देशानि या-म्योत्तरवृत्तस्याभिन्नत्वादेककाले एव मध्याह्नं मध्यरात्रं वा स्यादतो निरक्षस्वदेश मध्याह्नमध्यरात्रयोरभिन्नत्वाच्चरसत्त्वेऽपि तत्तत्संस्कारस्तत्कालीनग्रहसिध्यर्थमत-उक्तमुपपन्नम्। यत्तु उदयास्तयो श्चरसंस्कारः मध्याह्नमध्यरात्रयोस्तत्संकारा-भाव इत्यस्यासिद्धेर्दिनार्द्धं रात्र्यर्द्धरूपपरमनतघटीभिर्ग्रहसंस्कारार्थं सूर्यसाधित-त्वाच्चरकालो लभ्यते तदा स्वाभिमतेष्टनतघटीभिः क इत्यनुपातेनेष्टचरकाल-मानीय तच्चालनं स्वस्वगत्या ग्रहे देयमिति चरसंस्कार वदन्ति। तन्न। स्व-निरक्षस्वदेशोदयगतत्कालयोरंतरे साधितचरस्यैव सत्वान्नत्वदभिमतचरचालनं युक्तमिति मंदानामपि निर्णयादलं दोषगवेषणया॥५३॥

दीपिका—अत्राहर्गणस्यावास्तवत्वात्तदुत्पन्नग्रहोऽप्यावास्तव इति उदयान्तरदेशान्तर-भुजान्तरचरफलानाञ्चेति क्रमेण चतुर्णां फलानां संस्काराद्वास्तवग्रहसाधनं कृतमाचार्यैः। तत्राहर्गणस्यावास्तवात्तदुत्पन्नग्रहो लङ्कामध्यमार्कोदयासन्नकालिकः, स चोदयान्तरदानेन लङ्कामध्यमार्कोदयकालिकः कृतः पूर्वापरदेशान्तरदानेन स्वनिरक्षमध्यमार्कोदयकालिकः कृतः। भुजान्तरदानेन स्वनिरक्षस्पष्टार्कोदयकालिकः, चरफलदानेनस्वदेशीयस्पष्टार्कोदय कालिकश्चेति।

शिखा—ग्रह गति को चरासु से गुणाकर अहोरात्रासु से भागदेने से, उसे उत्तर दक्षिण

गोलक्रम से ग्रहों में ऋण धन करने से निरक्षदेशीय औदयिक ग्रह होते हैं। अस्तकाल में संस्कार विपरीत करना स्वतः सिद्ध है।

विशेष—अहर्गण से साधित ग्रह कुछ अवास्तव होता है। अहर्गण की अवास्तविकता से साधित ग्रह लङ्का में क्षितिजासन्न ठीक होता है क्षितिज का नहीं होता है। अतः (१) उदयान्तरसंस्कार दान से लङ्का के क्षितिज में मध्यमार्कोदय कालिक होता है। (२) पूर्वापरदेशान्तर संस्कार से स्वनिरक्षदेशीय मध्यमार्कोदय कालिक होता है। (३) भुजान्तर संस्कार से स्वनिरक्षदेशीय स्पष्टार्कोदय कालिक होता है। चर फल सम्बन्धि गतिफल $= \frac{\text{ग्रगक.} \times \text{चरासु}}{\text{अहोरा,त्रासु}}$ इस फल को उत्तर गोल में औदयिक ग्रह में ऋण करना चाहिए, क्योंकि निरक्ष क्षितिज के पहिले अपने क्षितिज में ग्रह आवेगा। दक्षिण गोल में इस फल को धन करना चाहिए क्योंकि अपने क्षितिज में ही लङ्का क्षितिज के पश्चात् ग्रह आता है। कुछ गोल गणितज्ञ गणक—इस फल को अहोरात्रासु से न लाकर ग्रह के अहोरात्रासु से लाने की भ्रान्तिमूलक युक्ति कहते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि ग्रहों की गति रवि सावनाहोरात्र में हीं साधित है।

अथ लङ्कोदयसाधनमाह —

एकस्य राशेर्बृहती ज्यका या द्वयोस्त्रिभस्यापि कृतीकृतानाम्।
स्वस्वापमज्याकृतिवर्जितानां मूलानि तासां त्रिगुणा ३४३८ हतानि ॥५४॥

स्वस्वद्युमौर्व्या विभजेत् फलानां चापान्यधोऽधः परिशोधितानि।
क्रमोत्क्रमस्थानि निरक्षदेशे मेषादिकानामुदयासवः स्युः ॥५५॥

एकस्य राशेर्बृहती ज्येत्यष्टमी ज्या। द्वयोरिति षोडषी ज्या। त्रिभस्येति त्रिज्या। आसां वर्गितानां स्वकीयस्वकीयक्रान्तिज्यावर्गैर्वर्जितानां ... गुणितानि स्वस्वद्युज्यया विभजेत्। फलानां चापान्यधोऽधः ... तृतीयाद्द्वितीयं द्वितीयात् प्रथमं शोध्यम्। प्रथमं तथाविधमे... दयासवः स्युः।

अत्रोपपत्तिः—अत्रोद्गच्छतः क्रान्तिवृत्तस्य तिर्यक् स्थितः... क्षेत्राण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा—मेषान्तस्य ज्या क्रान्तिवृत्ते कर्णः लङ्काक्षितिजे भुजः। तद्वर्गान्तरपदं मेषान्तेऽहोरात्रवृत्ते, के... द्वयस्य ज्या कर्णः। तत्क्रान्तिज्या भुजः। तद्वर्गान्तर... कोटिः। एवं त्रिराशिज्या कर्णः। परमा क्रान्तिः... कोटिः। एताः कोटयश्चापकरणार्थं त्रिज्यावृत्ते परि... द्युज्यया भक्तास्तासां चापानि। प्रथमं मेषोदयस्य अतो विश्लेषितानीत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथैषां ग्रहाणां स्वमध्योदयकालिकानां स्पष्टार्कोदयकालिकत्वसिध्यर्थं भुजांतरफलं विवक्षुस्तत्र तदुपजीव्यत्वादहोरात्रोपजीव्यत्वाच्च निरक्षदेशीयमेषादिषड्राश्युदयानयन मुपजातिकाभ्यामाह—

एकस्य राशेर्बृहतीज्यका या द्वयोस्त्रिभस्यापि कृतीकृतानाम् ।
स्वस्वापमज्याकृतिवर्जितानां मूलानि तासां त्रिगुणा हतानि ॥
स्वस्वद्युमौर्व्या विभजेत्फलानां चापान्यधोऽधः परिशोधितानि ।
क्रमोत्क्रमस्थानि निरक्षदेशे मेषादिकानामुदयासव स्युरिति ॥५५॥

सायनपूर्णांकराशेर्याज्या तादृशद्वयोरपि । राशित्रयस्यापि । महतीत्यनेन बृहज्ज्यासाधनप्रकारेण सूक्ष्मत्वं तदन्यलघुखंडकजसाधितज्याभिरुक्तप्रकारेणोदयानां स्थूलत्व मतस्तन्निरासः । तासां ज्यानां कृतीकृतानाम्—

वर्गितानामित्यर्थः । स्वज्यासाधितवृत्तबृहत्क्रान्तिज्या वर्गैरूनानां मूलानि । त्रिज्यया गुण्यानि स्वक्रान्तिज्यानीतद्युज्यया क्रमेण भक्तानि स्थानत्रयस्थितफलानां चापानि । एकराशिस्थानस्थं यथास्थितम् । द्विराशिस्थमेकराशिस्थोनं द्वितीयम् । द्विराशिस्थोनत्रिराशिस्थं तृतीयमित्यधोऽधः शोधनं तानि क्रमोत्क्रमस्थानि प्रथमं पूर्वं, तदधः द्वितीयं तदधस्तृतीयं पुनस्तदधस्तृतीयं तदधोऽपि द्वितीय तदधोऽपि प्रथममिति स्थापितानीत्यर्थः । मेषादिकानां-मेषादिषड्राशीनां कन्यायान्तानामुदयासवः—उदय संबंधि कालासवः, क्रमेण निरक्षदेशे, अक्षांशाभाववद्देशावच्छिन्नभूगर्भे भवन्तीत्यर्थः ।

अत्रोपपत्ति:—क्षितिजप्रवहानिलक्रान्तिवृत्तस्थतद्राशिप्रदेशसंयोगकालस्यासवः उदयसंबंधादुदयासवस्तद्राशेरित्युच्यते । तत्र निरयणराशिभ्यः कालस्य निराश्रयत्वेन दुःसाध्यत्वात्तत्सायनराशीनामेव साधिताः । तथाहि—क्रान्तिवृत्त वि[illegible] [illegible]लसंपातस्थमेषतुलयोर्गोलमध्यस्थत्वात्संपातादिराश्यंतप्रदेशाः निरक्ष[illegible]त्रवृत्तमार्गे स्वक्रांत्यग्रे लग्ना भवन्ति । अतः संपातस्थमेषो [illegible]तिजे लगति तस्माद्यत्कालांतरेण मेषांतो वृषांतो मिथुनांतो [illegible]ावयवाः प्रत्येकमानीतास्तदानयनार्थं क्रान्तिवृत्तस्य तिर्यक्कृत्वा[illegible]राशिज्या क्रांतिवृत्ते कर्णः, द्विराशिज्याऽपि त्रिराशिज्याऽपि । स्वांत[illegible]न्मण्डलसंपातांतरे द्युरात्रवृत्तप्रदेशस्तज्याकोटिः संपातात्, क्षितिजे [illegible]त्र इति वृतगतचापसंबंधात्प्रत्यक्षाणि । एषां कोटिज्याः द्युज्या[illegible] । आसां चापकरणार्थमेता त्रिज्यया परिणामिताः । तच्चाप[illegible] मेषादितः, अत एकैकराशेर्ज्ञानार्थं चरखंडरीत्याधोऽधः [illegible]तो मेषादिमिथुनांतानामसवः । अथ मिथुनादिकर्कांत[illegible]ादेर्मिथुनांतो लगति तत्कालेन मिथुनांतात्कर्कांतोऽ[illegible]दयकालः । एवं वृषादिसिंहांतयोरपीतिवृषोदय[illegible] विषुवन्मण्डलस्यैव द्युरात्रवृत्तत्वान्मेषोदयकाल-

एव कन्योदयकालः । अतः क्रमोत्क्रमस्थानीत्युन्मंडलक्षेत्रवशादुत्पना इति निरक्षदेशे इत्युक्तम् । अतः संक्षेपेणोपपन्नामेकस्येत्यादि श्लोकद्वयं गोले प्रत्यक्षं च ॥५५॥

दीपिका—क्रान्तिवृत्तस्य द्वादशभागो राशिः । प्रत्येकविभागविन्दुगतध्रुवप्रोतानाम्मध्ये द्वयोर्द्वयोर्ध्रुवप्रोतयोरन्तरे नाडीमण्डले येऽसवः स्युस्त एव राशीनामुदयासव इति शेषं शिखायां स्पष्टम् ।

शिखा—एक, दो, और तीन, राशियों के बृहज्ज्यावर्ग में प्रत्येक की क्रान्ति ज्या वर्ग को घटाकर मूल लेना चाहिए । इन मूलों को त्रिज्या से गुणा कर द्युज्या मे भाग देकर परस्पर शोधन करने से मेषादि तीन राशियों के क्रमशः और कर्कादि तीन राशियों के व्युत्क्रम से, एवं मेषादि ६ राशियों के निरक्ष देशीय असु होते हैं, जो व्युत्क्रम से तुलादि ६ राशियों के भी हो जाते हैं । यह सब गोल पर स्पष्ट देखा जाता है ।

जैसे—इस क्षेत्र में नाडी और क्रान्तिवृत्त का सम्पात=स और दूसरा सम्पात=सं है ।

मेषान्त=मे
वृषान्त=वृ
मिथुनान्त=मी
कर्कान्त=क
सिंहान्त=सि
कन्यान्त=सं
ध्रुव स्थान=ध्रु
अयन प्रोतवृत्त=ध्रुमीग

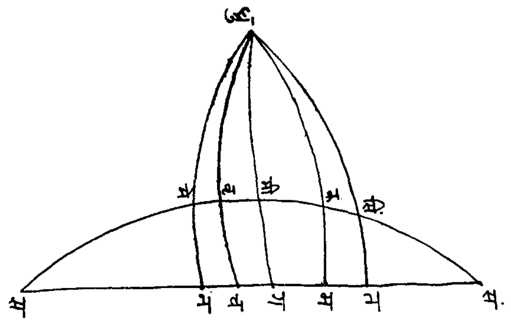

प्रत्येक विभाग विन्दु के ऊपर गये ध्रुव प्रोतवृत्तों के मध्म में स न, न च, च ग, ये मेषादि तीन राशियों के निरक्षोदयासु हैं ।

(नाड़ी वृत्त म) ।

स मे=भुजांश=३०=भु

स न=विषुवांश=वि

स वृ=वृषान्त भुजांश=६०°=भु′

वृ च=वृषान्त क्रान्ति ।

स च=दो राशि का विषुवांश=वि′

स मी=मिथुनान्तभुजांश=९०°=भु″

मी ग=मिथुनान्त क्रान्ति=२४°

स ग=तीन राशि का विषुवांश=वि″

मे न=मेषान्त क्रान्ति ।

भुजांश ज्या कर्ण, विषुवांश ज्या कोटि भुजज्या और विषुवांशज्या मूल की बद्धरेखा =व्यक्षोदयलवज्या=कोटि इस ज्या क्षेत्र में बद्धरेखा=$\sqrt{\text{ज्या भु}^2 - \text{ज्या वि}^2}$ यह बद्ध रेखा द्युज्या व्यासार्ध वृत्त में हुई । त्रिज्यानुपात से यह त्रिज्यावृत्तीय एक, दो और तीन राशियों की विषुवांश ज्या होती हैं । इनके चापों को अधोऽध विशोधन करने से मेषादि तीन राशियों के उदय मान सिद्ध होते हैं । अर्थात् स मे, मे वृ, वृ मी, इन राशियों के स न, न च, च ग, ये निरक्षोदयासु प्रत्यक्ष सिद्ध हुये देखे जा रहे हैं ।

इदानीं प्रकारान्तरेणाह—

कीटादिराश्यन्तजकोटिजीवा-
स्त्रिज्या ३४३८ गुणाः स्वस्वदिनज्ययाप्ताः ।
चापीकृताः प्राग्वदधो विशुद्धाः
कीटादिकानामुदयासवो वा ।।५६।।

कीटादिराश्यन्तजकोटिजीवास्ता एकद्वित्रिराशिज्या भवन्ति १७१९।२९७७। ३४३८ एतास्त्रिज्यया गुण्याः स्वस्वदिनज्यया भक्ता इति । यैव वृषभान्ते द्युज्या सैवकीटान्तेऽपि ३२१८। यैव मेषान्ते द्युज्या सैव सिंहान्तेऽपि ३३६६ । कन्यान्ते द्युज्या त्रिज्यैव ३४३८ । आभिस्ता भाज्याः । फलानां चापान्यधोऽधः शुद्धानि कीटादीनामुदयासवः स्युर्निरक्षे वा । त एव मिथुनवृषभमेषाणामित्यर्थः ।

अत्रोपपत्ति :—क्रान्तिवृत्ते वृषभान्ते सूत्रस्यैकमग्रं बद्ध्वा द्वितीयमग्रं कीटान्ते निबध्यते तस्य सूत्रस्यार्द्धमेकराशेर्ज्या भवति । एवं सूत्रस्यैकमग्रं मेषान्ते बद्ध्वा द्वितीयं सिंहान्ते तस्य सूत्रस्यार्द्धं राशिद्वयस्य ज्या भवति । एवं मेषतुलादौ बद्धसूत्रस्यार्द्धं त्रिज्या । एता एव वृषभान्तमेषान्तमीनान्ताहोरात्रवृत्तानां ज्या भवन्ति; यतस्तत्सम्पातेषु क्रान्तिवृत्ते सूत्राणि बद्धानि । अतस्तासां त्रिज्यावृत्त-परिणतानां चापान्तराणि कीटादिकानामुदया भवन्तीति गोले प्रदर्शयेत् ।

मरीचि :—अथ प्रकारान्तरेण कर्कादित्रयाणां लाघवादुदयानयनमिन्द्र-वज्रयाऽह—

"कीटादिराश्यंतजकोटिजीवास्त्रिज्यागुणाः स्व स्व दिनज्ययाप्ताः ।
चापीकृताः प्राग्वदधो विशुद्धाः कीटादिकानामुदयासवो वेति ।।"

कीटः कर्कटराशिरित्युक्तेन कर्कादयो राशयः कर्कसिंहकन्याख्याः । एषा-मंताः-विरामाः क्रमेण चतुःपंचषड्मिताराशयः एभ्यो जाताः याः कोटयः अयुग्मे पदे यातमेष्यमित्युक्तप्रकारेण ज्ञातभुजानाम् । द्व्येकशून्यराशिमितानां बाहुहीनं त्रिभं कोटिरित्युक्तप्रकारेणैकद्वित्रिराशिमिताः कोटय इत्यर्थः । आसां बृहज्ज्या-प्रकारेण ज्याः सूक्ष्मत्वार्थं कार्याः, त्रिज्यागुणिताः स्वभुजज्यानीतक्रान्तिज्यानीत-द्युज्यया भक्ताः, न तु कोटिज्यानीतक्रान्तिज्योत्पन्नद्युज्ययेत्यर्थः फलानां धनुषि, प्राग्वत् प्रथमं यथास्थितम् । प्रथमोनं द्वितीयं । द्वितीयोनं तृतीयमित्यर्थः । तेन स्थानत्रयस्थिताः उदयकालासवः क्रमेण कीटादिराशित्रयाणां निरक्षदेशे वा पूर्वव्युत्क्रमेणैव सिद्धत्वात् ।

अत्रोपपत्ति :—क्रान्तिवृत्ते सायनवृषभान्ते सूत्रस्यैकमग्रं बद्ध्वा द्वितीयस्य मग्रं कर्कान्ते निबन्धनीयं तस्य सूत्रस्याधमेकराशेरर्धज्या क्रान्तिवृत्ते, त्रिज्या प्रमाणेन ज्याग्रस्थद्युरात्रवृत्तस्यैकत्वेन तत् द्युरात्रवृत्ते द्युज्याप्रमाणेन सैवैकरा-शेर्ज्या । एवमेषांतसिंहान्तयोर्बद्धसूत्रस्याधम् द्विराशिज्या क्रान्तिवृत्ते, त्रिज्या-

प्रमाणेन द्युरात्रवृत्ते, द्युज्याप्रमाणेन राशिद्वयस्य, एवमेव मेषादिकन्यांतं बद्धसूत्रस्यार्धं त्रिज्या विषुवद्वृत्तेऽपीति गोले प्रत्यक्षमुपलब्धमतस्तादृशज्याज्ञानार्थं कीटादि-राश्यंतजकोटिजीवा इत्युक्तम्। तादृशज्यानां द्युरात्रवृत्ते यच्चापं तदेव कर्कादि-राश्यंतानामुदयकालस्तथा च तादृशज्याः द्युरात्रवृत्ते त्रिज्यापरिणताः कार्याः। अन्यथा चापकरणाशक्यत्वापत्तेः। ततस्तेषां धनूंषि-एकैकराशेरुदयकालज्ञानार्थ-मधोऽधः शुद्धानि क्रमेण कर्कसिंहकन्यानामुदयासव एते व्यस्ता मेषादीनामित्यर्थं सिद्धमिति संक्षेपः ॥५६॥

दीपिका—क्षेत्र दर्शनेनोपपत्तिः स्फुटा।

शिखा—कर्कादि तीन राशियों की कोटिज्या को त्रिज्या से गुणाकर अपनी अपनी द्युज्या से भाग देने पर ज्याओं का चाप करते हुए परस्पर शोधन करने से प्रकारान्तर से कर्कादि तीनों राशियों का मान होता है। पूर्व क्षेत्र के ध्रु मी क, ध्रु ग म, त्रिभुजों के ज्या क्षेत्रों की सजातीयता से ज्या गम $= \dfrac{\text{ज्या क मी} \times \text{ज्या ध्रु म}}{\text{ज्या ध्रु क}} = \dfrac{\text{कीटान्त कोटिज्या} \times \text{त्रि}}{\text{कीटान्त द्युज्या}}$।

इसी प्रकार ध्रु सि मी, ध्रु त ग, चापजात्यों के ज्याक्षेत्रों की सजातीयता से ज्या ग त $= \dfrac{\text{ज्या सि मी} \times \text{ज्या ध्रुत}}{\text{ज्या ध्रु सि}} = \dfrac{\text{सिंहान्त कोटिज्या} \times \text{त्रि}}{\text{सिंहान्त द्युज्या}}$।

इसी प्रकार ज्या सं ग $= \dfrac{\text{कन्यान्त कोटिज्या} \times \text{त्रि}}{\text{कन्यान्त द्युज्या}}$।

इदानीं पुनः प्रकारान्तरेणाह—

मेषादिजीवास्त्रिगृहद्युमौर्व्या ३१४१
क्षुराणा हताः स्वस्वदिनज्यया वा।
चापीकृताः प्राग्वदधो विशुद्धा
मेषादिकानामुदयासवो* वा ॥५७॥

स्पष्टार्थमिदम्।

अस्योपपत्तिर्गोले कथितैव सुगमा च।

मरीचिः—अथ मेषादि त्रयाणामेतादृशलघुप्रकारेणोदयसाधनमिन्द्र-वज्रयाऽह—

मेषादिजीवास्त्रिगृहद्युमौर्व्या ३१४१ क्षुराणा हताः स्वस्वदिनज्यया वा।
चापीकृताः प्राग्वदधो विशुद्धा मेषादिकानामुदयासवः स्युः ॥५७॥

मेषादि राशित्रयाणां एकद्वित्रिमितराशिरूपाणां भुजज्याः बृहज्जाप्रकारेण सूक्ष्मत्वात्साध्याः। ताः त्रिगृहद्युमौर्व्या-त्रिराशिक्रान्तिज्यानीतद्युज्यया परमाल्पया

* क्वचिदुदयासवः स्युरिति वा पाठः।

लुगुणाः-गुणाः-स्वक्रान्तिज्यानीतस्वद्युज्याभक्ताः मेषादिराशित्रयाणां व्युत्क्रमेण कर्कादित्रयाणां चेत्यर्थसिद्धम्। शेषं प्रागुक्तेन स्पष्टम्।

अत्रोपपत्तिः—पूर्वप्रतिपादितक्रान्तिक्षेत्रे मिथुनान्ते त्रिज्या कर्णः, परक्रान्तिज्याभुजः, परमाल्पद्युज्या कोटिरिति सिद्धक्षेत्रात्त्रिज्यातुल्यकर्णपरमाल्पद्युज्याकोटिस्तदा मेषादिराश्यंतभुजज्यातुल्यकर्णे केत्यनुपातेन स्वद्युज्याप्रमाणेन स्वद्युरात्रवृत्ते तत्क्षेत्रकोटयः सिद्धाः पूर्वोक्ताः। एतास्त्रिज्यापरिणताः द्युज्ययेयं कोटिज्या तदा त्रिज्यया केत्यनुपातेन कार्यास्तत्र पूर्वं त्रिज्यायाहरत्वाद्गुणहरयोस्त्रिज्ययोर्नाशान्मेषादिजीवाः परमाल्प द्युज्यया गुणाः स्वद्युज्याभक्ताः, फलानि त्रिज्याप्रमाणेन कोटयः-शेषं पूर्वोक्तम्। मेषादितः क्रमेण कन्यान्तादुत्क्रमेणेष्टजीवा द्युज्यादिकस्योपजीव्यस्य तुल्यत्वेन क्रियायां वास्तत्वमेवान्ते पर्यवसन्नमिति कर्कादित्रयाणां व्युत्क्रमेणात एवोदया इत्यादि प्रागुक्तमेवेति संक्षेपः।

केचित्तु एकादिराशीजीवानां त्रि त्रिज्यानुरुद्धानां द्युरात्रवृत्ते कोटित्व संपादनं त्रिज्ययैतास्तदात्रिराशिद्युज्यया का इत्यनुपातेन ततः स्वद्युज्ययैतास्तदा त्रिज्यया का इत्यनुपातेन च पूर्ववदुपपन्नमित्याहु स्तन्न। परमन्यूनद्युज्याप्रमाणेने'ष्टज्यायाः-भावात्, द्वितीयानुपातस्यासंगतत्वापत्तेरिति दिक्। अतएव परमाल्पद्युज्ययैताः ज्यास्तदा स्वद्युज्यया का इतिव्य'स्तैकानुपातेनोपपन्न मितिपरास्तम्। मानाभावाच्चापकरणायोग्यत्वापत्तेश्च।

परंतु-एकस्य राशेरित्यादि पूर्व प्रकारेणोदयसाधने मेषादिजीवास्त्रिगृहद्युमौर्व्येत्याद्युपपद्यते। तथाहि—एकादिराशिज्या परमक्रान्तिज्या गुणास्त्रिज्या भक्ता, इत्येकादिराशीनां कांतिज्या भवन्ति। आसां वर्गाः, एकादिराशिज्यावर्गाणां परमक्रान्तिज्यावर्गो गुणस्त्रिज्यावर्गों हर इति रूपाः। एते क्रमेणैकादि राशिज्यावर्गेभ्यः शोध्यास्तत्र योगोऽन्तरं तुल्यहरांशकानामित्युक्तेन समछेदविधानपूर्वककरणे, त्रिज्यावर्गगुणितेभ्यः, एकादि राशिज्यावर्गेभ्यः शोध्यास्त्रिज्यावर्गभक्त इत्यत्रापि गुण्यगुणकयोरभेदादुभयत्रऽव्यत्ययेनैकादि राशिज्यावर्गगुणितपरमक्रान्तिज्यावर्गा, एकादिराशिज्यावर्गगुणितत्रिज्यावर्गेभ्यः शोध्यास्त्रिज्यावर्गभक्ता इति सिद्धेऽपि गुणितयोरंतरे वा गुणिते समानत्वाल्लाघवाच्च परमक्रान्तिज्यावर्गोनत्रिज्यावर्गस्य परमाल्पद्युज्यावर्गरूपस्यैकादि राशिज्यावर्गाः गुणाः-त्रिज्यावर्गाः हरा इति सिद्धम्। एषां मूलग्रहणे, परमाल्पद्युज्यास्थानत्रये एकादिराशिज्याभिर्गुण्या त्रिज्यया भक्ता इति स्वक्षेत्रकोटयः। एतास्त्रिज्या गुणाः स्वद्युज्यया भक्ता इत्यत्र त्रिज्ययोर्गुणहरयोस्तुल्यत्वेन नाशादुक्तं निष्पन्नमित्याहुः ॥५७॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—मेषादि राशिज्या को परमाल्प द्युज्या से गुणाकर अपनी द्युज्या से भाग देकर फल चापों को परस्पर शोधन करने से भी मेषादि राशियों का उदयमान हो जाता है।

$$\frac{\text{त्रि} \times \text{प द्यु} \times \text{मेषादिज्या}}{\text{द्यु} \times \text{त्रि}} = \frac{\text{प द्यु} \times \text{मेषादिज्या}}{\text{द्यु}} = \text{मेषादिज्या}।$$

$\frac{\text{परमाल्पद्युज्या} \times \text{ज्या } ३०}{\text{मेषान्त द्युज्या}}$ उत्क्रमण देने से ।

परमाल्प द्यु=३१४१, ज्या ३०°=१७१९, मेषान्त द्युज्या ३३६६ । वृषान्त द्युज्या ३२१८ । ज्या ६०=२९७७

अत: $\frac{३१४१ \times १७१९}{३३६६}$=१६०४ इसका चाप असुरूप में=१६७०=मेष का उदयासु (१)

एवम्, $\frac{३१४१ \times २९७७}{३२१८}$=२९०५, इसकाचाप करने से ३४६३ इसमेंमे षासु कम करने से ३४६३—१०७०=१७९३=वृष का उदयासु (२)

इसी प्रकार मिथुनान्तीय निरक्षोदयासु=५४०० में वृषान्तीय असु घटाने से ५४०० —३४६३=१९३७ मिथुन का उदयासु (३) सूर्य सिद्धान्तानुसार (१) मेष के असु= १६७० (२) वृष के असु १७९५ (३) मिथुन के असु=१९३५। वृष में दो असु का अन्तर है।

अथ निष्पन्नांस्तानसूनाह —

तेऽद्रिभूपा १६७० गुणगोऽद्रिचन्द्राः १७९३
सप्ताग्निनन्देन्दुमिता १९३७ अथैते ।
क्रमोत्क्रमस्थाश्चरखण्डकैः स्वैः
क्रमोत्क्रमस्थैश्च विहीनयुक्ताः ॥५८॥
मेषादिषराशीनामुदयाः स्वदेशे
तुलादितोऽमी च विलोमसंस्थाः ।
उदेति राशिः समयेन येन
तत्सप्तमोऽस्तं समुपैति तेन ॥५९॥

वा० भा० :—अत्र धनुःकरणे जीवानां स्थूलत्वाद् द्वितीयतृतीयावुदयौ नान्यैः सम्यक् पठितौ। अत्र प्रथमप्रकारेण प्रथम उदयो गृह्यते । द्वितीयप्रकारेण द्वितीयतृतीयौ । शेषं स्पष्टार्थम् ।

अत्रोपपत्तिः—निरक्षस्वदेशार्कोदययोरन्तरं चरम्। निरक्षे स्वदेशे च मेषादिः सममुदेति। मेषान्त आदौ स्वक्षितिजे तत उन्मण्डले लगति। अतश्चर-खण्डोनो मेषोदयः स्वदेशोदयो भवति। एवं वृषमिथुनयोरपि। कर्क्यादौ तु चर-खण्डानामपचीयमानत्वाद्धनं तानि परिणमन्ति। तुलादौ तून्मण्डलस्याधः स्थितत्वाच्चरखण्डानि धनं भवन्ति। मकरादौ तु चरखण्डानामपचीयमानत्वा-दृणं परिणमन्ति। इत्यादि गोले सम्यग्विलोक्यते।

मरीचि :—अथ लाघवादेतत्प्रकारसिद्धानुदयास्तप्रसंगात्स्वदेशोदयज्ञान मस्तासूंश्चोपजातिकाभ्यामाह—

तेऽभ्राद्रिभूपा १६७० गुणगोऽद्रिचन्द्राः १७५३ सप्ताग्निनन्देदुमिता १९३७ अथैते ।
क्रमोत्क्रमस्थाश्चरखण्डकैः स्वैः क्रमोत्क्रमस्थैश्च विहीनयुक्ताः ॥५८॥
मेषादिषराणामुदयाः स्वदेशे तुलादितोऽमी च विलोमसंस्थाः ।
उदेति राशिः समयेन येन तत्सप्तमोऽस्तं समुपैति तेन ॥५९॥

ते, प्रगानीता उदयासवः क्रमेण मेषादीनां त्रयाणां अभ्रादीत्याद्यंकस्थापनेन स्पष्टम् १६७०। १७९५।१९३५। स्वदेशोदयमाह्–अथेति। अथानंतरं एते त्रयोऽसवः क्रमोत्क्रमस्थाः एकादित्र्यंतराशीनां स्वैः एकादिराशिसंबधिभिः प्रागुक्तैश्चरखण्डैः क्रमोत्क्रमस्थैः क्रमेण विहीनयुक्ताः कार्याः। अयमर्थः–एकादिराशीनामुदयासवः क्रमेणाधोऽधःस्थास्तदधोऽप्युत्क्रमेण स्थाप्यास्त एव तद्यथा १६७०, तथैकादिराशीनामभीष्टदेशीयचरखण्डत्रयासवः क्रमेण तद्रीत्या स्थाप्याः। ततः क्रमगाना-१७९५ मन्तरं, उत्क्रमगानां योगश्चेति। एते षट्स्थानस्था असवः स्वदेशे गृहीतचरखण्डसंबंधि १९३५ देशावछिन्नभूगर्भोत्क्रमेण मेषादिषण्णां, कन्यांतानामुदयासवो भवंति। ननु द्वादशराशीनां १९३५ सत्वात्षडुदया एव कथमुक्ता-अत आह्—तुलादित इति। अमी मेषादि षडुदयाः अलाभाय-१७९५ योगव्यवच्छेदार्थे वकारश्चकारः। विलोम संस्थाः व्युत्क्रमस्था तुलादितः षण्णां राशीनां १६७० मीनांतानामुदयास्तथा कन्योदयस्तुलायाः सिंहोदयः वृश्चिकस्य, कर्कोदयो धनुषः, मिथुनोदयो मकरस्य, वृषोदयः कुम्भस्य मेषोदयो मीनस्येति पर्यवसितम् ।

अथ राशीनामुदयकालानुक्त्वा तेषामस्तकालानाह्—उदेतीति-यः मेषाद्यंतगतोराशिः, येन समयेन, स्वदेशे यत्संख्याकास्वात्मककालेन उदेतीति क्षितिजपूर्वभागसक्तो भवति। तेन कालेनैवातस्तत्सप्तमः, तद्राशितः सप्तमो राशिः अस्तक्षितिजपश्चिमभागसक्तश्च समुपैति। तत्सप्तमः प्राप्नोति। तथा च यस्य राशेः पूर्वकालोक्तः स तस्योदय संबधकालः। तत्कालावधितद्राशे रुदयसत्वम्। तत्सप्तमराशेरस्तसद्भावश्चैवं च मेषादीनां षराणां ये उदयकालास्त एव क्रमेण तुलादीनामस्तकालावयवास्तुलादीनां ये उदयास्ते मेषादीनामस्तकाला इति पर्यवसितोऽर्थः।

अत्रोपपत्ति :—एकादि राशिज्याः, १७१९।२९७७।३४३८ परमाल्पद्युज्यया—३१४१।२२।३० गुणाः [५४०००···२३।३७।३०] [९३५३११५।५।२७] [१०८०००४७।१५] स्व स्व द्युज्यया

३३६६	३३१८	३१४१
१७	६	२२
४२	५६	३०

भक्ताः फलानि। एषां धनूंषि अधोऽधः शुद्धानि १६७०।३४६५।५४००

१६७०	१७९५	१९३४
९	१४	३७

अत्र पूर्व द्वितीययोरवयस्त्यक्तः तृतीयस्याधोऽवयवस्यार्धाभ्यधिकत्वादूर्ध्वमेकोऽधिको गृहीतस्तथा च मेषवृषमिथुनानां लंकादिनिरक्षदेशोदयासवः सिद्धाः क्रमेण १६७१।१७९५।१९३५। एत एव व्युत्क्रमेण कर्कसिंहकन्यानाम्। यथा—१९३५।१७९५।१६७० कीटादीत्यादि प्रकारेण द्वितीयप्रथमस्थाने पूर्वप्रकारहरयोर्व्यत्यासात्किंचिदंतरेणांतरितौ । मध्यस्तु

यथागत एव। यथा तत्प्रकारानीतोदयासवः १९३८ १४ | १७९५ २८ | १६६६ १७ | उपपत्यास्वल्पां-तरेण च द्वयोः युक्तत्वादप्याचार्यैर्ये मेषाद्यस्वानयनप्रकारांगीकारेण निबद्धाः। त्रिभ-द्युकर्णार्धगुणाः स्वाहोरात्रार्धं भाजिताः क्रमादेकद्वित्रिभज्यास्तचापानि पृथक् पृथक्। स्वाधोऽधः प्रविशोध्याऽथमेषाल्लंकोदयासवः। खागाष्टयोऽर्थगोगैका शरत्र्यंकहि-मांशव इति सूर्यसिद्धान्तोक्तेः। अत्र लंकापदं निरक्षदेशपरम्। सर्वत्रोदयानामुप-पत्या तुल्यत्वादन्यथोदयानां देशान्तरसंस्कारकरणापत्तेश्च। स्वदेशोदयसाधनो-पपत्तिस्तु-यद्राश्यादिः क्षितिजे यदा लग्नस्तत्कालाद्यत्कालेन तदंतो लगति स तस्यो-दयकाल इति प्रागुक्तमेव। अतोऽक्षांशवशतः स्वदेशे उन्मण्डलातिरिक्तक्षितिज-वृत्तस्य सत्वान्निरक्षोदयेभ्यो न्यूनाधिका उदया भवन्त्येव उन्मण्डलक्षितिजवृत्तयो-रूर्ध्वाधरांतरत्वा देकक्रांतिवृत्तप्रदेशस्यैकदा तत्संयोगानुपपत्तेः। अत एव विपुवद्वृत्त-क्रान्तिवृत्तसंपातरूपमेषादि रुन्मलक्षितिजसम्पाते तदूर्ध्वाधरांतराभावात्स्वनिरक्षे साक्षे च सममुदेति। तत उन्मण्डलमेषांतः स्वादुदयचिन्हादुत्तरत्र स्वक्रान्ति भागान्तरे स्वानीतकालासुभिर्लगति। उदयानामुद्वृत्तत उत्पन्नत्वात्। एवं स्वदेशे स्वद्युरात्रवृते उन्मण्डललग्नं मेषांतकालात्पूर्वमेव क्षितिजे लगत्यतो मेषांतनिरक्षो-दयः स्वचरेण क्षितिजोन्मण्डलांतरितद्युरात्रवृत्तप्रदेशकालरूपेणोनः स्वदेशे मेषाद्यु-दयकालात्काल उदयाख्यो भवति। अथ यथोन्मण्डले मेषांताद्वृषान्तः स्वक्रान्ति भागान्तरेण लगति स्वकालेन तथा स्वक्षितिजे तत्कालेन न लगति। किंतु मेषान्तोदयचिन्हाङ्कात् स्वक्रान्त्यन्तरेणोत्तरस्यां वृषांतद्युरात्रवृत्ते स्वक्षितिजात् द्वितीयचरखण्डकान्तरेणोर्ध्वं उदयकालानां क्रान्तिवशत उत्पन्नत्वात्। अतस्त-दूनस्तत्कालः स्वदेशोदयो वृषस्य। एवं वृषान्तलग्नक्षितिजकालात् मिथुनान्तः स्वद्युरात्रवृत्ते क्षितिजादूर्ध्वमेव तृतीयचरखण्डेन लगति प्रोक्तकालेन उन्मण्डला-त्तत्रक्षितिजस्याधस्थत्वात्। अतः चरखण्डेनोनो निरक्षोदयः स्वदेशोदयः, एवं मेषादित्रयाणाम्। ततः कर्कांतः स्वद्युरात्रवृत्ते मिथुननिरक्षोदयकालेन स्वक्षितिजा-त्क्रान्त्यन्तरमार्गेणाधस्तृतीयचरखण्डेनेति, चरखण्डयुतनिरक्षोदयः स्वदेशोदयः कर्कस्य। एवं सिंहांतोऽपि प्रोक्तस्थले द्वितीयचरखण्डान्तरेणाधः क्षितिजाद्भवत्य-तस्तदपि युक्तम्। एवमेव कन्यान्तः, स्वनिरक्षोदयकालेन क्षितिजात्पूर्वं चखण्ड-कालेन विषुवद्वृत्तेऽधो भवतीति तदपि युक्तमेव क्षितिजस्योन्मण्डलात्तिर्यग्गतत्वात्। एवं तुलान्त उन्मण्डलादूर्ध्वमतस्तदुदयकालोननिरक्षमेषोदयकालकालयोः युतः प्रथमखण्डेन स्वदेशे तुलोदयः। एवमेव वृश्चिकधनुरंतौ स्वक्षितिजात्स्वचरखण्ड-कालेनाध इति तदुदयौ निरक्षवृषमिथुनकालतुल्ययोर्युतौस्तः। एवमेव मकरकुंभ-मीनांताः क्रमेणनिरक्षमिथुनवृषमेषकालोदयतुल्यं स्वकालाः स्वद्युरात्रवृत्ते। तृतीय-द्वितीयप्रथमचरखण्डैः क्षितिजादूर्ध्वं भवतीति हीनास्तुलादिषण्णामुदया मेषादि-षडुदयाव्यस्तत्वेन परिणताः। मेषादिषड्राशिसंबन्धिस्वक्षितिजात्तुलादिषड्राशि-संबन्धि क्षितिजस्योद्वृत्तावधितो विपरीतत्वात्। अस्तकालोपपत्तिस्तु क्रान्तिवृत्ते द्वादशविभागप्रदेशरूपतुल्यराशीनां सत्त्वाद्यथा क्रान्तिवृत्तप्रदेशः पूर्वक्षितिजे लगति

तथा तत्षड्भांतरितक्रान्तिवृत्तप्रदेशः पश्चिमक्षितिजे लगति। गोलार्धस्थाने क्षितिजवृत्तत्वात्स्वदेशे भ्रमत्क्रान्तिवृत्तार्द्धस्य सदा स्वक्षितिजोर्द्धत्वात्। अतो यस्य यत्कालेनोदयस्तत्सप्तमस्य तत्कालेनैवास्तः, क्रान्तिवृत्तस्यैकत्वेन तत्प्रदेशानां तुल्यगमनादित्यादि गोले स्पष्टमिति संक्षेपः ॥५९॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—पहिले के समीकरणों में अंकों के उत्पादन से जैसे कूर्माद्रि (उत्तरा खण्ड) अल्मोड़ा मण्डल में अल्मोड़ा केन्द्राभिप्रायिकपलभा ६।५६ है। इससे चर खण्ड ६९, ५५, २३ आते हैं।।

२७८	२९९	३२३	३२३	२९९	२७८
६९	५५	२३	२३	५५	६९
मेष	वृषभ	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या
२०९	२४४	३००	३४६	३५४	३४७
मीन	कुम्भ	मकर	धनु	वृश्चिक	तुला

अर्थात् कूर्मप्रान्तीय—अल्मोड़ा नगर को केन्द्र मानने से यहाँ के क्षितिज में क्रान्ति वृत्त का मेषादि विभाग उक्त पलों तक रहेगा—इसी प्रकार सर्वत्र सर्व देशाभिप्रायिक जो निष्पन्न (उत्पन्न) असु लङ्का में निरक्ष क्षितिजीय देशों में आचार्य ने वेध से प्राप्त किये हैं इसी आधार से सर्वत्र भूमण्डल में जहाँ कहीं भी स्वदेशोदयों का मान जाना जा सकता है।

इदानीं नैपुण्यमाह—

क्षेत्राणां स्थूलत्वात् स्थूला उदया भवन्ति राशीनाम्।
सूक्ष्मार्थी होराणां कुर्यात् द्रेक्काणकानां वा ॥६०॥

वा० भा०—यथा राश्युदयाः साधितास्तथा होरादया अपि साध्याः। तद्यथा। पञ्चदशादिपञ्चदशभागोत्तरभागानां ज्या होराज्याः षड् भवन्ति। ताभिर्मिथुनान्तद्युज्या ३१४१ पृथक् पृथक् गुण्या स्वस्वद्युज्यया भाज्या। फलानां धनूंष्यधोऽधः शुद्धानि। षष्ठात् पञ्चमं पञ्चमाच्चतुर्थमित्यादि। शेषाणि होरोदयासवो भवन्ति। एवं दशादशोत्तरभागैर्द्रेक्काणोदयासवो भवन्ति। ते च नव। तथा होरांशानां षट् चराणि यान्यधोऽधः शुद्धानि तानि तेषां चरखण्डानि। तैः क्रमोत्क्रमस्थैः क्रमोत्क्रमस्था ऊनयुताः सन्तः स्वदेशे होरोदया भवन्ति। मेषादीनां द्वादश। ते च व्यस्तास्तुलादीनाम्। एवं चतुर्विंशतिः २४। एवमेव दृक्काणोदयाः षट्त्रिंशत्; तथा चार्कस्य सायनांशस्य भागाः पञ्चदश १५ हृता गतहोराः स्युः। शेषांशास्ते भुक्तास्ते पञ्चदशभ्यः शुद्धा भोग्यांशाः स्युः। भोग्यांशघ्नः स्वदेशहोरोदयः पञ्चदशहृतः फलं भोग्यासवः स्युस्तानिष्टासुभ्यो विशोध्य तदग्रतो होरोदयांश्च शोधयेत्। शेषं पञ्चदशगुणमशुद्धहोरोदयेन भजेत्। फलं लवाः। अशुद्धपूर्वाणां होरोदयानां संख्यया गुणितैः पञ्चदशभिर्युताः सन्तो लग्नस्यांशा भवन्ति; एवं लग्नात् कालसाधनेऽपि। एवमेव द्रक्काणोदयैरपि लग्नसाधनम्। तत्र पञ्चदशस्थाने दश १०

गुणने भजने च कल्प्याः। एवं होरोदयै र्वा साधितं लग्नादिकमुदयान्तराख्यं कर्म्म च सूक्ष्मं भवति। अन्यथा स्थूलम्।

मरीचिः—ननु त्वदुक्तरीत्या राशित्रिभागेषूदया राश्युदयासूनाः त्रिभागाः समाः भवन्त्यनुपातसिद्धत्वात्तच्चायुक्तम्। परमशिष्टे'नार्यभटेन' तेऽथतुल्योदयाना-मुक्तत्वात्तथा च तद्वाक्यम्-द्रेष्काणज्याः सर्वा मिथुनांतद्युज्यया। निघ्नाः स्वस्वरूप-द्युज्या भक्तास्तच्चापकला भवन्त्यसवः। तेऽथो विशोधिता स्युर्निरक्षदेशोदयाः क्रमशः मभिधा १५४९ मरामा ५५५ मृतमा ५६५ मदना ५८० मधुन्हा ५९८ त्कथा ६१७ ल्लचा ६३६ मठिजाः ६४८ चभराः ६५२ प्राणाश्चक्रादिमचरणोद्भवदृकाणा-नामिति तत्कथमुक्ताः स्थूला उदया सर्वे इत्यत आह-क्षेत्राणां स्थूलत्वात्स्थूला उदया-भवंति राशीनां सूक्ष्मार्थी होराणां कुर्याद्दृक्काणकानां चेति। क्षेत्राणां त्रिंशद्भा-गात्मकानां राशीनां स्थूलत्वादसूक्ष्मत्वात्। राशीनां मेषादीनां उदयाः पूर्वोक्तप्रका-रेण साधितोदयाः स्थूला असूक्ष्माः भवंति। तथाचासूक्ष्मत्वेऽपिप्राचीनानुरोधेन गणितलाघवार्थं राश्युदया एवोक्ता इति भावः। ननु सूक्ष्मस्याभ्यर्हितत्वेनोदय-साधनमपि तथा न कृतं भवता राशिपददानादत आह-सूक्ष्मार्थीत्यादिसूक्ष्मगणितकृत् होराणां होरेतिलग्नं भवनस्य चार्धमित्युक्तेन।

पंचदशभागानामुत्तरोत्तरं मदुक्तप्रकारेण कुर्यात् सिद्धोदयात्। तथा दृक्काणानां राशित्रिभागानां दशांशानां च कुर्यात्। इदमुपलक्षणम्। एकैकांशस्य प्रतिविकलयाश्चोदयासवः साध्या इति। तथा च मदुक्तसाधने राशि-पदस्योपलक्षणत्वात्। स्थूलावधिद्योतकत्वेन वा राश्यंशाधिकांशानामुत्तरोत्तरं गणितकरणार्थमुदयाः। सिद्धा न कार्याः। अतिस्थूलत्वापत्तेरेत्यभिप्रायाच्च-सर्वमसंमंजसम्। लक्ष्मैतत्सगण गोपेता भवति तेह विषमे नः। षष्ठो न लघु-वा प्रथमेऽर्द्धे नियतमार्यायां इतिलक्षणाद्यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पंचदशसार्येत्युक्तत्वादिदं पद्यमार्याख्यम्।

अत्रोपपत्तिः—क्रान्तिवृत्तप्रदेशमार्गाणां द्युरात्रवृत्तानामनेकत्वात्प्रतिप्रदेश-मुक्तक्षेत्रानुसृत क्षेत्राण्युत्पद्यन्त। अतस्तत्तत्क्षेत्रात्पूर्वप्रकाररीत्या-तत्तत्प्रदेश-साधितोदयः सूक्ष्मः। अतएवानुपात सिद्धादयः स्थूलाः, ज्यावदत्राप्यनुपाताभावात्। अत्र यत्क्रान्तिवृत्तप्रदेशविभागांतरेण निरक्षोदयाः पदमध्ये यत्संख्याकाः साधितास्तत्संख्याकातिचरखण्डानि तत्र स्वदेशोदयसाधनार्थं साध्यानीत्यादि सुगममित्यलम् ॥६०॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—राशिवृत्त के समान १२ भागों में प्रत्येक भाग की एक राशि है। ऐसे ही एक राशि के दो विभागों में, $\frac{३०^\circ}{२}=१५^\circ$ की एक होरा, एवं इससे भी और सूक्ष्मता $\frac{३०^\circ}{३}=$ १०° का एक द्रेष्काण संज्ञक कहा गया है। अर्थात् क्रान्ति वृत्त के समान २४ भागों की

$\frac{३६०^\circ}{१५}$ = भागों की २४ होराएँ, एवं $\frac{३६०}{१०}$ = ३६ द्रेष्काणादि होंगे। अतः राशियों के उदयासु साधन की तरह होरासु द्रेष्काणासु इत्यादि साधन कर इन असुओं से लग्न साधन करने से यह लग्न सूक्ष्म होगी, तभी फलित ज्यौतिष में तत्थ्यता आ सकेगी। इस प्रकार के अनेक कल्पना वैचित्र्य के सूक्ष्म गणित से सूक्ष्म फल होता रहता है, यही आचार्य का अभिप्राय है।

इदानीं भुजान्तरमाह—

भानोः फलं गुणितमर्कयुतस्य राशे-
र्व्यक्षोदयेन खखनागमही १८०० विभक्तम्।
गत्या ग्रहस्य गुणितं द्युनिशासुभक्तं
स्वर्णं ग्रहेऽर्कवदिदन्तु भुजान्तराख्यम् ॥६१॥

अर्कस्य यद्भुजफलं यस्मिन् राशौ रविर्वर्त्तते तस्य राशेः सम्बन्धी यो निरक्षोदयस्तेन तद्गुणितं राशिकलाभिः १८०० भक्तं पुनर्ग्रहगत्या गुणितमहोरात्रासुभिः २१६५९ भक्तं यत् फलं तद्ग्रहेऽर्कवद्धनर्णं कार्य्यम्। यद्यर्कस्य भुजफलं धनं तदा सूर्य्यस्यान्येषां च धनम्। यदि ऋणं तदा ऋणमित्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः।—ये मध्यमार्कोदयिकास्ते स्फुटार्कोदयिकाः क्रियन्ते। तत्रार्कफलस्यासुकरणेऽनुपातः। यदि राशिकला १८०० निरक्षोदयासुभिरुद्गच्छन्ति, तदा फलकलाः कतिभिरिति। लब्धं भास्वत्फलोत्था असवो भवन्ति। अथान्योऽनुपातः। यदि द्युनिशासुभिर्गतिकला लभ्यन्ते तदा एभिः किम्? इति। ताः कला अतः ऋणं धनं यतः "मध्यमार्कोदयात् प्राक् स्फुटार्कोदयः स्याद्दणे तत्फले स्वे यतोऽनन्तरम्" इत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथ यदर्थमेतावानुद्योगस्तदेव वसंतिलकयाऽह—
भानोः फलं गुणितमर्कयुतस्य राशेर्व्यक्षोदयेन खखनागमही १८०० विभक्तम्।
गत्या ग्रहस्य गुणितं द्युनिशासुभक्तं स्वर्णं ग्रहेऽर्कवदिदन्तु भुजान्तराख्यम् ॥६१॥

सूर्यस्य भुजफलं मंदफलं प्रागानीतं कलादि अर्कयुतस्य राशेः-सायनांशसूर्यस्य, आश्रयीभूतो राशिर्मेषाद्यंतर्गतस्तस्या पठितनिरक्षोदयासुभिर्गुणितं, अष्टादशतभक्तम्। इदं फलं तु पुनः। अभीष्टग्रहस्य गत्या गुणितंसूर्याहोरात्रासुभिर्भक्तं फलं भुजान्तरसंज्ञं गृहीतगत्यवयवात्मकम्। ग्रहे, स्वेऽर्कवत् सूर्ये मन्दफलं धनं चेद् ग्रहे युतं ऋणं चेद्धीनमितिकार्यम्।

अत्रोपपत्तिः—मध्यमार्कोदयिकानां स्पष्टार्कोदयकालिकत्वसंपादनार्थं तदुदयद्वयकालान्तरेण चालनं कार्यन्तदंतरकालज्ञानं च सूर्ये मन्दफलभोगकालज्ञानेन मध्यस्य, अर्कयोरंतरं मन्दफलातिरिक्तफलाभावात्। अतो मध्यस्पष्टा-

कांतरमिदं फलरूपक्रान्तिवृत्तप्रदेशस्य स्वाधिष्ठितमार्गे द्युरात्रवृत्ते कालः साध्यस्तत्साधनं च मध्यस्पष्टार्काभ्यामुदयसाधनरीत्या कालावस्वात्मकौ साध्यौ तदंतरमिति सूक्ष्मं प्रयासाधिक्याद्विहायाल्पांतरेण साधितसिद्धराश्युदयासुभिरनुपातात्कृतम्। तद्यथा-एक राशिकलाभिःस्वराश्युदयासवस्तदा मंदफलकलाभिःकिमित्युत्पन्नोदयानां संपातावधित्वेन साधनात्सायनसूर्याधिष्ठितराश्युदयासवो निरक्षदेशीयाः ग्राह्याः। मन्दफलभोगकालस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्कल्पितभूमध्यदेशीयोदयग्रहणस्य युक्तत्वात्। नह्याश्रयं विनोदयादिगणितसिद्धिः संभवति। तद्गणितस्य भूसंबन्धात्। अन्यथा मन्दफलैकोपजीव्यकालस्य तदंतररूपस्यैकरूपत्वेऽपि सर्वत्रभेदकतापत्तेः। ततोऽहोरात्रासुभिर्गतिस्तदा मन्दफलासुभिः केति चालनफलम्। मन्दफलांतरित उत्पन्नमिति सर्वत्र भेदकल्पनापत्तेः। ततोऽहोरात्रासुभिर्गतिस्तदा मन्दफलासुभिः केति मध्यपदलोपेन भुजांतराख्यमुक्तम्। एतादृशसंज्ञा व्यवहारदर्शनात्। "अर्कबाहुफलाभ्यस्ता ग्रहभुक्तिर्विभाजिता। भचक्रकलिकाभिः स्युर्लिप्ता कार्या ग्रहेऽर्कवदि"ति सुखार्थं स्थूलमुक्तं सूर्यसिद्धान्ते। कलास्वोरभिन्नता प्रतिपादनाच्च। इदं ग्रहे सूर्यमन्दफले धने सति युतम्। मध्योदयाग्रे स्पष्टोदय सद्भावात्। ऋणे सति मध्योदयात्पूर्वं स्पष्टोदय सद्भावात्। यतः क्रान्तिवृत्तांतिमभागस्थप्रवहभ्रमितस्य क्षितिजादिप्रदेशलग्नता पश्चाद् भावः पूर्वं प्रदेशवल्लग्नकालादिति ॥६१॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—रवि के भुजफल को रविनिष्ठ राशि के निरक्षोदयासु से गुणाकर १८०० कला से भाग देने से लब्ध फल को ग्रहगति से गुणा कर अहोरात्रासु से भाग देने से लब्ध फल को भुजफल की तरह ग्रह में धन अथवा ऋण करने से स्पष्टार्कोदयकालिक ग्रह हो जाते हैं। इसी का नाम भुजान्तर संस्कार है। मध्यम और स्पष्ट रवि का अन्तर भुजफल है।

अतः अनुपात से, $\frac{\text{रविनिष्ठ राशिका निरक्षोदयासु} \times \text{फल कला}}{\text{१८०० कला}}$ = रविमन्दफलासु। पुनःअनुपात से

$\frac{\text{ग्रहगतिकला} \times \text{उक्त रविमन्दफलासु}}{\text{अहोरात्रासु}}$ = भुजफलसम्बन्धि ग्रहगतिफल उपपन्न होता है।

इदानीं मुदयान्तरमाह—

युक्तायनांशस्य तु मध्यमस्य भुक्तासवोऽर्कस्य निरक्षदेशे।
मेषादिभुक्तोदयसंयुता ये यच्चायनांशान्वितमध्यभानोः ॥६२॥
लिप्तागणस्तद्विवरेण निघ्नी
गतिर्ग्रहस्य द्युनिशासु २१६५९ भक्ता।
स्वर्णं ग्रहे चेदसवोऽधिकोना
इदं ग्रहाणामुदयान्तराख्यम् ॥६३॥

मध्यमार्कस्य सायनांशस्य ये राशेर्भुक्तभागास्तैस्तदुदयं निरक्षदेशीयं सङ्गुण्य त्रिंशता विभजेत् फलं तस्य राशेर्भुक्तासवः। अथ मेषाद्या येऽर्केण भुक्ता राशयस्तेषाञ्च निरक्षोदयासवस्तत्र योज्यास्ते मेषादिभक्तोदयासवः स्युः। अथ मध्यार्कस्य सायनांशस्य कलाः कार्याः। तासां कलानां तेषामसूनाञ्च यदन्तरं तेन ग्रहगतिर्गुण्या द्युनिशासुभिर्भाज्या लब्धाः कला ग्रहे धनं कार्याः। यदि कलाभ्योऽसवोऽधिकाः स्युः। यदि न्यूनास्तदा ऋणम्।

अत्रोपपत्तिः।—इह यः पूर्वमहर्गणः कृतः समध्यमसावनमानेन; स्फुटसावनस्य चलत्वात्। रविमध्यगतिकलातुल्यासुभिः सहिता नाक्षत्राः षष्टिघटिकाः ६०। ५९। ८। इदं वास्तव मध्यममर्कसावनम्। स्वोदयभुक्तिघातात् खाभ्राष्टभू १८०० लब्धसमासुभिः सहिता नाक्षत्राः षष्टिघटिकाः स्फुटसावनम्। ता गतिकला यैरसुभिरुद्गच्छन्ति तद्युताः षष्टिघटिकाः स्फुटसावनम्। तच्च चलम्।

प्रत्यहं गत्यन्यत्वात् प्रतिमासं राश्युदयान्यत्वाच्च।

तादृशोऽहर्गणः कर्त्तुं नायातीति मध्यमः कृतः। तेन सम्यगर्कोदये ग्रहा न भवन्ति। कदाचिदर्कोदयात् प्राक् कदाचिदनन्तरम्। अत एव प्रागुक्तम्।—

"दशशिरःपुरि मध्यमभास्करे
क्षितिजसन्निधिगे सति मध्यमः।" इति।

अथ स्फुटमध्यमाहर्गणयोरन्तरानयनम्—मेषादेरारभ्य येऽर्कभुक्ता राशयस्ते यैरसुभिरुद्गच्छन्ति त एकीकृताः। तावत्यस्वात्मके काले भदिनान्तादूर्ध्वमहर्गणेन भवितव्यम्; अथ च मेषादिभुक्तकलातुल्येऽन्तरे कृतः। अतोऽसूनां कलानाञ्च यदन्तरं तावद्भिरसुभिरहर्गणोऽन्तरितः। अत्रानुपातः—यद्यहोरात्रासुभिर्गतिर्लभ्यते तदा एभिः अन्तरासुभिः किम्? इति। फलं ग्रहेषु स्वं यद्यसवोऽधिकाः। अन्यथा ऋणमित्येतदुक्तं युक्तमेव।

मरीचिः—ननूक्तयुक्त्या ग्रहाः स्पष्टार्कोदयासन्नकाले जाताः क्षितिज सन्निधिगेसतीत्युक्तत्वात्। कथं सूर्योदये तदस्ते वा ग्रहाः भवंतीत्युक्तं। न चाभ्योऽल्पान्तरत्वादिति वाच्यम् भुजांतरफल कथनानुपपत्तेः। तत्वात्। वस्तुभूतकथनस्य युक्तत्वाच्चेत्यतदेंद्रवज्रोपजातिकाभ्यामाह—

युक्तायनांशस्य तु मध्यमस्य भुक्तासवोऽर्कस्य निरक्षदेशे।
मेषादिभुक्तोदयसंयुता ये यश्चायनांशान्वितमध्यभानोः ॥६२॥
लिप्तागणस्तद्विवरेण निघ्नी गतिर्ग्रहस्य द्युनिशासु २१६५९ भक्ता।
स्वर्णं ग्रहे चेदसवोऽधिकोना इदं ग्रहाणामुदयान्तराख्यम् ॥६३॥

मध्यमस्याहर्गणोत्पन्नस्य प्रागानीतसूर्यस्य सायनांशस्य निरक्षदेशे भुक्तासव व्यक्तोदयेन तदधिष्ठितराशे भुक्तिभागानां त्रिंशद्भागै तदुदयासवस्तदेष्टांशैः किमित्यनुपातेन भुक्तासव ये भवंति ते मेषादिभुक्तराशीनां निरक्षोदयासुभिः प्रागुक्तैर्युताः कार्याः। एवं सिद्धोऽसुगण एकत्रस्थाप्यस्ततः सायनांशमध्यसूर्यस्य राश्यादेः परिभाषया कृतलिप्तागणो यत्संख्याको भवति, सोऽप्येकत्र स्थाप्य-

आभ्यां फलितमाह्—तदिति। तयोरसुलिप्तागणयोरन्तरेण ग्रहस्य गतिर्गुण्या सूर्याहोरात्रासुभिर्भक्तादिदं फलं ग्रहाणां-उदयान्तरसंज्ञं कल्पितम्। ग्रहे स्वर्णं कार्यं चेद्यदि—असवः कलागणादधिकाः ऊनाश्च भवंति तदा क्रमेणेत्यर्थः। तथा चैतत्संस्कारेण ग्रहस्य सूर्योदय कालिकत्वं भवत्यतत इति न क्षतिरितिभावः।

अत्रोपपत्तिः—अनुपातानीताहर्गणस्य मध्यमसूर्योदयासन्नकालिकत्वं पूर्वं प्रतिपादितम्। तेन तदुत्पन्न ग्रहस्य तात्कालिकत्वे सिद्धे मध्यमसूर्योदयकालिकत्व सिध्यर्थं तदंतरकालेन चालनं देयम्। अतस्तदासन्नतत्कालयोरंतरं कार्यम्। तत्रैक-रूपमध्यमासन्न सावनराश्युदयवैलक्षण्योत्पन्न प्रात्यहिक विसदृशमध्यमसावन प्रमाण सिद्धयोः सूर्यसावनयोस्तद्गुणितकाले तुल्यत्वात् भगणादित इष्टकाले साधित-तादृशाहर्गणयोरंतरमेव तद्रूपं भवति। अथ तत्रापि सावनान्तर्गतनाक्षत्रषष्टि घटीनामुपपन्नसत्वाद्गतितुल्यकल्पितसावनाववयववास्तवगतिभोगकालरूपतदवय-वप्रमाणसिद्धयोर हर्गणयोः सूर्यभगणादिकालाद्योरंतरं तद्रूपमिति सिद्धम्। तत्र मध्यमगत्युत्पन्नं मध्यमराश्यादि सूर्यस्य मेषाद्यसुगगो वास्तवमध्यार्कोदयकाली-नाहर्गणखण्डात्तदानयनं सोदयासूनां विषुवत्क्रान्तिवृत्तसपातस्थमेषप्रदेशजन्यत्वात् सायनमध्यमसूर्यस्य भुजज्यातो ऽस्वात्मकः कालः पूर्वोक्तप्रकारेण साध्यः। निरक्षदेशेऽहर्गणानीत ग्रहस्य मध्योदयासन्नकालिकत्वात्। स प्रथमे पदे यथास्थितः, द्वितीये ख खाष्टाभ्रभू भ्यः १०८०० शोध्यस्तृतीये तद्युक्तश्चतुर्थेभगण-कलाभ्यः, शोध्य इति सूक्ष्ममपहाय गणितलाघवार्थ मल्पान्तरत्वाच्च पूर्वोक्तसिद्ध राश्युदयैरेवानुपातेन भुक्तभागासवो भुक्तराश्युदययुता इति स्थूलमंगीकृतमाचार्यैः। अथार्कमध्यमगतिकलातुल्यकल्पितासुप्रमाणेनाहर्गणखण्डज्ञानं तदासन्नकाले सायनसूर्यस्य मध्यमराश्यादेः कलागणेन वास्तवाहर्गणखण्डस्य पूर्वमेवावधित्वात्। अभिन्नारम्भयोस्तयोरेवान्तरस्योपयुक्तफलोपजीव्यत्वात्। रविमध्योदयान्तर-साधनार्थं मध्यमार्कग्रहणं तदन्तरकालेनास्वात्मकेन प्रसिद्धपूर्वानुपाताच्चल-नानयनम्। फलस्योदयोपजीव्यत्वात्तत्कालान्तरजत्वश्चोदयान्तरसंज्ञा युक्ता। अथ मध्योदयकालीनाहर्गणस्यासुरूपवास्तवस्य तदासन्नकालिककलागणरूप-कल्पिताहर्गणान्न्यूनत्वेऽधिकत्वे मध्योदयासन्नकालिकग्रहाणामिदं क्रमेण धनमृणं स्यादिति युक्तम्। यद्यप्येतच्चरानयनात्पूर्वं वक्तुमुचितं पूर्वान्तरत्वात्तथाप्युद-योपजीव्यत्वान्नवीनत्वाच्चावसाने निरूपितम्। सूर्यसिद्धान्ते तु स्वल्पातरेण-दमुपेक्षित न तद्भावात्। ग्रहोदयप्राणहता खखाष्टैकोद्धृतेत्याद्यहोरात्रास्वानयने तद्भावप्रतिपादनस्य दर्शनात्। अतो युक्तायनांशेत्याद्युक्तं सर्वसमंजसमिति संक्षेप॥६३॥

दीपिका—किन्नामोदयान्तरमिति। वास्तवास्तवमध्यमार्कोदययोरन्तरमुदयान्तरं, यद्वा नाडीवृत्तीय क्रान्तिवृत्तीय मध्यमार्कोदययोरन्तरमुदयान्तरं वा भुजांशविषुवांशयोरन्तर-मुदयान्तरं वा कोटिकर्णयोरन्तरमुदयान्तरं वा वास्तवास्तवाहर्गणयोरन्तरमुदयान्तरमिति। तच्च मध्यगतिकलातुल्यासु मध्यगतिकलोत्पन्नास्वोरन्तरसममिति मनसि ध्येयम्।

शिखा—जिस उदयान्तर गणित ने पूर्व के आचार्यों के मस्तिष्क को स्पर्श नहीं किया इस उदयान्तर गणित से श्री भास्कराचार्य का महान् गणित कौशल व्यक्त होता है। गोलाध्याय में आचार्य ने यह उदयान्तर कर्म पूर्वचार्यों ने स्वल्पान्तरित और चल अन्तर होने से अपने ग्रंथों में नहीं दर्शाया है" ऐसा कहकर प्राचीनों का आदर करते हुये अपनी साधुता का ही परिचय भी दिया है। वस्तुतः भास्कराचार्य की ही यह नवीन गवेषणा है।

यह उदयान्तर क्या है? इसका प्रतीक, आचार्य ने मध्यमाधिकार के ग्रहानयनाध्याय के इस चौथे श्लोक में द्युचर चक्रहतो·········क्षितिज सन्निधिगे सति मध्यमः से पहिले ही दे दिया है। अहर्गण से मध्यम ग्रह प्राचीन आचार्यों के मत से (लङ्का) निरक्षदेशीय क्षितिज का, किन्तु भास्कराचार्य के मत से कदाचित् निरक्ष क्षितिज में, या क्षितिज के कुछ नीचे या क्षितिज के कुछ ऊपर क्रान्ति वृत्त में होता है। क्योंकि अहर्गण-गणित मध्यम सावन से किया जाता है, ग्रह तो क्षितिज में आने चाहिए। स्थिर मध्यम सावन की अपेक्षा स्फुट सावन चल है। मध्यमार्कोदय काल में ही मध्यमसावनान्त सदैव नहीं होगा। क्योंकि मध्मरवि की मध्यमरविगतिकला तुल्य असुयुत नाक्षत्रीय षष्टि घटिका ही मध्यम सावन है। मध्यम गति से क्रान्ति वृत्त में मध्यम रवि है, और इसी मध्यम गति कला के तुल्य जो असु नाडी वृत्त में हैं वहाँ पर भी रवि को मानें जिसे कल्पित रवि कहें तो—इसी मध्यम गति से चलित नाड़ी वृत्तीय रवि का और क्रान्ति वृत्तीय रवि का जो अन्तर है जिसे उदयान्तर कहा गया है, वास्तविक क्रान्तिवृत्तीय मध्यम रवि और कल्पित नाड़ी वृत्तीय रवि के उदयों काय ही सार्थक नाम उदयान्तर है। भुजांश विषुवांश और क्रान्त्यंश चापों से उत्पन्न चापीय त्रिभुज में भुजांश कर्ण, विषुवांश कोटि की विभिन्नता ही "उदयान्तर" गणित की सूचिका है। पदादि में दोनों का अभाव है तथा पदान्त में कर्ण कोटि की तुल्यता है, इसलिये पदादि और पदान्त में "उदयान्तर" का अभाव होगा। अतः पदादि से उदयान्तर की वृद्धिगत सत्ता होती हुई पद मध्य में इसकी परमता और वर्धमान वेग की तरह अपचीयमान कर्ण वेग से पदान्त में कर्णकोटि की तुल्यता गोल देखने से स्वयं सिद्ध होती है। इसीसे उदयान्तर का परमत्व स्थान के ज्ञान से आचार्य ने परमोदयान्तर ज्ञान पुरः सर इष्टस्थानीय उदयान्तर और उदयान्तर के अभाव को जानने का सफल स्तुत्य प्रयास किया है। यह विषय गोलीय दृष्टि से गोलाध्याय में इससे भी अधिक स्पष्ट होगा—भास्कराचार्य के इस उत्कृष्ट सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ के समग्र अंश, विशेष विचित्र महत्व के हैं। निश्चित है कि इस समग्र ग्रन्थ का सम्यगध्ययन ही ग्रह गोलगणित में पटुता प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।

उदयान्तर लाने का प्रकार—सायन मध्यम रवि के भुक्तांशों को उसके निरक्ष-देशीय असु से गुणा कर ३० से भाग देने से उस राशि के भुक्तासु होते हैं। गत राशि-सम्बन्धी भुक्तासु में इन्हें जोड़ने से मेषादि से भुक्तासु होंगे। इसी प्रकार मध्यम रवि की—(कर्ण रूप क्रान्ति वृत्तीय कला का) और कल्पितार्क नाड़ी वृत्तीय असुओं के अन्तर से ग्रह गति को गुणा कर अहोरात्रासु से भाग देकर लब्ध कला को ग्रहों में धन अथवा ऋण करना चाहिए (कला से असुओं की अधिकता और न्यूनता के क्रम से) तब वह ग्रह क्षिति-जासन्न के न कह कर ठीक क्षितिज के होंगे यही उदयान्तर संस्कार है। मध्यमरवि

के गतिकलातुल्यअसु और गतिकला के अनुपात से उत्पन्न असुओं का ही अन्तर या मध्यम और स्पष्टाहर्गणों का अन्तर या भुजांश विषुवांष का ही अन्तर उदयान्त होने से अहोरात्रासु में गतिकला तो उक्त अन्तरासु में क्या ? उपलब्ध उदयान्तर फल संस्कार से हीं वास्तविक क्षितिज के ग्रह होते हैं।

इदानीं येऽस्योदयान्तरस्य वासनां न बुध्यन्ति तेषां प्रतीत्यर्थमन्यदप्याह—

चेत् स्वोदयैः स्फुटरवेरसवः कृतास्ते
विश्लेषिताश्च यदि मध्यरवेः कलाभिः ।
बाह्वन्तराख्यमुदयान्तरकं चराख्यं
कर्म्मत्रयं विहितमौदयिके तदा स्यात् ॥६४॥

वा० भा० :—यदि स्फुटरवेः स्वोदयेन भुक्तासवः कृता मेषादिस्वोदयैश्च युतास्तेषामसूनां मध्यमार्ककलानाञ्च यदन्तरं तेन भुक्तिगुणिता द्युनिशासुभिर्भक्ता। यद्यसवोऽधिकास्तदा फलं ग्रहे स्वमन्यथा ऋणम्। एवं कृते सति भुजान्तरमुदयान्तरं चराख्यञ्च कर्म्मत्रयमपि कृतं भवति औदयिके ग्रहे।

मरीचिः—ननूदयान्तर कर्मेदं यथान्यैः स्वल्पान्तरत्वात्त्यक्तं तथा त्वयापि न वक्तव्यमन्यथा प्रसिद्धगणितक्रियातोऽधिकगणितेन श्रमाधिक्याद्ग्रन्थाद्गौ-रवापत्तेः। पूर्वग्रन्थाधिकश्रमगणितस्य रूपस्थानविभागेत्यादिना पूर्वं त्वयैव निरा-कृतत्वात्। अतः सिंहोद्धतयाऽह "चेत्स्वोदयैः स्फुटरवेरसवः कृतास्ते विश्लेषिताश्च यदि मध्यरवेः कलाभिः। बाह्वन्तराख्यमुदयान्तरकं चराख्यं कर्म्मत्रयं विहित-मौदयिके तदा स्यादिति ॥६४॥

यदि स्वदेशोदयैः पूर्वं प्रतिपादितैः, यदि च स्पष्टसायनार्कसूर्यात्पूर्वोक्तरी-त्यासुगणः मध्यसायनार्ककलागणेनान्तरानयने गणितक्रियायां विशेषे कृते सति सिद्धोदयान्तरफलेनोक्तरीत्या ग्रहः स्पष्ट एव संस्कृतस्तदा भुजफलोदयान्तरचरकर्म-भिस्त्रिभिः संस्कृतः सत्स्पष्टसूर्योदयकाले स्यादिति तात्पर्यार्थः। तथा च यथोक्तो-दयान्तरसाधनगणितगौरवमेवापरं निरक्षोदयमध्यमसूर्यासुस्थानयोः स्वदेशोदय-मन्दफलसंस्कृतार्कग्रहाभ्यां तत् गणितश्रमेणैव भुजफलोदयान्तरचरफलसंस्कृतग्रहः सिद्ध एव भवति। इति तदन्यथा सिद्ध्या लाघवमेव"मदुक्तौ"। तत्प्रधानत्वसूचनार्थं पृथक्तथोक्तमिति सर्वं साध्विति भावः। निरक्षोदयैः, स्पष्टरवेरसुगणः साधितस्त-दा तदानीतोदयान्तरफलसंस्कारेण भुजफलोदयान्तराभ्यां संस्कृत एव भवति न चरेण। यदा तु स्वदेशोदयैर्मध्यार्कादसुगणस्तदोदयान्तरसंस्कारेण चरोदयान्त-राभ्यां संस्कृत एव न भुजान्तर फलेनेति विशेषद्वयं चेद्यदि तदेति पदोक्तप्रायमिति ध्येयम्, स्पष्टार्ककलाग्रहणभेदास्त्वप्रयोजका इत्यपि ध्येयम्।

---

* क्वचिन्मूलकोषे, "इत्युदयान्तरानयने" वा। "तदुक्ताविति वा" पाठोऽस्ति।

अत्रोपपत्तिः—मध्यार्ककलागणेनान्तरितो मध्यार्कासुगण स्तदासन्नमध्यार्कोदयकालान्तरं यथा भवति तथा स्पष्टार्कासुगणश्चेत्तेनान्तरितस्तदा मध्योदयासन्नस्पष्टार्कोदययोरन्तरकालो भवत्येवोक्तायुक्ते स्तत्रापि स्वोदयग्रहे तत् स्वस्पष्टार्कोदयान्तरकालो भवति। स्वक्षितिजे प्रमाणैकोदयानां सत्वात्। अतएव देशभेदेन भिन्नस्पष्टसावनम्। अतः सुष्ठूक्तं कर्मत्रयं विहितमित्यादि प्रत्यक्षं सुगमञ्चेति संक्षेपः ॥६४॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—मध्यम रवि की कलाओं और असुओं का अन्तर ही उदयान्तर है। मध्य रवि और स्फुट रवि के अन्तर वश भुजान्तर संस्कार कहा गया है। निरक्षोदयासुओं में चर संस्कार देने से स्वदेशोदयासु होते हैं यह भी सुस्पष्ट है। अतः स्पष्टरवि के स्वदेशोदयासु और इसी प्रकार के मध्यार्ककलाओं के अन्तर से उक्तवत्-यदि उदयान्तर संस्कार किया जावेगा तो भुजान्तर, चरान्तर और उदयान्तर संस्कृत औदायिक ग्रह हो ही जावेगा इसमें क्या आश्चर्य ?

इदानीं प्रकारान्तरेणौदयिककर्माह—

मध्याद्रवेरयनभागयुताद्द्विनिघ्नाद्-
दोर्ज्या लघुर्गतिगुणा खनगाश्वि २७० भक्ता।
स्वर्णं ग्रहे युगयुजोः पदयोर्विलिप्ता-
स्त्वेवं स्फुटं खलु भवेदुदयान्तरं वा ॥६५॥

वा० भा०—मध्यमार्कस्य सायनांशस्य द्विगुणितस्य या लघुखण्डकैर्दोर्ज्या तया गुणिता ग्रहगतिः खसप्तयमैः २७० हृता फलं विकलादि ग्रहे धनम्। एवं युग्मपदस्थितेऽर्के। अयुग्मपदस्थिते त्वृणम्।

अत्रोपपत्तिः—क्रान्तिवृत्तस्य चत्वार्य्यपि पदानि पृथक् पृथक् पञ्चदशभिः पञ्चदशभिर्घटिकाभिरुद्गच्छन्ति; परं न एकैको राशिः पञ्चभिः, अत उदयान्तरकर्म्म पदमध्यं यावद् उपचीयते ततोऽपचीयते। अत एव पदान्तेषु तस्याभावः। पदमध्येषु परमता। यदत्र निरक्षोदयैः कर्म्म दर्शितं तद् बालावबोधार्थम्। तत् स्थूलम्। उदयानां स्थूलत्वात्। अत एव आर्य्यभटादिभिः सूक्ष्मत्वार्थं दृक्काणोदयाः पठिताः। इदमुदयान्तरं कर्म्म यथा सम्यग्भवति तथोच्यते।—मध्यमार्कस्य सायनांशस्य दोर्ज्यां द्युज्याञ्च कृत्वा तया द्युज्यया सा दोर्ज्या भाज्या मिथुनान्तद्युज्यया गुणनीया। तस्या धनुषो येऽसवस्तैर्मध्यमार्कस्य सायनांशस्य भुजकला ऊनाः सत्यः स्फुटा अन्तरासवो भवन्ति। तैरुदयोऽन्तरित इत्यर्थः। एवं पदमध्ये षड्विंशतिः २६ पलानि किञ्चिदधिकानि भवन्ति। तानि ज्याप्रकारेण साधयितुमर्को द्विगुणितः। द्विगुणितस्यार्कस्य यावद्भुजः क्रियते तावत् पदमध्ये राशित्रयं भवति। तद्दोर्ज्यया लब्ध्या षड्विंशत्या चानुपातः। यदि खार्कमितया

दोर्ज्यया षड्विंशतिर्लभ्यते तदाभीष्टया किम्? इति। अत्र षड्विंशत्या खार्का अपवर्त्तिता गुणकस्थाने रूपम् १। हरस्थाने सार्द्धाश्चत्वारः ४½। फलं पानीयपलानि। पुनरन्योऽनुपातः। यदि पानीयपलषष्ट्या गतिकलातुल्या विकला लभ्यन्ते तदैभिः किम्? इति। पूर्वं लघ्वी दोर्ज्या गुणः सार्द्धाश्चत्वारो हरः। इदानीं षष्टिर्हरः। अतो ग्रहगतेर्दोर्ज्या गुणः। हरयोर्घातो हरः खनगाश्विन २७०। इत्युपपन्नम्। ओजपदेऽसवः कलाभ्यः ऊना एव भवन्त्यतस्तत्र ऋणम्। युग्मपदे त्वधिका अतस्तत्र धनम्।

मरीचिः—अथ लघुभूत प्रकारेणोदयातरसाधनं सूक्ष्मं सिद्धोद्धृतयाऽऽह—"मध्याद्रवेरयनभागयुताद्द्विनिघ्नाद्दोर्ज्या लघुर्गतिगुणा खनगाश्विभक्ता। स्वर्णं ग्रहे युगयुजोः पदयोर्विलिप्तास्वेवं स्फुटं खलु भवेदुदयान्तराख्यमि"ति ॥६५॥

सायनांशमध्यमसूर्यो द्विगुणस्तस्य राश्यादेर्भुजज्या लघुखण्डकसाधितज्याप्रकारेण-अन्यत्र त्रिज्याप्रमाणेन साधितज्या ग्रहस्य प्रकारस्य व्यभिचार इति। तन्निवारणपूर्वकं लघुपदं, सा ग्रहगत्या गुणिता सप्तत्यधिकशतद्वयभक्ता एवं यत्सिद्धांतं तत् उदयान्तरं स्फुटं सूक्ष्मम्। पूर्वानीतात् ग्रहे विलिप्तासु विकलास्थाने समविषमयोः सायनमध्यसूर्यपदयोः क्रमेण स्वर्णमित्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः—निरक्षदेशे क्रान्तिवृत्तपदानि प्रत्येकं भिन्नोदयासुमानानि राशित्रयात्मकान्यपि—पञ्चदशपञ्चदशघटीभिः समुद्यंति। तेऽश्राद्रिरूपा इत्याद्यसुगणत्रययोगस्य पंचदशघट्यात्मकत्वादतः पदादौ पदांते च कलासूनामन्तराभावः। तत्रयुक्तायनांशस्य तु मध्यमस्येत्यादि पूर्वोक्तप्रकारेण कलास्वोः समत्वात्। अतः सायनांशमध्यार्कभुजासवः—पूर्वोदयसाधनरीत्या आनेयास्तैर्भुजकलानां उदयान्तरासवस्तैर्ग्रहस्य चालनमित्यतिसूक्ष्मप्रयासाधिक्यात्तदानयनं हित्वा परमं यदन्तरमुपचयापचयात्मकं राशित्रयेऽस्तीति पदमध्ये सार्धराशौतदनन्तरं भवति। तत्साध्यम्। तत्र पूर्वप्रकारेण तं साधितमुदयानामेकराश्यन्तरेण स्थूलत्वात् तदनन्तरस्य स्थूलत्वापत्तेः। अतएव पूर्वप्रकारस्य स्थूलत्वादेतत् प्रकारान्तरानुसरणलाघवाद्युक्तम्। किन्तूदयसाधनप्रकारेण सार्धराशेरुदयासवः, आनीतास्तद्यथा—सार्धराशिज्या सूक्ष्मा २४३१।१।५९ क्रान्तिज्या ९८७।४९।४२ द्युज्या ३२९३।१।४४ मिथुनांतकुज्या ३१४१।२२।३० उक्त प्रकारेणास्वात्मकः कालः २४४६।१६।२२ सार्धराशिकलासू-२७०० नो जातं परमोदयांतरमस्वात्मकं १५३।४३ ३६ षड्भक्तं पलात्मकम्। २५।३७।२६।२० कीटादिराश्यन्तजकोटिजीवेत्यनेन वा परमोदयारन्तरमस्वात्मकम्। १५६।२४ पलात्मकञ्च २६। ४। योगार्द्धं २५। ५१। अत्र षड्विंशति पलानि गृहीतानि २६। स्वल्पान्तरत्वात्। तथा—भौमाशुकेन्द्रपदयेयगताल्पजीवेत्यादि पूर्वोक्तरीत्या सार्धराशिज्यापरममिदमन्तरं तदेष्टसायनमध्यार्कपदगतगम्याल्पज्यया किमित्यनुपातांगीकरणे, ततः सूक्ष्मतदानयनयनम्। यद्यप्यत्र वर्गोपजीव्यत्वेनानुपातासम्भवस्तेनैतद्रीत्या स्थूलं तथापि स्वल्पान्तरत्वादंगीकृतम्। पूर्वानीतोदयान्तरफलात्सूक्ष्मसिद्धेस्तत्रापि

लाघवार्थं लघुज्यांगीकारः। अतः सायनर्किमध्यमपदगतगम्याल्पज्या लघुखण्ड-कोत्पन्ना षड्विंशतिगुणाः खार्कवर्गार्ध ७२०० मूलेन भक्ता फलमुदयान्तरपलानीति-सिद्धम्। अथात्र वर्गार्धमूलस्य सावयवत्वेन सूक्ष्मज्ञानाभावाच्चाचार्यैः—द्विगुणपदमध्यांशानां ज्या त्रिज्या मिता प्रमाणस्थाने धृता लाघवात्। अत इष्टांशानां द्विगुणितानां ज्या लघुखण्डकेच्छा कार्या। अन्तःसार्धराशिमितपदप्रमाणे-नाभीष्टांशानामुक्तरूपभुजत्वात्तेषां द्विगुणितांशांनां ज्या तत्र द्विणितांशानां यथोक्तत्रि-राशिपदगतद्विघ्नसूर्यभुजांशसमत्त्वाद् द्विघ्नसायनमध्यार्कभुजत्वात्तेषां द्विगुणानां ज्या तत्र द्विगुणितांशानां यथोक्त त्रिराशिपदगतद्विघ्नसूर्यभुजांशसमत्वाद्विघ्न सायन-मध्यार्कभुजज्या कार्येति सिद्धमत्र पदगतगम्याल्पग्रहनिराशादुक्तरीत्या तत्सिद्धे श्चाति लाघवमिति युक्तम्। तथा चाभीष्टतादृशी ज्या षड्विंशतिगुणा खार्कभक्ते-त्यत्र गुणहरौ गुणेनापवर्त्य हरस्थाने सप्तत्रिंशदवयवाधिकचत्वारः ४।३७ तथा चेष्टा दोर्ज्या हरभक्ता फलमुदयान्तरस्य पलानि, ततः पूर्वचालनानुपातेन पूर्वानीता-होरात्रासुपलैर्भक्तानि गतिकलागुणानीत्यत्र सूक्ष्मक्रियायां स्वल्पान्तरेणाहोरात्र पलानि खखषड्गुणमितानि ३६०० धृतानि नाक्षत्रदिन एव गतिभोगांगीकाराद्वा स्वल्पान्तरत्वात्। फललमुदयान्तरं कलाद्यम्। तत्र विकलात्मकार्थं षष्टिर्गुणः कल्पितस्तेन गुणहरयोरपवर्त्तेऽहोरात्रपलस्थाने षष्टिलानि द्वयोर्हरत्वाद्धरघातो हरो जातः। सप्तसप्तत्यधिकशतद्वयमितः। अतिसूक्ष्मासन्नस्तु किंचिदूनोद्व्यशीत्यधिक शतद्वयमितः। अतो गनगाश्विभक्त लिखनेन खनगाश्विभक्तेति पतितम्। गकारस्थाने खकार लिखनात्।

ननु चत्वारिंशदवयवाधिकषड्विंशतिपलतुल्यपरमोदयान्तरकलाधरणेनोक्त-रीत्या खनगाश्विभक्तेत्युपपन्नम्। तन्मितान्तरस्यासिद्धेः करणकुतूहले द्विघ्नस्य-दोर्ज्या शरहृदित्याद्यत्र विधोः, क्षिप्तहृता इत्यस्यानुक्तत्वापत्तेः। खनगाश्विभ्यो विंशन्मित हरस्योत्पत्तेश्च। यद्वा—"खमिन्द्रिये सुखे क्षेत्रे पुरे विन्दो विहायसि। खमिन्द्रिये पुरे क्षेत्रे शून्यबिन्दो विहायसीति" माधवएकाक्षरमेदिन्योरभिधाना-त्खशब्दस्येन्द्रियवाचकत्वादिन्द्रियाणां पञ्चसंख्यत्वात्खनगाश्चेत्यनेन पञ्चसप्तति-युतशतद्वयम् स्वल्पान्तराद्धरः। मनः षष्ठाणीन्द्रियाणीत्युक्त्वा तु षट्सप्तत्य-धिकशतद्वयहर इत्याचार्याभिमतं गम्यते।

नन्विदमुक्तमसंगगतं सार्धराशिज्यास्थाने त्रिज्या यदानुरोधेन द्विगुणिता-भीष्टांशानां ज्यायाः अभीष्टांशज्यास्थाने असत्वात्। न हि यदंशज्यावर्गार्ध मूलं तदंशार्धराशिज्या सम्भवति प्रत्यक्षविरोधात्तस्माद्भौमाशुकेन्द्रेत्याद्युक्त विधिनैवा-नयनमुक्तम्। अन्यथैतद्रीत्या भौमाशुकेन्द्रेत्याद्यत्रोक्तत्वापत्तिरिति चेन्न। फलस्य विकलात्मकत्वेन स्वल्पान्तरत्वात्। तत्र तु फलस्यांशात्मकत्वेन बह्वन्तरत्वापत्तेः। किं च सायनमध्यार्काद्द्विघ्नात् दोर्ज्येत्यस्य भुजो क्रमज्यार्थः। ज्यायातदर्द्धांशानां क्रमज्यासाधनं त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेर्दलस्य मूलमिति वक्ष्यमाणविधेः सुगममित्य-भीष्टार्थे न क्षतिः। सार्धराशिज्यायाः सावयवाया एतन्मितायाः ८४।५१।१०

प्रमाणे नागनगाश्चीत्यत्रागत १९६ हरानुरोधादंगनवेंद्वीति पाठस्यान्यथानुपत्त्या-कल्पनात् । एतदुदयान्तरफलस्य स्थूलत्वेऽपि पूर्वोक्तात्सूक्ष्ममितिस्फुटमुक्तम् । सिद्धान्तरानुपातेनानीतत्वादत्रस्पष्टार्कग्रहे यत्किञ्चिदिति मध्यादित्युक्तम् उदयान्तर-फलस्य मध्यार्कोपजीव्यत्वात् । इदं कलाभ्योऽसव ऊनास्तदाग्रहे ऋणमित्योजपदे-हीनम् । अधिकास्तदा धनमितियुग्मपदे धनम् । तत्र तत्र तथात्वादित्यलं बहूक्त्या ॥६५॥

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—सायन मध्य रवि को २ से गुणा कर लघुखण्डज्या से ज्या बनाकर इसे रविगति से गुणा कर २७० का भाग देने से लब्ध फल की विकला सम पद में ग्रह में धन, एवं विषम पद में ग्रह हो तो ऋण करने से भी उदयान्तर संस्कृत ग्रह हो जाता है ।

आचार्य ने अनुपात की स्क रूपता से इस उदयान्तर सिद्धान्त में कुछ स्थूलता समझ कर सूक्ष्मता के लिये यह दूसरा प्रकार कहा है । यहाँ २×ज्या ४५ और परम उदयान्तर २६ पल से इष्ट स्थानीय उदयान्तर लाया गया है । अतः त्रिज्यातुल्य २×ज्या ४५° में यदि परमोदयान्तर २६ पल तो इष्टद्विघ्नभुजांश ज्या में क्या ? इस अनुपात से तथा ६० पल में ग्रहगति विकला तो उदयान्तर पल में क्या ? इस अनुपात से ग्रहों की औदयान्तरिकी गति स्पष्ट की गई है ।

$$\text{गति} = \frac{\text{ज्या } २ \text{ भु} \times २६ \times \text{ग्र ग}}{\text{त्रि} \times ६०}$$

$$= \frac{\text{ज्या } २ \text{ भु} \times २६ \times \text{ग्र ग}}{१२० \times ६०} = \frac{\text{ज्या } २ \text{ भु} \times \text{ग्र ग}}{२७०}$$ स्वल्पान्तर से उदयान्तर सिद्धान्त उपपन्न हुआ है ।

संशोधक महोदय का कथन—

आचार्य ने पद मध्य में परम उदयान्तर कहा है इसमें और उदयान्तर साधन प्रक्रिया में संशोधक कुछ स्थूलता कहते हुये सूक्ष्मता का उपाय बताते हैं । पद मध्य में उदयान्तर का मान कितना है ? यही पहिले गणित से दिखाना ठीक होगा ।

$$\text{परमोदयान्तर ज्या} = \frac{\text{जि उ. ज्या} \times \text{त्रि}}{(\text{त्रि} + \text{प द्यु})}$$

$$= \frac{१२० \times १०}{१२० + ११०}$$

$$= \frac{१२० \times १०}{२३०} = \text{परम उदयान्तर असु}$$ । स्वल्पान्तरित इसका चाप और असु बनाने से

$$\frac{१२० \times १० \times ६०}{२३० \times २ \times ६} = \frac{१० \times १० \times ६०}{२३०} = \frac{५ \times ५ \times ६०}{५७} = \frac{१५००}{५७} = २६\frac{१८}{५७}$$ । अतः

पदमध्ये षड्विंशतिः पलानि किञ्चिदधिकानि भवन्ति, इति भास्करोक्तमुपपन्नम् । अर्थात् पदमध्य में कुछ अधिक छबीस पल उदयान्तर होता है आचार्य का कथन उपपन्न होता है ।

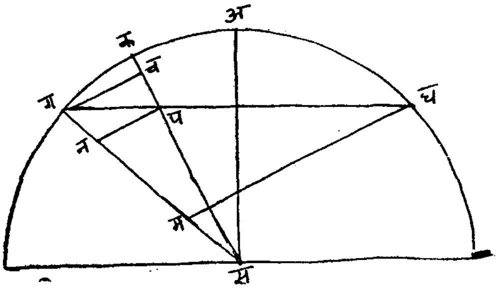

कल्पना करिये कि भुजांश=भु=अ घ नाडी वृत्त में
विषुवांश=वि=अ क ।
ग क=उदयान्तरासु=उ ।
ग च=उदयान्तर ज्या=ज्या उ ।
ग घ=द्विगुणित भुजांश की पूर्णज्या=२ ज्या भु ।
स=गोल केन्द्र । क ध=भुजांश+विशुवांश
चाप ग घ=द्विगुणित भुजांश=२ भु

घ म=ज्या २ भु अ=गोल सन्धि । स अ त्रिज्या सूत्र में ग स्थान से जो लम्ब है वही भुजज्या है । गोल मध्य से विषुवांशाग्रगत स क त्रिज्या सूत्र पर क्रान्तिवृत्तीय ग्रह स्थान से जो लम्ब वही क्रान्ति ज्या है । क्रान्तिज्या मूल से गोल केन्द्र तक गया त्रिज्या सूत्र में स प=द्युज्या । क्रान्तिज्या मूल प स्थान से मध्य सूत्र तक व्यक्षोदय लवज्या है ।

ग घ म, ग प न त्रिभुओं की सजातीयता है ।

$$\text{प न}=\frac{\text{घ म}\times\text{ग प}}{\text{ग घ}}\text{। अथवा प न }\frac{\text{ज्या २ भु}\times\text{ग प}}{\text{२ ज्या भु}}$$

$$\text{ग प}=\text{ज्या भु}-\text{व्यक्षोदयलवज्या}=\text{ज्या भु}-\frac{\text{प द्यु}\times\text{ज्या भु}}{\text{त्रि}}$$

$$=\frac{\text{ज्या भु (त्रि}-\text{प द्यु)}}{\text{त्रि}}=\frac{\text{ज्या भु}\times\text{उज्या जि.}}{\text{त्रि}}\text{, उत्थापन से}-$$

$$\text{प न}=\frac{\text{ज्या २ भु}}{\text{२ ज्या भु}}\times\frac{\text{ज्या भु}\times\text{उ ज्या जि}}{\text{त्रि}}=\frac{\text{ज्या २ भु}\times\text{उ ज्या जि}}{\text{२ त्रि}}$$

स प न, स च ग त्रिभुजों के साजात्यानुपात से—

$$\text{ग च}=\frac{\text{प न}\times\text{स ग}}{\text{स प}}\text{। उदयान्तरज्या}=\frac{\text{ज्या २ भु}\times\text{उ ज्या जि}\times\text{त्रि}}{\text{२ त्रि}\times\text{द्यु}}$$

$=\frac{\text{ज्या २ भु}\times\text{उ ज्या जि}}{\text{२ द्यु}}$ । ज्या और चाप के अभेद से यही उदयान्तरासु है। उदयान्तरासु-काल जनित ग्रह की गति$=\frac{\text{ज्या २ भु}\times\text{उ ज्या जि}}{\text{२ द्यु}}\times\frac{\text{ग क}}{\text{अहोरात्रासु}}$, यह प्रकार संशोधक का है—मध्यात्रवरांशोरयनांश······सुसूक्ष्ममेवं ह्युदयान्तरं स्यात् इति । कहने की सुक्ष्मता तो

है ही किन्तु यहाँ भी ज्या और चाप का अभेद माना गया है। इस प्रकार यहाँ पर भास्कराचार्य के पश्चात् इस सूक्ष्म उदयान्तर के संबंध में गणित गोलज्ञों ने अनेक परिष्कारों के साथ अनेकों प्रकार की युक्ति-युक्त कल्पनाओं से सूक्ष्मतथ्य की बातें कहीं हैं, तिस पर भी उदयान्तर गणित के प्रथमगवेषक आचार्य के ही उदयान्तर साधन सिद्धान्तों की सूक्ष्मता, अवान्तरवर्त्ती आचार्यों के सिद्धान्तों की सूक्ष्मता से पृथक् नहीं होगी।

इदानीं तिथिकरणभयोगानां साधनान्याह —

रवि १२ रसैः ६ विरवीन्दुलवा हृताः
फलमितास्तिथयः करणानि च।
कुरहितानि च तानि बवादितः
शकुनितोऽसितभूतदलादनु ॥६६॥

ग्रहकलाः सरवीन्दुकला हृताः
खखगजै ८०० श्च भयोगमिती क्रमात्।
अथ हृताः स्वगतैष्यविलिप्तिकाः
स्वगतिभिश्च गतागतनाडिकाः ॥६७॥

वा० भा० :—व्यर्केन्दोर्भागा द्विष्ठाः। एकत्र रविभिर्भाज्यास्तत्र फलं गतास्तिथयः। अन्यत्र रसैर्भाज्याः। फलं गतकरणानि। तानि त्वेकोनानि बवादितो भवन्ति। कृष्णचतुर्दश्यर्द्धादुपरि यान्यवशिष्यन्ते त्रीणि चतुर्थं प्रतिपत्प्रथमार्द्धं च। एतानि चत्वारि शकुनितः। शकुनिचतुष्पदनागकिंस्तुघ्नानीति शेषः। यस्य ग्रहस्य नक्षत्रं ज्ञातुमिष्यते तस्य कलाः कार्याः; तथा चन्द्रार्कयोगस्य कलाः कार्य्याः। उभयत्र शताष्टकेन ८०० हृते प्रथमस्थाने गतभानि द्वितीयस्थाने गतयोगाः। अथ यानि-अवशिष्टानि तानि गतानि। तानि स्वस्वहरच्युतानि गम्यानि स्युः। तेषां गतानां सम्बन्धिन्यो विकलाः स्वस्वगतिभिर्भाज्याः। यल्लभ्यते ता गतघटिका भवन्ति। यद्येष्याणां विकला भक्तास्तदैष्या घटिका भवन्ति।

अत्रोपपत्तिः ;—यदि व्यर्केन्दोश्चक्रांशैः ३६० त्रिंशत् ३० तिथयो लभ्यन्ते तदैभिः किम्? इति। अत्र त्रिंशता अपवर्त्तिते हरे जातो द्वादश हरः। अथ यदि चक्रांशैः ३६० षष्टिः ६० करणानि लभ्यन्ते तदैभिः किम्? इति। अत्रापि षष्ट्यापवर्त्तिते जातो हरः षण्मितः। अथ यदि चक्रकलाभिः २१६०० सप्तविंशति-भानि लभ्यन्ते योगा वा तदाभिः किम्? इति। अत्रापि सप्तविंशत्यापवर्त्तने कृते जातोऽष्टशती हर उभयत्र। अथ घटीकरणार्थमनुपातः—यदि गतिकलाभिः षष्टिघटिका लभ्यन्ते तदा गतैष्याभिः कलाभिः किम्? इति फलं गतैष्या घटिकाः। अथ कलाः षष्ट्या गुणिता विकलाः स्युरित्यत उक्तम् "अथ हृताः स्वगतैष्य-विलिप्तिकाः" इति सर्व्वमुपपन्नम्।

मरीचिः—अथाग्रे ग्रहणे तिथे रूपयोगाद्व्यवहारोपजीव्यत्वाच्च तत्साधनं तत्प्रसंगेन तथात्वकरणानयनं प्रसंगाद्ग्रहाणामधिष्ठितनक्षत्रानयनं तादृशयोगानयनं चेति सर्वमुपयुक्तं द्रुतविलम्बिविताभ्यामाह—

रवि रसैर्विरवींदुलवाहृताः फलमितास्तिथयः करणानि च।
कुरहितानि च तानि बवादितः शकुनितोऽसितभूतदलादनु॥
ग्रहकलाः सरवीन्दुकलाह्वताः खखगजैश्चभयोगमिती क्रमात्।
अव्य हृताः स्वगतैष्यविलिप्तिकाः स्वगतिभिश्च गतागतनाडिकाः इति॥

मरीचिः—सूर्य्योनचन्द्रस्यांशाः परिभाषया द्विधा स्थाप्याः। एकत्र द्वादशभिर्भक्ताः फलं गतास्थितयः। शुक्लप्रतिपदादयस्तदग्रिमातिथिर्यत्काले सूर्यचन्द्रौ तत्काले वर्तमानेत्यर्थसिद्धमपरत्र षष्टिभक्ताः फलं गतकरणानि। अग्रिमं तत्कालैव वर्त्तमानम्। संज्ञाविशेषेण तद्ज्ञानमाह—कुरहितानीति। तानि गतकरणानि एकोनानि। बवादितः बववालवकौलवतैतिलगरवणिजभद्रेति क्रमेण गतकरणानितदग्रिमं वर्तमानमित्यर्थः। विशेषमाह-शकुनित इति। कृष्णपक्षे या भूता चतुर्दशीतिथिस्तस्या-अथादनुपश्चात्। शकुनितः करणानि भवन्ति। अयमर्थः। कृष्णचतुर्दश्याःपूर्वदले उक्तप्रकारेण भद्राकरणं ततस्तदपरार्धे बवकरणं, अमावास्यादलयोः बालवकौ^वे प्रतिपूर्वार्धे तैतिलमित्युक्त गणितरीत्या भवन्ति। तत्र तत्र ध्रुवाणि शकुनिर्नाग तृतीयं तु चतुःपदम्। किंस्तुघ्नं चतुर्दश्याः कृष्णयाश्चा परार्धं इति सूर्यसिद्धान्ताद्युक्तेन। गणितेन तदानयनं न कार्यं, किन्तु तत्र तानि स्थिराण्येव कृष्णचतुर्दश्युत्तरदलं शकुनिकरणम् अमावस्यायां चतुष्पदनागे शुक्लप्रतिपत्पूर्वार्धे किंस्तुघ्नं तदुत्तरार्धादुक्तरीत्या करणनयनमिति। अन्यथा बवादिकरणानामव्यवस्थापत्तेः। उक्ततिथिनियमेनोक्तभद्रायाश्चासम्भवात्।

नक्षत्रयोगानयनमाह-ग्रहकल॰ इति। यद्राश्यादेरवयवात्मकस्याश्विन्यादिनक्षत्रमधिष्ठितं ज्ञातुमिष्यते तस्या कलाः परिभाषया कार्याः। सूर्यचन्द्रयोर्योगेयद्राश्याद्यं तस्यापि कलाः, उभयत्राष्टशतेन भक्ताः, क्रमादुक्तक्रमेण भयोगमितीस्तः। यस्य ग्रहस्य कलाभक्तास्तस्याशिन्यादि फलामितं गतं नक्षत्रं तदग्रिमं वर्तमानम्। सूर्यचन्द्रयोगात्मकराश्यदिः कलाः भक्तास्तत्फलमिता विष्कुम्भादयो योगाः गतास्तदग्रिपो वर्तमान इत्यर्थः। अथ वर्त्तमानतिथ्यादीनां घटीकाद्यानयनमाह—अथेति स्वतिथ्यादि तस्य गतैष्ययोर्विकलाः। स्वगतिभिः, यद्गतैष्यं तद्गति कलाभिः भक्ताः पृथक् गतविलिप्ता भक्ता फलं गतघटिकाःऐस्या विकलाः भक्तास्तदैष्यघटिकाः। यस्य गतैष्यन्तस्य तिथ्यादिर्भवति। यथा-सूर्योनचन्द्रस्य लवाः द्वादशभक्ताः फलं गततिथयः शेषं वर्तमानतिथेर्गतं वर्तमानकाले तद्धराच्छुद्धं तत्काले तस्य ऐष्यम्। तयोर्लवाद्योर्विकलाः तिथेः सूर्यचन्द्रान्तरानीतत्वात्सूर्यस्यस्पष्टगत्यूनचन्द्रस्पष्टगतिः कलात्मिका स्पष्टगतिः तयोरन्तर्गतविकलाभक्तास्तदेष्टकालात्फलमितकघटिकाभिः पूर्वमादि वर्त्तमान तिथेः। ऐष्यफलघटिकाभिरग्रे तदन्तः। एवमेव करणघटिकाः। तस्यैवनाडयस्तिथिवद्धवर्तीत्युक्तेः।

एवं ग्रहकलाशेषं वर्तमाननक्षत्रस्य गतं तद्धराच्छुद्धमेष्यं तयोः कलाद्योर्विकलाः। नक्षत्रस्य ग्रहोत्पन्नत्वात्स्वग्रहगतिकलाभक्ताः-पूर्ववद्गतैष्याः घटिकाः वर्तमाननक्षत्रस्येष्टकालात्। एवं योगस्य सूर्यचन्द्रयोगोत्पन्नत्वात्सूर्यचन्द्रगतियोग···या गतिकलाद्या तयोक्तदिशा गतैष्यघटिका इति—फलितार्थः।

अत्रोपपत्तिः—सूर्यचन्द्रांतरद्वादशभागैरैका तिथिस्तदा सूर्योनचन्द्रस्यांशैरिष्टैः किमित्यनुपातेन फलं गततिथयः। अत एव त्रिंशत्तिथिभिश्चान्द्रोमासः, "दर्शावधि चान्द्रमुशन्ति मासमित्युक्तेः।" "व्यर्केंदुभागाः सूर्याप्तास्तिथयो गतसंज्ञका" इति लघुवशिष्ठोक्तेश्च तिथ्यर्धं करणं स्मृतमित्युक्तेनैकतिथौ करणद्वयम्। द्वादशान्तरांशैः करणद्वयं तदेष्टांशैः किमिति गुणहरौ गुणेनापवर्त्य षड्भक्ताः-फलं गतकरणानि मासादितस्तत्र बवकरणस्य प्रतिपदुत्तरार्धत्वात्तदादितो गणनार्थमेकोनानि। गणनानियमार्थं स्थिरकरणान्युक्तान्यागमप्रमाणेन। अतएव स्थिरकरणप्राथम्याद्बवकरणं प्रतिपदुत्तरार्धेऽन्यथा त्रिंशत्तिथिषु षष्टिकरणानां सत्वात् सप्तकरणपरिवर्तनाव्यवस्थितिः। तथा प्रतिमासं बवादितो गणनासम्भवापत्तेः। अतएव बवादीनि ततः सप्तचराख्यकरणानि च मासेऽष्टकृत्व च एकैकं करणानां प्रवर्त्तत इत्युक्तं युक्तम्। नक्षत्रोपपत्तिस्तु मेषाश्विप्रथमानवर्त्तचरणाश्चक्रस्थिता राशयः इत्याद्यागमप्रामाण्येन राशिवृत्ते सप्तविंशतिनक्षत्राणि रेवतीस्थक्रान्तिवृत्तप्रदेशादश्विन्यादीनि कथितानि। तत्र सप्तविंशतिनक्षत्रैः, क्रान्तिवृत्तकलाः सम्पूर्णाः। खखषड्वर्गमिता स्तदैकेन नक्षत्रेण का इत्यनुपातेनैकनक्षत्रकलाः क्रान्तिवृत्तसप्तविंशति भागे प्रत्येकमष्टशतमिताः। "भभोगोऽष्टशती लिप्ता" इति सूर्य सिद्धान्तोक्तेश्च। अतो ग्रह कला अष्टशतभक्ताः फलं गतनक्षत्राणि, एवमेव सूर्यचद्रयोगात्मकग्रहस्य नक्षत्रयोगाः विष्कंभादयः योगजत्वात्-आगमोक्ताः। "रवींदुयोगलिप्ताभ्यो योगा भभोगभाजिता" इति सूर्यसिद्धान्तोक्तेश्च। यच्छेषं यथायोग्यमंशादिकं च वर्तमानस्य गतम्। तत्स्वभोगाच्छुद्धमेष्यं तथाभूतमतो हराच्छुद्धं भोगत्वात् विरविचन्द्ररूपग्रहस्य क्रान्तिवृत्ते तिथिग्रहग्रहत्वात्स्वगतिकलाभिः षष्टिसूर्यसावनघटिकास्तदष्टकलाभिः का इत्युनुपातेन वर्तमानस्याभीष्टकालाद्गतैष्यघटिका सूर्यसावनीया, अतो विकलाः, स्वगतिकलाभिर्भक्ता इत्युपपन्नम्। वारस्यापि पूर्वज्ञाततिथिर्वारश्चनक्षत्रं योगः करणमेव च। पंचांगं शृणुयान्नित्यं गंगास्नानफलं लभेदित्यादि—वचनोपजीव्यत्वात्पचांगप्रतिपादितमित्यलम्॥६७॥

दीपिका—चन्द्रार्कयोरन्तरभागैश्चक्रांशैस्त्रिशत्तिथयः, षष्टिः करणानि, चन्द्रचारेण भानि, रविचन्द्रयोर्गतियोगेन योगाश्चोत्पद्यन्ते। एतानि तिथिनक्षत्रयोगकरणानि, एव पञ्चाङ्गस्थोपकरणानि धर्माद्यनुष्ठानादौ महदुपयोगीनि सन्ति। एषां शुभाऽशुभयोगेनैव सर्वाणि कार्याण्यनुष्ठीयन्ते समग्रस्य शुभाऽशुभधर्मकृत्यादिकृतेऽस्य पञ्चाङ्गस्यैव सर्वत्र सर्वसम्प्रदाये महानुपयोग इत्यस्य ज्ञानस्य मूलभूतं स्कन्धत्रयात्मकं ज्यौतिषन्तस्यापि मूर्ध्नि सस्थितं गणितस्कन्धमित्युक्तेःस्कन्धत्रयात्मकस्य ज्यौतिषवृक्षस्य मुख्यमिदं ग्रहगोलगाणितीयं गणितस्कन्धं यस्येदममृतरूपं पञ्चाङ्गात्मकं फलमित्यलमति प्रसङ्गागतविचारेण।

शिखा—स्पष्ट रवि चन्द्रमा के अन्तर तुल्य चक्रकला में ३० तिथियाँ, ६० करण प्राप्त होते हैं तो इष्ट रवि चन्द्रमा के अन्तरांश में क्या ? इस त्रैराशिक से, $\frac{३० \times \text{इष्टान्तर}}{३६०} = \frac{\text{इष्टान्तर}}{१२}$, एवं $\frac{६० \times \text{इष्टान्तर}}{३६०} = \frac{\text{इ. अं}}{६}$ इस प्रकार क्रमशः गततिथि और गतकरण का ज्ञान सुस्पष्ट होता है।

कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्द्ध से—*शकुनी, चतुष्पद, नाग, एवं प्रतिपदा के पूर्वार्द्ध में किंस्तुघ्न ये ४ स्थिर करण होते हैं इसलिये गत करणों में एक कम करना उचित है। केवल चन्द्रमा की और रवि चन्द्रमा के योग की कलाओं में ८०० का भाग देने से गत नक्षत्र और गत योग होते हैं अतः $\frac{\text{ग्रह कला} \times २७}{२१६००} = \frac{\text{ग्रहकला}}{८००}$ = गत चन्द्र नक्षत्र।

चन्द्रमा की तरह कोई भी ग्रह किस नक्षत्र में है इसी प्रकार जाना जाता है। इसी प्रकार रवि चन्द्रमा के योग २१६०० कला में २७ योग मिलते हैं तो इष्ट सू+च. के योग कला में क्या ? गत योग का ज्ञान, $\frac{\text{रवि}+\text{चन्द्र की कला} \times २७}{२१६००} = \frac{\text{सहित रवि चन्द्र कला}}{८००}$ होगा। इसी प्रकार इस, ग. न $+ \frac{\text{शे}}{८००}$, में यहाँ $\frac{\text{शे}}{८००}$ यह वर्त्तमान नक्षत्र की (गत नक्षत्र संख्या+१) भी गत कलाएँ हुई। इसलिये $८०० - \frac{\text{शे}}{८००} = \frac{६४०० - \text{शे}}{८००}$, यह वर्त्तमान नक्षत्र की ऐष्य कलाएँ हुई। और त्रैराशिक से यदि रवि चन्द्रमा के गतियोग और गत्यन्तर और केवल चन्द्रमा की गति में ६० घटी मिलती हैं तो वर्त्तमान योग नक्षत्र और तिथि के गत और ऐष्य कलाओं में क्या मिलेगा इससे तिथि नक्षत्र योग और करण की गतागत घटिकाओं का ज्ञान करना अति सुगम है।

इस प्रकार पञ्चाङ्गों में तिथि वार नक्षत्र योग आदि की गतागत घटिकाओं के ज्ञान से सूक्ष्म पञ्चाङ्ग साधक गणित की एक बृहत्सारिणी बनानी चाहिए। जैसे प्रसिद्ध मकरन्दादि सारिणियां हैं।

इदानीं नतकर्म्माह।—

तिथ्यन्तनाड़ीनतबाहुमौर्व्या
लब्ध्यार्कशीतांशुफले विनिघ्ने।
क्रमेण भक्ते नखगोसमुद्रैः ४९२०
कङ्गाग्निवेदैः ४३६१ फलहीनयुक्तः ॥६८॥

---

* सौर मत से शकुनि, न्वाग, चतुष्पद और किंस्तुघ्न, यही स्थिर करणों का क्रम है। भास्कराचार्य ने तो ब्राह्ममत को "आगम" कहा ही है। (मध्यमाधिकार)

प्राक्पश्चिमस्थस्तरणिर्विधुः प्राक्
ऋणे फले युक्त इतोऽन्यथोनः ।
मुहुः स्फुटातो ग्रहणे रवीन्द्वो-
स्तिथिस्त्विदं जिष्णुसुतो जगाद ॥६९॥

वा० भा०—चन्द्रग्रहणेऽर्कग्रहणे वा यास्तिथ्यन्ते नतनाड्यस्ता रस ६ गुणा नतभागा भवन्ति । तेषां लघ्वी दोर्ज्या साध्या । तयार्कशीतांशुभुजफले गुण्ये । अर्कस्य नखगोसमुद्रैश्चन्द्रस्य कङ्काग्निवेदैर्भाज्ये । यदि फले अंशाद्ये गुणिते तर्हि अंशाद्या लब्धिर्ग्राह्या; यदि कलाद्ये तदा कलाद्या । तेन लब्धफलेन प्राक्कपालस्थो रविर्हीनः कार्य्यः । यदि पश्चिमस्थस्तदा युक्तः । विधुस्तु प्राक्कपालस्थे ऋणे च फले वर्त्तमाने युक्तः कार्य्यः । अतोऽन्यथा प्राक् पश्चाद्वा हीन एव । अतः पुनस्ताभ्यां तिथिः । पुनर्नतकर्म्म च यावदविशेषः । "इदं जिष्णुसुतो जगाद" इति ।— एतदागमप्रामाण्येनास्माभिर्लिखितमित्यर्थः । चतुर्वेदाचार्य्येणाप्युपलब्धिरेव वासनेत्यभिहितम् । यदि ईदृश्युपलब्धिरस्ति तदाऽस्माभिः किं नाङ्गीकर्त्तव्यमिति भावः ।

अथ ब्रह्मगुप्तोक्तमुच्यते :—अत्र त्र्यंशोनाश्चतुर्दश नीचोच्चवृत्तपरिधिभागा रवेः पठिताः । तथा ये जिनकलोनरदा हिमांशोस्ते याम्योत्तरमण्डलस्थस्यैव । ते रवेर्मध्याह्नस्थस्य परिधिभागा ऋणे फले प्रागुन्मण्डलस्थस्य कलाविंशत्यधिकाः पश्चादूनाः । धनफले तु प्रागूनाः पश्चादधिकाः ।

	पू	म	म		पू	म	प
ऋणफले	१४	१३	१३	धनफले	१३	१३	१४
	०	४०	२०		२०	४०	०

अथ चन्द्रस्य मध्याह्नपरिधिभागाः प्रागुन्मण्लस्थस्य ऋणे वा धने वा फले द्विपञ्चाशता ५२ कलाभिरूनाः । पश्चादृणे फले ताभिः कलाभिः ५२ युताः । धने तु ताभिरूनाः ।

	पू	म	प		पू	म	प
ऋणफले	३०	३१	३२	धनफले	३०	३१	३०
	४४	३६	२८		४४	३६	४४

अवान्तरे तु अनुपातात् परिधिभागानानीय तैः स्फुटीकरणं कृत्वेदानीं तत्संस्कारः क्रियते । तत्रानुपातः—यदि त्रिज्यातुल्यया नतभागज्यया भागत्र्यंशः परिध्यन्तरं तदेष्टया किम् ? इति । अत्र नतभागज्याया भागत्र्यंशो गुणस्त्रिज्या हरः १२० । एवं कृते सति नतज्यायाः षष्ट्यधिकशतत्रयं ३६० भागहारः । फलं स्फुटपरिध्यन्तरम् । अथान्योऽनुपातः ।—यदि त्र्यंशोनैश्चतुर्दशभिः परिधिभागैरिदं फलं लभ्यते तदा स्फुटपरिध्यन्तरेण किम् ? इति । अत्र फलस्य नतज्या गुणः

परिध्यंशाः षष्ट्यधिकशतयञ्च हरः। इदानीं हरयोर्घाते उत्पन्ना नखगोसमुद्राः। एवं चन्द्रस्यापि। तत्र परिध्यन्तरं द्विपञ्चाशत् कलाः ५२। त्रिज्यातुल्यया नतभागज्यया १२० इदं परिध्यन्तरं भागात्मकं $\frac{५२}{६०}$ तदेष्टया किम्? इति। अत्र त्रिज्यायाः षष्टिगुणायाः द्विपञ्चाशतापवर्ते कृते इष्टनतज्यायाः हरो लभ्यते। इष्टनतज्या हरः $\frac{१}{१३८}$। इदं स्फुटपरिध्यन्तरम्। यदि जिनकलोनरदैः $\frac{३१}{३६}$ परिधिभागैः इदं फलं लभ्यते तदा स्फुटपरिध्यन्तरेणानेन $\frac{१}{१३८}$ किम्? इति। अत्रापि हरयोर्घातो हरः स्यादिति जाताः कङ्गाम्रिवेदाः ४३६१।

मरीचि :—नन्वेवमानीततिथ्यंतो संगतश्चन्द्रग्रहणे तत्काले मध्यग्रहणनियत सम्भावनाऽभावादित्यतो विशेषमुपजातिकाभ्यामाह-तिथ्यंतनाडीनतबाहुमोर्व्या लब्ध्यार्कशीतांशुफले विनिघ्ने क्रमेण भक्ते नखगोसमुद्रैः कगाग्निवेदैः फलहीनयुक्तः ॥६८॥

प्राक्पश्चिमस्थस्तरणिर्विधुः प्रागृणे फले युक्त इतोऽन्यथोनः। मुहुः स्फुटातो ग्रहणे रवीन्द्रोस्थितिस्त्विदं जिष्णुसुतो जगाद ॥६९॥

सूर्योदयकालीनपूर्वानीतस्पष्टार्कचन्द्राभ्यां यस्तिथ्यंतः साधितः स स्थूल एवातएवं चन्द्रग्रहणमध्यस्तत्र न सम्भवति। तिथ्यंतत्वाभावादतो यः पूर्वोक्तप्रकारेण तिथ्यंतः, तत्काले सूर्यचन्द्रयोः। स्वस्वदिनार्धरात्र्यर्धं स्वेष्टघटीभिर्वक्ष्यमाणप्रकारेण नतं कार्यम्। तद्यथा-दिने तिथ्यन्तश्चेद्दिनगतदिनार्धांतरघट्यो नतम्। "रात्रौ-चेदस्तकालात्तदंतकालीनगतरात्र्यर्धघट्योरन्तरं तन्मध्याह्नादर्धरात्रं यावत् पश्चिमम्—अर्धरात्रान्मध्यान्हं यावत् पूर्वमिति सूर्यस्य प्रसिद्धम्। चन्द्रस्य तु स्पष्टं चन्द्रतुल्यंक्रान्तिवृत्तप्रदेशस्य लग्नत्वकल्पनात् वक्ष्यमाणवधि कालः साध्यः। तस्य तिथ्यन्तस्य चान्तरमुदयकालस्य न्यूनत्वे स्पष्टचन्द्रोदयादग्रे तिथ्यन्त घटिकाः, अधिकत्वे-चन्द्रोदयात्पूर्वं तिथ्यन्त इत्यन्तरघटिकाः षष्टिशुद्धास्तिथ्यन्ते घटिकाः। ताभिः स्पष्टचन्द्रदिनार्धेनोक्तरीत्या नतं तद्रीत्यैव भवति तस्य भुजः घटिकाद्यन्तरषड्गुणमंशात्मकं तत्र नवत्यन्तर्गते चेत्तदेव भुजांशमानम्। अनन्तर्गतेऽशीत्याधिकशतेभ्य शोध्यं भुजोंऽशाद्यः प्रागुक्तरीत्या भवति। तस्य लघुज्यांशमितेः रीत्याद्युक्तविधिना, अन्यथोक्तप्रकारेण व्यभिचारापतेः। नतं खांकाहतं स्वद्युदलेन भक्तं स्पर्शे विमुक्तौ च नतलवाः स्युरिति वक्ष्यमाणनतांशानां ज्या। बाहुपदस्य व्यर्थत्वापत्तेः। सूर्यचन्द्रयोः प्रागानीते मन्दफले गुणिते स्वस्वनतभुजज्यया, सूर्यचन्द्रक्रमेण विंशत्यधिकनवशतयुतः चतुःसहस्रेण रविमन्दफले स्थाने भक्ते सूर्यफलं गृहीतमन्दफलं यदात्मकं तदात्मकमेवमेकषष्टियुतशतत्रयाधिकचतुःशहस्रेण चन्द्रस्थाने भक्ते सूर्यफलं गृहीतमन्दफलं यदात्मकं तदात्मकं चन्द्रफलं भवति। फलयोः, प्रयोजनमाह-फलेत्यादि, स्पष्टः सूर्यस्तिथ्यानयनोपजीव्यः, प्राक् पश्चिमस्थः पूर्वपश्चिमदिङ्नतयोः, क्रमेणानीतस्वफलेन हीनो युक्त कार्यः। चन्द्रस्य तत्संस्कारमाह—विधुरिति। पूर्वनते चन्द्रमन्दफले ऋणे च चन्द्रस्पष्टः तादृशः स्वानीतफलेन युक्तः ग्रहीतः। उक्तविधेरन्यथा।

धनमन्दफले पूर्वनते पश्चिमनते वेत्यर्थः। ग्रहे हीन एवमसकृत्। आनीतम्। फल-संस्कृतार्कचन्द्राभ्यां तिथ्यंतः साध्यस्तत्कालीनः पूर्वरीत्या स्वनतं कृत्वा फलमानीय तत्संस्कृतौ स्पष्टार्कचन्द्रावेव न पूर्वसिद्धौ। ताभ्यां तिथिरित्यादि यावदविशेष-इत्यर्थः। अतोऽस्मात्करणात् रवींद्वोर्ग्रहणे, अनेन प्रकारेण शोधिता तिथिः स्फुटा-मध्यग्रहयोग्या स्यात्। *तथाद्योक्तरीतिं विना तिथिरेवस्थूलाऽतः पूर्वागत-तिथ्यंते मध्यग्रहणसम्भवादेः तत्संस्कारेणानीततिथ्यन्ते न तत्सम्भवाच्च तत् प्रकारेण तिथीनां साधनं कार्यमपि स्वल्पान्तरात्प्रयासाधिक्यत्वाच्चान्यतिथि साधनस्य स्थूलमार्गेणापि न क्षतिः। ग्रहतिथिस्त्वेवमवश्यं कार्यैव। अन्यथा ग्रहणमध्यकालज्ञानानुपपत्तेरिति भावः।

नन्वेतस्य भवदंगीकृतागमे विष्णुधर्मोत्तरान्तर्गतब्रह्मसिद्धान्तेऽनुक्तत्वात् प्राभाण्याल्लघ्वार्यभटोक्तमेवांगीकार्यो। अन्तरस्य प्रत्यक्षदर्शनात्। तदुक्तं चतिथ्य-न्तकालिक नतप्राणेभ्यो बाहुशिंजिनी क्रमजा साध्या। "नन्हे तद्वेमध्ये भुक्ती भक्ते भनधघ रननैः—१४९४२०० लिप्तादि कले प्राक् पश्चात्वाहृणमर्कचन्द्रयोः कार्यम्। भानुग्रहणे गुणे ताभ्यां स्पष्टातिथिः भवति"। पाराशर्यमतेन छेदोगांसकननना फले ते तु '३७१०००, ३१०००' तिथ्यन्तजवनेनाशकधोनान्तरभागजीवया गुणिते ताभ्यां गर्भाशिञ्जन्याविहृते स्पष्टे स्यातां समं शेषमिति। न हि भवदुक्तभिया-सम्वादो येन तदंगीकृतमिति वाच्यम्। प्राक्पक्षविरोधादार्षशास्त्रेऽन्यथातदनुक्ते-रित्यत आह—इदमित्यादि। इदं मदुक्तं ब्रह्मगुप्ताचार्यो जगादोक्तवान्। तथा च तथैव विष्णुधर्मोत्तराङ्गीकारस्तदङ्गीकारणेनानखत इति तदुक्तमेव प्रत्यक्षसम्वा-दान्ममप्रमाणं आर्यभट्टोक्तस्य सम्प्रति विसम्वादात्। एवञ्च दिनदलपरिधिस्फुट तिथिनतकेन्द्रज्याज्यावधो गुणे केन्द्रे द्वन्द्वतिधृतिभिर्नवनववेदे व्यासार्द्धकृतिभक्तः। फलविकला वा सूर्ये प्रागृणामसकृत्तन्नते धनं पश्चात्। केन्द्रफलं ऋणं चन्द्रे ऽन्यथा धनञ्चेदृणं स्पष्टाविति ब्रह्मगुप्तोक्तेन मदुक्तस्य सम्वादात् तदुक्तमेवाङ्गीकृतमिति न प्रमाणमिति भावः। न च तथापि तदुपजीव्येन तिथित्व सामान्येन विशेषोक्ते-ग्रहणे रवीन्दोरिति तदुक्तमयुक्तं ब्रह्मोक्तं मध्यरविशशितदुच्चतत्परिधिभिः स्फुटीकरणम्। कृत्वैवं स्फुटतिथिर्दूरं भ्रष्टान्यत अत्रोक्तेरिति, तत्स्फुटोक्तेश्चेति वाच्यम्। प्राक्पश्चाद्याभिर्घटिकाभिर्दिनवलान्नतः सूर्योत्तिथ्यन्ते तद्रहित त्रिंशद्घ-टिकावशेषाभिः विपरीतमर्धरात्राच्चन्द्रग्रहणे शशिरविग्रहणे सूर्यो यतस्तत् कलाभिरेव धटिकाभिः इन्दुमिति तदुक्तेर्ग्रहणे तत्फलावश्यकत्वद्योतनात्।

अत्रोपपत्तिः—सूर्यस्य मनुद्वितयं त्र्यंशोनं दिनदलेऽपि तिथयश्च प्राक्। तिथिघटीभिः अंशाधिकोनमूनाधिकं पश्चात्। द्युदले जिनलिप्तोनं दर्शनं द्विशर-कलोनं प्राक् पश्चाद्युतोनमिन्दोः सूर्यवदृणं धनं पश्चादिति—ब्रह्मगुप्तोक्तेन सूर्यस्य याम्योत्तरस्थस्य परिधि रुक्त रेव। प्राक्पाले उद्वृत्तस्थ सूर्यफले परिधि स्पृशान्धि-कोक्त चतुर्दशांशा धनफले तु त्र्यंशोनोक्तपरिधिः। एवं पश्चिमकपाले ऋणफले त्र्यंशो-

* तथाचोक्त वा पाठः।

नोक्तः परिधिः। धनफले तु चतुर्दश यथार्णफले धनफले च। एवं चन्द्रस्य याम्योत्तरवृत्ते उक्त एव धनफले परिधिः। पूर्वकपालीयोद्वृत्तस्थे धने ऋ-१३।१३णे१४ वा. द्विपञ्चाशत् कलोनोक्तः परिधिः

पू	म	प
१४	१३	१३
०	४०	२०

पू	म	प
१३	१३	१४
४०	४०	०

पश्चिमकपालीयोद्वृत्तस्थ ऋणफले २०।४०० द्विपञ्चाशत् अधिकोक्तः परिधिः धनफले तु द्विपञ्चाशत् कलोन एव यथा ऋणफले

३०	३१	३०
४४	३६	४४

पू.	म.	प	*............	पू.	म.	प.
३०	३१	३२	....	३०	३१	३०
४४	३६	२८	....	४४	३६	४४

अत्र सर्वत्र प्रत्यक्षोपलब्धिरेव ब्रह्मगुप्तोक्तसिद्धान्तभाष्याल्पत्वे न भाष्यकारेण चतुर्वेदाचार्येणात्र तत्र परिधेरूनाधिकत्वे उपलब्धिरेव वासना परमफलवशाद्यतो नीचोच्चवृतस्य महत्वाल्पत्वे भवति यादृगुदयेन तादृङ् मध्याह्ने चास्तमये फलं दृष्टभूगोलोपरिस्थितत्वादित्याद्युक्तत्वात्। अत ऊन्मण्डले याम्योत्तरवृत्तस्थपरिध्योरन्तरं परमं ततो यत्काले सूर्यचन्द्रावपेक्षितौ तत्कालीनपरिधिरानेयः। सूक्ष्मफलज्ञानात्। तदानयनं च निरक्षयदेशीय परमनतज्यया परममंतरं तदेष्टनिरक्षदेशीय नतज्यया किमित्यनुपातानीतफलेनोक्तपरिधिरुन्मण्डुपरिधितदूनाधिकत्वे क्रमेण युत हीन इति। तथा च "ब्रह्मगुप्तः"-तद्युदलपरिध्यन्तरगुणा हृता त्रिज्यया स्वनतजीवा ऊने धनमृण मधिके दिनार्धपरिधौ स्फुटः परिधिरिति। अस्मात् साधितफलं सूक्ष्मं भवतीत्येवं, आचार्यैर्न कृतांष्टवुंमध्याद्रिपरिध्युक्तत्वात्। तत्तथाचेष्टपरिधिमध्याह्नपरिध्योरंतरोत्पन्नं मदफलं स्वेष्टे संस्कार्यं तत्र तिथ्यन्तज्ञानार्थम्, तिथ्यंतीय मन्दफलसंस्कृतोदयकालीन मध्यमार्कचन्द्रौ स्पष्टावुपययुक्ताविति तिथ्यन्तनतं गृहीतम्। क्रान्तिवृत्तस्थ चन्द्र चिन्हे उद्वृत्तयाम्योत्तरवृत्तस्थे तादृकपरिधिदर्शनादिष्टकाले तदुयास्ताभ्यां घटिका ज्ञानावश्यकत्वाल्लम्बवत्कालः साधितो नतार्थं न तंच निरक्षदेशीयमेवातः शोध्यनततद्दिनार्थयोरन्तर*..................कदाचित् पचंदशाधिक नते, क्षितिजोन्मण्डलमध्यस्थत्वान्निरक्षदेशीयनतं स्वनतांशतः शुद्धं भवत्यतो नतबाहुमोर्व्योक्तनतक्रमलाघवार्थं लघुज्याकृता। अतएवखाङ्काहतपादयुक्तविधिना त्रिज्या साधनार्थं नतस्यासकृत्करणमयुक्तं परम नतस्योनमण्डलावधित्वात्। अत्र ब्रह्मगुप्तोक्ताचार्यव्याख्याने चतुर्वेदाचार्यै ज्यापदस्य सर्वत्र नतोत्क्रमज्यार्थः कृतः सोप्ययुक्तः। ग्रहे उक्रमज्यासम्बन्धस्य साक्षात्पूर्वांगीकारात्। अतएव कर्णकुतूहले इति नतक्रममौर्विकयोरिदं क्रमजमेव हि जिष्णुजसम्मतम्। यदपरैः कृतमुत्क्रमजीवया बलनवन्नतकर्म न तत् सदित्या-

* मूलकोषे लेखकदोषात् लिपिरस्पष्टेति।

चार्यैर्विदुष्यता अथ परमपरिध्यन्तरनिष्टनतज्यागुणं खार्कभक्तं फलमिष्ट काले परिध्यन्तरमस्मादुक्तविधिना मध्यपरिध्यानीतमंदफलस्य मध्याह्न परिध्यानीतमन्दफलेनांतरं न सिद्धयति ज्याया विलक्षणत्वात्तथाप्यल्पांत्तर-त्वादङ्गीकारात्। तत्रापि याम्योत्तरस्थपरिधिनानीतं मन्दफलम्, तदन्तरमित परिधिना किमित्यल्पान्तरेण स्थूलानुपातादिष्टनतज्या मन्दफलगुणा परमपरिध्यन्त-रेण चोक्त परिधिना त्रिज्यया भक्ता निषिद्धं तत्र वा स्थिरगुणः ०।२०। हरश्च १६।४० गुणहरौ गुणेनापवर्तितौ हरस्थाने खयुग्मगोसमुद्राः ४९२०, एवम् चन्द्रस्पष्टगुणो ०।५२ हरश्च ७९२ पूर्वरीत्या हरश्च ४२९५ पञ्चाङ्कद्विवेदमितः। अत्र कदाचिद्द्वि तीयज्यया फलधनुरधिकमत स्वहतस्तदनुरोधेन। हरश्चतुर्दशभिरूनः कश्चिदिति। धङ्गम्रिवेदैरित्यत्रानुस्वारो प्रामादिको लेखकदोषः। जीवा-अत्र यदा तिथ्यंतीय महासूर्यादिभिरुक्त परिधिना यन्मन्दफलं तेन गुणनीयम्। सूक्ष्मत्वात्। अतएव दिनदलं परिस्फुटेत्यादि ब्रह्मगुप्ताचार्यव्याख्याने चतुर्वेदाचार्यस्तिथ्यन्ते मध्ये रविचन्द्रौ समौ कृत्वा स्वदिनार्द्धपरिधिनैवं स्फुटीकार्यौ तयोः। स्फुटीक्रियमाणयोः ये केन्द्रे भवतः ताभ्यां ते ग्राह्ये, इत्युक्तम्। तथापि स्वल्पान्तरात्पूर्वानीतमेव ग्रहीतम्। धनर्णोपपत्तिस्तु पूर्वतरफलस्याधिकत्वेनर्णफलत्वाच्च सूर्ये ह्यूनं, उक्तपरि-धिना न्यूनफलस्य ग्रहीतत्वात्। अतएव पश्चिमकपाले फलस्य न्यूनत्वेन पूर्वम-धिकफलस्य न्यूनकरणत्वं तत्र युतम्। एवं धनफले पूर्वकपाले फलस्य न्यूनत्वात् पूर्वमेवाधिकयोजनात्फलं हीनमेव पश्चिमकपाले फलस्याधिकत्वाद्युतम्। चन्द्रस्य तु ऋणफले पूर्वानीते फलस्य पूर्वमधिकं धनयोजनात् चांतरफलेन हीनः। पश्चिमनते फलस्य न्यूनत्वादेव यथोक्तमिति। अथ ब्रह्मगुप्तोक्तस्योपपत्तिः-तद्ज्ञानार्थमुच्यते। रवेः परिध्यंत्तरीयवशकला आभ्यस्त्रिज्यातुल्यभुजज्यया स्वेनाहते इत्यादिना फलं यथा ब्रह्मगुप्ताङ्गीकृतत्रिज्याखागरदः ३२७० विंशतिगुणाः ६५४००भगणांशभक्ता फलं विकलाः १८२ आसां तदुक्तखण्डकैश्चापं विकलाः। १९१। परममन्तरमेवम्। चन्द्रस्य द्विपञ्चाशत् कलाभिः परममन्तरम्। ४९९। अतस्त्रिज्ययेदमन्तरं तदेष्ट-केन्द्रभुजज्यया किमिति—इष्टमन्तरं परमनतज्ययेति त्रिज्यातुल्यपरमनतज्ययेदमन्तरं तदेष्टनतज्यया मिमित्यनुपातद्वयेनोपपन्नम्। अत पूर्वतिथ्यन्तस्य पूर्वं सूक्ष्माज्ञानात् तत्साधितफलं स्थूलमित्यसकृत् करणे सूक्ष्मं भवतीति मुहुः देशान्तराद्यमेवं स्पष्टीकरणाद्विना द्वयं परिधिभ्यां कृत्वात्तिथ्यन्तः स्फुटपरिधिभ्यां स्फुटवत् सकृदिति ब्रह्मगुप्तोक्तिश्च। अतएव यदा तिथिज्ञानं विनेष्टकाले सूर्यचन्द्रावभीष्टौ तदा तत्कालीन न तदेकवारमेव फलमानेयम्। नासकृदिति ध्येयम्। "चतुर्वेदा-चार्यास्तु" अयं अनन्तरोक्तसंस्कारोऽस्ति एवं न रविचन्द्रयोर्यदितयोः स्याद्भौमादी-नामपि स्यात् एकत्वात्। असुर्दिनदलोदयादीनां लंकायामेकत्वाच्चेद्व्यर्थमिति तिथ्यन्तपदं सार्थकमिति वदन्ति। तन्न भौमादीनामपि। वस्तुतस्तदनन्तरसत्वेऽपि सूक्ष्मत्वादत्रपलब्धितमाचार्यैः। अतएव सूर्यचन्द्रयोरपि स्वल्पांतरान्न कार्यमिति। स्वदिनाच्च परिधिभुजफलचापं मध्येऽर्कचन्द्रयोः, कृत्वा पूर्ववदन्यत् स्पष्टो संव्यवहारार्थमेवम् नेत्यत्र पर्यायोक्तम्। वस्तुतस्तु भूगर्भीयस्पष्टग्रहेभ्यः फला-

देशस्योक्तत्वात् सूर्यचन्द्रयोः केवल स्पष्टत्वार्थमेतत्संस्कारो न कार्यः। उपलब्धेस्ततत् संस्कारस्यानियतत्वादार्षोक्तत्वाच्च। अन्यथा क्षयधनानि, हानिधनानि, प्रामाण्यादन्यथा रवेरिन्दोः, प्राक्पश्चात् पृष्ठगतो धनक्षयधनानि प्रागिति ब्रह्मोक्तगतिफलसंस्कारस्योक्तत्वापत्तेरिति उपलब्धो मानाभावाच्च। अतएव जिष्णुसुतो जगादेत्युक्तेन स्वस्य तदङ्गीकार इति सूचितमिति तत्वम्॥६९॥

दीपिका—"तद्युदल परिध्यन्तगुणा हृता त्रिज्यया स्वनतजीवा।
ऊने धनमृणमधिके दिनार्धपरिधौ स्फुटः परिधिः"॥

अत्रोक्तवद्ब्रह्मगुप्तमतमादृत्य भास्करेणात्र नतकर्म प्रोच्यते शेषं सर्वं भाष्ये स्फुटम्।

शिखा—यहाँ पर आचार्य ने पठित सूर्य चन्द्रमा की मन्द परिधियों से फलसाधनपुरः सर स्फुटरविचन्द्र साधन करते हुये इनसे तिथ्यन्त का साधन कर रवि चन्द्रमा के ग्रहण का गणित किया है। इस प्रक्रिया से यह ग्रहण दृक् प्रत्यय नहीं हुआ दिखाई दिया। इसलिये वास्तव ग्रहण साधन के लिये ब्रह्मगुप्त ने नतकर्म किया है। अर्थात् मध्याह्न और उदय कालीन पठित परिधियों के अन्तर वश अभीष्ट स्थानीय रवि चन्द्रमा की परिधियों से इष्ट समय के रवि चन्द्रमा ग्रहणोपयोगी बनाये गये हैं। यह गणित पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में नहीं है, आर्ष मूलक सिद्धान्त नहीं होने से इस पर आस्था नहीं होगी—इत्यादि शङ्काओं से अपने को पृथक् करते हुये महामतिमान् ब्रह्मगुप्त का यह कथन है ऐसा कहकर ही—आचार्य विरमित होता है।

वस्तुतस्तु—"दृक्कर्मादिविदं स्मृतम्" यह आर्ष मत है ही और सूर्य चन्द्र ग्रहण जैसे लोक प्रत्यक्ष दर्शनीय पदार्थ, जैसे भी ठीक हो वैसा गणित करना ही चाहिए—ऐसी आर्षोक्ति भी है। इस अभिप्राय से ब्रह्मगुप्त ने यह जो नतकर्म लिखा सो ठीक है, क्योंकि आजकल के नवीन गणितों में इससे भी और कितने सूक्ष्म संस्कार सूर्य चन्द्र ग्रहण साधन के सर्व मान्य हो गये हैं। रवि की इष्ट परिध्यन्तर अंशात्मक$=\frac{\frac{२०}{६०}\times \text{नतज्या}}{१२०}=\frac{\frac{१}{३}\ \text{नतज्या}}{१२०}$
$=\frac{\text{नज्या}}{३६०}$। इष्ट परिध्यन्तर सम्बन्धी फल$=\frac{\text{र फ}\times\text{नज्या}}{\text{स्पप}\times ३६०}=\frac{\text{र फ}\times\text{न}}{\frac{४१}{३}\times ३६०}=\frac{\text{र फ}\times\text{न}}{४९२०}$।

इसी प्रकार चन्द्र परिध्यन्तर$=\frac{\frac{५२}{६०}\times\text{न}}{१२०}=\frac{१३\times\text{न}}{१८००}=\frac{\text{न}}{१३८}$

परिध्यन्तरजनित फल$=\frac{\text{च फ}\times\text{न}}{\text{स्पप}\times १३८}=\frac{\text{चं फ}\times\text{न}}{(३१\frac{३६}{६०})\ १३}=$
$$=\frac{\text{चं फ}\times\text{न}}{(३१\frac{९}{१५})\ १३८}=\frac{\text{चं फ}\times\text{न}}{४३६१}$$

अर्थात्—सूर्य चन्द्र फलों को तिथ्यन्त कालीन ६ × नत घटी = नतांश की ज्या से गुणाकर क्रमशः सूर्य की ४९२० से चन्द्रमा की ४३६१ से भाग देकर जो अंशादिक या कलादिक (फलों की अंशादिकता या कलादिकता वश) लब्धि हो उसे प्राक्कपालीन रवि ग्रह में यह फल कम प्रत्यक्कपालीन रवि में उक्त यह लब्धि धन करनी चाहिए। फिर

इसी प्रकार वार वार तिथि साधन एवं फिर नत कर्म करते रहने से जब एक रूपता आवे भी तभी दृग्गणितैक्यता भी अवश्य होगी।

विशेष—संशोधक ने क्वगाग्निवेदैः पाठ को ठीक माना है। हेतु निर्देश नहीं किया।

इदानीं स्फुटग्रहस्य तात्कालिकीकरणमाह—

यातैष्यनाडीगुणिता द्युभुक्तिः
षष्ट्या ६० हृता तद्रहितो युतश्च।
तात्कालिकः स्यात् खचरः शशीनौ
तिथ्यन्त एवं समलिप्तिकौ स्तः ॥७०॥
पूर्णान्तकाले तु समौ लवाद्यै-
र्दर्शान्तकालेऽवयवैर्गृहाद्यैः।

वा० भा० :—स्पष्टम्।

वासनाऽपि सुगमा त्रैराशिकेन।

मरिचिः—अथानीततिथौ शुद्धत्वज्ञानमिष्टकालिकग्रहकरणोक्तिव्याजेनकिञ्चि-द्विशेषं चेन्द्रवज्राभ्यामाह—

"यातैष्यनाडीगुणीताद्युभुक्तिः षष्टयाहृता तद्रहितो युतश्च।
तात्कालिकः स्यात् खचरः शशीनौ तिथ्यंत एवं समलिप्तिकौस्तः॥
पूर्णान्तकाले तु समौ लवाद्यैर्दर्शांतकालेऽवयवैर्गृहाद्यैः।
स्थूलं कृतं भानयनं यदेतज्ज्योतिर्विदां सम्व्यवहार हेतोरि"ति ॥७१॥

यत्काले ज्ञातस्तस्मादभीष्टकाले या सावनाः स्पष्टसूर्यस्य घटिकाः गताः ऐष्याः वा ताभिः प्रागानीतगतिःगुराया षष्टिभक्ताः। फलेन-गत्यात्मकेन ज्ञातग्रहः क्रमेण हीनो युतोऽभीष्ट काले ग्रहः स्यात्। एवमेतेन प्रकारेण तिथ्यन्ते सूर्यचन्द्रौ कृतौ तदावश्यं समकालौ स्तः। तिथ्यंतकाले साधनस्पष्टसूर्यचन्द्रयोः कलादिसमत्वं चेत् भवति तर्हि शुद्ध तिथ्यन्तकालः, अन्यथाशुद्ध इति भावः। प्रसंगादाह-पूर्णान्तकाले इति। एवं साधितौ सूर्यचन्द्रौ पूर्णान्तकाले चंद्रस्य पूर्णातिथीनां पञ्चमीदशमीनां प्रत्येकं विरामक्षणे लवाद्यैः, अंशकलाविकलात्मकैः क्षेत्रावयवैः समौ तुल्यौ तथा च तत्र तिथ्यन्तत्वात्समकलादित्वेऽप्यधिकं भागसाम्यमिति-भावः। अमावस्यान्तकाले गृहाद्यैः, राशिभागकलाविकलात्मकैर्भगणावयवैः समौ स्तः। अत्रमासार्धत्वात्समांशादित्वेऽप्यधिक शशिसाम्यं भवति। मासा-न्तत्वात्। रवींदोर्युतेरित्याद्युक्तत्वाच्च।

ननु तिथेः, काल्पनिकत्वेनाप्रत्यक्षत्वात् सूर्यचन्द्रान्तरद्वादशभागाः प्रमाण-मेकरूपं युक्तम्। एवं करणयोगयोरपिनियतभोगमानं युक्तम्। नक्षत्राणां प्रत्यक्ष-

त्वाद्रेवती ताराया अश्विनी यदन्तरेण तदन्तरेणाश्विन्याः भरणी नैवेत्यादि दर्शनाच्चैकरूपमष्टशतकलाप्रमाणम्प्रत्येकमयुक्तम्। प्रत्यक्षाविरोधात्। तथा तत्तत्प्रमाणोपजीव्य नक्षत्रानयनं प्रागुक्तमसंगतमित्यत्र आह-स्थूलमिति यत्, प्रागुक्तमेतत ग्रहकला इत्यादि नक्षत्रानयनं तत् पूर्वैः स्थूलं कृतम्। तथा चासूक्ष्मत्वमेवेति न क्षतिः।

ननु तर्हि तदानयनं व्यर्थमेवेत्यत आह-ज्योर्विदामिति-ज्योतिः शास्त्रोक्तफलादेशज्ञानां संव्यवहारनिमितं तथा च सूर्यसिद्धान्तादौ स्थूलनक्षत्रानयनोक्तेरेव व्यवहारस्तेनैव प्रसिद्धत्वात्। अव्यवस्थितिरिति प्रतिवेलं तत्तदूहनविकला समूहैः। स्थूलमप्यनुसरन्ति कृतीन्द्राः केवलं नं रमणीय इति प्रतिपादितत्वाच्चेति भावः।

अत्रोपपत्तिः—सूर्यसावनषष्टिघटिकाभिः स्पष्टादिनगति स्तदेष्टसूर्यसावन घटीभिः किमित्यनुपातेन फलं ग्रहे हीनं पूर्वकाले। उत्तरे काले तु युतमेव पूर्वगतिग्रहस्योत्तरोत्तरमधिकत्वात्। यदा तु पश्चिमगतिर्भवति तदा वैपरीत्यमित्युक्तप्रायम्। पातस्य तु पश्चिमभोगत्वेन ज्ञानात्तत्रपूर्वे हीनमग्रिमकाले युतमित्येव। अतएव तस्य पूर्वं भोगे राहु रूपे विपरीत मित्यादि सुगमम्। अत्राभीष्टकाले ग्रहस्य चालनेन स्पष्टगतेर्वैलक्षण्यात्स्थूलत्वऽतो मध्यग्रहएवाभीष्टकाले चाल्यस्त स्पष्टः कार्य इति सूक्ष्ममिति ध्येयम्। द्वादशभागान्तरस्यैका तिथिभोगत्व तिथ्यन्ते साधितार्कचन्द्रयोः केवलमंशान्तरमतः कलादिसमत्वं युक्तम्। अमावास्यान्तकाले सूर्यचन्द्रयोः, क्रान्तिवृतस्थचिह्नरूपयो मेंषादित्वेन समत्वाद्राश्यादि समत्वे युक्तम्—अतएव पौर्णमास्यन्ते मासार्धत्वात्षड्राश्यान्तरम्। केवलमतो भागादि समत्वं युक्तम्।

तुल्यौ राश्यादिभिः स्यातममावास्यान्त कालिकौ।
सूर्येंदू पौर्णमास्यन्ते भार्द्धे भागादिकौ समाविति॥
सूर्यसिद्धान्तोक्तेश्च ॥७१॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—गणित गौरव से या ग्रहगणितज्ञों की कमी से परिश्रम साध्य न होने से पञ्चाङ्गों में दैनन्दिन ग्रह नहीं बनाये जाते थे। भास्कराचार्य के समय तक भी पाक्षिक या साप्ताहिक ग्रह ही पञ्चाङ्गों में लिखे जाते थे। कोई भी पञ्चाङ्ग किसी प्रसिद्ध नगर का, उज्जैन, काशी, या काशमीर केन्द्राभिप्रायिक बनाया जाता होगा? उसमें भी जो प्राचीन समय में भूमध्य रेखा के धरातल में (Equator) भारत वर्ष के दक्षिण समुद्र के उस पार के नगर को ही लंका नाम दिया गया होगा। रावण राजधानी से भले ही प्रसिद्ध नगरी लङ्का नाम की थी अब भी है किन्तु हमारे गणित गोलीय ज्ञान से परिष्कृत उच्च मस्तिष्क के इन भारतीय खगोल शास्त्रियों का अभिप्राय है कि आकाशीय किसी भी धरातल निष्ठ

कक्षा के क्रान्ति वृत्त (orbit) से २४° कभी ऊपर या कभी नीचे में स्थिर स्थित इसी क्रान्ति वृत्तीय कक्षा धरातलनिष्ठ नाडी वृत्त के अपचीय मान भू पृष्ठ में पूर्वापर रूप से संसक्त भू पृष्ठीय विषुवद्वृत्त में स्थित विश्व के प्रसिद्ध ४ नगरों में लङ्का नाम का कोई नगर था संभवतः वह इस समय जलमग्न होगा जो वर्त्तमान भौगोलीय लङ्का से ८°—नीचे रहा होगा—इत्यलं प्रसंगागत विचारेण ।

इसी नगर को केन्द्र मान कर हमारा भारतीय खगोल साधार है। और इस नगर को भू पृष्ठीय स्पार्शिक दोनों ध्रुवों में गये ध्रुवप्रोत या याम्योत्तर वृत्त में ही—उज्जैन, कुरुक्षेत्रादि नगर भी पड़ते हैं—अतः यह खगोल और भूगोल की स्थिति से इन्हीं नगरों को खगोलीय भू पृष्ठ केन्द्र मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यों तो पृथ्वी के किसी भी अपरिचित अव्यक्त विन्दु से भी आकाश को माप सकते हैं जैसे आधुनिक युग का "ग्रीन्विच" नगर इस कार्य में अग्रणी है—जहाँ के अल्मनाक सूक्ष्म हैं और विश्रुत हैं। किन्तु इस कल्पना का हेतु तद्देशीय विज्ञान विशेषज्ञों का प्राचुर्य है, और जो कार्य निःसन्देह स्तुत्य है और जिसका अनुकरण आज के हम भारतीय खुले आम करते हुये अपने पञ्चाङ्गों में भी दैनिक ग्रह देने लगे हैं—पश्चिम की इस देन के हम आभारी हैं। यद्यपि आज से ५० वर्ष पूर्व गणक सार्वभौम म-म. पं० सुधाकर द्विवेदी ने ग्रीन्विच अल्पनाक के गणित की समालोचना करते हुए इतने सूक्ष्म संस्कारों और दिन का तो कौन पूछे एक एक मिनट के चन्द्रसाधित चन्द्रमा में अमुक त्रुटि थी उच्चैरुदघोषणा तत्कालीन क्वीन्स का. प्रि. थीवो के द्वारा की थी और जिसे उन लोगों ने सहर्ष स्वीकार किया था। विद्वान् की यही एक स्वभाव से परीक्षा होती है जो गलती बताने वाले को ही गुरु माने और उससे यावज्जीवन ज्ञान ग्रहण करे। पाश्चात्य आधुनिक गणितज्ञों की प्रशंसा किन शब्दों में की जाय निःसन्देह इस समय वह स्तुत्य हैं। अस्तु—तात्पर्य है कि हमारे यहाँ भी इधर १० वर्ष पूर्व से एक एक मिनिट सेकेण्ड के तो नहीं एक एक दिन के ग्रह पञ्चाङ्गों में दिये जा रहे हैं। तिस पर भी हमें जातक के लिये किसी भी क्षण समग्र स्पष्ट ग्रहों की आवश्यकता होती है जिनके साधन का सरल उपाय पाक्षिक या साप्ताहिक या दैनिक ग्रह स्थिति वश के ही पञ्चाङ्ग है। किसी इष्ट समय और पञ्चाङ्गस्थ ग्रह स्पष्ट का जो समय है—इस अन्तर काल से ग्रहगतियों को गुणा कर उसमें ६० का भाग देकर लब्ध जो अंशादिक या कलादिक फल हो उसे पञ्चागस्थ ग्रह में क्रमशः जोड़ देना और घटाना चाहिए जब कि पञ्चाङ्ग कालीन ग्रह से आगे और पीछे की ग्रह स्थिति लानी हो तो उक्त चलित फल को ग्रहण कर अपनी इष्ट कालीन स्पष्ट ग्रहस्थिति बनानी चाहिए,—तभी यात्रा, विवाह, उत्सव, जातक आदि का विचार करना चाहिए। वक्र ग्रह में उक्त चालन फल का विपरीत संस्कार करना चाहिए। आचार्य ने इसे यहाँ पर नहीं कहा है इसलिये कि "अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः" बुद्धिमान् इसे स्वयं ही समझ लेते हैं।

इदानीं सूक्ष्मनक्षत्रानयनमाह—

स्थूलं कृतं भानयनं यदेत-
ज्ज्योतिर्विदां संव्यवहारहेतोः ॥७१॥

सूक्ष्मं प्रवक्ष्येऽथ मुनिप्रणीतं
विवाहयात्रादिफलप्रसिद्ध्यै ।
अध्यर्द्धभोगानि ११८५।५२ षडत्र तज्ज्ञाः
प्रोचुर्विशाखादितिभध्रुवाणि ॥७२॥

षडर्द्धभोगानि च ३९५।१७ भोगिरुद्र-
वातान्तकेन्द्राधिपवारुणानि ।
शेषाण्यतः पञ्चदशैकभोगा-
न्युक्तो भभोगः शशिमध्यभुक्तिः ७९०।३५ ॥७३॥

सर्वर्क्षभोगोनितचक्रलिप्ताः
वैश्वाग्रतः स्यादभिजिद्भभोगः ।
कलीकृतादिष्टखगाद्विशोध्य
दास्रादिभोगान् गतभानि विद्यात् ॥७४॥

विशुद्धसङ्ख्यानि गतन्तु शेष-
मशुद्धभोगात् पतितं तदेष्यम् ।
गतागते षष्टिगुणे विभक्ते
ग्रहस्य भुक्त्या घटिका गतैष्याः ॥७५॥

वा० भा० :—इह यन्नक्षत्रानयनं कृतं तत् स्थूलं लोकव्यवहारार्थमात्रं कृतम् । अथ पुलिशवसिष्ठगर्गादिभिर्यद्विवाहयात्रादौ सम्यक् फलसिद्ध्यर्थं कथितं तत् सूक्ष्ममिदानीं प्रवक्ष्ये । तत्र षडर्धभोगानि । विशाखापुनर्वसुरोहिण्युत्तरात्रयम् । अथ षड्द्धभोगानि—अश्लेषा आर्द्रा स्वाती भरणी ज्येष्ठा शतभिषक् । एभ्यः शेषाणि पञ्चदशैकभोगानि । भोगप्रमाणन्तु "शशिमध्यभुक्तिः" ७९०।३५। अध्यर्ध-भोगः ११८५।५२। अर्द्धभोगः ३९५।१७। सर्वर्क्षभोगैरूनितानां चक्रकलानां २१६०० यच्छेषं सोऽभिजिद्भोगः २५४।१८। अथ तत्साधनम्—ग्रहं कलीकृत्याश्विन्यादीनां भोगान् विशोधयेत् । यावन्तः शुद्धास्तावन्ति गतभानि जानीयात् । शेषाः कला गतसंज्ञाः । ता अशुद्धभोगात् पतिता एष्यसंज्ञाः । ता गतैष्याः कलाः षष्टि ६० गुणा ग्रहगत्या भक्ता गतैष्या घटिका भवन्ति ।

मरीचि :—अत्रोपपत्तिरागमप्रामाण्येन । ननु किं दिनर्क्षविरहे करग्रहो नेष्यते तदुदयक्षणेऽपि स्थूलमेवमखिलं जगत्फलं तद्विशेषमतिसूक्ष्मतागतिरित्युक्तत्वात्, सूक्ष्मतदानयनं कथं नोक्तमत उपजातिका त्रयेणोपेन्द्रवज्रया तत्प्रतिज्ञापूर्वकं तदानयनमाह—

सूक्ष्मं प्रवक्ष्येऽथ मुनिप्रणीतं, विवाहयात्रादिफलप्रसिद्ध्यै ।
अध्यर्धभोगानिषडत्र तज्ज्ञाः प्रोचु र्विशाखादिति भध्रुवाणि ।।
षडर्धभोगानि च भोगिरूद्रवातान्तकेन्द्राधिपवारुणानि ।
शेषाण्यतः पञ्चदशैकभोगान्युक्तोभभोगः शशिमध्यमुक्तिः ।।
सर्वर्क्षभोगोनितचक्रलिप्ताः वैश्वाग्रतः स्यादभिजिद्भभोगः ।
कलीकृतादिष्ट खगाद्विशोध्य दास्रादि भोगान् गतभानि विद्यात् ।।
विशुद्धसंख्यानि गतं तु शेषमशुद्धभोगा त्पतितं तदेष्यम् ।
गतागते षष्टिगुणे विभक्ते ग्रहस्य भुक्त्या घटिका गतैष्या इति ।।७५।।

अथानन्तरं सूक्ष्ममस्थूलनक्षत्रानयनसमनन्तरमेव प्रवक्ष्ये ननु सूक्ष्मनक्षत्रानयनं च वासनां वाद्यामितिलब्धार्यभटोक्तेः । कथं तत्कथनं युक्तमत आह-मुनिप्रणीतमिति, पुलिशवशिष्ठऋषिभिरुक्तम् । तथाचार्यत्वेन युक्त्यभावेऽपि न क्षतिः । ननु स्थूलनक्षत्रस्याप्यार्षत्वेन न सवासनत्वेन च तदंगीकार एवास्तु । सर्वेषां न तद्व्यवहारात् । इदं त्वप्रसिद्धेवमत आह – विवाह इति-विवाहयात्राआदि यदा जन्मव्रतादि शुभकर्मणां संग्रहस्तेषां फलस्य प्रकर्षेण सिद्ध्यै सम्वादाय, तथा च सूक्ष्मनक्षत्रं विवाहादि व्यवहारे "स्थूलमानयनं प्रोक्तं व्यवहाराय तद्विदा । यात्राजन्मव्रतोद्वाहसिद्ध्यै सूक्ष्मर्क्षमुच्यते" इति वशिष्ठवचनात्प्रसिद्धमिति भावः । तदाह—अध्यर्धेति । अत्र सूक्ष्मनक्षत्रसाधानार्थं तद्ज्ञाः सूक्ष्मनक्षत्रमार्गज्ञाः वसिष्ठादयः विशाखादितिभध्रुवाणि । अदिति स्वामिकं पुनर्वसुः ध्रुवं तु, रोहिणिसहितमुत्तरात्रयं कीर्त्तयंति मुनयो ध्रुवाह्वयमित्युक्तेः । रोहिण्याद्युक्तचतुष्टयम् । एवं षट् नक्षत्राणि अर्धमधिक्रांतं युतमेतादृशो भोगो येषान्तानि । सार्धकभोगमानानि भोगीरुद्रवातांतकेन्द्रा—अधिपा येषान्तानि वारुणं वरुणस्वामिकं शततारा भोगिनः सर्पाः । आश्लेषार्द्रास्वातीभरणी ज्येष्ठा शतभानि । एवं षणनक्षत्राणिभोगार्धप्रमाणानि । चः समुच्चये । अत उक्त नक्षत्रेभ्य शेषाणि नक्षत्राणि पञ्चदशसर्वनक्षत्राणां सप्तविंशन्मितत्वात् । अश्विनी कृतिकामृगपुष्यमघा पू.फा. हस्त चित्रानुराधामूल पू. षा. श्रवण धनिष्ठा पू. भा. नक्षत्रणि, प्रत्येकमेकभोगमानानि । यमेशेन्द्राहितोयेशमरुतश्चार्धतारकाः ध्रुवादिति द्विदैवास्युरध्यर्धा श्चापराः समा इति नारदोक्तेः ।

ननु भोगज्ञानाभावान्मानज्ञानं न स्यादत आह-उक्त इति नक्षत्रभोगः सामान्यतः शशिमध्यगतिमितः शशिमध्यगतिर्भोगे इति लघुवसिष्ठोक्तेः । स्पष्टगतेर्वैलक्षण्येन न्यूनाधिकत्वात्सर्वनक्षत्राणां चक्रकलासु पर्यायत्वाभवादतएव शशांकभुक्तिभोगानिति सिद्धान्तशेखरोक्तस्य मध्यगतिरित्यर्थ एव बोध्यः । यथा स्थूलनक्षत्रेष्टशतकलाभोगः सर्व ग्रहसाधारणस्तथात्रापि चन्द्रमध्यगत्यनुसृतप्रतिपादितभोगः सर्व ग्रहाणाम् । न तु स्वमध्यगत्या स्पष्टगत्या वा प्रत्येकं ग्रहस्य भिन्नाः । वचनाभावात् । नन्वनुपातेन सूक्ष्मा चन्द्रमध्यगतिः कलात्मिका । नवचन्द्रवेदपंचरामभक्ता भ्राभ्राष्टिखखगजदस्रमितरूपाः २८००१६०० एक-

३५४१९

भोगमानं पञ्चदश गुणम् ४२०० २४००० एवमर्ध भोगः ४२०० २४०० षड्गुणः—
२५२०१६४००
(२५२०३५४१९)१४४०० अर्धभोगोऽपि १४०००८०० षड्गुणः ८४००४८०० एधमध्यर्धादि भोगभाज्यानां योगा ७५६०४३२०० हरभक्तफलं २१३४५।४१।४५ एतस्य चक्रकला-२१६०० समत्वाभावात्स्थूलनक्षत्रानयनमेवमस्मादत आह्-सर्वर्क्षेति सप्तविंशति नक्षत्राणां ये भोगाः। प्रत्येकं तदैक्येनोनाश्चक्रलिप्ताः अभिजिन्नक्षत्र भोगः-स्यात्। तथा च सप्तविंशतिनक्षत्राणां भोगैक्यस्य यदंतरेण चक्रकलाभ्यो न्यूनत्वं तदेवाऽभिजितो भोगः। स तु २५४।१८।३५ एव मष्टाविंशति नक्षत्राण्यत्र न तु सप्तविंशन्मिताऽनीतिभावः। अस्य पूर्वत्वासंन्निवेशस्थलं नक्षत्रेऽप्याह्-वैश्वाग्रत इति विश्वेदेवऽधिपत्यमुत्तराषाढ़ानक्षत्रं तदग्रतः श्रवणात्प्रागेत्तस्य गणनाक्रमः। तथादर्शनात्। उपरिष्ठाद्वैश्वशेषमधस्ताच्छ्रवणस्य च। एष भोगोऽभिजित्प्रोक्तमेवं सूक्ष्मं समुच्यते इति लघुवशिष्ठोक्ते श्चाप्यथशोघ्रोपस्थित्यर्थं भोगास्तैदक्यानि च लिख्यन्ते।

भानि	अ.	भ.	कृ.	रो.	मृ.	आ.	पु.	पु.	अ.	म.	पू.	उ.
भोगाः भा गा द यः	१३ १० ३४ ५२	६ ३५ १७ २६	१३ १० ३४ ५२	१९ ४५ ४२ १८ ०	१३ १० ३४ ५२	६ ३५ १७ २६	१९ ४५ ५२ १०	१३ १० ३४ ५२	६ ३५ १७ २६	१३ १० ३४ ५२	१३ ४५ ५२ १८	१९ ४५ ५३ १८
ऐक्यम्	१३ १० ३४ ५२	१९ ४५ ५२ १८	३२ ५६ २७ १०	५२ ४२ १९ २८	६५ ५२ ५४ २०	७२ २८ ११ ४६	९२ १४ ४ ६	१०५ २४ ३८ ५६	१११ ५९ ५६ २१	१२५ १० ३१ १४	१३८ २१ ५ ६	१५८ ६ ५७ २४
भानि	ह.	चि.	स्वा.	वि०	अ०	ज्ये.	मू.	पू.	उ.	अ.	श्र.	ध.
भोगाः भा गा द यः	१३ १० ३४ ५२	६ ३५ १७ २६	१९ ४३ ५२ १९	१९ ४५ ५२ १८	१३ १० ३४ ५२	६ ३५ १७ २६	१३ १० ३४ ५२	१३ १० ३४ ५२	१९ ४५ ५२ १८	४ १४ १८ २६	१३ १० ३४ ५२	१३ १० ३४ ५२
ऐक्यम्	१७१ १७ ३२ १६	१८४ २८ ७ ८	१९१ ३ २४ ३४	२१० ४९ १७ ५२	२२३ ५९ ५२ ४४	२३० ३५ १० १०	२४३ ४५ ४५ २	२५६ ५६ १९ १४	२७६ ४२ १२ १२	२८० ५६ ३० ४०	२९४ ७ ५ ४०	३०७ १७ ४० ३२

भाति	श.	पू.	उ.	अ.
भोगा:	६	१३	१९	१३
भा	३५	१०	४५	१०
गा	१७	३४	५२	३४
द	२६	५२	१८	५२
यः				
ऐक्यं	३१३	३२७	३४६	३६०
	५२	३	४९	०
	५७	३२	२५	०
	५८	५०	८	००

अथ तदानयनमाह। कलीकृतादिति-इष्ट खगात्। यस्य ग्रहस्य नक्षत्रमिष्यते तद्राश्यादेः कलीकृतात्। अश्विन्यादिनक्षत्राणां भोगाम्कलादिकान्विशोध्य विशुद्धसंख्यानि गतनक्षत्राणि ज्ञेयानि। यत्तदग्रिममशुद्धं तद्वर्तमानं नक्षत्रम् तस्य शेषं कलादिकं भवति तत्स्वत्स्व शुद्धस्य भोगाद्धीनं तस्यैवैष्यं भवति। आभ्यां घटिकानयनमाह-गतागते इति। गतैष्ये कलात्मके षष्टिगुणे स्वाभीष्टग्रहकलात्मकगत्या विभक्ते क्रमेण स्वाभीष्टकालाद्गता ऐषाश्च घटिका भवन्ति। अनेनैव स्थूलनक्षत्र-उत्तराषाढातृतीयचरणान्ताच्छ्रवणादिपंच शशांशपर्यन्तमभिजिन्नक्षत्र कालो भवति वैश्वदेव तच्चतुर्लवः श्रवः पञ्चमूलवदिहाभिजिन्मितिरिति सम्यगुक्तं प्रसिद्धं च।

अत्रोपपत्तिः—भोगे आगमएव। ग्रहकालभ्यो येषां क्रमेणभोगा शुध्यन्ति तानि ग्रहाणामुक्तानि। यत्र शुद्ध्यन्ति तद्ग्रहाधिष्ठितमिति। तस्य शेषं गतं तत् स्वभोगाच्छुद्धमेष्यम्। ततो ग्रहगत्या कलात्मिकया षष्टिसावना घटिकास्तदागतैष्य कलाभिः का इत्यनुपातेन सर्वं सुगममत्र मध्यममानेन सार्धभोगादीनां चन्द्रस्य क्रमेण नवत्रिंशत्षष्टिघटिकाभवन्ति। अतएव तासां प्रमाणं घटिकास्त्रिशन्नवति षष्ट्यः क्रमाद्भ्युदिते चन्द्रे, इति समानं च नारदोक्तं साधु ॥७५॥

दीपिका—पूर्वं किल ग्रहकला: सरवीन्दुकला हृता: खखगजैश्चेत्यादिना यन्नक्षत्रानयनं कृतं तत्स्थूलं भचक्रस्य सप्तविंशतितमविभागात्मकत्वात्। किन्तु नहि तथात्वेन नक्षत्राणां निवेशो यतस्तेषु केचन शराग्रेषु तिष्ठन्तो अतस्तेषां योगतारकोपरिगतं- कदम्बप्रोत वृत्तं यत्र भचक्रे लग्नं तत्र तत्स्थानम्। एवं कृते तेषु अध्यर्धभोग: ११८५।५२ षण्णामर्धभोग: ३९५।१७ शेषाणां पञ्चदशानामेकभोगोऽर्थाच्चन्द्रमध्यमगतिसम: ७९०।३५ एतावदेव भोगप्रमाणमित्यागम प्रमाणम्। सर्वभोगनामैक्य-२१३४४ मिदं भचक्रकलाभि रल्पमतश्चक्रकलासु भोगकलां विशोध्य शेषकला २५६ अभिजिन्नक्षत्रभोग इति। एभ्य: कलीकृतात्खगाद्विशोध्य इत्यादिना नक्षत्रानयनं सुगमम्।

शिखा—गणित की सुगमता के लिये पूर्व में नक्षत्र का मान लाया गया है। मुनियों ने विवाहादि शुभ कृत्यों में, फलोपयोगी सूक्ष्म नक्षत्रानयन कहा है। विशाखा आदि ६ नक्षत्रों क अध्यर्धभोग ११८५।५२ आश्लेषादि ६ नक्षत्रों का अर्ध भोग ३९५।१७ १५ शेष नक्षत्रों का भोग चन्द्र मध्यगति ७९०।३५ के तुल्य होता है। चक्रकला में सर्व नक्षत्र भोग घटाने से शेष तुल्य अभिजित् का भोग है। साधन प्रकार—ऐसे जिसका नक्षत्र जानना है इष्ट ग्रह की कला कर इनमें अश्विन्यादि गत नक्षत्रों का भोग घटाकर गत नक्षत्र ज्ञान करना चाहिए। गत और गम्य को ६० से गुणा कर ग्रह गति का भाग देने से गत और गम्य घटिकाऐं होती हैं।

अनुपात— $\frac{\text{घटी ६०} \times \text{गत अथवा ऐष्प}}{\text{ग्रह गति}}$ = गतागत घटिका होती हैं।

पुलिशवसिष्ठगर्गादि—आचार्यों ने जो नक्षत्रानयन किया वह कुछ स्थूल है—आचार्य ने यहाँ पर सूक्ष्म नक्षत्रानयन प्रकार कहा है। अनन्त आकाश में जिन तारापुञ्जों को पृथ्वी से अत्यन्त दूर होने से भी यदि वे चलनशील भी हैं तो भी चलन नहीं देखा गया वे संख्यया २७ देखे गये हैं। संहिता शास्त्रों में भी नक्षत्रों की संख्या २७ ही है। नक्षत्र का अपर नाम "भ" भी है—इसी हेतु भ शब्द से संख्या भी २७ ही ग्रहण की गई है।

आकाश में अनन्त नक्षत्र हैं, परस्पर पृथ्वी के समीप में कुछ नक्षत्र हैं, जिनमें कोई विशेष प्रभाववान् भी है इसलिये जैसे अश्विनी के तीन नक्षत्रों में किस नक्षक्ष का भोग आचार्य ने पढ़ा है ? ऐसी शङ्का हो सकती है तो इन तीनों में विशेष प्रकाशमान तारा के ऊपर गया हुआ कदम्बप्रोतवृत्त का क्रान्तिवृत्त में जहाँ पर योग हुआ उसी विन्दु पर अश्विनी का भोग है यही पूर्व आचार्यों का भी मत है। अश्विनी के इन तीनों ताराओं से अश्व मुख की सी आकृति आकाश में देखी जाती है—एवं भरणी के तीन ताराओं से योनि का सा आकार आकाश में देखा गया है—इसी अभिप्राय से हमारे फलित ज्योतिष ग्रंथों में अश्व्यदि रूप मित्यादि से नक्षत्रों का स्वरूप बताया है। नीचे की सारिणी सर्व साधारण के समझने के लिये विशेष सरल होगी। इसीलिये अश्विनी आदि २७ नक्षत्रों के नाम, उनकी तारा संख्या, इनके भोग एवं इनके स्पष्ट रूप आदि का निदर्शन चक्र अग्रिम पृष्ठ में दिया जा रहा है।

नक्षत्र	अ.	भ.	कृ.	रो.	मृ.	आ.	पु.	पु.	श्ले.	म.	पू.	उ.	ह.	त्रि.
आकार	अश्व मुख	योनि	क्षुर	शकट	हस्ति मुख	मणि	गृह	शर	चक्र	गृह	खट्वा	शय्या	हल	मौक्तिक
तारा संख्या	३	३	६	५	३	१	४	३	५	५	२	२	५	१
भोग:	७९० ३५	३९५ १७	७९० ३५	११८५ ५२	७९० ३५	३९५ १७	११८५ ५२	७९० ३५	३९५ १७	७९० ३५	७९० ३५	१८८५ ५२	७९० ३५	१८८५ ५२
नक्षत्र	स्वा.	वि.	अ.	ज्ये.	मू.	पू.	उ.	अ.	श्र.	ध.	श.	पू. भ.	उ. भा.	रे.
आकार	प्रवाल	तोरण	भक्त	कुण्ड	सिपु	गद	मञ्च	त्रि.	वाम	मर्दल	वर्तुल	मं.	यम	मर्दल
तारा संख्या	१	४	४	३	११	२	२	३	३	४	१००	१	२	३२
भोग:	३९५ १७	७९० ३५	७९० ३५	३९५ १७	७९० ३५	७९० ३५	११८५ ५२	२५४ २१	७९० ३५	७९० ३५	३९५ १७	७९० ३५	११८५ ५२	७९० ३५

अभिजित् आकाश में दिखाई देता है इसकी णगना भी २७ नक्षत्रों के ही भीतर हैइसी लिये इसकी पृथक् संख्या नहीं है।

इन नक्षत्रों की गतैष्य सूक्ष्म घटिकाओं का ज्ञान भी पूर्वोक्त नक्षत्रानयन प्रक्रिया की तरह ही समझना चाहिए, जैसे आचार्य कह आये हैं। इस सूक्ष्मनक्षत्रानयन की अपेक्षा भारतीय पञ्चाङ्ग स्थूल ही नक्षत्रानयन सूर्य सिद्धान्तादि मत से करते हैं। भास्कराचार्य ने ब्रह्मगुप्ताचार्य से सूक्ष्म नक्षत्रानयन का प्रकार लिया होगा।

आधुनिक वैज्ञानिक (पाश्चात्य गणितज्ञ) नक्षत्रों के प्रकाश को मापते हुए इन नक्षत्रों का अल्फा, वीटा, गामा थीटा—इत्यादि वोधक नाम तथा नक्षत्रोपरिगत ध्रुव प्रोत नाडी वृत्त सम्बन्धी विषुवांश जानकर उन्हें अपने नाट्रिकल आल्मनेक में देते हैं—पौर्वात्य पाश्चात्य मत में यह बड़ा ही अन्तर है—इस पर विद्वानों ने विचार करना चाहिए।

अत्रोपपत्तिरागमप्रमाण्येन।

इदानीं ग्रहाणां राशिसङ्क्रान्तिमानं भतिथिकरणयोगानां सन्धिमानञ्चाह—

षष्टिघ्नविम्बं ग्रहभुक्तिभक्तं
सङ्क्रान्तिनाड्योऽखिलधर्म्मकृत्ये।
रवेस्तु ताः पुण्यतमा ग्रहः स्व-
सङ्क्रान्तिगो मिश्रफलं विधत्ते ॥७६॥

शशितनुविकलाभ्यश्चन्द्रभुक्त्येन्दुभान्वो-
र्गतिविवरकलाभिर्भूय एताभिरेव।
पृथगथ गतियुत्या नाड़िकाः सन्धिराप्ता
भतिथिकरणयोगानां फलं तत्र मिश्रम् ॥७७॥

वा० भा० :—वक्ष्यमाणप्रकारेण ग्रहविम्बकला आनीय षष्ट्या संगुण्य ग्रहभुक्त्या भजेत्; यल्लब्धं ताः सङ्क्रान्तिनाड्यः। राश्यन्तकालात् पूर्वमर्धा उत्तरतोऽर्धा इत्यर्थाद्गम्यते। ताः सङ्क्रान्तिनाड्यो रवेस्तु पुण्यतमाः। तथा यावत् सङ्क्रान्तिस्थो ग्रहस्तावद्राशिद्वयोत्थं फलं करोति। एवं शशिविम्ब-विकलाभ्यो या घटिका उत्पद्यन्ते ता भतिथिकरणयोगानां सन्धिघटिकाः स्युः। सन्धौ मिश्रफलमित्यर्थः। अत्र सन्धिरुभयतोऽपि विम्बस्य स्थितत्वात्। उपपत्ति-रप्यत्र सुगमा।

[1]इति श्रीमहेश्वरोपाध्यायसुतभास्कराचार्यविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिवासनाभाष्ये-
मिताक्षरे ग्रहस्पष्टीकरणवासनाध्यायो द्वितीयः ॥ २ ॥
अत्राधिकारे ग्रन्थसङ्ख्या षट् शतानि ॥ ६०० ॥

मरीचि :—अथ तिथ्यादिना संधिकालस्य संहितासु निषिधत्वात्तदानयनं विवक्षुः प्रथमं प्रसंगात्संक्रातिकाल सन्ध्यानयनमुपजातिकयाऽह—षष्टिघ्नविम्बं ग्रहभुक्तिभक्तं संक्रान्तिनाड्योऽखिलधर्मकृत्ये। रवेस्तु ताः पुरायतमा ग्रह; स्वसंक्रान्तिगो मिश्रफलं विधत्ते ॥७६॥

इति विवक्षमाणकलात्मकं रव्यादीनां विम्बं षष्टिगुणं स्वगत्या कलात्मिकया भक्तं तद्ग्रहस्य संक्रान्तिघटिका सम्पूर्णाः प्रागग्रतश्च संक्रान्तिकालादर्धिताः इत्यर्थ सिद्धम्। तत् प्रयोजनमाह-अखिलधर्मकृत्य, इति। स्नानदानादि-अखिल-धर्मकार्य श्रेष्ठाः। ताः मध्यमानेन। "नक्षत्रराश्योः, रविसंक्रमे स्युर्खार्क् परस्ताद्र-सेन्दु नाड्यः। पुरायास्तथेन्दो स्त्रिधराहलैर्युगे एकैव नाडी मुनिभिः शुभोक्ता।

---

[1] क्वचिदन्यत्र 'ग्रन्थेषु-इति सिद्धान्तशिरोमणिवासनाभाष्ये मिताक्षरे ग्रहस्पष्टीकरणं समाप्तमि'त्येवमपि दृश्यते।

नाड्यश्चतस्रः सपलाः कुजस्य बुधस्य तिस्रः पलविश्वयुक्ताः। सार्द्धाश्चतस्रो घटिका पलानि गुरोस्तु सप्तैव भृगोश्चतस्रः नाड्यः पलैकं घटिकाद्यशीतिः। पलानि सप्तैव शनैश्चरस्य आद्यन्तमध्ये जपहोमदानं कुर्वन्नवाप्नोति सुरेन्द्रधामे"तिमाधवीय नेति-श्शास्त्रवचनोक्ताः। अथ विशेषमाह-रवेरिति। ताः संक्रान्तिकालघटिकाः सू पुण्यतमाः चन्द्रादिग्रहसंक्रान्तिकालकृतधर्मजनितपुण्याधिकपुण्यदा स्नानादिधः इत्यर्थः। संक्रान्तौ यानि दत्तानि हव्यकव्यानि दातृभिः तानि नित्यं ददात्यर्कः पुनर्जन्मनि जन्मनि। रविसंक्रमणे पुण्ये स्नायाद्यदि न मानवः। सप्तजन्मसु रोगी स्याद्‌दुःखभागार्हं जायत इति शातातपोक्तेः। संक्रान्तिकालस्य सन्धित्वं दर्शयन्नाह–ग्रह इति स्व-संक्रान्तिकाले राशिं चरन्ग्रहमिश्रफलमधिष्ठितराशेस्तदा-सन्नस्य चेति राशिद्वयफलं विधत्ते धारयति। विषये तथा च सन्धित्वं सिद्धमेवेति भावः।

अत्रोपपत्तिः—ग्रहविम्बकेन्द्रस्य राश्यादिस्थानसंयोगित्वं संक्रान्तित्वम्। तत्र सूर्यस्य क्रान्तिवृत्ते भ्रमणात्सूर्यसंक्रान्तिर्मुख्या। चन्द्रादीनां तु शराग्रे स्थितत्वात्क्रान्तिवृत्तस्थराश्यादि तत्स्थं चन्द्रचिह्नयोरभेदेऽपि चन्द्रमण्डलाद्याव-धिष्ठानत्वाभावाच्चचन्द्रादिचिह्नात्क्रान्तिवृत्ते तदादिवृत्तमण्डलं कल्पितान्तं तस्य स्ववास्तवमण्डलगमनानुरोधेन चलनत्वात्। अतएव तत्संक्रान्तिरमुख्या वचन बलात्। तत्कालः सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयः। अतः स्थूलकालस्तस्य कल्पनीयः। संक्रान्ति समयः सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयः पिशितेक्षणैः। तद्योगादप्यधश्चोर्ध्वं त्रिंशन्नाड्यः पवित्रिताः इति देवलवचनाच्च। तत्राद्यैर्युक्तया यत्काले राश्यादिस्थले ग्रहविम्ब सम्बन्धः स स्थूलकालो ग्रहसंक्रान्तेः। एवं नक्षत्रग्रहविभागादि स्थलेऽपि विम्बसम्बन्ध वचनाच्च कल्पितः। तत्र पूर्वाभिमुखं व्रजतो मण्डलस्याग्रनेमिसम्बन्धकालः संक्रान्तिप्रारम्भकः मण्डलकेन्द्रतत्सम्बन्धो मुख्यः संक्रान्तिकालो मध्यरूपः। पश्चान्नेमितत् सम्बन्धः संक्रान्तिसमाप्तिकालः। अतो मण्डलकालो ग्रहगत्या षष्टिसावनघटिकास्तदाविम्बकलाभिः का इत्यनुपातसिद्धो भवति। अतएव मुख्य कालात्प्रागपरतश्च तदर्धाः।

"अर्कमानकलाः षष्ट्या गुणिता भुक्ति भाजिताः।
तदर्धनाड्यः संक्रान्तेरर्वाक् पुण्यं तथा परे॥"

इति सूर्यसिद्धान्तोक्तेश्च। या याः, सन्निहिता नाड्य स्तास्ताः पुण्यतमाः स्मृता इत्युक्तमपि युक्तम्। अतएव सूर्यसंक्रान्तौ मध्यममानेन संक्रान्तिकाला-दुभयत्र नाडिकाः पुण्या मताः। षोडशषोडशैव हीति युक्तम्। संक्रान्तिकाले राशिद्वय सम्बन्धत्वाद्विवस्वतो मिश्रफलम्। तत्र युक्तं सन्धित्वे चेत्यलम्॥७६॥

अथ तिथ्यादीनां सन्धिकालसाधनमाह—

शशि तनु विकलाभ्यश्चन्द्रभुक्त्येन्दु भान्वो-
र्गतिविवरकलाभिर्भूय एताभिरेव ।

पृथगथ गतियुत्या नाडिकाः संधिराप्ता
भतिथिकरणयोगानां फलं तत्र मिश्रमिति ॥७७॥

चन्द्रबिम्बस्य विकलाभ्यश्चतुःस्थानस्थितेभ्यः क्रमेण चन्द्रगत्या सूर्यचन्द्रान्तरकलाभिः न तु पूर्वोक्तरीत्या भिन्नहरेण पूर्वार्धरूपेणेत्यर्थः। चतुर्थस्थाने सूर्यचन्द्रयोर्गतियोगेन भक्तेभ्यः आप्ताः नाडिकाः सान्धिः। क्रमेण चन्द्रनक्षत्रतिथिकरणयोगानाम्। अत्र चन्द्रनक्षत्रं दिननक्षत्रं भवतीति सूचनार्थं चन्द्रबिम्ब विकलाभ्यश्चन्द्रभुक्ताभ्य इति पौनरुक्त्यमिति ध्येयम्। तिथ्याद्यन्तकालात्संक्रान्तिवत् सन्धिघटिकाः सन्धित्वं कुतोऽत आह–तत्रेति, प्राप्तघटिकाकाले फलम्—शुभाऽशुभं मिश्रम्। उभयतिथ्यादिजनितमतस्तत्संधित्वं युक्तमिति भावः। नक्षत्रयोगतिथिसन्धिषु नाडिकैका तिथ्यष्टिविंशतिपलैः सहितोभयत्रेति मध्यमानेन निबद्धम्। ननमयययुतेयं मालिनी सा प्रदिष्टेति मालिन्याख्यं पद्यम्।

अत्रोपपत्तिः—तत्र चन्द्रनक्षत्रसंधिस्तु पूर्वश्लोकेन सुगमा। अथामायां क्रान्तिवृत्ते सूर्यकेन्द्रचन्द्रचिन्हयोर्योगस्तस्मात्प्राक् सूर्यपश्चिमनेमिचन्द्रचिह्न केन्द्रं कल्पितमण्डलपूर्वनेमिसंयोगः पूर्वरीत्या संध्यादिः। ततोऽनन्तरमेव सूर्यपूर्वनेमिकल्पितचन्द्रमण्डलपश्चिमनेमिसंयोगः संध्यंतः। एवमनया रीत्याऽस्मिन्नपि तिथ्यन्तभागे क्रान्तिवृत्तप्रदेशो कल्पितचन्द्रबिम्बे केन्द्राधिष्ठाने सूर्यकक्षायां सूर्यबिम्बं कल्प्यं तन्मण्डल······इति।

अत्रोपपत्तिः—तत्र चन्द्रनक्षत्रसंधिस्तु पूर्वश्लोकेन सुगमा। अथामायां क्रांतिवृत्ते सूर्यबिंबकेन्द्रचंद्रचिह्नयो र्योगस्तस्मात्प्राक् सूर्यपश्चिमनेमिचद्रंचिह्नकेन्द्रकल्पितमंडलपूर्वनेमिसंयोगः पूर्वरीत्या संध्यादिः।

ततोऽनंतरमेव सूर्यपूर्वनेमि कल्पितचंद्रमंडलपश्चिमनेमिसंयोगः संध्यंतः। एवमनया रीत्यान्यस्मिन्नपि तिथ्यंतभागे क्रांतिवृत्तप्रदेशे कल्पितचंद्रबिंबकेंद्राधिष्ठने सूर्यकक्षायां सूर्यबिंबं कल्प्यम्। तन्मंडलनेमिसंपातात्पुनरासन्नो यो नेमिसंपातो यत्कालेन भवति स संधिकालः। एवं तिथ्यर्द्धरूपकरणांतेऽपि। परं तन्मंडलयोः स्वगत्या गमनान्मानैक्यखंडकालज्ञानार्थं बिंबं ग्राह्यमपि चंद्रस्य बहुगतित्वेन तत्कृतयोगसंभवाद्गत्यंतरकलाभिः षष्टिघटिकास्तदा बिंबकलाभिः का इत्यनुपाते चन्द्रबिम्बमेवांगीकृतो लाघवात् स्वल्पांतराच्च। एवं योगांतस्थाने क्रांतिवृत्तप्रदेशेऽपि तन्मंडलकल्पनाद्गतियोगकलाभिः षष्टिघटिकास्तदा स्वल्पांतराल्लाघवाच्चांगीकृतचंद्रबिंबकलाभिः का इत्यनुपातेन सर्वं सुगममुपपन्नं प्रतिपादित प्रायमित्यलम् ॥७७॥

पूर्वप्रतिज्ञातं निरूपितमिति फक्किकयाऽह-इति स्पष्टाधिकार इति। स्पष्टम्।

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वे श्रीरंनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन्।
स्पष्टः शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्तिं यातोऽधिकार इति खेचर निर्णयोऽयम् ॥१॥

⊙ इति सकलगणकसार्वभौम श्रीवल्लालदैवज्ञसूनुरंगनाथगणकात्मजमुनीश्वरापरनामक-विश्वरूपनिर्मित-सिद्धांतशिरोमणि-मरीचौ स्पष्टाधिकारः पूर्णः।

संवत् *१८१४ ग्रंथसंख्या २७०० श्रीरामशरणम्मम—७१ श्री राम
७१ ॥ ० ॥ ७१ ॥ ५ ॥ ७१ ७१ ॥ ७१ इति ॥७७॥ श्रीरामशरणम्मम

दीपिका—यदा ग्रहः स्वगत्याग्रिमराशिं सम्यक् क्रामति गच्छति सा संक्रान्तिस्तत्र ग्रहाणां विम्बाकृतित्वात्प्रथमं तदग्रस्य पुनर्मध्यस्य ततोऽन्यस्येति मुख्यत्वेन संक्रमणं भवेत्ततः कतमस्य निर्देश इति। अत्रोच्यते-विम्बाग्रसंक्रमणमारभ्य यावदन्त्यस्य संक्रमणं स एव पुण्यकालः राशिद्वयसम्बन्धसत्त्वात्। मध्यसंक्रमणकालस्तु स्पष्टसंक्रान्तिकाल इति।

यथा कल्प्यते अ इ मेषराशिमानम्। इ उ वृष राशिमानम्। इ अनयोः सन्धिः। इ क च रवि विम्बस्य इ अग्रिम प्रदेशो यदा सन्धि गतस्तदा विम्बाभिप्रायेण संक्रान्तिः खलु जाता पुनश्च यदा च विम्बान्तप्रदेशस्तत्रागमिष्यति तदा विम्बान्त्याभिप्रायेण संक्रान्तिस्तावदेव पुण्यकालोऽतः परं राशिद्वयसम्बन्धाभावात् पुण्यकालाभाव इति।

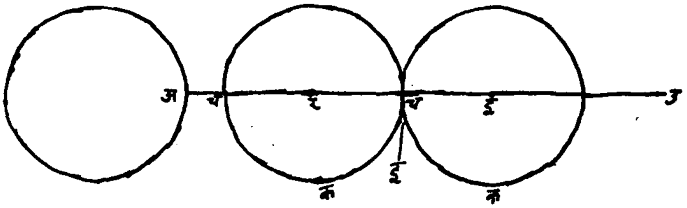

इति सिद्धान्तशिरोमणेर्गणिताध्यायस्य स्पष्टाधिकारस्य पर्वतीय-पण्डित-हरिदत्त-ज्योतिर्विदात्मज-केदारदत्तजोशिकृता दीपिका-टीका समाप्ता।

शिखा—ग्रह विम्ब कला को ६० से गुणाकर ग्रह गति का भाग देने से लब्ध फल के तुल्य संक्रान्ति की घटिका होती हैं। रविसंक्रमण में ही विशेष पुण्यकाल कहा गया है, यही धर्मकृत्यों में विशेष पुण्य फलद है। संक्रान्तिगतग्रह और सन्धिगतग्रह दोनों पूर्वापर राशियों का फल देता है। चन्द्र बिम्ब कला में चन्द्र भुक्ति का भाग देने से नक्षत्र सन्धि होती है। चन्द्र सूर्य की गत्यन्तर का भाग देने से तिथि और करण की सन्धि और गतियोग का भाग देने से योग की सन्धि होती है। जिनका फल पूर्व और पर के तिथि योग करण नक्षत्र की तरह होता है।

यतः-ग्रह विम्ब वर्त्तुलाकार है, इसलिये दूसरी राश्यादि गमन में ग्रह विम्ब का स्पर्श या मध्य या मोक्ष किसे संक्रान्ति काल माना जाय इस शङ्का के निराकरण केलिये विम्बाग्र संक्रमण से विम्बान्त संक्रमण तक जो काल है उसीको संक्रान्ति का मुख्य पुण्य काल कहा है। दीपिका के क्षेत्र दर्शन से सब स्पष्ट है। त्रैराशिकानुपात भी स्पष्ट है।

इति श्री पण्डित हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज श्री केदारदत्त-शर्म-जोशी-कृत सिद्धान्तशिरोमणि-गणिताध्याय के स्पष्टाधिकार की विशेष परिष्कृत शिखा टीका समाप्त।

संवत् २०२० ज्येष्ठशुक्ल-दशमी-शनिवार-उत्तराफा.-सिद्धि, तैतिल। १-६-१९६३।

* सं० १८१४ लेखनकालोऽयम्। "मरीचि"—पूर्वार्धोत्तरार्धयोः-समाप्तिसमयौ क्रमशः १५५७।१५६० शकाब्दाविति (गणकतरङ्गिण्याम् ९४ पृष्ठे)

श्रीमद्भास्कराचार्य्यविरचित

सिद्धान्तशिरोमणिः

वासनाभाष्यसहितः

गणिताध्यायः

मरीच्यभिधया टीकया दीपिकाटीकया सपरिष्कारेण शिखानुवादेन च सहितः

त्रिप्रश्नाधिकारः

(तृतीयः)

अथ त्रिप्रश्नाध्यायं विवक्षुस्तावत् तदारम्भप्रयोजनमाह—

जगुर्विदोऽदः किल कालतन्त्रं
दिग्देशकालावगमोऽत्र यस्मिन् ।
त्रिप्रश्ननाम्नि प्रचुरोक्तिधाम्नि
ब्रुवेऽधिकारं तमशेषसारम् ॥१॥

स्पष्टार्थम् ।

❀मरीचिः—अथ त्रिप्रश्नाधिकारो व्याख्यायते—तत्र संगतिकथनपूर्वकं तन्निरूपणं प्रथममत उपजातिकया प्रति जानीते-जगुर्विदोऽदः······सारमिति । अत्र सिद्धान्तनिरूपकग्रन्थे तं बुद्धिस्थं-अधिकारं-अधिक्रियन्ते गणितादीनि यत्रासावधिकारस्तं प्रकृतार्थजिज्ञासागमप्रयोजकतात्पर्यार्थाधिकरणीभूतं ग्रन्थैकदेशमिति यावत् । प्रकृतत्वञ्च । उद्देशविषयतात्पर्यात्यधिकारणत्वं । तत्वं चाधिकारप्रतिपादितसकलार्थेति न कापि क्षतिः । यत्तु-तात्पर्यविषयीभूतार्थैकदेशत्वे सति यावानैकोपजीव्योपजीवकभावापन्न एव संगतिकोऽर्थस्तन्निरूपणेछाविछित्यवधि कृतोऽयं ग्रन्थैकदेशोऽधिकारत्वेन विवक्षित इति । तत्र अधिकार समूहात्मकग्रन्थैकदेशे, एकाधिकारत्वापत्तेः । उक्त लक्षणाक्रान्तत्वात् । ब्रुवे इति क्रियाबलादहमित्यधिहारस्तेनाहं कथयामीत्यर्थः । बुद्धिस्थाधिकारस्य विशेषज्ञानं तत्प्रतिपाद्य पदार्थोद्देशेनाह—दिगित्यादि । यस्मिन्नधिकारे दिग्देशकाला-

वगमः स्यात् दिशां देशानां तत्सम्बन्धिपदार्थानां वक्ष्माणानां दिनं गतशेषरूप-खण्डकालानामेतत्सर्व मपि पदार्थानां वक्ष्माणानां चावगमः परिसंख्यानेनो-पालम्भो ज्ञानं स्यात्। एतत्प्रतिपादकमधिकारं ब्रुवे इति फलितम्।

ननु यथा मध्यस्पष्टनिरूपकाधिकारयोस्तत्पूर्वकाधिकारसंज्ञात्वं प्रसिद्धं तथैतत्प्रतिपादकाधिकारस्य तादृशानुगतप्रसिद्धसंज्ञाभावात् कथं व्यवहारोऽत-आह-त्रिप्रश्ननाम्नीति त्रयाणां दिग्देशकालानां प्रश्नाः शिष्यस्य तज्जिज्ञासा-द्योतक वाक्य सन्दर्भाः विद्यन्ते यत्राऽसौ त्रिप्रश्नः एतदेव नाम यस्येति त्रिश्न-नाम्नीति। तथा चास्य लाघवात्त्रिप्रश्नसंज्ञाया प्रसिद्धत्वाद्व्यवहार उपपन्न इति भावः। गुरोस्तत्प्रश्नं विना तत्प्रतिपादनेच्छानुपपत्तेः। एतेनाऽत्र तत्प्रश्ना अपि निबद्धाः सन्तीति सूचितम्। तथा च त्रिप्रश्नाधिकरसमूहं ब्रुवे इति पर्यवसितोऽर्थः। ननु ग्रह....रविवारानन्तर्गतत्वेनास्य प्रतिपादनमसंगत आह–जगुरित्यादि विदः:ज्योतिश्शास्त्रसिद्धान्तज्ञाः अदः, इदं ज्योतिश्शास्त्रं कालः तन्त्रं प्रधानं यस्मिन्निति किलासंशयं जगुः–आहुः। शास्त्रादस्मात्कालबोधो यतः स्यादित्युक्तेः कालइति दिगुपलक्षणमुक्तत्वाग्गमाय कालपदोपादानं, तथा चात्राधिकारस्य मुख्यत्वेनारम्भावश्यकत्वान्नासंगतमिति भावः। नन्वेवं तर्ह्यस्पष्टकालमानाध्यायावसर एव प्रतिपादनं युक्तम्। न पुनरत्रेत्यत आह—प्रचुरोक्तिधाम्नीति—बहुयुक्तिस्थाने तथा चैतत्प्रतिपाद्योक्तीनां ग्रहज्ञानो-पजीव्यत्वेन तन्निरूपणं विना प्रतिपादनाशक्यत्वात्पूर्वं मध्यस्पष्टाधिकारा-वुक्तौ तन्निरूपणमत्र युक्तमिति भावः। ननु तथाप्येतदधिकारोपजीव्यग्रहसाधन-प्रसंगेन ग्रहणाद्यधिकारा एवात्र निरूपणीयाः। ग्रहचारांतर्गत्वात्ततोऽस्य मुख्यत्वा-दंते निरूपणं प्राधान्येन युक्तमत आह—अशेष सारमिति। अशेषाणां ग्रहणा-द्यधिकाराणाम्, साराः तन्निरूपणप्रयोजकपदार्थाः विद्यंते यस्मिन्नसाविति। तथा चतेषामेतदुपजीव्यत्वेन प्रथमतो निरूपणाशक्यत्वादस्य ग्रहसंबंधेन चारान्तर्गतत्वाच्च स्पष्टाधिकारनिरूपणानतरं ग्रहणाधिकारादिनिरूपणात्प्राक् निरूपणं युक्तमिति संगतिः प्रदर्शिता। एकदेशिनस्तु–बुधाः कालतन्त्रं काल-प्रतिपादक शास्त्रमिदञ्जगुः। स च कालोऽस्मिन् त्रिप्रश्नाधिकारे प्रतिपाद्यते। इत्यखिलगणितशास्त्रसारोऽयमधिकार आरभ्यते। ननु निखिल ग्रहगणित-शास्त्रेण कालः प्रतिपाद्यत एव। तथा हि मध्यमाधिकारे नवमानात्मककालज्ञान मुक्तम्। स्पष्टाधिकारे पंचागरूपःकालः। ग्रहणाधिकारयोः स्पर्शमध्यमोक्षादि कालज्ञानम्। उदयास्ताधिकारे तत्कालज्ञानम्। ग्रहयुतौ समागमकाल-ज्ञानम्, नक्षत्रग्रहयुत्याख्यमेवं पाताधिकारे नक्षत्रादिकालज्ञानं शृङ्गोन्नतौ

*"इदं सिद्धान्तशिरोमणिपुस्तकं-मरीचौ-त्रिप्रश्नाधिकारपर्यन्तं चन्द्रग्रहणसूर्यग्रहणा-धिकारपर्यन्तञ्च महाजनी-ज्योतिर्विद्वीरेश्वरस्य। सं० १८५१।" मूलकोषादा-विदमपि लिखितमस्ति। वस्तुतः मरीचिसमयस्तु १५५७ शकाब्दमित इति ध्येयम्।

शुभाऽशुभफलसंधानेन तदात्मककालज्ञानं, एवं त्रिप्रश्नाधिकारेण दिनगत शेष-घट्यात्मककालज्ञानमुक्तमित्यशेषसारत्वाभिधानमस्य व्यर्थमित्यत आह-दिगि-त्यादि। अन्येष्वधिकारेषु काला त्रिप्रश्नेषु दिग्देशकालानां त्रयाणामपि ज्ञानमिति वैशिष्ट्येनाशेषसारत्वमस्य युक्तमिति भावः त्रयाणामपिकर्मांगत्वादित्याहुः ॥१॥

दीपिका—त्रयः, प्रश्ना अत्राधिकारे कथ्यन्ते इति त्रिप्रश्नः। ते दिग्देशकाला स्तेषां परिज्ञानमस्मिन्नेवाधिकारे सुस्पष्टं भवति। त्रयाणां दिग्देशकालानां प्रश्नाः सोत्तराः, यस्मिन्नधिकारे स त्रिप्रश्नाधिकार इत्यपि वक्तुं शक्यते। दिग्देशकाला एव सर्वेषां सदसत्कर्मणा मुपयुक्ताः प्रयोजकाः भवन्ति। यथाऽमुक देशादयं देशः कस्यां दिशि ? तथा तत्र कियन्तोऽ-आंशाः ? तथा च निर्दिष्टदेशीययाम्योत्तरा या रेखा भूमध्यरेखामिधा (यथा यल्लङ्कोज्जयिनी कुरुक्षेत्रादि देशान्स्पर्शत् सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः) इत्यस्मात्कियद्दूरेंऽशे (देशान्तीरेयेंऽशे) तद्देशमस्ति ? तथा चाधुना कियान् कालोऽतीत इति तद्ज्ञातुमवगन्तुं गोलीयसूक्ष्मयुक्तया त्रिप्रश्नसंज्ञं त्रयाणां दिग्देशकालानां प्रश्नाः सन्ति यस्मिन्निति-तत् संज्ञं गणितं प्रवच्मीत्याचार्याभिप्रायः। मध्यमस्पष्टाधिकारेषु कालावगम एव, त्रिप्रश्ने तु दिग्देश-कालानां त्रयाणामपि ज्ञानमिति वैशिष्टचम्।

शिखा—दिग्देश काल का ज्ञान जिस त्रिप्रश्न नामक अधिकार में कहा गया है, और जो अनेक उत्तम से उत्तम युक्तियों का भाण्डार है उस त्रिप्रश्न नाम के अधिकार का मैं (भास्कराचार्य) इस स्पष्टाधिकार के आगे निःशेष रूप से निम्नलिखित विवेचन करता हूँ।

त्रिप्रश्न शब्द से यहाँ पर तीन प्रश्नों के (अधिकार) विशेष आख्यान से अभिप्राय है। ये तीन प्रश्न हैं—(१) एक प्रसिद्ध देश या नगर या नगरादि आदि से दूसरा देश किस दिशा में और कितनी दूरी पर है ? (२) उस देशादि का अक्षांश विषुवद्वृत्त से उत्तर या दक्षिण की याम्योत्तरवृत्तीय अक्षांश नाम की दूरी कितनी है ? (३) इस समय सूर्योदय से कितना समय बीत गया है ? सूर्यास्त होने में अभी कितना समय शेष है ? अर्द्धरात्रि किस समय होगी ? इत्यादि का ज्ञान—अर्थात् इन तीनों (दिशा देश और समय) का स्पष्टपरिज्ञान जिस अधिकार से प्रत्यक्ष रूप से होता है उसे त्रिप्रश्नाधिकार, (तीन प्रश्नों के समाधान का विभाग) कहा गया है।

इदानीं लग्नसाधनमाह—

तात्कालिकार्केण युतस्य राशे-
रभुक्तभागैर्गुणितोदयात् स्वात्।
भोग्यासवः खाग्निहृतादवाप्ता
भुक्तासवो भुक्तलवैः स्युरेवम् ॥२॥
इष्टासुसङ्घादपनीय भोग्यां-
स्तदग्रतो राश्युदयांश्च शेषम्।

अशुद्धहृत् खाग्निगुणं लवाद्य-
मशुद्धपूर्वैर्भवनैरजाद्यैः ॥३॥
युक्तं तनुः स्यादयनांशहीन-
मिष्टासवोऽल्पा यदि भोग्यकेभ्यः ।
त्रिंशद्गुणाः स्वोदयभाजितास्ते
लब्धांशयुक्तो रविरेव लग्नम् ॥४॥

वा० भा०:—यस्मिन् काले लग्नं ज्ञेयं तस्मिन् काले तात्कालिकोऽर्कः सायनांशः कार्य्यः। तेनार्केण युतस्य राशेर्ये भोग्यांशास्तैः तदुदयासवो गुण्यास्त्रिंशता भाज्याः। ये लब्धास्ते भोग्यासवः स्युः। अथेष्टासुभ्यो भोग्यासून् विशोध्य तदग्रतो यावन्त उदयाः शुध्यन्ति तावन्तः शोध्याः। ततः शेषात् खरामगुणाद-शुद्धोदयेन भक्ताद्यल्लब्धमंशाद्यं तदशुद्धोदयात् पूर्वं यावन्तो मेषाद्या उदयास्तावद्भिः राशिभिर्युतमयनांशैश्च रहितं तल्लग्नं स्यात्। अथ यदिष्टासुभ्यो भोग्या न शुध्यन्ति तदेष्टासवस्त्रिंश ३० द्गुणास्तदुदयासुभिर्भाज्याः। फलेनांशाद्येन युतो रविर्लग्नं स्यात्। अत्र वासना त्रैराशिकेन सुगमा।

मरीचिः—नन्विदं ज्योतिःशास्त्रं कालप्रधानं कथमिति मंदाशंकापाकरणाय प्रतीत्यर्थं च लग्नानयनमुपजातिकाभ्यामिन्द्रवज्रया चाह—तात्कालिकार्केणेति ॥१॥ इष्टासुसंघादिति ॥२॥ युक्तमिति ॥३॥ तात्कालिकार्केण यत्काले लग्नं कर्त्तुमिष्यते, तत्काले संपादितस्तात्कालिकस्तादृशो यः स्पष्टः सूर्यस्तेन कालौ च खेटात्खलुभुक्त-भोग्यादिति पूर्वोक्तत्वात्सायनांशेनेत्यर्थः। युतस्याधिष्ठितस्य राशेः मेषाद्यमन्य-तमस्य अभुक्त भागैः। भोग्यांशैः। सायनांशसूर्यांशाद्यूनत्रिंशद्भागैरित्यर्थः। गुणितोदयात्। आवर्त्तितास्वात्मकैकराश्युदयकालात्। निरज्ञोदयव्यधिकरण-योर्वारणायाऽह। स्वादिति। यद्राशेर्भोग्यभागास्तदुदयात्स्वदेशोदयाद्गुणिता-दित्यर्थः। त्रिंशद्भक्तादवाप्ताः लब्धाः—भोग्यासवः। प्रसंगाद्भुक्तासुज्ञानप्रकार-माह—भुक्तासवइति। भुक्तभागैः। एवं स्वदेशीयतद्राश्युदयादुदयाद्गुणितात्त्रिंश-द्भक्तादवाप्ताः। भुक्तासवः। भागग्रहणवशात्। लग्नोपयुक्तभुक्तकाल साधन-माह—इष्टासु संघादिति। यस्मिन्काले लग्नं साध्यते तत्राव्यवहित पूर्वसूर्योदय-कालाद्येऽसवस्ते भीष्टासवः। तेभ्यः भोग्यानसून्। पूर्वानीतानपनीय निष्काश्य तदग्रतस्तदनन्तरं। राश्युदयाद्भोग्याश्रितराशे रग्रिमाः ये राश्युदया अस्वात्मकाः स्वदेशीयास्तान् क्रमेण निष्काश्य चः समुच्चये। शेषमवशिष्टं क्रमायातं शोध्यरा-श्युदयासुभ्योऽल्पं तत् त्रिंशद्गुणं। अव्यवहिताशुद्धराश्युदयासुभक्तं। फलं भागाद्यम्। अशुद्धपूर्वैः अव्यव्यवहितप्राक्तनैर्भवनैः राशिरजाद्यैः। मेषराशि-प्रभृतिभिर्ज्ञातमानैः चरमशुद्धराशिसंख्याभिः युक्तं, योगोऽन्तरं तेषु समान-जात्योर्विभिन्नजात्योश्च पृथक्स्थितिः स्यादित्युक्तरीत्या। अन्यथा राश्यं-

शयोर्योगापतेः। तादृशमयनांशैरूनं कृतं सत्। तनुः लग्नं राश्याद्यं स्यात्। अथ समयविशेषे तत्साधनविशेषमाह—इष्टासव इति। इष्टासवः भोग्यकालासुभ्योऽल्पाः यदा भवंति, ते इष्टासवः त्रिंशद्गुणाः सायनस्पष्टतात्कालिकसूर्याक्रांतराशिस्वदेशीयोदयासुभक्ताः। अत्र प्राप्तांशैर्युक्तो रविर्लग्नम्। अत्रैवकारः। इष्टासवस्त्रिंशद्गुणाः। भोग्यासूनामशुद्धत्वात्तद्भक्ताः। फलं भागाद्यं सायनसूर्यभुक्तराशिभिः केवलैर्युक्तं लग्नं स्यादिति पूर्वरीतिव्युत्पादनार्थम् विशेषेणसामान्यप्रकारस्य बाधात्। अत्र सायनार्कस्य योजनेऽयनांशहीनं केवलार्कयोजने यथास्थितमिति ध्येयम्। तथा च लग्नोपजीव्यशुभनिरूपकजातकादि ज्योतिःशास्त्रे लग्नोपजीव्यत्वेन कालस्य प्रधानत्वमव्याहृतमितिभावः॥

अत्रोपपत्तिः—अभीष्टकाले प्रवहानिलाक्षिप्तभ्रमत्क्रांतिवृत्तस्य यः प्रदेशः, उदयक्षितिजप्रदेशासक्तस्तस्य ग्रहवत् मुख्यमेषाद्यवधि गणनया यद्राश्यादिमानं तल्लग्न मिति पूर्वव्यपदेशात्प्रसिद्धतरम्। तद्ज्ञानं सूर्योदयकाले सूर्यज्ञानेन सुगमम्। तस्य क्रांतिवृत्तस्थत्वात्। अतएव चंद्रादीनां शरवृत्ताधिष्ठानत्वात्तदुदये तत्तुल्यं लग्नं न। शराभावे तु स्यादेवेत्यनियमाल्लग्नज्ञानार्थं सूर्य एव व्यंजकः कल्पितः। अथ सूर्याक्रांतराशेर्लग्नं स्वोदयाद्भोग्यकालपर्यंतं ततः स्वोदयासुभिः तदग्रिमराशिलग्नानां प्रत्येकमवस्थितिरेवमुदयासूनामानीतानान्तत्रसावनषष्टिघटिकात्मकेनाहोरात्रघटिकाभि र्द्वादश लग्नानि भवन्ति। ततो गतितुल्यलग्नपरिवर्त्तन गत्यसुकाले द्वितीयसूर्योदयसावनषष्टिघटिकात्मकेन तत्कालिकसूर्य एव लग्नमिति सूर्योदयकालेऽर्क तुल्यं लग्नमिति निर्विवादम्। ततोऽभीष्टकाले नाक्षत्रघट्यसुभ्यो लग्नज्ञानमुक्तदिशासुगमम्। तत्र नाक्षत्रकालस्य गणितेनासाधनात्सावन घटीभिः किमित्यनुपातेनानीतफल योजनेन नाक्षत्रीकरणं कार्यमिति। तत्रैकराशिकलाभिः सूर्याक्रांतराश्युदयासवो लभ्यंते तदा गतिकलाभिः केत्यनुपातेनानीतफलयोजनेन नाक्षत्रीकरणं कार्यम्। तत्र गत्यसवो ध्येयाः। ततः सूर्योदयः तत्काललग्नराशिभ्यः कदेति ज्ञानार्थे भोग्यकालमानं तद्राशेः सूर्योदयकालिक सूर्यात्सायनादानेयमुदयानां संपातस्थमेषाद्यवधित्वेन सत्वात्। स भोग्यकालेष्टनाक्षत्रघटीषु शुद्धश्चेत्तदालग्नं ज्ञातम्। ततस्तदग्रिमराशि-स्वोदयशोधनेन तल्लग्नं गतमेवं क्रमेण यदुदयो न शुद्धयति तद्राशिलग्नं विद्यमानम्।

अथ तत्रापि लाघवात्सावननाक्षत्रकालास्वात्मकांतरस्य क्षेत्रावयव एव सूर्ये योजितः। तादृशाद्भोग्यकालस्तु सूर्यानीतभोग्यादूनएव सावननाक्षत्रास्वात्मकांतरेण ऊन भोग्यकालांगीकारे तु सावनघटिका एव लग्नसाधनार्थंयुक्ताः। तदंतरस्य भोग्ये सिद्धत्वादतस्तादृशसूर्यस्तु तत्कालिकेनैवेति प्रत्यक्षम्। भोग्यकालानयनंतु-सावनेनैकराशिभागै स्त्रिशन्मितैः सायनसूर्याक्रांतराशिस्वोदयासवस्तदा तद्भोग्यभागैः केत्यनुपातेनैवं भुक्तकालोऽप्यत उपपन्नं तत्कालिकेत्यादि। इदं तु-गतभोग्यासवः कार्या भास्करादिष्टकालिकात्। स्वोदयासुहता भुक्तभोग्या भक्ताः ख वह्निभिरिति सूर्यसिद्धांतानुरोधेन। वस्तुतो राश्युदयानां

स्थूलत्वात् यदंतरेणोदयाः कृताः, तन्मध्ये भुक्ताभुक्तकालाविति राशिपदमुपलक्षणम्। त्रिंशदित्यपि तन्मानग्रहणोपलक्षकम्। अथैवं रीत्या साध्यवद्यद्युभ्यो वर्त्तमानलग्नज्ञानार्थम्—भोग्यतदग्रिमराश्युदयासवः क्रमेण शोध्याः। यो न शुद्ध्यति स राशिर्लग्नम्। परं यच्छेषं तत्तदादिलग्नकालाद्गतः काल इति। उदयासुभिस्त्रिंशद्भागास्तदानेन के, इत्यनुपातेन वर्तमानलग्नराशेर्भोगाद्योऽवयवः फलम्। अशुद्धस्य वर्त्तमानत्वात्तद्योतकगतराशिभिर्मेषाद्यैर्युक्तः ग्रहे तथा दर्शनात्। अत्रापि राश्यादिपदानामुपलक्षणम्। तेन शेषमुदयांतरात्मकक्षेत्रावयवमाननिघ्नमुदयभक्तम्। फलं चरमशुद्धोदयसंख्यानिघ्नोदयांतरात्मकक्षेत्रावयवमानं युक्तम्। भागाद्यं लग्नमिति ध्येयम्। परिमिदं सायनमतो मुख्यमेषाद्यवधित्वेन ग्रहवद्ज्ञानार्थमयनांशहीनम्। मुख्यमेषादेरेव पूर्वाचार्यैः फलस्य प्रतिपादितत्वात्। अन्यथा ग्रहाऽपि तथोक्ताः स्युरत एवायनसुसंस्कृतभानोर्भोग्यो तद्वद्विलग्नभुक्तं ते त्वार्यभटोक्तौ तद्वदिति संगच्छते। अयनांशोनानीतलग्नं दृग्गोचरमतोऽयनांशहीनमित कश्चित्। तत्र लग्न प्रदेशस्यावधि निश्चयाभावेन दृग्गोचरत्वाभावात्। यदा तु भोग्यकालादून इष्ट कालस्तदा तत्कालस्य तल्लग्नराशिकालांतर्गतत्वात्सूर्योदये तत्तुल्यलग्नज्ञानात्सायनरविराश्युदयेन त्रिंशद्भागास्तदेष्टकालेन केत्यनुपातेन सूर्योदयादिष्टकालपर्यन्तं तद्राश्यन्तर्गतक्षेत्रावयवो लग्नो ज्ञातः। अतः फलं सूर्ये युतं लग्नं स्यात्। पूर्वरीत्या तत्र कालस्य राश्यादितो सत्वादशुद्धात्मकभोग्यस्य संपूर्णोदयत्वाभावाच्च न साधनं न चेष्टकालस्य भुक्तकालो योज्यः। तादृशाद्रविभुक्तराशेरेवाऽशुद्धत्वात्तदुदयग्रहणोक्तरीत्या युक्तमिति वाच्यम्। भुक्तसाधनेन गौरवापत्तेः। अत्रापि त्रिंशदितितदुपलक्षणम्। तेन तत्कालरवेरयनसुसंस्कृतमूर्तेः दृकाणभोग्यलवाः तदुदयहताऽहृताः भोग्याः प्राणा भवन्ति तान् जह्यात्। इष्टप्राणेभ्योऽन्यानुदयांश्चातोऽवशेषे १० वधात् अशुद्धोदयलब्ध्या भागास्तात्कालिके रवौ क्षेप्याः शुद्धोदयाः सभोग्याश्चासौ लग्नं स्फुटं भवति। "भोग्यं शुद्ध्यति न तदा……………विभजेत्।

भानुदृकाणप्राणौ लब्धांशाद्यो रविर्लग्नमि"त्यार्यभट्टोक्तं युक्ततरं स्यादेतत्। तथापि भूगर्भपृष्ठयोः क्षितिजभेदाल्लग्नाश्रयीभूतक्षितिजं भूगर्भीयं वांगीक्रियते, नाद्यः भूगर्भोदयादिष्टकालग्रहणापत्तेः। अन्यथा भूपृष्ठोदयादिष्टकालस्य ग्रहे लग्नसंबंधाभावात् नाप्तः ग्रहगणितेन भूगर्भोदयकालिकत्वान्नभूपृष्टयोदय कालिकत्वमिति सूर्यग्रहणे दोषात् नहि भूगर्भोदयभूपृष्ठोदयकालयोरन्तरज्ञानं येन तच्चालनेन सूर्यो भूपृष्ठोदयकालिकः सिध्येत्। न च तत्क्षितिजयोरेकत्वम्। अग्रे लंवनादौ तद्भेदस्य प्रतिपादनात्। अन्यथा लंवनादिगणितानुपपत्तेः। न च भूपृष्ठोदय भेदेऽपि तद्वृत्तस्य क्षितिजत्वानभ्युपगमः पूर्वग्रन्थे, गणितहेतुभूतगर्भोदयीय वृत्तस्य भूपरिधिरूपस्य क्षितिजत्वाभ्युपगमात्। तथा चाभीष्टनतांशेभ्यो गणितेन भूगर्भीयेष्टकालज्ञानान्नानुपत्तिः। भूपृष्टोदयादिष्टकालग्रहेऽपि स्वल्पांतरमिति वाच्यम्। उदयभेदेनैव क्षितिजभेदांऽगींकारात्। अन्यथा निरक्षदेशक्षितिजस्यैव क्षितिजत्वापत्तेः। अतएव सिद्धांतसुंदरे स्पष्टम्—"निजकुजं ततः कुदलयोजन-

मानसमुन्नत्तम्। अरुणवर्णदिवाकरमंडलं जलसमे वलयेऽत्रविलोक्यते" ॥ इत्यभिहितं न च क्षितजयोर्भेदेऽपि भूपृष्ठोदयकालिकसूर्यज्ञानाभावादेव तल्लग्नसाधनस्याशक्यत्वाद्भूगर्भक्षितिजाभिप्रायिकमेव पारिशेष्यात्सिद्धयतीति वाच्यम्। वक्ष्यमाणरीत्या तत्साधनस्याशक्यत्वात् इष्टनतांशेभ्यः कालस्य भूगर्भतो ज्ञानात्तचालनेन वास्तवतात्कालिकार्कज्ञानात्स्वोदयाद्गतज्ञातनाक्षत्रघटीनामुक्तरीत्या सावनाज्ञानाच्च तल्लग्नसाधनस्या शक्यत्वात्। युक्तं चैतत् मनुष्याणां स्वशुभाशुभफलविचारार्थं लग्नापेक्षत्वात स्वक्षितिजाभिप्रायिकमेवावश्यकमिति। भूगर्भे मनुष्याणामभावात्तल्लग्नानुपयोगः। तथाचोपपत्त्योदयासूनां भूगर्भपृष्ठयोरभेदाद्भूपृष्ठोदयकालाच्च लग्नसाधनेन लग्नाश्रयीभूतं भूपृष्ठक्षितिजमेवेति निर्णय इति चेत् न गणितमात्रस्य भूगर्भविषयत्वात्। खखस्वस्तिकनवत्यंशांतरे क्षितिजस्योक्तत्वाद्गर्भक्षितिजमेवस्वाश्रयीभूतभूपृष्ठावच्छिन्नभूगर्भसंबंधेन स्वक्षितिजमिति पूर्वाभ्युपगमात्। अन्यथा लग्नस्य षड्राशियोजनेन सप्तमभावकथनानुपपत्तेः। भूपृष्ठक्षितिजस्य गोल मध्योदयास्तक्षितिजप्रदेशांतगत क्रांतिवृत्ते षड्राश्यभावात्। तथा च लघुवसिष्ठसिद्धांते—"स्वोदयैरिष्टकालेऽर्काल्लग्नं लंकोदयैः खभम् क्रमात्षड्राशि संयुक्तमस्तं पातालमुच्यत इति"। अत एवाचार्यै ब्रह्मतुल्ये रात्रीष्टकाले तु सषड्भसूर्याल्लग्नमिति सूक्ष्मत्वार्थमुक्तम्। उदयकालीनलग्नभोग्यकालादस्तकालीन लग्नभोग्यकालस्य वैलक्षण्यात्। तस्माद्भूगर्भीयलग्नादेव विचारो जातकादि शास्त्रस्योक्त स्पष्टेति सर्वं निरवद्यम् ॥४॥

दीपिका—उदये रविरेव लग्नं ततः क्रमेण रवेर्भोग्यभागा एष्या राशयो वर्त्तमान राशे भुक्तांशाश्चोद्गच्छन्ति।

अत्र तात्कालिकार्कोपरिगताहोरात्रवृत्ते, तात्कालिकरवितः क्षितिजाहोरात्रवृत्तं यावदर्कभोग्यासवो मध्योदयासवो लग्नभुक्तासवश्च सन्त्यत एव तदनुसारेण लग्नानयनमतीव सुबोधम्। परमेवं कृतेऽपि स्थूलता स्यादेव यतोऽत्राचार्येणानुपातेन स्फुटभोग्यखण्डमन्तरा भुक्तभोग्यानयनं कृतम्।

अहो तात्कालिकाहोरात्रक्षितिजसम्पातगतध्रुवप्रोतवृत्तं नाडीवृत्ते यत्र लग्नं तदवधि तात्कालिकार्कगतध्रुवप्रोतनाडीवृत्तसम्पातात्सावनेष्टघटयः। एवं लग्नगतध्रुवप्रोतवृत्तं नाडीवृत्ते यत्र लग्नं तस्मादेव क्रान्तिवृत्तक्षितिजसम्पातगतध्रुवप्रोतनाडीवृत्तसम्पातावधि क्षेत्रासवस्तयोरतुल्यत्वात्कथं लग्नानयनं समीचीनमिति, सत्यं-किन्तु त्वदुक्तासुमानं निरक्षदेशीयं न स्वदेशीयम्। तात्कालिकार्कलग्नान्तरगतभवृत्तीयखण्डभवासुमानं सावनेष्टघटिकाभिः सममेव भवेत्। यथोत्तरगोले तात्कालिकार्कविषुवांशचिह्नात्पृष्ठभागे चरासुदानं दत्वा सम्पाताद्दानाग्रविन्दुं यावत्तात्कालिकार्कस्य स्वोदयासुमानं तथैवोक्तसम्पातात्पूर्वस्वस्तिकावधि लग्नस्य स्वोदयासुमानं सावनेष्टघटिकासममिति निरवद्यम्।

शिखा—भपञ्जर (अर्थात् समग्र दृश्य नक्षत्र धरातलीय खगोल) पश्चिम की तरफ घूमता है। मेषादि १२ बारह राशियाँ एक से दूसरी, पूरब की ओर ३०° तीस तीस अंश की दूरी पर हैं। अपने भूपृष्ठीय स्थान से ९०° की दूरी पर जहाँ पृथिवी आकाश से सटी

सी देखी जाती है उसका नाम क्षितिज है। भपञ्जर के पश्चिम भ्रमण से क्रान्तिवृत्त का क्षितिज वृत्त के साथ जो सम्पात विन्दु होता है उसी सम्पात विन्दु का ज्ञान करना है। क्रान्ति वृत्त चल है इसलिये यह सम्पात विन्दुरूप लग्न भी चल है। पृथ्वी एक अहोरात्र काल में क्रान्तिवृत्तगत रवि विम्ब की परिक्रमा कर लेती है इस लिये इष्ट समय में क्षितिजवृत्त के साथ क्रान्तिवृत्त का जो विन्दु जिस राश्यादि पर लगता है उसी को लग्न कहते हैं। "लगतीति लग्नम्" "क्रान्तिवृत्तस्य यः प्रदेशः उदय क्षितिजे लगति तदेव लग्नमिति" ऐसी खगोल शास्त्रियों की यह पारिभाषिक लग्न है।

इस लग्न विन्दु की राशि अंश कला विकलादि जानने के लिये सर्व प्रथम सूर्योदय से इष्ट समय तक का समय सूर्योदयादिष्ट काल का ज्ञान होना मुख्य है। किसी भी बात की जानकारी के लिये फलित ज्यौतिष में मुख्यत्वेन इसी लग्न का ज्ञान परम आवश्यक होता है। जैसे किसी भी समय संसार में प्राणियों का जन्म होता रहता है, और ज्योतिषियों से सम्बन्ध स्थापित करने की लोक की स्वाभाविक इच्छा भी होती रहती है, और किसी भी ज्यौतिषी के सम्पर्क से मनुष्य अपने शरीर, धन, भाई, घर, पुत्र, विद्या, शत्रु, रोग, पत्नी, सौभाग्य, मृत्यु, धर्म, कर्म, लाभ और हानि की बातें बराबर पूछता रहता है। जिससे किसी भी समय पूछता है यही इष्टसमय या इष्टकाल है। और इसी इष्ट समय में ग्रह गणित से स्पष्ट रवि को ठीक जान लेना चाहिए और सृष्टादि सम्पात से इष्ट सौर वर्षों में नाडी और क्रान्ति वृत्त के (Orbid. Equtor) चल सम्पात विन्दु का भी ज्ञान करना चाहिए। चल और स्थिर सम्पात का अन्तर रूप क्रान्तिवृत्तीय चाप की जो राश्यादि हो उसे ही अयनांश कहते हैं। सारा गणित इसी सम्पात विन्दु पर आधारित है इसी लिये इसे सृष्ट्यादि सम्पातागत अयनांश का संस्कार करना चाहिए। भास्कराचार्य के समय अयनाँश अत्यन्त अल्प था इस अन्तर को सम्यग् रूप से नहीं जान सकते हुये भी अयन चलन है, वह इस सिद्धान्त से अच्छी तरह परिचित थे इस लिये उन्होंने सर्वत्र दृश्य ग्रह के ज्ञान के लिये अयनांश संस्कार को गम्भीर महत्व भी दिया ही है। इष्टकालीन रवि में अयनांश जोड़कर सायन रवि का ज्ञान; तथा जिस देश के जिस नगर में ज्योतिषियों से फलादिश पूछा जा रहा है उस देश या नगर का अक्षांश देशान्तर जनित जो संस्कार है उनसे साधित चर आदि ग्रहगणितोपकरणों से प्रत्येक नगर के राशियों का उदय मान पलात्मक या इससे भी सूक्ष्म विपलात्मक जानकर लग्न साधन करना चाहिए।

तत्कालीन स्पष्ट सूर्य, राशि के भुक्त या भोग्य अंशों को उस राशि के उदयमान से गुणाकर तीस से भाग देने से भुक्त या भोग्य असु हो जावेंगे। इष्ट काल के भी असु बना कर उसमें भोग्य या भुक्तासुओं को घटा कर शेष असुओं में भुक्त प्रकार से गत राशि, भोग्य प्रकार से अग्रिम राश्युदयासुओं को भी घटा कर (जिस राशि का उदय मान नहीं घट रहा है वह अशुद्धराशि कही जावेगी) जो शेष असु बचें उन्हें ३० से गुणा कर, अशुद्ध राशि से भाग देना चाहिए। लब्ध अंश कलादि को भोग्य प्रकार से गत राशि में जोड़ देने तथा भुक्त प्रकार से अशुद्ध राशि में घटा देने से जो राश्यादिक होगी उसे सायन लग्न कहते हैं। फलित ज्यौतिष स्थिर सम्पात के आधार से आधारित होने के कारण

सायन लग्न में अयनांश घटा देने से निरयण लग्न होती है—जो फलादेश के लिये बड़ा महत्त्व रखती है। इसी लग्न विन्दु से ग्रह गोल का विशाल चित्र निम्न भांति का बनाया गया है। इसी गोल में इस लग्न से ये १२ राशियां कौन कहां बैठ रही हैं और कौन ग्रह कहां पर बैठा है इसका सम्यक् सटीक ज्ञान करने से ही फलित सर्वांश तथ्य होगा। इस लिये विना ग्रह गणित को जाने हुये कतिपय अप्रामाणिक फलित ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन से ज्यौतिष विज्ञान उन्नत्ति की ओर तो क्या जावेगा ह्रास की ही ओर जा रहा है जैसी आजकल की स्थिति सामने आगई है। ग्रहगणितगोल का ही कौशल, फलादेश का बीज है इसका समन्वय नीचे के इस क्षेत्रको देखने से स्पष्ट समझ मे आवेगा।

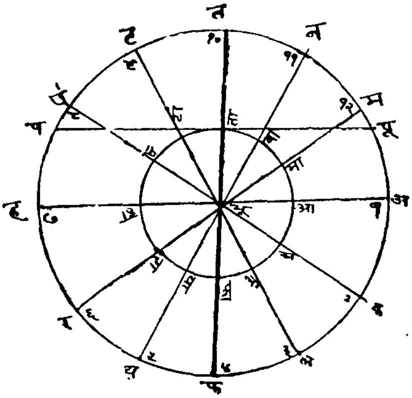

जैसे यहां पर अ क फ य य र ह प पं ट त ब म, यह एक दृश्य गोलीय क्रान्तिवृत्त है जो अ ह क्षितिज वृत्त के साथ सम्पात कर रहा है। भू विन्दु को भू केन्द्र कहना चाहिए। भू ता. भूना, भू मा, इत्यादि ये भूव्यासार्घ हैं। और आ का ला फा या रा हा चा टा ता बा मा यह एक भूपृष्ठीय वृत्त है। ता, भूपृष्ठ स्थान है। पू ता प, यह भू पृष्ठ क्षितिज है। ह हा भू आ अ यह भूगर्भ क्षितिज है। अनन्त आकाश में भूगर्भ और पृष्ठ भेद से माप में स्वल्प अन्तर पड़ता है। यद्यपि यह अन्तर सूर्य चन्द्र ग्रहण में कदापि त्याज्य नहीं है जिस पर लम्बन जैसे महान् गणित का आविष्कार आचार्यों ने किया है जो आगे सूर्य ग्रहण में विशद से वर्णित होगा। किन्तु यहाँ पर समझाने के लिये हम भूगर्भ का ही निर्देश कर रहे हैं। क्रान्तिवृत्त में अ क चाप ३०° का है। एवं कल आदि सर्वत्र समझना चाहिए। एक अंश में ६०′ (कला) एवं एक कला में ६०″ (विकला) ऐसे और भी सूक्ष्म विभाग किये गये हैं। कल्पना कीजिए कि २ घण्टे में अ क चाप का अन्त क विन्दु अ की जगह आगया तो १ अर्थात् मेष लग्न समाप्त हो गई और वृष लग्न २ प्रारम्भ हो गई एवं मिथुन (३) कर्क (४) सिंह (५) इत्यादि समझनी चाहिए।

यहां पर ध्यान देने की बात है मेष लग्न जिस समय उदय होगी उस समय, १, ४, ७

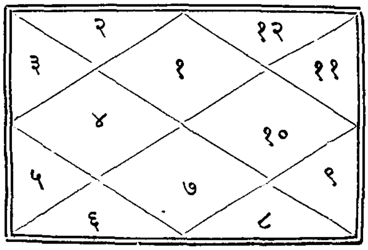

१० अर्थात् मेष, कर्क, तुला एवं मकर राशियां केन्द्र में होंगी और इनमें जो कोई ग्रह हैं वह केन्द्र में बैठे हैं—ऐसा कहना ही उचित होगा। तथा २, ५, ८, ११ ये वृष, सिंह, वृश्चिक और कुम्भ राशियाँ कोणगत अर्थात् ग्रह कक्षा के कोणों में अग्नि, नैऋत्य, वायु और ईशान गत कही जावेंगी। तथा

३, ६, ९, १२, मिथुन, कन्या, धनु और मीन ये राशियां कोण और केन्द्र के मध्य में गई हुई होंगी। इसे यवन ज्यौतिषियों ने या ग्रीक भाषाभाषियों ने आपोक्लिम स्थान कहा है।

जैसे घड़ी यन्त्र में १२ बजे का स्थान लग्न मानकर ३ बजे की जगह क्षितिज के नीचे तीन राशि पर चौथी लग्न, एवं ठीक १२ बजे की सुई के सामने ६ बजे अस्त लग्न एवं ९ बजे की जगह दशमलग्न प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं। जब १२ बजे XII की जगह १ बजे का चिह्न I रखेंगे तो तब लग्न, चतुर्थ सप्तम दशम में लिखित चिह्न भी बदल कर १ बजे का चिन्ह लग्न, ४ बजे का चिन्ह चतुर्थ, ७ बजे अस्त एवं १० बजे का चिन्हशमलग्न हो जावेंगे। लग्न बिन्दु, सूर्योदय समय में सूर्य की ही राशि होती है, उससे चौथी राशि क्षितिज के नीचे प्राय: अर्द्धरात्रि बिन्दु पर याम्योत्तर अहोरात्र क्षितिज, सम्पात पर होगी, जिसे पाताल कहेंगे इसी अभिप्राय से फलित ज्योतिष में चतुर्थ भाव को पाताल, एवं दशम लग्न पाताल के ठीक सामने ६ राशि की दूरी पर मध्य आकाश में, अहोरात्र और याम्योत्तर के सम्पात विन्दु पर है, जिसे व्योम कहते हैं इसी से दशम भाव को व्योम भी कहा है। लग्न और सप्तम लग्न दृश्य क्षितिज के अर्धवृत्त में परस्पर एक से दूसरी ६ राशि की दूरी पर पूरब और पश्चिम दिशाओं की तरफ स्पष्ट दीख पड़ती हैं। यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि जितनी देर में मेष या वृष आदि लग्न क्षितिज के ऊपर आती हैं उतने ही समय में कन्या या तुला लग्न भी अस्त होंगी इस पर आगे विस्तृत विचार होगा। इसी प्रकार जब वृष राशि लग्न होगी तो २, ५, ८, ११ वृष सिंह वृश्चिक और धनु राशियां केन्द्र की एवं मिथुनादि लग्न से कोण या पणफर आपोक्लिम की समझनी चाहिए। और इन इन राशियों पर ग्रहगोलीय ग्रह जो जहाँ है वहाँ बैठा देने से अनन्त ब्रह्माण्ड का यह एक तत्थ्य चित्र (Photo) गणित गोल कुशल ज्योतिषी के हाथ में रहेगा तो वह किसी के चित्र से उस चित्रवान् शरीरी का रूप, रंग, चिह्न, आकृति, मन, बुद्धि, विचार, और हृदय आदि का अच्छा परिचय कर सकेगा और पतनोन्मुख चिह्नों के ज्ञान से पतनाऽवस्था से उसे बचा सकेगा तथा अभ्युदय की ओर जाने की अधिक प्रेरणा भी दे सकेगा जिससे मानव अपने यथार्थ लक्ष्य पर पहुँचाता है। इसी उद्देश्य से हमारे भारतीय शास्त्रों का आविर्भाव हुआ है जिनमें सर्वोत्तम और सर्वोपरि यह त्रिस्कन्ध ज्योतिष शास्त्र है और इसीलिये सभी शास्त्रों ने ज्योतिषशास्त्र को ही अपना मस्तक स्वीकार किया है "ज्यौतिषं मूर्ध्नि संस्थितम्" इति इस विचार से सर्वप्रथम लग्न का ही ज्ञान किया गया है।

भास्कराचार्य ने इस कथित लग्न प्रक्रिया में स्थूलता स्वयं स्वीकार की है क्योंकि यदि रविनिष्ठराशि के ३०° तीस अंशों में रविनिष्ठराशि का उदय मान मिलता है तो रवि के भुक्त या भोग्यांश में क्या मिलेगा ? $\frac{\text{र. नि रा. उदयमान} \times \text{भुक्तांश या भोग्यांश}}{\text{र. नि. रा. ३०}}$

यह अनुपात एक रूप का है। क्योंकि ज्या चाप की गति परम्परा एक रूप के ह्रास वृद्धि की नहीं होती है यह पहले कह आये हैं। यहां पर भी स्पष्ट भोग्य खण्ड से ही अनुपात करना उचित होगा। तथा एक राशि के ३०° तीस अंशों की अपेक्षा इन ३०° तीस अंशों के भी सूक्ष्म

विभाग $\frac{३०^{\circ}}{९}$ = ३°।२०' की तरह मान लेने से गणित में सूक्ष्मता होगी जिसका भास्कराचार्य ने भी दिग्दर्शन कर दिया है—"सूक्ष्मार्थी कुर्याद्धोराणां द्रेक्काणकानम्वेति" ।

वर्त्तमान युग के गणकसार्वभौम मेरे पूज्य १०८ श्री गुरुचरण श्री पं० बलदेव जी पाठक के पूज्य १०८ श्री गुरुचरण म. म. पं० सुधाकर द्विवेदी ने सूक्ष्म लग्न लाने का एक अच्छा परिष्कार किया है जिसे इस स्थल पर दे देना आवश्यक होगा, वह है—

पहिले इष्टकाल से रवि का मध्यविषुवांश, उसके बाद दशमलग्नमान, तथा क्रान्ति वृत्त और याम्योत्तर वृत्तों से उत्पन्न कोणमान (जिसे सिद्धान्त ग्रन्थों में यष्टिकोण कहते हैं) और दशम लग्न की क्रान्ति की कोटि का मान जान लेना चाहिए।

दशम लग्न से क्षितिज तक क्रान्ति वृत्त में कर्ण, दशमलग्न से क्षितिज तक याम्योत्तर वृत्त में दशम लग्न के उत्तर गोल में इसकी द्युज्या चाप और अशांश का योग कोटि, (दक्षिण गोल में अन्तर) कोटि और कर्ण के बीच का कोण यष्टि चाप तुल्य की क्रांति संज्ञा कल्पना करनी चाहिए। तब चापीय त्रिकोणमिति से कोटि और परम क्रान्ति के ज्ञान से कर्ण मान ज्ञान करना चाहिए जो सिद्धान्त रूप से निम्न भांति है। क्षेत्र देखिये।

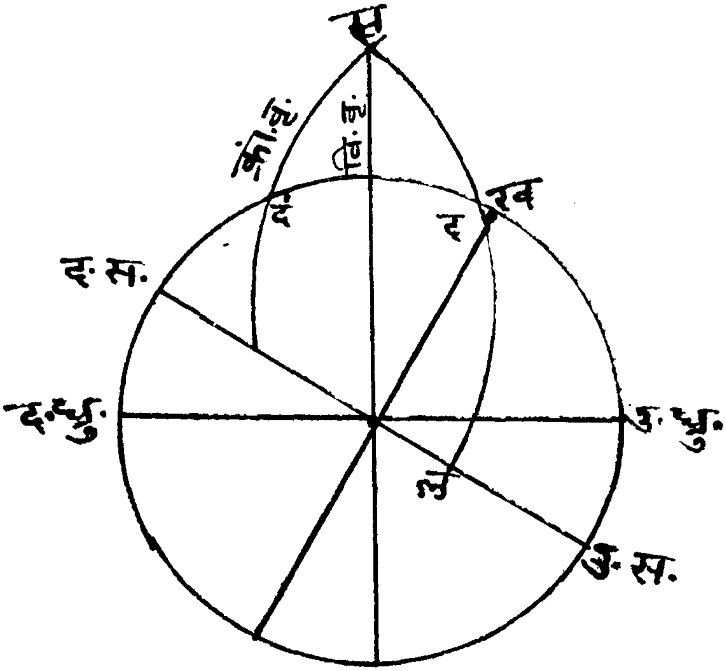

आकाशमध्यविषुवांशवशात्प्रकुर्यात्-
यष्टि दिवाकरमपक्रमकोटिभागम्।
यष्टि जिनांशजगुणं विषुवांशकञ्च-

अक्षाढ्यहीनदिनभागमितं क्रमेण ॥
सौम्यानुदग्गोल गते प्रकल्प्य ।
साध्यो भुजांशोऽथ भुजांशरव्योः ॥
युतेर्मितं स्वोदयलग्नमानम् ।
भवेत् स्फुटं गोलविदां बुधानाम् ॥

इस क्षेत्र में उ ध्रु=उत्तर ध्रुव
उ स=उत्तर समस्थान
द. ध्रु=दक्षिण ध्रुव
द स=दक्षिण समस्थान
ल'=दक्षिण गोलीय लग्न
ल=रवि के उत्तर में रहने से उत्तर गोलीय लग्न
क्रां वृ=क्रान्ति वृत्त (Orbit.)
वि वृ=विषुवद वृत्त (Equator.)
द'=दशम लग्न दक्षिणगोलीय ।
द= ,, उत्तरगोलीय ।
ख= खमध्य ।

सिद्धान्त शिरोमणि की टिप्पणी में संशोधक म. म. पं. बापूदेव शास्त्री का लग्नानयन प्रकार गौरव और दोष युक्त होने से आदरणीय नहीं है इस सिद्धान्त के निर्माणावसर पर म. म. पं० सुधाकर द्विवेदी जी ने उक्त बातें भी कही हैं ।

(सुधावर्षिणी पृ० १३७)

इदानीं लग्नात् कालानयनमाह—

अर्कस्य भोग्यस्तनुभुक्तयुक्तो
मध्योदयाढ्यः समयो विलग्नात् ।
यदैकभे लग्नरवी तदा त-
द्भागान्तरघ्नोदयखाग्निभागः ॥५॥
लग्नेऽल्पके तु द्युनिशात् स शोध्य-
स्तात्कालिकार्कादसकृच्च कालः ।
चेत् सावनाः स्युरभीष्टनाड्य-
स्तदैव तात्कालिकतिग्मरश्मेः ॥६॥
आद्यौ यदेष्टा घटिका विलग्नं
कालश्च तत्रौदयिकात् सकृच्च ।

वा० भा० :—अर्कस्य प्राग्वद्भोग्यकालः साध्यः। लग्नस्य सायनांशस्य भुक्त-कालः साध्यः। तयोरैक्यमर्कादग्रतो लग्नपर्य्यन्तं ये मध्ये राशयस्तेषामुदयाश्च क्षेप्यास्तत्रैव। एवं लग्नात् कालो भवति। अत्र यदैकराशौ लग्नार्कौ भवतस्तदा तयोरन्तरांशैः स्वोदयं सङ्गुण्य त्रिंशता भजेत्। परं यद्यर्काल्लग्नमधिकम्। यद्यल्पं तदा स कालोऽहोरात्रात् शोध्यः। शेषमिष्टकालः स्यात्। अत्रेष्टकालसाधनेऽर्कस्य भोग्यमौदयिकादेव क्रियते। यतः कालज्ञानात् तात्कालिकत्वमर्कस्य कार्य्यम्। अतः स्थूलः काल आयाति। अनेन कालेन तात्कालिकमर्कं कृत्वा मुहुः कालः साधयितुं युज्यते। परं यदि प्रष्टुः सावनघटिका इष्टाः। इष्टलग्नार्थम्, एतदुक्तं भवति। उदयानन्तरमेतावतीष्वर्कसावनघटिकासु कीदृग् लग्नं भवतीति एतद-भीष्टं तदैव तात्कालिकार्काल्लग्नं साध्यते। तदैव लग्नादसकृत् कालः। यदा पुन-रिष्टघटिका आद्यस्तदौदयिकादेवार्काल्लग्नं लग्नात् कालः सकृच्च।

अत्रोपपत्तिः सुगमा। तात्कालिकीकरणकारणता गोले कथिता व्याख्याता च।

मरीचि :—अथानीत लग्नस्य-शुद्धाशुद्धत्व निर्णयार्थमथवा लग्नज्ञाने लग्नाद-भीष्टकालानयनमुपजातिकयाऽह—अर्कस्येति ॥५॥ अर्कस्य सायनार्काक्रांतराशे-र्भोग्यकालः सायनलग्नाक्रांतराशेर्भुक्तभागैर्यो भुक्तकालस्तेनयुक्तः मध्योदयाढ्यः सायनसूर्ययुतराशे रग्रिमाः राशयः सायनलग्नभुक्तराश्यसवः तेषामुदयास्तैर्युक्त इत्यर्थः। विलग्नक्रान्तावधि सूर्योदयात्समयः, उदयात्मककालमानं स्यादित्यर्थः।

ननु भोग्यकालादूने इष्टकालेऽप्यनेन प्रकारेण लग्नभुक्तसूर्यभोग्यस्यैव काल-मानत्व सिद्धेर्नाभीष्टकालसिद्धि रतस्तत्र विशेषमाह-यदेति। सायन लग्नार्कौ यस्मिन् काले एकराश्यंतर्गतौ एतत्तुल्यलक्षणेन साधितोदयांतर्गतावित्यर्थः। तदा तत्काले तद्भागांतरोदयखाग्निभागः तयोः सूर्यलग्नयोः एकोदयसंबंधगतभागाद्योरंतरं तेन गुणितः स्वोदयस्तस्य खाग्निभागः उदयसंबंधभागमानांश इत्यर्थः। कालः स्यात्तथा च तत्रैतत्प्रकार विषयत्वान्न क्षतिरितिभावः।

अत्रोपपत्तिः—सूर्याक्रांतराशे र्भोग्यकालस्य सूर्योदयात्तद्राश्यंतलग्नसमयाव-धीष्टकालत्वाल्लग्नभुक्तकालस्य लग्नराश्यादिलग्नकालादिष्टलग्नकालावधीष्टकालत्वात्त-द्योगो मध्यराश्युदययुतोऽभीष्ट काल इत्युपपन्नम्। यदा तु भोग्यादूनेष्टकाले लग्न भुक्तकालः स्वेष्टकालादधिक इति सूर्यभुक्तं लग्नभुक्ते हीनं कालः, सूर्योदयात्पूर्व कालादेवेष्टकालपर्यंतं कालस्य लग्ने भुक्तकालत्वादुक्तप्रकारेण कालस्य साधनम्। परं तत्र लग्नरव्योरेकोदयत्वा त्रिंशद्भागैरुदयासवस्तदासूर्यलग्नांतरभागैः केत्यनुपातेन कालस्य लग्न-सूर्यांतरत्वादित्युपपन्नं लाघवात्।

ननु सूर्योदयासन्ने निशीष्टकाले यदा कदाचित्पूर्वप्रकारेण षष्ट्यासन्नसूर्यो-दयगतघटीभिर्लग्नं साधितं-तत्सूर्योदूनमप्येकराशौ भवति, तदाप्यर्कस्य भोग्यस्तनुभुक्तयुक्तेत्यादि पूर्वप्रकारेण सूर्यलग्नांतरे राशीनामेकादशोन्मितत्वा-त्काल आयाति। तथापि तदा यदैकभे-लग्नरवीत्याद्युक्तप्रकारस्य विषयत्वादनेन

प्रकारेणागतकालस्य बहुतरं स्यादित्येतद्वारणाय यदैकभे लग्नरवीत्याद्यत्र लग्नं सूर्यादधिकमित्यपि कथं नोक्तमतस्तदुत्तरं विशेषेणोपजातिकयाह-लग्नेऽल्पके तु इति। लग्नैकराशावेव सूर्याद्भागैर्न्यूने सति। तदा सः यदैकभे लग्नरवीत्याद्युक्त प्रकारेणानीतकालः द्युऽनिशादहोरात्रमानात्षष्टिघटीभ्यः शोध्यस्तदा पूर्वागत एव भवतीति न क्षतिः। अधिके तु यथाश्रित इतित्वर्थोऽर्थसिद्धः। विशेषमाह-तात्कालिकार्कादिति। यदालग्नात्कालानीयते तदा पूर्वकालाज्ञानात्तात्कालिका-र्कभोग्यकालज्ञानमशक्यमित्यौदयिकसूर्याद्भोग्यमानीयोक्तप्रकारेण कालः साध्यः। ततस्तत्कालिकार्काद्भोग्यकालमानीयोक्तप्रकारेण कालः, ततोऽपि तत्कालार्केण कालज्ञानमसकृत् कालरभीष्टो भवति। एतदुक्तस्य विषयमाह-चेदिति। प्रष्टुः लग्नपृच्छकस्य कालपृच्छकस्य वा यदि सावनाभीष्टघटिकाः इष्टास्तदा एव कारो नाक्षत्रघटिकेष्टास्तद्वारणाय तात्कालिकसूर्यात्पूर्वोक्तं लग्नं प्रागुक्तोऽसकृत्कालश्च साध्यः। एतदुक्तं भवति—लग्नानयनार्थं सावना घटिका ज्ञातास्तदा तात्कालिक-सूर्याद्भोग्यकालोऽनेयः। ततो लग्नं नान्यथा। लग्नात्सावनघटिका ज्ञानमिष्टं तदापि प्रथमं कालज्ञानादौदयिकसूर्याद्भोग्यकालमानीय कालः साध्यः। ततस्ता-त्कालिकार्कभोग्येनासकृत्कालसाधनमेवं यदैकभे, इत्यत्राप्युक्तवत्सूर्यग्रहणं, यदा तु पृच्छकेन तात्कालिकसूर्यादिष्ट स्तदा कालसाधनं नासकृदितिध्येयम्।

अत्रोपपत्तिः—यदा सूर्याल्लग्नमेकराशावूनं तदा यदैकभे इत्याद्यानीत-कालस्य लग्नसूर्योदयांतर्वर्त्तित्वाद्रात्रिशेषत्वमतस्तदूनाहोरात्रं सूर्योदयाद्गतं भवत्येवौ-दयिकसूर्याद्वास्तवलग्नाच्चोक्तरीत्या नाक्षत्रकालः। तात्कालिकसूर्यात्सावनप्रोक्त-लग्नप्रकारवैपरीत्यात्, अत एव तत्र नासकृदित्युक्तम्। यदा त्वौदयिक सूर्यात्सा-वनकालोऽपेक्षितस्तदोक्तप्रकारेण प्रथमतो नाक्षत्रकाल एव वास्तवः। अथ तत्कालस्यैवस्थूलत्वेन सावनत्वं प्रकल्प्य तात्कालिकार्केणोक्तरीत्या कालः सावनः स्थूलोऽपि पूर्वकालात्सूक्ष्मः। एवं यथोत्तरं सूक्ष्मतोपपत्याऽसकृत्साध्य इत्युपपन्नम्। अन्यत्पूर्वोक्तमेवेति।

केचित्तु—तात्कालिकसूर्यान्नाक्षत्रकालाऽपेक्षा तदा प्रागानीतकालेन तात्का-लिकमर्कमौदयिकं कृत्वा कालः साध्य इत्यसकृदित्याहु स्तत्रप्रथमतः कालस्यानीतस्य सूक्ष्मसावनत्वेन तच्चालिततात्कालिकार्कस्य वास्तवौदयिकत्वात्पुनः कालसाधने वास्तव नाक्षत्रकाल एव सिद्ध्यतीत्यसकृदित्यस्यानुपपन्नत्वात्। अनियतपरिवर्त्त-सूचनायासकृत्पददानस्य पूर्वाभ्युपगमात्। अन्यथा सर्वत्र परिवर्त्त-द्वयापत्तेः।

अथ पूर्वं श्लोकोक्तस्यैवकारं विवृरावन्समयविशेषेण गणितलाघवार्थमृण लग्नानयनमिंद्रवज्रयाऽह-आद्यं इति। यदा पृच्छकस्य नाक्षत्रा घटिका इष्टास्तत्र तदा लग्नमौदयिकात्सूर्यात्साध्यम्। न तात्कालिकार्कात्। कालसाधनमपि सकृदेक-वारमौदयिकार्कादित्यर्थसिद्धं पूर्वकालज्ञानादपि तात्कालिकार्कज्ञाने ततः कालस्तदा न साध्य इति सूचनाय तदूनमुपयुक्तम्।

दीपिका—अत्रोपपत्तिस्तु लग्नानयनवैपरीत्येन सुगमा। तात्कालिकार्कज्ञानादादौ दयिकार्कादेव तावत्कालसाधनं परत्वयं कालो नाक्षत्रो जातस्तेनार्कं चालयित्वा पुनः कालसाधनमेवमसंस्कृत्यावदविशेषस्तदा सावनेष्टकालज्ञानं भवेत्।

अथवैवं सकृत्कर्मणाऽपि सावनेष्टघटिकाज्ञानं भविष्यति। तद्यथा-रवेः षष्टिदण्डात्मक सावनान्तरगतनाक्षत्रमानेन गतिकलोत्पन्नासुयुतनाक्षत्रीषष्टि-घटिकात्मकेन यदि रविगतिकलाः लभ्यते तदोदयार्कलग्नाभ्यां साधितेन वास्तवेनेष्टसावनान्तरगतनाक्षत्रीघटिकामानेन किमिति फलं वास्तवमेव रविगतिकलामानम्। इदं यदि औदयिकार्के योज्यते तदा वास्तव एव तात्कालिकार्कस्स्यादतः सकृदेव कालज्ञानं स्यात्। आचार्यमतेन सावनात्मकषष्टिघटिकाभिः रविगतिस्तदा साधितनाक्षत्रतुल्यसावनघटिकाभिः केति फलं वास्तवं तेन युक्तोदयार्कोऽऽवास्तव एव तात्कालिकार्कः पुनरस्मात्कालमवास्तवमेवं सकृद्यावदविशेष इति शेषोपपत्तिः सुगमा।

इदानीं लग्नमाह—

भुक्तासुशुद्धेर्विपरीतलग्नं
भुक्तांशगेहाप्तलवोनितोऽर्कः ॥७॥

यदोदयात् पूर्वघटीषु लग्नमिष्टं तदा तात्कालिकमर्कं कृत्वा तस्य भुक्तासवः साध्याः तानिष्टासुभ्यो विशोध्य शेषासुभ्यो यावन्त उदया विशुध्यन्ति तावन्तो विलोमेन विशोधयेत्। शेषात् खरामगुणितादविशुद्धोदयभक्ताद्ये लब्धा अंशास्तैस्तथार्कभुक्तांशैश्च तथा विशुद्धोदयतुल्यैः राशिभिश्चोनीकृतो रविर्लग्नं भवति। वासनाऽप्यत्र सुगमा।

मरीचिः—ऋणलग्नानयनप्रकारमाह—भुक्तासुशुद्धेरिति यथा सूर्योदयानंतरमभीष्टकाले लग्नं साध्यते तथा सूर्योदयात्प्रागभीष्टघटिकाभि र्लग्नं साध्यम्।

तत्तु भुक्तासुशुद्धेः सायन-तात्कालिकार्काक्रांतराशेः यद्भुक्तं तदसवः पूर्वोक्तप्रकारेण साध्याः। तत्पूर्वराशीनामपि सूर्यं भुक्तत्वात्तदुदयासवो भुक्तासव एवमभीष्ट कालासुगणक्रमेण यद्राश्यवधि भुक्तोदयाः शुद्धयन्ति तावंतः शोध्याः। तच्छेषात् पूर्वोक्तरीत्या त्रिंशद्गुणितात्—अशुद्धभुक्तोदयभक्ताद्यद्भागादि तदनष्टं स्थाप्यम्। ततोऽर्कः भुक्तांशगेहाप्तलवोनितः सूर्याक्रांतराश्यन्तर्गतभागाः शोधितोदयराशयो यत्संख्याकास्तन्मानं भुक्तराशयः, आप्तलवाः पूर्वानष्टस्थापिताः एतैस्त्रिभिर्हीनः विपरीतलग्नं सूर्योदयाद्विपरीतेष्टकाले लग्नं भवति। अत्र वियोज्ययोजकयोः सायनीयग्रहेऽयनांशहीनं कार्यं निरयणीयग्रहेप्ययनांशहीनम्। परंतु अयनांशो न त्रिंशद्भागादूनेऽर्कभागादावेको राशि र्योज्य इति। सायनभुक्तभागनिरयणार्क ग्रहे त्वयनांशविहीनेति। निरयणभुक्तभागसायनार्कग्रहे त्वयनांश विहीनं नेति। निरयणभुक्तभागसायनार्कग्रहे तु एकराश्यंतर्गतौ सायननिरयणार्कौ तदा द्विगुणायनांश हीनम्। भिन्नराशौ त्वयनांशोनत्रिंशद्भागायनांशांतरेण हीनमिति ध्येयम्। एवं भुक्तकालादूने विपरीतेष्टकाले त्वर्थादिष्टकालस्त्रिंशद्गुणःसायनरविराश्युदयभक्तः

फलेन भागादिना रविरूनो लग्नं स्यादित्युक्त प्रायम्। अत्रापि सायन निरयणार्क ग्रहणवशादयनांश विहीनं यथास्थितं वा क्रमेण ज्ञेयम्।

अत्रोपपत्तिः—नाक्षत्रेष्टकालोदयानां नाक्षत्रत्वेन साजात्यम्। तात्कालिकार्क विनाप्यौदयिकार्कात् सिध्यति लग्नमेवं वैपरीत्येन कालो नाक्षत्र एवेति। नासक्रु-दित्यादि सुगम् ऋणलग्नोपपत्तिस्ततः—सूर्योदयकाले हि लग्नसूर्ययोः, समानत्वा-त्प्राक्काले सूर्योनं लग्नमितीष्टकालासुभ्योऽर्कभुक्तकालः शुद्धयति तदा सूर्या क्रांतराशिः लग्नं क्षितिजे। एवं तत्पूर्वराशीनामुक्तक्रमेणोदयाः शोध्याः। अशुद्ध-राशिमाने शोध्याः लग्नं भवति। तत्राचार्यै वैपरीत्यमेतल्लग्नस्य दर्शनार्थं सूर्ये स्वभुक्तभागाः शोधितोदयराशिसंख्याः लग्नभोग्यभागाश्चोना उक्ताः। उभयथा तद्ज्ञानसंभवात्। अत उक्तमुपपन्नम्।

एवं विपरीतेष्ट कालानयनयनमर्कस्य भुक्तः तनुभोग्ययुक्तो लग्नात्सूर्य पर्यन्तं मध्यराशीनामुदयकालयुक्तः कालो भवतीत्यस्योक्तवैपरीत्यादुक्तप्रायमितिध्येयम्॥७॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—उदय काल में (अर्थात् सूर्योदयादिष्ट समय जिस समय ० शून्य हो उस समय) अर्ध उदित रवि बिम्ब की राश्यादि के तुल्य लग्न की भी राश्यादि होती है। यदि उदय से पहिले रात्रि शेष समय में लग्न साधन करनी हो तो उस समय रवि विम्ब क्षितिज के नीचे रहेगा इस लिये तात्कालिक रवि के भुक्तांश जनित असु को इष्ट काल के असुओं में घटाकर शेष जो असु बचें उनमें जितनी भुक्त राशियों के उदयमान के असु घटें उन्हें घटा देने से शेष जो असु बचे हैं उनके पहिले की विधि से (अनुपात से) अंशादि बना कर इस प्रकार के (विशुद्ध राशि तुल्य संख्यक राशि+रवि के भुक्तांश+शेष असु जनित अंश=योग) योग को रवि में घटा देने से क्षितिज अहोरात्र वृत्त सम्पात विन्दु में लगी हुई राश्यादि का ज्ञान हो जायेगा, यही स्पष्ट लग्न होगी।

इदानीं दिग्ज्ञानमाह—

वृत्तेऽम्भःसुसमीकृतक्षितिगते केन्द्रस्थशङ्कोः क्रमा-
द्भाग्रं यत्र विशत्यपैति च यतस्तत्रापरैन्द्र्यौ दिशौ।
तत्कालापमजीवयोस्तु विवराद्भाकर्णमित्याहता-
ल्लम्बज्याप्तमिताङ्गुलैरयनदिश्यैन्द्री स्फुटा चालिता॥८॥

तन्मत्स्यादथ याम्यसौम्यककुभौ सौम्या ध्रुवे वा भवे-
देकस्मादपि भाग्रतो भुजमितां कोटीमितां शङ्कुतः।
न्यस्येद्यष्टिमृजुं तथा भुवि यथा षष्ट्यग्रयोः संयुतिः
कोटिः प्राच्यपरा भवेदिति कृते बाहुश्च याम्योत्तरा॥९॥

वा० भा०ः—उदकेन समीकृतायां भूमाविष्टप्रमाणं वृत्तं विलिख्य तस्यकेन्द्रे द्वादशाङ्गुलशङ्कुं निवेश्य तस्य छाया तस्मिन् वृत्ते यत्र प्रविशति पूर्वाह्णेऽपराह्णे यतो निर्गच्छति तत्र पश्चिमपूर्वदिशौ किल भवतः। परन्तु यस्मिन् काले छाया-प्रवेशो जातो यस्मिन् काले च निर्गमस्तात्कालिकयोरर्कयोः क्रान्तिज्ये साध्ये। तयोरन्तरात् तस्याः छायायाः कर्णेन गुणितात्लम्बज्यया भक्ताद्यल्लब्ध मङ्गुलादि फलं तेनैन्द्री दिगुत्तरतश्चालिता स्फुटा भवति यद्युत्तरेऽयने रविर्वर्त्तते। यदि दक्षिणे तदा दक्षिणतः। एवं स्फुटा प्राची। अन्यथा स्थूलेत्यर्थः। तन्मत्स्या-द्याम्यसौम्ये दिशौ। अथ प्रकारान्तरेणाह—ध्रुवमवलम्बसूत्रेण विद्ध्वा ध्रुवा-भिमुख कीलकः सौम्या। स्वस्थानकीलको याम्या। तन्मत्स्यात् पूर्वापरे। प्रथमं भाद्वयाग्रदर्शने दिग्ज्ञानमुक्तम्। इदानीमथवैकस्मादपि भाग्रतः। अभीष्टकाले शङ्कोर्भाग्रं चिन्हयित्वा तस्याः छायाया वक्ष्यमाणप्रकारेण भुजं कोटिञ्चानीय भुजकोटिमिते शलाके गृहीत्वा शङ्कुमूलाद्यथादिग्गतां कोटिशलाकां छायाग्राद्यथ-स्तदिग्गतां भुजशलाकाञ्च तथा भुवि न्यसेत् यथा शलाकाग्रयोः संयुतिः स्यात्। एवं कृते सति कोटिः प्राच्यपरा दिग्भवति। बाहुश्च याम्योत्तरा।

अत्रोपपत्तिः;—अहोरात्रवृत्ते इष्टानामुन्नतघटिकानामग्रे पूर्वाह्णे समण्डलेन यावदन्तरं तावदेवापराह्णे तावतीनामिष्टघटीनामग्रे भवति। अतस्तच्छायाग्र-बिन्दुभ्यां दिग्ज्ञानमुपपद्यते। परं तत्कालान्तरेण यदर्कक्रान्त्यन्तरं तेनान्तरितं भवति। अतस्तत् सन्धेयम्। तच्चैवम्। तस्मिन् काले यानि कर्णवृत्ताग्राङ्गु-लानि पूर्वाह्णे तेषामन्तरं कार्य्यम्। तत्र लाघवार्थं तत्कालक्रान्त्योरेवान्तरं कृतम्। ततोऽग्राकरणायानुपातः। यदि लम्बज्याकोट्या त्रिज्याकर्णस्तदा क्रान्तिज्यान्तरेण किम्? इति। अत्र लब्धमग्रान्तरम्। ततोऽन्योऽनुपातः। यदि त्रिज्याव्यासार्द्धे एतावदन्तरं तदा कर्णव्यासार्द्धे किम्? इति। अत्र तुल्यत्वाद्गुणकभाजकयोस्त्रि-ज्यानाशे कृते सत्युपपन्नं "तत्कालापमजीवयोस्तु विवरात्" इत्यादि। यदुत्तरमयनं वर्त्तते उत्तरतोऽर्के चलिते शङ्कोर्भाग्रं दक्षिणतो याति यदुत्तरतश्चालनीयम्। अत उपपन्नम् "ऐन्द्री स्फुटा चालिता" इति। भुजकोटीनामुपपत्तिरग्रे। तन्निवेश-मात्रेण दिग्ज्ञानमिह दर्शितम्।

मरीचिः—अथ प्रथमोद्दिष्टं दिक्साधनं विवक्षुस्तावच्छार्दूलविक्रीडितवृत्तेन पूर्वापरयोः साधनमाह—वृत्ते इति। अंभः सुसमीकृतक्षितिगते जलेन सुष्ठुसमी-कृतायां भूस्तस्यां गतं विद्यमानं कृतमित्यर्थः। वृत्ते इत्यभीष्टांगुलव्यासार्धेन कृतवृत्ते। तद्यथा तत्र प्रथमं मृत्क्षेपनिष्काशनैस्तदुपकरणादिभिः काप्युच्चतरशोभने निरावरणे-ऽभीष्ट प्रदेशे नोच्चानुच्चत्वभूमेः संपाद्यानंतरं जलधाराप्रक्षेपकृते तज्जलं यथा समभेव सर्वत्रापि प्रसरति तथा जलेन भूमेः समत्वं परीक्ष्यमेवं साधितसमभूमौ कृतवृत्ते केंद्रस्थवृत्त मध्ये स्थापितलक्षणलक्षितशंकोः भाग्रं छायाग्रं वृत्तपरिधौ यत्र यस्मिन्प्रदेशे विशति पूर्वकपाले प्रतिक्षणं छायाह्रासाद्वृत्तबाह्यस्थछायाग्रिमकालेऽपचयेन भाग्रं वृत्तपरिधौ स्पृशति। यतः यस्मिन्प्रदेशेऽपैति अपरकपाले प्रतिक्षणं छायावृद्धे

वृत्तांऽतस्थ छायायाः-अग्रिमकाले-उपचयाद्वृत्तपरिधावग्रं स्पृशति । चः समुच्चये । तत्र वृत्तपरिधौ यत्प्रदेशयोः छायाग्रप्रवेशनिर्गमयोश्चिन्हं तत्रेत्यर्थः । क्रमात्प्रवेश-निर्गमक्रमेणापरेन्द्र्यौ पश्चिमपूर्वदिशौ स्तः । पूर्वं दिशि विशेषमाह-तदित्यादि-यत्कालयोः वृत्तपरिधौ भाग्रप्रवेशनिर्गमौ जातौ तत्कालयो यंत्रसाधित सूर्यक्रांतिज्ये तयोरित्यर्थः । तु विशेषे । विवरात्तदंतराद्व्यवकलनरीतिज्ञानात् भाकर्णमित्या भायाः छायायाः वृत्तपरिधिगायाः कर्णमानेन वक्ष्यमाणेनेत्यर्थः ।

ननु कर्णं चैव तन्मित्या छायांगुलमित्येत्यर्थः । कर्णस्य व्यर्थत्वापत्तेः । उपपत्तौ तदसिद्धेश्च-गुणितादेतादृश भाज्याल्लंबज्याप्रमितांगुलैः वक्ष्यमाणलम्बज्या-रूपाप्राद् भक्ताल्लब्धं तत्परिमितांगुलाद्यैः त्र्यसरेणु रथरेणुर्वालग्नं तदनुलीक्षा च यूकायवोंऽऽगुलपरिमाणमितितोऽष्टगुणितानीति कुंडमंडपविधानपरिभाषायाः प्रसिद्धत्वात् ऐंद्री निर्गमचिह्नज्ञापितपूर्वस्वस्थानाद्वृत्तेऽयनदिशि सूर्यायनभागे मकरादिकर्कादिषड्राशिज्ञापितोत्तर दक्षिणायनस्थ सूर्ये सायनदिगभिमुखचालिता सति यत्र वृत्तपरिधौ चिह्नंभवति तत्र स्फुटा सूक्ष्मा पूर्वेत्यर्थः । ऐन्द्रीत्युपलक्षणं सूर्यायनदिशि प्राक्तने प्रवेशचिन्हे चालिते सति सूक्ष्मपश्चिमा भवति । निर्गम प्रवेशचिह्नऽयोरेकतरं चाल्यं नोभयमित्यर्थः । तत्तादृशचिह्नावधि प्रसारितं सूत्रं पूर्वापरसूत्रमित्यर्थतः सिद्धम् । स्पष्टं चैतत्सिद्धांतशेखरे छायानिर्गमन प्रवेश-समयार्कक्रांतिजीवान्तरं क्षुण्णं स्व श्रवणेन लंबकहृतं स्यादंगुलाद्यं फलम् । पश्चाद्बिन्दुमनेनरु ययनतः संचालयेद्व्यत्ययात्स्पष्टा प्राच्यपराथवायनवशात्प्राग्बिन्दु-मुत्सारयेदि"ति ।

अत्रोपपत्तिः—समक्षितिजवृत्तयोरुदयभागे संम्पातः प्राची, अस्तभागे तत्संपातः पश्चिमेति सूक्ष्मं तदुदयातं तत्सूत्रं पूर्वापरसूत्रम् । तत्तु स्वनिरक्षदेश भूगर्भयोरेकमेव । तद्भूपृष्ठयोर्भिन्नमुक्तलक्षणाक्रांत तद्दिशोर्याम्योत्तरांतरत्वात् । तत्र निरक्षदेशे तद्ज्ञानं गोलसंधिस्थसायनसूर्योदयास्तचिन्हाभ्यां स्वदेशपृष्ठे तु क्षितिजसमवृत्तसंपाते यत्क्रांतिवृत्तप्रदेशद्युरात्रवृत्तं लग्नं तत्क्रांतिवृत्तप्रदेशस्थ खेरुदयास्तचिह्नाभ्यामेतस्योपजैव्यत्वादभीष्टदिनेऽभीष्टप्रदेशतादृशप्राच्यपरसूत्रावयव-मार्गज्ञानाय पूर्वाचार्यैरुपायाः कल्पिताः । तत्र प्रथमं यथा शंकुस्थानीय प्राच्यपरसूत्रमस्ति तथा तच्छायाग्रसमसूत्रेण तद्याम्योत्तरसूत्रस्थानस्यापि स्वसम-वृत्तानुकारेण प्राच्यपरसूत्रमस्तीति तत्साध्यते-तत्रापि वस्तु भूतक्षितिजस्य महत्वा-दभीष्ट प्रदेशस्य कस्यचिदवधित्वेन ग्रहार्थं वृत्तं कृतम् । क्षितिजस्य वृत्ताकारत्वात् । तत्र सूर्योदयकाले छायानानन्त्याद्यथा-यथा क्षितिजात्सूर्यस्योन्नतत्वं तथा छायाप-चयदर्शनाद्वृत्ते पूर्वकपाले तस्याः प्रवेशो भवत्येव । तथा च यत्र प्रवेशस्थानं तत्र पश्चिमा, पूर्वभागस्थ सूर्यस्य छायायाः परभागे स्थितत्वात् । एवं मध्याह्ने छायास्थापितशंकुमूलादुत्तरतो दक्षिणतो वा भवति । तत् छायाग्रस्थानस्यैवापरा सा । एवं मध्याह्नादपरकपाले सूर्यो यथा नतस्तथा छायावृद्धेरस्याः निर्गमोऽपि भवत्येव । तत्स्थानं पूर्वपश्चिमभागस्थार्कछायायाः पूर्वभागे सत्त्वात् । एवं

च यावति दिनगते प्रवेशस्तावति दिनशेषे निर्गमः। छायायाः समत्वात् तुल्यकालज्ञानार्थमेव वृत्तकरणं युक्तम्। यदंतरेण या दिक् तत्स्पर्धिनी तदंतरेणेति नियमात्। अन्यथा पश्चिमभाग्रस्थानं पश्चिमादिक्। पूर्वं भाग्रस्थानं पूर्वदिगित्युक्तौ प्रतिक्षणं छायायाः विसदृशत्वादुक्तरूपप्राच्यपरसूत्रस्यासिद्धत्वापत्तेः। अथ यद्यपि तदवधि सूत्रं पूर्वापर सूत्रम्।

"शिलातलेऽम्बु संशुद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे,
तत्र शंकुगुलैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत्।
तन्मध्ये स्थापयेच्छंकुं कल्पनाद्द्वादशागुलं,
तत् छायाग्रं स्पृशेद्यत्र वृत्ते पूर्वापरार्धयोः।
तत्र विंदू विधायोभौ वृत्ते पूर्वपराभिधावति"—

सूर्यसिद्धांतोक्तेस्तथापितन्निर्गमप्रवेशयोरेककालिकत्वासंभवेन तस्य सान्तरत्वात्। प्रतिक्षणं सूर्यस्य याम्योत्तरचलनत्वेन तज्जनितछायायाऽपि तथात्वात्। अत एव सिद्धांतशेखरे-"याति भानुरपमण्डलगत्या दक्षिणोत्तर दिशोरनुवेलम्। तेन सा दिगनृजुः प्रतिभाति स्यादृजुः पुनरपक्रममौर्व्येति"स्पष्टमुक्तम्। तत्कथमुक्तं पूर्वापरसाधनमिति चेन्न उत्तरार्धकोक्तप्रकारेण निर्गमचिन्हस्य चालनेन तत्सूत्रस्य वास्तवत्वात्। तथाहि-शंकुप्राच्यपर सूत्राच्छंकुछायाग्रं भुजांऽतरेणैव भवति। वक्ष्यमाणभुजस्य तद्याम्योत्तरांतरत्वात्। अतः प्रवेशचिन्हकालिक निर्गमचिन्हकालिक निर्गमचिन्हरूपवास्तवपूर्वचिन्हाद् ज्ञातात् छायानिर्गमचिन्हं-तत्कालिक भुजयोरंतरेणैवांतरितं भवतीति वक्ष्यमाणभुजरूपप्रतिपादनेन प्रसिद्धतरम्। न च तात्कालिकभुजयो भिन्नदिशयोर्योगेनैव छायाग्रयोरंतरमिति कथं तदंतरेणैवेत्युक्तमिति वाच्यम्। तुल्योत्पन्न कालयोर्भिन्नदिग्भुजयोरसंभवात्। तथा चैककालिकपूर्वापरसूत्रसाधनार्थं ज्ञातछायाप्रवेशनिर्गम चिन्हयोरेकतरं भुजाग्रांतरेण वृत्तपरिधौ चाल्यमिति भुजांतप्रदेशयोरंतरं साध्यम्। तत्र वक्ष्यमाणभुक्तप्रकारेण पलभा कर्णवृत्ताग्रारूपसंस्कारभुजावगमात्तदंतरेण कर्ण वृत्ताग्रयोस्तात्कालिकयोरेवांतरं निष्पन्नम्। तद्यथा-यदोभयोर्भुजयोः पलभोनाग्रात्वमग्रोनपलभात्वं वा तदैकत्वं वा तदा तदंतरेणाग्रांतरमेव व्यक्तम्। बीजोक्तसंकलनव्यवकलनरीत्या सुव्यक्तं चैतत्। तत्र कर्णवृत्तात्तत्रतयोरंतरेणाग्रांतरस्य कर्णवृत्तीयत्वसिद्धेरग्रांतरं पूर्वं साध्यम्। तत्राप्यग्राज्ञानाभावादाचार्यैर्वक्ष्यमाणात्तत्क्षेत्ररीत्यालंबज्याकोटौ त्रिज्या कर्णस्तदाक्रांतिज्यामितक्रांतिज्या कोटौ कः कर्ण इत्यनुपातेनाग्रांतरमानीतम्। ततोऽस्मादेव वक्ष्यमाणछायाक्षेत्ररीत्या त्रिज्या कर्ण वृत्तेदं प्रांच्यतरं तदा छायाकर्णवृत्ते किमित्यनुपातेन गुणहरयोस्त्रिज्यातुल्ययो र्नाशादुक्तफलानयनमुपपन्नम्। त्रिज्या तुल्ययोर्नाशात् अग्रान्तरमानीतम्। ततोऽस्मादेव वक्ष्यमाणछायाक्षेत्ररीत्या त्रिज्या कर्ण वृत्ते, इदमन्तरं तदा छायाकर्णवृत्ते किमित्यनुपातेन गुणहरयोस्त्रिज्यातुल्ययोर्नाशा त्तन्मध्याच्छंकुत्तलमितरे इति"। ब्रह्मगुप्तोक्ताचार्यव्याख्यावसरे क्रांतिवशेन दिग्भेदोपपद्यते। तद्यथा-प्रथमविन्दु-

दानकालिकाद्रवेः क्रांतिज्यां कृत्वा द्वितीयविन्दुदानकालिकाच्च रवेः क्रांतिज्या कार्या। तयोरंत्तरं विद्वंतरालकालस्य क्रांतिज्या न भवति। व्यासार्धज्यापरिमाणछायांगुल-तुल्ये मण्डले परिणाम्यते। तेन "छायांगुलै र्हत्वा व्यासार्धेन विभजेत्फलं छाया मण्डलेंऽगुलादी"ति चतुर्वेदाचार्योक्तं निरस्तम्। उक्तयुक्तेः भुजोपजीव्याग्रासाधने छायानुपातानंगीकाराच्च।

किंच क्रांत्यंतरानुपातेन विनाऽग्रानयनानुपातं छायावृत्ते फलांगुलानामसिद्धेः स्वल्पांतरेण क्रांत्यंतरतुल्यमेवाग्रांतरस्य त्रिज्याव्यासार्धे-इदमग्रांतरं तदा तद्वृत्तानु-सृतभूपृष्ठस्थ छायामितव्यासार्धजनितवृत्ते तद्व्यासार्धेन किमित्यनुपातेन परिणा-मांगीकृतो येनादोषः। व्यासार्धपदेन तज्योपस्थितेरभावात्तदज्ञानाच्च। अत एव न तज्ज्या छायाव्यासार्धवृत्तयोराकाशभूपृष्ठस्थयोस्त्रिज्याछायाकर्णो कर्णवृत्तत्वेन तदनुपाताद्युक्तं तदानयनमितिदिक्। यत्तु भाकर्णपदेनाऽत्र विषुवत्कर्णेति-तत्रा-संगतत्वात्। ननु यदा कदाचिद्विषुद्दिने एकत्राग्रापलभैक्यं भुजः, अपरत्राग्रोन-पलभाभुजस्तदैकदिशयोर्भुजस्तदैकदिशयोर्भुजयोरंतरं तत्कालीनाग्रयोर्भिन्न दिशयो र्योग एवोक्त बीजरीत्या निर्विवादस्तेन भिन्नदिशयोः क्रांत्योर्योग एव तत्रापेक्षित इति कथं साम्यमतस्तद्विवरादित्युक्तमत एव "तत्कालभान्वोरपमज्ययो र्यो भेदो दिगैक्ये युतिरन्यदिक्के" इति कस्यचिदुक्तं संगच्छते इति चेन्न। तत्राग्रयोरत्यल्प-त्वादुक्तप्रकारकरणेऽपि स्वल्पांतरादविशेषाच्च लाघवादनुगमेन तत्राप्यंतर स्यैवांगीकारादविशेषादल्पांतरत्वाच्च। वस्तुतस्तु विवरादित्यस्य क्रांत्यग्रयोरंतरा-दित्यर्थेनैकदिशयोरंतरं भिन्नदिशयो र्योग इत्युपपत्त्या लाभाद्गणितप्रकारेऽपि वियोज्यवियोजकयोरेकगोले धनत्वं भिन्न गोलेतुधनर्णत्वं संशोध्यमानं स्वं स्वतः सिद्धमिति बीजोक्तरीत्या विवरादित्यनेनाप्यभिमतार्थ सिद्धेर्न दोषः। अथ शंकु-रंगुलात्मकत्वात् छायायाः कर्णस्याप्यंगुलात्मकत्वमित्यानीतचालनस्यांगुला-त्मकत्वं युक्तम्। ततस्तेनांतरेण यदोदक्क्रांते रुपचयस्तदा प्रवेशसमसूत्रान्निर्गमो दक्षिणत इति निर्गमचिह्नं-स्वस्थानाद्-क्षिणदिशि नीते प्रवेशसमसूत्रे पूर्वचिह्नं भवति। एवं क्रांतेरपचये तूत्तरत इत दक्षिणदिशि चाल्यम्। एवं दक्षिण क्रांते रुपचये प्रवेशस्थानान्निर्गम चिह्नमुत्तरत इति दक्षिणस्यां चाल्यमपचये तु दक्षिणत इत्युत्तरस्यामिति प्रत्यक्षं गोलयुक्त्या सूर्यायनदिशि चाल्यमर्थान्निर्गम चिह्नस्य यथास्थितत्वे प्रवेशचिह्नं व्यस्तं चाल्यम्। तत्सूत्रं तन्मध्यदेशीयवस्तु सूत्रपूर्वापरसूत्रांतर्वर्त्तिखण्डं-प्राक् पश्चिमाश्रिता रेखा प्रोच्यते सममंण्डले" इति सूर्य सिद्धांतोक्ते रित्युक्तमुपपन्नम्। ननूक्त प्रकारानीत चालनेन निर्गम चिह्नचालनं युक्तम्। गणितागतक्रांत्यादीनां सूर्यबिंबकेंद्रीयत्वं प्रत्यक्षम्। छायायाः सूर्य बिंबार्धनेमीयत्वमिति विरोधात्। ऊर्ध्वनेमि संबंधेन भुजसाधनस्याशक्यत्वाच्च। किंतु प्रत्यक्षछायायाः वक्ष्यमाणविधिना नतांशाः—सूर्य बिंबार्धनेमौ तेषां तद्बिंबव्यासार्धे कलायोजनेन सूर्यबिम्बकेन्द्रीया नतांशाः। एभ्यो वक्ष्यमाणरीत्या छाया सूर्यबिंबीया भूपृष्ठस्थाने या तया तद्वृत्तकेंद्राद्बहिर्वृत्तं कार्यम्। तद्वृत्तेऽपिछाया-प्रवेश निर्गममार्गेण तत्तचिह्नं कार्यं तद्वृत्ते निर्गम चिह्नतः सूर्यबिंबीयछाया-

कर्णानीतचालनेन चाल्यम्। न तु प्रत्यक्षछायाकर्णानीतेन संबंधाभावात्। तत्सूत्रं पूर्वापरसूत्रं, न चैवं गणितमात्रस्य भूगर्भीयत्वाद्भुजांतरचालनमपि भूपृष्ठवृत्तेन युक्तमिति वाच्यम्। भूगर्भपृष्ठयो रूर्ध्वाधरांतरेण प्राच्यपर सूत्रयोः सत्वाद्याम्योत्तरांतरत्वाभावाच्च। भुजस्योभयत्र तुल्यत्वात्तत्कथमिदमसंगतमुक्तमितिचेन्न। प्रत्यक्षछायायाः बिंबकेंद्रीयछायायाश्च स्वल्पांतरत्वाद्गणितमार्गण भेदाग्रहाच्च लाघवात्तदुक्तं समंजसम्। उक्तं च लघुवसिष्ठसिद्धांते "तत्क्रांतिजीवा विवराद्भाकर्णगुणिताद्वृतात्। लंबज्यया प्रांगुलिके प्राची सायनदिग्गतेति।"

अथ दक्षिणोत्तरयोः साधनं प्रकारांतरेण दिक्साधनं च शार्दूलविक्रीडितवृत्तेनाह-तन्मत्स्यादिति। अथ पूर्वापर साधनानंतरं तन्मत्स्यात् पूर्वापरचिन्हाभ्यामुत्पादितो यो मत्स्यस्तस्मादित्यर्थः। पूर्वापरसूत्रमितव्यासार्धेन पूर्वापरचिन्हाभ्यां मध्यकल्पिताभ्यां वृत्तद्वयं कुर्यात्। तत्संपातावधि वृत्तपरिधिप्रदेशाभ्यां मत्स्याकारं स्थलं दृश्यते। तदतिरिक्तवृत्तपरिधिप्रदेशौ समात्यौ। तस्मात् याम्यसौम्यककुभौ—दक्षिणोत्तरदिशौ स्तः। वृत्तद्वयप्रदेशसंपातस्थानदक्षिणप्रदेशे तद्दिक्स्थानं। उत्तरप्रदेशे तद्रूपस्थानमुत्तरस्थानमित्यर्थः। तद्रेखादक्षिणोत्तर रेखेत्यर्थ सिद्धम्। उक्त दिक्साधनं रात्रावपि संभवतीति तत्र तत्साधनमाह—'सौम्येति उदके यष्ट्या प्रत्यक्षध्रुववेधेने यष्ट्यग्राल्लंबनिपातो यद्भूमिप्रदेशे तत्रोत्तरादिक् तत्समसूत्रेण स्थितं स्वस्थानं तद्दणादिक् तन्मत्स्यात्पूर्वापरदिशौभवतः। वा प्रकारांतरेण। यद्देशे दिशां ज्ञानमिष्टं तद्देशः स्व ध्रुवयो मध्ये भवति तथा वेध्येति ध्येयम्। अथ पूर्वदिने दिक्साधनमुक्तम्। तद्बहुकालसाध्यमिति लाघवात्तात्कालिकं दिक्साधनमाह—एकस्मादिति-पूर्वं छायाग्रद्वयेन दिक्साधनमुक्तमिदानीमेकस्मात्प्रवेशकालान्निर्गमकालाद्वापि दिक्साधनं कर्त्तुं शक्यत इति स्वसामर्थ्यातिशयद्योतकोऽपिशब्दः। कथं तदाह-भाग्रत इति। अभीष्टकाले समभूप्रदेशस्थापितलक्षणलक्षितशंको र्यत्प्रत्यक्षछायाग्रस्थानं तस्मादित्यर्थः। भुजमिताम्-तत्कालोनवक्ष्यमाणप्रकारानीतभुजांगुलपरिमितां शंकुतः शंकुमूलप्रदेशात् कोटीमिताम्—समनंतरं वक्ष्यमाणप्रकारानीतकोट्यंगुलपरिमितां यष्टिशलाकाम्। ऋजुं सरलाम्। भुवि भूप्रदेशेऽभीष्टे तथा न्यसेत् स्थापयेत्। यथा यष्ट्यग्रयो र्युतिः संपातः स्यात्। फलितमाह-इतीति—इति एवं कृते सति कोटिः कोटिशलाका प्राच्यपरा प्राच्यपरसूत्रं भवेत् वाहु भुजशलाका याम्योत्तरादक्षिणोत्तरसूत्रं भवति।

अत्रोपपत्तिः—पूर्वापररेखायां मध्यवर्त्तितिर्यग्रेखायाम्योत्तररेखा सा तन्मत्स्येन वस्तुभूता अन्यथा तिरश्चीन रेखयापि तत्वापत्तिः। याम्यत्तरवृत्तक्षितिज संपाते उत्तरध्रुवासन्ना, उत्तरा दिक् तत्स्पर्द्धयन्य संपातो दक्षिणा दिक्। तत्सूत्रे याम्योत्तरमूत्रं तदंतर्वर्त्तिमत्स्यरेखेति। अथ ध्रुववेधादुत्तरदिग्ज्ञानमुत्तर ध्रुवस्य प्रत्यक्षत्वात् तत्तस्पर्धिनी दक्षिणा दिक् स्वस्थानं तन्मतस्यात्पूर्वापर इत्यपि द्रष्टव्यम्।

अथ वक्ष्यमाणभुजयुक्तया शंकुप्राच्यपरसूत्राद्भुजांतरेणैव छायाग्रपातात्।

छायाग्रप्रदेशाद्व्यस्तभुजदानेन प्राच्यपरसूत्रमार्गो ज्ञायत एवेति किं चित्रम्? भुजमूल-शंकुमूलांतरकोटिरिति व्यस्तभुजदानानुक्तामपि तत्संयुक्तात्सूक्ष्मज्ञानान्नक्षतिः। अन्यथा विपरीतभुजदानेनाऽपि कदाचित्तिर्यक्त्वेन तद्ज्ञानापत्तेः। वक्रशलाकयोः कथमपि योगो न भवतीति ऋजुमित्युक्तम्। यद्यपि मध्यवक्रशलाकयो र्योगे संभवस्तथापि सूत्राकारज्ञानं न स्यादिति। एवं च कोटेः प्राच्यपरसूत्रस्थत्वेन कोटेः प्राच्यपर सूत्रत्वम्। भुजाग्रस्य ततो दक्षिणोत्तरस्थत्वेन भुजो दक्षिणोत्तरसूत्रमित्युक्तमुपपन्नम्। ननूक्तदिशा भुजदिग्वशेन यष्ट्यग्रयोगस्थानाद्भुजदिग्ज्ञाता न तत्स्पर्द्धिनी दिक्। एवं तत्स्थानात्को·········योपचयापचय वशात्पश्चिमपूर्वान्यतरा नोभयज्ञानम्। शंकुस्थानादपि पूर्वापरा······तत् स्पर्द्धिनी।

दीपिका—प्रवेशनिर्गमकालिक छाययोस्तुल्यत्वाच्छायाकर्णौ समौ शङ्कू चापि समौ, शङ्कोस्तुल्यत्वाच्छङ्कुतलमपि सममेवेति। (इदं सर्वं स्वल्पान्तरात्स्वीकरणीयमिति तावन्मनसि ध्येयम्) उपपत्तिस्वरूपदर्शनेनैतत्तुल्यां- $\left(\frac{\text{क्रान्त्यन्तर} \times \text{छा. क.}}{\text{ज्यालं}}\right)$ गुलैरयनदिशि चालितैन्द्री सती तस्मात्कल्पितपश्चिमविन्दुं यावत्कृता रेखा पूर्वापरसमानान्तरा स्याच्छेषं स्पष्टम्। परमत्र भुजान्तरं ज्यारूपं तत्तुल्यं वृत्तपरिधौ दानेन नहि वास्तव विन्दोर्ज्ञानं भवेज्ज्याचापयो रतुल्यत्वात्। सत्यम्—पूर्वं विन्दोर्भुजान्तर व्यासार्धेन यद्वृत्तं तस्य चालन दिशि पश्चिम विन्दौ स्पर्श रेखा कार्या तदास्य वर्धनेन पू'' विन्दोर्ज्ञानं स्यात्तेन काचित् पू' पू'' रेखा पूर्वापर समानान्तरा स्यात्।

शिखा—दिग्ज्ञान (दिशा साधन)—(१) ग्रहों की आकाशीय स्पष्ट स्थिति को जानकर नलिका वेध से उसे प्रत्यक्ष देखने के लिये दिशाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। (२) सारे वैदिक कर्म (यज्ञ यागादिकों) में मण्डप आदि का निर्माण प्राची प्रतीची, दिशाओं के ज्ञान से नियत किया गया है तथैव गृह उद्यान जलाशय आदि सारे कार्यों तथा विश्वभ्रणआदि में दिशाओं का ज्ञान होना परमावश्यक है इसलिये यहाँ पर भास्कराचार्य सर्व प्रथम दिग्साधन की सूक्ष्म युक्तियों को बता रहे हैं।

जल से समतल किया हुआ कोई पाषाण खण्ड हो, अथवा वज्रलेप आदि से जो भूमि समतल कर दी गई है उसी समतल भूमि में दिशाओं के साधन का परिलेख बनाना चाहिए। (वराहमिहिराचार्य ने वज्रलेप बनाने का बड़े विशेष महत्व का वज्रलेपाध्याय प्रकण अपनी वाराही सहिता में दिया है वज्रलेप नामक मसाले से बनाये गये महलों या भवनों की दृढ़ स्थिति सहस्रों वर्षों की नहीं अपि दीर्घ युग तक रह सकने की बात भी वराहाचार्य से भी कही गई है।)

पारद से या जल से भूमि के समतल बनाने के आधुनिक युग में बड़े सरल से सरल और सुलभ साधन हैं। प्राचीन आचार्य भूमि की समतलता के लिये सीमेण्ट आदि से समतल भूमि के केन्द्र बिन्दु में दो चार बूंद जल गिराकर चतुर्दिक वृत्ताकार जल के प्रसार तक की भूमि को समतल मानकर तदवधिक वृत्त बनाकर शेष क्रिया कर लेते थे इससे गणित और वेध में स्थूलता नहीं आती थी अपि च सूक्ष्मता ही रहती थी।

सारा गणित ज्यौतिष, अनेक यन्त्रों के निर्माण करते हुये भी एक शङ्कु यन्त्र को बहुत बड़ा महत्व देता है क्योंकि सभी प्रकार और सभी देशों में इसी शङ्कु यन्त्र के माप से तत्तद्देशीय क्षायाएँ नाप ली जाती थी जिससे अनेक खगोलीय अनुभव ठीक बैठते थे। कांसे या पीतल का जड़ में वर्त्तुल ऊपर को सूची आकार का १२ अंगुल कल्पना का एक शङ्कु यन्त्र माना गया है किसी भी दीप्तिमान् पदार्थ प्रकाश के लगने से प्रकाश के विरुद्ध दिशा में उसकी छाया होती है जो प्रत्यक्ष्य है।

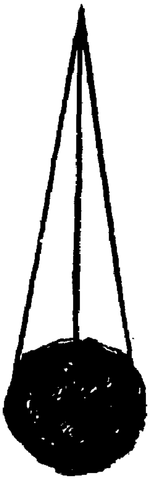

शंकु का निम्न भाग वर्त्तुल होता है। वृत्त को स्पर्श करने वाली दोनों तरफ की दोनों रेखाओं का योगविन्दु सूची विन्दु है। इस आकृति के द्वादश अंगुल ऊँचाई के शंकु का नाम द्वादश अंगुल शंकु है।

जिस जगह की दिशा जाननी हो उस जगह समतलदृढ़ भूमि में इस १२ अंगुल शङ्कु की छाया के वर्ग और $(१२)^२$ वर्ग का योग का मूल जो छाया कर्ण है—इस छाया कर्ण तुल्य व्या सार्घ से एक वृत्त बनाना चाहिए। यह वृत्त क्षितिज धरातलीय होगा इसे क्षितिज वृत्त की भी संज्ञा दी जा सकती है।

दिशाएँ प्रत्येक देश की भिन्न-भिन्न होती हैं साधारणतया और स्थूलतया सूर्योदय जिस तरफ हो रहा उसे पूरब और जिधर सूर्यास्त है उधर पश्चिम एवं सूर्य के अभिमुख खड़ा होने से मुख पूरब पीठ पश्चिम दाहिना हाथ दक्षिण एवं बायां हाथ उत्तर की तरफ होगा, किन्तु इतने से काम नहीं चलेगा—उसके लिये उक्त क्षितिजाकार वृत्त के मध्य में १२ अंगुल का शङ्कु स्थापित करने से इस वृत्त की छाया जहाँ पर प्रातः वृत्त में प्रवेश कर रही है वहाँ उस विन्दु को पश्चिम और सायं जहां से छाया का निर्भय होता है उस विन्दु को पूरब बिन्दु मानना चाहिए—इन पूरब और पश्चिम विन्दुओं पर गई हुई रेखा पूर्वापर धरातलीय केन्द्र गत व्यास रेखा की दैवात् यदि समानान्तर हो जाय तो दृढ़ता से कहेंगे कि यही छाया प्रवेश निर्गम विन्दु पर गई हुई रेखा और वृत्त के दो सम्पात विन्दु ही क्रमशः पश्चिम और पूरब दिशाएँ हैं। किन्तु ऐसा सदा संभव नहीं है।

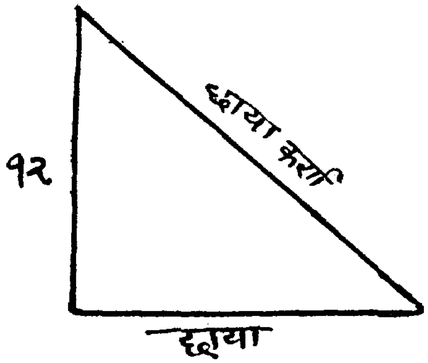

एक दिन की रवि की क्रान्तिगति स्थिर मान लेने से उक्तदिक् साधन प्रकार ठीक है किन्तु क्रान्ति की एक दिन की गति को स्थिर मानना हमारे वश की बात नहीं है क्योंकि प्रतिक्षण ही सूर्य का उत्तरायण में उत्तर गोल की तरफ दक्षिणायन में दक्षिण गोल की तरफ

चलन स्वाभाविक है। यद्यपि अयन सन्धि के आसन्न क्रान्ति की गति अत्यन्त सूक्ष्म (नहीं के बराबर) होने से वर्त्तमान सम्पात की वर्त्तमान गति स्थिति से २३ दिसम्बर एवं २३ जून के दिन उक्त दिक्साधन का प्रकार समीचीन हो सकता है।

खगोल मर्मज्ञ भास्कराचार्य को ऐसी स्थूलता बहुत खटकती है अतएव आचार्य ने दिक्साधन का एक सूक्ष्म प्रकार बताया है, वह निम्न है—

प्रवेश और निर्गम कालीन छाया तुल्य होने से, छाया कर्ण और महान् शङ्कु भी (आकाशीय-ग्रह बिम्ब केन्द्र से क्षितिज धरातल पर लम्ब रूप) तुल्य होंगे, एवं महाशङ्कु मूल से क्षितिज धरातलीय उदयास्त सूत्र तक लम्ब रूप अन्तर दोनों तरफ शङ्कुतल भी तुल्य होंगे। दृङ्मण्डल में खमध्य से ग्रह बिम्ब तक जो दृग्मण्डलीय चाप नतांश रूप है उसकी ज्या दृग्ज्या का ज्ञान करना चाहिए यह दृग्ज्या भूगर्भ से दृक्कुज सूत्र में महाशङ्कु मूल तक होगी। इस प्रकार दोनों तरफ भूगर्भ विन्दु से ग्रह बिम्ब तक त्रिज्या सूत्र कर्ण होगा, दृग्ज्या भुज, महाशंकु कोटि होगी। (दोनों तरफ) १२ अंगुल शङ्कु कोटि छायाकर्ण कर्ण, तथा १२ अंगुल शंकु की जो छाया यही छाया भुज होने से दोनों तरफ के (पूरव पश्चिम) दो, दो त्रिभुज आपस में सजातीय होंगे। तब त्रैराशिकानुपात से $\frac{\text{छाया भुज} \times \text{त्रि}}{\text{छायाकर्ण}} = \text{ज्या दृ}$। महाशङ्कु$= \sqrt{\text{त्रि}^{2} - \text{ज्या}^{2}}$, दृ शंकुतल $= \frac{\text{वि} \times \text{शं}}{१२}$। अतः

भु$=$अग्रा$\pm$शंत, द्वितीय भु$'$$=$अग्रा$\pm$शंत।

प्रथम कर्णवृत्तीय भुज$= \frac{(\text{अग्रा} \pm \text{शंत})\ \text{छा. क}}{\text{त्रि}}$, द्वितीय कर्णवृत्तीय भु$' = \frac{(\text{अग्रा} \pm \text{शंत})\ \text{छा. क}}{\text{त्रि}}$

$\therefore$ क. वृ. भुज$\sim$क वृ. भु$' = \frac{\text{छाक}}{\text{त्रि}}$ (अग्रा$\sim$अग्रा)। यहाँ पर शंत.—शंत.$=$०

परन्तु भु$\sim$भु$= \left\{ \text{अग्रा} = \frac{\text{त्रि.} \times \text{ज्या क्रां}}{\text{ज्यालं}} \pm \frac{\text{त्रि.} \times \text{ज्या क्रां}}{\text{ज्यालं}} \right\} \frac{\text{छाक}}{\text{त्रि}}$। यतः अग्रा$=$ $\frac{\text{त्रि. ज्याक्रां}}{\text{ज्यालं}}$, एवम् अग्रा$' = \frac{\text{त्रि. ज्याक्रां}}{\text{ज्यालं}} = \frac{\text{त्रि}}{\text{ज्यालं}} \times \frac{\text{छाक}}{\text{त्रि}}$ (क्रान्त्यन्तर)$= \frac{\text{क्रान्त्यन्तर} \times \text{छाक}}{\text{ज्यालं}}$ (उत्थापन से)। इस समीकरण से आगत अंगुल व्यंगुलात्मक फल अयन की दिशा की तरफ (उत्तरायण हो तो उत्तर, दक्षिण अयन हो तो दक्षिण की तरफ) ऐन्द्री-(पूर्व दिशा) को चालित कर देने से उस विन्दु से पश्चिम विन्दु तक की रेखा वास्तव पूर्वापरवृत्त धरातलीय केन्द्रगत पूर्व पर रेखा की समानान्तरा होगी। क्योंकि निर्गम कालिक छाया स्थान स्थूल पूर्व विन्दु है, क्रान्तिवृत्त के चल होने से पश्चिम विन्दुस्थ भुज से अर्थात् क्रान्ति से यह अवश्य छोटा या बड़ा होगा इस लिये पूर्व को ही चालित करना चाहिए।

विशेष—इतनी सूक्ष्मता को जानते हुये भी भास्कराचार्य ने इन भुजों के अन्तर का संस्कार वृत्त की परिधि में किया है—यह भी स्थूलता होगी इससे भी सूक्ष्म प्राची नहीं सिद्ध हुई इसलिये यहाँ पर पूज्य गुरु चरणों का विशेष मत है कि—वस्तुतः छाया प्रवेश निर्गम विन्दुओं के अन्तर व्यास पर विरचित वृत्त में स्थूल पूरव दिशाग्र से पूर्णज्या रूप

उक्त भुजान्तर दान से जो विन्दु होगा उस पर स्थूल पश्चिम विन्दु से जो रेखा बढ़ाई

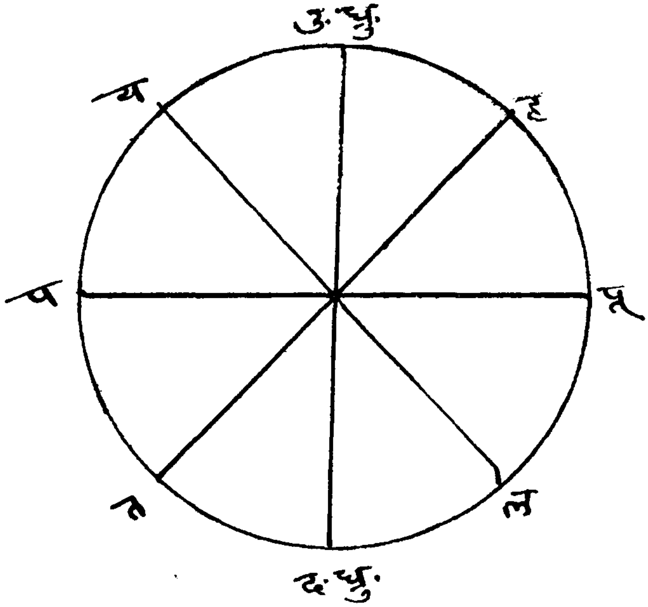

जावेगी वही पूर्धापर रेखा की अनुरूप (समानान्तर) वास्तव पूर्वापर रेखा होगी। पूरब पश्चिम उत्तर दक्षिण का ज्ञान हो जाने पर क्षितिज वृत्तीय चाप का आधा करने से केन्द्र से परिधि तक ल त य. ह विन्दु क्रमश: अग्नि नैॠ० वायु एवं ईशान दिशाओं के बोधक होंगे। तब यज्ञ यागादि मण्डप निर्माण के साथ ईशान कोण में देवाधिदेव महादेव इष्टदेव की स्थापना सार्थक होगी। इस पर एक मत है—

किसी प्रकार सूक्ष्म मध्याह्न काल का ज्ञान करना चाहिये। यन्त्र वेध से दृङ्मफलीय नतांश का जिस समय अभाव देखा जायगा निश्चित उसी समय में मध्याह्न काल होगा। मध्याह्न काल में रवि याम्योत्तर अहोरात्र वृत्त धरातल में रहेगा। सम्पातीय समतल भूमि में उक्तशङ्कु की छाया ठीक ध्रुवों को मिलाने वाली याम्योत्तर वृत्तीय धरातल की याम्योत्तर रेखा में ही पड़ेगी, याम्योत्तर रेखा पर लम्बरूप केन्द्रगामिनी रेखा वास्तविक पूर्वापर रेखा की समानान्तर रेखा छाया निर्गम विन्दु से खींची जावेगी तो अवश्य वही पूर्वापर रेखा इष्टकालीन इष्ट स्थानीय हो जावेगी।

गुरूणां गुरु. म. म. प. सुधाकर द्विवेदी ने दिग्ज्ञान की महान् त्रुटियों, एवं स्थूलताओं को देखते हुए तथा कृतिकादि नक्षत्र की प्राची की स्थितिवश वेदों का जो भ्रमात्मक कालादि निर्णय, या अयन चलन का जो विद्वानों ने अनुमान किया है—उन सब का भ्रम निराकरण करते हुए शुद्ध मत की दिङ्मीमांसा नाम की उत्तम पुस्तक लिखी है, उसे देखना चाहिये।

कुछ प्राचीन आचार्यों ने जिस दिन रवि की स्थिति "नाड़ी वृत्तस्थ होती है, अर्थात् जिस दिन निखिल भूमण्डल में दिन और रात्रि की तुल्यता होती है उसी दिन दिक्साधन

करना चाहिए उस दिन प्रवेश निर्गम विन्दु पर गई रेखा वास्तव पूर्वापर की समानान्तर होगी क्योंकि क्रान्ति की गति इस दिन शून्य है" ऐसा माना है। किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से यहाँ भी स्थूलता होगी क्योंकि छाया निर्गमकालीनक्रान्ति, प्रवेश कालीन क्रान्ति के तुल्य कभी भी नहीं होती।

पूर्वापर रेखा की सम्यक् स्थिति जान लेने के बाद इस पर लम्ब रूप रेखा करने के लिए प्राचीन आचार्य, "मत्स्येन" मत्स्य-से-दक्षिण उत्तर दिशा जानते हैं—जैसे पूरव चिह्न से पश्चिम तक वृत्त, एवं पश्चिम से पूरव तक वृत्त इन दोनों वृत्तों का जो दो योग विंदु वे मत्स्याकार दिखाई देते हैं और दोनों योग-बिन्दुओं पर गई रेखा ही पूर्वापर वृत्त पर लम्ब भी होती है, इसलिए परस्पर लम्ब करने की आधुनिक प्रणाली भी प्राचीन मत्स्य संकेत से ही आज तक चल रही है।

आधुनिक विज्ञान से—जेबघड़ी को पूर्व कथित समतल धरातल में रखकर उसके बीच एक लम्बी सूचिका लम्बवत् रखनी चाहिए। घड़ी को अब इस तरह घुमाना चाहिए कि सूचिका की छाया और घण्टे की सुई में तादात्म्य (एक रूपता) हो जाय ऐसी स्थिति में ६ और १२ बजे की सुइयाँ याम्योत्तर रेखा के समानान्तर होंगी—इत्यादि। इस प्रकार में भी अनिर्वाच्य स्थूलता हो सकती है।

इस उक्त नव्य मत के ही सदृश १६ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध ग्रहलाघव करण ग्रन्थ के प्रणेता श्री गणेश दैवज्ञ ने अपने ग्रहलाघव के त्रिप्रश्नाधिकार में—

समभुविनिहिते तुरीय यन्त्रे······दिशोऽत्र यन्त्रगाः स्युरित्यादि यन्त्र तुरीय यन्त्र से दिशा साधन किया है, जो उक्त भांति स्थूल कहा जा सकता है। जिस तरह घड़ी के १२, और ६ बज याम्योत्तर धरातल में होते हैं उसी प्रकार तुरीय यन्त्र की जो स्थिति दिगंश दान से होगी वही तुरीय यन्त्र याम्योत्तर का रूप धारण कर लेता है। संभव है उक्त नव्य मत गणेश दैवज्ञ के प्रकार की प्रतिलिपि हो सकती है—ऐसा कहने में क्यों संकोच किया जाय। भास्कराचार्य ने भी यहाँ पर—"सौम्या ध्रुवे वा भवेत्" से लम्ब सूत्र से ध्रुव वेध कर, ध्रुवाभिमुख कीलक उत्तर, एवं स्वस्थानीय कीलक याम्य दिशा होगी—फिर प्राची प्रतीची सुखेन ज्ञात हो जावेंगी" कहा है।

भास्कराचार्य यहाँ पर दिग् ज्ञान की एक और भी कोटि कहते हैं कि—इष्ट समय शङ्कु की एक ही छाया जान लेनी चाहिए। इस छाया से आगे के कहे गये नलिका से ग्रह वेध प्रक्रिया के उपकरणों से भुज और कोटि का ज्ञान कर भुज और कोटि के परिमाण की शलाकाओं को शंकुमूल से यथा दिग्गत स्थापित करने से छायाग्र से विपरीत दिशा (परिलेख में विपरीत देना ही आकाशस्थ ग्रह चित्र होगा) में भुज की शलाका को लिख कर इन भुज कोटियों के योग विन्दु को क्षितिज धरातल में स्थापित कर देने से कोटि शलाका प्राची प्रतीची तथा भुजशलाका उत्तर दक्षिण दिशाओं का स्पष्ट उद्बोधन करेगी। क्योंकि भुज शलाका याम्योत्तर वृत्त के (ध्रुव सूत्रखण्ड) धरातल में एवं कोटि शलाका पूर्वापर वृत्त के धरातल में (पूर्वा पर सूत्र खण्ड) ही गोल युक्ति से होती है।

इदानीमेतत्सम्बन्धमाह—

दिक्सूत्रसम्पातगतस्य शङ्कोश्छायाग्रपूर्वापरसूत्रमध्यम् ।
दोर्दोः प्रभावर्गवियोगमूलं कोटिर्नरात् प्रागपरा ततः स्यात् ॥१०॥

वा० भा०:—अत एव दिक्सम्पातस्थस्य शंकोर्भाग्रं यत्र पतति तस्य पूर्वापरसूत्रस्य च यदन्तरं स दोरित्युच्यते। दोश्छाययोर्वर्गान्तरपदं पूर्वापरा कोटिरिति ।

मरीचिः—भुजदानेन न तद्दक्षिणोत्तरैव तद्ज्ञानमिति—कोटिः प्राच्यपराभवेदिति कृते बाहुश्च याम्योत्तरेति कथमुक्तं कोटिज्ञानाच्चेत्येतद्दिन्द्रवज्रयाह-दिक्सूत्रसंपातगतस्येति—यश्च देशे दिक्साधनमिष्टं तत्प्रदेशे पूर्वापरदक्षिणोत्तरदिक् सूत्रयोः संपातरूपे स्थापितस्य शंकोः छायाग्रप्रदेशपूर्वापरसूत्रयोरंतरप्रदेशो भुज-पूर्वोक्तरीत्या सिद्ध मिति। तथा च शंकुतः छायाग्रसमसूत्रेण तद्याम्योत्तर सूत्रे यत् स्थानं तच्छंकुप्रदेशातंरं भुज तुल्यमित्यर्थ सिद्धम्। तेन शंकुमूलाद्धुजैव दक्षिणोत्तरान्यतरादिक् एवमभीष्टस्थानाद्यदंतरेण या दिक् तत्स्पर्धिनी तदंतरेणेति शंकुमूलात्तत्स्पर्धिन्यां भुजदानेनैव तदन्यतरा इति स्पष्टम्। कोटि साधनमाह—दोरिति भुजछाययोर्वर्गयोः-अंतरान्मूलं कोटिः। पूर्वापरसूत्रसिद्धिमाह-नरादिति। शंकुस्थानात्तदंतरेण प्रागपरा च उभयतो भवति। तथा च पूर्वोक्तप्रकारेण कोट्या प्रागपरान्यतरादिक् सिद्धा। यथा तत्स्पर्धिन्यां तदितरादिक्कोट्यंतरेणेति स्वतः सिद्धम्। तथा च कोटिः प्राच्यपरा भवेदिति कृते बाहुश्च याम्योत्तरेति पूर्वमुक्तं युक्त मतएवेतत्सूत्रसंपातेत्युक्तमितिभावः। अथ प्रथमप्रकारेण दिक्साधनेऽभीष्ट प्रदेशः छायाप्रवेशतादृशनिर्गमसूत्रमध्ये भवति तथा शंकुः स्थाप्यः। द्वितीयप्रकारेऽभीष्टप्रदेशः स्वस्थानवेधितध्रुवस्थानमध्ये भवति तथा ध्रुवो मध्यः। तृतीय प्रकारेऽभीष्टदेश एव शंकुः स्थाप्येतीष्ट देशस्य प्रकारत्रयेण दिक्साधने ऐक्यमिति ध्येयम्।

अत्रोपपत्तिः—वक्ष्यमाणयुक्त्या भुजस्य तद्रूपत्वाद्भुजो भुजः। छायाकर्ण, शंकुमूलपूर्वापरसूत्रे तद्वर्गांतरमूलं कोटिरिति भूमावुत्तानछायासूत्रस्य स्वतः सिद्धत्वादित्युपपन्नम्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—पूर्व श्लोक के भुज कोटि योग विन्दु से पूर्वापरादि दिक् साधन प्रकार को स्पष्ट किया जा रहा है। ग्रह विम्ब के ऊपर गया हुआ दृङ्मण्डल वृत्त जहां पर क्षितिज के साथ सम्पात कर रहा है वहां से उक्त क्षितिजधरातलीय दिक्सूत्र में ग्रह विम्ब से किया गया लम्ब महाशंकु है। और केन्द्र विन्दुगत द्वादश अंगुल शंकु की छाया का अग्र जहाँ पर है वहाँ से पूर्वापर सूत्र तक भुज है, और भुजमूल से केन्द्र विन्दु तक पूर्वापर सूत्र में कोटि सूत्र है यह एक समकोण त्रिभुज है जो आकाशीय महाशंकुकोटीय त्रिभुज का सजातीय त्रिभुज होता है।

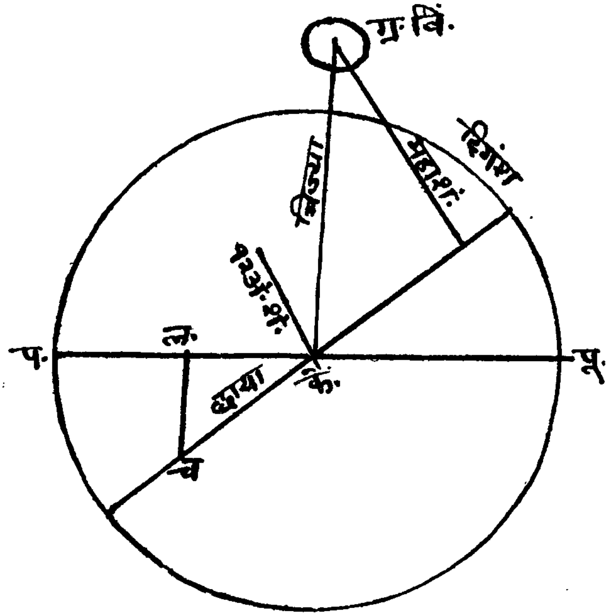

क्षेत्र देखिये—

पं ग्र=महा शङ्कु, के ग्र=त्रि, के पं=दृगज्या

के शं=१२ अंगुल शंकु, के ल=कोटि, ल च=भुज, के च=छाया

$\therefore \sqrt{\text{के च}^2 - \text{च ल}^2}$=ल के=कोटिः।

इदानीं छायातः कर्णं, कर्णात् छायाञ्चाह—

भाकुतीन १२ कृति १४४ संयुतेः पदं
स्याच्छ्रुतिः श्रुतिकृतीनवर्गयोः १४४ ।
अन्तराद्रवियुतोनकर्णयो-
राहतेश्च यदि वा पदं प्रभा ॥११॥

वा० भा०ः—छायावर्गाद्द्वादशवर्ग १४४ युतान्मूलं कर्णः। कर्णवर्गाद्द्वादशवर्गो १४४ नान्मूलं छाया। अथवा कर्णो द्विष्ठः। एकत्र द्वादशभिरूनोऽन्यत्र युतस्तयोर्घातान्मूलं छाया। अस्योपपत्तिर्गणिते कथिता।

मरीचिः—अत्रापि प्रत्यक्षछायायाः बिंबकेंद्रीयछायामानीय तत्कर्णाद्भुजं चानीय तद्ग्राद्भुजो देय इति युक्तमपि स्वल्पांतरात्प्रत्यक्षछायया एवोक्तम्। अतिशेषाच्च। ननु छायाकर्णज्ञानात्प्रथमतृतीयप्रकाराभ्यां दिक्साधनमसंभावि—भुजसाधने तदावश्यकत्वादतो रथोद्धततयाऽऽह—भाकुतीनकृतिसंयुतेरिति—छाया-

---

इस क्षेत्र के महाशंकु मूल में पं विन्दु है।

वर्गद्वादशवर्गयोर्योगान्मूलं छायाकर्णः तथा च न दोषेति भावः। अस्य शुद्धत्वज्ञानार्थं प्रमानयनं प्रकारद्वयेनाह—श्रुतीत्यादिछायासम्वादात्कर्णस्य वर्ग-द्वादशवर्गयोः-अंतरात्। यदि वा प्रकारांतरेण द्वादशयुतहीनकर्णयो वंधात् मूलं छाया। तथा च छाया संवादात्कर्णस्य शुद्धत्वमिति भावः।

अत्रोपपत्तिः—द्वादशांगुलशंकुः कोटिः, तत् छाया भुजः, तत्कृत्योर्योगपदं कर्णेति लघुछायाक्षेत्रस्य वक्ष्यमाणत्वात्कर्णानयनं युक्त मतएव कोटि तत्कृत्योरंतरात्पदं बाहुरिति छायानयनं चोक्तम्। अत एव च वर्गांतरस्य योगांतर-घात तुल्यत्त्वाद्द्वादशहीनयुत कर्णयोः घातान्मूलं छायेति युक्तम्। वर्गांतरस्य योगांतर घातत्वे युक्तिस्तु वर्गस्य समद्विघातरूपत्वाल्लघुगुणितलघुतद्गुणित बृहद्राश्योरंतरं कार्यम्। तत्र बृहद्राशिवर्गार्थं गुणस्य खंडद्वयमेकं लघुराशि-तुल्यम्। परं लघूनबृहद्राशिरूपांतरमितमर्थसिद्धम्। तेन लघुराशिगुणित बृहद्राश्यंतरगुणितबृहद्राश्यो र्योगो बृहद्राशिवर्गः। अत्र वर्गांतरार्थे लघुगुणित लघुहीनस्तत्र लघुगुणितबृहद्वर्गखंण्डएव लघु वर्गस्तद्रूपो हीनस्तयोरंतरगुणित बृह-द्राशिर्योज्यइति कृतेऽपि नाभीष्ट हानिरिति लघुराशिगुणितयो बृहल्लघुराश्यो-रंतरं पूर्वं कार्यम्। तत्रापि गुणितयोरंतरेऽतरं वा गुणिते समानत्वाल्लाघवाच्चो-तरगुणितो लघु राशिरिति सिद्धस्यांतरगुणितो बृहद्राशिर्योज्येत्यपि लाघवाल्लघु बृहद्राश्यो र्योगएव तदंतरगुणितेति तदिति दिक्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—छाया के वर्ग में १२ का वर्ग जोड़ने से छाया कर्ण का वर्ग होता है। तथा १२ और छायाकर्ण का वर्गान्तर मूल अथवा छायाकर्ण और १२ के योग अन्तर का गुणन फल भी छाया होती है।

यहाँ पर त्रैराशिकानुपात किया गया है, १२ अंगुल शंकु (छोटे शङ्कु) के शिर से छाया के अग्र तक एक सूत्र बांधने से छाया कर्ण होगा, इस स्थिति में एक समकोण त्रिभुज बनता है। शंकु की विपरीत दिशा में आकाशीय ग्रह बिम्ब के प्रकाश से शंकु की छाया उत्पन्न होती है। छायाग्र विन्दु से शंकु शिर तक का सूत्र छाया कर्ण है। यदि शंकु=१२ अंगुल और छाया ९ अंगुल तो ऐसी स्थिति में छायाकर्ण= $\sqrt{(१२)^2+(९)^2}=\sqrt{१४४+८१}=\sqrt{२२५}=१५$ एवम् $\sqrt{(१५)^2-(१२)^2}=\sqrt{२२५-१४४}=\sqrt{८१}=९$ अथवा $\sqrt{(१५+१२)(१५-१२)}=९$ (वर्गान्तर= योगान्तर घात के इस सिद्धान्त से) उपपन्न होता है।

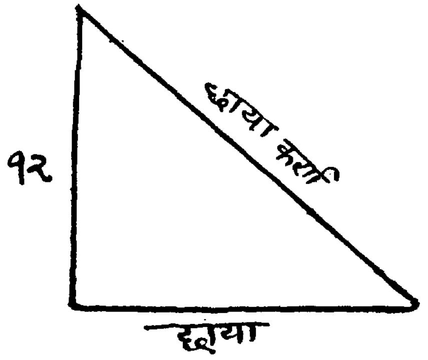

इदानीं संज्ञाविशेषानाह—

शङ्कुर्नरो ना कथितः स एव
खार्द्धाद्रवेर्या विषुवद्दिनार्द्धे ।
नतिः पलोऽक्षश्च स एव तज्ज्ञै-
स्तत्रोन्नतिर्यास्य स एव लम्बः ॥१२॥

वा० भा०ः—स्पष्टम् ।

मरीचिः—ननु नरादिषूक्तस्यार्थः शंकुरतस्तत् कथं युज्येत् । नरशब्दस्य-मनुष्य वाचकत्वात् । किंच्च दिक्साधनं लंबज्यां विना संभवत्यतस्तदुत्तरसंबंधेन देशीयमुख्यपदार्थज्ञानं चोपजातिकयाह—शंकुरिति-शंकुर्नरो ना कथितः युक्तः । तथा च प्रागुक्तं नरादिति युक्तमेवेतिभावः । मनुष्यवाचकाः यावंत शब्दास्ते शंकुवाचका इति द्योतयितुमाह-नेति, सः शंकुर्ना एवकारोप्यर्थोऽप्युक्त लंबज्यार्थं लंबज्ञानं विवक्षुस्तत्प्रसंगेनांक्षांशज्ञानं तावदाह—खार्द्धादिति । विषुवद्दिनार्द्धे पूर्वोक्त एव खार्द्धात् खमध्यादभीष्टदेशीया या यदंशमिता नतिः—नम्रता यंत्रादि-ज्ञाता तन्मानं पलम् । ननु पलांशज्ञानेनाक्षांशज्ञानं कथमत आह—अक्ष इति सः पलरेवकारोन्ययोगव्यवच्छेदार्थः-अक्षश्चकारः समुच्चयार्थः । तेन पलाक्षशब्दौ पर्यायाविति भावः । लंबमाह-तज्ज्ञैरिति-तत्पदार्थज्ञैः तत्र विषुववद्दिनार्धेऽस्य रवेः या गोलयंत्रादिज्ञाता यदंशमिता उन्नतिः उच्चता सा तन्मित एवकारोऽन्य योगव्यवच्छेदार्थः लंब उक्तस्तथा च तज्ज्यालंबज्येति दिक्ज्ञानं नासंभवमितिभावः ।

अत्रोपपत्तिः—निरक्षदेशे ध्रुवौ भूगर्भक्षितिजासक्ताविति तदुन्नतित्वा-भावादक्षांशाभावः । अतएव तद्भूपृष्ठेऽपि ध्रुवादर्शनात् । ततो दक्षिणतोत्तरतो वाऽ-भीष्टदेशे भूभूर्भक्षितिजादुन्नतत्वम् । तदितरध्रुवयोः क्रमेणाधस्थत्व मतोऽक्षांशाः उपपन्नाः । तत्र स्व खाधस्य निरक्षरवाधोभिन्नत्वाधस्तदंतरेण भूगर्भक्षितिजाद् ध्रुवोन्नतिस्तदंतरेणैव स्वखार्द्धात्स्वनिरक्ष खार्द्धं नतं भवति । निरक्षखार्द्धे तु विषुवन्मडलयाम्योत्तरवृत्तसंपातः । आकाशे केवलं तद्ज्ञानाभावाद्विषुवद्दिनार्धे सूर्यस्य तत्स्थत्व नियमात्तत्र ते नतांशास्तेऽक्षांशाः-अन्यग्रहाणां शरवशात्तत्स्थत्वा-नियमादेव रवेरित्युक्तम् ।

तत्र ये भूगर्भक्षितिजोन्नतांशाः लंबः तद्रूपत्वात् । स तु नतांशोननवतिरूप-इत्युक्तम् । तत्रोन्नतिर्यस्य स एव लंब इति । उन्नतध्रुवस्य खाधोत्तदंशैर्लवित-त्वात् । भूपृष्ठक्षितिजस्य दर्शनानुरोधेन कल्पित तदा तदुन्नतालंबभेदो भूपृष्ठेन युक्तः । अन्यथा ध्रुवोन्नत्या भूपृष्ठेऽक्षांशभेदापत्तेः । नतांशानामुभयत्र तुल्यत्वे-नोक्तरीत्याक्षांशभेदाच्च । तस्माद्गोलमध्यस्थ क्षितिजभेदेनैव लंबाक्षांशयोर्भेदेत्य-भ्युपगमः पूर्वाचार्याणाम् । यद्यपि मेषतुलादिस्थतादृश संक्रमकाले विषुवद्वृत्त-संबंधात्तदुत्तरप्राक्काले तत्संबंधाभावाच्च । विषुवद्दिनार्धेत्ययुक्तमपेक्षितंचादृश-

संक्रमकालीन मध्याह्ने तन्नतिरिति तथापि दिनार्धे विषुवदन्वयादुक्ताभिमतार्थ सिद्धेः स्फुटत्वात् ।

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—शंकु शब्द, ज्यौतिश्शास्त्र का अत्यन्त प्रसिद्ध प्राचीन और व्यापक है । नर, अथवा ना ये दो शब्द भी शङ्कु शब्द के पर्यायवाची कहे गये हैं । फलित और गणित एवं संहिता इन तीनों ज्यौतिष स्कन्धों में शङ्कु शब्द या नर शब्द या ना शब्द का प्रयोग छाया जानने के लिये हुआ है । प्राचीन हस्त लिखित ज्यौतिष की पुस्तकों में है कि अपनी छाया जिस समय सबसे छोटी होती है उस समय मध्याह्न होता है । एवं इष्टकालीन शरीर की छाया जब जितने पैर के माप की देखा गया हो तद्वेशन इष्ट काल का ज्ञान करना चाहिए । नर की (पुरुष की) छाया से इष्ट काल ज्ञान किया जाने से छायाज्ञापक यन्त्रों में पुरुष सर्व प्रथम अपनी ही छाया से काल ज्ञान किया करता था धीरे धीरे विकास की ओर जाने से मानव ने इसी "नर" (पुरुष) रूप छाया नामक यन्त्र का नाम नर या शंकु या ना भी रख दिया होगा । इसी अभिप्राय से आचार्यों ने शङ्कु यन्त्र को नर या ना या शंकु कहा है । पुरुष उच्छ्रिति ३½ हाथ (एक हाथ = २४ अंगुल) = ८४ अंगुल की होती है । इसलिये ८४ अंगुल ऊंचाई के शंकु की छाया और छाया कर्ण का जो सम्बन्ध होगा वही सम्बन्ध $\frac{८४}{१}$ $\frac{८४}{२}$ $\frac{८४}{३}$ $\frac{८४}{४}$ $\frac{८४}{५}$ $\frac{८४}{६}$ $\frac{८४}{७}$ ···इन शंकुओं की छाया और छाया कर्णो का मान भी नियत होने से (तथा ८४ × १, ८४ × २······८४ × १००००) ८४ × का भी) आचार्यों ने मानव रूप शङ्कुयन्त्र की उच्छिति भी $\frac{८४}{७}$ = १२ अंगुल मान ली है । अथवा पुरुष की उच्छ्रिति का ७ वां भाग पुरुष के पैर का दैर्घ्य (लम्बाई) होता है, दैर्घ्य × विस्तृति = क्षेत्र-फल = ८४ × १२ वर्गाङ्गुल के तुल्य होने से लाघवेन ८४ × १२ = १००८ में १२ अंगुल माप को नर यन्त्र की कल्पना युक्ति युक्त सिद्ध होती है । गौरव अर्थात् गुरुता प्रदर्शन के लिये भारतीय आर्य परम्परा में श्री पूज्य १००८ लिखने की प्रणाली है, जिसे दण्डवत्प्रणाम का रूप भी दिया गया होगा और जिसका अभिप्राय उक्त युक्तियों से तो अत्यन्त स्पष्ट है कि पाद के नख से शिर तक गुरुओं का समग्र अंग विश्ववन्द्य है और हमारे लिये तो विशेष वन्द्य है ।

विषुवदिन अर्थात् स्थूलतया आधुनिक २३ दिसम्बर या २३ जनवरी को मध्याह्न समय में रवि को पलांश या अक्षांश कहते हैं और इसी समय रवि की जो उन्नति अर्थात् उन्नतांश होगा उसे ही लम्बांश भी कहते हैं ।

क्योंकि विषुवद्दिन में एक दिन की क्रान्तिगति की स्थिरता मान लेने से रवि उस दिन नाड़ी वृत्त के (EQUATOR) ही धरातल में अपनी कक्षा में होगा और मध्याह्न समय में (ORBID) याम्योत्तर वृत्त ही दृग्वृत्त होने से, याम्योत्तराहोरात्रवृत्त सम्पात विन्दु ही निरक्ष खमध्य होने से स्व खमध्य और निरक्ष खमध्य का अन्तरित याम्योत्तरवृत्तीय चाप ही अक्षांश होने से (इस समय रवि के नतांश और अक्षांस की एक रूपता है) सूर्य का

नतांश=अक्षांश कहना ठीक है। एवं अक्षांशोन नवत्यंशाः (९०—अक्षांश) = लम्बांशाः, इस परिभाषा से स्व खमध्य से ध्रुव तक याम्योत्तर वृत्त में लम्बांश है यह कहना अत्यन्त समुचित है। यदि यहां सायन मेष संक्रान्ति ठीक मध्याह्न में ही होगी तभी उक्त कथन सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्थ्य है अन्यथा कहने को स्थूल किन्तु गणित में अनिर्वाच्य अन्तर होने से अक्षांश-लम्बांश ज्ञान का उक्त सिद्धान्त सर्वथा समुचित है।

इदानीमक्षक्षेत्राण्याह —

भुजोऽक्षभा कोटिरिनाङ्गुलो ना
कर्णोऽक्षकर्णः खलु मूलमेतत्।
क्षेत्राणि यान्यक्षभवानि तेषां
विद्येव मानार्थयशः सुखानाम् ॥१३॥
लम्बज्यका कोटिरथाक्षजीवा
भुजोऽत्र कर्णस्त्रिभुजे त्रिभज्या।
कुज्या भुजः कोटिरपक्रमज्या
कर्णोऽग्रका च त्रिभुजं तथेदम् ॥१४॥
तथैव कोटिः समवृत्तशङ्कु-
रग्रा भुजस्तद्धृतिरत्र कर्णः।
भुजोऽपमज्या समना च कर्णः
कुज्योनिता तद्धृतिरत्र कोटिः ॥१५॥
अग्रादिखण्डं कथिता च कोटि-
रुद्वृत्तना दोः श्रवणोऽपमज्या।
उद्वृत्तना कोटिरथाग्रगाग्र-
खण्डं भुजस्तच्छ्रवणः क्षितिज्या ॥१६॥
खण्डं यदूर्ध्वं समवृत्तशङ्को-
र्यत् तद्धृतेस्तावथ कोटिकर्णौ।
अग्रादिखण्डं भुज एवमष्टौ
क्षेत्राण्यमून्यक्षभवानि तावत् ॥१७॥

वा० भा०:—अत्र किल निरक्षे देशे यदेव विषुवन्मण्डलं तदेव सममण्डलम्। तथा क्षितिजादन्यदुन्मण्डलं नाम वलयं नास्ति। तत्र ध्रुवौ च क्षितिजासक्तौ। अथ निरक्षदेशाद्‍द्रष्टा यथा यथोत्तरतो गच्छति तथा तथोदग्ध्रुवमुन्नतं पश्यति। तथा यैर्भागैर्ध्रुव उन्नतस्तैरेव भागैरक्षसंज्ञैः खस्वस्तिकाद्दक्षिणतो विषुवन्मण्डलं नतं

पश्यति। विषुवन्मण्डलस्य तिर्य्यक्स्थितत्वात् तदाश्रितान्यहोरात्रवृत्तानि स्वस्थाने तिरश्चीनानि भवन्ति। अतः साक्षे देशे खगोलवलयानां तिरश्चीनभगोलवलयानाञ्च सम्पातात् त्र्यस्राणि क्षेत्राण्युत्पद्यन्ते। तान्यक्षक्षेत्रसंज्ञान्युपयोगित्वात् कथ्यन्ते।

अक्षभा नाम पलभा प्रसिद्धा सा भुजः। द्वादशाङ्गुलः शङ्कुः कोटिः। अक्षकर्णस्तत्र कर्णः। इदं तेषामक्षक्षेत्राणां वक्ष्यमाणानां मूलम्। केषां किमित्याह।—"विद्येव मानार्थयशःसुखानाम्" इति। अन्यैरप्येवमुच्यते।—

विद्या नाम नरस्य कीर्त्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो
धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयञ्च सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं
तस्मादन्यमपोह्य हेतुविषयं विद्याधिकारं कुरु॥

अथान्यत् क्षेत्रम्। क्षेत्रदर्शनार्थं यथोक्तं खगोलं भगोलञ्च बद्ध्वा क्षेत्राणि दर्शयेत्। तत्र दक्षिणोत्तरमण्डले विषुवद्वृत्तसम्पातादधो यावान् लम्बः क्षितिजसमसूत्रपर्य्यन्तः सा तत्र कोटिः। लम्बनिपातकुमध्ययोरन्तरं साक्षज्या तत्र भुजः। भूमध्याल्लम्बाग्रगामि सूत्रं त्रिज्या सा तत्र कर्णः। इदमप्यक्षक्षेत्रम्।

इष्टाहोरात्रवृत्तं यत्र क्षितिजे लग्नं तस्य प्राक् स्वस्तिकस्य चान्तरमग्राचापांशाः। तेषां ज्याग्रा। तावती च प्रत्यक्क्षितिजे। अग्राग्रयोर्निबद्धं सूत्रमुदयास्तसूत्रम्। अहोरात्रवृत्तोन्मण्डलसम्पातस्य प्राच्यपरसूत्रस्य च यदन्तरं सा क्रान्तिज्या। सा तत्र कोटिः। अग्रा कर्णः। तदग्रयोरन्तरं सा कुज्या स भुजः। इदमक्षक्षेत्रम्।

तथाऽहोरात्रवृत्तसममण्डलसम्पातादधोऽवलम्बः समवृत्तशङ्कुः। सा कोटिः। अग्रा भुजः। अहोरात्रवृत्ते ज्याखण्डकं तद्धृतिः कर्णः। इदमक्षक्षेत्रम्।

तथा कुज्योनिता तद्धृतिरहोरात्रवृत्ते ज्यार्द्धं सा कोटिः। उन्मण्डले क्रांतिज्या स भुजः। समवृत्ताशङ्कुः कर्णः। इदमक्षक्षेत्रम्।

तथाऽहोरात्रोन्मण्डलयोः सम्पातादवलम्ब उन्मण्डलशङ्कुः स भुजः। उन्मण्डलवृत्ते क्रान्तिज्या कर्णः। उन्मण्डलशङ्कुमूलस्य प्राच्यपरसूत्रस्य च यदन्तरं तदग्रादिखण्डं सा तत्र कोटिः इदमक्षक्षेत्रम्।

तथोन्मण्डलशङ्कुःकोटिः। शङ्कुमूलोदयास्तसूत्रयोरन्तरमग्राग्रखण्डं स भुजः। कोटिभुजाग्रयोरन्तरसूत्रं सा कुज्या। स तत्र कर्णः। इदमक्षक्षेत्रम्।

तथोन्मण्डलशङ्कुना हीनः समशङ्कुस्तत् समशङ्कोरूर्द्धं खण्डं सा कोटिः। कुज्योना तद्धृतिस्तद्धृतेरूर्द्धखण्डं स कर्णः। अग्रादिखण्डं स भुजः। इदमक्षक्षेत्रम्।

एतान्यष्टौ तावत् कथितानि। एवमन्यान्यपि भवन्ति।

मरीचिः—अथाक्षांशज्ञानेन देश ज्ञानमुक्त्वा प्रसंगेन वक्ष्यमाणकालसाधनोपजीव्येन च देश पदार्थानयनं विवक्षुस्तावत्तत्रोपयुक्तान्यक्षक्षेत्राण्युपाजातिकाभिरिंद्रवज्राभ्यांचाह्-भुजेति।

लंबज्यका इति तथैवेति। अग्रादिखंडमिति "खंडमिति। अक्षभा भुजः। ना शंकुः द्वादशांगुलः कोटिः। तत्कृत्यो र्योगपदं कर्ण इत्यानीतस्याक्षभा भुजकर्णत्वाद्भाभुज इत्यक्षरलोपाल्लाघवाच्चाक्षकर्ण इति संज्ञः कर्णः। एतत्तु उक्तं जात्य त्र्यस्रम्। नन्वस्य विषुवद्दिनार्द्धीय छायाक्षेत्रत्वादक्षक्षेत्रत्वं कथमत-आह्-मूल मित्यादि खल्वसंशयं यानि अक्षोत्पन्नानि क्षेत्राणि तेषा मिदं मूलभूतमित्यर्थस्तथा चाक्षप्रभा संगुणितापमज्या तद्द्वादशांशो भवति क्षितिज्येति प्रागुक्ता वक्ष्यमाणा कुज्यारुपाक्षक्षेत्र पदार्थोपजीव्यत्वावगमात्तत्कालीनछायाक्षेत्रत्वं सूपपन्नमन्यथा कुज्यासाधनानुपपत्तेरितिभावः। मूलमित्यत्र दृष्टांतमाह्-विद्येति मानार्थयशः सुखानाम्। विद्याशास्त्रज्ञानं कुर्वीति दृष्टांतद्योतकम्।

विद्यानाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो
धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयंच सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नै र्विना भूषणं।
तस्मादन्य मपोह्य हेतुविषयं विद्याधिकारं कुर्वित्युक्तेश्च ॥

एषां मूलं तेषां मध्ये क्षेत्रद्वयमाह-लंबज्यकेति। अथानंतरं लंबाशानां पूर्वं ज्ञातानां ज्या लंबज्या कोटिः अक्षांशानांज्या अक्षज्या भुजः अत्राक्षक्षेत्रेति भुजे संस्थानविशेषेण लंबकमिवागम्यमानं त्रिभुजं जात्यत्र्यस्रं तत्रेत्यर्थः। त्रिज्याकर्णः। द्वितीयमाह्—कुज्येति कुज्याभुजः अपक्रमज्या क्रांतिज्या कोटिः अग्रका वक्ष्यमाणा कर्णः। इदमुक्तं त्रिभुजं जात्यत्र्यस्रम्। तथा। अक्षक्षेत्रमित्यर्थः। एतत्क्षेत्रोक्त पदार्थानां त्रयाणामप्यन्यक्षेत्रेषु यथायोग्यं भुजत्वान्त्रिभुजमित्युक्तं वा अन्यदाह्—तथैवेति-यथा पूर्वमुक्तमक्षक्षेत्रं तथेदमप्यक्षक्षेत्रं नान्यदित्यर्थः। तदाह्-कोटिरिति समवृत्तशंकु र्वक्ष्यमाणः कोटिः। अग्राभुजः। अत्र जात्यत्र्यस्रे तद्धृति र्वक्ष्यमाणा कर्णः। अन्यदाहक्रांतिज्या भुजः। समवृत्तशंकु कर्णः। अत्र क्षेत्रे तद्धृतिकुज्याहीना या भवति सा कोटिः। अन्यदाह्-अग्रादिखण्डजमिति वक्ष्यमाणमग्रादिखण्ड कोटिरुक्ता। उद्वृत्तना वक्ष्यमाणभुजः, क्रांतिज्या कर्णः। अन्यदाह्-उद्वृत्तनेति-उन्मंडल शंकुः कोटिः अग्राग्रखंडं वक्ष्यमाणं भुजः। कुज्या तस्य कर्णः। अन्यदाह्-खण्डजमिति समवृत्तशंकोर्यत् वक्ष्यमाण 'उन्मण्डलमूर्द्धखंडं तद्धृतेर्यत् वक्ष्यमाणमूर्ध्वं खण्डजं तौ तन्मितांके क्रमेणास्मिन् क्षेत्रे कोटिकर्णौ स्तः अग्रादि खण्डजं भुजः। उपसंहरति एवमिति एवमुक्तक्षेत्रगणनयामूनि उक्तानि क्षेत्राणि जात्यत्र्यस्राणि अक्षभवानि अक्षक्षेत्राणि अष्टौ तावत् देशपदार्थज्ञानाय प्रथममुक्तानि। अन्यान्यक्षक्षेत्राणि नोक्तानि तेषामेवमष्टावेव भवंति।

अत्रोपपत्तिः—अक्षवशादुत्पन्नानि क्षेत्राण्यक्षक्षेत्राणि। तानि उन्नताक्ष देशादुत्पद्यंते। यतो निरक्षे यदेव विषुवन्मंडलं तदेव समवृत्तम्। तथोद्वृत्तमेव क्षितिजं ध्रुवावपितत्रानुच्चावेकक्षितिजसंलग्नतया तद्भावस्ततोत्पन्नं तुनिरक्षादुत्तरोत्तरं यत्र द्रष्टाभवति भूपृष्ठे तत्र भुवो वृत्तत्वेनापचितप्रदेशतया द्रष्टुर्मूर्द्धप्रदेशानुसारं नतो भवत्यतो ध्रुवोन्नति विषुवन्मंडलं खमध्यान्नतं भवति। समवृत्तं च विषुवद्वृत्तादन्यदेव। यैर्भागैस्तत्र देशे ध्रुव उन्नतः स्वभूगर्भक्षितिजान्तैरक्षांशै निरक्ष खमध्यादुत्तरतो दक्षिणतो वा याम्योत्तरवृत्ते स्व स्व मध्यैव तिष्ठते। तथा क्षितिजं चोन्मडलादन्यथोक्तं संपद्यते। अतोऽभीष्ट देशे खमध्याद्विषुवन्मंडलं यथा नमति तदनुकाराण्येव ततः समंततः क्रात्यंतरेण ग्रहे द्युरात्रवृत्तानि प्रकल्पयति। अतस्तान्यपि विषुवद्वृत्तावत्तिरश्चीनानि भवंति। तस्मादेतत्तिरश्चीनवृत्त तदन्य समोप्यवधिस्थितवृत्तनिबद्धसूत्राणां संपातानि ज
क्षेत्राण्युत्पद्यंते। एषां च साक्षदेशैकविषयतया वशादुत्पन्न
णीति वदंति। एवं सुधियः सर्वशुद्धप्रोक्त
शंकुप्रसंसक्तोऽयं सूत्रमक्षकर्णः इत्यदोऽत्र सर्वेषां मूल
सत्वात्। इदमेव च विषुवद्दिनार्धे स्वीयाक्षक्षेत्रत्वेन प्रत्यक्षम्। ...
याम्योत्तरनाडिकावृत्तसंपाताद्भूगर्भसमसूत्रावधि लंबसूत्रं लंबज्याकोटिः। भूगर्भयाम्योत्तरसूत्रे कोटिमूलभूगर्भांतरसूत्रमक्षज्या भुजः। भूगर्भाद्याभ्योत्तर संपातावधि सूत्रं त्रिज्याकर्णः। इदमपि तत्र बृहत् छायाक्षेत्रत्वेन प्रत्यक्षम्। तृतीयमपि स्पष्टाधिकारं कुःयासमइत्यवसरेदर्शितम्। चतुर्थ-अहोरात्रवृत्त समवृत्तसंपातादधोऽवलंबः प्राच्यपरसूत्रपर्यंतं समशंकुः कोटिः। समवृत्तस्थद्युरात्रवृत्तप्रदेशात्तद्युरात्रोदयास्तसूत्रावधितिर्यक्सूत्रं तद्धृतिः। कोटि कर्णांतरे भूगर्भभूमावग्रातुल्यं भुजः। तस्य समशंकोः हृतिरिति तद्धृति रित्यनेनाभीष्टद्युरात्रवत्तप्रदेशादवलंबः शंकुः कोटिः इष्टहृतिः कर्णः-कोटिर्णांतरं शंकु तलं भुज इत्यक्षक्षेत्रमपि सूचितं समरात्रवृत्तसंपातात्तद्युरात्रोद्वृत्तसंपातावधि तद्युरात्रवृत्तखंडं तज्ज्या कोटिः, सा तु कुज्योनातद्धृतिरेव द्युरात्र क्षितिज संपातयोर्बद्ध सूत्रस्योदयास्त सूत्रत्वात्, द्युरात्रोद्वृत्तसंपातयोर्बद्धसूत्रस्य द्युरात्रवृत्तव्यासाधत्वाच्चतद्धृतिपरिभाषित कोटिमूलयोस्तद्रूपयोरंतरे कुज्यामितत्वात्। समशंकुः कर्णः, तन्मूलांतरं क्रांतिज्या तुल्यं भुज, इति पंचमं उद्वृत्तद्युरात्रवृत्तसंपातादवलंबः क्षितिजसमसूत्रपर्यंतं उद्वृत्त शंकुर्भुजः। उन्मंडले क्रांतिज्या तुल्यं सूत्रं कर्णः। कर्णभुजमूलयोरंतर सूत्रमग्रादिखंडं कोटिरिति षष्ठम्। उन्मंडलशंकुः कोटिः कुज्यातुल्योन्मडलहृतिः कर्णः तन्मूलांतरमग्रकाग्रखंडं भुज, इति सप्तमम्। एतज्जात्याभ्यां क्रांति कुज्ये बाहू। अग्रातुल्याभूमिः। उन्मडलं शंकुरवलंब इति शृंगाटकाकारं त्रिभुजमस्मिन् क्षेत्रे

बृहद्भूमिखंडजमग्रादिखंडम्। लघुभूखंडमग्राग्रखंण्डम्। तद्‌योगे संपूर्णाग्रेति युक्तम्। एवमेव तदीय पंचमजात्याभ्यां त्रिभुजम्। उन्मडल शंकग्रसमसूत्रेण यत्समवृत्तशंकोरूर्ध्वखंडं कोटिः सा तून्मंडलशंकून समशंकुयोग्यं ज्ञेयानीति शंकुमिताकुज्योनातल्द्‌वृतिः कर्णः। तन्मूलांतरमग्रादिखंडमितं भुजइत्यष्टमम्। एवमन्यान्यपि संति तान्युपपत्यवसरे यथा योग्यं ज्ञेयानीति विस्तरभयान्नोक्तानीति ध्येयम्।

ननु तृतीय क्षेत्रे कोटिकर्णसंपातेऽपि भुजरुपकुज्यायाधर्ज्यारुपायाः अग्राग्रसंबंधाभावात्कथमिदं क्षेत्रम्। कोटि कर्णाग्रबद्धसूत्रस्य संपूर्णज्याकारत्वेन कोटिकर्णयोरधर्ज्याकारत्वाच्चभुजत्वं न युक्तं वैजात्यात्। अन्यथा तादृश ...टिकर्णमयं सिद्धसंपूर्णज्याकारभुजस तिर्यक् सूत्रात्मकेन न तदधर्ज्या कोट्याः ...कुज्योनतद्धृतिः कथं स्यात्। तत्राधर्ज्यारूपकुज्यायाः प्रयोजकत्वा- ...त्रद्युरात्रवृत्तज्यासूत्रयोः समसूत्रांतरे कोटिरूप- ...त्र समसूत्रेणाग्रातल्यत्वात्प्राच्यपर ... ...द्धज्याभ्यो गणितकरणं युक्तमित्याचार्यैः यथावृत्त मुक्तम्। वस्तुतो मुख्यगोलसूत्राणामदर्शनात्ततत्कारणेन भागानुमितानिवृत्तानि प्रकल्पितानि तेषां च परस्परसंपातास्तानि तत्र प्रत्यक्षाणि वृत्तस्थानेभ्यो गणितेति स्थूलत्वसर्वरीत्या—जीवाभ्यस्तत्करणं युक्तमिति तथोक्तं सम्यक्। अत्र प्रथमद्वितीययोः क्षेत्रयोः सर्वदा विद्यमानत्वं तदितराणां षण्णां विषुवत्क्षणेऽभावइति स्वतः सिद्धमेवेति ज्ञेयम्। यत्तु निरक्षोत्तरदेशे खंडं यदूर्ध्वं समवृत्तशंकोर्यत् तद्‌धृतंस्थावथकोटिकर्णावित्युत्तरगोलक्षेत्राणामेव पुरस्कारादुक्तं मन्यथा। दक्षिणगोले योगस्यैवोचितत्वेनाचार्यो, इत्युभय मप्यभिदध्यात्। अतो याम्यगोले स्वक्षितिजादधः स्थितत्वेन तेषामदर्शनादेतदेवाभिमतम्। एवंकुज्योनितातद्‌धृत्तिरत्र कोटि रित्यत्रापि। एवं निरक्षाद्दक्षिण गोलाभिप्रायेणैवेति ध्येयमित्याहुस्तन्न। निरक्षोत्तर दक्षिणयोरपि क्रमेण दक्षिणोत्तरगोलयोः क्षितिजादूर्ध्वं पूर्वापरावस्थानाभावेनोर्ध्वं समशंकोरभावात्। तत्राधः समशंकुदर्शनेन क्षितिजादधोमुखं क्षेत्रं कुज्योना तद्‌धृतिः कोटिः। क्षितिजादुद्वृत्तस्याधः स्थत्वात्। क्षितिजादधो मुखः समशंकुः कर्णः। उद्‌वृत्ते क्रांतिज्या भुजेति पंचमम्। उद्‌वृत्त शंकूनः समशंकुः कोटिः कुज्योनतद्धृतिः कर्णः कुज्योन्मंडलनरयोरपि क्षितिजादधोमुखत्वात्। अग्रादिखंडं भुज इत्यष्टमम्। यथोक्तमेव भवतीति गोले विपरीतस्या दर्शनाच्च। न च समवृत्तोत्तरयाम्यगेऽपि सूर्ये-इत्युक्तत्वाद्दक्षिण गोलेऽपि ग्रहस्थानसमसूत्रेण यदंत्तरगोलस्थ समवृत्तस्थानं तस्माद्योऽवलंबः समशंकु-

रित्यूर्ध्वसमशंकोः सत्वात् क्षितिजादुन्मंडलस्याधस्तत्वात्कुज्या युतातद्धृतिः कोटिरिति पंचमं क्षेत्रम्। कुज्योद्वृत्तशंकुभ्यां समशंकुतद्धृतियुतो कोटि कर्णौ वित्यष्टमं क्षेत्रं चोपपन्नमिति वाच्यम्। कोटिभुजकर्णसंपातादर्शनात्क्षेत्रानुपपत्तेः। किंचएकस्मिन् दिने समशंकोर्यदतंरेणानेकत्वं स्यात्तन्न गणितेन विरुद्धम्। अपिच्च अक्षज्या भुजे लंबज्या कोटि स्तदाग्रादिखंडभुजे को कोटि रित्यनुपातानीतसम शंकूर्ध्वखंडतुल्यं कुज्यायुतं तद्वृत्ताग्रादि खंडवर्गांतरमूलरूपसमशंकूर्ध्वखंडं न स्यादित्यादीतिदिक्।

दीपिका—भुजोऽक्षभा कोटिरिनाङ्गुलो ना कर्णोऽक्षकर्णः खलुमूलमेतदिति यदुक्तं तदसंगतम्। यतः खार्धाद्रिवेरित्यनेनाक्षांशलम्बांशयोः स्वरूपमुक्तं तेनाक्षवशेनैवाक्षक्षेत्राणामुत्पत्तिर्जाता। यथाऽक्षज्या भुजो लम्बज्या कोटिस्त्रिज्या कर्णः। पुनर्यदि लम्बज्या द्वादशांशेन भुजकोटिकर्णा अपवर्त्तन्ते तदा द्वादश कोटि विषुवती भुजः पलकर्णः कर्ण इत्येवं सहस्राण्यक्षक्षेत्राण्युत्पद्यंऽतएवेदमक्षक्षेत्रमूलभूत मिति सुधीभिर्विचिन्त्यम्। तत्र तावत्मुख्यत्वेनाष्टावक्ष क्षेत्राणि गृहीतानि-एतेषां साजात्यकरणे साम्येन नावसेयम्। तत्र लम्बज्या कोटिःत्रिज्या कर्णोऽक्षज्या भुजस्तथैतस्यान्तरवर्ति द्वादश कोटि विषुवती भुजः पलकर्णः कर्ण रनयोर्भूलग्न कोण लम्बांश समस्तूभयनिष्ठस्तथैकसमकोणः शेषकोणोऽक्षांश सम एवेत्यनेन सिद्धमिदं खलु, अक्षक्षेत्रस्यैकः कोणः समकोणस्तत्रैको लम्बांश समोऽपरोऽक्षांशस्तेन येषां त्रिभुजानामेवं भूतं कोणत्रयं स्यात्तानि सर्वाण्यक्षक्षेत्राणीति।

शिखा—पूर्व में अक्षांश, लम्बांश और त्रिज्या इस क्षेत्र की चर्चा की जा चुकी है। अपने खमध्य से ध्रुव विन्दु तक लम्बांश चाप, अपने खमध्य और निरक्ष खमध्य का अन्तर चाप अक्षांश (याम्योत्तर वृत्त में) है। भूगर्भ से निरक्ष खमध्य तक त्रिज्या कर्ण है। निरक्ष खमध्य से क्षितिजसम सूत्र तक लम्बज्या कोटि और लम्ब ज्यामूल से भूगर्भ तक अक्षज्या भुज यह एक अक्ष क्षेत्र है।

इस क्षेत्र में प्रत्येक क्षेत्र की सजातीयता के लिये कोटि और कर्ण के सम्पात विन्दु पर, १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ अंक दिये गये हैं जिनका सम्बन्ध अधः १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ संख्यक क्षेत्रों से है।

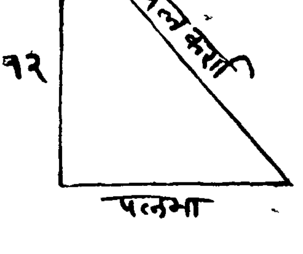

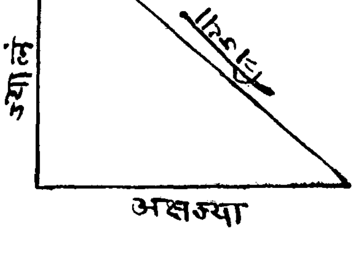

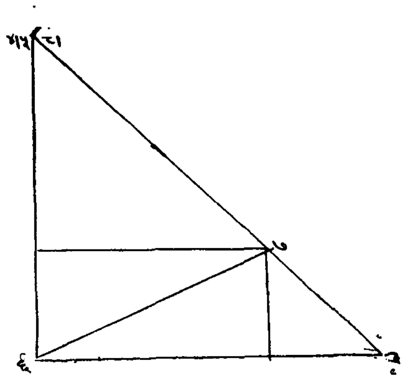

भुज	कोटि	कर्ण
पलभा	१२ अंगुल शंकु	पल कर्ण (१)
अक्षज्या	लम्बज्या	त्रिज्या (२)
कुज्या	क्रान्तिज्या	अग्रा (३)
अग्रा	समवृत्त शंकु	तद्धृति (४)
क्रान्तिज्या	कुज्योनितातद्धृति	समवृत्तशंकु (५)
उनमण्डल शंकु	अग्रादि खण्ड	क्रान्तिज्या (६)
अग्राग्रखण्ड	उनमण्डल शंकु	कुज्या (७)
अग्रादि खण्ड	समशङ्कुकाऊर्ध्व खण्ड	कुज्योनातद्धृति (८)

ये प्रसिद्ध ८ अक्ष क्षेत्र हैं जिनमें प्रत्येक का एक कोण ९०° के तुल्य है तथा प्रत्येक का दूसरा कोण अक्षांश एवं प्रत्येक का तीसरा कोण लम्बांश के तुल्य होने से ये सब सजातीय हैं। एवं इस प्रकार के जिन सजातीय समकोण त्रिभुजों की स्थिति गोल में जहां भी बनेगी वे सब भी अक्षक्षेत्र ही कहे जावेंगे और प्रत्येक अक्षक्षेत्रीय त्रिभुज का दूसरे अक्ष क्षेत्रीय त्रिभुज के साथ कोण साम्य से त्रैराशिक अनुपात से प्रत्येक की भुज कोटि कर्णों का स्पष्ट ज्ञान किया जा सकता है।

(१) विषुवद्दिन के मध्याह्न में १२ अंगुल शंकु की छाया का नाम पलभा है। इस छाया क्षेत्र में १२ अंगुल शंकु कोटि, पलभा भुज, तथा छायाकर्ण कर्ण है। भास्कराचार्य अनन्त अनेक अक्षक्षेत्रों में इस क्षेत्र को ही सब का मूल मानते हैं।

एक सिद्धान्त है कि गोल पृष्ठ में जिन जिन वृत्तों का सम्पात होता है उनमें किन्हीं दो महद्वृत्तों के सम्पात से उत्पन्न कोण, उन दोनों वृत्तों की स्पर्श रेखाओं के योग से उत्पन्न कोण, और उन दोनों वृत्तों के धरातलों में योग करने वाली दो रेखाओं से उत्पन्न कोण परस्पर तुल्य होते हैं।

इसलिये यहाँ पर स्वदेशीय क्षितिज और उनमण्डल (निरक्ष देशीय क्षितिज) इन दो वृत्तों से उत्पन्न कोण अक्षांश के तुल्य होगा तथा उनमण्डल और पूर्वापर वृत्तों से उत्पन्न कोण, ९०—अक्षांश=लम्बांश होगा तथा उनमण्डल और विषुवद्वृत्त से या क्षितिज और पूर्वापर वृत्त से उत्पन्न कोण ९०° के तुल्य तो है ही—इस लिये उक्त वृत्तों के सम्बन्ध से इन्हीं वृत्तों की धरातलीय रेखाओं के योग से उत्पन्न जितने भी समकोण त्रिभुज हो सकते हैं, उनमें प्रत्येक कोण, अक्षांश लम्बांश एवं ९०° के तुल्य होंगे वे सब सजातीय (अनुपातीय) होंगे। प्राचीन "वराहादि" आचार्यों की परम्परा में भी आठ अक्ष क्षेत्र मुख्य माने गये हैं।

द्वितीय अक्ष क्षेत्र—याम्योत्तर विषुवद्वृत्त सम्पात से (नीचे) समसूत्र तक लम्ब गिरने से यह लम्ब ज्या कोटि लम्ब मूल से भूगर्भ तक अक्षज्या भुज, भूगर्भ से याम्योत्तर विषुवद्वृत्त सम्पात तक त्रिज्या कर्ण यह भी एक प्रसिद्ध अक्ष क्षेत्र है।

तृतीय अक्ष क्षेत्र—इष्ट अहोरात्र वृत्त का क्षितिज के साथ जहां सम्पात है वहां से पूर्व

स्वस्तिक तक अग्रा चापांश है इसकी ज्या अग्रा कर्ण, उनमण्डलाहोरात्रवृत्त सम्पात से पूर्व स्वस्तिक तक उनमण्डल में क्रान्त्यंश हैं इसकी ज्या क्रान्ति ज्या कोटि है अग्रा और क्रान्ति ज्या मूलों का लम्ब रूप अन्तर कुज्या भुज है—यह तीरा अक्ष क्षेत्र है।

चतुर्थ अक्ष क्षेत्र—अहोरात्रवृत्त पूर्वापरवृत्त सम्पात से पूर्वापर सूत्र तक यह समशंकु कोटि है, उक्त अग्रा भुज एवं अहोरात्रपूर्वापर के उक्त सम्पात से क्षितिजधरातल तक तद्धृति संज्ञक (अग्रा मूल संसक्त) कर्ण है, यह चतुर्थ प्रसिद्ध अक्ष क्षेत्र है।

पञ्चम अक्षक्षेत्र—तद्धृति-कुज्या (अहोरात्रवृत्त धरातल में) कोटि है। क्रान्ति ज्या (उनमण्डल में) भुज तथा समवृत्त शंकु (क्षितिजधरातल) यह कर्ण है। यह प्रसिद्ध पञ्चम अक्षक्षेत्र है।

षष्ठ अक्षक्षेत्र—अहोरात्र उनमण्डल सम्पात से क्षितिज धरातलगत शंकु का नाम उनमण्डल शंकु है यह भुज है। उनमण्डल में क्रान्तिज्या कर्ण है। उनमण्डल शंकु मूल से पूर्वापर सूत्र तक यह अग्रा का आदि खण्ड (अग्रादि खण्ड) यह भी प्रसिद्ध छठा अक्षक्षेत्र है।

सप्तम अक्षक्षेत्र—उनमण्डल शंकु कोटि है। शंकुमूल और उदयास्त सूत्र का अन्तर (अग्रा में) अग्राग्र खण्ड भुज है। कोटि और भुजाग्र का अन्तर कुज्या यह कर्ण है। यह सातवां अक्षक्षेत्र है।

अष्टम अक्ष क्षेत्र—उनमण्डल शंकु से न्यून किया हुआ. समशंकु का ऊर्ध्व खण्ड कोटि है। कुज्या से न्यून की गई तद्धिति का ऊर्ध्व खण्ड यह कर्ण एवं अग्रादि खण्ड यह प्रसिद्ध आठवां अक्षक्षेत्र है।

इस प्रकार ये आठ मुख्य अक्षक्षेत्र हैं। गणित सिद्धान्त ज्यौतिष में ये अक्षक्षेत्र बड़े महत्व के हैं। सम्बन्ध वशात् अनेक प्रकार के हैं। अक्षक्षेत्र के मर्म को जान लेने से खगोल ज्ञान में त्रुटि नहीं होती। जिस प्रकार विद्वान् की प्रतिक्षण प्रतिदेश में सर्वत्र पूजा होती है, विद्याधन के सञ्चय होने पर उसे महान् से महान् क्षति से क्लेश नहीं होता क्योंकि किसी भी प्रकार की क्षति को विद्यापूर्ण कर लेती है इसी प्रकार गणित गोल के ज्ञान के मूलभूत इन अक्षक्षेत्रीय सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान करना चाहिए तभी ज्यौतिषी प्रौढ़ता को प्राप्त कर सकता है। इसी आभिप्राय को आचार्य उक्त ("विद्या नाम नरस्य कीर्त्तिर तुला···कुरु") पद्य से व्यक्त कर रहा है। संस्कृत वाङमय में भास्कराचार्य जैसे उद्भट्ट पण्डित की तुलना का ब्रह्मर्षि कदाचित् ही आज तक कोई हुआ होगा। वेद वेदांग के मर्मज्ञ इस आचार्य की अलौकिक प्रतिभा का यही एक प्रबल उदाहरण है कि इनके इस गणित गोल के निरतिशय पाण्डित्य की तूती केवल भारत में ही नहीं अपितु दिगदिगन्त में इस समय विशेष विख्यात है—इस लिये आचार्य अपने पाठकों से अनुरोध कर रहा है कि—

"विद्या" नाम की एक सर्वोत्कृष्ट निधि है। यह अप्रतिम कीर्त्ति की प्रतिमा है। भाग्य की क्षीणता पर यह एक उत्तम आश्रय है। विरह पर इसी काम दुधा धेनु पर

रति होती है। नेत्र ज्योति की क्षीणता के समय यह तृतीय नेत्र होकर सदा सत्कार का पात्र बनाती है। व्यवहार चलाती है। अनादर की हिंसिका है अपने पात्र के सामने अन्य बहुमूल्य और अमूल्य रत्नभूषित व्यक्तियों के रत्नों का तेज क्षीण कर देती है। विद्या रत्न जिसके पास है वह बिना रत्न के होते हुये भी विद्यारत्न से सर्वोपरि विभूषित होता है। जिस कुल में विद्या रत्न है वह उस कुल को विश्व वन्द्य कर देती है इसलिये व्यर्थ के अन्य भौतिक आडम्बरों की उपेक्षा करते हुये यत्र तत्र सर्वत्र सम्मान के लिये विद्या प्राप्त करने का अधिकार स्वीकार करो। सरस्वती से अवतरित वरद सारस्वत भास्कर के त्रिप्रश्नधिकार के अक्षक्षेत्राधिकार में विद्याधिकार प्राप्ति की यह कैसी सुन्दर उक्ति है विद्यार्थी इसका मनन करें। यह पद्य भास्कराचार्य का नहीं है बाल्यजीवन में माता-पिता ने ब्रह्मवर्चस "भास्कर" को "नीतिपद्यामृत" कण्ठ करा दिया होगा। इसीलिये यहाँ स्वयं आचार्य ने ("अन्यै रेवमुच्यते–") औरों ने ऐसा कहा है यह भी कह दिया है।

इदानीमेषां साधनान्याह—

एषामथैकस्य तु बाहुकोटी-
कर्णैर्मिथोऽन्यान्यनुपाततः स्युः।

वा० भा०:—एषां क्षेत्राणामेकस्य दोः कोटिकर्णैः परस्परमन्यानि भवन्ति।

मरीचिः—अथ क्षेत्रोक्तदेशाय पदार्थसाधनरीतिं प्रदर्शयन्नक्षांशलंबांशज्यासाधनमिद्रवज्रयाह—एषामिति। अथानंतरं एषामुक्ताक्षक्षेत्राणाम्मध्ये एकस्यान्यतमाक्षक्षेत्रस्यभुज,—कोटिकर्णैः ज्ञातमानैः मिथः परस्परमन्यान्यक्षक्षेत्राणि ज्ञातभुजकोटि कर्णमानान्यष्टान्यतमानि-अनुपाततः प्रमाणमिच्छा च समानजातीत्युक्त त्रैराशिकाद्भवंति। एकक्षेत्रस्य भुजकोटिकर्णानां ज्ञानेन यत्रातत्क्षेत्रस्य भुजकोटिकर्णान्यतमज्ञानेऽनुपातात्तदितरयो ज्ञानं स्यादितितात्पर्यार्थः। अनुपातस्तु अस्मिन्कर्णे कोटौ भुजे वा क्रमेणैते भुजकोटी, भुजकर्णौ, कोटिकर्णौ, वा तदाभीष्ट क्षेत्र कर्णे कोटौ भुजे वा के-इति उक्तार्थमेव लंबाक्षज्यानयनकथनव्याजेन स्पष्टयति त्रिज्ये-इति। त्रिज्ये पृथक् साध्यभिन्नसर्वक्षेत्रकोटिभुजाभ्यां गुणिते ननूत्तरोत्तर क्रमेण साध्यक्षेत्रभिन्नकर्णेन भक्ते। फले कोटिभुजगुणे क्रमेण ते पूर्वाज्ञाते लंबांशज्याक्षांशज्ये स्त इत्यर्थः। अथ सर्वत्र यत्क्षेत्रीय गुणः तत्क्षेत्रीय हरः। अन्यथातिप्रसंगापत्तेरिति ध्येयम्।

अत्रोपपत्तिः—यत्क्षेत्रेषु साजात्यं तत्क्षेत्रेषु परस्परानुपातेन स्व क्षेत्रपदार्थसाधनं युक्तमेव। अत्र साजात्यमभेदत्वम्। तत्प्रकृत क्षेत्रेस्वक्षक्षोन्नतित्वरूपम्। तेन क्रांत्यक्षक्षेत्रयोर्भिन्नकारणयोः क्षेत्रत्वजात्यवच्छिन्नयोरपि परस्परार्थसाधनानुपातयोग्यत्वनिश्चयो व्यक्त एवेतिनातिप्रसंगसंगकाद्यपि। अत्राप्यभावात्मकपदार्थाद्भावात्मकपदार्थानयनानुपातो विसदृशत्वादत्रयुक्तेति ध्येयम्। अक्षक्षेत्रकर्णे स्वाक्षक्षेत्रकोटि भुजौ तदा त्रिज्याकर्णे कावित्यनुपाते वाक्षक्षेत्रे द्वितीये त्रिज्याकर्ण-

त्वात्तत्कोटिभुजरूपे लंब पलज्ये स्तः। अत्र विषुवत्क्षणेऽभावात्मकक्षेत्रानुपातेनैतद्सिद्धिरिति पूर्वोक्तान्न व्यभिचारइत्यर्थ—सिद्धम्।

इदानीं तथाह—

त्रिज्ये पृथक् कोटिभुजाहते ते
कर्णोद्धृते लम्बपलज्यके स्तः ॥ १८ ॥
तत्कार्मुके लम्बपलौ च तज्ज्ये
दोःकोटिजीवावदतो मिथो वा ।
अक्षज्यका कोटिगुणा भुजाप्ता
लम्बज्यका वाक्षगुणोऽन्यथातः ॥ १९ ॥

वा० भा०:—तत्र त्रिज्या सप्तसु स्थानेषु सप्तभिः कोटिभिर्गुण्या। स्वकीयेन स्वकीयेन कर्णेन पृथक् पृथग्भाज्या। एवं सप्तधा लम्बज्या भवति। अथ सप्तधा त्रिज्या भुजैर्गुण्या स्वस्वकर्णेन भाज्या। सप्तधा अक्षज्या भवति। लम्बज्याक्षज्ययोर्धनुषी कार्ये। तौ लम्बाक्षौ स्तः। लम्बोत्क्रमजीवयोना त्रिज्याक्षज्या स्यात्। अक्षोत्क्रमजीवयोना तु त्रिज्या लम्बज्या स्यात्। त्रिज्यावर्गात् पृथक् पृथग् लम्बाक्षज्यावर्गोनान्मूले अक्षलम्बज्ये वा। अक्षज्या सप्तसु स्थानेषु सप्तभिः कोटिभिर्गुण्या स्वस्वभुजेन भाज्या सप्तधा लम्बज्या भवति। सप्त... गुण्या स्वस्वकोट्या भक्ता सप्तधाक्षज्या स्यात्।

मरीचिः—अथानयोः प्रकारांतरा... इति। यतः तत्कार्मुके तयोः लंबज्यापलज्... पलांशौ स्तः। अतोऽस्मात्कारणात् द... कोटिज्यावत्। मिथः परस्परं। तज्ज्ये लंबाक्षज्ज्ये वा स्तः... ज्ये तदूनेत्यादिना यथा भुज कोटिज्येऽऽनीते तथा तद्रीत्या त्रिज्याक्षज्या अक्षांशोत्क्रमज्योनात्रिज्या लंबज्या स्यादित्यर्थः। त्रिज्यावर्गोन्मूलमक्षज्या। तद्वर्गोना त्रिज्यावर्गोन्मूलं लंबज्ये... वर्गैक्यपदमित्याद्युक्तप्रकारेण पौनरुक्त्यापत्तेः। द्वितीयप्रक... अक्षज्या। स्वक्षेत्रभिन्नाक्षक्षेत्रकोटिभिर्गुणिता गुणको... स्यात्। अतः लंबज्यायाः सकाशादन्यथा भुज गुण... स्यादित्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः—याम्योत्तरवृत्ते क्षितिजात्... नवत्यंशरूपस्य सत्वात्तज्ज्ययोर्भुजकोट्योस्त्रिज... तुल्यत्वमतस्तद्रीत्यातत्सिद्धिरिति किं चित्र...

कोटौ क इत्यनुपाते पूर्वविपरीतत्वादुक्तमुपपन्नम् । विषुवति प्रथम क्षेत्रादेव साधनमित्युक्तप्रायम् ।

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—उक्त एक अक्ष क्षेत्र की भुजकोटि कर्णों के ज्ञान से अनेकों अन्य अक्षक्षेत्रीय भुजकोटि कर्णों का ज्ञान अनुपात से सरलता से हो जाता है ।

इदानीमन्यदाह—

क्रान्तिज्यके कर्णगुणे विभक्ते
कोट्या भुजेनाप्तमिताग्रका स्यात् ।
आद्यं द्वितीयं समशङ्कुरेष
स्यात् तद्धृतिः कोटिहृतः श्रुतिघ्नः ॥ २० ॥

वा० भा०ः—क्रान्तिज्याक्षक्षेत्रकर्णेन गुणिता द्विः स्थाप्या । एकत्र स्वकोट्या भक्ता सत्यग्रा भवति । अन्यत्र स्वभुजेन भक्ता तत्र समशङ्कुः । एवं सप्तभिः कर्णैः सप्तधाग्रा सप्तधा च समशङ्कुर्भवति । एष शङ्कुः सप्तभिः कर्णैर्गुणितः स्वस्वकोटिभक्तः सप्तधा तद्धृतिर्भवति ।

मरीचिः—अथचतुर्थक्षेत्रीयपदार्थानयनप्रकारमिंद्रवज्रयाऽह । क्रांतिज्यके ...ः पृथक् क्रांतिज्यका गुणिता द्विःस्था । प्रथमस्थाने स्व... ग्रका सूर्य इत्युपलक्षणं यस्य क्रांतिज्या तदग्रा तदितर... । द्वितीयस्थाने स्वभुजेन भक्तफलं द्वितीयं ...गुणः तत्कोटिभक्तः फलं तद्धृतिः स्यात् । ...क्रांतिज्याकोट्या कः कर्ण इत्यग्रा, भुजेन... भुजे कः को... इति समशंकुः । तत्स्वरूपं तु ग्रहाधिष्ठित-पाताल्लंबसूत्रं पूर्वापरसूत्रे पतति अर्धज्याकारगोले प्रत्यक्षमिति—...या भुजस्तदा समशंकुकोट्या कः कर्ण, इति तद्धृतिरिति सुगमा ।

...टम् ।

...नुपात से यदि पलकर्ण कर्ण में १२ अंगुल शंकु कोटि मिलती है ...=) त्रिज्या कर्ण में क्या कोटि मिलेगी—उत्तर में लम्बज्या ... अक्षक्षेत्रीय कर्णों में ७ अक्षक्षेत्रीय कोटियां तो त्रिज्याकर्ण में ... ही आवेंगी । इसी प्रकार द्वादश कोटि में पलभा भुज ... कर्ण में क्या ? इस अनुपात से सात प्रकार से ... और अक्षज्या के चाप बनाने से स्वखमध्य और

स्वखमध्य से भूपष्ठीय ध्रुवविन्दु तक याम्योत्तरवृत्त में लम्बांश चाप का ज्ञान सुखेन हो जावेगा। त्रिज्या के वर्ग में पृथक् लम्बज्या और अक्षज्या के वर्गो को घटाकर मूल लेने से भी क्रमशः अक्षज्या और लम्बज्या होती हैं।

इदानीमन्यदाह।—

कर्णेन निघ्नी पृथगग्रका वा
भुजेन भक्ता खलु तद्धृतिः स्यात्।

वा० भा०:—अग्रका सप्तधा सप्तभिः कर्णैर्गुण्या स्वस्वभुजेन भाज्या सप्तधा वा तद्धृतिर्भवति।

मरीचिः—अथप्रकारांतरेणैतदानयन मुपजातिकाभ्यामाह। कर्णेनेति। द्विधा इति। अग्रका कर्णेन गुणा पृथक ननूत्तरोत्तरं स्व भुजेन भक्ता फलं तद्धृतिः प्रकारांतराभ्याम्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—इसी प्रकार किसी भी अक्षक्षेत्र के कोटि या अक्षक्षेत्र के भुज में यदि अक्षक्षेत्र की कोटि और अक्षक्षेत्र का भुज मिलता है तो क्रांन्तिज्या भुज और क्रान्तिज्या कोटि में क्या मिलेगा इस प्रकार क्रमशः अग्रा और समशंकु कर्ण भी ७ सात प्रकार से लाये जा सकते हैं। इसी प्रकार समशंकु को सात प्रकार कर्ण से गुणा कर अपनी-अपनी कोटियों से भाग देने से सात प्रकार से तद्धृति होगी।

इदानीमन्यदाह —

कोट्या हता तद्धृतिरग्रका च
कर्णेन दोष्णा क्रमशो विभक्ता ॥ २१ ॥
द्विधा भवेद्वा समवृत्तशङ्कुः
स दोर्गुणः कोटिहृतोऽग्रका वा।

वा० भा०:—सप्तधा तद्धृतिः सप्तभिः कोटिभिर्गुण्या स्वस्वकर्णैर्भाज्या सप्तधा समशङ्कुर्भवति। एवं सप्तधाग्रा सप्तभिः कोटिभिर्गुण्या स्वस्वभुजेन भक्ता। एवं वा सप्तधा समशङ्कुर्भवति। स समशङ्कुः सप्तधा सप्तभिर्भुजैर्गुण्यः स्वस्वकोट्या भक्तः सप्तधाग्रा वा भवति।

मरीचिः—समशंकानयनमाह—कोट्येति। तद्धृतिः कोट्या गुणिता। अग्रकाच्चः समुच्चये। कोट्यागुणिता क्रमशः। तद्धृत्यग्रा क्रमात्। कर्णेन भुजेन भक्ता द्विधा। उभयत्र समवृत्तशंकुः।

अग्रानयनमाह—द्विधेति स समशंकुः भुजगुणः कोटिहृतः फलमग्रा।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—अग्रा को सात जगह अपने-अपने भुजों से भाग देकर कर्णों से गुणने से सात जगह तद्धृति होगी।

इदानीमन्यदाह—

कोट्युद्धृतं तद्धृतिखण्डमूर्ध्वं
श्रुत्या हतं वा समवृत्तशङ्कुः ॥ २२ ॥

वा० भा०ः—कुज्योनिता तद्धृतिस्तत् तद्धृत्यूर्ध्वखण्डम्। तत् सप्तधा सप्तभिः कर्णैर्गुण्यं स्वस्वकोट्या भक्तं सप्तधा वा समशङ्कुर्भवति।

मरीचिः—प्रकारांतरेण समशंकानयनमाह—कोट्युद्धृत मिति। तद्धृतिरेवमष्टभात्त क्षेत्रकर्णरूपं कर्णगुणं कोटिभक्तम्। फलं वा प्रकारांतरेण समवृत्तशंकुः।

अत्रोपपत्तिः। भुजे कर्णस्तदाग्राभुजे का कोटिरित्येति तद्वृतिः। कर्णेन कोटिस्तदा तद्वृतिकर्णेन का कोटिरिति समशंकुः। भुजे कोटिस्तदाग्राभुजे का कोटि रित्यत्रापि समशंकुः। कोटया भुजस्तदासमशंकुकोट्या को भुज इत्यग्रा। कोट्या कर्णस्तदा कुज्योनतद्वृतिरूपकोट्या कः कर्ण इतिसमशंकु रित्युक्तमुपपन्नम्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—सात जगह स्थापित तद्धृति को सप्त स्थानीय कोटियों से गुणा करते हुये अपने-अपने कर्णो से भाग देने से सात प्रकार से समशंकु का ज्ञान होगा। इसी प्रकार सात जगह स्थापित अग्रा को सातों की कोटियों से गुणते हुये अपने-अपने भुजों से भाग देने से सात प्रकार से ससमशङ्कु का ज्ञान होगा।

इस समशंकु को सात जगह सात भुजाओं से गुणा कर सातों की अपनी-अपनी कोटियों से भाग देने से सात प्रकार से अग्रा का ज्ञान हो जावेगा। यह सब त्रैराशिकानुपात से स्पष्ट है।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—तद्धृति − कुज्या = कुज्योनतद्धृति (या तद्धृत्यूर्ध्व खण्ड) कही जाती है। इसे सात जगह रख कर सातों की कोटियों से भाग देने से सात प्रकार से समशंकु रूप कर्ण का ज्ञान होगा।

इदानीमन्यदाह—

द्विघापमज्या भुजकोटिनिघ्नी
कोट्या च दोष्णा विहृताग्रमाप्तम्।
कुज्या परं तद्धृतिखण्डमूर्ध्वं
स्यात् तद्धृतिः संयुतिरेतयोर्वा ॥ २३ ॥

वा० भा०:—सप्तधापमज्या भुजैर्गुण्या स्वस्वकोट्या भक्ता सप्तधा वा कुज्या भवति। अथ सप्तधापमज्या सप्तधा कोटिभिर्गुण्या स्वस्वभुजेन भाज्या सप्तधा तद्धृतेरूर्ध्वं खण्डं भवति। कुज्योर्ध्वखण्डयोर्योगस्तद्धृतिरित्यष्टनवतिर्भेदा भवन्ति।

मरीचिः—ननु तद्धृत्यूर्ध्वखंडाज्ञानात्कोट्युद्भवृतमित्युक्तप्रकारेण समशंकु-साधनमुपपन्नम्।

न च कुज्योनतद्धृत्यात्मकत्वात्तद्ज्ञानमिति वाच्यम्। कुज्यानयनस्यात्रा-नुक्तेरतोपजातिकयाह—द्विधा इति। क्रांतिज्या द्विःस्था। भुजकोटिभ्यां क्रमेण गुणिता भुजकोटिगुणक्रमेण कोट्या भुजेन हृता। आद्यं प्रथमस्थानीयमाप्तफलं कुज्या। परं द्वितीयं फलं तद्धृति खंडमूर्ध्वसमशंकुसाधनोपयुक्तं स्यात्। तथा च तत्साधनमुभयत्रमितिभावः। प्रसंगात्प्रकारांतरेण तद्धृतिरिति-एतयोः कुज्या तद्धृत्यूर्ध्वखंडयोः संयुतिरैक्यं तद्धृतिः स्यात्।

अत्रोपपत्तिः—कोट्या भुजस्तदा क्रांतिज्या कोट्या क इति कुज्या, भुजेन कोटिस्तदाक्रांतिज्या भुजेन केति तद्धृत्यूर्ध्वखंडं कोटिः सिद्धा। एतयोस्तद्धृ-तिखंडत्वप्रतिपादनाद्योगे तद्धृतिरिति किं चित्रम्?।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—सात स्थानों में स्थापित क्रान्तिज्या को अपने-अपने भुजों से गुणा कर अपनी-अपनी कोटियों से भाग देने से ७ प्रकार से कुज्या होगी। एवं सात स्थानों स्थापित क्रान्तिज्या को अक्षक्षेत्रीय कोटियों से गुणा कर और अपने-अपने भुजों से भाग देने से सात प्रकार से तद्धृति का ऊर्ध्व खण्ड होगा।

यहाँ पर उक्त २० वें सिद्धान्त वाक्य से क्रान्तिज्या से ७ प्रकार से अग्रा और सात प्रकार से समशंकु का ज्ञान किया गया है। भुजकोटियों का वर्गयोग मूल कर्ण होता है, अग्रा और समशंकु, (कोटि भुज का) वर्गयोग मूल तद्धृति होने मे ७×७=तद्धति ज्ञान के ४९ प्रकार होते हैं। इसी प्रकार २३ वें श्लोक के सिद्धान्त से, ७ प्रकार की कुज्या एवं ७ प्रकार का तद्धत्यूर्ध्व खण्ड होने से यहाँ भी ७×७=४९ भेदों की स्थिति स्पष्ट है। ४९+४९=९८। वासना भाष्य में कथित "एवमष्टनवतिर्भेदा भवन्ति" इस वाक्य की संगति सटीक ठीक बैठती है। संशोधक के विचारों के साथ मेरे विचार का पूर्ण समन्वय हो रहा है।

इदानीमन्यदाह—

कुज्यापमज्ये भुजकोटिनिघ्न्यौ
कर्णोद्धृते स्यात् क्रमशो यदाप्तम्।
अग्राग्रखण्डं प्रथमं द्वितीय-
मग्रादिखण्डश्च तदैक्यमग्रा ॥ २४ ॥

वा० भा०:—कुज्या सप्तधा भुजैर्गुण्या स्वस्वकर्णेन भाज्या सप्तधा अग्राग्रखण्डं भवति। एवं क्रान्तिज्या सप्तधा कोटिभिर्गुण्या स्वस्वकर्णेक भाज्या। सप्तधा अग्रादिखण्डं भवति। खण्डयोर्युतिः प्राग्वत् अनेकधाग्रा भवति।

मरीचिः—अथ प्रकारांतरेणाग्रानयनमिन्द्रवज्रयाह—कुज्यापमज्ये-इति। कुज्यापमज्ये क्रमे वा भुज कोटिभ्यां गुणितोभयत्र कर्णभक्ते यत्प्रथमं फलं तदग्राग्रखंडम्। द्वितीयं यत्फलं तदग्रादिखंडम्। तयोरग्राग्रखंडाग्रादिखण्डयोर्योगोऽग्रा स्यात्।

अत्रोपपत्तिः—कर्णे भुजस्तदा कुज्या कर्णे को भुज इत्यग्राग्रखंडमुद्वृत्त शंकु मूलादुदयास्तसूत्रावधिभवति। कर्णे कोटिस्तदा क्रांतिज्याकर्णे के-इत्युद्वृत्त शंकुमूलात्प्राच्यपरसूत्रावध्यग्रादिखंडं कोटिर्भवति। तद्योगः प्राच्यपरसूत्रादुदयास्तसूत्र पर्यंत मग्रात्मको भवतीति।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—सात जगह कुज्या को अक्ष क्षेत्रीय भुजों से गुणाकर अपने-अपने कर्णों से भाग देने से सात प्रकार से अग्राग्र खण्ड होता है। इसी प्रकार $\frac{\text{क्रांज्या} \times \text{कोटि}}{\text{अक्षक्षेत्र के कर्ण}} = $ सात प्रकार से अग्रादि होगी।

इदानीमन्यदाह—

अग्रादिखण्डश्च तथापमज्या
भुजाहते ते क्रमशो विभक्ते।
कोटिश्रुतिभ्यामुभयत्र शङ्कु-
रुन्मण्डलस्थे रविमण्डले स्यात्॥ २५॥

वा० भा०:—अग्रादिखण्डं सप्तधा भुजैर्गुण्यं स्वस्वकोट्या भाज्यं सप्तधोन्मण्डलशङ्कुर्भवति। एवमपमज्या सप्तधा भुजैर्गुण्या स्वस्वकर्णेन भाज्या सप्तधोन्मण्डलशङ्कुर्भवति।

मरीचिः—अथोन्मडलशंकुसाधनमुपजातिकयाह—अग्रादि खंडमिति। अग्रादिखंडं पूर्वानीतं क्रांतिज्याचस्थाप्या ते स्थापिते भुजाहते क्रमात् स्वकोटिकर्णाभ्यां भक्ते। उभयत्र स्थानद्वये फलं तुल्यं शंकुः स्यात्। नन्वक्षक्षेत्रपदार्थेषु शंकुद्वयस्य सत्वात्कः शंकुर्जात इत्यत आह—उन्मंडलस्थे इति। रविमंडले सूर्यबिंब केन्द्रउद्वृत्तस्थे सति। सूर्य इत्युपलक्षणम्। अस्मिन्नधिकारे तस्य प्राधान्याद्वा सूर्यपदोपपादनं तथा च समशंकोः पूर्वं साधितत्वादेव परिशेषेणोद्वृत्तशंकुरयमित्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः—कोटया भुजस्तदाग्रादि खंडकोटया क इत्युन्मंडल शंकुः, कर्णेन भुजस्तदा क्रांतिज्याकर्णेन क इत्युन्मंडल शंकुः। तत्स्वरूपं ग्रहाधिष्ठितद्युरात्र वृत्तोद्वृत्त संपाताल्लंबरूपं क्षितिजसमसूत्रावध्यर्धज्याकारं सूत्रमितिगोले प्रत्यक्षम्।

तत् द्युरात्र वृत्ते भ्रमतः सूर्यबिंबकेंद्रस्योन्मंडलस्थत्वं भवतीत्युक्तमुन्मडलस्थे रवि-मंडले—इति ।

ननु तत्संपाते सूर्याधिष्ठितत्वाभावेप्युक्तप्रकारेणोद्वृत्तशंकुः सिध्यत्येवेति कथमुक्तमिद—मिति चेन्न सूर्यमंडल इत्यस्य तद्बिंबकेंद्राश्रयीभूतद्युरात्रवृत्ते इत्यर्थ-करणात् । यद्वा तत्संपाते सूर्यबिंबकेंद्रं यदा भवति तदोद्वृत्तशंकुः सूर्याल्लंबरूपः क्षितिजसमसूत्रपर्यंत इति रूपेण प्रत्यक्षो नान्यस्मिन्काले स्वरूपस्य······सूचनार्थं तदुक्तमन्यथा संपातस्य सर्वदा सत्वेनोद्वृत्तशंकुरित्यनेनैव चरितार्थत्वापत्तेः । अतएवोन्मंडल इत्यस्योपलक्षणात्समवृत्तस्थेऽर्के समशंकुस्तत्स्थानाल्लंबरूपः पूर्वापर-सूत्रपर्यंतः प्रत्यक्षे परस्मिन्कपाले गोल एव । शंकोः प्रत्यक्षत्वं तु तत्साधितछाया प्रत्यक्षत्वं वेति ध्येयमितिदिक् ।

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा — $\frac{\text{अक्षक्षेत्र का भुज} \times \text{अग्रादि खण्ड में}}{\text{अक्षक्षेत्र की कोटि में}}$ = उनमण्डल भुज होगा ।

इस प्रकार $\frac{\text{अक्षक्षेत्र का भुजक्रान्तिज्या कर्ण में}}{\text{अक्षक्षेत्र के कर्ण में}}$ = उनमण्डल शंकु भुज होगा ।

इदानीमन्यदाह—

अग्राग्रखण्डं क्षितिशिञ्जिनी च
कोट्या हते दोःश्रवणोद्धृते स्तः ।
उद्वृत्तशङ्कू समना तदूनः
स्यादूर्द्ध्वखण्डं समवृत्तशङ्कोः ॥२६॥

वा० भा०ः—अग्राग्रखण्डं सप्तधा कोटिगुण्यं स्वस्वभुजेन भाज्यं सप्तधा वोन्मण्डलशङ्कुर्भवति । एवं कुज्या सप्तधा कोटिभिर्गुण्या स्वस्वकर्णेन भाज्या । एवं सप्तधा वोन्मण्डलशङ्कुर्भवति । तेनोन्मण्डलशङ्कुना रहितः सममण्डलशङ्कुस्त-स्योर्द्ध्वं खण्डं स्यात् ।

मरीचिः—अथ प्रकारांतरणोद्वृत्तशंकानयनमष्टमक्षेत्रकोटयानयन मैन्द्रयाह-अग्राग्र खंडमिति । अग्राग्रखंडं पूर्वागता कुज्या च । एते, उभे कोटिगुणे क्रमेण भुजकर्णाभ्यां भक्ते फले, उद्वृत्तशंकू स्तः । उभयत्रोद्वृत्तशंकुस्तदल्प त्वादित्यर्थः ।

समशंकूर्ध्व खंडानयनमाह-समनेति । समशंकुः तेनोद्वृत्तशंकुना हीनः । समवृत्तशंकोरूर्ध्वं खंडं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः—भुजेन कोटिस्तदाग्राग्रखंडभुजे केत्यत्राप्त उद्वृत्तशंकुः कोटिः । कर्णेन कोटिस्तदा कुज्याकर्णे केत्यत्रापि कोटि रुद्वृत्त शंकुः । उद्वृत्तसमसूत्रादधः

समशंकुसूत्रखंडस्य तच्छंकुतुल्यत्वात्तदूनः समशंकुरुद्वृत्तसमसूत्रपर्यंतं लंबरुपं सूत्रं समशंकूर्ध्वखंडं स्यादेवेति पूर्वमुक्त प्रायंच ॥२६॥

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा— $\frac{\text{अक्षक्षेत्र की कोटि} \times \text{अग्राग्र खण्ड भुज में}}{\text{अक्षक्षेत्र के भुज में}}$ = उनमण्डल शंकु होगा ।

एवम् $\frac{\text{अक्षक्षेत्र की कोटि} \times \text{कुज्या कर्ण में}}{\text{अक्षक्षेत्र के कर्ण में}}$ = उनमण्डल शंकु कोटि होगी । प्रकारान्तर से भी सममण्डल शंकु में उनमण्डल शंकु को घटा देने से सममण्डल शंकु का ऊर्ध्व खण्ड होगा । अग्राग्र खण्ड और कुज्या को अक्ष क्षेत्र की कोटि से गुणाकर एक जगह भुज ओर दूसरी जगह कर्ण से (अक्ष क्षेत्रीय) भाग देने से उन्मण्डल शंकु होता है । इसे सम शंकु में कम करने से सम शंकु का ऊर्ध्व खण्ड होता है ।

इदानीमन्यदाह—

अग्रा भुजघ्नी श्रुतिहृत् क्षितिज्या
तदूनिता तद्धृतिरूर्द्धखण्डम् ।

वा० भा०:—अग्रा सप्तधा भुजैर्गुण्या स्वस्वकर्णेन भाज्या सप्तधा कुज्या स्यात् । कुज्योनिता तद्धृतिस्तदूर्द्धं खण्डं स्यात् ।

मरीचिः—अथकुज्यातद्धृत्यूर्ध्वखंडानयनमेतदधिकारोपसंहारोपजातिकयाह-अग्रा इति । अग्राभुज गुणा कर्ण भक्ता फलं कुज्या । तया कुज्यया हीना तद्धृतिस्तस्या एवोर्ध्व खंडं स्यात् ।

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा— $\frac{\text{अक्षक्षेत्र का भुज} \times \text{अग्रा कर्ण में}}{\text{अक्षक्षेत्र के कर्ण में}}$ = कुज्या भुज होता है । तद्धृति में कुज्या कम कर देने से कुज्योनिता तद्धृति या तद्धृति का ऊर्ध्व खण्ड कहा जाता है ।

इदानीमन्यदाह—

ज्ञाताच्च साध्यादितरे भवन्ति
यद्वा गुणच्छेदविपर्ययेण ॥२७॥
दोःकोटिवर्गैक्यपदं श्रुतिः स्यात्
तत्कोटिवर्गान्तरतः पदं दोः ।
दोःकर्णवर्गान्तरतश्च कोटि-
र्द्वाभ्यां तृतीया यदि वा स्युरेवम् ॥२८॥

मरीचिः—उपसंहरति । ज्ञातादिति-साध्यात् यत्प्रकारेण यदानीते तस्मात् । ज्ञातमानात्तत्प्रकारेणैव गुण छेदविपर्यये गुणकहरयोर्व्यत्यासेन यद्वा प्रकारांतरेण

प्रकारोत्तरसाधकपदार्थाः भवंति । यथा चाग्रा भुजगुणा कर्णभक्ता कुज्यास्यात्तत्र कुज्याकर्णगुणा भुजभक्ताग्रा स्यात् । एवमुक्तप्रकारेषु सर्वत्र ज्ञेयम् । यथा चाक्ष्यज्यका कोटि गुणा भुजाप्ता लंबज्यका वाऽक्षगुणोऽन्यथात इत्यादौ स्पष्टं च मूले ।

अत्रोपपत्तिः—कर्णे भुजस्तदाग्राकर्णे को भुज इति कुज्या । तदूनातद्धृतिः कुज्योनातद्धृतिः सैवोर्ध्वखंडं तस्या इति प्रागुक्तमेव । साध्यात्प्रकारव्यत्यासेन साधकं भवत्येवेति किं चित्रम् ?

अथान्यक्षेत्रनिरपेक्षेण क्षेत्रस्य पदार्थद्वयज्ञाने तृतीयपदार्थसाधन मिंद्रवज्रयाह—दोः कोटिवर्गैक्यपदमिति । यत्क्षेत्रस्य भुजकोट्योर्ज्ञानमस्ति तत्क्षेत्रस्य तद्वर्गयोर्योगान्मूलं कर्णः । कर्णकोटिज्ञाने तद्वर्गयोरंतरान्मूलं भुजः । भुजकर्णज्ञाने तद्वर्गयोरंतरान्मूलं कोटिः । एवमुक्तप्रकारेण द्वाभ्यां क्षेत्राभ्यामभीष्ट पदार्थाभ्यां ज्ञातमानाभ्यां सकाशात्तृतीयाः पदार्थाः क्षेत्राणां यदि वा प्रकारांतरेण भवंति ।

अत्रोपपत्तिः—तत्र जात्यत्र्यस्रक्षेत्रस्य कर्णमानज्ञानार्थं कर्णस्य भूमित्व कल्पनेन पूर्वभुजकोटिभ्यां शृंगाटकाकारं त्रिभुजं समलंबकं जात्यक्षेत्रपरिवर्त्तनपरिणतं कल्पितम् । एतत्रिभुजभूमिमानमेव तत्कर्णमानं भवेदित्यत्र भूमिमानज्ञानार्थं शृंगाटकाकारे त्रिभुजे लंबसत्वेन जात्यद्वयं परिणतम् । तद्यथा-लंबः कोटिः । लघु भुजो जात्य भुजस्य कर्णः । लम्बो भुजः । लंबकर्णमूलांतरस्थभूमिखंडमानं लध्वाबाधारूपं भुजः । एवमष्टवद्भुजो जात्यकोटिरूपः कर्णः । लंबो भुजः लंबकर्ण मूलांतरस्थभूमिखंडमानं बृहदाबाधारूपं कोटिः । न चोभयत्र दोः कोट्योर्नामभेदादत्र स्वरूप भेद इति लंम्ब एव कोटि रिति वाच्यम् । भुजतुल्ये-कर्णे यदि लंबः कोटिस्तदाकोटितुल्यकर्णे का कोटिरित्यनुपाते वावश्यं कोटि भेदात् लंबस्योभयत्र तुल्यमानत्वाच्च । तथा च मूलजात्यपरिवर्त्तनपरिणतसमलंबकत्रिभुजक्षेत्रे प्रत्यक्षसिद्धैतज्जात्यभुजकोट्योरावाधरूपयो र्योगाद्भूमिर्मूल जात्यकर्णरूपा भवत्यतो मूलजात्यकर्णऽज्ञात मानैतत्रिभुजभूमिरूपे भुजो भुजस्तदा भुजतुल्ये कर्णे क इति भुज वर्गः कर्ण भक्त इति लध्वाबाधा एवं मूलं कर्णः तद्रूपे मूलजात्यकोटिः कोटिस्तदा कोटितुल्ये कर्णे केति कोटिवर्गः कर्णभक्त इति बृहदाबाधा । आबाधायोगो मूलभुज कोटिः कोटिस्तदा कोट्योर्वर्गयोगः कर्ण भक्त इति । इतर फलस्य कर्णत्वाद्भाज्यात्तद्रूपः कर्णवर्ग एवान्यथा कर्ण भक्तो कर्णानुत्पत्तेरिति भुजकोटिवर्गयोग कर्णवर्गत्वात्तन्मूलं कर्ण—इत्युपपन्नमन्यथात्माश्रयातदसिद्धापत्तेः । अत एव कर्णवर्गस्य तत्वाद्यद्भुज कोट्यन्यतरवर्गहीनस्य तदितरवर्गत्वं स्वतः सिद्धमिति तन्मूलं क्रमेण कोटिभुजावित्युक्तमुपपन्न मित्याचार्यैर्बीजैकवर्णमध्यमाहरणे क्षेत्रे तिथिनखैस्तुल्ये इत्युदाहरणगणितनिरूपणेनोक्तमिति संक्षेपः । विस्तरस्तु गुरुत्तर कृतबीजटीकाया मध्यवसेयः ॥२८॥

नन्वेषामथैकस्य तु बाहुकोटिकर्णौ मिथोऽन्यानुपाततः स्युरित्युक्तरीत्या कोटौ

भुज कर्णौ तदोन्मंडलशंकूनसमशंकुमितकोटौ कावित्यनुपातेनाग्रादिखंडं कुज्योन-तद्धृत्यो भुजे कोटिकर्णौ तदाऽग्रादिखंडभुजे कावित्यनेनोद्वृत्त शंकूनसमशंकु कुज्योनतद्धृत्योः कर्णो कोटिभुजौ तदा कुज्योनतद्वृतिवर्गे कावित्यग्रादि खंडो-द्वृत्तशंकूनसमशंकोरानयनं कथं न निबद्धम् ? किंच। उक्त प्रकारेभ्योऽनुपात-सिद्धसाधकस्वरुपात् साध्यानयनप्रकारस्य भिन्नत्वात्कथं निबंधनं नोक्तम्। आन-यनप्रकारांतर्गतत्वात्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—एक अक्षक्षेत्रीय साध्य वस्तु के ज्ञान से अन्य दो का ज्ञान हो जाता है। अथवा ७×८=५६ इस ज्ञान से ५६÷८=७ या ५६÷७=८ का ज्ञान जैसे प्रत्यक्ष है तद्वत् भुजकोटि का वर्गयोग कर्ण वर्ग के तुल्य होने से कर्ण वर्ग में भुज के वर्ग विशोधन से कोटि वर्ग या कोटिवर्ग विशोधन से भुजवर्ग स्पष्ट है।

इदानीमुपसंहारश्लोमाह—

त्रिषष्टिरत्रानयनप्रभेदा-
स्तावत् स्युरेवं पललम्बमौर्व्योः।
अग्रादिकानां शतशः प्रभेदै-
र्लम्बादयोऽपि स्युरनन्तभेदाः ॥२९॥

वा० भा०:—बहुप्रकारप्रतिपादनार्थमिदम्।

मरीचिः—यथा च ग्रंथांतरे त्रिज्यापमज्या पलकर्ण-घातोऽक्षज्यार्क भक्तो खलु तद्धृतिः स्यादित्यत उक्तप्रकारभेदोपसंहारकथनव्याजेन इन्द्रवज्रान्त-रमाह-त्रिषष्टिरिति। अत्राक्षक्षेत्रोक्तपदार्थानयनप्रकारभेदविचारो क्रियमाणो तावत् प्रथममेवं एषामथैकस्येत्याद्युक्तानुपातसिद्धमुक्तमेवोक्तप्रकारैः—अक्षज्यालंब ज्ययोरानयनप्रभेदाः-आनयनप्रकाराणां प्रकर्षेण क्षोदेन भेदाः संख्यया नियतत्व-मित्यर्थः। त्रिषष्टिः स्युस्तद्यथा त्रिज्ये पृथक्कोटिभुजोद्धृते ते कर्णाहते लंबपलज्यके स्त इत्यनेन सप्ताक्षक्षेत्रेभ्यः प्रत्येकमक्षलंबज्ययोः सप्तभेदाः एभ्योऽक्षज्यका कोटि-गुणा भुजाप्ता लंबज्यका वाऽक्ष गुणोऽन्यथात इत्यनेन प्रत्येकपललंबज्ययोरन्ये एकोनपंचाशद्भेदाः। एकैकस्मात्सप्तकस्य सिद्धत्वात्। यद्यप्यत्र यदक्षक्षेत्राल्लंबज्या गृहीता स्वरूपात्मिका तदक्षक्षेत्राप्तलंबज्यायाः अक्षज्यासाधने गुणहरयोस्तुल्यत्वा-न्नाशात्पूर्वं सप्ताक्ष ज्यानयनमेव भवति। यथाक्षकर्णो द्वादशकोटिस्तदा त्रिज्या कर्णो का कोटिरिति त्रिज्यायाः द्वादश गुणोऽक्षकर्णो हर इति लंबज्यारूपम्। अतः द्वादश कोटौ पलभाभुजस्तदालंबज्या कोटौ को भुज इति लंबज्यारूपस्य द्वादशहरः पलभागुणः, तच्च द्वादशमितयो गुणहरयोर्नाशात्त्रिज्यायाः पलभा गुणोऽक्षकर्णो-हर इत्यक्षज्या रूपम्। यत्र कर्णे पलभा भुजस्तदा त्रिज्याकर्णे को भुज इति पूर्वानुपाते पर्यवसन्नमेवमन्यक्षेत्रादपि। एवमेवाक्षज्यायाः लंबज्या साधने-

ऽपि तस्मात्पूर्वानुपातानीताद्वलंबज्या स्वरूपाभ्यां लंबाक्षज्यासाधने द्विचत्वारिंश द्भेदाः भवंति। कथमेकोनपंचाशद्भेदा इति। तथापि तत्रानुपातेन स्वरूपभेद-दर्शनात्प्रकारांतरेषु गौरवं न, न दोषायेति गुण हर नाशकरणात्स्वरूप भेदविचारे नानुपपन्नएकोनपंचाशद्भेदाः। एवमनेन प्रकारेणाद्यज्यालंबज्यकाभ्यां लंबज्याक्ष ज्यानयनं सप्तधा भवतीति त्रिषष्टि भेदा उपपन्नाः। यत्तु त्रिज्ये पृथगित्यादिनाऽक्ष-लंबज्ययोश्चतुर्दशदोः कोटि जीवावदतो मिथो वेति तयोश्चतुर्दश। अक्षज्यका कोटिगुणेत्यादिना चतुर्दश ज्ञाताच्च साध्यादितरे भवंतीति चतुर्दश एते विलोम-गणितप्रभेदाः, पूर्वोक्ताः, एवोक्ता। पृथक्त्तेन दोःकोटिवर्गैक्यपदंश्रुतिः स्यादि-त्यादौ पूर्वानीता एव वर्गयोगवियोगाभ्यां साध्या इति त्रिषष्टि भेदास्तयोः न प्रत्येकमिति तन्न तदनुत्पत्तेः तद्भेदसंख्यायाः विषमत्वानुपपत्तेश्च। एवमेव क्रांति-ज्यके कर्णगुणे इत्यनेनाग्रासमशंकोः प्रत्येकं सप्तभेदाः। तद्धृतेरेकोन पंचाशत्। समशंकोः सप्त भेदत्वात्। एवमेव कर्णेन निघ्नी पृथगग्रकावेत्यादिना तद्धृतेरेकोन पंचाशत्। एवं कोज्या हतात् तद्धृतिरग्रका चेत्यादिना समशंकुभेदाः पंच त्रिंशदधिकसप्तशती पूर्वभेदैः सह द्विचत्वारिंशदधिक सप्तशती। स दोर्गुणः कोटि हृतोऽग्रका वेत्यनेनाग्राभेदाः एवमेव कर्णे सर्वे भूखद्विपंचमिताः ॥५२०१॥ द्विधापमज्येत्यादिना कुज्या तद्धृत्यूर्ध्वखंडयोः प्रत्येकं सप्तभेदाः, कोज्युद्धृतं तद्धृति खंडमूर्ध्व मित्यादिना समशंकुइति शंकुभेदाः पञ्चत्रिंशदधिकसप्तशती पूर्व भेदैः सह द्विचत्त्वारिंशदधिक सप्तशती एकोनपंचाशत्। एवं सर्वे नवोनाष्ट शतम् ७९२। एवं कुज्यापमज्ये इत्यादिनाग्राग्रखंडभेदा एकोनपंचाशत्। अग्रादि-खंडभेदाः सप्त। अग्रादिखंडं च तथा यमज्येत्यादिनोद्वृत्त शंकुभेदाः षट्पचा-शत्। अग्राग्रखंडं क्षितिशिंजिनी चेत्यादिनोद्वृत्तशंकुभेदाः वेदांगरामाः ३६४। एवं सर्वेऽष्टचत्वारिंशदधिकचतुश्शतं ४४८ अग्रा भुजघ्नीत्यादिना कुज्याभेदाः सप्ताभ्रषडब्धिरामाः ३४६०७ एवं सर्वेन्द्रवेदांगरामाः॥३६४१४॥ एवं साधकांकादपि प्रत्येकं क्वचित् सप्तभेदा एव ज्ञाता च साध्यादितरे इत्यादिना कतिचिद्भेदाः केषां चिद्भवंति। एवमग्रादिकानां-क्षेत्रोक्त पदार्थानाम्। अग्रायाः पूर्वमुक्तत्वात् शतशः प्रभेदैः, अनेकानयनभेदैः लंबादयः क्षेत्रोक्तपदार्थाः, अनुपातेनानीयंते। तेऽपि पूर्वोक्त प्रकारेण नियतभेदसंख्याश्रयिणोप्यनंत भेदाः। आनयनप्रकाराणा-मानंत्यात्। तथा च मदुक्तप्रकारसमिश्रभेदैरानंत्यप्रतिपादनादुक्तमेव सर्वमेषा-मथैकस्येत्यादिना अनंतभेदानामपि स्फुटोक्तेरभावादितिभावः। अथाग्रिम-ग्रंथासंगतत्व परिहाराय प्रकृतारब्धविचारः समाप्त इति फक्किकयाह-इति लंबाक्ष-कुज्याग्रादिप्रकरणमिति। उक्तात्क्षेत्रोक्तपदार्थानयनप्रकरणं जातमिति तात्प-र्यार्थः। तेनाग्रिम ग्रंथस्य भिन्नत्वेन संगतत्वमितिभावः।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—अग्रा, आदिकों के सैकड़ों भेदों के होने से लम्बांश अक्षांशादिकों के भी अनन्त भेद होंगे। अक्षांश लम्बांश के ६३ प्रकार के भेद होते हैं (९×७)=६३।

इदानीं दिङ्नियमेन छायानयनं विवक्षुरादौ कोणशङ्कोरानयनमाह—

अग्राकृतिं द्विगुणितां त्रिगुणस्य वर्गात् ११८१९८४४
त्यक्त्वा पदं तदिह कोणनरोऽक्षभाघ्नः।
अर्को १२ द्धृतः फलयुजाऽसकृदग्रयासौ
सौम्ये फलेन वियुजा तु तया प्रसाध्यः ॥३०॥

वा० भा०:—त्रिजयाया वर्गादग्रावर्गेण द्विगुणितेनोनाद्यन्मूलं स किल कोणशङ्कुः स्थूलो भवति। स पलभया गुण्यो द्वादश १२ भक्तो यत् फलं तेन युताग्रा कार्य्या। तयाऽग्रया पुनः शङ्कुः साध्यः। तस्मादपि पुनः फलम्। पुनस्तेन युतयाऽग्रया स साध्यः। यावदविशेषः। एवं याम्यगोले। सौम्ये तु फलस्याग्रायाश्च यदन्तरं तामग्रां प्रकल्पयाऽसकृत् साध्यः।

अत्रोपपत्तिः;—अत्र कोणवृत्तस्थस्यार्कस्य सममण्डलेन सह यावदन्तरं ज्यारूपं स भुजः। तावदेव याम्योत्तरमण्डलेन सहान्तरं भवति। सा कोटिः। तद्वर्गयोगपदं खमध्यार्कान्तरभागानां ज्या सा दृग्ज्या। एवं भुजवर्गो द्विगुणो दृग्ज्यावर्गो भवति। स दृग्ज्यावर्गस्त्रिज्यावर्गाद्यावद्विशोध्यते तावच्छङ्कुवर्गोऽवशिष्यते। अतस्तन्मूलं कोणशङ्कुर्भवति। किन्त्वत्र भुजो न ज्ञायते तद्ज्ञानं वक्ष्यमाणविधिना।—"अथाक्षभाघ्नो नरोऽर्कहृत्" इत्यादिना। अतः शङ्कुः पलभया गुण्यते द्वादशभिर्ह्रियते। फलं शङ्कुतलं दक्षिणं स्यात्। स्वाग्रास्वशङ्कुतलयोर्याम्यगोले योगः सौम्ये त्वन्तरं भुजो भवति। अत्र कोणशङ्कोरज्ञानाच्छङ्कुतलाज्ञानम्। केवलमग्रा ज्ञायते। सैव प्रथमं बाहुः कल्पितः। ततः "अग्राकृतिं द्विगुणितां त्रिगुणस्य वर्गात्" इत्यादिना यः शङ्कुरानीतः स स्थूलो जातः। अतोऽसकृद्विधिना सम्यग्भवति। तथा यत्र देशे यस्मिन् काले अग्रा अध्यर्द्धराशिजयातो२४३१ऽभ्यधिका भवति तत्र तदा याम्यगोले कोणशङ्कोरभावः। उत्तरगोले तु कोणशङ्कुचतुष्टयमुत्पद्यत एकस्मिन् दिने। यत्र देशे सप्तदशाङ्गुला १६।५८।१४ भ्यधिका विषुवती तत्रैवं भवति।

मरीचिः—अथ समशंकुप्रसंगात्कोणशंकानयन मिद्रवज्रयाऽह—अग्राकृतिमिति ॥३०॥ अग्रावर्गं द्विगुणं त्रिज्यावर्गाद्विशोध्य यदवशेषस्य मूलं तदिहत्रिज्या वर्गानधिके द्विगुणेऽग्रावर्गे कोणशंकुः त्रिज्यावर्गाधिके द्विगुणेऽग्रावर्गे तु शोधनाभावादेवानेन प्रकारेण कोणशंकुसाधनमपिसिद्धमिति तच्चालक्षत्वान्नदोष इति ध्येयम्। नन्वानयन लक्ष्यविषयेऽपि सिद्धोऽयं कोणशंकुः प्रकारांतरानीत कोणशंकुभिन्नत्वादप्रामाणिक इत्यत आह—अक्षभाघ्न इति। एतत्प्रकारानीतकोणशंकुः। अक्षभागुणित द्वादश भक्तः। यत्फलं तेनायुजायुक्तयाग्रयोक्तप्रकारेणाऽसौ कोणशंकुः पुनः साध्यस्ततः फलमानीय तद्युतयाग्रयोक्तप्रकारेण कोणशंकुरेवमसकृद्यावदविशेषः। तेनैवैतत्प्रकारानीतांतिमकोणशंकोः प्रकारांतरानीतकोणशंकुमानभिन्नत्वमितिभावः। ननु तथाप्युत्तरगोले विसंवादोऽत-आह—सौम्येति। उत्तरगोले

तु फलेन पूर्वकोणशंकुरत्त्वभाघ्नोऽर्कं भक्त इत्यानीत फलेनेत्यर्थः। वियुजा अंतरितया। तया। अग्रयोक्तप्रकारेणासकृत्कोणशंकुः प्रसाध्यः स्थिरः कार्य इत्यर्थः। तथाचोत्तरगोले फलयोगानीतकोणशंकुनाविसंवादः सहज एवेत्यंतरानीतकोणशंकु संवादाद्दक्षिणोत्तरगोले क्रमेण फलयुतहीनाग्रयामुहुः कोणशंकुः स्थिरः कार्य इत्युक्तसिद्धम्।

अत्रोपपत्तिः—यथा सममंडलग्रहाधिष्ठितं द्युरात्रवृत्तसंपातात्समशंकुस्तथा सर्वत्र समवृत्तयाम्योत्तरवृत्तयोरन्तर्मध्यकोणमार्गेणोर्ध्वाधःस्वस्तिकलग्नं वृत्तद्वयमन्यत्प्राचीनैः कल्पितं तत्कोणवृत्तं तद्वृत्तयोः समवृत्तादुत्तरत्रप्रदेशपूर्वापरकपालस्थाः क्रमेणैशानीवायव्यदिक् संबंधीयाः। समवृत्ताद्दक्षिणभागेतु आग्नेयी नैऋत्यविदिक् संबंधीयाः। अत एव सूर्यसिद्धांतदिक्चतुष्टयं प्रसाध्य दिङ्मध्यमस्थैः संसाध्या विदिशस्तद्वदेवहीति तत्साधनं युक्त मुक्तं तद्वृत्तग्रहाश्रयीभूतद्युरात्रवृत्त संपाताल्लंबः कोणशंकुर्भवति। तत्रैतद् ज्ञानं तु कोणशंकुः कोटिः खमध्या तल्लम्बांग्रमध्यस्थकोणवृत्तस्थप्रदेशभागानां ज्या दृग्ज्या भुजः तत्संपातेनानीतदृवृत्तस्य तदाकारत्वात् त्रिज्यामितसूत्रभुजकोटिमूलांतरं कर्ण इति छायाक्षेत्रस्य स्वतः सिद्धत्वात्। कोणतत्संपातीय दृग्ज्यात्रिज्या वर्गयोरंतरमूलं कोण शंकुरिति। तत्रापि कोणवृत्तस्य समयाम्योत्तर वृत्तमध्यस्थत्वादवश्यंभावात्पूर्वापरवृत्तप्रदेशतत्संपातयो र्यद्याम्योत्तरमंतरं तावदेव याम्योत्तरवृत्तसंपातांतरं पूर्वापरमिति तत्सूत्रस्य वक्ष्यमाणभुज रूपत्वाद्भुज समचतुरस्रं समकर्णक्षेत्रं प्रत्यक्षम्। तद्यथा कर्णपूर्वांतरं भुजः। याम्ये पूर्वापरवृत्ते स्वाभिमतस्थानखस्वस्तिककोणयाम्योत्तरग्रहाधिष्ठितद्युरात्रवृत्तसंपातांतरं तन्मितो द्वितीयो भुजो, याम्योत्तर वृत्ते स्वाभिमतस्थानस्वस्तिकांतरं तृतीयो भुजः। पूर्वापरवृत्ते स्वाभिमतस्थानखस्वस्तिकांतरं तन्मितं चतुर्थो भुजः। तत्क्षेत्रस्य तद्दृग्जा कर्ण इदं क्षितिजसमभूमावपि कोणशंकुमूलप्राच्यपरसूत्रांतरं भुज एकः। तन्मित एव दक्षिणोत्तर सूत्र तन्मूलांतरं द्वितीयः। प्राच्यपरसूत्रे च तन्मितोऽवयवस्तृतीयश्चतुर्थो भूगर्भशंकुमूलांतर सूत्रं दृग्जा कर्ण इति प्रत्यक्षम्। अतोऽत्र तत्कृत्यो र्योग पदमित्यनेन भुजवर्गो द्विगुणो दृग्जावर्गः। अयं त्रिज्या वर्गाच्छोध्यस्तन्मूलं कोण शंकुः। भुजस्तु शंकुमूलप्राच्यपसूत्रपर्यंतम्। तद्ज्ञान मग्राशंकुतलसंस्कारेण। तत्राग्राप्राच्यपरोदयास्त सूत्रांतररूपा। शंकुतलं तु शंकुमूलोदयास्त सूत्रांतररूपमतो निरक्षदेशादुत्तरभागे शंकुतलस्योदयास्त सूत्रात्सदा दक्षिणत्वादग्रायाश्च गोलदिक्स्थत्वाद्दक्षिण गोलेऽग्राशंकुतलयोर्योगे भुजत्वमुत्तरगोले तु शंकुतलाग्रांतरेण तत्रापि शंकुतलाधिकाग्राया शंकुमूलं प्राच्यपरसूत्राद्दक्षिणस्थत्वमित्यग्रोनशंकुतलं दक्षिणो भुजः। निरक्षदेशाद्दक्षिण भागे तु शंकुतलस्य सदोतरत्वादुत्तर गोले तद्योगो भुजः। दक्षिणगोले तदंतर यद्दिक्स्थं तद्भुज इति विपरीते गोले प्रत्यक्षम्। अथोक्तरीत्या निरक्षदेशे क्रांतिज्यायामेव भुजत्वं शंकुतलाभावादतः क्रांतिज्या वर्ग द्विगुणं त्रिज्या वर्गाच्छोधयेच्छेषस्य मूलं कोण शंकुः। इतरे देशे तु शंकज्ञानाच्छंकुतलाज्ञानेन भुजज्ञाना-

संभवादुक्तरीत्या कोणशंकु साधनमप्या चार्यैरग्रैव प्रथमं भुजः कल्पितः। लघुभूत प्रकारत्यागस्योचितत्वात्। अत उक्तमग्राकृतिं द्विगुणितां त्रिगुणस्य वर्गात्यक्त्वा पदं तदिह कोणनर इति। अयं सांतर इत्यस्माच्छुंकुतलं। कोणशंकुः कोटिः, शंकु तलं भुज इति कर्ण इत्यत्र क्षेत्रात्। द्वादशांगुलशंकुकोटौ पलभा भुजस्तदा कोण-शंकु कोटौ को भुज इत्यनुपातेन साधितमत उक्त मक्षभाघ्नोऽर्के हृत इति। भुज ज्ञानार्थमेकदिशि योगो भिन्नदिश्यतरमित्यग्राशंकु तलयोः संस्कारः कार्यस्तत्र निरक्ष-देशादुत्तरत्र दक्षिणगोल एकदिक्त्वादुत्तर गोले भिन्न दिकृत्द्योगांतरे, उपपन्ने। न च तद्दक्षिणतः याम्यगोले योगउत्तर गोलेंऽतरमिति प्रतिपादितत्त्वात्तत्र कथमेतदिति वाच्यम्। तत्रास्मादृशां संचाराभावात्तद्विचारास्योपेक्षितत्वात्। उक्तरीति वैप-रीत्येन सुज्ञेयत्वादुक्त प्रायं वा। अथ भुजवर्गो द्विगुणस्त्रिज्या वर्गाद्विशोध्य शेषमूलं कोण नरोऽयमपिसांतरः, स्थूलकोणशंकानीतशंकुतलस्य स्थूलत्वेन भुजस्य वास्तव-त्वादतोऽसकृत्कर्मणा वास्तव भुजात्कोणशंकुः सूक्ष्मः। एवं निरक्षदेशादुत्तरत्र। दक्षिणगोले आग्नेय्यां नैरृत्यां च शंकुः। एवं परमक्रांत्यधिकाक्षांशदेशे तु सदाग्नेयी नैरृत्योरेव शंकु नैशानीवायव्योरित्येवं सार्धराशिज्यामिताग्रावधि तदा तत्र दक्षिणोत्तर गोलयो ग्रहाधिष्ठित द्युरात्रवृत्ते क्षितिजासक्त एवाग्नेयैशानी कोणवृत्त-प्रदेशस्य लग्नत्वात्कोणशंकभाव एव। अत एवोक्त दिशा कोणशंकुः शून्यमित एव। एतेन-"सूर्याग्नेया इष्टसंयोजिताया वर्गे, त्रिज्या वर्गतो लोचनघ्नेत्युक्ते मूलं यत्र शंकुर्विदिक्स्थस्तत्राक्षभासंगुणेन सूर्यभक्ते लब्धमिष्टमसुना सहिताग्रा प्राग् वदेवमसकृन्नरसिद्धेः"। दक्षिणे सवितरि उत्तरगोलेऽग्रज्ययेष्टवियुजा विधिरेष इत्यत्र फलं प्रथममिष्टमग्रायां संस्कृतं तदुपयुक्त मिवेत्याचार्यैं सूचितं गौरवात्। उक्तस्थले इष्टसंस्कारेण शंकूत्पत्यापत्तेश्च। एवं यदाग्रासार्धराशिज्याधिका तत्र प्रथम तदुत्तरगोले ऐशान्यां शंकुः ततः समवृत्तप्रवेशस्तत आग्नेय्यां शंकुस्ततो मध्यान्हं ततो नैरृत्यां शंकुस्ततः समवृत्तप्रवेशस्ततोऽपि वायव्यां कोणशंकुरित्येक-स्मिन्दिने तच्छंकुचतुष्टयं याम्यगोले ऐवेत्युक्तरीति वैलक्षण्यस्य गोले प्रत्यक्षत्वा-दुक्तरीत्या तत्र कोण शंकुसाधनमसिद्ध मेवात एवमत्राग्रावर्गो द्विगुणस्त्रिज्या वर्गान्न शुद्ध्यतीति वर्गयुक्तेऽतो वक्ष्यमाणविधिना विपरीतशोधनादिना कोणशंकुस्तत्र सिद्ध्यति सोऽसंगत इत्यानयनप्रकारस्य व्यभिचारं कोणे कथयति तन्निवृत्यर्थं इहेत्युक्तम्।

तत्स्थलस्यालक्षयत्वात् अत्रेहेत्यस्य त्रिज्या वर्गान्न्यूने द्विगुणेऽग्रावर्गे इत्यर्थ-स्तेन सार्धराशिज्या तुल्याऽग्रा याम्याग्नेयां नैरृत्यां चोत्तरगोले शंकोर्गोल एव प्रत्यक्षत्वात्तत्रोक्त प्रकारेणतत्सिद्धिरितिनोक्तदोषस्तस्याप्यलक्षत्वादिति ध्येयम्। ननु व्यभिचारनिवृत्यर्थ मिहेत्यस्य तादृशार्थकरणं भ्रांति जल्पितायितम्। याम्यगोले लक्ष्यदेशेष्वपि कदाचिदस्य व्यभिचारदर्शनात्। तथाहि याम्यगोले प्रथमतः कोणशंकुरानीतस्तच्छंकुतलाग्रायोगो यदा सार्धराशिज्याधिक स्तदा तद्वर्गो द्विगुण-स्त्रिज्या वर्ग साध्य··· साधकत्वादिति द्वितीयपरिवर्त्तौ संभवात्कोणशंकानयन-मुक्तदिशा तन्नासंगतमिति व्यभिचारः। न च यत्र कचिच्छुद्धिविधाविति वक्ष्य-

माण विधिना कोणशंकानयनसंभवेन व्यभिचार इति वाच्यम् । धूलीकर्मणा सूर्यसिद्धांतोक्त प्रकारानीत कोणशंकुना बह्वंतरितत्वात् । किंच भुजवर्गो द्विगुणित इत्युक्तेन सिद्धभुजवर्गरूपदृग्ज्यावर्गस्य कोटिवर्गरूपशंकुवर्गज्ञानार्थं कर्णवर्गरूपत्रिज्यावर्गादेव शोधनावश्यकत्वात् । नहि विपरीत शोधनेन कोटि वर्गः संभवति । भुजवर्गस्य कोटिकर्णवर्ग योगत्वासिद्धेः ।

अन्यथा भवद्दर्शित व्यभिचारस्थलेऽप्युक्तरीति संभवेनेहार्थव्याघातापत्तेः । एतेन यत्राग्रावर्गो द्विगुणे न शुध्यति त्रिज्या वर्गात्तत्रयत्रेत्यादि वक्ष्यमाणविधिना करणे तेन न दोष इत्युक्तं निरस्तम् । प्रकारांतरानीतकोण शंकुना उक्तांतरितत्वात् । न च दृग्ज्यारूपभुजस्य वर्गः कर्णरूपत्रिज्यावर्गाधिक एव भवति । अन्यथा तस्य भुजत्वमेव व्याहतम् । अधिकस्य कर्णत्वात् । अतः फलयुक्ताग्रायाः सार्ध राशिज्यानधिकत्वमेव सर्वत्र संभवतीति व्यभिचारस्थलाप्रसिद्धेरितिवाच्यम् । याम्यगोलेऽयनसंधौ तत्स्थलस्य पंचाक्षभादिदेशे प्रसिद्धत्वात् । यथा च अक्षभाक्ष कर्णः २३ क्रांतिज्या ४८।४५ अग्रा दक्षिणा ५२।४९।३५। उक्तप्रकारेण कोणशंकुः ९३।५४।३०। शंकुतलस्थलमुक्तप्रकारेण ३९।७।४२। भुजः ९१।५७।१७ अस्य वर्गो ८४५५।४०।१५ द्विगुणः १६९११।२०।३० त्रिज्यावर्गान्न १४४०० शुध्यतीति स्पष्टम् । एवमन्यत्राऽपि । अत्र विपरीत कर्मणा कोणशंकुगणितं धूलीकर्मणा यत्किंचिदिति स्पष्टं ज्ञेयम् । अथ तत्र भुजवर्गस्य द्विगुणस्य त्रिज्या वर्गान्न्यूनत्व मेवेति गोले निर्णीतत्वात्प्रथमपरिवर्तागतकोणशंकोरग्रातुल्यभुजेन सिद्धत्वाद् शुद्धात्तस्माच्छंकुतलस्य कदाचिद् संबद्धत्वमिति प्रथमकोणशंकुरग्राहादानेयः । किंतु इष्टयोजिताग्रायाः भुजासन्नत्वेन सूक्ष्मासन्नत्वात्तस्या एव कोणशंकोः सूक्ष्मासन्नत्वात्तदानीतशंकुतलस्य सूक्ष्मासन्नत्वेन द्वितीयपरिवर्त्तादौ भुजस्य सार्धराशिज्या न्न्यूनत्वमेवेति न व्यभिचारः। अत एव लल्लश्रीपतिभ्यामिष्ट संस्कारो तु गते नोक्तः । न चैवं प्रथमपरिवर्त्त एवेष्टयोजनेन सार्धराशिज्याधिकत्वसंभवे पूर्वकोणशंकुपरिवर्त्ताभावात्सुतरां व्यभिचार इति वाच्यम् । सार्धराशिज्या न्न्यूनत्वसंपादनपूर्वकमिष्टस्य कल्पनात् । नचानियमेनेष्टकल्पनविशेषेणे परिवर्त्तांतरेप्यव्यभिचारस्यानिर्णयादिति । अनुगमेनेष्टकल्पनविशेषणपरिवर्त्तांतरेऽप्यव्यभिचारस्य निर्णयात् । तथाहि सार्धराशिज्याग्रयोरंतरस्य परेष्टत्वात्तन्मित शंकुतलात्कोणशंकुरुक्तरीतिवैपरीत्येनानेयः । अस्माद्वैपरीत्येन भुजचापं दक्षिणगोलेऽग्रोनः परमन्यूनमिष्टम् । तथाचानीत न्यूनेष्टादधिकं ज्ञानपरेष्टान्न्यूनमिष्टं कल्पनीयम् ।

तत्तु तद्योगार्द्धमितीत्यनुगमं यथोक्तस्थलेऽग्रा सार्धराशिज्यांतरं ३२।१।३५ द्वादशगुणमक्षभाप्तं कोण शंकुः ७६।४१।४८ अस्यवर्गः ५९०७।५८।१९ त्रिज्यावर्गात् १४४०० शुद्धः ८४९२।१।४२ अस्यार्धं ४२४६।०।५१ मूलं भुजः सांतरः ६५।९।४१ अग्रोनः १२२०।६ इदं परमन्यूनेष्टं परमाधिकमिष्टं तु ३२१।३५ अनयो र्योगार्थं २२।१०।५० प्रथमं कोणशंकुसाधनार्थो······ । यद्यप्येतादृशेष्टादुक्तप्रकारेण कोण-

शंकुः स्थिरो न भवति यथात्रैव भुजः ७५।०।२४ अस्य वर्गो द्विगुणः अ ११२५२ कोणशंकुः ५६।६।२५ शंकुतलं २३।२२।४० भुजः ७६।१२।१५ अस्मात्कोणशंकुः ५२।४६।५२ पुनर्भुजः ७४।४९।७ कोणशंकुः ५६।२५ भुजः ७६।२४।४५। कोणशंकुः ५२।१०।४१ भुजः ७४।३३।४८ कोणशंकुः ५७।१६।१०। तथापि पूर्वकोणशंकुतलादुत्पन्न द्वितीयशंकोर्वास्तवत्वाभावाद्योगार्धस्य कोणशंकुत्वम्। एवं तदुत्पन्न तच्छंको र्योगार्धमग्रे कोणशंकुरित्युत्तरोत्तरं गणितक्रिया करणेऽवश्यं तत् स्थिरत्वं भवति। यथा च प्रथमः ५६।६।२५ द्वितीयाकोणशंको ५२।४२।४२ र्योगार्धकोणशंकुः। ५४।२६।३८ अस्मादप्युक्तरीत्या कोणशंकुः ५४।३५।३६ अनयोरल्पमंतरत्वात् स्थिरत्वं सूपपन्नं अग्रे भवतीति न संशयः। त्रिज्यावर्गार्धतोऽग्राज्यावर्गोनाद्द्वाशदशाहतात्। पुनर्द्वादशनिघ्नाच्च लभ्यते यत्फलं बुधैः। शंकुवर्गार्धं संयुक्तविषुवद्वर्गभाजितात्। तदेव करणी नाम तां पृथक् स्थापयेद्बुधः। अर्कघ्नी विषुवच्छायाऽऽग्रज्यया गुणिता तथा। भक्ता फलाख्यं तद्वर्गसंयुक्तकरणी॰ पदम्। फलेन हीनसंयुक्तदक्षिणोत्तरगोलयोः याम्ययो र्विदिशोः शंकुरेवं याम्योत्तरे रवौ। परिभ्रमति शंकोस्तु शंकुरुत्तरयोस्तु स इति सूर्य सिद्धांतोक्तप्रकारेणापि करणी ६५४५।५२।२३। फलं ३२।४०।३४ मूलं ९७।१५।२१ फलोनं कोण शंकुरिति ५४।३४।४७ निर्विवादमितिचेन्न। तद्युक्तरीत्या सार्धराशिज्याग्रांतरं पूर्वमिष्ट शंकुतलमस्मात्कोणशंकुस्ततो भुजोऽग्रातः शोध्यो द्वितीयेष्टम्। तद्योगार्धमितेष्ट कल्पनेनोत्तरगोले कोणशंको रुक्तरीत्यासिद्धेः। दक्षिणगोले तु दिने तदभावा दिष्टयोजनेनाप्यसिद्धिर्युक्तैवेतीत्यर्थो संगत इतिचेत्—

मैवं, तत्रविलक्षणस्थितितयोक्त रीत्यसिद्धेस्तदसिद्धेः परिवर्त्तांतरासंभवात्। यथा च विंशत्यंगुलपलभायां नवति मिताग्रायां च पूर्वमिष्टं ५।८।५०। द्वितीयेष्टं ५।१०।३१। अनयो र्योगार्धमिष्टं ५।१९।४० कोणशंकुः २।१०।२६। अस्मादिष्टं पूर्वेष्टान्न्यूनमिति परिवर्त्तासंभवः।

गोल प्रत्यक्षासिद्धद्वितीयकोणशङ्कोरसिद्धेश्च। अथात एवामुं खरसंहृदिष्ट्वा त्सिद्धांतशेखरे सूर्यसिद्धांतोक्तराजमार्गेणैवानयन मुक्तप्रकार कथनानंतरं श्रीपतिनांगीकृतम्। तद्वाक्यं च। अग्राकृत्या विहीनं त्रिगुणकृतिदलं वेदशक्रघ्नमाद्यं सूर्याग्राक्षप्रभाणाग्रामभिहतिरपरो भक्त योरक्षभा सः। कृत्याश्चयाद्य यातोऽष्ट कृति सहिता····दाद्यतो यत्पदं स्यादन्येना विहीनं धनदयमककुभगोलयोः कोणशंकुः। उत्तरेतर विदिङ्नरो भवेदंत्तरे तु पदहीन युक्परः। दक्षिणेन सम मंडलात्ततो भाश्रुतिश्च घटिकाश्च पूर्ववदिति। अस्यार्थः। त्रिज्यावर्गार्द्धं अग्रावर्गेणोन यच्छेषं तच्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतगुणम्।

आद्य संज्ञो राशिः स्यात्। आद्यस्य परापेक्षत्वेन तदानयनमाह—सूर्येत्यादि। द्वादशग्राक्षभानां घातो पर संज्ञकः। अक्षभावर्गेण द्विसप्ततियुतेन भक्तयोरनयोः फले यथायोग्यं तौ आद्यान्यौ स्तः। अन्य वर्ग युतादाद्या द्यन्मूलं तत्। धनदयमककुभगोलयोः, उत्तर दक्षिण गोलयोः क्रमेणान्येन युतविहीनं

कोण शंकुः स्यात्। अथ यदा त्रिज्यार्धवर्गार्धोदग्रावर्गो न शुध्यति तदा त्रिज्या वर्गार्धमेवाग्रा वर्गाच्छोध्यं द्वादशवर्ग गुणोऽधः परस्तु यथोक्त एव। स्व हरेणोक्तेन हृतावाद्यपरौ। ततोऽन्य वर्गयुताद्यान्मूलं न ग्राह्यम्। किंतु परवर्गादाद्यो नान्मूलम्। यत्र क्वचिदित्युक्तत्वात्। एतेन यत्रैशानीमप्यतिक्रम्यांत्तरेण विवस्वानुदेति तदत्राग्रावर्गार्धान्नशुध्यति, तेन तत्र विपरीतशोधनंकृत्वा शेषस्य द्वादशवर्गाहतस्याद्य इति संज्ञा।

शेषं प्राग्वत्कर्म कृत्वा परात्परानीयते इति पृथूदकोक्तं निरस्तम्। ततोऽपि गोलक्रमेणोक्तं न कार्य मित्याह—उत्तरेत्यादि। उत्तरगोले तु उत्तर गोले परः पदेन हीनो युक्तः क्रमेण सममंडलादुत्तरेतर विदिङ्नरः स्यात्। यदोनः परः ऐशानीयवायव्ययोः शंकुरेक एव पद युक्तः पर आग्नेय-नैऋत्योः कल्प्य एव शंकुरित्ति। दक्षिण गोले तु न तदानीं दिने कोणशंकोरभावात्।

अत्रोपपत्तिः—बीजैकवर्णमध्यमाहरणेनकोणशंकुमानम्। या १। द्वादश कोटौ पलभाभुजस्तदाशंकु कोटौ को भुज इति कोणशंकुतलं या० प $\frac{१}{१२}$, अग्रा-संस्कृत भुजः दक्षिणगोले या० पर अ० $\frac{१२}{१२}$। उत्तरगोले समवृत्तादुत्तरत्र या० प० १ अ० १२।१२। दक्षिणे तु या प १ अ १२।१२। भुजवर्गः दक्षिण गोले याव पव र याप अ २४ अव $\frac{१४४}{१४४}$, उत्तरगोले याव पव १ या प अ २४ अव $\frac{१४४}{१४४}$ अयं द्विगुणो दृग्जावर्गः। दक्षिण गोले याव पवर याप अ २४ अव १४४ उत्तर गोले च याव यव १ याप अ २४ अव $\frac{१४४}{१४४}$ अयं कोण.शंकुवर्गहीनत्रिज्यावर्गरूप ज्यावर्गेण याव १ त्रिव १ सम इति समछेदी कृत्य छेदगमे शोधनार्थ न्यासः। दक्षिणोतर गोलयोः याव यव १ या अ २४ अव १४४ ६॥ ६। ६। ६। ६॥ याव पव १ याव अ २४ रु० अव १४४ अत्रैकाव्यक्त याव ७२ पव याप अ० त्रिव ७२ इत्यादिना व्यक्तपक्षोप याव ७२ पव याप अ० रु त्रिव ७२ प्रथमस्थाने द्विसप्ततिपलभावर्गयोगो यावद्वर्गगुणो धनं द्वितीय स्थाने पलभाग्रा चतुर्विंशतिघातो यावद्गुणउक्तं गोल-क्रमेण धनर्ण संज्ञा।। व्यक्तपक्षे तु द्वादशवर्ग गुणिताग्रावर्गस्त्रिज्या वर्गगुणित द्विसप्ततिभ्यः शोध्यस्तत्र लाघवादग्रावर्गोनं त्रिज्या वर्गार्ध द्वादशवर्ग गुणं, धनं-कृतमाद्य संज्ञम्। यदा तु न शुध्यति तदा त्रिज्यावर्गार्धोनाग्रावर्गो द्वादशवर्गगुणा आद्यसंज्ञरूप विपरीतत्वात्। अथाव्यक्तवर्गादि यदावशेषमित्यादिना पक्षयो मूलार्थमव्यक्त वर्गेणापवर्त्ताकः कार्यः। सत्वापवर्त्ताः पलभावर्ग द्विसप्तत्योर्योग एवापवर्त्तिते तु अव्यक्त पक्षे प्रथम स्थाने यावद्वर्गः। द्वितीयस्थाने लघुवर्णो द्विगुणो यावद्गुणो धनर्णसंज्ञः। रुपपक्षे लघुराद्यो धनर्णात्मकः। अथ मूलार्थ-मव्यक्तरुपान्यस्य वर्गो योजितस्तेनाव्यक्तपक्षमूलं दक्षिण गोले या १ प १। उत्तर गोले तु या १ पं १ वा या १ प १ रूपपक्षमूलमासाद्यस्य धनत्वे परवर्गयुता-द्यान्मूलमिति परन्तु आद्योनात्परवर्गान्मूलमत्रपरवर्गादाद्यस्यन्यूनत्व मेवेति शोधने न क्षतिः। अन्यथा विपरीत शोधने शेषस्वर्णस्य मूलासंभवापत्तेः। अथ पुनः समशोधनार्थं धनाद्यपक्षे मूलयोर्न्यासः। दक्षिण गोले या १ प १ उत्तर

गोले या १ प १ वा या १ प १ अत्र समशोधनेनोत्थापनेन च दक्षिणगोले प एनं मूलं कोणशंकु या मू १ धन संज्ञः मू या मू १ मूलस्य सदाऽधिकत्वात्। उत्तर गोले प्रथमपक्षाभ्यां परयुतं मूलं कोण शंकु धनसंज्ञः द्वितीयपक्षाभ्यां परोनं मूलं कोणशंकु ऋणम् । अत्रक्षितिजादूर्ध्वस्थानेन दृश्यत्वाद्धनत्वम् । क्षितिजा दधस्थत्वेनादृश्यत्वाददृश्यत्वम् । विपरीतत्वादत एवायं त्यक्तः । छाया-साधनायोग्यत्वादतः प्रथम श्लोकोक्तमुपपन्नम् । अथर्णाद्यपक्षे शोधनार्थं न्यासः-दक्षिण गोले । या १ प १ उत्तर गोले या १ प १ वा । या १ प १ अत्र मूलस्य परान्न्यूनत्वेन दक्षिणगोले समशोधनेन मूलोनपरः कोणशंकुकर्ण या मू १ या मू १ क्षितिजादधः कोणवृत्तस्थग्रहाधिष्ठित द्युरात्रवृत्तसंपातात्क्षितिजसमसूत्र पर्यंत मर्धज्याकारोप्यप्रयोजकः। छायासाधनार्थं उत्तर गोले तु परयुतमूलं कोण शंकुर्धनसंज्ञः प्रथम पक्षाभ्यामुत्पन्नः । द्वितीय पक्षाभ्यामपि मूलोनं परः कोण शंकुर्धनाख्य इति कोणशंकु द्वयमेककपाले तन्न प्रत्यक्षम् । तत्र समवृत्ता-दुत्तर दक्षिणयोः कोणशंकोः, न्यूनाधिकत्व मित्युपपन्नम् । द्वितीय श्लोकोक्तम् । तत्कथमेतदुक्त संमतं विहायैकदेशीयं तदानयनमपर्याप्तमुक्तस्थले तदनिर्वाहाच वक्तुमुचितं विशेषज्ञानामाचार्याणामिति चेत् । न वक्ष्यमाणेकानयनप्रकारेण तत्रापि निर्वाहात् । यथात्र सूर्यसिद्धांतोक्तप्रकारे नोक्तस्यातुल्यत्वाच्चेत्यलं पल्लवितेन ॥३१॥

दीपिका—कोणवृत्तस्थे रवौ भुजतुल्यैव कोटिरतो भुजकोटिवर्गयोगः कर्णवर्गसममर्थात् दृग्ज्यावर्गः स्यात् । तदूनत्रिज्यावर्गमूलं कोणशंकुस्स्यादिति कोणशङ्कोस्थितिः ।

यथा $२\ \text{भु}^{२} = \text{ज्या}^{२}\text{दृ}$

$\therefore\ \text{शं} = \sqrt{\text{त्रि}^{२} - २\ \text{भुज}^{२}}$ परमत्र शंकोरज्ञानाद्भुजो प्यज्ञात एवातोऽन्योन्याश्रय त्वात्केवलाग्रा सममवास्तवं भुजं प्रकल्प्योक्तवज्जातः ।

$\text{कोणशंकु} = \sqrt{\text{त्रि}^{२} - २\ \text{अग्रा}^{२}}$ अस्माच्छंकुतलम् $= \dfrac{\text{पलमा} \times \text{कोणशंकु}}{१२}$

ततोभुजः $= \text{अग्रा} \pm \text{शंकुतलम्}$ । अस्मात्कोणशंकुः $= \sqrt{\text{त्रि}^{२} - २\ \text{भु}^{२}}$

$\text{शंकुतल} = \dfrac{\text{पलमा} \times \text{शंकु}}{१२}$ । यतः $\text{अगा} \pm \text{शंकुतल} = \text{भु}'$ अतः $\text{शंकु} = \sqrt{\text{त्रि}^{२} - २\ \text{भु}^{२}}$

एवमसकृद्यावदविशेषः । इतोऽग्रेसर्वं स्फुटं "शिखायां" दृष्टव्यम् ।

शिखा—इष्टस्थानीय आकाशस्थ ग्रहबिम्ब के ऊपर खमध्यप्रोतवृत्त (दोनों खमध्यों और ग्रह बिम्ब पर गया हुआ जिसे दृग्वृत्त भी कहते हैं) करना चाहिए । ग्रहबिम्ब केन्द्र से क्षितिज धरातल पर लम्ब का नाम ग्रहशंकु है । इस शंकु का मूल दिक्सूत्र में होगा । दृग्वृत्त का सम्पात क्षितिज वृत्त के साथ अवश्य होता है, इसलिये भूगर्भ केन्द्र से दृग्वृत्त क्षितिज वृत्त सम्पात तक गये हुये सूत्र का ही नाम दिक्सूत्र है । एवं अपनी उत्तरा या दक्षिणा क्रान्ति तुल्य अन्तर की दूरी पर विषुवद्वृत्त से ग्रह का अहोरात्र वृत्त उत्तर या दक्षिण की तरफ रहेगा । अहोरात्र वृत्तों का क्षितिज वृत्त के साथ सर्वत्र दो

सम्पात होगा। (पूरब और पश्चिम की तरफ) इन दोनों सम्पातों पर गये हुये सूत्रों का नाम ग्रह का स्वोदयास्त सूत्र होगा। ये स्वोदयास्त सूत्र भूगर्भ विन्दु से अग्रा तुल्य दूरी पर परस्पर समानान्तरित होंगे। जिस दिन ग्रह की क्रान्ति स्वल्पान्तर से ० शून्य होगी उस दिन का अहोरात्रवृत्तनाडी (विषुवद् वृत्त ही) वृत्त ही है और इस दिन का स्वोदयास्त सूत्र भूगर्भ केन्द्र में जा सकता है और इस दिन की अग्रा भी स्वोदयास्त सूत्र के पूर्वापर सूत्रानुकारि होने से ० शून्य समान होगी। सर्वत्र स्वोदयास्त सूत्रों का पूर्वापर सूत्र से जो अन्तर है वही अग्रा है। एवं महाशंकु मूल (जो उक्त दिक्सूत्र में है) और पूर्वा पर सूत्र का याम्योत्तर अन्तर का नाम भुज है। तथा शंकुमूल और स्वोदयास्त सूत्र के अन्तर का नाम शंकुतल है। इस अग्रा और शंकुतल का एक दिशा में अन्तर भिन्न दिशा में योग करने से ("अग्रा शंकुतल संस्कारेण भुजः") उक्त भुज का ज्ञान किया गया है। कल्पना करिये उत्तर गोल में जब ग्रह बिम्ब है तो क्रान्ति भी उत्तर हुई, नाडी वृत्त से इष्टक्रान्ति तुल्य अन्तर से (९० − क्रान्ति) = द्युज्या व्यासार्ध से ध्रुव से वनाया गया जो भी अहोरात्र वृत्त होगा वह पूर्व कपाल में क्षितिज के साथ सम्पात करते हुये प्रायः सममण्डल (पूर्वापर वृत्त के) साथ सम्पात करेगा पुनः मध्याह्न की ओर आते हुये आग्नेय के कोणवृत्त से सम्पात करेगा पश्चात् मध्याह्न में याम्योत्तराहोरात्र वृत्त सम्पात होगा पुनः इसी क्रम से नैऋत्य दिशा के कोणवृत्त के साथ सम्पात करते हुये परकपालीय पूर्वापराहोरात्र सम्पात के अनन्तर पर कपालीय क्षितिजाहोरात्र सम्पात विन्दु पर ग्रह का अस्त देखा जावेगा। अस्तानन्तर रात्रि में अहोरात्र का वायु दिशा के कोण वृत्त सम्पातानन्तर अधो याम्योत्तराहोरात्र सम्पात पश्चात् ईशान दिशा के कोणवृत्त सम्पात से उठकर ऊपर फिर अपने पूर्व दिवसीय क्षितिजाहोरात्र वृत्त के साथ सम्पात करेगा। (एक दिन की क्रान्ति की गति की स्थिरता मानने से।)

पूर्वापराहोरात्रदृग्मण्डल सम्पातविन्दु से क्षितिज धरातलगत लम्ब, पूर्वापर शंकु, याम्योत्तराहोरात्र दृगृवत्त सम्पात से, याम्योत्तर शंकु उनमण्डलाहोरात्र दृग्वृत्त सम्पात से उनमण्डल शंकु एवं कोणवृत्ताहोरात्र दृगमण्डल सम्पात से कोण शंकु तथा इष्टस्थानीयाहोरात्रदृग्मण्डल सम्पात से क्षितिज धरातल गत शंकु का नाम इष्ट शंकु है।

यहाँ पर कोणवृत्ताहोरात्रदृङमण्डल सम्पात से क्षितिज धरातलीय लम्ब जिसका नाम कोण शंकु है इसी को गणित से कोणशंकु की छाया साधन करने के सिद्धान्त को उपपन्न करना ही आचार्य का अभिप्राय है।

सिद्धान्त का भाव—

त्रिज्या के वर्ग में द्विगुणित अग्रा का वर्ग घटाकर मूल लेने से यह कोणशंकु हो जाता है। यह स्थूल प्रकार है। इसकी सूक्ष्मता के लिये, इस कोण शंकु को पलभा से गुणाकर १२ से भाग देने से जो लब्धि आवै उसे अग्रा में जोड़ कर इससे पुनः कोण शंकु जानना चाहिए। पुनः कोण शंकु से उक्तवत् क्रिया कर लब्धि को अग्रा में जोड़ते हुये शंकु साधन करते हुये तब तक यह क्रिया करनी चाहिए जब तक बराबर करते रहने पर एक रूप का फल न आ जाय। यह सब दक्षिण गोलीय ग्रह बिम्ब के शंकु के लिये

करना चाहिए। उत्तर गोल में, आगत फल और अग्रा के अन्तर को ही अग्रा मानकर उक्त क्रिया बारबार करनी चाहिए इस प्रकार के गणित कर्म को असकृत् गणित कहते हैं।

इसमें क्या बीज है और उक्त सिद्धान्त कहाँ तक तथ्य है इस पर विचार करना चाहिए। **इसी की गवेषणा करनी है।**

यहाँ पर अग्रा और शंकुतल का योग या वियोग भुज होता है। शंकुतल का ज्ञान नहीं है केवल अग्रा का ज्ञान है इसलिये केवल अग्रा ज्ञान से स्पष्ट भुज का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये आचार्य ने एक तथ्य कल्पना कर असकृत् गणित से स्थिर भुज का ज्ञान किया है। वह निम्न भांति है—

जिस समय कोण वृत्त में ग्रह विम्ब रहेगा वहाँ से दिक्सूत्र में जो लम्ब होगा उसे कोण शंकु कहेंगे। इस समय अहोरात्रवृत्त क्षितिज वृत्त के सम्पात से पूर्व स्वस्तिक विन्दु तक क्षितिज में अग्रा चाप=४५° के होगा। क्योंकि खमध्य में ४ समकोण जो पूर्वापर और याम्योत्तर वृत्तों से बनते हैं उनमें समकोण का आधा करने वाला प्रत्येक कोण वृत्त खमध्य से ९०° की दूरी पर एक तो ईशान और नैऋत्य में और दूसरा अग्नि और वायु दिशाओं में, दोनों समस्थानों में, उत्तर समस्थान से ४५° पूर्व और ईशान का तथा दक्षिण समस्थान से ४५° पूर्व की ओर अग्नि और वायु ४५° पश्चिम की ओर नैऋत्य और ईशानदिग्गत कोणवृत्त होगा। इसी प्रकार पूर्वापर विन्दुओं से भी ४५° की दूरी पर कोण वृत्तोंकी क्षितिज में लगीं रहने की स्थति निश्चित है। इस जगह अग्रा चापांश मान ४५° ही होगा और अग्रा चापांश की ज्या भी ज्या ४५° की होगी जो शंकु मूल से पूर्वापर सूत्र तक गई हुई होगी। कोणवृत्त में ग्रह के रहने से कोणवृत्तीय शंकु मूल से भूगर्भ तक जो दृग्ज्या है वह भी ग्रह दृग्मण्डलीय नतांश की ज्या होगी। भूगर्भ से ग्रहबिम्ब तक त्रिज्या है। दृग्ज्या (दृक्सूत्रगत) कर्ण रूप होगी। कोणवृत्तीय रवि का पूर्वापर और याम्योत्तर वृत्तों के साथ ४५° का ही अन्तर होने से भुज और कोटि की तुल्यता से किसी भी ऐसे समकोण त्रिभुज में २ भु^{2}=कर्ण वर्ग के हो जाता है। जो भु^{2}+ को^{2}=अग्रा^{2}+अग्रा^{2}=(२ अग्रा)^{2}=^{2}(ज्या ४५°)^{2}=क^{2}=दृग्ज्या^{2} के तुल्य होगा। इस दृग्ज्या के वर्ग को त्रिज्या के वर्ग में घटा कर उसका मूल लेने से यह शंकु मूल से आकाशीय ग्रहविम्ब तक कोण वृत्तीय शंकु का मान होगा। यह स्थूल शंकु हुआ। क्योंकि यहाँ पर भुज ज्ञान नहीं है, और अग्रा के तुल्य भुज मान लिया है। शंकुतल का ज्ञान होता तो इसका अग्रा के साथ संस्कार से भुज ज्ञान हो जाता। अब उक्त स्थूल शंकु से अनुपात किया, अक्ष भाघ्नोऽनरोऽर्क हृदित्यादि से $\frac{\text{पलमा} \times \text{महाशंकु}}{१२}$=शंकुतल यह दक्षिण शंकुतल का ज्ञान हुआ। यह शंकुतल का याम्य और उत्तर गोल में क्रमशः योग और अन्तर करने से शंकु मूल से पूर्वापर सूत्र का अन्तर भुज का ज्ञान हुआ। किन्तु पूर्व स्थूल सम्बन्धेन स्थूलता यहाँ भी बनी ही है। फिर इस भुज को अग्रा में जोड़ देने से पूर्व की तरह कोण शंकु और शंकुतलादि का बारम्बार ज्ञान करते हुये स्थिर रूपता जब आ जाय तब स्थिर शंकुतल का ज्ञान होगा और तद्वशेन स्थिर भुज का भी ज्ञान हो जावेगा। इस प्रकार भुज ज्ञान से कोणवृत्तस्थ रवि की छाया का ज्ञान सुखेन हो जाता है।

यहाँ पर आचार्य का विशेष कथन है कि जिस देश में अग्रा सार्ध १।१५° राशि की ज्या २४३१ से अधिक हो जावेगी वहाँ दक्षिण गोल में इस समय कोणशंकु का अभाव हो जावेगा और उत्तर गोल में इस समय एक ही दिन में ४ चारों कोण शंकु दीख पड़ेंगे। वह देश होगा जहाँ की पलभा १७।५।२२ से अधिक होगी, यह देश ५५ अंक्षाश से ऊपर (रसा) "रूस" आदि में कोई स्थान हो सकता है।

४५° की ज्या से कम अग्रा पर भुज कोटि की तुल्यता नहीं होने से आचार्य का उक्त प्रकार (असकृत् गणित कर्म) ठीक हो सकता है। ४५° की ज्या के तुल्य अग्रा होने से २ भु^2=दृग्ज्या^2 तथा $\sqrt{\text{त्रि}^2 - \text{दृग्ज्या}^2}$=कोण शंकु समीचीन हैं, यहाँ असकृत कर्म की आवश्यकता नहीं होगी।

४५° की ज्या से कम अग्रा (Amplitude or its sine) में "भास्कराचार्य" का प्रकार बहुत जगह पर व्यभिचरित होता है यह म. म. गुरुणां गुरु सुधाकर का मत है— क्योंकि प्रथमागत स्थूल शंकु से साधित भुज वर्ग का दूना त्रिज्या वर्ग से अधिक हो जाता है। वस्तुतः यह कथन ठीक है, यह सौधाकरीय प्रकार निम्न भांति से स्पष्ट होगा, (यहाँ पर अग्रा=अ समझिये)।

$$\text{स्थूल शंकु} = \sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}}$$

उत्तर गोल में दक्षिण की विदिशाओं में—

$$\text{स्थूल भुज} = \frac{\text{वि}}{१२}\sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}^2} - \text{अ}$$ इसका मान यदि ४५° की ज्या के तुल्य होगा तो २ भुज^2 = त्रिज्या^2 इसलिये इसे ४५ पैंतालीस अंश की ज्या के साथ समानता दी जाने से—

$$\text{ज्या प} = \frac{\text{वि}}{१२}\sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}^2} - \text{अ}$$ (ज्या ४५° को "प" माना गया है।)

$$\therefore १२\ \text{अ} + १२\ \text{ज्याप} = \text{वि}\sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}^2}$$

वर्ग करने से, $\text{वि}^2\ \text{त्रि}^2 - २\ \text{वि}^2\ \text{अ}^2 = १४४\ (\text{अ}^2 + २\text{ज्याप अ} + \text{ज्या}^2\ \text{प})$
दो से अपवर्त्तन देने से

$$\text{ज्या}^2\ \text{प वि}^2 = \text{अ}^2\ \text{वि}^2 = ७२\ \text{अ}^2 + १४४\ \text{अ ज्या प} + ७२\ \text{ज्या}^2\ \text{प}$$

समशोधन से

$$\text{अ}^2\ (\text{वि}^2 + ७२) + १४४\ \text{अ ज्या प} = \text{ज्या प}^2\ (\text{वि}^2 - ७२)$$

$$\text{अ}^2 + २\frac{७२\ \text{ज्याप अ}}{\text{वि}^2 + ७२} + \frac{\text{ज्या}^2\ \text{प}\ (\text{वि}^2 - ७२)}{\text{वि}^2 + ७२}$$

वर्ग पूर्त्ति से

$$\text{अ}^2 + २\ \frac{७२\ \text{ज्या प अ}}{\text{वि}^2 + ७२} + \frac{७२^2\ \text{ज्या}^2\ \text{प}}{(\text{वि}^2 + ७२)^2} = \frac{७२^2\ \text{ज्या}^2\ \text{प}}{(\text{वि}^2 + ७२^2)} + \frac{\text{ज्या}^2\ \text{प}(\text{वि}^4 - ७२^2)}{(\text{वि}^2 + ७२^2)}$$

$$= \frac{\text{ज्या}^2\ \text{प वि}^4}{(\text{वि}^2 + ७२)^2}$$

मूल लेने से

$$अ + \frac{७२\ ज्याप}{वि^{२} + ७२} = \pm \frac{वि^{२}\ ज्याप}{वि^{२} + ७२}$$

इसलिये यहाँ अग्रा का धन मान $= अ = \frac{ज्या\ प\ (वि^{२} - ७२)}{वि^{२} + ७२}$

इस अग्रा में स्थूल भुज ४५° की ज्या के बराबर होता है। इससे कम अग्रा में स्थूल शंकु अधिक होने से शंकुतल भी अधिक होगा और इसमें स्थूल अग्रा कम करने से स्थूल भुज ४५° की ज्या से अधिक होने से द्वितीय कोण शंकु वर्ग ऋणात्मक होगा और इससे आगे की क्रिया में व्यभिचार का होना प्रत्यक्ष है।

इसलिये यहाँ पर "सुधाकर" का सूत्र अवतरित होता है जिसका हिन्दी अनुवाद निम्न भांति है—पलमा के वर्ग में ७२ कम कर उसे ४५° की ज्या से गुणा कर इसमें ७२ युक्त पलमा वर्ग से भाग देने पर जो लब्धि मिले इससे अग्रा जिस क्षण कम होगी उस समय भास्कर का प्रकार सदोष हो जावेगा।

इस प्रकार पलभा का वर्ग $\angle$ ७२ तो ऐसी स्थिति में आनीत अग्रा से कम अग्रा में व्यभिचार आवेगा।

इसी तरह पलभावर्ग $\angle$ ७२ तो ऋणात्मक अग्रा उत्तराग्रा से विपरीत दिशा की अर्थात् दक्षिण गोलीय होगी।

अब दक्षिणाग्रा से अधिक या कम अग्रा में स्थूल भुज ४५° की ज्या से अधिक होता है इस पर विचार करना है।

प्रथम भुजज्या से द्वितीय भुजज्या जितनी अधिक तथा ४५° की ज्या से कम हो तो प्रथम भुजज्या और कोटिज्या का योग द्वितीय भुजज्या और कोटिज्या के योग से कम होगा, जैसे—(क्षेत्र देखिये) त्रिज्या व्यास से एक उ क ग च घ वृत्तार्ध बनाना चाहिए। यहां पर उक=प्रथम भुजज्या। इसकी कोटिज्या=क घ

उग=द्वितीय भुजज्या। इसकी कोटिज्या=ग घ

उच=ज्या ४५°।

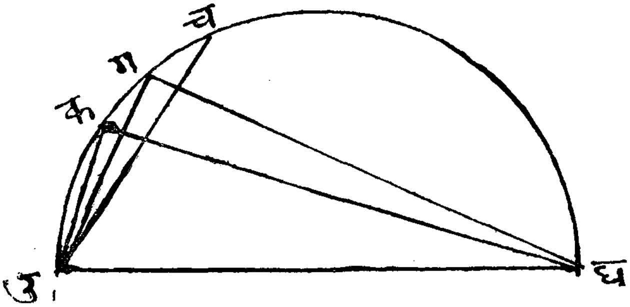

उघ रेखा पर क स्थान से किया गया लम्ब, ग स्थान से उघ रेखा पर किये गये लम्ब से छोटा होगा प्रत्यक्ष है।

अतः उ क घ समकोण त्रिभुज का फल उ ग घ समकोण त्रिभुज से कम होगा। वृत्तार्ध में दोनों समकोण त्रिभुज सजातीय (अनुपातीय) हैं।

$$\text{अतः} \frac{\text{उ ग. ग घ}}{२} > \frac{\text{उ क. क घ}}{२}$$

४ से गुणने पर २ उ ग. ग घ > २ उ क. क घ

परन्तु $\text{उ घ}^2 = \text{उ ग}^2 + \text{ग घ}^2 = \text{उ क}^2 + \text{क घ}^2$

मूल लेने से

उ ग + ग घ > उ क + क घ

यहाँ पर प्रथम भुजज्या और कोटिज्या का योग द्वितीय भुजज्या कोटिज्या के योग से बड़ा स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

$$\text{पहिले लाई गई दक्षिण की अग्रा} = \frac{\text{ज्याप}\ (७२ - \text{वि}^2)}{७२ + \text{वि}^2} = \text{अ}_१ \text{।}$$

इससे अधिक पैंतालीस अंश की ज्या से कम की अग्रा = $\text{अ}_२$

$$\text{तब स्थूल भुज} = \text{ज्या } ४५^\circ = \text{अ}_१ + \frac{\text{वि}}{१२}\sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}_१} \text{।}$$

$$\text{द्वितीय भुज} = \quad = \text{अ}_२ + \frac{\text{वि}}{१२}\sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}_१^2} \text{।}$$

इनमें कौन कितना अविक है इसके लियें—

$$\text{अ}_१ + \frac{\text{वि}}{१२}\sqrt{\text{त्रि}^3 - २\text{अ}_२^2} \lesseqgtr \text{अ}_२^2 + \frac{\text{वि}}{१२}\sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}_२^2}$$

$$\text{अथवा,}\ \text{अ}_१ - \frac{\text{अ}_१\text{वि}\sqrt{२}}{१२} + \frac{\text{अ}_१\text{वि}\sqrt{२}}{१२} + \frac{\text{वि}}{१२}\sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}_१^2}$$

$$\lesseqgtr \text{अ}_२ - \frac{\text{अ}_२\text{वि}\sqrt{२}}{१२} + \frac{\text{अ}_२\text{वि}\sqrt{२}}{१२} + \frac{\text{वि}}{१२}\sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}^2_{\text{अ}}}$$

$$\text{या—अ}_१ \left(\frac{१२ - \text{वि}\sqrt{२}}{१२}\right) + \frac{\text{वि}}{१२}\left(\text{अ}_२\sqrt{२} + \sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}^2}\right)$$

$$\lesseqgtr \text{अ}_२ \left(\frac{१२ - \text{वि}\sqrt{२}}{१२}\right) + \frac{\text{वि}}{१२}\left(\text{अ}_२\sqrt{२} + \sqrt{\text{त्रि}^2 - २\ \text{अ}^2}\right)$$

यहां यदि परम विषुवती वर्ग = ७२ तब

$$\text{वि} = ६\sqrt{२}$$

$$\text{वि}\sqrt{२} = ६\sqrt{२}\sqrt{२} = १२$$

अतः $\frac{१२ - \text{वि}\sqrt{२}}{१२}$ इसे गुणक कहना चाहिये जो सदा घन है।

इस लिये

$$\text{अ}_१\left(\frac{१२ - \text{वि}\sqrt{२}}{१२}\right) \angle\ \text{अ}_२\left(\frac{१२ - \text{वि}\sqrt{२}}{१२}\right)$$

यदि किसी चाप की भुजज्या $=$ अ$_{१}\sqrt{\text{२}}$

इससे अधिक भुजज्या $=$ अ$_{२}\sqrt{\text{२}}$ तब पूर्वोक्त

सिद्धान्त से

$$\frac{\text{वि}}{१२}(\text{अ}_{१}\sqrt{\text{२}}+\sqrt{(\text{त्रि}-२\ \text{अ}_{१}^{२})}) \angle \frac{\text{वि}}{१२}(\text{अ}_{२}\sqrt{\text{२}}+\sqrt{\text{त्रि}^{२}-२\ \text{अ}^{२}_{२}})$$

यदि अ$_{२}\sqrt{\text{२}}$ यह दूसरी भुजज्या पैंतालीस अंश की ज्या से कम है इसलिये प्रथम पक्ष से द्वितीय पक्ष कम सिद्ध होता है।

अथ यदि परम पलमा $=६\sqrt{\text{२}}$ तथा परम क्रान्तिज्या $=$ ज्याप तब परम अग्रा का वर्ग अक्ष क्षेत्र के अनुपात से $\text{प अ}^{२}=\frac{\text{पक.}^{२}\ \text{ज्याप}^{२}}{(१२)^{२}}=\frac{(१२^{२}+७२)\times\text{ज्याप}^{२}}{(१२)^{२}}$

$$=\frac{(१४४+७२)\ \text{ज्याप}}{१४४}=\frac{२१६\times\text{ज्याप}^{२}}{१४४}$$

$$=\frac{१८\times\text{ज्याप}^{२}}{१२}=\frac{३\times\text{ज्याप}^{२}}{२}$$

परम अग्रा का वर्ग द्विगुणित $=$ परम द्वितीय भुजज्या के वर्ग तुल्य $=३$ ज्याप^{२}

$$=३\ (१३९७)^{२}$$

$$=३\times १९५१६०९=५८५४८२७\ ।$$

पैंतालीस अंश कीज्या का वर्ग $=\frac{\text{त्रि}^{२}}{२}$

$=५९०९९२२$ इसलिये परम पलमा में परम अग्रा का वर्ग द्विगुणित करने पर ४५ की ज्या के वर्ग से कम हुआ।

अतएव यहाँ पर निम्न भांति "सुधाकर" प्रकार का अवतार हुआ है—

यदि फलमधनं स्यात् तह्र्यपाग्गोलयाते
फलत इह यदाऽग्राऽनल्पिका दुष्टमर्के
भवति विबुध वन्द्यो वासना वा स ना यः
सुगणकनिगदेच्चेन्निर्जरैरेव तुल्यः

(सूर्य सिद्धान्त सुधावर्षिणी के त्रिप्रश्नाधिकार से)

सूर्य सिद्धान्त में "त्रिज्यावर्गार्धतोऽग्राज्या वर्गोनाद्द्वादशाहतात्" इस सिद्धान्त से जिस देश में ४५° की ज्या से कम अग्रा होती है उसी स्थान में कोणशंकु लाया गया है।

और जिस समय उत्तरा क्रान्ति अक्षांश से अधिक होगी उस समय अहोरात्रवृत्त (Diurnal circle) और पूर्वापर वृत्त का क्षितिज के ऊपर योग नहीं होगा, इसलिये अहोरात्र वृत्त का ईशान वायु दिशा के ही कोणवृत्तों से सम्पात होगा।

इसीलिये सौर "सिद्धान्त का वाय्वीशानयोरेव कोणशंकुरत उत्तरयोस्तु सः" का यह कथन अत्यन्त महत्त्व रखता है।

इदानीं दिनार्द्धशङ्कर्थमाह—

स सौम्यगोलो भदलं यदाद्यं
याम्योऽपरं सायनभागभानोः ।
क्रान्तेः ककुब् गोलवशेन वेद्या
सदाक्षलम्बाविह याम्यसौम्यौ ॥३१॥
पलावलम्बावपमेन संस्कृतौ
नतोन्नते ते भवतो दिवादले ।
लवादिकं वा नवतेर्विशोधितं
नतं भवेदुन्नतमुन्नतं नतम् ॥३२॥

वा० भा० :—स्पष्टार्थः प्रथमः श्लोकः। पलावलम्बावपमेन संस्कृतो इति ।—अत्र किल विंशतिर्भागाः २० । पलो दक्षिणः। लम्बः सप्तत्यंशाः ७० । स चोत्तरः। खार्द्धाद्विषुवन्मण्डलं दक्षिणतो विप्रकृष्टमतो दक्षिणोऽक्षः। क्षितिजादुत्तरतोऽपि विषुवद्वृत्तमतो लम्बस्योत्तरसंज्ञा। अत्र समदिशोर्योगो भिन्नदिशोरन्तरं संस्कार उच्यते। अत्र किल रवेरुत्तरोऽपमो द्वादशभागाः १२। अनेनापमेन संस्कृतौ पललम्बौ जाते नतोन्नते ८।८२। यदाऽपम उत्तरश्चतुर्विंशतिभागाः २४, तदाऽपमाच्छुद्धेऽक्षे जातं नतमुत्तरम् ४। लम्बे च संस्कृते जातमुत्तरमुन्नतम् ९४। एतदर्थान्नवतेरधिकत्वात् साशीतिशतात् १८० शोधितमुन्नतं स्यात्। लवादिकं वा नवतेर्विशोधितमित्यतो वा।

मरीचिः—अथ गोलज्ञानं प्रसंगाद्दिनार्धशंक्वानयनं विवक्षुस्तदुपयुक्तं क्रांत्यादीनां दिक्संज्ञां चोपजातिकयाह। स इति। यत्—आद्यं पूर्वभदलं भानां मेषादिराशीनामर्धम्—मेषादिराशिषट्कं स सौम्यगोलः। अपरं तुलादिषट्कं दक्षिणो गोलस्तथा च यः सायनांशग्रहो यस्मिन्गोले भवति स तद्गोलस्थ इत्यर्थः॥ क्रांतेः—सूर्यक्रांतिज्याचापस्य सायनांशस्य गोलस्तद्वशेन। अधिष्ठितगोलानुसारेण। दिक्-ज्ञेया। सौम्यगोले उत्तरा, दक्षिणगोले दक्षिणाक्रांतिः। सूर्यस्योपलक्षणत्वेन यः सायनो ग्रहो यस्मिन् गोले तद्दिक् क्रांतिरित्यर्थः। पललंबांशयोर्दिग्ज्ञानमाह-सदेति। इह निरक्षदेशादुत्तरत्र सदा—नित्यम्। गोलद्वयेऽपीत्यर्थः। अक्षलंबौ पूर्वोक्तौ—क्रमेण याम्यसौम्यौ। अक्षांशाः, दक्षिणाः। लंबाशाः उत्तरा इत्यर्थः। निरक्षदेशाद्दक्षिणदेशे तु व्यस्तमित्यर्थ सिद्धम्।

अत्रोपपत्तिः—क्रांतिवृत्तं निरक्षपूर्वापररूपक्रांतिवृत्तप्रदेशविशेषश्रिममार्गानुमितविषुवद्वृत्तादर्धमुत्तरतोऽर्धं दक्षिणत इति सायनराशि षट्कं मेषाद्युत्तर गोलसंज्ञम्। तुलादि दक्षिणगोल संज्ञम्। क्रांति वृत्ताश्रयीभूताकाशस्य गोलत्वात्। यथा भूमौ निरक्षदेशानां भूमध्यस्थत्वं तथाकाशगोले तत्पूर्वापरवृत्तस्य तद्गोलमध्यत्वं गोलप्रांतनेमिस्थध्रुवमध्यस्थत्वात्। तस्यैव क्रांति-

मूलाश्रयित्वेन ग्रहाधिष्ठितक्रांतिवृत्तप्रदेशस्य तदग्राश्रयित्वाच्च गोलदिगीयत्वं क्रांतेः। अथ स्वखमध्याद्याम्योतरवृत्तेऽक्षांशांतरेण नाडिकावृत्तं दक्षिणतः, पलांशाः दक्षिणाः। दक्षिणक्षितिजप्रदेशान्नाडिकावृत्तं याम्योत्तरवृत्ते लंबाशान्तरेणोत्तरत इति लंबांशा उत्तराः। एवमधस्थनाडिकावृत्तप्रदेशोऽधः स्वस्तिकादुत्तरभागे-उत्तर क्षितिजाद्दक्षिणत इति क्षितिजाऽधः स्थानस्य प्रयोजनाभावत्तथा—नोक्तमिति ध्येयम्। एवं निरक्षदेशाद्दक्षिणे तु पूर्वापरक्षितिजवृत्तयोः व्यस्तसंस्थानेनोक्तविपरीतं गोले प्रत्यक्षं सुगमञ्च।

अथ दिनार्धशंकानयनार्थं मध्यान्हे नतोन्नतांशज्ञानमुपेद्रवज्रयाह—पलावलंबाविति। पलांशलंबांशौ क्रांत्यंशेन संस्कृतौ एकदिशोर्योगोभिन्न दिश्योरंतरमिति संस्कृतौ। दिवादले ते पललंबस्थानीये सिद्धे, मध्याह्ने ते नतोन्नते-लंवाऽपमे क्रमेण स्तः। अथोत्तरगोलेऽक्षांशाधिक क्रांतावुक्तदिशोन्नतं न साध्यमित्याह—लंबादिकमिति। पूर्वरीत्योत्तरगोलेऽक्षांशाधिक क्रांतौ यत् भागाद्यं नतं नवते र्विशोधितं शेषं लवादिकुमुन्नतं स्यात्। ननूक्त रीत्या तत्रोन्नतं साध्यम्। नवत्यधिकत्वात्। एवं दक्षिणगोले लंबांशाधिकक्रांतावुक्तदिशा नतं न साध्यमित्याह। उन्नतमितितादृशस्थले उक्तरीत्या भागाद्यं यदुन्नतं तन्नवते र्विशोधितं भागाद्यं नतं स्यात्। ननूक्तरीत्या नतं नवत्यधिकत्वात्। अन्यत्र पलावलंबावित्यनेनोन्नतनतज्ञाने नवत्यतर्गतत्वे न भवति तत्रापि लाघवान्नतान्यतरोक्तप्रकारेण प्रसाध्य लवादिकं वेत्यनेन तदितरं साध्यम्। प्रकारांतरत्वात्—अत एव वेत्युक्तम्। वस्तुत उन्नतं नतमित्युक्तम्। प्रकारांतरद्योतकमेव। अन्यथोक्तस्थले उक्तगणितप्रकारस्य विलक्षणगोलस्थित्यविषयत्वाभाव इत्यग्रे-आचार्यैः प्रतिपादितस्यानुपपत्तेः। तादृशस्थले तदानीं रात्रित्वान्नतोन्नतांश-विचारस्याप्रयोजकत्वाच्च।

अत्रोपपत्तिः—ग्रहाधिष्ठितद्युरात्रवृत्तयाम्योत्तरवृत्तसंपातः क्षितिजोर्ध्वस्थः स्वखमध्याद्यैरंशै याम्योत्तरवृत्ते नतस्ते नतांशाः, एवं क्षितिजात्तद्वृत्ते यैरंशैरुन्नतस्ते-उन्नतांशाः। नाडिकाद्युरात्तवृत्तयोरंतरे याम्योत्तरवृत्ते क्रांतिः। अक्षांशाः याम्योत्तरवृत्ते नाडिकावृत्ताखस्वस्तिकांतरे। अतो दक्षिणगोले क्रांत्यंशाक्षांशयोगो नतांशाः। उत्तरगोले तदंतरं नतांशाः। अंतरं यद्यक्षांशीयं तदा दक्षिणाः। खस्वस्तिकात् यदि क्रांतीयं तदोत्तरा इति। एवं याम्योत्तर दक्षिणक्षितिज प्रदेश संपातान्नाडिका मण्डलावधि याम्योत्तरवृत्ते लंबांशा उत्तरा। अतो दक्षिण गोले तदंतरमुन्नतांशाः, उत्तरगोले तु तद्योगे उन्नतांशाः। यदा त्वक्षांशाधिकक्रांतिस्तदा तत्संस्कारेणोन्नतत्वाभावात्। उत्तर क्षितिजादुन्नतत्वदर्शनाच्च। दक्षिणक्षितिजात्संस्कारेण ये उन्नतांशाः नवत्यधिकास्तएवाशीत्यधिक शतांशेभ्यो याम्योत्तर-वृत्तार्धरूपेभ्यः शोधितास्तदोत्तरा क्षितिजादुन्नतांशाः नवत्यूनाः दक्षिणाः भवंति। अतो लाघवात्स्वखार्धात्क्षितिजस्य याम्योत्तरवृत्तेऽक्षांशलंबाशयोगरूपनवत्यंशांतरे सत्वान्नतांशाः नवति शोधिता उन्नतांशा भवंति। खार्धा। क्षितिजांतरस्थ-याम्योत्तरवृत्ते नतोन्नतांशानां सत्वात्।

अत एवोन्नतांशाः नवति शुद्धाः नतांशाः भवंति। ध्रुवात्रवृत्तयाम्योत्तर-वृत्तसंपातस्य ग्रहाश्रययोग्यत्वाद्दिवादले इत्युक्तम्। अन्यथा मध्याह्नकालीनक्रांति-संस्कारस्यैवोक्तत्वापत्तेरिति सर्वं गोले प्रत्यक्षम्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—जब मेषादि ६ राशियों में सायन ग्रह रहता है तो उक्त साधित शंकु और छाया आदि उत्तरगोल की होती है, एवं तुलादि ६ राशि होने पर छाया आदि दक्षिण गोलीय कहनी चाहिए। इसी प्रकार उत्तर-दक्षिण गोलस्थ ग्रह के अनुसार क्रान्ति की दिशा भी समझनी चाहिए। अक्षांश सदा दक्षिण और लम्बांश सदा उत्तर का समझना चाहिए। दिनार्ध समय में याम्योत्तर अहोरात्र वृत्त सम्पातस्थ रवि का याम्योत्तरवृत्त ही Vertical Circle दृङ्मण्डल रूप है। यहाँ पर अक्षांश और लंबांश के साथ क्रान्ति का संस्कार करने से दिनार्ध कालीन नतांश और उन्नतांश का ज्ञान हो जावेगा। अंशादिक नत को नवे (९०) में घटा देने से उन्नत एवं उन्नत को नवे (९०) में घटा देने से नत हो जाता है।

यहाँ आचार्य उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण कर रहा है। जिस देश में अपने खमध्य से नाड़ी वृत्त का (विषुवद्वृत्त) दक्षिण की ओर झुकाव है वहाँ कल्पना कीजिए २०° अक्षांश है अर्थात् निरक्ष देशीय खमध्य से अपना खमध्य २०° की दूरी पर याम्योत्तर वृत्त में उत्तर की ओर है, ऐसा भी कह सकते हैं। इस जगह पर क्षितिज (ध्रुव-निरक्षदेशीय क्षितिज संसक्त है) वृत्त खमध्य विन्दु से ९०—२०=७०° उत्तर की तरफ कहना चाहिए। क्योंकि दक्षिण ध्रुव रूप क्षितिज विन्दु से नाड़ी वृत्त उत्तर की तरफ है। कल्पना किया कि रवि की उत्तरा क्रान्ति वारह अंश के तुल्य है। एक दिशा में योग भिन्न दिशा में अन्तर करने का नाम संस्कार कहा गया है इसलिये इस क्रान्ति १२ के साथ अक्षांश लम्बांश का संस्कार कर देने से २०—१२=८ यह नतांश ७०+१२=८२=लम्बांश क्रमशः सिद्ध होते हैं। यदि परम क्रान्ति २४° के तुल्य परम उत्तर गमन रवि का है तब २०—२४ यह विपरीत शोधन से-४° के तुल्य उत्तर का नतांश एवं ७०+२४=९४ यह १८०° से अधिक होने से १८०—९४=८६ अंश के तुल्य उत्तर का उन्नतांश हुआ। नतांश+उन्नतांश=९० =८६+४ के तुल्य गणित से स्पष्ट है। गोल देखने से तो यह बात अच्छी तरह बुद्धि में बैठ जाती है।

इदानीं शङ्कुं दृग्ज्याञ्चाह—

नतांशजीवा भवतीह दृग्ज्या दिनार्द्धशङ्कुश्च तथोन्नतज्या।

वा० भा०:—इह मध्याह्ने नतांशानां जीवा दृग्ज्या स्यात् तथोन्नतांशानां ज्या स दिनार्द्धशङ्कुः। वासनाऽत्र सुगमा।

मरीचि:—*

दीपिका—स्पष्टम्।

---

* अग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः।

शिखा—याम्योत्तराहोरात्र वृत्त सम्पात से ऊर्ध्वाधर सूत्र पर लम्ब सूत्र का नाम दृग्ज्या, एवं इसी बिन्दु से क्षितिज धरातल पर लम्ब का नाम मध्यान्ह शंकु, शंकुमूल से भूगर्भ बिन्दु तक भी दृग्ज्या है। तथा भूगर्भ बिन्दु से ऊर्ध्वाधर सूत्रगत नतांश ज्या मूल तक भी शंकु यह एक चतुर्भुजाकार क्षेत्र है, जो गोल देखने से स्पष्ट दीखता है। नतांश की ज्या का नाम दृग्ज्या एवं उन्नतांश की ज्या (Altitude) का नाम मध्यान्ह शंकु प्रसिद्ध है।

इदानीं प्रकारान्तरेणाह—

त्रिभज्यकोन्मण्डलशङ्कुघाताच्चरज्ययाप्तं खलु यष्टिसंज्ञम् ॥३३॥
युतोनितोद्वृत्तनरेण यष्टिका भवेदुदग्दक्षिणगोलयोर्नरः ।

वा० भा०ः—उन्मण्डलशङ्कौ त्रिज्यया गुणिते चरज्यया भक्ते यल्लब्धं सा यष्टिः स्यात्। सा यष्टिरुत्तरगोले उन्मण्डलशङ्कुना युक्ता दक्षिणे हीना सती दिनार्द्धशङ्कुर्भवति।

अत्रोपपत्तिः—क्षितिजोन्मण्डलयोर्मध्ये चरकालः। तस्य ज्याक्षकर्णवत् तिर्य्यग्रूपा; सा चरज्या। उन्मण्डलादूर्द्ध्वं याम्योत्तरवृत्तं यावद् यः कालः स सदैव सर्व्वत्र पञ्चदशघटिकात्मक एव। तस्य कालस्य ज्या त्रिज्या। इदानीमनुपातः। यदि चरज्ययोन्मण्डलशङ्कुतुल्यमूर्द्ध्वं लभ्यते, तदोन्मण्डलादूर्द्ध्वकालज्यया त्रिज्यया किम्? इति। फलमुन्मण्डलशङ्कुसमसूत्रादुपरि ऊर्द्ध्वरूपं भवति तस्य यष्टिसंज्ञा कृता। सा यष्टिरुन्मण्डलशङ्कुनोत्तरगोले युता दिनार्द्धशङ्कुः स्यादित्युपपन्नम्। दक्षिणगोले तून्मण्डलस्याधः स्थितत्वाद्धीना।

मरीचिः—अथ दृग्ज्यादिनार्धशंकोरानयनं प्रकारांतरेण दिनार्धशंक्वानयनं विवक्षुस्तदुपयुक्त यष्टिकानयनं चोपेन्द्रवज्रयाऽह्-नतांश जीवा इति। इहमध्याह्ने। नतांशजीवा-नतांशानां पूर्वागतानां ज्या या सा दृग्जा संज्ञा। तथा उन्नतांशानां पूर्वागतानां ज्या दिनार्धशंकुः। एतेन क्रांत्यक्षज्ययोः संस्कारे दृग्जा। लंब क्रांति-ज्ययोः संस्कारे मध्याह्ने शंकुश्च न भवतीति सूचितम्। त्रिज्योन्मंडलशंकोर्वधात्-भाज्यात्। चरज्यया हृतेन भक्ताद्यदाप्तफलं खल्वसंशयं यष्टिसंज्ञं स्यात्। कुज्योन्मंडल नृहतोश्चरजीवाप्तं भवेद्यष्टिरिति "लघ्वार्यभटोक्ते"श्च।

अत्रोपपत्तिः—नतांशानां ज्या याम्योत्तर वृत्ते। स्वद्युरात्रवृत्तसंपाता-न्मध्यसूत्रावधिसूत्ररूपाधंज्या भवति। उर्ध्वाधः स्वस्तिकप्रांतदृग्वृत्तस्य तदाका-रत्वाद्दङ्मंडलस्थांशानां ज्येति दृग्ज्या संज्ञा। एवमुन्नतांशानामपि, तद्वृतीयत्वेन ज्या लंबरूपेति दिनार्धशंकुः, योग्यत्वात्। अन्यथाभीष्टकाले दिनार्धशंकोरसिध्या-पत्तेः। अथोन्मंडलशंक्वग्रसूत्रेण दिनार्धशंकुसूत्रे लंबरूपे यत् स्थानं क्षितिजो-न्मडलयाम्यसूत्रयोरंतर्गतं तन्मूलावधि दिनार्धशंकुसूत्रं यष्टिः कोटिः। उन्मंडल-शंक्वग्रसमसूत्रेणोन्मंडलस्थयान्योत्तरसूत्रे यत् स्थानं तस्माल्लंबाग्रगं सूत्रं द्युज्याकर्णः। कोटिकर्णमूलयोरंतरसूत्रं भुज इत्यक्षक्षेत्रे दिनार्धशंकुः कोटिः, शंकुतलं भुजो हृतिः—

कर्णः। उन्मंडलशंकुः कोटिरग्राखंडं भुजः, कुज्या कर्ण इत्यक्षक्षेत्रयोः संकाराद्गोले प्रत्यक्षम्।

तद्यथा—उत्तरगोले उद्वृत्तशंकुहीनो दिनार्धशंकुर्यष्टिः कोटिः, कुज्योनहृतिर्द्युज्या कर्णः। अग्राग्रखंडोनशंकुतलं भुजः। एवं दक्षिणगोले उद्वृत्तशंकु युक्तो दिनार्ध शंकुर्यष्टिः कुज्यायुतहृतिर्द्युज्या कर्णः। अग्राग्रखंडयुतशंकुतलं भुजः। अतएव विषुवद्वृत्तशंको रभावात्समसूत्रेण दिनार्धशंकुमूलस्यैवयष्टि मूलकत्वाद्दिनार्धशंकु तुल्या यष्टिः। अतः कुज्याकर्णे तद्वृत्तशंकुः कोटिस्तदाद्युज्या कर्णे का कोटि इत्यनुपातेन यष्टि स्तत्रापि कुज्याचरज्ज्ययोः क्रमेण द्युज्या त्रिज्या प्रमाणेन सत्वात्त्रिज्या द्युज्या कुज्या स्थानेन लाघवात्क्रमेण चरज्या त्रिज्ये कृते, इत्युपपन्नं त्रिभज्यकेत्यादि। ननु चरज्या कर्णे उन्मंडलशंकुकोटिस्तदा त्रिज्या कर्णे का कोटिरिति यष्ट्यानयनमुपपन्नम्।

त्रिज्या कर्णे लंबज्यायाः कोटित्त्वेन तत्सिद्धयापत्तेः। यष्टेस्तत्कोटित्वाभावाच्च। अक्षक्षेत्रेषु चरज्याया नांगीकाराच्च। विषुवत्क्षेत्रेण तु साधकक्षेत्राभावादेवोक्तप्रकारेण यष्ट्या साधनमपि नित्याक्षक्षेत्राभ्यां लंबज्यातुल्यकर्णत्वमुत्पत्तेस्त्रिज्योन्मंडलशंकुचरज्यानां यथायोग्यं द्युज्याक्षक्षेत्रे कोटि तत्करणं परत्वेन व्याख्यानादन्यथोक्तरीत्या तत्र खगुणश्चिंत्यश्च शेषविधावित्यनेन शून्ये गुणके जाते खं हारश्चेत्पुनस्तदा राशिरविकृत एव ज्ञेय इति पाट्युक्तविधिना यष्टेस्त्रिज्यामितत्वे लंबज्यातुल्या दिनार्धशंकुसमत्वानुपपतेश्च।

न चैवं वधादौ वियत्खस्य खं खेन घाते इत्यस्य व्याख्यावसरे बीजगणित टीकायामत्र ख गुणश्चिंत्यश्च शेषविधावित्यादि पाटीस्थो विशेषो द्रष्टव्यः। अन्यथा त्रिभज्यकोन्मंडलशंकुघातादित्यादिना यष्ट्यानयने गोलसंधौ यष्ट्यभावापत्तेरिति दिगिति गुरुतरचरणैः कथमुक्तम्।

यष्टेस्त्रिज्या समत्वानुपपत्तेरिति वाच्यम्। गोल संधावित्यस्य भूगोलसंधौ निरक्षदेशे इति यावदित्यर्थोन्न तु विषुवत्क्षणे-इत्यर्थः। अन्यथा प्रत्यक्षसिद्ध लंबज्यातुल्यदिनार्धशंको र्युतोनितोद्वृत्तनरेण यष्टिकेति वक्ष्यमाणविधिना त्रिज्यासमत्वेनानुत्पत्यापत्तेरिति ध्येयम्। संप्रदायविदस्तु पलप्रभा व्यासदलेनेति वक्ष्यमाणैकानयनव्याख्याने मूलकृद्भिरेव तदुदाहरणनिरूपणांते एवं यदा क्रांतिज्या पूर्णा तदा खगुणश्चिंत्यश्च शेषविधावित्यादि गणितोक्तया शून्यपरिभाषयाग्रासमशंकादीनि साधितान्यन्येषामनुपातार्थं क्वचिन्न दुष्यंतीत्युक्तकथमन्यतस्तदुक्तरीत्याक्षप्रभासंगुणितापमज्यातद्द्वादशांशो भवति क्षितिज्येत्यनेन कुज्यारूपं विषुवक्षगुणेयं $\frac{१}{२}$ इदमेव चरज्यारूपम्। त्रिज्याद्युज्यायास्तत्रैकत्वात्। ततः क्रांतिज्यके कर्णगुणे विभक्ते कोट्यत्यनेन पूर्वाक्षक्षेत्रादग्रारूपा पंक $\frac{१}{२}$ ततोऽग्रादिखंडं च तथापमज्येत्यनेनाग्रा कर्ण क्रांति ज्या कोटिस्तदा कुज्या कर्णे का कोटि रित्यनुपातादुन्मंडलशंकु रुपं पं १ पक १ ततः सिद्धाभ्यां त्रिभज्यकोन्मण्डल शंकुघाता चरज्ययाप्तं खलु यष्टि संज्ञमिति। अनेन तत्र लंबज्यातुल्य यष्टिसिद्धिः सूपपन्नैव-

मन्यत्रापि प्रथमद्वितीयात्तद्देत्रसंचाराद्वयभिचारद्वारो ज्ञेयः एतदभिप्रायिकमेवेदं पद्यम्। यष्टे र्यद्विषुवद्दिनार्धजनरस्त्रिज्या समस्याच्चरज्योद्वृत्ताख्य नृसंत्तया-दिति न श्री भास्करोक्ते नयः। कैश्चिदितिप्रोक्तमिदं तु तै···गुणादुद्वृत्तना नो हितः स्वाज्ञानादिति भास्करोदितमसन्न ब्रूते स एवाबुध इत्यप्याहुः ।।३३।।

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—त्रिज्या गुणित उन्मण्डल (Six o' Clock Circle) शंकु में चरज्या का भाग देने से जो फल मिले उसे यष्टि कहते हैं उत्तर या दक्षिण गोलीय ग्रह में उन्मण्डल शंकु को यष्टि में क्रमशः जोड़ने और घटाने से दिनार्ध शंकु होगा ।

याम्योत्तर और अहोरात्र वृत्त के सम ़ ̈ से क्षितिज धरातल पर किये गये लम्ब का नाम "मध्यान्ह शंकु है । साक्ष देशीय और । ़क्ष देशीय क्षितिजों का अहोरात्रवृत्तीय जो अन्तर है वही चर काल है । निरक्षदेशीय क्षि। ों से, याम्योत्तर अहोरात्र वृत्त सम्पात तक सर्वत्र १५ घटी (६ घण्टा) समय होता है । अहोरात्रवृत्त और निरक्ष देशीय उदय क्षितिज से याम्योत्तर तक १५ घटी (६ घण्टा) याम्योत्तर से अस्त क्षितिज तक १५ घटी (६ घण्टा) एवं अस्त क्षितिज से अधः याम्योत्तराहोरात्रवृत्त सम्पात तक १५ घटी (६ घंटा) तथा अधः याम्योत्तराहोत्र से निरक्षदेशीयउदय क्षितिज तक भी १५ घटी (६ घण्टा) $=$ १५ $\times$ ४ $=$ ६० घटी अथवा ६ $\times$ ४ $=$ २४ घण्टा यह स्थिति गोल देखने से स्पष्ट समझ में आती है । इस १५ घटी चाप की ज्या त्रिज्या के तुल्य होगी ही ।

निरक्ष देशीय क्षितिज का उन्मण्डल के साथ जो सम्पात है वहाँ से क्षितिज वृत्तीय स्वोदयास्त सूत्र तक उन्मण्डल शंकु कोटि एवं कुज्या कर्ण, तथा अग्राग्र खण्ड भुज सम्बन्धी त्रिभुज में—

कुज्या में उन्मण्डल शंकु तो द्युज्या .होरात्र वृत्त व्यासार्द्ध) में क्या ? आनीत फल का नाम यष्टि है जैसे—

$$\text{यष्टि} = \frac{\text{उ० शं} \times \text{द्यु}}{\text{कु}} = \frac{\cdot \times \frac{\text{द्यु} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु}}}{\frac{\text{कु} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु}}}$$

$$= \frac{\text{ऊ. शं} \times \text{त्रि}}{\text{चरज्या}} \text{ यतः } \frac{\text{कु} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु}} = \text{चरज्या ।}$$

लघुवृत्तीय कुज्या चाप को महद्वत्त में परिणामन करने से निरक्षदेशीय और स्वदेशीय क्षितिजों के मध्यगत अहोरात्र वृत्तीय चाप का महद्वृत्तीय मान उक्त दोनों विन्दु गत ध्रुव प्रोतीय वृत्तों के नाड़ी वृत्त के साथ जो दो सम्पात हुये हैं वहीं पर पूर्व स्वस्तिक से स्वदेशीय क्षितिजाहोरात्रवृत्त सम्पातानान्तर्गत चाप के बीच में चरासु के तुल्य है जिसकी ज्या$=$ चरज्या हुई ।

यष्टि में उनमण्डल शंकु जोड़ देने से मध्यान्ह शंकु का मान सुस्पष्ट है ।

इदानीं हृतिमन्त्याञ्चाह—

क्षितिज्ययैवं द्युगुणश्च सा हृतिश्चरज्ययैवं त्रिगुणोऽपि सान्त्यका ॥३४॥

वा० भा०:—द्युज्यैवं क्षितिज्ययोत्तरगोले युता याम्ये रहिता हृतिर्भवति। एवं त्रिज्या चरजीवया युतोनान्त्या स्यात्।

अत्रोपपत्तिः—अत्र गोलेऽहोरात्रवृत्तक्षितिजसम्पातयोर्बद्धं यत् तदुदयास्तसूत्रम्। एवमुन्मण्डलसम्पातयोर्बद्धं तदहोरात्रवृत्तव्याससूत्रम्। तदुदयस्तसूत्रयोरन्तरं सर्वत्र कुज्या। अथ याम्योत्तरवृत्तसम्पातयोर्बद्धं तत् तन्मितं तस्य व्याससूत्रम्। तयोर्व्याससूत्रयोर्यः सम्पातस्तस्मादुपरितनं खण्डं द्युज्या। सोत्तरगोलेऽधःस्थया कुज्यया युता यावत् क्रियते तावद्दिनार्द्धेऽर्कोदयास्तसूत्रयोरन्तरं स्यात्। दक्षिणे तु कुज्यया हीना। अतस्तत्रोदयास्तसूत्रादधः कुज्या। यदर्कोदयास्तसूत्रयोरन्तरं सा च हृतिरुच्यते। एवमन्त्यापि। अत्राहोरात्रवृत्तव्यासार्द्धं त्रिज्यातुल्यैरङ्कैरङ्क्यते तावत् त्रिज्यातुल्यं भवति; तैरङ्कैर्यावत् कुज्या गण्यते तावच्चरज्यातुल्या भवति। अथ चरज्यया त्रिज्या युतोनान्त्यासंज्ञा भवति। न ह्यन्त्याहृत्योः क्षेत्रसंस्थानभेदः किन्त्वङ्कानां गुरुलघुत्वात् केवलं सङ्ख्याकृतो भेद इत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथ प्रकारांतरेण दिनार्धशंकानयनम् तदर्थं-हृत्यंत्ययोः साधनं वंश-स्थेनाह युतोनिता इति। यष्टिका उत्तरदक्षिणगोलयोः क्रमेणोद्वृत्त-शंकुना युताहीनादिनार्धशंकुः स्यात्। "यष्ट्युन्मंडल शंकुना युतिभेदाभ्यां गोलयो द्युदलशंकुरि"ति लघ्वार्योक्तेः द्युज्या कुज्यया। एवंमुत्तरदक्षिणगोलक्रमेण युतोना। अपि समुच्चयो सा सिद्धा तद्धृतिसंज्ञका स्यात्। त्रिज्या चरज्यया एवमुक्तरीत्या युतोना सा निष्पन्नात्या संज्ञा स्यात्।

अत्रोपपत्तिः—यष्टिकोन्मंडल शंकुना युक्तो नेत्यत्र प्रागुक्तवैपरीत्येनोक्तप्रायम्। अथ याम्योत्तरग्रहाधिष्ठितद्युरात्रवृत्तसंपातात्क्षितिजयाम्योत्तरसूत्रपर्यंतं द्युरात्रवृत्ते यत्सूत्रं सा हृतिः तस्याज्ञानं क्षितिजोन्मंडलयाम्योत्तरसूत्रांतरे तत्सूत्रे कुज्याया सत्वादुन्मंडलस्थयाम्योत्तरसूत्रावधि तत्सूत्रे द्युज्यामितत्वाच्चोक्तं प्रत्यक्षम्। अथ त्रिज्या द्युज्याव्यासार्धवृत्तयो नाडिकाहोरात्रवृत्तयोस्तत्र भ्रमणत्वादहोरावृत्तव्यासार्धे द्युज्या स्थानेऽपि त्रिज्या मानं धृतम् तदनुरोधात्कुज्या स्थाने चरज्या। तया सा संस्कृतोक्त रीत्या त्रिज्याप्रमाणेनहृतिसूत्र एव भवत्य तउक्त मुपपन्नम्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—पूर्व श्लोक में अहोरात्रवृत्तीय चरकाल, ध्रुव से ९०—क्रान्त्यंश=द्युज्या व्यासार्ध वृत्तीय वृत्त में क्षितिज और उन्मण्डल वृत्त के मध्य के टुकड़े के तुल्य है, उसे ध्रुव से पूर्व स्वस्तिक तक ९०° नवत्यंशीय नाड़ी वृत्त (विषुवद्वृत्त) में परिणामित कर देने से महद्वृत्तीय चर चाप उन्मण्डलाहोरात्रवृत्त सम्पात के ऊपर गये हुये ध्रुवप्रोत्तवृत्त नाड़ीवृत्त के सम्पात तक पूर्व स्वस्तिक से गोल देखने से प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

इसलिये परिणामन सिद्धान्त के अनुसार लघुवृत्त के व्यासार्ध को जिस जिस क्रम से बढ़ाते या घटाते जावेंगे उसी क्रम से लघुत्तीय ज्या और कोटिज्यादि पदार्थ भी घटते या बढ़ते रहने से द्युज्या वृत्त में कुज्या का जो स्वरूप है द्युज्या का परिणरत स्वरूप उसी वेग से त्रिज्यावृत्त में चरज्या हो जावेगा।

इस बात को आचार्य बड़ी युक्ति से "गोल पर समझा रहा है। यथा—

गोल पर ध्यान दीजिए—अहोरात्र वृत्त (Diurahcirche) और क्षितिज वृत्त के दोनों सम्पातों में गये प्रसिद्ध सूत्र का नाम स्वोदयास्त सूत्र है। इसी निरक्ष देशीय क्षितिज और अहोरात्र के दोनों सम्पातों पर गये सूत्र का नाम निरक्षोदयास्त सूत्र है। यह अहोरात्रवृत्त का व्यास भी है। इन दोनों सूत्रों का अन्तर सर्वत्र कुज्या के तुल्य है। याम्योत्तराहोरात्र वृत्त सम्पात से सोदयास्त सूत्र तक जो लम्ब किया जावेगा याम्योत्तर से निरक्षादियास्त सूत्र तक उसे अहोरात्रवृत्त का व्यास सूत्र या इसे द्युज्या कहेंगे। उत्तर गोल में स्वोदयास्त सूत्र से ऊपर दक्षिण गोल में नीचे निरक्षोदयास्त सूत्र होने से उक्त द्युज्या में गोलक्रम से कुज्या को जोड़ने और घटाने से द्युज्या (Diurnahcipele) होती है। सूर्य से उदयास्त सूत्र तक लम्ब का नाम इष्टहृति है जो द्यु ± कुज्या के तुल्य होती है। इष्ट स्थानीयाहोरात्रवृत्तनिष्ठग्रह केन्द्र के क्षितिज धरातलगत लम्ब का नाम इष्ट हृति है पूर्वापराहोरात्रवृत्त सम्पात से क्षितिज धरातलगत लम्ब का नाम तद्धृति तथा याम्योत्तराहोत्रवृत्त सम्मात से क्षितिज धरातलगत लम्ब का नाम हृति है। ये सब अहोरात्र वृत्त के धरातल में होते हैं। इस अहोरात्र वृत्त के व्यासार्ध द्युज्या को यदि त्रिज्या तुल्य अंकों से मापेंगे तो यह द्युज्या उस समय त्रिज्या कही जावेगी और त्रिज्या व्यासार्ध से जायमान वृत्त भी अहोरात्र वृत्त के समानान्तर विषुवद्वृत्त का रूप धारण करेगा और अहोरात्रवृत्तीय कुज्या का स्वरूप इस परिस्थिति में त्रिज्यावृत्तीय चरज्या का रूप धारण करेगा। अत एव अहोरात्रवृत्तीय इष्ट हृति, तद्धृति और हृति भी, इष्टान्त्या, अन्त्या नाम से प्रसिद्ध होगी।

यहाँ पर आचार्य ने लघुवृत्तीय ज्या, कोटिज्या आदिकों को महद्वत्तीय परिणामन किया है तथा विलोम से महद्वत्तीय पदार्थों को लघुवृत्तीय कर सकते हैं यह भी भाव प्रदर्शित किमा है। जैसे $\frac{१००}{१०} = \frac{५०}{५} = \frac{अ}{क} = \frac{\frac{अ}{२}}{\frac{क}{२}}$ से भी समझा जा सकता है। (चापीय त्रिकोणमिति में देखिये।)

इदानीमन्त्यातो हृतिं हृतेश्चान्त्यामाह—

हृतिस्त्रिमौर्व्या चरजीवया वा हता द्युमौर्व्या क्षितिजीवया वा।
भक्तान्त्यका स्यादथवान्त्यकाया हृतिर्गुणच्छेदविपर्ययेण ॥३५॥

वा० भा०:—हृतिस्त्रिज्यया गुणिता द्युज्यया भक्ता सत्यन्त्या भवति। अथवा चरज्यया गुणिता कुज्यया भक्तान्त्यका स्यात्। एवमन्त्या द्युज्यागुणा त्रिज्यया भक्ता हृतिः स्यात। अथवा कुज्यागुणा चरज्यया भक्ता हृतिः स्यात्।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन। यदि द्युज्यया त्रिज्या लभ्यते कुज्यया वा चरज्या तदा हृत्या किम्? इति। फलमन्त्या; यतो द्युज्यापरिणता कुज्या त्रिज्यापरिणता चरज्या। एवमन्त्यातो हृतिर्विलोमविधिनेति सर्वमुपपन्नम्।

मरीचिः—अर्थात्याहृत्योरेकज्ञानेतदितरज्ञानप्रकारद्वयेन प्रसंगादुपजातिकयाह हृतिरिति। हृतिस्त्रिज्यया चरज्यया वा गुणिता। गुण क्रमेण द्युज्यया वा भक्ता फलमंत्या स्यात्। गुणहरयोरुक्तयो र्व्यत्यासेनांत्यायाः सकाशाद्धृति र्भवति। अंत्या द्युज्यया कुज्यया वा गुणिता गुणक्रमेण त्रिज्यया चरज्यया वा भक्ता हृतिः स्यादित्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः—द्युज्या प्रमाणेन तद्धृतिस्तदा त्रिज्या प्रमाणेन का फलमंत्या। कुज्ययोर्ध्वं रुपाहृतिस्तदाचरज्ययोर्ध्वरुपा केति फलमंत्या। गुणहरव्यत्यासे नांत्याया हृतिरिति सुगमम्

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—हृति को त्रिज्या और चरज्या से क्रमशः गुणा कर द्युज्या और कुज्या से भाग देने से अन्त्या हो जाती है। अन्त्या ज्ञान से गुण हर के विपर्यय करने से हृति होती है।

चराग्रद्वयबद्धसूत्र पर याम्योत्तराहोरात्रवृत्त सम्पात से जो लम्ब होता है वह महद्वृत्तीयत्रिज्या वृत्त में अन्त्या होती है। याम्योत्तराहोरात्र वृत्त से स्योदयास्त सूत्र पर लम्ब, हृति होती है वह यह हृति अहोरात्रवृत्त के धरातल गत होने से द्युज्यावृत्तीय ही कही जावेगी। अतः हृति से अन्त्या या अन्त्या से हृति का ज्ञान त्रैराशिकानुपात से सुगम है—

यथा— $\frac{\text{हृति} \times \text{त्रि}}{\text{द्युज्या}} = \text{अन्त्या}$

अथवा $\frac{\text{चरज्या} \times \text{हृति}}{\text{कुज्या}} = \text{अन्त्या}$

एवम् अन्त्या से, $\frac{\text{अन्त्या} \times \text{द्युज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{हृति}$

अथवा $\frac{\text{कुज्या} \times \text{अन्त्या}}{\text{चरज्या}} = $ हृति आदि का ज्ञान सुस्पष्ट है।

इदानीमन्त्याहृतिभ्यां दिनार्द्धशङ्कुमाह—

अन्त्याथवोन्मण्डलशङ्कुनिघ्नी चरज्ययाप्ता स दिनार्द्धशङ्कुः।
हृतिः पलक्षेत्रजकोटिनिघ्नी तत्कर्णभक्ता यदि वा स शङ्कुः॥३६॥

वा० भा०:—अन्त्योन्मण्डलशङ्कुना गुणिता चरज्यया भक्ता फलं दिनार्द्ध-शङ्कुः। अथवाऽष्टधा हृतिरष्टाभिः पलक्षेत्रकोटिभिर्गुणिता स्वस्वकर्णेन भक्ता फलमष्टधा दिनार्धशङ्कुः।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन। यदि चरज्यातुल्येनान्त्याधःखण्डेनोन्मण्डलशङ्कुर्लभ्यते तदा समग्रयान्त्यया किम्? इति। फलं दिनार्द्धशङ्कुः। अथ हृतितः। हृतिर्नामाक्षकर्णगत्याकंप्रापि सूत्रम्। अतोऽक्षक्षेत्रकर्णैरनुपातः। यद्यक्षक्षेत्रकर्णेन तत्कोटिर्लभ्यते तदा हृत्या कर्णेन किम्? इति। फलमर्कोल्लम्बितसूत्रस्य भूपर्य्यन्तस्य प्रमाणं शङ्कुर्भवतीत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथांत्याहृतिभ्यां दिनार्धशंकानयन मुपजातिकयाह—अंत्याइति। अंत्या प्रागानीता, उन्मंडल शंकुगुणा चरज्यया भक्ता फलं सः पूर्वागत एव दिनार्ध शंकुः प्रकारांतरेण स्यात्। ननु विषुवत्क्षणे उन्मंडलशंकुचरज्ययोः न्यूनत्वेनोक्त कर्माण्यनुष्ठितेनैव दिनार्धशंकुर्भवति। अयं तु दिनार्धशंकुश्च तथाऽत्र तज्येत्यानीताद्भिन्न एवेत्यस्वरसाद्वाऽऽह-हृतिरिति-हृतिः पूर्वज्ञाता, पल क्षेत्रजकोटिनिघ्नी। पलक्षेत्रेभ्यः जाता पलक्षेत्रजाताःश्चताः कोटयश्च ताभिः अक्षक्षेत्रजकोटिभिः-अत्र परिसंख्याया परिमितत्वमेवोत्पन्नत्वमित्यंकात्मकाक्षक्षेत्रकोटिभिरित्यर्थः। यथाश्रुते जकारस्य व्यर्थत्वापत्तेः। गुणिता तत्कर्णभक्ता। तादृशकोटिभिर्यः कर्णास्तेनेत्यर्थः। यदि वा प्रकारांतरेण सः दिनार्धशंकुः तत्राथोन्नतज्येत्यानीत एव शंकुः स्यात्। तथा च पूर्वप्रकारस्य विषुवदतिरिक्त विषयत्वाद्विसंवादः····युक्त द्वितीयप्रकारेण तत्रांकात्मकक्षेत्रांतसिद्धि····दानयनस्यानुक्तेश्चेति न काचित्क्षतिः।

अत्रोपपत्तिः—कुज्या कर्णे उन्मंडल शंकुः कोटिस्तदा हृति कर्णे केत्यनुपाते कुज्याहृत्त्योर्द्युज्याप्रमाणेन सत्वात्तदनुसारेणांत्याचरज्ययोस्त्रिज्या प्रमाणेन सत्वात्तत्स्थानयोस्त एव कृते उभयथा फलस्यातुल्यत्वात्। अक्षक्षेत्रकर्णेऽक्षक्षेत्र कोटिस्तदा हृति कर्णे का कोटिरित्युक्त मुपपन्नम्। अत्र केचित्। यत्सिद्धांत शिरोमणौ समुदितं मध्यात्यंयोनाहतः संभक्तश्चरजीवया दिनदले शंकुर्भवेद्वाऽथ सः। अक्षक्षेत्रजकोटिभिर्विगुणितस्तत्कर्णभक्तो हृतिस्तत्सर्वं विषुवद्दिने व्यभिचरेत्यस्मान्मया नोदितम्। अस्यार्थः—

मध्याह्नांत्यंया ऊनोद्वृत्तशंकुर्गुणितः चरज्यया भक्तः मध्याह्ने शंकुर्भवेत्। अथानंतरं भवेत् प्रकारांतरेण सः दिनार्ध शंकुर्भवति। कथं भवत्यत आह—अक्षक्षेत्रजेति हृतिर्मध्यान्हहृदक्षकः। अक्षक्षेत्रेषूक्तेषु याः कोटयस्ताभिर्गुणितस्तत्कर्ण भक्तः फलं दिनार्धशंकुः स्यादित्यर्थः।

तत्र विगुणितात्तत्कर्णभक्तेति पाठः साधुः। अत्र तट्टीका कृता तदन्यदपि च एव शंकु रक्षक्षेत्र कोटिभिर्गुणितस्तत्कर्ण भक्तो हृतिरित्यादि तदित्यर्थ इति व्याख्यानं कृतम्। व्यभिचारोपदर्शनावसरे चोक्तार्थ निर्वाहाय तथैवापरत्राऽपि दुष्टतापन्ने न तादृशशंकुनानुपातांतरेण यद्यक्षक्षेत्रकोटिभिस्तत्कर्णास्तदा शंकुनानेन किमित्यादि रूपेणानीतं तदपि न संभवतीति स दोषमेवेति भ्रांत्या पूर्वापरविरुद्धं श्चोक्तम्। तन्न स्वोक्तानुपातेनैवोक्तार्थनिर्वाहात्। परमते-तथानुक्तेश्चेति। अंत्याथवोन्मंडल शंकुनिघ्नीत्यादिना भास्कराचार्यैः सिद्धांत शिरोमणौ यत् समुदितं उक्तं, तत् सर्वमसमंजसमन्यदपि साधारणाक्षक्षेत्रानुपातात् सिद्धम्।

यष्ट्यादि, अत्र सिद्धांतशिरोमणाविति प्रौढिमात्रम्। अंत्योद्वृत्तवधातश्चर-गुणभक्तो…यद्वेति लघ्वार्यभटसिद्धांतेप्युक्तत्वात्।

इदमुपलक्षणम्। लंबकार्कसमशंकपमैः छेदकः पृथगथाहतो हृतः व्यास-खंडपलकर्णतद्धृतीनाग्रकाभिरिह संति शंकवइति शिष्यधीवृद्धिदतंत्रे लल्लेन यदुक्तं तृतीयचतुर्थप्रकारानयनं च बोध्यम। विषुवद्दिने गोलसंधिकालीन साक्ष-देशे व्यभिचरति। व्यभिचारमघटमानत्वं प्राप्नोति। तद्यथा, प्रथमप्रकारे तत्र गुणहरयोः शून्यत्वे न वधादौ वियदित्युक्तपरिभाषाश्रयणेन तद्दिनार्धशंकोः शून्यत्व-मेवेति। तच्च लंबज्यातुल्यशंको गोले दर्शनात्स्फुटो व्यभिचारः। यदि तु खगुणश्चिंत्याश्च शेषविधावित्याचार्योक्तापि शेषमार्गेणापि शून्ये गुणके जाते खं हारश्चेत्पुनस्तदा राशिरविकृत इत्येकेनांत्या तुल्यत्वमेवदिनार्धशंकोः।

इदं तु गोले प्रत्यक्ष विरुद्धम्। न हि साक्षे देशे कोटेः कर्णतुल्यत्वं संभवति। अन्यथा क्षेत्र दर्शनानुपपत्तेः। एवं द्वितीयप्रकारे प्रथम द्वितीयाक्ष क्षेत्राभ्यां व्यभिचाराभावेप्यन्याक्षक्षेत्राणां संग्रहात्तच्छून्यतया प्राग्दर्शित एव व्यभिचारः। न च पूर्वं प्रकारास्वरसेनैव द्वितीयप्रकारस्योक्तत्वेन तस्य च सदुक्तार्थे न व्यभिचारशंकानवकाश इति सर्वं त्वदुक्तमसंबद्धमिति वाच्यम्। तदुपपत्त्या शून्यात्मकक्षेत्रनिराशाभावेनोक्तार्थस्यैवासंबद्धत्वात्। न च शून्यत्वे-नैव तदक्षक्षेत्रासंग्रहः। अन्यथा साधककोटिकर्णयोः शून्यत्वेन तुल्यत्वात्तदानीत प्रत्यक्षसाध्य क्षेत्रेऽपि कोटिकर्णयोस्त्वल्पत्वस्य ब्रह्मणाप्यनिवार्य्यत्वेन व्यभिचारा-पत्तेरिति वाच्यम्। तर्हि शून्यषड्विधकथनस्यासंगततापत्तेः खगुणश्चित्य-श्चेत्याद्युक्त विशेषस्य जलांजलिदानापत्तेश्च। तस्मादक्षक्षेत्रानुपातनिबद्ध प्रकाराः व्यभिचारिणः केऽपि भवंतीत्यंगीकार्यम्। प्रत्यक्ष दर्शनात्। उपसंहरति अस्मा-दिति भवदुक्तप्रकाराः, व्यभिचारेण इति हेतोः मया ज्ञानराजेन, स्वग्रंथे सिद्धांत सुन्दरेनोदितं नोक्तमित्यर्थ इत्यादितस्तच्चिंत्यम्। गोलसंधौ षडक्षक्षेत्राणां गोले प्रत्यक्षदर्शनाभावेन शून्यात्मकानामक्षक्षेत्रीयत्वाभावात्तेभ्यः आनयनमप्रसिद्धमिति नोक्तदोषः।

अत एव तथाकृते व्यभिचरतीति प्रत्यक्षम्। न हि भुजादीनां शून्यत्वे इदं जात्यत्र्यस्रमिति कस्यापि प्रतीतिः। कोटिकर्णभुजान्यतमाभावेऽपि क्षेत्रा-भावस्य स्फुटं प्रतीतेः। अत एव निरक्षेऽक्षक्षेत्राभावेनोक्तरीत्या सिद्धेः। तत्रैव खगुणश्चिंत्यश्चेत्याद्युक्तविशेष विषयस्य प्रसिद्धत्वात्।

अन्यथा एतेषु चान्य समदोः श्रुतिकोटिमानैः त्रैराशिकेन परजात्यभुजादि साध्यमिति भवदुक्तेन गोलसंधौ सर्वत्र क्रांतिज्या कोटौ कुज्या भुजस्तदा द्वादशां-गुलशंकु कोटौ को भुज इत्यनुपातादि सिद्धद्वादशमित पलभा निवारकोक्ताभावेन भवतामप्युक्त दोषग्रस्तकापत्ते रित्यलमभिनिवेशेन ॥३६॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—अन्त्या को उन्मण्डल शंकु से गुणा कर चरज्या से भाग देने से दिनार्द्ध शंकु होता है। अथवा हृति को अक्षक्षेत्रों के कोटियों से गुणा कर आठ प्रकार के अक्षत्रीय कर्णों से भाग दे देने से भी दिनार्धकालीन महाशंकु का ज्ञान सुस्पष्ट हो जाता है।

याम्योत्तराहोरात्रवृत्त सम्पात से क्षितिज धरातल गत लम्ब सूत्र मध्यान्ह शंकु है। शेष पूर्वोक्तानुपातों से सुस्पष्ट है।

इदानीं दिनार्द्धदृग्ज्यामाह—

हृतिः पलक्षेत्रभुजेन निघ्नी तत्कर्णभक्ताग्रकयोनयुक्ता।
गोलक्रमात् स्यादथवाऽत्र दृग्ज्या याम्याथ सौम्या विपरीतशुद्धौ ॥३७॥

वा० भा:—अथाष्टधा हृतिरष्टभिः पलक्षेत्रभुजैर्गुण्या स्वस्वकर्णेन भाज्या। यत् फलं तदुत्तरगोलेऽग्रया हीनं याम्ये युतं दिनार्द्धे दृग्ज्या स्यात्। सा च याम्या। यद्युत्तरगोले फलादग्रा न शुध्यति तदाग्रायाः फलमेव जह्यात्। शेषं दृग्ज्या तदा सौम्या स्यात्।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन। यदि पलक्षेत्रकर्णेन तद्भुजो लभ्यते तदा हृत्या किम्? इति। फलमुदयास्तसूत्राद्दक्षिणतः शङ्कुमूलं यावत् भवति। दृग्ज्या तु शङ्कुमूलप्राच्यपरयोरन्तरम्। अतः प्राच्यपरोदयास्तसूत्रयोरन्तरमग्रातुल्यं याम्यगोले तत्र क्षेप्यम्। उत्तरगोले तु तस्माद्विशोध्यम्। शेषं याम्या दृग्ज्या स्यादिति युक्तम्। यदा तूत्तरगोले खार्द्धादुत्तरतो रविर्वर्त्तते तदा शङ्कुमूलं प्राच्यपराया उत्तरतो भवति। अतस्तत्र फलादग्रा न शुध्यति। अग्रातो यावत् फलं विशोध्यते तावत् प्राच्यपराशङ्कुमूलयोरन्तरमवशिष्यते। सैव दृग्ज्या। एवं सौम्या चेत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथ प्रकारांतरेण दृग्जानयनमुपजातिकयाह-हृतिरिति। हृति रक्षक्षेत्रभुजेन गुणिता तस्य गुणकरूपभुजस्य कर्णेन भक्ता। या सिद्धास्ता गोलक्रमात्। उक्त गोलस्वरूपक्रमेण उत्तरदक्षिणगोलयो रित्यर्थः अग्रिकया क्रमेणोनयुक्ता कार्या। या सिद्धा सा याम्या-दक्षिणदिगीयादृग्जा, अत्र मध्याह्ने स्यात्। ननु फलादग्राया अधिकत्वेऽग्रोना तस्य तदा कथं भवतीत्यत आह—

अथेति अथ यदाग्रा न शुद्धति तदा फलोनाग्रा कार्येति विपरीत शुद्धौ शेषं सौम्या दृग्जा स्यादिति न क्षतिः।

अत्रोपपत्तिः—याम्योत्तरवृत्ते शंकुमूलप्राच्यपरसूत्रांतररूपभुजस्य दृग्जा तुल्यत्व दर्शनान्मध्याह्नभुज एव मध्याह्न दृग्जेति भुजः साध्यते। याम्योत्तरदृग्ज्येति भुजः साध्यते। याम्योत्तरदृग्वृत्तयो रैक्यात्। भुजः साध्यते। याम्योत्तरदृग्वृत्तयो रैक्यात्। स तु शंकुतलाग्रासंस्कारेण भवतीति प्रतिपादितः। अतः पलक्षेत्रकर्णे पलक्षेत्रभुजस्तदाहृति कर्णे को भुज इति शंकुतल मानीतं। एतस्य दक्षिणगोलेऽग्रा योज्या। दक्षिणगोलेऽग्रा योज्या। दक्षिणभुजः। उत्तरगोलेऽक्षांशानधिक क्रांतौ शंकुतलस्याग्राधिकत्वेनाग्रोनशंकुतलं दक्षिणो भुजः।

यदात्वक्षांशाधिकक्रांतिस्तदाशंकुमूलस्य पूर्वापरसूत्रादुत्तरादिक्स्थत्वेन शंकुतलस्य तन्न्यूनत्वाच्च तदंतरमुत्तरो भुज इत्युक्त मुपपन्नम् ।

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—अक्ष क्षेत्र के कर्ण में अक्ष क्षेत्र का भुज मिलता है तो हृति कर्ण में क्या मिलेगा ? यह लब्धि रूप फल उदयास्त सूत्र से दक्षिण शंकुमूल तक होगा । शंकुमूल पूर्वापर सूत्र का अन्तर दृग्ज्या होती है । एवं पूर्वापर और स्वोदयास्त सूत्र का सर्वत्र (Amplitude or its sine) दक्षिण उत्तर गोल में क्रमशः अग्रा$\pm$शंकुतल$=$भुज होता है।

खमध्य से ग्रहबिम्बोपरिगत दृग्मण्डल में ग्रहबिम्ब तक जो नतांश चाप है उसकी ज्या दृग्ज्या है । मध्यान्ह में याम्योत्तरवृत्त ही दृग्मण्डलाकार होने से यह दिनार्धकालीन दृग्ज्या कही गई है।

विशेष—यदि उत्तरगोल में खमध्य से उत्तर में रवि हो तो शंकुमूल पूर्वापर सूत्र से उत्तर की तरफ होगा—इसलिये पूर्वागतफल में अग्रा कम होने से अग्रा ही में फल छटने से उत्तरा दृग्ज्या होगी ।

इदानीं प्रकारान्तरेणाह—

गोलक्रमात् तद्धृतिहीनयुक्ता हृतिः पलक्षेत्रभुजेन निघ्नी ।
तत्कर्णभक्ता भवतीह दृग्ज्या प्रद्योतने वा द्युदलं प्रयाते ॥३८॥

वा० भा०:—हृतिरुत्तगोले तद्धृत्या हीना दक्षिणे युक्ता सा अष्टधा अष्टाभिः पलक्षेत्रभुजगुण्या स्वस्वकर्णेन भाज्या फलमष्टधा दृग्ज्या स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः—अहोरात्रवृत्तसममण्डलसम्पातयोः पूर्वपश्चिमयोर्यद्बद्धं सूत्रं तस्य याम्योत्तरवृत्तसम्पाते निबद्धहृतिसूत्रस्योदयास्तसूत्रपर्यन्तस्य यः सम्पातस्तस्मादधस्तनं हृतिखण्डं तद्धृतितुल्यं भवति । अतस्तेनोनिता हृतिरूर्द्धखण्डं समसूत्राद्दक्षिणतोऽक्षकर्णगत्यार्कपर्य्यन्तं भवति । अतस्तेनानुपातः । यद्यक्षक्षेत्रकर्णेन तद्भुजो लभ्यते तदाऽनेन किम् ? इति । फलं दृग्ज्या । दक्षिणगोले तु क्षितिजादधोऽहोरात्रवृत्तस्य सममण्डलेन सम्पातस्तत्राधोमुखः समशङ्कुः क्षितिजादधश्च तद्धृतिः । अतस्तया तद्धृत्येयं हृतिर्युताऽधः समसूत्राद्दक्षिणतोऽक्षकर्णगत्यार्कपर्य्यन्तं भवति । अतस्तयाऽनुपातः । फलं याम्या दृग्ज्या । खस्वतिकाद्दक्षिणोत्तरवृत्ते यैर्भागैरर्को नतस्तेषां ज्येत्यर्थः ।

मरीचिः—अथ लाघवेनैतदेवोपजातिकयाऽह । गोल क्रमादिति । हृति पूर्वोक्ता, उत्तरदक्षिणगोलयोः क्रमेण तद्धृत्या हीना युता वा । साक्षक्षेत्र भुजेन गुणिता । गुणरूपभुजस्य कर्णेन भक्ता फलमिहमध्याह्ने दृग्जा याम्यां विपरीत शुद्धौ सौम्येति प्रागुक्तमत्रापि योज्यम् । मध्याह्नज्ञानार्थ माह—प्रद्योतने इति । सूर्य बिंब केंद्रे द्युदलं दृश्याकाशपूर्वापरविभागार्थयद्दक्षिणोत्तरसूत्रं प्रतिप्रयाते गते ।

अत्र द्युदलं प्रयाते इति पाठे पूर्वापरद्युदलयोर्मध्ये प्रयाते इति समासादुक्तार्थस्य-शब्दादेवोपपत्तेः ।

अत्रोपपत्तिः—शंकुतलसंस्कारेण भुज इति शंकुतलं प्रागुक्तानुपातेन-पलक्षेत्रकर्णे पलक्षेत्रभुजस्तदा तद्धृति कर्णे को भुज इत्यनुपातेनाग्रतयोक्तरीत्या संस्कार इति हृतितद्धृत्योः शंकुतलाग्रासाधकयोरेकक्षेत्रानुसन्धानेन गुणहरयो-रुभयत्राभेदाल्लाघवाच्च साधकयोरेव गोलक्रमेण संस्कारः कृतस्ततो गुणहराभ्यां फलं संस्कारजमेव । क्रांत्यधिकाक्षदेशे हृतिस्तद्धृते न्यूनत्वादुक्तप्रकारेण याम्या दृग्जा । मध्याह्ने भुजदृग्जयोरभेदात् । अक्षांशाधिकक्रांतौ तु हृतितस्त-द्धृतेरधिकत्वाद्विपरीतशोधनपूर्वकमुक्तरीत्या सौम्या दृग्जेति प्रागुक्त मेव । ग्रहाधिष्ठितद्युरात्रवृत्त याम्योत्तरवृत्तसंपातप्रदेशस्येयं दृग्जा । अन्यदा तूक्त प्रकारेण दृग्जायाः मध्याह्नकालिकत्वाभावादिति सूचनार्थं प्रद्योतने वा द्युदलं प्रयाते इत्युक्तम् । पूर्वापर विभक्ताऽऽकाश खंडयोः संधावेव याम्योत्तर वृत्तत्वाभ्युपग-मादत उक्त मुपपन्नम् ॥३८॥

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—उत्तर दक्षिण गोलक्रम से हृति को तद्धृति से कम और अधिक कर अष्टधा स्थापित कर इस कर्णात्मक फल से अक्ष क्षेत्रानुपात से $\frac{\text{अक्ष क्षेत्र का भुज} \times \text{उक्त फल}}{\text{अक्ष क्षेत्र के कर्ण}}$, से दृग्ज्या भुज का ज्ञान सुगम है । "प्रद्योतेन वा द्युदलं प्रयाते"—का स्पष्टार्थ है कि याम्यो-त्तराहोरात्रवृत्तसम्पातस्थ रवि की स्थिति में उक्त दृग्ज्यानयन प्रकार ठीक है ।

विशेष—अक्षांशाधिक क्रान्ति में सूर्य का समण्डल (पूर्वापर) प्रवेश नहीं होने से ऐसी स्थिति में यहाँ पर समशंकु और तद्धृति का अभाव गोल देखने से प्रत्यक्ष है । (इस पर और भी विशेष प्रकार हो सकते हैं ।)

इदानीं प्रकारान्तरेणाह—

त्रिज्या नृचापोत्क्रमजीवयोना दृग्ज्या भवेदेवमतो नरो वा ।
एवं हि दृग्ज्या यदि वाखिलानां विदिक्समोद्वृत्तनरादिकानाम् ॥३९॥

वा० भा०:—त्रिज्या शङ्कुचापस्योत्क्रमज्यया हीना दृग्ज्या भवति । दृग्ज्या-चापस्योत्क्रमजीवयोना तदा शङ्कुर्भवति । अनेन प्रकारेण दिनार्द्धोन्मण्डलसम-शङ्क्वादीनां दृग्ज्या स्यात् । पूर्वं तु या कथिता सा दिनार्द्ध एव ।

अस्योपपत्तिर्भुजकोटिज्याप्रकरणे एव प्रतिपादिता ।

मरीचिः—अथ दृग्जाशंक्वन्यतरज्ञानेनतदितरज्ञानप्रकार मुपजातिकयाह—त्रिज्या इति । मध्याह्नकालिक शंकुचापस्य योत्क्रमज्या तया हीना त्रिज्या मध्याह्न दृग्जा यदि वा प्रकारांतरेण स्यात् । अतो दृग्जायाः सकाशादेवं मध्याह्नदृग्जा-चापोत्क्रमज्ययोना त्रिज्या मध्याह्नशंकुः प्रकारांतरेण स्यात् । अथोक्तप्रकार-

मन्यत्राप्यतिदिशति। एवमिति। एवमुक्तैतद्दृग्जानयनप्रकारेण। विदिक्-समोद्वृत्तनरादिकानां ? कोणसमोद्वृत्तनरादिकानाम्। आदिपदात्तद्वांतरादिक् शंकूनां ग्रहणम्। अखिलानां—समप्रशंकूनाम्। शंकुमात्राणां दृग्जास्यात्। तथा च यच्छंकुचापोत्क्रमंजीवया हीना त्रिज्या तच्छंकोर्दृग्जा स्यात्। हि असंशयम्। तेन पूर्वोक्त मध्याह्नदृग्जानयनप्रकारोदिष्टशंकुना दृग्जाया असाधनमिति सूचितम्।

अत्रोपपत्तिः—दृग्वृत्ते क्षितिजादुन्नतांशानां ज्या शंकु रतस्तच्चापस्योत्क्रमज्या क्षितिज शंकु मूलांतः सूत्रम्। तदूना त्रिज्या शंकु रिति गोले प्रत्यक्षम्। नतांशानां ज्यास्यात्सैव दृग्जा एवं दृग्ज्याचापोत्क्रमज्यानतांशज्या तत्सूत्रमूलखस्वस्तिकयो रंतरसूत्रम्। तदूनात्रिज्या शंकु रिति गोले प्रत्यक्षम्। शंकुः कोटिर्दृग्जा भुजस्त्रिज्या कर्ण इति छाया क्षेत्राच्च। मध्याह्नदृग्ज्या भुजयोस्तुल्यत्वादन्यत्र तुल्यत्वाभावाच्चेष्टशंकूनां पूर्वप्रकारेण दृग्जाया असाधनं युक्तमित्युक्तमुपपन्नम्॥३९॥

दीपिका—इहाऽहोरात्रदृग्मण्डलसम्पातो क्षितिजे यत्र वर्त्तते तस्माद्भूगर्भावधि त्रिज्या। अतः दृग्मण्डलाहोरात्रवृत्तसम्पाताद्दृक्कुजसूत्रोपरि यो हि लम्वः स एव शंकुरित्युपपन्नम्।

शिखा—शंकुचाप की उत्क्रम ज्या को त्रिज्या में कम करने से दृग्ज्या होती है एवं दृग्ज्या चाप की उत्क्रम ज्या को त्रिज्या में कम करने से शंकु होता है। यह क्रम सर्वत्र समण्डल उनन्मडल याम्योत्तरादिस्थित ग्रह का शंकु ज्ञान करना चाहिये। किसी भी इष्टाहोरात्रदृग्मण्डल सम्पातस्थ ग्रह से क्षितिज धरातल गत लम्ब का नाम शंकु है।

इदानीं छायाकर्णावाह—

दृग्ज्या त्रिजीवे रविसङ्गुणे ते शङ्कूद्धृते भाश्रवणौ भवेताम्।

वा० भा०—दृग्ज्या च त्रिज्या च द्वे द्वादशगुणे शङ्कुना भाज्ये। दृग्ज्या-स्थाने यत् फलं लभ्यते सा छायाङ्गुलात्मिका भवति। यत् त्रिज्यास्थाने सोऽस्याच्छायायाः कर्णः।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन। यदि शङ्कुकोटेर्दृग्ज्यात्रिज्ये भुजकर्णौ तदा द्वाद-शाङ्गुलशङ्कोः कौ ? फले छायाकर्णौ स्त इत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथेष्टदृग्ज्याशंकुभ्यां छाया तत्कर्णयोरानयनंप्रकारां तरेण मध्याह्न-छाया कर्णानयनमिद्रवजयाऽह—दृग्जा त्रिजीवे इति। दृग्जात्रिज्ये उभे द्वादश गुणिते, स्वदृग्जा संबंधिना शंकुना भक्ते। फले क्रमेण छाया तत्कर्णावंगुलात्मकौ भवतः।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—दृग्ज्या और त्रिज्या को द्वादश से गुणा कर शंकु से भाग देने से क्रमशः अंगुलात्मक छाया और कर्ण हो जाते हैं। अनुपात स्पष्ट है।

इदानीं प्रकारान्तरेण दिनार्द्धकर्णमाह—

त्रिज्याक्षकर्णेन गुणा विभक्ता हृत्या श्रुतिर्वा दिनमध्यगेऽर्के॥४०॥

वा० भा०—त्रिज्यामक्षकर्णेन सङ्गुण्य हृत्या भजेत्। फलं मध्यकर्णः स्यात्।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकाभ्याम्। यद्यक्षकर्णेन द्वादश १२ शङ्कुस्तदा हृत्या तुल्येन किम्? इति। अत्र हृतिर्द्वादशगुणाक्षकर्णेन भाज्या। फलं मध्यशङ्कुः। अथान्योऽनुपातः।—यदि मध्याह्नशङ्कुना त्रिज्याकर्णस्तदा द्वादशङ्गुल १२ शङ्कुना किम्? इति। इह त्रिज्या द्वादशगुणा पूर्वानीतशङ्कुरूपभाजकस्य छेदांशविपर्य्यासे कृतेऽक्षकर्णगुणा च द्वादशगुणया हृत्या भाज्या। अत्र गुणकभाजकयोर्द्वादशकयोर्नाशे कृते त्रिज्याक्षकर्णेन गुण्या हृत्या भाज्या। फलं मध्यकर्णः स्यात् इत्युपपन्नम्।

मरीचिः—मध्याह्न कर्णानयनमाह—त्रिज्येति। अक्ष कर्णेति। अक्ष कर्णेति। पलभा द्वादशयोर्वर्गयोग मूलेनेत्यर्थः। गुणिता मध्याह्नहृत्या भक्ता फलं कर्णः। प्रकारांतरेण मध्याह्ने भवतीत्याह। दिनमध्यगेऽर्के इति। दिनमध्यं, मध्याह्नं, तत्रागते प्राप्तेऽर्के मध्याह्नक्रियावच्छिन्ने सूर्ये इत्यर्थः। अनेन प्रकारेणेष्टकाले इष्टहृत्येष्टछायाकर्णो न भवतीत्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः—शंकुः कोटि दृग्जा भुजस्त्रिज्या कर्ण इति बृहत्क्षेत्रं शंकुद्वादशांशेनापवर्त्य लघु क्षेत्रं कल्पितम्। तत्र शंकुद्वादशांशेन शंकौ भक्ते फलस्य द्वादश मितत्वान्महाशंकु कोटौ दृग्जा भुजस्तदा द्वादशांगुलमित लघुशंकौ को भुज इत्यनुपातेन छाया सिध्यति।

द्वादशांगुलशंकुस्थानादपवर्त्तितभुजस्य भूमध्यात्तन्मितत्वात्। एवं महाशंकौ त्रिज्या कर्णस्तदा द्वादशकोटौ क इति लघुभुजकोट्यग्रांतररूपं तिर्यक्सूत्रं कर्णः। ननु बृहत्क्षेत्रस्यापवर्त्तनेन लघुक्षेत्रं सिद्धं तदंतर्गतत्वेन स्वकपाले इत्यपरकपालस्थितप्रत्यक्षछाया तत्कर्णौ द्वादशांगुलशंकोः कुतः सिद्धौ मानाभावात् नच पारिभाषिकाविति वाच्यम्। तन्मितछाया आदेशाभ्युपगमादिति चेदुच्यते। गणितमात्रस्य भूगर्भीयत्वेनाभीष्टकालीनतत्क्षितिजसक्तदृग्ज्याससूत्रे ग्रहस्थानादवलंबो महाशंकुः कोटिः भूगर्भलंबमूलयोरंतरमित तत्सूत्रखंडंभुजः ग्रहभूगर्भातरं दृग्वृत्तव्यासार्धं त्रिज्याकर्ण इति छाया क्षेत्रस्यापवर्त्तनेन लघुछाया क्षेत्रं भूगर्भीयमेवैककपाले तदंतर्गतत्वेन प्रत्यक्षम्। यथाहि—महाशंकुद्वादशांशेनापवर्त्तितो महाशंकुलघुद्वादशांगुलशंकुः कोटिस्तत्स्वरूपं तु महाशंकुमूलाद् द्वादशांगुलशंकुमानेन लंबे यच्चिन्हं तस्मात्समसूत्रेण तद्भुजानुकारेण यत्कर्णं त्रिज्यामितसूत्रे चिन्हं तस्माद्दृग्ज्याससूत्र पर्यंतं लंबः एतन्मूलाद्भूगर्भपर्यंत तत्सूत्रखंडं भुजः, अयमेव महाशंकुमूलरूपदीपतलाद्द्वादशांगुलशंकोरंतरितत्वेन छायात्वेन परिणतः भूगर्भलघुशंकग्रांतरं तत्कर्णखंडसूत्रं कर्ण इति। तस्माद्भूगर्भे ग्रहाधिष्ठितकपाल एव द्वादशांगुलशंकुस्तदंशरूपस्तन्मूलं भूगर्भात्सदैवांतरितं त छायाग्रभूगर्भ एव सदा भवति। खमध्यस्थग्रहे तु नतांशाभावाद्भूगर्भ एव द्वादशांगुल शंकुस्तच्छायाग्रमतस्तदैक्याच्छायाभावः। अत एव शंकु-

प्रदीपतलशंकुतलांतरघ्नः छाया भवेद्विनरदीपशिखौच्यभक्त इत्यनेन तद्वादशांगुल शंकुमूलमहाशंकुमूलांतरमाह······ज्ञानाभावात्-छायायाऽसिद्धिर्नहि भूगर्भे शंकु मूलयो र्नतांशज्यांतरं ये नतज्ञानात्तत्प्रकारेण तत्सिद्धिर्युक्ता। खमध्यस्थे तन्मूलयोरंतराभावादेवतच्छायायाः शून्यत्वं, एतेन खमध्यभिन्नस्थे ग्रहे च्छाया द्वादशांगुल शंकुर्भूस्थापितस्तदा तच्छंकुमूलयोर्नतज्यांतरज्ञानात्पाटीस्थप्रकारेण तच्छाया तदधिका सिध्यति तच्छायाग्रग्रहयोस्त्रिज्या तुल्यांतराभावादुक्तप्रकारेण तच्छायाया सिद्धिरिति वेद्यम्।

अत उक्तानयनस्य भूगर्भे सूपपन्नत्वमिति न क्षतिः। भूपृष्ठे तु यत्र कुत्रापि स्थाने स्थापितेष्ट द्वादशांगुल शंकोर्मूलं भूगर्भे एव भवतीति सदा महाशंकुद्वादशांगुलशंकुमूलयो र्नतज्यानुरोधेनांतरं भवत्यपि तच्छायाग्रस्य कुत्रापि स्थितस्य भूगर्भे समवायच्छायाग्रशंकुमूलयोर्नतस्य छायांतरेण सत्वाऽप्रानुरुद्ध खस्वस्तिकाभिप्रेतनतांशांतराभावादर्शनेन छायाग्रहयोस्त्रिज्यातुल्यांतरत्वादुक्तप्रकारेण छायायाऽपर कपालस्थाया आनयनं युक्तमेव भूगर्भादक्षदक्षेत्रसंस्थानवदत्रापि क्षेत्रसंस्थानात् इयानपरो विशेषः। भूगर्भे शंकोरस्थिरत्वं छायाग्रस्य स्थिरत्वम्। भूपृष्ठे तु शंकोः स्थिरत्वं छायाग्रस्यास्थिरत्वमिति। यत्तु द्रष्टा यत्रोदयमस्तं च पश्यति तत्क्षितिजं भूपृष्ठनिष्ठद्रष्टुर्दृगुच्छाय तुल्यं सर्वत्र समं दृश्यते।

क्षितिजादुन्नतांशानां ज्याशंकुः स तु दृगुच्छायादुपर्येवागतकोटिरायातीति इति स्वत एव विनरदीप शिखौच्यतुल्यो जातो यथा स्थितशंकुनैव भज्यते।

यथाधीयंत्रेण पलभाज्ञानप्रकारे दृगुच्छायादुपर्येव कोटिरायातीति यथास्थितैव कोटि गृह्यते। तथाऽत्रक्षितिजादेवोन्नतिरपेक्षितानन्तरादिति कोटिः केवलैवगृह्यते न दृगुछाययुतेति महाशंकुनैव भज्यते। विनरमहाशंकुना न भज्यते इति शोभनमित्याहुस्तत्रासंगतोक्तेरन्यथा दीपप्रभानयनार्थं दीपौच्यस्यैव हारत्वापतेर्न विनरदीपौच्यस्य तुल्यस्थिते रितिदिक्।

इयं छाया सूर्यबिंबकेंद्रीयेति न प्रत्यक्षा। प्रत्यक्षा छाया तु बिम्बोर्ध्वनेमेरिति ततो न्यूनैवातो यथागतोन्नतांशौ बिंबव्यासार्धकलाभिः क्रमेण युतोनौ तौ भवत्युक्तदिशा प्रत्यक्षछायेति तदानयनं सुगमत्वादुपेक्षितम्। नलिकाबन्धादौ केन्द्रीय छायायाः प्रयोजकत्वेन प्रत्यक्षछाया प्रयोजकत्वे न प्रत्यक्ष छाया प्रयोजनाभावेन च तदावश्यकत्वाभावाच्च।

अथोक्त दिशा विषुवद्दिनार्धे पलभा-छायाऽक्षकर्णः, कर्ण एव भवत्यत्र हृतेस्त्रिज्यातुल्यतुल्यहृत्याक्षकर्णः छाया कर्णस्तदाभीष्ट मध्याह्न हृत्या क इत्यनुपातेनोत्तरदक्षिणगोलयोः क्रमेणहृते त्रिज्यातोऽधिकन्यूनत्वादक्षकर्णादपि मध्याह्नकर्णाधिको न्यूनश्चापतति। एतत्तु नतांशानां न्यूनाधिकत्वदर्शनादति विरुद्धमत इच्छा वृद्धौ फले ह्रासो ह्रासे वृद्धिश्जायते। व्यस्त त्रैराशिकं तत्र ज्ञेयं गणित कोविदैरित्याद्युक्तेन व्यस्तविधि र्विलोमे इत्युक्तेन च प्रमाणे गुणोऽक्षकर्णः, इच्छा भक्ते फलं दिनार्धे शंकुछायाकर्णः। नन्वेवं पलभावशान्मध्य छायापि भवत्विति

चेत् न। त्रिज्याहृत्योः साजात्येऽपि तत्कर्णं तेन भुजत्वाभावात्पलभयानुपातोनुपपन्न इत्यस्य स्फुटोक्तेरिति नव्याः। संप्रदायविदस्तु, पलकर्णे द्वादश कोटि स्तदा मध्याह्न हृति कर्णे का* कोटिरिति हृते द्वादशपलकर्णौगुण-हराविति मध्याह्न शंकोः स्वरूपम्।

अनेन शंकुना त्रिज्या कर्णो लभ्यते तदा द्वादशांगुल शंकुना क इति छाया कर्ण स्तत्र त्रिज्यायाः द्वादशगुणः मध्याह्नशंकु स्ताद्दग्धर इति छेदं लवं च परिवर्त्य हरस्य शेषः कार्योऽथ भागहरणे गुणनाविधिश्चेत्याद्युक्तेन द्वादशाहृतिहरौ पल कर्णे गुणस्तत्र द्वादशमितयोर्गुणहरयो र्नाशा दुक्तमुपपन्नम्। अत एव त्रिज्या स्थाने दृग्जायाः फलत्व कल्पनेनोक्तरीत्या मध्याह्नछायापि सिद्ध्यतीत्याहुः।

दीपिका—मरिचौ स्पष्टा।

शिखा—याम्योत्तराऽहोरात्रवृत्त से क्षितिज धरातल गत लम्बसूत्र कोटिरूपशंकु का नाम मध्यान्ह कालीन शंकु है। मध्यान्हकालीन नतांशज्या यहाँ भुज है, तथा भूगर्भ से याम्योत्तराहोरात्रवृत्तसम्पातगत त्रिज्या सूत्र कर्ण है। इस क्षेत्र का द्वादश पलभा, पल कर्ण क्षेत्र से साजात्य होने से $\frac{\text{त्रि} \times १२}{\text{म.शं}}$ = मध्यान्ह छाया कर्ण का ज्ञान किया गया है।

किन्तु मं शं = $\frac{१२ \times \text{हृ.}}{\text{प क कर्ण}}$ का उत्थापन देने से $\frac{\text{त्रि} \times १२ \times \text{प क}}{१२ \times \text{हृ}} = \frac{\text{त्रि} \times \text{प क}}{\text{हृ.}}$ = मध्यान्ह कर्ण ज्ञान स्पष्ट है।

विशेष—यहाँ पर "उत्तरोत्तरं मुजीनां प्रामाण्यम्" से गर्भीय और पृष्ठीय शंकु भेद से यह अनुपात गर्भीय शंकु से किया गया है अतः इस छायानुपात को स्थूल कहना चाहिए, क्योंकि छाया तो भू पृष्ठ पर ही दृगोचर होती है। भूगर्भ विन्दु ग्रह कक्षा केन्द्र भले ही कहा जाय किन्तु इसका दृगोचर होना संभव नहीं है, अत एव गर्भीय शंकु में दृगुच्छिति+१२ अंगुल शंकु को कम करने से जो पृष्ठीय शंकु उत्पन्न होता है उसी से छायाकर्णानुपात करना समुचित है। इत्यादि इस विषय पर आचार्यों ने बहुत सूक्ष्म मनन करने योग्य ग्रह गोलीय विचारों को व्यक्त किया है जो अवश्य महत्व के हैं, तथापि भास्कराचार्य ने उक्त विषय को समझ कर गर्भ पृष्ठ भेद का अनिर्वाच्य अन्तर होने से इसकी उपेक्षा की होगी–दिक्।

इदानीं प्रकारान्तरेणाह—

युतायनांशार्कबृहद्भुजज्यया खरामतिथ्यभ्रभुवो १०१५३० हृताः परः।
पलश्रुतिघ्नः पलभाविभाजितः परोऽथवोदक्तगते रवौ श्रुतिः ॥४१॥

वा० भा०—अर्कस्य सायनांशस्य बृहती भुजज्या साध्या। न लघुखण्डज्येत्यर्थः। तयाज्यया पूर्णाग्नितिथिशून्यशशिनः १०१५३० भाज्याः। यल्लब्धमसौ

*चिह्नाङ्कित पर्यन्तं मूलकोषेसु क्वचिल्लभ्यते क्वचिन्नेति लेखकदोषः।

पराख्यः। स परः पलकर्णेन गुण्यः पलभया भाज्यः। फलमुन्मण्डलगतस्यार्कस्य छायाकर्णो वा भवति।

मरीचिः—अथ प्रकारांतरेणोन्मंडलशंकोः छायाकर्णं वंशस्थेनाह—युतायनांशार्क बृहद्भुजज्यया इति। परः अक्षकर्ण गुणः पलभया भक्तः श्रुतिः, उद्वृत्त गते रवौ। उन्मंडल शंकोः छाया कर्ण इत्यर्थः। तत्रस्थे सूर्ये अनेन प्रकारेणानीतः छायाकर्णो मुख्यः। अन्यदाप्युन्मंडलशंकोः छायाकर्ण सिद्धावपि प्रत्यक्षत्वाभावादमुख्यत्वमिति सूचयितुं तथोक्तमिति प्रागुवत् सुबुधोक्तम्। ननु पराज्ञानात्कथमेतदतआह—

युतायनांशेति। खरामतिथ्यश्चभुवोऽका एते १०१५३० सायनांशसूर्यस्य महज्ज्याप्रकारेण या भुजज्या तयेत्यर्थः। एतेन लघुज्या निरासोऽर्थ सिद्धएव। भक्ताः फलं परः स्यादिति न क्षतिरिति भावः।

अत्रोपपत्तिः—उन्मंडलशंकुना त्रिज्या कर्णस्तदा द्वादशांगुलशंकुना क इत्यनुपातेन छायाकर्णस्तत्र पलकर्ण पलभा भुजस्तदा क्रांतिज्या कर्णे को भुज इत्युन्मंडल शंकुहरः कृतः। अत्रापि जिनांशमौर्व्येत्यादि सिद्धक्रांतिज्या स्वरूपमंगीकृतम्। तत्रेष्टज्या सायनांशार्कस्यैवति। भुजज्या परमक्रांतिज्यायाः गुणस्त्रिज्याहर इति क्रांतिज्या रूपम्। तत उक्त दिशोन्मंडलस्वरूपे च पलभा पल कर्णौ गुण हरावधिकौ। ततोप्येतादृशहरेण भक्ते छेदं लवं चेत्यादिना सिद्धमुन्मंडलशंकोः छायाकर्णस्वरूपं त्रिज्यावर्गद्वादशपलकर्णघातः परमक्रांतिज्यापलभेष्ट दोर्ज्या घातेन भक्त इति। तत्राप्याचार्यैः, पलभेष्टदोर्ज्यापलकर्णानां स्थिरत्वाभावात्ते भिन्नाः कृताः उर्वरिताः स्थिरांका इति लाघवाद्बृहत्रिज्यानुरोधेन सिद्धांकाः कृताः सूक्ष्मत्वार्थम्। तद्यथा, त्रिज्या वर्गः ११८१६८४४ द्वादश गुणः १४१८३८१२८ परमक्रांतिज्यया १३९७ भक्तः फलमेतेऽकाः कृता सावयवापि स्वल्पांतरत्वान्निरवयवा धृताः १०१५३० एते बृहत्त्रिज्ययासन्ना इति बृहत्सायनांशार्कभुजज्यया भक्ताः फलं परसंज्ञकं कल्पितम्। एतादृशस्याग्रेऽपि प्रयोजनात्। उर्वरितौ गुणहरौ पलकर्ण पलभामितावित्युपपन्नम्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—सायन सूर्य की बृहज्ज्या से आनीत भुजज्या का १०१५३० इस अंक में भाग देने से प्राप्त फल की आचार्य ने पर संज्ञा की है। पर को पलकर्ण से गुणा कर पलभा से भाग देने से उन्मण्डलगत एक शंकु का छाया कर्ण हो जाता है। जैसे—

$$\text{उ. क} = \frac{\text{त्रि} \times १२}{\text{उ. शं}}, \text{ किन्तु उ. शं} = \frac{\text{विषु} \times \text{क्रां}}{\text{प. क}}, \text{ तथा ज्या क्रां} = \frac{\text{जिनज्या} \times \text{दोर्ज्या}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{अतः उत्थापन से } \frac{\text{त्रि} \times १२ \times \text{प. क} \times \text{त्रि}}{\text{विषु. जिनज्या} \times \text{दोर्ज्या}} = \text{उ. क.} = \frac{\text{त्रि}^२ \times १२ \times \text{प क}}{\text{विषु.} \times \text{दोर्ज्या} \times \text{जिनज्या}}$$

$$= \frac{\text{पर} \times \text{प. क}}{\text{विषु.}} \text{। यहाँ } \frac{\text{त्रि}^२ \times १२}{\text{जिनज्या} \times \text{दोर्ज्या}} = \text{पर} = \frac{(३४३८^२) \times १२}{१३९७}$$

$= \frac{१४१८३८१२८}{१३९७} =$ १०१५३० यह अंक उपपन्न होता है ।

इदानीं तस्मादेव परसंज्ञात् समवृत्तकर्णमाह—

परोऽक्षभासङ्गुणितोऽक्षकर्णभक्तोऽथवा स्यात् समवृत्तकर्णः ।

वा०भा०:—स एव परः पलभया गुण्यः पलकर्णेन भाज्यः । फलं सममण्डलगतस्यार्कस्य छायाकर्णो वा भवति ।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकत्रयेण;—यदि त्रिज्यया परक्रान्तिज्या लभ्यते तदार्कदोर्ज्यया किम् ? इति । अत्र दोर्ज्या परमक्रान्तिज्यया गुण्या त्रिज्यया भाज्या फलं क्रांन्तिज्या । अथान्योऽनुपातः । यद्यक्षकर्णेन पलभा भुजो लभ्यते तदा क्रान्तिज्यया किम् ? इति । फलमुन्मण्डलशङ्कुः । इदानीं दोर्ज्यायाः परमक्रातिज्या पलभा च गुणस्त्रिज्याक्षकर्णश्च हरः । इदानीमन्योऽनुपातः । यद्यस्य शङ्कोस्त्रिज्या कर्णस्तदा द्वादशाङ्गुलस्य शङ्कोः किम् ? इति । अत्र त्रिज्या द्वादशगुणा भाज्यः । पूर्वराशिर्भाजकः । इह छेदांशविपर्य्यासे कृते त्रिज्यावर्गो द्वादशगुणोऽक्षकर्णगुणश्च भाज्यः । दोर्ज्या परक्रान्तिज्यागुणा च भाजकः । अत्र भाज्यभाजकयोः परक्रान्त्यापवर्त्तः । द्वादशगुणस्त्रिज्यावर्गः परक्रान्त्या यावदपवर्त्त्यते तावत् खरामतिथ्यभ्रभुवो लभ्यन्ते १०१५३० । एते दोर्ज्यया भक्ताः परसंज्ञाः कृताः । अन्यस्मिन्नानयन उपयोगित्वात् । इदानीमसौ परोऽक्षकर्णेन गुण्यः पलभया विभक्तः उन्मण्डलकर्णः स्यादित्युपपन्नम् । एवं सममण्डलकर्णार्थं यथायोगमनुपातत्रये कृते तथैव परक्रान्तिज्ययापवर्त्ते कृते स एव परः स्यात्; किन्तु तत्राक्षभा गुणोऽक्षकर्णो हरः । फलं सममण्डलकर्णः स्यादित्युपपन्नम् ।

मरीचिः—अथ प्रकारांतरेण समशंकोः छायाकर्णानयनं मध्याह्नछायाकर्णयोरानयनं चोपजातिकयाह—पर इति । परः प्रागानीत अक्षभागुणः, अक्षकर्ण भक्तः समवृत्तकोः छायाकर्णः स्यात् । तथा च मध्याह्नव्यतिरिक्तकाले एतत्प्रकारेण छायाकर्णसिद्धावपि न क्षतिः ।

अत्रोपपत्तिः—अत्राप्युक्तदिशा क्रांतिज्यारूपात्पलभाभुजे पलकर्णः कर्णस्तदा क्रांतिज्या भुजे कः कर्ण इति समवृत्तशंकुस्वरूपं ज्ञात्वानेन त्रिज्या कर्णस्तदा द्वादशांगुलशंकुना क इत्यनुपातेन पूर्ववत्त्रिज्यावर्गद्वादशपलभाघातः परम क्रांतिज्येष्टदोर्ज्यापलकर्णघातभक्त इति सिद्धमत्राप्युक्तरूपपरस्य पलभा पलकर्णौ गुण हरावित्युपपन्नंप्रागर्धम् ।

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—पर को अक्षज्या से गुणा कर अक्ष कर्ण से भाग देने से सममण्डलगत रवि का छाया कर्ण ज्ञात हो जाता है ।

जैसे—समण्डलकर्ण $\frac{\text{त्रि} \times १२}{\text{सम. शं.}}$, यतः सम. शं. $= \frac{\text{पक} \times \text{ज्या क्रां}}{\text{वि.}}$, तथा ज्या क्रां

$= \frac{\text{जिनज्या} \times \text{दोर्ज्या}}{\text{त्रि}}$ । उत्थापन से $\frac{\text{त्रि} \times १२ \times \text{वि} \times \text{त्रि}}{\text{पक} \times \text{ज्या क्रां}} = \frac{\text{त्रि}^{२} \times १२ \times \text{वि}}{\text{पक} \times \text{जि. ज्या} \times \text{दोर्ज्या}}$

$= \frac{\text{पर} \times \text{वि}}{\text{पक}}$ = सममण्डल कर्ण उपपन्न हुआ ।

इदानीमुन्मण्डलकर्णान्मध्यकर्णमाह—

उद्वृतकर्णश्चरशिञ्जिनीघ्नो भक्तोऽन्त्यया वा श्रवणो दिनार्द्धे ॥४२॥

वा० भा०:—उन्मण्डलकर्णश्चरज्यया गुण्योऽन्त्यया भाज्यः । फलं वा मध्यकर्णो भवति ।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन । यद्यन्त्याधःशकलेन चरज्यामितेनोन्मण्डलकर्णो लभ्यते तदान्त्यया किम् ? इति । इदं व्यस्तत्रैराशिकम्—

"इच्छावृद्धौ फले ह्रासो ह्रासे वृद्धिश्च जायते ।
व्यस्तं त्रैराशिकं तत्र ज्ञेयं गणितकोविदैः ॥"

अतोऽत्र चरज्यागुणोऽन्त्या हरः । फलं मध्यकर्ण इत्युपपन्नम् ।

मरीचिः—उत्तरार्धोपपत्तिस्तु कुज्ययोन्मंडलकर्णस्तदा हृत्या क इत्यनुपातेन मध्याह्न कर्णोऽर्क एवेत्यनुपपन्नत्वेन व्यस्तत्रैराशिकादुद्वृत्त कर्णः कुज्या गुणो हृति भक्त इत्युपपन्नोऽपि कुज्याह्नृत्योः स्थाने चरज्योंत्ये धृते इत्युपपन्नम् । अंत्याधवोन्मंडलशंकुनिघ्नी चरज्ययाप्ता स दिनार्धशंकुरिति रूपे त्रिज्या कर्णस्तदा द्वादशांगुल शंकौ क इत्यनुपाते हरस्य गुण हरयो र्व्यत्यासेन चरज्या-द्वादश-त्रिज्या-घात-उन्मंडल शंकंत्याघात भक्त इति सिद्धमत्रापि त्रिज्या द्वादश गुणोन्मंडल शंकु भक्तेत्यस्योद्वृतशंकुकर्णत्वात्स एव चरज्या गुणोऽत्या भक्त इति सिद्ध इत्युपपन्नम् । एतस्य विषुवदविषयत्वं प्रागुक्तमेवेति केचित् ॥४२॥

दीपिका—व्यस्त त्रैराशिकम्विनाऽपि प्रकारान्तरेणोत्पद्यते तच्चैवं स्पष्टं शिखायां दृष्टव्यम् ।

शिखा—उन्मण्डल कर्ण को चरज्या से गुणा कर अन्त्या से भाग देने से फल मध्यकर्ण होता है जैसे—

$$\text{म क} = \frac{\text{त्रि} \times १२}{\text{म. शं}}, \quad \text{म. शं} = \frac{\text{उ. शं} \times \text{हृ}}{\text{कुज्या}}$$

अतः उत्थापन से— $\frac{\text{त्रि} \times १२ \times \text{कुज्या}}{\text{उ शं} \times \text{हृ}} = \frac{\text{उ. क} \times \text{कुज्या}}{\text{हृ}}$

$$= \frac{\text{उ. क} \times \frac{\text{कु} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु}}}{\frac{\text{हृ} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु}}} = \frac{\text{उ. क} \times \text{चरज्या}}{\text{अन्त्या}}$$ उपपन्न हुआ ।

इदानीं प्रकारान्तरेणोन्मण्डलकर्णात् समवृत्तकर्णाच्च मध्यकर्णमाह—

उद्वृत्तकर्णः समवृत्तकर्णः क्षितिज्यया तद्धृतिसंज्ञया च ।
क्रमेण निघ्नौ विहृतौ च हृत्या दिनार्द्धकर्णावथवा भवेताम् ॥४३॥

वा० भा०:—स्पष्टार्थम् ।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन । यद्युन्मण्डलाधःस्थेन क्षितिज्यासंज्ञेन हृतिखण्डेन कुज्यामितेनोन्मण्डलकर्णो लभ्यते तद्धृत्या च सममण्डलकर्णो लभ्यते तदा हृत्या किम् ? इति । एते च व्यस्तत्रैराशिके । अत्र फलं मध्यकर्णः कर्णादुक्तवन्मध्यच्छायेत्युपपन्नम्

मरीचिः—अथ प्रकारांतराभ्यां दिनार्धकर्णानयन मुपजातिकयाऽह-उद्वृत्त कर्ण इति । उद्वृत्त कर्णः समवृत्त कर्णश्च क्रमेणैतौ कुज्यया तद्धृत्या गुणितौ हृत्या भक्तौ फले दिनार्ध शंको स्तुल्यौ कर्णाविति ।

अत्रोपपत्तिः—कुज्ययोद्वृत्तकर्ण स्तदा हृत्या कः । तद्धृत्या समवृत्त छायाकर्ण स्तदा हृत्या क इत्यनुपातयो र्ह्रासवृध्योर्व्यस्तत्वेन व्यस्तत्रैराशिक विधेरुक्तमुपपन्नम् । अत्रापि पूर्वरीत्या कुज्या कर्ण उद्वृत्तशंकुः कोटिस्तदा हृतिकर्णो केति, दिनार्धशंकुना त्रिज्या कर्णस्तदा द्वादशांगुलशंकुना क इति छेदं लव मित्यादिनोक्त मुपपन्नम । एवं तद्धृत्या समशंकुस्तदात्हृत्या क इत्युक्तरीत्या सर्वमुपपन्नमिति केचित् ।

दीपिका—स्पष्टम्

शिखा—मध्यकर्ण $= \dfrac{\text{त्रि} \times १२}{\text{म शं}}$, परन्तु म. सं $= \dfrac{\text{उ. शं} \times \text{हृ}}{\text{कुज्या}} = \dfrac{\text{म. शं} \times \text{हृ}}{\text{तद्धृति}}$

अतः उत्थापन से—$\dfrac{\text{त्रि} \times १२ \times \text{कुज्या}}{\text{उ. शं} \times \text{हृ}} = \dfrac{\text{त्रि} \times १२ \times \text{तद्धृति}}{\text{स. शं} \times \text{हृ}}$

$= \dfrac{\text{उ क} \times \text{कुज्या}}{\text{हृ}} = \dfrac{\text{स. क} \times \text{तद्धृ}}{\text{हृ}}$

प्रत्यक्ष उपपन्न है ।

इदानींमिच्छादिकूछायां विवत्तुस्तज्ज्ञस्य सुज्ञताधिक्यं निरूपयन् प्रश्नरूपेणाह—

याम्योदक्समकोणभाः किल कृताः पूर्वैः पृथक्साधनै-
र्यास्तद्दिग्विवरान्तरान्तरगता याः प्रच्छकेच्छावशात् ।
ता एकानयनेन चानयति यो मन्ये तमन्यं भुवि
ज्योतिर्विद्वदनारविन्दमुकुलप्रोद्बोधने भास्करम् ॥४४॥

वा० भा०:—इह किल पूर्व्वाचार्य्यैः कालानपेक्षया तिस्र एव छाया आनीताः । एका पूर्व्वापरा, अन्या याम्योत्तरा; तदन्या कोणच्छायाया । ताश्च

पृथक् पृथक् साधनैः। येनानयनेन मध्यच्छाया आगच्छति न तेन कोणच्छाया न समच्छाया। इतरस्या आनयनेनेतरा नागच्छतीत्यर्थः। या एता याश्च तद्दिग्विवरान्तर्गता याश्च प्रच्छकेच्छावशात्। एतदुक्तं भवति। एताच्छाया य आनयति। परमेकेनैवानयनेन। न नानानयनभेदैः। तनहं भुवि सूर्य्यमन्यं मन्ये। एकः किल दिवि सूर्य्यः। अयं भुवि। कस्मिन् विषये ?—ज्योतिर्विद्वदनारविन्दमुकुलप्रोद्बोधने गणकवदनकमलकलिकाविकासे।

मरीचिः—अथेष्टदिक्छायानयनरूपविशेषं विवक्षुस्तत्र प्रश्नव्याजेन स्वकल्पितं शार्दूलविक्रीडितवृत्तेन प्रतिजानीते। याम्योदक् समकोणभा इतिपूर्वैर्ब्रह्मगुप्तार्यभटादिभिः। याम्योदक् समकोणभाः दिनार्धे ग्रहस्य याम्योत्तरवृत्तस्थत्वान्मध्याह्नशंकुछाया याम्योत्तरीया। एवं समकोणशंकोश्च भेद इदमुपलक्षणम्। उद्वृत्तशंको र्भाऽपि ज्ञेया। एता याः पूर्वोक्ताः छायाः, कालानपेक्षया पृथक् साधनानयनेन मध्यछाया आगच्छतिः, न तेन कोणछाया न वा समछाया उक्ताः। यद्यपि पूर्वैः प्रकारांतरेण छायाकर्णानयनानि पृथगुक्तान्यपि दृग्जा त्रिजीवे, इत्यनेन तेन कोणछाया, न वा समछाया। इतरस्यानयने तदितरा नागच्छतीति भिन्नभिन्नप्रकारैः पूर्वोक्तैः किलासंशयं कृता उक्ताः। यद्यपि पूर्वैः प्रकारांतरेण छायाकर्णानयनानि पृथगुक्तान्यपि दृग्जात्रिजीवेरविसंगुणे ते इत्युक्तरीत्या छाया तत्कर्णयोरेकानयनमेव भिन्नानयनम्। सामान्योक्तेस्तच्छायोपजीव्य शंकादीनां भिन्नानयनमेवोक्तं नैकाद्यानयनमिति छायानयनस्यैकत्वेपि साधकानयनभेदात्साध्यानयनमपि भिन्नमिति ध्येयम्। पृथकेच्छावशात्, तद्दिग्विवरांतरगताः। उक्तदिशां विवरेणां मध्ये; अंतरेतरोप्रतिप्रदेशस्थमिष्टदिशास्थिताः छायायां भवंति, ताः सर्वाः, छाया एकानयनेन, एक प्रकारेण, साधकसामान्यप्रकारद्वारेत्यर्थः, यः गणकः आनयति, वदति, छायाकर्णानयनमपीति चातुर्य अग्रे तत्साधनोक्तेः तं गणकं भुवि पृथिव्यामन्यं द्वितीयं भास्करं सूर्यं मन्येऽहमाह—सूर्यसादृश्यमस्यकिमत आह ज्योतिर्विदित्यादि, गणकमुखकमलकलिकाविकासे एवं च सूर्य समत्वेन स महानिति भावः। तथाचाद्यावधि केनाप्येकानयनं न कृतम्।

पूर्वं ग्रन्थे तददर्शनादिति स्वस्य भास्करनाम व्यवस्थापयितुं मय्यैवैकानयनं कल्पितं तदिदानी मुच्यत इत्यर्थः। अग्रेऽपि मद्ग्रन्थावलोकनेन केऽप्येकानयनं कुर्वन्त्विति तन्न चित्रम्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—प्रागाचार्यों ने, (१) याम्योत्तराहोरात्रवृत्त सम्पातस्थग्रह (२) पूर्वापराहोरात्रवृतस्थग्रह और (३) कोणवृत्ताहोरात्रवृत्तसम्पातस्थग्रह की छाया के लाने के प्रकार कहे हैं। इन तीनों दिशाओं की छाया का ज्ञान तीन प्रकार के आनयन सिद्धान्तों से किया गया है। जिस सिद्धान्त से (१) छाया लाई गई है उससे दूसरी (२) नहीं और (२) सिद्धान्त से तीसरी नहीं लाई गई हैं। अर्थात् एकानुपात से भी ये तीनों नहीं लाई

गई हैं। तथा इन तीन स्थानीय छायाओं के अतिरिक्त चतुर्थ पञ्चम षष्ठ स्थानीय छाया साधन का भी कोई प्रकार नही निकाला गया है।

उचित तो यही था कि इन तीन स्थानों के अतिरिक्त भी प्रश्न कर्ता की इष्ट कालीन इष्ट दिशा (इच्छादिक्छाया) की छाया जानने का भी सिद्धान्त बताना चाहिए था और इस समग्र गोलीय किसी भी इष्ट स्थानीय छाया तक को जानने का यथाशक्ति गणित गौरव की अपेक्षा गणित लाघव से एक ही सिद्धान्त जो सर्वत्र उपयुक्त हो उसे ही बताना चाहिए था। ऐसा पूर्वाचार्यों ने नहीं किया इसलिये यहाँ आचार्य गर्वोक्ति से कहता है कि जो उक्त विसम्वाद को दूर कर एक ही सिद्धान्त सबके लिये स्थापित करे उसे मैं इस में जैसे—सूर्यकमल विकास का एक ही हेतु त्रैलोक्यवन्द्य भगवान् भास्कर है वैसे ही ज्यौतिषियों के मुख कमल के विकास में उस एकानुपातज्ञ गणक ज्यौतिषी को मैं दूसरा भास्कर मानता हूँ। वही महान् गणक है, यह भाव है।

अर्थात् पूर्व ग्रन्थों में उक्त सिद्धान्त के न होने से भास्कराचार्य अपने नाम को ही सार्थक करते हुये, मैं ही दूसरा भास्कर हूँ, ऐसा भी भाव व्यक्त कर रहा है।

वस्तुतः—भास्कराचार्य का यह सिद्धान्त गणित के महान् कौशल का द्योतक है भी।

इदानीं तदर्थमाह—

चक्रांशकाङ्के क्षितिजाख्यवृत्ते प्राक् स्वस्तिकाभीष्टदिशोऽस्तु मध्ये।
येंऽशास्थितास्तेऽत्र दिगंशकाख्यास्तज्ज्यात्र दिग्ज्येत्यपरे विभागे ॥४५॥

वा० भा०:—कदाचिदप्यभीष्टदिने यस्मिन् काले प्रच्छकः पृच्छति तत्र कालेऽर्कोपरि न्यस्तस्य दृङ्मण्डलस्य क्षितिजस्य च सम्पाते याभीष्टा दिक् तस्याः प्राक्स्वस्तिकस्य चान्तरे क्षितिजवृत्ते येंऽशास्तेऽत्र दिगंशका ज्ञेयाः। तेषां ज्या दिग्जेयति। एवं पश्चिमभागेऽपि।

मरीचिः—अथप्रतिज्ञात मेकानयनं विवक्षुस्तदुपयुक्तदिग्ज्याज्ञानमिंद्र वज्रयाऽह। चक्रांशकांके इति। अभीष्टजलसमभूभावभीष्टव्यासाधंकृतवृत्ते पूर्वदिक्साधनप्रकारेणाष्टौ दिशोंऽक्याः। तत्र पूर्वदिक्स्थानं प्राक् स्वस्तिकं पश्चिम दिक्चिह्नं परस्वस्तिक मित्युच्यते। तत्केंद्रकीलप्रोतयष्टिर्यदा पृच्छकः छायां पृच्छति तदा सूर्य बिंबकेंद्राभिमुखी धार्या। तदर्थं वृत्तकेंद्रेऽश्रभ्रः किंचित्कार्यस्ततः सूर्यकेंद्राभिमुखयष्ट्यग्राल्लंबसूत्रं वृत्तांत यंत्र पतति तत्स्थानाद्दया-साधकर्णमार्गेण यद्वृत्तपरिधौ स्थानं तत्कालेऽभीष्टदिक्। एवं तत्काले तत्क्षितिज-संज्ञवृत्ते प्राक्स्वस्तिकाभीष्टदिशोः मध्येंऽतराले वृत्तपरिधिविभागे स्वल्पे यन्मिता-ंशाः स्थिताः भवंतीत्यर्थः। ते तन्मितांशा अत्राभीष्टकाले दिगंशाः स्युः। ननु तद्वृत्तेऽतरप्रदेशज्ञानेप्यंशज्ञानं कथमत-आह-चक्रांशकांके इति। द्वादशराश्यंशानां षष्टियुतशतत्रयाणा मंकाः चिह्नानि यस्मिन् तादृशे वृत्ते इत्यर्थः। तथा वृत्ते षष्ट्यधिक शतत्रयाणामंशाना मंकितत्त्वात्तदंतरप्रदेशेऽपि तद्ज्ञानं स्वतः सिद्धमिति

भावः। नन्वेकानयनार्थं, दिग्जायाः प्रयोजनाद्दिगंशकथन मर्थांतर मत आह-तज्ज्येति। तदंशानां ज्ञातानां ज्यादिग्जास्यादित्यर्थः। तेन तज्ज्ञादिग्जयोरन्वयः सूपपन्नः। तथा च दिग्ज्याज्ञानार्थमेवदिगंशज्ञानमुक्तमिति नार्थान्तरमितिभावः। ननु मध्याह्नोत्तरमभीष्टकाले, उक्तरीत्या दिगंशाः नवत्यधिकास्तेषां ज्या कथं स्यात् ज्यासाधन विषयस्य नवत्यंशांन्तर्गतत्वादतआह्—इतीति। अपरे भागेऽपर कपाले मध्याह्नोत्तरेऽपि। इति, उक्तरीत्यादिग्जास्यात्। न वैलक्षण्ये न तथा च मध्याद्भांतर्गत पूर्वकपालस्थाभीष्टकाले यथा प्राकस्वस्तिकाभीष्टदिशोरतंरे दिगंशाः नवत्यूनाधिकास्तथा तथा मध्याह्नोत्तरे परकपालांतर्गताभीष्टकाले पश्चिमस्वस्तिकाभीष्ट दिशोरंतरे नवत्यूनाधिका एव दिगंशा इति सर्वदा दिगंशानां नवत्यधिकत्वाभावाज्ज्ञानं भवत्येवेति भावः।

अत्रोपपत्तिः—खस्वस्तिकादधः स्वस्तिकस्थकीलकप्रोतश्लथदृग्वृत्ते ग्रहबिंब केंद्रोपरिगे स्वभ्रममार्गे भूगर्भक्षितिजतद्वृत्तप्रदेशयोः संपातोऽभीष्ट दिक्। एवं प्राक्स्वस्तिक तदंतराले क्षितिजप्रदेशेंऽशाः दिगंशाः क्षितिजप्रदेशस्यैव दिक् संज्ञात्वेन व्यवहारात्। ते छायासाधनोपयुक्ताः। स्व ज्या संबंधेन। एवमपरकपाले परस्वस्तिकाभीष्टदिशोरंतरे दिगंशाः। एवं स्वपृष्ठक्षितिजप्रदेशे तत्सक्तेऽभीष्ट दिक्। प्राकस्वस्तिकोपरि स्वपृष्ठक्षितिजपूर्वापरवृत्तसंपाते पूर्वा दिक्। एवमपरा च, तदंतराले तत्तुल्या एव दिगंशाः। एवमभीष्ट वृत्तस्य क्षितिजाकारत्वेन केंद्रस्थ यष्टेर्दृग्वृत्ताकारत्वेन चोक्तं युक्तं तद् ज्ञानम्। तथा च निरक्षोत्तरदशे दक्षिणगोले उदयकालेऽग्रांशतुल्या दिगंशाः ततोऽग्राधिका एवं मध्याह्ने नवति दिगंशाः। अपरकपाले यथा यथा याम्योत्तर वृत्तादवलंबितस्तथा तथा नवत्यूना-एवांशा एवमस्तकालेऽग्रांशतुल्याः दक्षिणगोलीयदिगंशाः सदा दक्षिणाः। क्षितजाधःस्थे तु दर्शनाभावात् ज्ञानाभावः। गोले तद्ज्ञानं तत्रापि दृग्वृत्त भ्रमेण सुलभम्। एवं च दक्षिणगोले क्षितिजादूर्ध्वस्थे ग्रहे दिगंशाः अग्रांशेभ्यो न्यूनाः न भवंत्येव अधःस्थे तु भवंति कदाचित्। उत्तरगोले तु क्रांत्यधिकाक्षांशदेशे उदयकालेऽग्रांशतुल्यास्ततोऽग्रांशेभ्योन्यूनास्ते प्राक् स्वस्तिकादुत्तराः। एवं सममंडले तदंशाभावस्ततः समवृत्तादक्षिणमार्गाश्रिते ग्रहे एकादिदिगंशोत्तरोत्तर मधिकाः। प्राकूस्वस्तिका दक्षिणाः। एवं मध्याह्ने नवत्यंशाः। अपरकपाले तु याम्योत्तरवृत्तादवलंबितस्तथा नवत्यूना एवांशाः दक्षिणाः। एवं समवृत्ते तदभावः तत उत्तराश्रितमार्गे एकादिदिगंशोत्तरा एवमस्तकालेऽग्रांशतुल्याः। तथा च क्रांत्यधिकाक्षांशदेशे उत्तरगोले क्षितिजोर्ध्वे एककपाले वारद्वयं दिगंशाग्रांशेभ्योनाधिकाः समवृत्तोत्तरदक्षिणवशात्तद्दिक्काः। अक्षांशाधिकक्रांत्यतिदेशे तूदयकालेऽग्रांशतुल्यास्ततः कियत्कालं वारद्वयमूनाः, ततः पुनरग्रांशतुल्यास्ततोऽग्रेऽधिकाः। एवं मध्याह्ने नवतिः। ततो यथा यथा याम्योत्तरवृतादवलंबितः, तथा तथा नवत्यूना एव दिगंशाः। एवं क्रमेण यदाऽग्रांशतुल्याः, अपरत्र तदनुक्रमेण तदधिका। दक्षिणगोलवदिति वाच्यम्। तत्र दृग्वृत्तभ्रमेणैककपाले क्षितिजोर्ध्वे ग्रहाश्रितद्युरात्रवृत्ते स्थानद्वये दृग्वृत्तसंबंधस्य कदाचिद्दर्शना-

दग्रांशेभ्यो न्यूना एव, दिगंशा इति निर्णयात्। अन्यथा क्षितिजोर्ध्वे एककपाले द्युरात्रदृग्वृत्तसंपातद्वयस्य प्रत्यक्षसिद्धस्यानुपपत्तेः। अत एवाऽग्रांशाधिकदिगंशेषूभयत्रगोलसंपातद्वयाभावो द्युरात्रवृत्ते क्षितिजोर्ध्वे प्रत्यक्षसिद्ध इति दृग्वृत्तभ्रमेण गोलयुक्त्या च कलितमेतदित्यलं पल्लवितेन ॥४५॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—किसी भी इष्टदिनीय, इष्टसमय में रवि विम्बकेन्द्रोपरिगत इष्ट दृग्मण्डल (Vertical circle) का क्षितिज वृत्त के साथ जो सम्पात होता है उस सम्पात विन्दु से (पूर्वापरवृत्तक्षितिजसम्पातका पूर्वस्वस्तिक नामक बिन्दु) पूर्व स्वस्तिक तक जो क्षितिज वृत्तीय चाप है उसी का नाम दिगंश (Azimuth) है। क्षितिज वृत्त में ३६०° की कल्पना से उसमें अंश, कला और विकलादि अवयव अंकित करने से, इष्ट समय में उक्त (दिगंश) पूर्व और पश्चिम स्वस्तिक से क्रमशः उत्तर या दक्षिण की तरफ यथेष्ट कालीन क्षितिजवृत्तीय दिशा के अंश हो जाते हैं। दिगंशाग्रविन्दुगत भूगर्भीय त्रिज्या सूत्र पर पूर्व स्वस्तिक से जो लम्ब है वही दिगंश की ज्या है।

विशेष—उदय काल में अग्रा (Amplitude, or its sine) के तुल्य ही दिगंश होते हैं। फिर कुछ समय बाद दो बार दिगंश अग्रा से कम फिर अग्रा के तुल्य तत्पश्चात् अग्रा से अधिक होते होते मध्यान्ह में याम्योत्तराहोरात्र वृत्तानुकारिदृग्वृत्तस्थ ग्रह का पूर्ण ९०° के तुल्य परमाधिक दिगंश होता है। इस प्रकार पूर्व कपाल की ही तरह परकपाल में भी अस्तक्षितिज में अग्रा के तुल्य दिगंश होता है। गोल देखने से यह सब प्रत्यक्ष स्पष्ट है। उत्तर दक्षिण गोल क्रम से, क्रान्ति से न्यून अथवा अधिक अक्षांश सम्बन्धी देशों में भी उक्त सरणि से दिगंश ज्ञान के विशेष परिष्कार किये जाने चाहिए—यहाँ ग्रन्थ गौरवभय से केवल संकेत मात्र कर दिया जा रहा है।

इदानीमिच्छादिक्छायानयनमाह—

पलप्रभा व्यासदलेन निघ्नी दिग्ज्योद्धृता तां पलभां प्रकल्प्य।
साध्याक्षजीवाथ तया विनिघ्नी स्वाक्षज्ययाप्तापमशिञ्जिनी च ॥४६॥
ताभ्यां दिनार्द्धद्युतिवद्विदध्यादभीष्टदिक्स्थे द्युमणौ द्युतिं वा।

वा० भा०:—पलप्रभा त्रिज्यया गुण्या। इच्छादिग्ज्यया भाज्या। यल्लभ्यते तां पलभां प्रकल्प्यान्याक्षज्या साध्या। अथ या क्रान्तिज्या सेदानीमानीतया अक्षज्यया गुण्या स्वदेशाक्षज्यया भाज्या। फलमिष्टक्रान्तिज्या भवति। "ताभ्यां दिनार्द्धद्युतिवद्विदध्यात्" इति। एतदुक्तं भवति। इष्टाक्षज्याया धनुरिष्टपलो भवति। इष्टक्रान्तिज्याया धनुरिष्टापमो भवति। "पलावलम्बावपमेन संस्कृतौ" इत्यादिना या मध्यच्छाया भवति साभीष्टदिक्स्थे द्युमणौ छाया भवति।

अत्रोपपत्तिः—विषुवद्दिने विषुवन्मण्डले रविर्भ्रमति। तत्र भ्रममाणेऽर्के इष्टदिशं गते यावती छाया सा तावदिह साध्यते। द्वादशाङ्गुलशङ्कोच्छायाग्रं दिङ्मध्ये यथा भवति तथा विन्यस्तस्य प्राच्यपरया सहान्तरं विषुवतीतुल्यमेव

भवति। तच्छङ्कुतलम्। अग्राभावात् स एव भुजः। छाया दृग्ज्या। अथ दिङ्मध्यात् त्रिज्यातुल्येन कर्कटकेन यद्वृत्तं लिख्यते तत् किल क्षितिजम्। तत्र क्षितिजे या दिग्ज्या स भुजः। दिग्ज्याग्राद्दिङ्मध्यगामिनी त्रिज्या तत्र दृग्ज्या। इदानीमनुपातः।—यदि दिग्ज्यामितेन भुजेन त्रिज्यातुल्या दृग्ज्या लभ्यते तदा पलभामितेन किम्? इति। त्रिज्या पलभया गुण्या। दिग्ज्यया भाज्या। फलं विषुवन्मण्डलस्थेऽर्के इच्छादिकृच्छाया भवति। अथ तां पलभां प्रकल्प्य "साध्यात्तजीवा" इति। खमध्यार्कयोरन्तरे येऽंशा दृङ्मण्डलस्थितास्तेषां ज्या साध्या। येयमिदानीमानीता छाया तां पलभां प्रकल्प्य तस्याः कर्णमानीय सा पलभा त्रिज्यया गुण्या तत्कर्णेन भाज्या। फलमिष्टाक्षज्या स्यात्। स्वदेशाक्षज्या दक्षिणोत्तरवृत्तगता। इयन्तु दृङ्मण्डलगता तिर्यक्स्थितत्वादधिका जाता। इदानीं क्रान्तिज्यापि दृङ्मण्डलगता क्रियते। तत्रानुपातः।—यदि स्वदेशाक्षज्य-येष्टाक्षज्या दृङ्मण्डलगतैतावती लभ्यते तदा क्रान्तिज्यया दृङ्मण्डलगता कियति? इति। अत उक्तम्।—"अथ तया विनिघ्नी स्वाक्षज्ययाप्तापमशिञ्जिनी च" इति। अत्र फलं विषुवन्मण्डलार्कयोर्दृङ्मण्डले येऽन्तरांशास्तेषां ज्या भवति। सेष्टक्रान्तिज्या। अथ "ताभ्यां दिनार्द्धद्युतिवद्विदध्यात्" इति। इष्टाक्षज्याया धनुर्दृङ्मण्डलगतं स इष्टोऽक्षः। इष्टक्रान्तिज्याया धनुरिष्टक्रान्तिर्दृङ्मण्डलगता। अथ तयोर्याम्यगोले योगः सौम्ये त्वन्तरं खमध्याद्दृङ्मण्डलगतार्कनतांशा भवन्ति। तेषां ज्या दृग्ज्या। नवतेर्विशोधितानां तेषां ज्योन्नतज्या स शङ्कुः। "दृग्ज्या त्रिजीवे रविसङ्गुणे ते" इत्यादिना छायाकर्णौ भवत इत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथ प्रस्तुतमेकानयनमुपजातिकात्रयेणाऽह—पलप्रभा इति। ताभ्यामिति, तानिति। अभीष्टदेशीयात्तभा व्यासदलेन त्रिज्ययेत्यर्थः। दिग्जया-पूर्वानीतया भक्ता या फले निष्पन्ना तामपि पलभां प्रकल्प्याऽत्तज्या साध्या। फलस्य वस्तुतः पलभात्वात्प्रकल्प्येत्युक्तम्। यथा स्वदेशीयाक्षभया स्वाक्षज्या-नीता, तथा तयाप्यक्षज्या साध्या। तद्यथा—फलमितपलभावर्गयुतवेदेंद्राणां मूलमत्राक्षकर्णः। अस्मिन्कर्णे फलमित पलभा भुजस्तदा त्रिज्या कर्णे क इति फलमक्षज्या।

अथाभीष्ट कालेऽक्षज्यामुक्त्वा तत्काले क्रांतिज्यानयनमाह—अथेति। अथा-नंतर तात्कालिक क्रांतिज्या तया पूर्वसाधिताक्षज्ययागुणिता स्वाभीष्टदेशीयाऽक्ष-ज्यया भक्ता फलमिष्टकाले क्रांतिज्या स्यादिति चार्थः। अतः फलितं सिद्धमित्याह-ताभ्यामिति—साधिताक्षज्याक्रांतिज्याभ्यां दिनार्धद्युतिवत् मध्याह्नछायासाधन-प्रकारेण द्युतिं छायां वाकारात् छायाकर्णञ्च विदध्यात्-गणक कुर्यात्। तद्यथा साधिताक्षज्याक्रांतिज्ययो धनुषी अक्षांशक्रांत्यंशौ। तत्राक्षांशाः दक्षिणाः, क्रांत्यंशाः पूर्वक्रांतिदिक्काः। अतः पलावलंबावपमेनेत्याद्युक्तप्रकारेण नतांशाः तदूना-नवत्यंशा उन्नतांशाः। उन्नतांशज्या शंकु नतांशज्या दृग्जा। ततो दृग्ज्यात्रिजीवे रविसंगुणे इत्यादिना छाया तत्कर्णौ भवतः। कदेत्यताह्-अभीष्टेति। इष्ट-

दिग्भागस्थिते सूर्ये यत्कालीनाः दिगंशास्तत्काले इत्यर्थः। एतदानयनं साऽक्षदेशे एव। निरक्षे मध्याह्नभिन्नकाले तु पलप्रभाभावाच्छंकादि सद्भावाच्चैतत्प्रकाराविषयत्वादिति ध्येयम्।

ननु दिग्जयोक्तं साधनं न युक्तम्। एकदिने एककपाले भिन्नकपाले कदाचिद्दिगंशानां तुल्यत्वसंभवात्क्रांतिज्याया अवैलक्ष्यण्याच्चानीतछायाया उभयकालिकत्वापत्तेः। न ह्येककपाले भिन्नकाले छाया साम्यम्। स्वखस्तिकादुन्मण्डले ग्रहस्य नतांशानां छाया हेतुत्वात्। ते त्वेककपाले प्रतिक्षणं भिन्ना एव। ग्रहस्य प्रवहानिलेनानवरतं भ्रमणात्। अन्यथा भिन्नकालत्वानुपपत्तेः। तेन च प्रतिक्षणं क्रांतिभेदाद्दिगंशे कोऽपि छायाभेदसंभववद्गणितेन युक्तमिदमिति वाच्यम्। क्रांत्यंतरस्याल्पत्वात्तदानीं तच्छाययोर्गणितेनाधोऽवयवादि स्वल्पांतरेण भेदापत्तेः।

दीपिका—रवेरुपरि कृतस्य दृङ्मण्डलस्य यत्र दृङ्मण्डलनाडीमण्डलयोः सम्पात स्तत्र. नाडीवृत्ते कल्पितरविः कल्प्यस्तस्मात्खमध्यावधि दृङ्मण्डले कल्पितरवेः कल्पित नतांशाः कर्णः, याम्योत्तरवृत्तेऽऽक्षांशाः भुजः, निरक्षात्कल्पितरव्यवधि कोटिरिति स्थितिः। एवमेव दृङ्मण्डलनाड़ीमण्डलयोरन्यः यः सम्पातस्तस्मादपि खमध्यावधि दृङ्मण्डले कर्णः, भुजस्तु पूर्व एवोभयनिष्ठ स्तथा नाडीमण्डले निरक्षाद्द्वितीय कल्पित रविविंदु यावत्कोटीति सर्वं हृदि ध्येयम्।

शिखा—व्यासार्ध गुणित पलभा में इच्छादिग्ज्या का भाग देने से फल की पलभा संज्ञा मान कर उससे साधित इष्टाक्षांशज्या से गुणित क्रान्तिज्या में स्वदेशीय अक्षांशज्या का भाग देने से, फल इष्ट क्रान्तिज्या माननी चाहिए। इन दोनों से (इष्टाक्षज्या और इष्ट क्रान्तिज्या के चापों से) मध्यान्ह छाया की तरह इष्टस्थानीय छाया का ज्ञान करना चाहिए। याम्योत्तर, पूर्वापर, और कोणवृत्तस्थ रवि की छाया ज्ञान के अनन्तर किसी भी इष्ट स्थानीय छाया ज्ञान का भास्कराचार्य का यह प्रकार अत्यन्त महत्त्व का है। आचार्य का ग्रहगणित गोल का यह विशेष स्तुत्य कौशल है, वह, जैसे—

इष्ट समय में जहाँ भी रवि हो, इसके ऊपर गत दृङ्मण्डलवृत्त का नाड़ी वृत्त के साथ जो सम्पात विन्दु है, वहाँ पर कल्पित रवि मान कर कल्पित रवि से खमध्य तक दृङ्मण्डल में कल्पित रवि का जो नतांश वह कर्ण, याम्योत्तरवृत्त में अक्षांश तुल्य भुज, और नाड़ी वृत्त में कल्पित रवि से निरक्षखमध्य तक विषुवद्वृत्त में कोटि यह एक जात्यत्रिभुज होता है। दृङ्मण्डलाऽहोरात्रवृत्त का जो दो सम्पात होगा दोनों तरफ उक्त क्षेत्र बनने से अक्षांश तुल्य भुज उभयनिष्ठ होने से दोनों क्षेत्र प्रायः समानधर्मा होते हैं। और ऐसी स्थिति में रवि विम्बीय शंकु की छाया भी दो जगह पर होगी। यह स्थितियाँ प्रायः भिन्न कपालों में और एक कपाल में भी दो बार आ सकने के कारण कपालैक्य में छायाद्वय का होना गणित गोल से अवश्य सिद्ध है। वह स्थितियाँ अग्राल्पदिग्ज्या में उत्तर गोल में द्विविध छाया (तथा उक्त प्रकारागत अक्षांश को १८०° में घटाने से जो अंशादि होंगे उत्तर गोल में यदि दिग्ज्या अग्रा से न्यून हो तो दो प्रकार की छाया) होती है, आचार्य ने

स्पष्टतया यह बात कह तो दी है, किन्तु उत्तर गोल में स्थल विशेष पर उक्त कथन व्यभिचरित हो सकता है। प्रायः दक्षिण गोलीय व्यवस्था समीचीन हो सकती है।

छायाग्र से पूर्वा पर सूत्र तक लम्ब रूप विषुवती कैसे है? इस शंका का समाधान निम्न भाँति समीकरण से समझना चाहिए—

$$\text{शकुंतल} = \frac{\text{विषु.} \times \text{शंकु}}{१२} \text{। कर्ण वृत्तीय शकुंतल} = \frac{\text{विषु} \times \text{शंकु} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रि} \times १२}$$

$$= \frac{\text{विषु.} \times \text{छायाकर्ण}}{\frac{\text{त्रि} \times १२}{\text{शंकु}}} = \frac{\text{विषु} \times \text{छायाक.}}{\text{छाया क.}} = \text{यह स्पष्ट विषुवती है।}$$

दृङ्मण्डलक्षितिज सम्पात से पूर्वापररेखा पर लम्ब=दिग्ज्या (दिगंश की ज्या) भुज, भूगर्भ से दृङ्मण्डल-अहोरात्रक्षितिजवृत्त सम्पातगत त्रिज्या सूत्र कर्ण, एवं भूगर्भ से दृग्ज्यामूल पर्यन्त कोटि यह एक क्षेत्र है जिसका सजातीय क्षेत्र छायाग्र से पूर्वापर सूत्र तक कल्पित विषुवती तुल्य भुज, विषुवती मूल से भूगर्भ तक पूर्वापर सूत्र में कोटि, भूगर्भ से दृक्कुज सूत्र में छाया कर्ण, ये हैं।

तथा—कल्पित रवि नाड़ीवृत्त में है, यहाँ से दृक्कुज सूत्र में लम्बसूत्र शंकु है। इस स्थल पर स्वोदयास्त सूत्र ही पूर्वा पर सूत्र होने से यहाँ अग्रा का अभाव है। अत एव अग्रा शंकुतल के योग वियोग से उत्पन्न भुज यहाँ पर शंकुतल तुल्य ही है इस लिये कर्ण गोलीय भुज=शंकुतल।

$$\text{कर्ण गोलीय कल्पित रवि भुज} = \frac{\text{शं. त.} \times \text{छाया कर्ण}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{शं. त.} \times १२ \times \text{त्रि}}{\text{त्रि} \times \text{शं}}$$

$$= \frac{\text{शं. त} \times १२}{\text{शं}} = \text{पलभा} = \text{विषुवती।}$$

$$\text{छाया} = \frac{\text{त्रि} \times \text{विषुवती}}{\text{दिग्ज्या}} = \text{कल्पित विषुवती।}$$

$$\text{कल्पित विषुवती} = \sqrt{१४४ + \text{कल्पित विषु.}^२} \quad \text{अतः} \; \frac{\text{कल्पित विषुवती} \times \text{त्रि}}{\text{कल्पित पलकर्ण}}.$$

=कल्पिताक्षज्या। इसका चाप खमध्य से रवि पर्यन्त दृङ्मण्डलीय चाप मान है। स्वकीय अक्षांश तुल्य चाप भुज, कल्पिताक्षांशचाप कर्ण, पूर्वोक्त नाडीवृत्तीय चाप कोटिरूप, इस त्रिभुज का सजातीय त्रिभुज में क्रान्तिवृत्तीय रवि से नाड़ी वृत्त तक ध्रुव प्रोत वृत्त में क्रान्तिचाप भुज, क्रान्तिमूल से कल्पितरवि तक नाड़ी वृत्त में कोटि, क्रान्ति वृत्तीय रवि से कल्पित रवि तक दृङ्मण्डल में कल्पित क्रान्ति कर्ण है। इसका ज्ञान अनुपात से सरल है—

$$\frac{\text{कल्पिताक्षज्या} \times \text{क्रांज्या}}{\text{स्वाक्षज्या}} = \text{कल्पित क्रान्ति ज्या।}$$

पूर्व में जैसे निजेष्ट देशीय अक्षांश, एवं यथेष्ट क्रान्ति के संस्कार से मध्यान्ह कालीन नतांश ज्ञान किया गया है, तद्वत् यहाँ पर भी कल्पितक्रान्ति और कल्पित अक्षांश ज्ञान

से किसी भी इष्ट समय में नतांश ज्ञान कर पुनः किसी भी इष्ट स्थानीय इष्ट छाया लाने का प्रकार (जो पूर्वाचार्यों ने नहीं बताया) भास्कराचार्य ने बताया है, जिसमें गणित गोल की युक्ति से कदापि कोई भी दोष नहीं है।

इदानीं विशेषमाह—

एवं कृते ये पलभागकाः स्युस्तद्धीनखाष्टेन्दुमिताश्च येऽंशाः ॥४७॥
तांश्चाक्षभागान् प्रविकल्प्य साध्या द्विधेष्टदिग्भा यदि दिग्लवज्वा।
अल्पाग्रकायाः खलु सौम्यगोले याम्ये तु तस्यां दिशि भैव नास्ति ॥४८॥

वा० भा०:—उत्तरगोले उत्तरेच्छादिग्ज्याग्रे दृङ्मण्डलविन्यस्तं कस्मिंश्चिदहोरात्रवृत्ते पूर्वाह्णेऽपराह्णे च स्थानद्वये लगति। तस्मिन्नहोरात्रवृत्ते भ्रमतः सूर्यस्य तत्स्थानद्वयं प्राप्तस्य तद्दिक्स्थत्वं वारद्वयं भवति। अतस्तद्दिशि भाद्वयेन भवितव्यम्। तत् कथमिति चेत् तदर्थमिदम्। एवमनेन प्रकारेण य इष्टपलांशाः स्युस्तेषु साशीतिशतात् १८० शोधितेषु ये शेषांशास्तांश्चाक्षभागान् प्रकल्प्य सति सम्भवे द्विधेष्टभा साध्या। एवं तदैव भवति। यदोत्तरगोलेऽग्रायाः सकाशाद्दिग्ज्याल्पा भवति। याम्यगोले तु तस्यां दिश्यर्कः क्षितिजादुपरि न प्रविशति। अतस्तत्र छायाऽभाव एव।

अत्रोपपत्तिः;—अत्रेच्छादिशि न्यस्तस्य दृङ्मण्डलस्य विषुवन्मण्डलेन सह सम्पात एकः खस्वस्तिकादासन्नो यैर्भागैर्भवति ते किलेच्छापलांशाः। अन्यः खस्वस्तिकाद्दूरत इतरस्यां दिशि यैर्भागैर्भवति ते च पलांशाः कल्पिताः। तेषामक्षांशानामग्रादितरेषां चाग्रादिष्टाहोरात्रवृत्तमिष्टक्रान्त्यग्रे भवति। अत उभयतोऽपि साध्या छाया। अतः सति सम्भवे द्विधा भवति। इदं यथास्थिते गोले दिग्ज्याग्रे दृङ्मण्डलं विन्यस्य दर्शनीयम्। अथानेनानयनेन सममण्डलच्छायानयनार्थमुदाहरणम्। यस्मिन् देशे पञ्चाङ्गुला पलभा तत्र यदाशीत्यधिका सप्तशती क्रान्तिज्या ७८० तदाष्टाविंशत्यधिकसहस्रद्वयं २०२८ समशङ्कुः। अग्रा पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टशती ८४५। अनेनानयनेनाप्ययं समशङ्कुरागच्छति। तद्यथा। तत्र देशेऽक्षज्या द्विदन्तेन्दुमिताष्टादशविकलाधिका १३२२। १८। पलप्रभा ५ व्यासदलेन निघ्नी १७१९० दिग्ज्योद्धृता। अत्र दिग्ज्या पूर्णम् ०। अनेनोद्धृता जातः खहरः $\frac{१७१९०}{०}$ एतां पलभां प्रकल्प्याक्षज्या किल साध्या। अस्या वर्गाद्द्वादशवर्गेण सदृशच्छेदेन शून्यीभूतेन युक्तान्मूलं जातः कर्णः पलभा सम एव $\frac{१७१९०}{०}$। त्रिज्या पलभया गुण्या तत्कर्णेन तत्समानेनैव भाज्या। एवमक्षज्या भवति। अत्र तुल्यत्वाद्गुणकभाजकयोः शून्ययोः पलभातुल्ययोश्च नाशे कृते त्रिज्यैवाक्षज्या जाता। तद्धनुरंशा नवति ९० रक्षः। नवतेः शोधितोऽक्षो लम्बः पूर्णम् ०। अथ "तया विनिघ्नी" इत्यादि।—तया त्रिज्यातुल्ययाक्षज्यया ३४३८ क्रांतिज्या ७८० गुण्या स्वदेशाक्षज्ययानया १३२२।१८ भाज्या। एवं कृते समशङ्कुरुत्पद्यते। इयमिष्टक्रान्तिज्या जाता २०२८। अत्र लम्बः पूर्णम्०। अयमिष्टक्रान्तिज्या-

धनुषा किलाधिकः कर्त्तव्यः। एवं कृते उन्नतांशा भवन्ति। तेषां जीवा स शङ्कुः। एवं स एव सममण्डलशङ्कुर्भवति। एवं यदा क्रांतिज्या पूर्णा भवति तदा खगुणश्चिन्त्यश्च "शेषविधौ" इत्यादिगणितोक्तया शून्यपरिभाषयाग्रासमशङ्क्वादीनि साधितान्यन्येषामनुपातार्थं न क्वचिद् दुष्यन्ति।

मरीचिः—तात्कालिकछाययोः प्रत्यक्षेणोर्धाकएव महदंतरस्य दर्शनादत आह-एवमितिएवं साधन प्रकारेणाभीष्ट दिशि छायानयने कृते। ये, यन्मिताः पलभागका अत्रागताः भवंति। तद्धीनाः खाष्टेंदुमिताः आनीताक्षांशोनाशीत्यधिकशतमिताः यत्रांशाः भवंति। तानप्यक्षांशान् प्रकल्पेष्टदिक्छायोक्तप्रकारेण द्वितीयाऽक्षांशपूर्वक्रांत्यंशसंस्कारतुल्य नतांशेन साध्या, द्वितीयाक्षांशानां नवत्यूनत्वेन तज्यायाः पूर्वाऽक्षांशज्या समत्वात्। नवत्यधिकस्य ज्यासाधनार्थमशीत्यधिकशतेभ्यः शोधनावश्यकत्वात्। अन्यथा भुजादि कथनस्य वैयर्थापत्तेः। एवं विधायक दिग्जायां-छायाद्वयमित्यर्थः। तथाचैककपाले भिन्नकाले कदाचिद्दिगंशैःकोऽपि छायाद्वय भेदानुत्पत्ति नेति भावः। सूर्योदयकालादासन्नदिगंशकाले द्वितीय प्रकारेणानीता छाया दृग्योग्या। क्रांत्यधिकाक्षदेशे तूत्तरस्थदिगंशे द्वितीयाक्षांशोत्पन्न छाया। दक्षिणस्थ दिगंशे यथागताक्षांशोत्पन्न छाया दृग्योग्येत्यनेनापि स्फुटं ज्ञानमेव मेककपाले छायाद्वयज्ञानमनुमानानुसंधाने न च दुरूहम्। नन्वेक कपालांतर्गत भिन्नकालयोरेक दिगंशसंबद्धयोः छायाद्वयसाधनार्थं मुक्तैतत्प्रकारस्य तुल्यदिगंशाभावेऽप्येतत्प्रकारेण छायाद्वयसंभवाद्वयभिचारसाधारण्यादत-आह। यदीति—यदा यत्काले दिगंशज्या, अग्रायाः सकाशात् खल्वसंशयम्। अल्पा, अनधिका तेनाग्रासमत्वेऽपि न क्षतिः। तदानीं, द्वितीय छायाया साधनं नान्यथेति। तथा च द्वितीयछायासाधनप्रकारे, अग्रानधिकदिग्जायाः विशेषणत्वान्न तत्र व्यभिचार इति भावः। अत्र यदा दिगंशाभावस्तदा प्रकारद्वयेनापि छाया ऐक्यात् नवत्यंक्षांशात् न छायाभेद इत्यल्पाग्रकाया इत्यत्र दिगंशाभाव व्यतिरिक्तेत्यस्य विशेषणस्याववश्यकत्वादपि तत्रैकछायायाः प्रकारद्वयेन करणाद्दक्षिणगोले क्षितिजासक्ते ग्रहे तत्संभवात्। प्रकारद्वयेन छायाद्वयं सिध्यति। संवादान्न क्षतिः। नन्वल्पेत्यस्यानधिकेत्यर्थ इदं तु क्षितिजव्यतिरिक्तस्थतद्गोलेऽग्रांशातुल्यदिगंशासंभवात्पुनरयुक्तम्। अन्यथा सर्वदा छायाद्वयसाधनापत्तेः। अत एवैककपाले दिगंशाभावद्वयासंभवात्प्रकारद्वयेन छायासमत्वमित्युक्तम्। तथा च दक्षिणगोले तत्रैतस्य व्यभिचार-इत्यताह। सौम्यगोले तथा च न दोष इति भावः। ननूत्तरगोले यथाग्रसमत्वे छायाद्वयमुत्पद्यते तथा-दक्षिणगोलेऽपि तत्रोत्पद्यते तथा दक्षिण गोलेऽपि तत्रोत्पद्यतामनुत्पत्तौ कारणाभावादतः स्वाशयं-स्फुटयति। याम्ये त्विति। दक्षिणगोले तुतस्यां दिशि-अग्रानधिकदिग्जामित्यर्थः। भा, द्वितीयछाया नास्ति एवकारस्तत्र छायासामान्याभावात्कदाचित् द्वितीयछाया संभवतीति शंका निवारणार्थः। अग्रातुल्यद्वितीयदिग्ज्या भावादितिभावः। यत्तु ननु सदाग्राधिकदिग्जायाः सत्वादेककपाले दिगंशैक्याभावेन छायाद्वयाप्र-

सक्तिरत, आह, सौम्येगोले इति। तथा चोत्तरगोले कचिदग्रानधिकदिग्जायाः प्रत्यक्ष दर्शनान्नछायाद्वयाप्रसक्तिरिति पूर्वमुपपादितत्वादिति भावः।

ननु दक्षिणगोलेऽपि दिग्ज्याग्रा न्यूना तदापि छायाद्वयं भवतीति कथमुत्तरगोले इत्युक्तमत-आह-याम्येति। दक्षिणगोले यदि दिग्ज्याग्रान्यूना तदा तस्यां दिशि छायैव नास्ति। एवकारो निश्चयार्थे। तथा च तत्र तदा छायाभावात्तद् साधना दुत्तरगोले इत्युक्तमिति भाव इत्याहुस्तन्न। दृग्वृत्तभ्रमेण सदाग्राधिकदिग्जायाभावादुपपादितत्वाच्च छायाद्वयाप्रसक्तेरप्रसिद्धेः। दक्षिणगोले दिगंशज्ञानप्रकारेण दिग्जाया अग्रा न्यूनत्वासिद्धेश्च।

अत्रोपपत्तिः—इष्ट दिशि महाशंकु दृग्जयोर्ज्ञाने दृग्जा त्रिजीवे इत्यादिना छाया तत्कर्णौ भवतोऽत इष्टदिशि नतांशोन्नतांशज्ञानमावश्यकम्। नतांशजीवा भवतीह दृग्जेत्यादिना तज्ज्यया दृग्जा शंकोर्ज्ञानात्। तत्र यदा याम्योत्तरवृत्ते ग्रहस्तदा दृग्वृत्तं तदाकारमिति खस्वस्तिकाद्ग्रहपर्यंतं दृग्वृत्तेयेंऽशास्ते नतांशाः। तद्ज्ञानं तु खस्वस्तिकविषुवद्वृत्तांतरस्थदृग्वृत्तप्रदेशे भागरूपाक्षांशविषुवद्वृत्त ग्रहांतरदृग्वृत्तप्रदेशेभागरूप क्रांत्यंशयोः संस्कारेणेति दिनार्धे प्रागुक्तम्। तथेष्टदिगितिग्रहे तदुपर्यानीतदृग्वृत्ते खस्वस्तिकाद्ग्रहस्थानपर्यंतं येंऽशास्ते नतांशाः। तद्ज्ञानार्थं ग्रहोपर्यानीतदृङ्मंडलस्य विषुवद्वृत्ते यत्र संपातः खस्वस्तिकादासन्नस्तत्स्थानपर्यंतं खस्वस्तिकाद् दृग्वृत्ते येंऽशास्ते इष्टाऽक्षांशाः। पूर्वापरा अपिसदक्षिणाः दृग्विषुवद्वृत्ताभिमतसंपाताद्ग्रहावधि दृग्वृत्ते येंऽशास्ते क्रांत्यंशाः। अक्षांशाकारा अपि दक्षिणोत्तराः। स्वगोलवशात् पूर्ववदनयोः संस्कार इत्यत्रेष्टाक्षांशज्ञानार्थमिष्टपलभा साध्या। सातु यथा याम्योत्तरवृत्ताकार दृग्वृत्तविषुवद्वृत्तोर्ध्वसंपातस्थग्रहस्य छाया पलभा तथेष्टग्रहदृग्वृत्त विषुवद्वृत्तसंपातस्थ विषुवद्दिनीय ग्रहस्य छाया, अक्षांशसाधनप्रकारस्योभयत्र तुल्यत्वात्। तत्रेष्टकाले भूसंलग्नछायाक्षेत्रं महाशंकुप्रमाणेन दृग्जा कर्णः। शंकुमूलपूर्वापरसूत्रांतर रूपं भुजो भुजः। पूर्वापरसूत्रे भुजाग्राद्भूगर्भपर्यंतं कोटिः। द्वादशांगुलशंकुप्रमाणेनवैतदेव शंकुद्वादशांशापवर्तितं लघुछायाक्षेत्रमिष्टकाले छायाकर्णः। महाशंकुद्वादशांशभक्तोऽग्राशंकुतल संस्कारो भुजो भुजः। तद्द्वादशांश भक्ते पूर्वकोटिः कोटिः। विषुवद्दिनेग्राऽऽभावान्महाशंकु द्वादशांश भक्तं शंकुतलं भुजः। तत्तु सर्वदा धूलीकर्मणा पलभा मितमेव। द्वादशांगुलशंकुकोटौ पलभाभुजस्तदा महाशंकुकोटौ को भुज इति शंकुतलमिदं महाशंकुना तदा द्वादशांगुलशंकुना किमित्यनुपातद्वयेन द्वादशांगुल शंकोः शंकुतलस्य पलभामितत्वाद्गुणहरनाशाच्च। तथा च विषुवद्दिने पलभा भुजः तद्दिनीयेष्टछायाक्षेत्रकर्णः तत्कृत्योरंतरात्पदं कोटिरिति लघुक्षेत्रे यः कर्णः स एवेष्टपलभा। अस्या साधनार्थमन्यभूसंलग्नं छाया क्षेत्रम्। दिग्जाभुजः। क्षितिजस्थाभीष्ट दिक्स्थानपर्यंतं खस्वस्तिकाद्दृग्वृत्ते नवत्यंशा स्तेषां ज्या त्रिज्याभीष्टदिक्भूगर्भांतरसूत्रमिताकर्णः। पूर्वापरसूत्रे दिग्जाग्राद्भूगर्भपर्यंतं कोटिरिति गोले प्रत्यक्षम्। अतः साजात्याद्दिग्ज्या भुजे त्रिज्या कर्णः तदा पलभा भुजे कः कर्ण इत्यनुपातेन विषुवद्दिनीयेष्टभा।

अस्याः कर्णस्तद्दिनीयेष्टछायाकर्णः। अनेन छायाभुजस्तदा त्रिज्यया केति तद्दिनीया दृग्ज्या। अस्याश्चापं तद्दिनीयेष्टकालिकाः नतांशाः। अत एवाभीष्टदिनेष्टकाले इष्टाग्रांशाः। अतस्तस्याः पलभात्वकल्पनेनाऽग्रज्या साध्येत्युक्तम्। वस्तुतस्तद्दिनीयमध्याह्नछायायाः पलभात्वांगीकारात्। यत्तु विषुवद्दिनमध्याह्ने त्रिज्यातुल्य दिग्जायां मध्याह्नछायापलभा भवत्येवमिष्टकालेष्टदिग्जयां तद्दिनीयेष्टपलभा भवत्यतो यदित्रिज्यातुल्य दिग्जायां पलभा तदेष्टदिग्जायां केत्यनुपाते इच्छायाः ह्रासात्फलं पलभात्तुल्यं विरुद्धम्। मध्याह्नछायातोऽभीष्टप्रकारकालयोः छायाधिक्यदर्शनादतो ह्रासे वृद्धिरित्युक्तत्वाद्व्यस्तत्रैराशिकमित्युपपन्नम्। पल प्रभेत्यादीत्याहुः। तत्र, उक्तरीत्या स्वदेशाग्रज्यातः इष्टाग्रज्या सिद्धयापत्तेः। उक्तन्यायस्य तत्रापि तुल्यत्वात्। अथ स्वदेशाक्षज्यात इष्टाक्षज्या यथा तिर्यग्रूपा तथैव याम्योत्तरांतर सूत्ररूपक्रांतिज्यात इष्टक्रांतिज्या दृग्वृत्तगतेति स्वदेशाग्रज्ययेष्टाग्रज्या तदा क्रांतिज्यया क्रांतितिर्यगित्यनुपातेन स्वदेशाग्रज्यया गणितागतक्रांतिज्या संस्कारयोग्यातदेष्टाक्षज्यया केत्यनुपातेन वा तया विनिघ्नीत्याद्युपपन्नम्। आगताग्रज्या क्रांतिज्ययोश्च ये दृग्वृत्ते तदंशाः तयोः पूर्ववत्संस्कारेणेष्ट नतांशाःइति गोले प्रत्यक्षम्। ततस्ते नवति शुद्धा उन्नतांशास्तयो र्ज्येदिग्जाशंकुः। ताभ्यां दृग्जात्रिजीवे, इत्यादिना छायातत्कर्णयो र्ज्ञानं भवत्येवेत्युपपन्नम्। पलप्रभेत्यादि सार्धश्लोकोक्तम्। अथ छाया द्वयोपपत्तिः—

यत्र क्रांत्यधिकाक्षांशास्तत्रोदयकाले,उत्तरगोलेऽग्रांशतुल्य दिगंशास्ततोऽग्रिमकाले यथाक्रमं तदूनाः, एवं सममंडलस्थे दिगंशाभावः। ततः पुनरेकादि दिगंशारंभः। एवं मध्याह्ने नवतिः। एवमपरकपाले इत्यत्रैककपालेऽग्रांशानधिकदिगंशानां वारद्वयं संभवः। परंतु समवृत्तादुत्तरदक्षिणस्थे ते तद्दिक्काग्राः, एवं दृग्वृत्तभ्रमेण क्रांतिन्यूनाऽक्षांशदेशेप्युत्तरगोले उदयकालेऽग्रांशतुल्यास्ततः कियत्कालं वारद्वयमूना इति तत्राप्येककपालेऽग्रानधिकदिगंशानां वारद्वयं संभवः। परमुत्तराग्रा इत्युत्तर गोलेऽग्रांशानाधिक दिगंशानामेककपाले वारद्वयं संभव इत्युक्तं प्राक्। अतो भिन्नकाले एक दिग्ज्यासंभवेनानयनप्रकारात् छायैक्य भवतीत्यतिविरुद्धमिति छायापदार्थद्विधानयनयुक्तमुक्तम्। न ह्येककपालांतर्गतभिन्नकालयोः छायैक्य संभवः। येन तदावश्यकता न स्यात्। तत्र युक्तिः-अधिकाग्रांशे समवृत्तादुत्तरस्थे ग्रहेऽग्रांशोन दिगंशेषु विषुवदृग्वृत्तसंपातः खस्वस्तिकादेकत्रैकोदृग्वृत्त नवत्यधिकांशेषु। अन्य नवत्यधिका येंऽशास्तदून नवत्यंशांतरे परत्र। विषुवन्मंडलसंपातयो र्विषुवद्वृत्ताधांतरत्वात्। खस्वस्तिकादासन्न संपातांतरे दृग्वृत्ते येंऽशास्ते क्षांशा इत्यनेन ग्रहाग्रदिक्स्थ संपातांतरे दृग्वृत्तेऽक्षांशाः, गणितागताः। अपेक्षिताः नवत्यधिकांशाः। ग्रहनिकटस्थ तत्संपाताः तदाग्रांशपूर्वक्रांत्यंतरस्य तदानतांशत्वात्। अतस्तत्संपातांतराग्रांशानां गणितसिद्धत्वात्तत्संपातखस्वस्तिकांतरे दृग्वृत्ते संभवात्त एवाक्षांशाः दृग्वृत्ते विषुवद्वृत्तसंपातयोरशीत्यधिक शतांशानामंतरत्वात्। तथा च ग्रहासन्नोयः संपात स्तस्मात् खस्वस्तिकपर्यंतं दृग्वृत्ते येऽ शांस्तेऽग्रांशा इति। क्रांतिस्तु पूर्वोक्तोपपन्ना प्रत्यक्षसिद्धा प्रतिक्षणं द्युरात्रभेदेन

क्रांत्यंतरस्यात्यल्पत्वान्नक्षतिः। ताभ्यां नतांशादिद्वाराच्छायाज्ञानं सुलभम्। समवृत्ताद्दक्षिणस्थे तु यथोक्तदृग्वृत्तभ्रमेण खस्वस्तिकाद्ग्रहासन्न विषुवद्वृत्तसंपातपर्यंतं दृग्वृत्ते येंऽशास्तेऽक्षांशा इति तत्र गणितागताएवाक्षांशास्तत्र पूर्वसंपाताभ्यां विपरीत संपातयोः संभवात्। अतो गणितागतो गणितागतौ, एवाक्षांशैस्तत्र छाया साधनम्। एवं दिग्जायाः यदाग्रानधिकत्वं तदा वारद्वयं दिग्जयोस्तुल्यत्वेऽप्युक्तरीत्या छाया भेदसंभवान्न क्षतिः। परंतु पूर्वोत्पन्ना छाया समवृत्ताद्दक्षिणस्थे तद्दिग्जायाम्। उत्तरस्थे द्वितीयप्रकारेण छाया तद्दिग्जायामेवेति सुष्ठूक्तम्।

अथोत्तरक्रांतिन्यूनाऽक्षांशदेशे तु यदाऽग्रांशेभ्यो न्यूना दिगंशास्तदैककपाले ग्रहोपर्यानीतदृग्वृत्तस्य ग्रहद्युरात्रवृत्ते परोऽपि संपात इति ग्रहद्युरात्र वृत्ते एक कपाले दृग्वृत्तस्य संपातद्वयं भवति। अहोरात्रवृत्तादासन्न तत्संपातस्थे ग्रहे तुग्रहापरदिक्स्थानेषु विषुवद्वृत्तसंपातखस्वस्तिकांतरस्थदृग्वृत्तप्रदेशांशानां गणितागताक्षांशत्वात्त एवाक्षांशाः। तत्र तत्संपातस्य ग्रहासन्नत्वात्। क्रांत्यंशास्तूभयत्र समाना गणितागताः विषुवद्दृग्वृत्ते सम्पातग्रहान्तरस्थदृग्वृत्तप्रदेशानां क्रांत्यंशत्वात्।

अन्यथा द्युरात्रवृत्ते संपातद्वयानुत्पत्तेः। परंतु क्षितिजासन्नग्रहे ग्रहदिक्स्था-एवाक्षांशाः। क्रांत्यंशाश्च। याम्योत्तरवृत्तासन्ने तु ग्रहापरदिक्स्था एवाक्षांशाः क्रात्यंशा अप्येतदवधि संपातग्रहांतरस्थ दृग्वृत्तप्रदेशांशाः खस्वस्तिकांतगताः। अपर दिक्त्वंतु कपालभेदेन। नतूत्तरा दक्षिणा भेदेन। द्वितीयप्रकारेण छायाक्षितिजासन्नग्रहे, पूर्व प्रकारेणछाया याम्योत्तरवृत्तासन्न ग्रहे। अधिक दिग्जायां तु निर्विशेष इति गोले प्रत्यक्षम्। याम्यगोले, लग्ना न्यूनदिग्जायां तु क्षितिजादधो द्युरात्रवृत्ते ग्रहो भवतीति छायाभाव एवात उपपन्नमेवं कृते इत्यादि सार्धश्लोकोक्तम् ॥४८॥

दीपिका—याम्य गोले तु अग्रालिपकायां दिग्ज्यायां क्षितिजादुपरि दृङ्मण्डलाहोरात्रवृत्तयोः सम्पात एव नास्ति, तेन याम्ये तु तस्यां नास्ति भैवेति युक्त मुक्तम्। सौम्यगोले तु तथा भूतायां दिग्ज्यायां द्विधैव छाया स्यादिति स्पष्टवदतामाचार्याणां स्थलविशेषे व्यभिचाराद्दोषः स्यादिति शेषं सर्वं शिखायामेव स्पष्टम्।

शिखा—उत्तर गोल में उत्तर इच्छा दिग्ज्याग्र में संसक्त दृङ्मण्डल, किसी भीअहोरात्र वृत्त के साथ पूर्वाह्ण और अपराह्ण में दो बार सम्पात करता है, ऐसे इस अहोरात्र वृत्त में भ्रमण करते हुये सूर्य को ये दो दिशाएँ स्थान द्वय सम्पात दो बार प्राप्त होते हैं। इसलिये दो बार उक्त दिशाओं में छाया होती है। उक्त पूर्व प्रकार से इष्ट अक्षांश को १८०° में घटाने से जो शेषांश होने हैं उन्हें अक्षांश कल्पना कर सति संभव में दो प्रकार की इष्टछाया साधन करनी चाहिए।

उत्तर गोल में अग्रा से कम दिग्ज्या में यह स्थिति हो सकती है। याम्यगोल में अग्रा से कम दिग्ज्या में रवि का क्षितिज के ऊपर प्रवेश न होने से वहाँ छाया का अभाव ही निश्चित है।

विशेष—उत्तर गोल में उक्त "दिग्ज्या में दो प्रकार की छाया होती है" आचार्य के इस कथन में स्थल विशेष पर व्यभिचार सा मालूम पड़ता है। जैसे नाड़ी वृत्तदृङ्-मण्डल सम्पातोत्पन्न कोण का मान "पर" संज्ञक एवं परम अल्प दिग्ज्या = ०, ऐसी कल्पना करने से परमाल्प क्रान्ति में दो छाया हो सकती है।

क्रां ∠ पर = स्वाक्षांश। दिग्ज्या = ०.

$$\text{कल्पित पलभा} = \frac{\text{त्रि} \times \text{विषुवती}}{०} \text{। ज्या कल्पिताक्षांश} = \frac{\text{कल्पित पलभा} \times \text{त्रि}}{\text{कल्पित पल कर्ण}}$$

$$= \frac{\text{त्रि} \times \text{विषुवती} \times \text{त्रि}}{० \times \text{कल्पित पल कर्ण}} = \frac{\text{त्रि} \times \text{विषु} \times \text{त्रि}}{० \times \text{त्रि} \times \text{विषु}} = \text{त्रि} \text{।}$$

$$\text{यतः कल्पित पल कर्ण}^{२} = (१२)^{२} + \frac{\text{त्रि}^{२} \times \text{वि}^{२}}{०} = \frac{\text{त्रि}^{२} \times ० \times \text{वि}^{२}}{०}$$

$$\text{अतः कल्पित पल कर्ण} = \frac{\text{त्रि} \times ० \times \text{वि}}{०}$$

$$\text{कल्पित अक्षज्या} = \frac{\text{काल्पिताक्षज्या} \times \text{ज्या क्रां}}{\text{स्वाक्ष ज्या}} \text{ इसका चाप} = \text{कल्पि क्रान्ति} = \text{नतांश}$$

= ९०° — कल्पित क्रां, दोनों प्रकार से नतांश मान तुल्य है इसलिये ऐसी स्थिति में दोनों तरफ तुल्य दो छाया कथन ठीक है। यहाँ यदि क्रां 7 पर = स्वाक्षांश (१) तब ऐसी स्थिति में दोष कहा जा सकता है। दिगंश की सत्ता में पर का मान स्वाक्षांश से अधिक ही होगा। क्योंकि इष्टान्तर से परमान्तर अधिक ही होता है। यह गोल युक्ति से प्रत्यक्ष है। यदि क्रान्ति मान भी पर के तुल्य कल्पना करें तो एक ही छाया होगी। क्योंकि अहोरात्र दृङ्मण्डल सम्पातस्थ रवि यहाँ पर एक ही बार दीखेगा। अतएव ऐसी स्थिति में द्विविध छाया कथन ठीक नहीं है।

पर = क्रान्ति 7 स्वाक्षांश, दिगंश ∠ अग्रा (२) अर्थात् पराधिक क्रान्ति में दृङ्म-ण्डलाहोरात्र का स्पर्श भी नहीं होने से यहाँ छाया का अभाव प्रत्यक्ष है, इसलिये यहाँ भी आचार्य के कथन में त्रुटि कही जा सकती है।

क्रान्ति 7 पर 7 स्वाक्षांश, दिगंश ∠ अग्रा (३)

अर्थात् पर से अल्प क्रान्ति में परमान्तर वृत्त के उभयत्र समान अन्तर में अहोरात्र वृत्त का दृङ्मण्डल वृत्त के साथ दो सम्पात होने से छायाद्वय कथन उचित है। लघुमहद्वृत्तों का दो सम्पात परमान्तर वृत्त से दोनों तरफ तुल्य अन्तर में होता है यह गोलीय रेखागणित की युक्ति से स्पष्ट है।

क्रान्ति ∠ पर 7 स्वाक्षांश, दिगंश ∠ अग्रा (४)

यहाँ पर स्वाक्षांश ∠ क्रान्ति ∠ पर हो तो एक कपाल में दो प्रकार की छाया होती है, क्योंकि परमान्तर के आसन्न का इष्टान्तर दूरस्थित इष्टान्तर से अधिक होता है गोलीय युक्ति सुस्पष्ट है। परमान्तर के उभयतः तुल्यान्तर में अहोरात्रवृत्त दृङ्मण्डल के साथ संलग्न होने से एक कपाल में छायाद्वय कथन ठीक है। यहाँ पर

खमध्य से कल्पित रवि तक कल्पिताक्षांश को १८०° में न्यून करने से दक्षिण खमध्य से कल्पित रवि तक कल्पिताक्षांश है इन दोनों से कल्पित क्रान्ति मानीय इष्ट छाया साधन ठीक है, किन्तु यहाँ दोनों छाया अतुल्य हैं।

इसी प्रकार यदि स्वाक्षांश 7 क्रान्ति 8 पर, ऐसी स्थिति में कपाल भेद से छाया द्वय होती है। परमान्तरासन्न में इष्टान्तर स्वाक्षांश होने से अहोरात्रवृत्त दृङ्मण्डल वृत्त का एक ही सम्पात एक कपाल में, दूसरा सम्पात दूसरे कपाल में होगा, अतएव कपाल भेद से अतुल्य छायाद्वय कथन समीचीन है। इत्यादि और और भी इस इच्छादिक् साधन प्रकारों में आचार्य की विशेषोक्तियों के आधार की ही उपरोक्त अनेक तथ्य कल्पनाएँ की गई हैं। क्वचित् आचार्य के कथन में दोष भी यदि साधार सयुक्तिक है तो हो, किन्तु इस सिद्धान्त के उपपादन से भास्कराचार्य का गणित गोल कौशल का स्थान अभी तक अद्वितीय ही है।

दिगंशज्ञान के अनेक प्रकार हैं जो सिद्धान्त तत्वविवेकादि ग्रन्थों में कमलाकर भट्टादिकों ने सम्यक् कह दिये हैं अत एव ग्रन्थ गौरवभय से यहाँ पर दिगंश साधन प्रकारों का इतना ही विवेचन पर्याप्त होगा।

सिद्धान्त शिरोमणि के संशोधक महामान्य म. म. पं. बापूदेव शास्त्री ने भास्कर-के इस इष्ट इच्छादिक्साधन प्रकार में नवीन विशेषोक्तियाँ लिखी हैं जिनका स्पष्टीकरण (*टिप्पणी विवरण नामक पुस्तक में*), *मैथिल पण्डित श्री "बुद्धिनाथ" झा ने किया है* उसे भी देखना और समझना चाहिए।

"शिखा" में विवेचित उक्त विवरण आंशिक रूप से मरीचि में भी विवेचित हो सकते हैं।

इदानीं प्रकारान्तरेणेच्छादिक्छायामाह—

व्यासार्द्धवर्गः पलभाकृतिघ्नो दिग्ज्याकृतिर्द्वादशवर्गनिघ्नी।
तत्संयुतिः स्यात् प्रथमस्तथाऽन्यस्त्रिज्याक्षभाग्राभिहतिस्ततस्तौ ॥४९॥
दिग्ज्याग्रयोर्वर्गवियोगभक्तौ यदन्यवर्गेण युताद्यराशेः।
पदं तदन्योनयुतं श्रुतिर्वा गोलक्रमादिष्टदिशं गतेऽर्के ॥५०॥
स्यादग्रकाया यदि दिग्ज्यकाल्पा तदाऽन्यवर्गात् प्रथमेन हीनात्।
मूलेन हीनः सहितो द्विधाऽन्यः कर्णद्वयं स्यादिति सौम्यगोले ॥५१॥

वा० भा०:—एकत्र त्रिज्यावर्गः पलभावर्गेण गुण्योऽन्यत्र दिग्ज्याकृति-र्द्वादशवर्गेण गुण्या। तयोराश्योर्योगः प्रथमसंज्ञः स्थाप्यः। अथ त्रिज्याया अक्षभाया अग्रायाश्च तिसृणां घातोऽन्यसंज्ञश्च स्थाप्यः। अथ दिग्ज्याया अग्रा-याश्च वर्गान्तरेण तावाद्यान्याववपवर्त्त्यौ। ततो य आद्यराशिस्तस्मादन्यराशेर्वर्गेण युताद्यत् पदं तदन्येन राशिनोनं सदुत्तरगोले दक्षिणगोले तु युतं सत् "इष्टदिशं गतेऽर्के" छायाकर्णो वा भवति। अथोत्तरगोले यदि दिग्ज्याग्रायाः सकाशादल्पा भवति तदाऽन्यराशेर्वर्गात् प्रथमेन हीनाद्यन्मूलं तेनान्यराशिरेकत्र हीनोऽन्यत्र युतः

सन् द्विधा कर्णो भवति। यत्र युतः कृतस्तत्र सममण्डलादुत्तरस्थेऽर्के यत्र हीनः कृतस्तत्र दक्षिणस्थ इति ज्ञेयम्। कदाचिदुत्तरतोऽपि कर्णद्वयं भवति।

अत्रोपपत्तिर्बीजगणितप्रक्रियया। तत्राऽव्यक्तं याकारोपलक्षितं त्रिज्याग्रादिका आद्याक्षरोपलक्षिताः कृत्वा बीजप्रक्रिया प्रदर्श्यते। तद्यथा।—छायाकर्णप्रमाणं यावत्तावत् १। अस्माद्भुजः साध्यः। "त्रिभज्याहृतार्काग्रका कर्णनिघ्नी" इत्यादिना दक्षिणगोले उत्तरा जाता कर्णवृत्ताग्रा या. अ १। इयं कर्णवृत्ताग्रा पलच्छायया
त्रि १
संस्कृता जातो भुजः या. अ १ वि. वि १। अस्मात् "त्रिज्याहृतोऽसौ प्रभया
त्रि १
विभक्तः" इत्यादिना दिग्ज्या साध्या। अयं त्रिज्यागुणितः या. अ १ वि. त्रि १। कर्णवर्गाद्द्वादशवर्गेऽपनीते जातश्छायावर्गः याव १ रू १४४। "वर्गेण वर्गं गुणयेद्भजेच्च" इत्यनेन पूर्वराशिवर्गो भाज्यः। पूर्वराशेर्यावद्वर्गः क्रियते तावत् प्रथमं यावत्तावद्वर्गगुणितोऽग्रावर्गः। ततो याकारगुणितोऽग्रात्रिज्यापलभानां घातो द्विगुणस्ततः पलभावर्गगुणस्त्रिज्यावर्गो रूपराशिरन्ते भवति। स तेन छाया-वर्गेण भक्तो जातः याव. अव १ या. अ वि. त्रि २ विव. त्रिव १। अत्र फलं दिग्-
याव १ रू १४४
ज्यावर्गः। अतोऽयं दिग्ज्यावर्गेण समः क्रियते। अत्र पक्षौ समच्छेदीकृत्य छेदगमे तयोः शोधनार्थं न्यासः याव. अव १ या. अ. वि, त्रि २ विव. त्रिव १ अत्र
याव. दिव १ या० दिव १४४
"एकाऽव्यक्तं शोधयेदन्यपक्षात्" इत्यादिना समशोधने कृते जातं प्रथमपक्षे प्रथम-स्थाने दिग्ज्याग्रावर्गान्तरं यावद्वर्गगुणितं द्वितीयस्थाने त्रिज्याक्षभाग्राभिहतिर्द्वि-गुणिता यावत्तावद्गुणिता ऋणगता च इति प्रथमः पक्षः। द्वितीयपक्षे रूपस्थाने "व्यासार्द्धवर्गः पलभाकृतिघ्नो दिग्ज्याकृतिद्वादशवर्गनिघ्नी" तत्संयुतिर्जाता। शोधितपक्षयोर्न्यासः। याव. दिव १ याव. अव १˙ या. अ. वि. त्रि २˙। अथ पक्षयो-
विव. त्रि १ दिव १४४
मूलार्थं दिग्ज्याग्रावर्गवियोगेनापवर्त्तनं कृतम्। अव्यक्तवर्गस्थाने रूपं जातम्। इतरौ राशी अपवर्त्तितौ जातौ लघू। तत्र यो रूपराशिः सोऽत्र प्रथमसंज्ञः कृतः। अव्यक्तस्थाने त्रिज्याक्षभाग्राभिहतिर्दिग्ज्याग्रावर्गवियोगभक्ता चान्यसंज्ञः कृतः। युताद्यराशेर्मूलं द्वितीयपक्षमूलम्। तेन सह प्रथमपक्षमूलस्य पुनः समीकरणम्। तत्र प्रथमपक्षमूले योऽन्यो रूपराशिः स द्वितीयपक्षमूले समशोधने ऋणगतत्वात् क्षेप्यो भवति दक्षिणगोले। उत्तरगोले तु धनगतत्वाच्छोध्यः।

यदोत्तरगोलेऽग्राया अल्पे दिग्गुणे इच्छादिकृच्छायासाधनं तदा दिग्ज्या-वर्गादग्रावर्गो न शुध्यति। अतः समक्रियायां विलोमशोधने क्रियमाणे अव्यक्त-पक्षमूलेऽन्यः ऋणगतो लभ्यते स च द्वितीयपक्षमूलादधिकः स्यात् तदा,—

अव्यक्तमूलर्णगरूपतोऽल्पं व्यक्तस्य पक्षस्य पदं यदि स्यात्।
ऋणं धनं तच्च विधाय साध्यमव्यक्तमानं द्विविधं क्वचित् तत्॥

इत्यस्याः परिभाषाया विषयः। अतस्तत्र द्विधा श्रुतिः स्यादित्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथोक्तैकाननयस्य निरक्षदेशाविषयत्वमित्यपरितोषात्प्रकारांतरेण कर्णानयन मिंद्रवज्रयोपजातिकाभ्यां चाह—व्यासार्ध वर्ग इति ॥४९॥ दिग्जाग्रयोरिति ॥५०॥ स्यादग्रकाया यदिति ॥५१॥ त्रिज्यावर्गः पलभावर्गगुणः एकत्र स्थाप्यः। परत्रेष्टदिग्ज्या वर्गश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतगुणः स्थाप्यः। तयोर्गुणितयो र्योगः प्रथमसंज्ञः स्यात्। अस्यान्यसापेक्षत्वात्तदानयनमाह—

तत इति। ततः प्रथमसाधनानंतरं त्रिज्याक्षभाग्राणां वधोऽन्य संज्ञः स्यात्। ततस्तत्साधनानंतरं तौ प्रथमान्यौ दिग्जाग्रयोर्वर्गवियोगेन दिग्जाग्रयोर्वर्गयोरंतरेणेत्यर्थः। भक्तौ। फले यथायोग्यं प्रथमान्यौ भवतः। अन्यवर्गेण युताद्यराशेः अन्यवर्गयुतप्रथमांकमूलात् यत् त्यक्त्वांत्यादित्यादिना मूलं भवति तत् गोलक्रमात्। उत्तरदक्षिणगोलक्रमादित्यर्थः। श्रुतिः छाया कर्णः। वा प्रकारांतरेण उक्तरीत्या पूर्वप्रकारेण करणसिद्धेः। छायाकर्णज्ञानात् श्रुति कृतीनवर्गयोरंतरादिति पूर्वोक्तप्रकारेण छायापि स्यात्। इदमानयनमपि निरक्षे मध्याह्नभिन्नविषुवद्दिनेन संभवतीति ध्येयम्।

नन्वग्रानधिकदिग्जायां छायाद्वयसंभवात्कर्णद्वयमनावश्यकमित्येतत्प्रकारेणैक कर्णस्यैव सिद्धिर्न द्वितीयकर्णस्य। किं च—

अग्रानधिकदिग्जायामेतत्प्रकारेणानीतकर्णस्य पूर्वसाधितकर्णेन विसंवादात्।

तथाहि—उत्तरगोले पंचाक्षभादेशे इष्टाक्रांतिज्या त्रिंशत्। अग्रा सार्धद्वात्रिंशन्मिता। इष्टा दिग्जा त्रिंशत्।

अत्र पूर्वप्रकारेणेष्टाक्षज्या १०२४१ तद्देशाक्षज्या ४६।९ दृग्वृत्तीया क्रांतिज्या ६६।५१। दृग्वृत्तीयाक्षांशाः ५९।२।३०। तत्क्रांत्यंशाः ३४।१।४६ नतांशाः २५।०।४४। उन्नतांशाः ६४।५९।१६। दृग्जा ५०।३१।२५। शंकुः १०८।२९।२१। उक्त प्रकारेण छाया ५।३५ तत्कर्णश्च १३।२० द्वितीयाक्षांशाः १२०।५८।३०। दृग्ज्या ११९, शंकुः ६।५ उक्तरीत्या छाया २०३।५।७ तत्कर्णश्च २३६ एवमेककपाले तद्दिग्ज्यायां कालभेदेन छायाद्वयं सिद्धम्।

अथ द्वितीयप्रकारेणाद्यः ४८९६०० अन्यः १९ १४०० एतौ दिग्ज्याग्रयोर्वर्गांतरेण ९००।१०५६।१५ अनेन १५६।१५ भक्तावाद्या ३१३३।२६।२४ न्यौ १२४।४४ अन्यवर्गो-१५५७।२।२४ युताद्याव-१८७०९।२८।४९ न्मूलं १३६।५४६।४५ अन्योनं कर्णः ११।५९।४५ अयं पूर्वसाधितकर्णद्वया-१३।२०।३६ न्यतरेणापि न समः।

एवमन्यत्रापि विसंवादाद्व्यभिचार इत्यत आह-स्यादिति। यत्कालेऽग्रायाः सकाशाद्दिग्ज्या, अनधिका। तेनाग्रासमदिग्जायामपि न दोषः स्यात्तदा तत्काले प्रथमेन लघुनोनात् अन्य वर्गात् लघु भूतात् त्यक्त्वांत्यादित्यादिना प्राप्तेन मूलेन द्विधास्थानद्वयस्थ लघ्वन्यादूनोयुतश्च क्रमेण कर्णद्वयं स्यात्।

पूर्वप्रकारानीतछायाक्रमेण भिन्नकाले एक दिग्जायामानीतयोः कर्णयोर्ज्ञानं भवतीतिध्येयम्। यत्तु समवृत्ताद्दक्षिणस्थे हीनः—उत्तरस्थेऽधिकः कर्ण इति तयो र्ज्ञानमिति तन्न।

सदा समवृत्तादुत्तरस्थे व्यभिचारात्। तथा चाग्रानधिक दिग्जायां पूर्व-प्रकारस्य सामान्यस्यैतदुक्तविशेष बाध्यत्वादविषयत्वमित्युक्तरीत्या तत्र कर्णद्वय-सिद्धेश्च न क्षतिरिति भावः।

नन्वल्पेत्यस्यानधिकेत्यर्थकरणाद्दक्षिणगोले क्षितिजस्थे तत्संभवात्तत्र छाया-द्वयाभावेन कर्णद्वयाभावेप्येतत्प्रकारेण कर्णद्वयसिद्धे र्व्यभिचारोऽत—आह-उत्तर गोले इति। अनेन प्रकारेण साध्यम्। नान्यत्र। तथा च यत्र छायाद्वयसंभ-वस्तत्रैतत्प्रकारेण कर्णद्वयसिद्धेर्न व्यभिचार इति भावः।

ननूदयास्तकाले दिग्ज्याग्रयोः समत्वादुक्तप्रकारेण त्रिज्यावर्गपलभावर्ग-घातश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशताग्रावर्गघातयोरैक्यं प्रथमः त्रिज्यापलभाग्राघातोऽन्यः, एवं दिग्जाग्रयो र्वर्गवियोगभक्ताविति खहराविप्युभौ च। तदुक्तरीत्या खहरः कर्णः सिद्धोप्यनुपपन्नः। तत्र शंकोरभावात्त्रिज्या द्वादशघातस्य खहरस्य कर्णत्व निर्णये न तदसमत्वात्। किंचोत्तरगोलेऽल्पेत्यस्यानधिकेत्यर्थ स्यादग्रकाया-इत्युक्तविधिना प्रथमोनादन्यवर्गान्मूलेन खहरेण हीनो युतश्च कर्णद्वयं खहरमुपपन्नं न युक्तम्—वैलक्षण्यादिति चेन्न। हरस्यापचयेन फलोपचयात्परमं हरापचयेन शून्यहरेण फलस्य परमत्वात् तत्र हरोनं तत्फलत्वं युक्तम्। लब्धे संख्या नियतत्वे परमत्वानापत्तेः। ततोप्याधिक्यसंभवात्। तथा च भाज्यांकभेदेऽपि शून्यहरेण सर्वत्र फलाननत्याभेदात्कर्णानंतत्वे तात्पर्यमिति न क्षतिः।

अन्यथा त्रिज्या भेदेनोदयास्ते छायाभेदापत्तेः। अत एवाचार्यैं बीजे शून्य-षड्विधे खहारो भवेत्खेन भक्तश्चराशिरित्यत्र येनांकेन यो ह्रियते स तद्धरो भवतीति किंचित्रमित्याशंकापाकरणाय गणितावसरे अयमनन्तो राशिः खहर इत्युच्यते इत्युक्तम्।

न च तथाप्युत्तरगोलेऽग्रासमदिग्जायां स्यादग्रकायामित्यादिना प्रथमकर्णस्य खहरत्वमनुपपन्नम्। प्रथमकर्णकालस्योदयास्त भिन्नत्वात्। नहि पलप्रभाभ्यास-दलेनेत्यादिना तत्खहरत्वं येनात्राऽपि युक्तं स्यात्। उदयास्तकालयोरवेश्च्छायापरम वृद्धेर्दर्शनात् खहरत्वं तत्कर्णस्येति निश्चयाचेति वाच्यम्।

प्रथम कर्णस्य खहरत्वाभावनिश्चयादाद्यान्ययोर्मूलभूतयोरेव तत्साधनात्। पलप्रभेत्यादिना तत्समत्वाच्च। यद्वा, उदयास्तकाल एवोभयोः कर्णयोरनं-तत्वेनाभिन्नयोः सिद्धेः। यथा समवृत्तस्थग्रहे प्रकारद्वयेन लघुभूतान्यरूपकर्णभेदः, वास्तवस्तत्कालीना खहरछायाकर्णसिद्धं तु द्विगुणितान्यभक्तप्रथमेनेत्यधिकं ध्येयम्।

न चैवं क्षितिजस्थे ग्रहे सामान्यप्रकारेण खहरकर्णसिद्धेः स्यादग्रकाया-इत्यत्राल्पेत्यस्य यथोचितार्थे वाधकाभाव इति वाच्यम्। एवमपि स्यादग्रकाया यदि दिग्ज्यकाल्पा इत्यादावपि सौम्यगोले इत्यस्य व्यर्थत्वापत्तेः।

दक्षिणगोले दिग्जाया अग्रान्यूनत्वाभावात्।

अत्रोपपत्ति :—बीजैकवर्णमध्यमाहरणेन । तत्र यावत्तावत्कल्प्यमव्यक्तराशेर्मानमित्युक्तत्वात्साध्यस्य छाया कर्णस्यमानं या १ दिग्ज्यायाः व्यक्तत्वेनास्मादपि दिग्जावर्गो व्यक्तः साध्यः ।

अव्यक्ते विना समपक्षमव्यक्तराशिमानानुत्पत्तेः ।

अत एव तस्मिन् कुर्वतोद्दिष्टमेव । तुल्यौ पक्षौ साधनीयौ प्रयत्नादित्युक्तम् । तत्साधनं छायामितकर्णे लघुभुजो भुजस्तदा त्रिज्याकर्णे को भुज इत्यनुपातेन पूर्वोक्तरीत्या अन्यथेष्ट पलभानुपपत्तेः ।

तत्र लघुभुजसाधनं त्रिभज्याहृतार्काग्रका कर्णनिघ्नी भवेत्कर्णवृत्ताग्रका व्यस्तगोला । पलछायया सौम्यया संस्कृतास्याद्भुज इति वक्ष्यमाणप्रकारेण यथा । प्रकृते कर्णवृत्ताग्रा $\frac{\text{या अ १}}{\text{त्रि १}}$ इयं पलभा संस्कृता भुजः उत्तरगोले $\frac{\text{या अ १}}{}$

$\frac{\text{प त्रि. १ सा}}{\text{त्रि १}}$ । $\frac{\text{या अ. १ प त्रि १}}{\text{त्रि १}}$ भिन्न दिक्त्वात् । दक्षिण गोले तु $\frac{\text{या अ १}}{}$

$\frac{\text{पत्रि १}}{\text{त्रि १}}$ एक दिक्त्वात् अस्माद्दिग्ज्या पूर्वानुपातेन साधनार्थं श्रुतिकृतीनवर्गयोरंतरादिति छायावर्गः याव १ रू १४४ अस्य मूलेन पूर्वानुपाताद्दिग्ज्येत्यत्र छाया वर्गस्याव्यक्तोक्तरीत्या मूलालाभाद्वर्गद्वारा तदनुपातेन छायावर्गमितकर्णे भुजवर्गो भुजस्तदा त्रिज्यावर्गकर्णे को भुज इति रूपेण दिग्ज्या वर्ग एवानीतः । यथा भुजवर्गः उत्तरगोले । $\frac{\text{याव. अ. १ या अशत्रि ३ यव त्रिव १}}{\text{त्रिव १}}$ दक्षिणगोले तु ।

$\frac{\text{याव. अव. १ या अपत्रि २ यव त्रिव १}}{\text{त्रिव १}}$ अत्रवर्गघातो हि चतुर्घातः वर्गस्य समद्विघात रूपत्वात् । एव मेकस्य समराशिद्वयस्येतरस्य समराशिद्वयस्य घात इति चतुर्घातो वर्गघातः ।

एवं घातवर्गोऽपि चतुर्घातात्मकः । यथाराशी ।३।५। अनयोर्वर्ग घातार्थं घात वर्गार्थं वा राशि चतुष्टयेन भाव्यम् ३।३।५।५ ।

अत्र घात द्वयमेवं ९।२५ एवं वा १५।१५ । राश्यो वर्गौ राशिघातौवा ।

अत्रावर्गयोर्घाते घातयोः समयोर्वाघाते २२५ वा चतुष्कस्य घातो रूपतोघातवर्गो वर्गघातसम इति वर्गघात लिखनमिति ध्येयम् । अयं भुजवर्गस्त्रिज्यावर्गेण गुण इति क्रियावर्गयोर्गुणहरयोः समत्वनाशे सिद्धमिदम् । याव. अव १ या अपत्रि २ यव. त्रिव प अ अ. व या व १ या. अ. प. त्रि १ पव त्रि व १ छायावर्गेण भक्तं जातो दिग्ज्यावर्गः । उत्तर गोले याव अव १ या अप त्रि २ पव त्रिव १ दक्षिण गोले । याव अव १ या. अप त्रि २ यव त्रिव १ याव १४४ ।

अत एव वर्गेण वर्गं गुणयेद्भजेद्वेति फलं करणीषड्विधे । अयं व्यक्त याव १ रू १४४ दिग्ज्यावर्गेण तुल्यस्तत्रापि हरभक्त याव १ रू १४४ फलेन

तुल्य इति सिद्धत्वादेतद्धरगुणितव्यक्तरीत्या वर्गो भाज्यसम इति समजाति करणार्थं वा पक्षयोरन्योन्यहाराभिहतौ हरांशौ राश्योः समछेदविधानमेव मिति तुल्ययो र्न्यासः।

उत्तरगोले दक्षिणगोले च अत एव य याव आ १ यावदिव. १ या स अप त्रि १ यव. त्रिव १ यादि १४४ व याव १ क १४४ याव १ रू. १४४ अंव १ या अप त्रि १ यव त्रिव १। अत एवोक्तं त्यक्त्वाक्षिप्त्वा हत्वा वाऽपि संगुण्यभक्तेति। अत्र या व दिव १ या दिव १४४ या व १ रू १४४ याव १ रू १४४ याव दिव १ या० दिव १४४
याव रू १४४ याव १ रू १४४ अत एवोक्तं त्यक्त्वाक्षिप्त्वा वापि संगुण्य भक्तेति। यत्र भाज्ययोस्तुल्यत्व संपादनेन ······ याव अव १ या. अपत्रि १ यव त्रिव १ याव। दिव १ या०। रू. दि य १४४। योजनात्तुल्यपक्षयोः समहरनाशेन तुल्यत्वाहानेश्चछेदगमे कृते पक्षयोः सिद्धयोर्न्यासः क्रमेण याव अव १ या अप. त्रि १ यव त्रिव १ अथ तुल्यपक्षयोरेकोऽव्यक्तात्मकस्तदितरो रूपात्मक इति। याव दिव १ या० रू दिव १४४ यदिस्यात्तर्हितदव्यक्तस्य तद्व्यक्तमानं सिद्धं भवति। पक्षयोस्तुल्यत्वात्। अतस्तयोः पक्षयोः समपक्षसमशुद्धौ न समत्व हानिरिति तदुभयान्यतराभीष्टपक्षस्य व्यक्तात्मकखंडं विना।

व्यक्त खंडरूपेष्ट वियोजनेनाभीष्ट पक्षे रुपाण्येव तत्खंडस्येष्टत्वात्। तदितरपक्षे चाव्यक्तस्थाने तद्व्यक्तखंड नूनं कार्यम्।

अथाभीष्टपक्षे केवलरूपाणां सिद्धावपि तदितरपक्षे केवलाव्यक्तखंडासिद्धिस्तत्र रूपाणामपि सत्वादतः पुनः समशुद्धावपि न समत्वहानिरित्यभीष्टेतर पक्षस्याव्यक्तखंडं विना रुपात्मकेष्टवियोजनेनाभीष्टेतरपक्षेऽव्यक्तात्मकत्वारूपकत्वं सिद्धम्। अभीष्टपक्षे च तद्रूपसंख्योनास्वरूपसंख्येति सिद्धमेकः पक्षो व्यक्तात्मकस्तदितरो रूपात्मकः।

अन्यथा तदसंभवापत्तेः।

अत एवोक्तमेकाव्यक्तं शोधयेदन्यपक्षाद्रूपारायन्यस्येतरस्माच्चपक्षादिति। यथा प्रकृते उत्तरगोलेऽग्राधिकदिग्ज्यापक्षे दक्षिणगोले चोक्तरीत्या जातम्। तत्राव्यक्तपक्षे प्रथमस्थाने यावद्वर्गगुणोऽग्रावर्गोनदिग्यावर्गः। द्वितीयस्थाने यावद्गुणोऽग्रापलभात्रिज्याघातो द्विघ्नो धनमुत्तरगोले दक्षिणगोलेत्वृणम्। व्यक्तपक्षे तु संशोध्यमानं स्वमृणत्वमेति स्वत्वं क्षय इत्युक्तेन पलभावर्गस्त्रिज्या वर्गगुणो दिग्ज्यावर्गो द्वादशवर्गगुणस्तयो र्योग इति सिद्धम्।

तत्राचार्यैं र्व्यक्तपक्षोऽऽद्यसंज्ञः कल्पितः। अव्यक्तपक्षे द्वितीयस्थाने त्रिज्याक्षभाग्राणां घातोऽन्यसंज्ञः कल्पितस्तेन तत्स्थाने यावद्गुणान्योद्द्विघ्न इति सिद्धम्। यथैतद्दर्शनम् याव अव. १ दिव १ या अ १। याव अव १ दिव १ या अ १ रू प्र १ अथ तथा सिद्धेऽप्यव्यक्तपक्षः खंडद्वयात्मक इत्येकाव्यक्तखंडस्य व्यक्तमानाज्ञानादप्रयोजकत्वमतः खंडद्वयात्मको व्यक्तपक्ष एकखडात्मकः कार्यस्तत्र

प्रथमस्थाने व्यक्तवर्गत्वाद्द्वितीयस्थाने व्यक्तत्वाच्च पदग्रहणेनैकं खंडं संभवतीति दर्शनात्प्रथमखंडस्य फलं, आद्यम्।

तत्रापि यदाग्रादिग्ज्ययोर्वर्गांतरस्य पल लभ्यते तदैवमूलं स भवति तद्वर्गांतरस्य तदंकत्वात्। अतस्तलिखनात् यव मूल ज्ञानानिश्चयामियमतस्तत्खंडस्य वर्गात्मकत्वं यथा भवति तथा व्यक्तवर्गांक भागेनेष्टैः। अव्यक्तवर्गांकेनाव्यक्तवर्ग खंडभक्तं फलस्याव्यक्तवर्गत्वात्तस्य चावश्य मूललाभः। अतः प्रकृते दिग्ज्याग्रावर्गांतरस्य तदंकत्वात्तद्भजनेऽव्यक्त वर्ग एव प्रथमस्थाने प्रथमस्थानस्यापवर्त्तनाद्द्वितीयखंडमप्यपवर्त्यम्। अन्यथा तत्खडानुपपत्तेः। एवमव्यक्तपक्षेऽपवर्त्तिते तु रूप पक्षेणापवर्त्तिते तु पक्षयोः समत्व हानि रितिव्यक्त पक्षोप्यपवर्त्यस्तेनैवापवर्त्तितोऽपि नाद्य पर संज्ञा लोपः। यथा तद्दर्शनं या व १ या प्र १ याव १ या अ १
प्र १ प्र १

अथाव्यक्तपक्षे तथापि मूलालाभः। रूपाभावात्, अन्यथाऽव्यक्तस्य फलाभावादेकखंडासंभवापत्ते रतः पुनरपि समक्षेपे तुल्यत्वा हानिरिति पक्षयोर्फल ग्रहार्थं वर्गात्मकेष्टरूपाणि क्षेप्याणि। तानि प्रकृतेऽन्यवर्गरूपाणि। मूलग्रहणे मध्याऽव्यक्तस्य नाश संभवात्।

अत एवान्यत्राप्यव्यक्तवर्गांकमूलभक्ताव्यक्तांकाद्वर्गयोजनेन मूलग्रहणे युक्तम्। तेनावश्यमव्यक्ताव्यक्तनाशादत एवास्य गणितस्यमध्यमाहरणत्वमपि संगच्छते। प्रकृते कृतिभ्यआदायेत्यादिना मूलग्रहणेनाव्यक्तपक्षे उत्तरगोले प्रथमस्थाने व्यक्तं द्वितीयस्थानेऽन्यो धनं यथा। या १ अ १ दक्षिणगोले तु मध्याव्यक्तनाशार्थमव्यक्तव्यक्तान्यतरस्य मूलस्यर्णत्वं ज्ञेय मन्यथा तन्नाशासंभवापत्तेः।

तथा च मूलं। या १ अ १ वा. या १ अ० व्यक्त पक्षेत्वन्य वर्गयुताद्यराशि फलमिति जातम्।

अथ तथाव्यक्तपक्षोऽरूपकोन जात इति पूर्वं समशोधनार्थं न्यासः—। तत्र दक्षिणगोले शोधनार्थं द्वितीयाव्यक्तफलगृहीतेन प्रथमे १ तद्योजस्यात्रैवाग्रे स्फुटत्वात्। या १ अ १ या १ अ १ एकाव्यक्तं शोधयेदित्यादिनात्रैकः पक्षोऽव्यक्तात्मकः या १ व्यक्तपक्ष उत्तरगोलेऽन्योन्यफलदक्षिणगोलेऽन्ययुत फलं या. य. या. प १ तथा च पक्षयोसमत्वा त्तदव्यक्तस्य तद्व्यक्तमानम्।

अत एवाव्यक्त वर्गादि यदावशेषं पक्षौ तदेष्टेन निहत्य किंचित्। क्षेप्यंतयोर्येन पदप्रदः स्यादव्यक्तपक्षोऽस्य पदेन भूयः। व्यक्तस्य पक्षस्य समक्रियैवमव्यक्तमानं खलु लभ्यते तद्दित्युक्तम्।

अथ कल्पितकर्णस्यैतदव्यक्ताभेदत्वादिदमेव कर्णमानम्।

ननु प्रकृते दैवादव्यक्तभेदः। यत्रोक्तरीत्या तद्भेदस्तत्र पक्षसिद्धाव्यक्तस्य तन्मानत्वेऽपि कल्पिताव्यक्तपदार्थस्य कथं ज्ञानमिति चेत्।

उच्यते—यदि पक्षसिद्धाव्यक्तसंख्यायाः पक्षसिद्धरूपगणो मानं तदा कल्पिताव्यक्त संख्यायाः किमित्यनुपातेन तन्मानं युक्ततरमत एव शेषाव्यक्तेनोद्धरेद्रूपशेषं व्यक्तं मानं जायतेऽव्यक्त राशेरित्युक्तम्।

अथोत्तरगोले दिग्ज्यायाग्रान्यूनत्वे पक्षयोः समशोधनेनाव्यक्तपक्षे प्रथम स्थाने यावद्वर्गगुणो दिग्ज्यावर्गोनोऽग्रावर्गः द्वितीयस्थाने यावद्गुणोऽन्यो निघ्नो ऋणं व्यक्तपक्षत्वादाद्यो ऋणम्।

अत्रापि पक्षौ तद्वर्गांतरेणापवर्त्तितौ। मूलग्रहार्थमन्यवर्गो योज्यस्तयोस्तत्राव्यक्तपक्षमूलं या १ अ १। वा या १ अं। व्यक्तपक्षे तु प्रथमोनादन्यवर्गान्मूलमिति जाते—

अत्रान्य वर्गस्यावश्यमृणाद्यधिकत्वात् तथा च पुनः समशोधनार्थं विनिगमनाविरहादुभाभ्यां मूलाभ्यां न्यासः—या १· अ १ या १ अ १· अत्र समशोधनेन मूलस्यान्याल्पत्वात्प्रथम पक्षयो मूलेन हीनोऽन्यः कर्णः। द्वितीयपक्षयोस्तूक्तरीत्या—या० प १ या० प्र १ मूलयुतोऽन्यः कर्ण इति छाया द्वैविध्येन युक्तम्। दक्षिणगोले तदसंभव एव अत उपपन्नं व्यासार्द्धेत्यादि श्लोकत्रयम्।

नन्वेवं दक्षिणगोलेऽन्यस्यर्णत्व कल्पनेनोक्तमुत्पादितं, तत्राव्यक्तस्यर्णत्वमन्यस्य धनत्वमिति सिद्धव्यक्तमूलेन समशोधनादन्यस्य मूलात्वादन्येऽन्य पदमिति द्वितीयकर्णमानमुपपन्नं तत्कथं नोक्तम्। विनिगमाविरहस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। अन्यथोत्तरगोले तदनुपपत्त्यापत्ते रिति चेन्न। उत्तरगोले तत्र तद्वयस्योपपादितत्वा दक्षिणगोले छाया द्वयाभावस्योपादितत्वाच्च तदुक्तानुक्तौ बाधकाभावात्। न च दक्षिणगोले तद्द्वैधासंभवेन द्वैधस्यानुपपन्नत्वेऽपि द्वितीयकर्णमानस्या न्योऽन्यपदस्योपन्नत्वे बाधकाभावात्तदेव वक्तव्यमिति वाच्यम्।

ऋणत्वे नानुपपन्नत्वात्। अस्य ऋणत्वं तु व्यक्तमूलस्योनाधिकत्वेन समशोधनादिना स्पष्टम्। कुत एवमिति चेत्।

शृणु। ऋणस्य यथा गतस्थितिविपरीतत्वादूर्ध्वगोले द्वितीयं कर्णमानं न दृश्यते। तत्र यथागतस्थितेः प्रत्यक्षदर्शनात्। न ह्येकत्रपरस्परविरुद्धयोः पदार्थयो रवस्थानं संभवति। अन्यथा विरुद्धत्वमेव व्याहतम्। अतो ग्रहसंबंधेन ज्ञातदिग्ज्योपजीव्यछायाकर्णस्य धनत्वे ग्रहस्य संबंधीयत्वम्। ऋणत्वे—तु तदा क्षितिजाधः स्थ ग्रहद्युरात्रदृङ्मंडलसंपातीयत्वमतो ग्रहसंबंधाभावे इत्यधोगोले तस्य प्रत्यक्षत्वेऽप्यनुपपन्नत्वं युक्तम्।

अत एव पूर्वोक्तयुक्तया ऋणमानव्यतिरिक्ताव्यक्त मानानयनमव्यक्तपक्षर्णगरूपतोऽल्पं व्यक्तस्य पक्षस्य पदं यदि स्यात्। ऋणं धनं तच्च विधाय साध्यमव्यक्तमानं द्विविधं क्वचित्तदित्युक्तमस्यार्थः। अव्यक्तपक्षमूले यानि ऋणरूपाणि तेभ्यः-व्यक्तस्य पक्षस्य मूलमल्पं यदि स्यात्तदा। तच्च व्यक्तं मूलं धनं ऋणं विधाय प्रकल्प्येत्यर्थः। अव्यक्तमानं पूर्वरीत्या साध्यम्। ननु तर्हि यथास्थितपक्षयो

र्ने साध्यमत आह—द्विविधमिति। यथास्थितपक्षयो रेकं मानं साध्यम्। परं व्यक्तमूलस्यर्णत्व कल्पनेनेति तादृशस्थले द्विविधं मानं भवतीत्यर्थः।

यद्वा। तमव्यक्तमूलमल्पम्, ऋणं धनं च कृत्वा एकाव्यक्तमित्यादिना द्विविधमव्यक्तमानं साध्यम्। व्यक्तपक्षस्यचेन्मूलमन्यपक्षर्णरूपतोऽल्पं धनर्णगं कृत्वा द्विविधोत्पद्यते* ।.............................

ननु तच्चाव्यक्तमूलरूपाणि ऋणं धनं कृत्वा द्वितीयं साध्यमिति सांप्रदायिकव्याख्यानम्। वनांतराले प्लवगाष्टभाग इत्युदाहरणगणितनिरूपणेऽत्राव्यक्तपक्षर्णगरूपेभ्योल्पानि व्यक्तमूलरूपाणि संति। तानि धनमृणं च कृत्वा लब्धं द्विधा-यावत्तानन्मान मित्यस्य विरोधापत्तेः।

किंच, एतादृशस्थले उपपत्या द्वितीयमानस्यानृणत्वेऽपि भवदुक्तार्थेनर्णत्वापत्तेः। अव्यक्तपक्षर्णगरूपेभ्योऽधिके व्यक्तमूलेऽपि द्वितीयमानस्योपपत्या ऋणत्वेनानुक्तत्वेऽपितत्कथनापत्तेश्च भवदर्थे न प्रत्ययस्तस्यैव धनत्वात्। न च द्वितीयमानस्यर्णत्वमेव। अन्यथा क्वचित्तदित्यनेनपद्मनाभसूत्रे सूचितस्य व्यभिचारस्य यूथात्पचांशकस्त्र्यूनइत्यादौ दर्शनेन हि व्यक्ते ऋणगते लोकस्य प्रतीति रस्तीत्यस्यायुक्तत्वापत्ते रिति वाच्यम्।

आलापोक्त विपर्ययसंभवेन नहीत्याद्युक्तेनतु द्वितीयमानस्यर्णत्व मित्याशयेन। अन्यथा द्वितीयमानस्योच्छेदापत्तेः। एतेनाचार्यैः पद्मनाभसूत्रस्थबीजे व्यभिचारो दर्शितस्तस्योद्धारः केनचिदुक्तः। तथाहि यदोभयपक्षे शेषाद्गृहीतयोर्मूलयोः पुनः समशोधनेन मानं साध्यम्।

तत्र द्वितीयमानस्य पूर्व प्रकारसाधितस्य यदि व्यभिचारस्तदा त्वव्यक्तमूलर्णगरूपाणि धनं कृत्वा समशोधनं कार्यम्। तेन यदव्यक्तमान मायाति तदृणमेव भवतीति कृते सूत्रस्य व्यभिचारो न स्यादिति क्वचित्तदिति भास्कराचार्योक्तमसंगतम्। तथा च तद्वाक्यम्। अव्यक्त पक्ष रूपाणि कल्पते स्वं यदा तदा समीकृतादृणागतात्तद्रूपान्तरस्तु यत् द्वितीयमानं तद्गेयमृणमेवं कृते सति न सूत्रव्यभिचारः स्यादेतत्प्राज्ञै विचार्यतामिति।

यथा कर्णस्य त्रिलवेनोना द्वादशांगुल शंकुभा। चतुर्दशांगुला जाता गणक ब्रूहि तां द्रुत मित्युदाहरणे बीजरीत्या द्विधामानं छायायाः ४५।९।

अत्र प्रथममुपपन्नमालापसिद्धेः। द्वितीयं त्वनुपपन्नमेव छायायाश्चतुर्दशतोन्यूनत्वेन कर्णं त्र्यंशोनायास्तस्याः सुतरां तत्संभवात्। तत्र द्वितीय छायाचेदृणगा भवति तदा कर्णत्र्यंशोना चतुर्दशांगुला भवतीति न सूत्रव्यभिचार इति दूरं परास्तम्। एवमपि यत्र द्वितीयमानस्योपपन्नत्वं तत्रानुपपन्नत्वापत्तेः। यथा वनांतराले प्लवगाष्टभाग इत्युदाहरणो द्वितीयमानस्य षोडशमितस्योपपन्नत्वेऽपि तदृण-

* अत्र मूलकोषे कियानंशः, सम्यक् स्पष्टो न भवति। तथापि तत्र स्थले क्वचिदित्युक्तमित्यर्थ इति भाव्यम्।

त्वेऽष्टभागवर्गस्य चतुस्संख्यात्त्वात्तेनोने यूथे विंशतिस्त्वृणं भवंति न तु द्वादशेति ।

न च यत्रोपपन्नं तत्र द्वितीयं धनगमेव ।

यत्रानुपपन्ने तत्र तस्यर्णत्वकल्पनेनोपपन्नत्वमिति न सूत्रव्यभिचार इति प्रागुक्तमेवेति वाच्यम् । अननुगमस्यदोष परिहारार्थमुक्तस्य व्यभिचारोद्धारस्य पुनरननुगमात् । किंच यूथात्पंचांशेत्युदाहरणे द्वितीयमानं पञ्चमितं पंचांशकस्थानेत्यसंभवादनुपपन्नमपि तस्यर्णत्वेप्यनुपपन्नम् ।

न च पूथात्पंचांशकेत्युदाहरणं द्वितीयमानस्य धनत्वे आलापसिद्धे नर्णत्वम् । अननुगमस्य तथा दोषत्वाभावात्समीचीनमिति वाच्यम् । व्यक्तमूलस्याव्यक्तमूलर्णगरूपतोऽधिकत्वेप्यवगतद्वितीयमानस्यर्णत्वेनालाप सिद्धेस्तत्कथनापत्तेः ।

योगो दोः कोटि कर्णानां षट्पंचाशद्वधस्तथा । षट्शती सप्तभिः क्षुण्ण येषां तान्मे पृथग्वदेत्युदाहरणे द्वितीयमानस्य त्रिमितकर्णस्य धनत्वे ऋणत्वे वालापासिद्धेरनुपपन्नत्वमिति सूत्रव्यभिचारस्य वज्रलेपायिततत्वाच्च ।

किंच, तादृशस्थले उपपत्या द्वितीयमानस्यर्णत्वासंभवात्दृणमानानयनमप्यसंबद्धमिति मूले कुठारः । तस्मात्प्राचीनव्यभिचारोद्धारेण स्वस्य ज्ञानराजात्मजत्वमुपपत्तिज्ञानं लज्जापि खंडितेति किं बहूक्तेनेत्यप्रसक्त विचारणयाऽलंस्यादेतत् । यदा या दिग्ज्ययोः समत्वं तदा समशोधनेनाव्यक्तपक्षे यावद्गुणोऽन्यो द्विघ्न एकं खंडं व्यक्तपक्षेत्वाद्यस्तत्राव्यक्तवर्गावशेषाभावान्मध्याहरणाप्रसंगः ।

अत एवोदयास्तभिन्नकाले दिग्ज्याया साम्ये एकवर्णप्रक्रिययैव कर्णमानमानीतं युक्तम् , तथा च तत्र मध्याहरणप्रक्रियया कर्णस्य खहरत्वं कथं सिद्धं भवति । अन्यथा तत्रैतत्प्रकारस्य व्यभिचारापत्तेरिति चेत् । उच्यते, दिग्ज्याग्रयोः समत्वे व्यक्तवर्गस्थाने लोपो न कार्यः किंतु शून्यं तद्वर्गगुणं स्थाप्यम् ।

ततो दिग्ज्याग्रावर्गांतरेण शून्येन पक्षयोरपवर्त्तकरणे त्रय, ख हराः । ततो मूलग्रहणे पूर्वरीत्याव्यक्तपक्षे प्रथमस्थाने यावद्गुणं ख हरश्चिन्त्यम् । द्वितीयस्थानेऽन्यः व्यक्तपक्षे मूलं च ख हरमनयोस्तुल्यहरत्वाच्छून्यहरनाशे उभयोः पक्षयोरव्यक्तं शून्यं प्रथम स्थाने, द्वितीयस्थानेऽन्यो मूलं च ख हरं यथा योग्यम् । पुनः समशोधने सिद्धं खहरत्वं कर्णस्य शून्यभक्तं शून्ये रूपं फलमिति पक्षे तु हरनाशकरणेन तु सुखेन तत् सिद्धिः ।

यन्मते शून्यं फलं तन्मते तत्र मूलालाभः साध्यः व्यक्तनाशासंभवात् । कल्पनांतरेणाऽत्रापि सिद्धौ गौरवग्रस्तत्वाच्चत्यलं पल्लवितेनानेन । लक्ष्मीदासमिश्रास्तु पलप्रभाव्यासदलेन निघ्नी दिग्ज्योद्धृतां तां पलभां प्रकल्प्येत्यनेनेष्टपलभा- [त्रि. प १ दि १] अस्या इष्टाक्षकर्णवर्गः त्रिव. पव १ दिव १४४ । अत्र भाज्यो व्यासार्द्धवर्गः पलभाकृतिघ्नो दिग्ज्याकृतिर्द्वादशवर्गनिघ्नीतत्संयुतिः स्यात्प्रथम इत्युक्तम् ।

प्रथमो दिग्ज्या वर्गभक्ते (दिव) इष्टाक्षकर्णवर्गः स्यादित उदयेऽग्रा तुल्यदिग्ज्यात्वात्तत्राग्रावर्ग एव हरः । यत उदये पलकर्णार्थं दिग्ज्याहरोऽग्रारूपः

स विषुवद्दिनोदयेऽग्राऽभावाच्छून्यात्मकः । दिनार्द्धे त्रिज्यात्मिकया दिग्ज्यया सर्वदाक्षकर्ण एव दिनार्द्धे पलकर्णो भवेत् ।

ततोऽक्ष कर्णवर्गार्थं प्रथमस्य दिग्ज्याग्रयोर्वर्ग वियोगे हरोंगीकृतः यतोऽग्रादिग्ज्ये भुज कर्णरूपे दिग्ज्याव्यासार्द्धवृत्ते । कोटिस्तु तद्वर्गयोरंतरमूलं पल कर्णार्थं हरस्तदा तद्वर्गार्थं मूलवर्गस्तु तद्वर्गान्तररूपो वर्गेण वर्गं गुणयेद्भजेच्चेत्युक्ते हरः फलमिष्टपलकर्णवर्गात्मको रूपराशिरस्य गोलवशादपचित्युपचितीभ्यामिष्टकाले छायाकर्णवर्गः स्यात् । यतः प्रथमाभिधे क्रांतिसंस्काराभावोऽतः सकर्णो विषुवद्दिन एवेष्टकाले क्रांतिसंस्कारेणेष्टदिने-अभीष्टकालस्य स्यात्, तत्र तत्र दृग्ज्याशंकोः साधनार्थं क्रांतिसंस्कारस्तदेष्टछायाकर्णार्थं विषुवद्दिनेष्टाक्षकर्णस्याग्रा संस्कारः । अतो विषुवद्दिनोदये दिग्ज्याया भावः, छाया छायाकर्णश्च तुल्यौ तत्र त्रिज्यापलभाघातस्य स्वहरस्येष्टपलकर्णत्वात्त्रिभज्याहृतार्काग्रका कर्णनिघ्नी भवेत्कर्णवृत्ताग्रकेति वक्ष्यमाणेन त्रिज्याक्षज्यातुल्यौ तत्र त्रिज्यापलभाघातस्य ख हरस्येष्टे पलकर्णत्वात्त्रिभज्याहृतार्काग्रा त्रिज्याक्षभाघातोऽग्रया गुणस्त्रिज्याहरः फलं कर्णेऽग्रा, भया-पलभया च जातः संस्कारोत्पन्नो भुजः कर्णाग्रेकः खहरत्वे विकारत्वात् त्रिज्याहृतोऽसौ प्रभया विभक्त इत्यग्रा कर्णनिघ्नी भवेत्कर्णवृत्ताग्रकेति वक्ष्यमाणे त्रिज्या गुणोऽतोऽस्यपूर्वहरतुल्यत्वानाशे कृते त्रिज्याऽक्षभाग्राहतेः प्रभयाप्तं दिग्ज्यया दिग्ज्ययाप्तं विलोमेन छाया अतस्तस्या हृतेर्दिग्ज्याहरः । अतएव कर्णाग्रानयने परमदिग्ज्यारूपैव त्रिज्याहरः स दिग्ज्या हर उदयेऽग्रारूप इतीष्टकाले पूर्ववद्दिग्ज्याग्रयोवर्गवियोगमूलात्मकः स्वीकृतः फलं छाया, अस्यारूपपरिणामायानुपातः, यदि दिग्ज्याग्रयोर्वर्गवियोगमूलात्मक हरेणेयं छाया तदा रूपहरेण केति एव त्रिज्याक्षभाघातरूपात्मकयो गुणयोर्घातोऽग्रायाः गुणो दिग्ज्याग्रयोर्वर्गवियोगमूलाद् वारद्वयं हरः हरयोस्तुल्ययो र्धने कृते हरवर्गो हरो भवतीति दिग्ज्याग्रयोर्वर्गवियोगो जातो हरः फलं रूपपरिणतं छाया सा । भुजोऽस्य वर्गः कोटीभूतेष्टपलकर्णवर्गः उभयोर्योगपदं कर्णः अयं सौम्ये गोले याम्येऽन्त्वशादन्यफलतुल्येनापचितो याम्यगोल उपचितः स्याद्यतोऽन्य फलमग्रा वर्गं उत्पद्यत इति सर्वं मुपपन्नम् ।

अथ स्यादग्रकाया यदीत्यादावुपपत्तिः—दिग्ज्याया अग्राल्पत्वे वर्गवियोगे क्रियमाणे भुजरूपाया अग्राया वर्गात्कर्णवर्गरूपो दिग्ज्यावर्गः शोध्यते, ततोऽन्य संज्ञकरूपपरिणत छायाया वर्गात् प्रथमान्यवर्गभाजितः छायावर्गशेषमनेनाप्तः कर्णीभूतः सममंडलस्योर्ध्वाऽधोभागवशाद्धीनः सहितचश्चेति कर्णद्वयमुचितम् । यत उत्तर गोले दिग्ज्याया अग्राल्पत्वे सति कस्मिश्चिदहोरात्रवृत्ते दृग्ज्याग्रे निवेशितदृङ्मण्डलं पूर्वतः पश्चिमतो वा स्थानद्वये लगति तत्र भ्रमतः सूर्यस्य स्थानद्वये तद्दिक्स्थत्वं वारद्वयं स्यादतो भाद्वयेन भाव्यं; भाद्वयात्कर्णद्वयं च तयो रेकः खस्वस्तिकासन्नभागैरपरः क्षितजादासन्नभागै भवतीत्याहुः, तच्चिंत्यम् । इष्टपलकर्णवर्गार्थं प्रथमस्य दिग्ज्यावर्गो हर उत्पन्नः । ननु दिग्ज्याग्रयोर्वर्गांतरं, उपपादितयुक्तेरसंगतत्वात् न हि दिग्ज्याभेदेन हरभेद उदयकालीनाग्रा-

तुल्य दिग्ज्ययेष्ट दिग्ज्याया अंतरं हर उत्पद्यते येन तद्वर्गांतरमुचितोऽपि हरः-उचितः स्यात्। एवमिष्टाक्षकर्णस्यापचयोपचयार्थं विषुवद्दिनोदयकालिकेष्टपल-कर्णग्रहेण कर्णाग्राग्रहणे नियामकाभावः। छायानयनार्थदिग्ज्या हरस्योत्पन्नत्वेऽपि दिग्ज्याग्रयोर्वर्गवियोगमूल हरस्यानुत्पत्तेश्च रूपपरिणामस्या प्रसक्तत्वेन तद्वर्गवि-योगात्मक हरस्यानुचितत्वाद्यः, इष्टपलकर्णवर्गस्य छायावर्गयोजनात्पदस्य कर्णत्वे मानाभावः। अस्यान्येनापचयोपचयाभ्यामिष्टकर्णसिद्धौ युक्तया सिद्धेः। एवमेव दिग्ज्याग्रयोः, कर्णे भुजत्वानुपपत्या स्यादग्रकाया इत्याद्युपत्ते रसंगतत्वाच्च तस्मा-द्गोलगणितसूक्ष्मविचारदक्षाणां समाजे एतादृशोपपत्तिकथनं स्वमौर्ख्यप्रकटनमेवेति व्यासार्द्धवर्गः पलभाकृतिघ्नो इत्यादि केचित्कमलाकरेण सौरीयभाष्यस्य सहोदरेण या कल्पिता तान् च वदामि युक्तिम् ॥१॥

पलप्रभाव्यासदलमित्यादिना पलभेष्टा त्रि प १ दि १ अस्याः वर्गः त्रिव। पव १ दिव समछेदेन द्वादशवर्ग १४४ युतइष्टाक्षकर्णवर्गः त्रिव पव १ दिव १४४ दिव १ तस्मात्प्रथमो दिग्ज्यावर्ग भक्त इष्टाक्षक-[दि १] र्णवर्गः स्यात्। प्र १ [दिव] अस्मिन् वर्गे पलभा वर्गो भुजस्तदा त्रिज्या वर्गकर्णे को भुज [दिव] इत्यभीष्टाक्ष-ज्यावर्गः त्रिव व पव १ एतद्वर्गोनस्त्रिज्या [दिव] वर्गो लंबज्यावर्गोऽभीष्टः त्रिव व पव त्रिव प्र १ शंकुसाधानार्थं लंबांशक्रात्यंशयोरुत्तरगोले योगो दक्षिण [प्र १] गोलेंऽतरं तज्ज्येति चापयोरिष्टयो र्दोर्ज्ये मिथः कोटिज्यकाहते [त्रिप्र] त्रिज्याभक्ते तयोरैक्यं स्याच्चापैक्यस्य दोर्ज्यकाः, चापांतरस्य जीवास्यात्तयोरंतरसंमितेति ज्योत्पत्तिरीत्या गोलयो रैक्यांतरत्व इष्टलंबज्येष्टक्रांतिज्याभ्यां कार्ये। तत्र पलकर्ण-वर्गे द्वादशवर्ग कोटिस्तदा ऽग्रावर्गे का कोटि रिति क्रांतिज्यावर्गः अव १४४ प. कव इष्टक्रांतिज्या वर्गार्थं इशाक्षज्यावर्गः त्रिव प क व पव १ एतद्वर्गप्रमाणेन क्रांतिज्या-वर्गः संस्कार योग्यस्तदेष्टाक्षज्यावर्ग [प कव १] प्रमाणेन क इतीष्टक्रांतिज्यावर्ग। [त्रिव अव १४४] एतन्मूलमिष्टक्रांतिज्या। त्रि १ अ १२ प्र. मू इयं लंबज्यया कोट्येष्टाक्षज्यावर्गमूलात्मिकया त्रिव प्र मू प गुणिता त्रि अ. व १२४४ त्रिज्या १ प्र १ भक्ताफलमिष्ट क्रांतिज्या संबंधि। अत्र त्रिव प्रमू १ अप. १२ अत्र त्रिज्यावर्गरूप-गुणस्य त्रिज्याभ्यां सिद्ध स्त्रिज्याक्षभाग्राणां प्र १ घातोऽन्य उक्तः सत्रिज्यया द्वादश-भिश्च गुणितः प्रथम प्र १ भक्त इति तत्फलस्वरूपं त्रि अन्य १२ प्र। अथ लंबज्या फलार्थं मिष्टक्रांतिज्यावर्गोन-(त्रिव. अव १४४ प्र.) स्त्रिज्यावर्गरूपकोटिज्यावर्गो त्रिव. प्र १ त्रिव. अव १ भेष्टलंबज्या वर्गयो त्रि ख. पव त्रिव प्र प्र घातः खंडचतुष्टया-त्मकः त्रिव घ. पवः १४४ त्रिव घः पव प्रः त्रिवव अवः प्र १४४ त्रिव व. प्र. प्र. १ अत्र प्रथमखंडे त्रिव घ. पव. अव १४४ त्रिज्या वर्गघनपलभावर्गाग्रावर्गचतुश्च-त्वारिंशदधिकशतानां घातरूपे त्रिज्यावर्ग ह. प्र. व रूप गुणस्य पृथक्करणे तेन पलभाग्रावर्गयोर्घाते गुणिते त्रिज्याक्षभाग्राणां घातरूपान्यस्य वर्गस्त्रिज्यावर्ग गुणश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतगुणः सिद्धः [त्रिवव अन्यव १४४] एव द्वितीयखंडे त्रिज्यावर्गघनपलभावर्गप्रथमाणां घातरूपे त्रिज्यावर्गरूपगुणस्य पृथक्करणेन तेन पलभावर्गगुणिते प्रथमस्याद्यं खंडं [त्रिव पवा १] त्रिज्यावर्गवर्गप्रथमघातेन गुणितं

सिद्धं चतुर्थखंडेऽपि त्रिज्यावर्गप्रथमघातगुणितः प्रथमः सिद्धः। एवं द्वितीयचतुर्थ-खंडजयोः ऋणधनत्वादल्पाधिकत्वाश्चांतरे कृते प्रथमस्याद्यखंडापगमे प्रथमस्य द्वितीयखंडादि व १४४ त्रिज्या वर्गवर्गप्रथमघातगुणिते खंडमेकं सिद्धम्। अस्य तृतीयखंडेन त्रिज्यावर्गवर्गप्रथमघातगुणित द्वादशाग्राघातवर्गरूपेणाऽन्येन कृते तरेऽग्रावर्गोनो दिग्ज्यावर्गो द्वादशवर्गगुणस्त्रिज्यावर्गप्रथमघातः गुणः सिद्धः।

अस्यापि प्रथमखंडेन त्रिज्यावर्गान्य द्वादशघातवर्गात्मकेनानेन त्रि वव अन्य व १४४ योगेऽग्रा वर्गोनोदिग्ज्यावर्गः प्रथमगुणितोऽन्यवर्गयुक्तो द्वादश-वर्ग त्रिज्यावर्गवर्गगुणितप्रथमघातः सिद्धः हरः प्रथम वर्ग एव। अस्य मूलमिष्ट-लंबज्येष्टद्युज्याघातः तत्स्वरूपं तु दिग्ज्याग्रयो वर्गवियोगनिघ्न आद्योऽन्यवर्गेण युतोऽस्य मूलं त्रिज्याकृतिघ्नरविभिर्विनिघ्नमाद्येन भक्तमिति। [त्रिव प्र १ मू १२] इदं त्रिज्याभक्तं फलमिष्टलंबज्यासबंधि त्रिज्यामूलार्कघातः प्रथमभक्त [त्रिः मू १२] अस्येष्टक्रांतिज्या सबंधिफल–[त्रि. अन्य १२] मुत्तरदक्षिणगोलक्रमेण युतोनशंकुरिष्ट-काले तत्र गुणितभक्तयोर्योगांतरे केवलयो र्योगांतरे वा गुणितभक्तेवा गुणित भक्त समाने इति मूलमन्येन युतोनं कृत्वा त्रिज्यार्कगुणितं प्रथमभक्तं कृतं लाघवात्।

तन्निबन्धनं च व्यासार्द्धवर्गः पलभाकृतिघ्नो दिग्ज्या कृतिर्द्वादशवर्ग निघ्नी। तत्संयुतिः स्यात्प्रथमस्ततोऽन्य स्त्रिज्याद्युभाग्राभिहतिस्ततोऽपि ॥११॥ दिग्ज्या-ग्रयोर्वर्ग वियोगनिघ्नः, आद्योन्यवर्गेण युतोऽस्य मूलमन्योऽनयुक्तं प्रथमान्त्यकं त्रिज्यागुणं वापम सौम्यगोले ॥२॥ तथा च गोलयोः शंकुस्वरूपम्-त्रिअ १२ त्रि मू १२ त्रि अ १२ त्रिमू १२ अनेन शंकुना त्रिज्या कर्णस्तदा द्वादशांगुलशंकुना क इति त्रिज्यार्कयोर्गुणहरयोः समत्वेन नाशात्प्रथमरूपहरस्य परिवर्त्तनेन भाज्यस्था-नापन्नत्वाच्चोत्तरदक्षिणगोलयोः, अन्ययुतोनमूलेन प्रथमो भक्त इष्टदिशि छायाकर्णः सिद्धः। प्र १ प्र १ अत एव अन्योनयुक्तं यमसौम्यगोले तदान्य आद्यः श्रवणो-र्दिशिस्यादिति तन्निबन्धनम्। अत्रैतद्गोपनार्थं लाघवार्थं च स्वचातुर्येण भिन्न मार्गोऽनुसृतः। तथाहि–भाज्यहराभ्यांतुल्यांकगुणिताभ्यां फलस्यासमत्वाद्भाज्यहरौ गोलक्रमेणाऽन्योनयुतमूलेन गुणितौ भाज्यस्थाने प्रथमगुणितान्यमूलयोरंतरयोगौ, हरस्थानेऽन्यमूलयोर्वर्गांतरे योगांतरघातत्वात्। तथा च युत मूलेन गुणितौ भाज्यस्थाने प्रथमगुणितान्यमूलयोरंतरयोगौ हरस्थानेऽन्यमूलयोर्वर्गांतरे योगां-तरघातत्वात्। तथा च मूलेन गुणितौ भाज्यस्थदिग्ज्याग्रयोर्वर्गवियोगगुणिता-द्येनान्यवर्गयुतेन समत्वादत्रान्यवर्गहीने दिग्ज्याग्रयोर्वर्गवियोगगुणित-प्रथम एव तयोरन्यमूलयोर्वर्गांतरं तथा चेदं गोलक्रमेण भाज्यहरात्मकं अ० प्र० मूलः अप्र १ मू प्र १ अत्र भाज्यहरौ प्रथमेनापवर्तितौ भाज्यस्थाने क्रमेणाऽन्योनयुतं मूलः हरस्थाने दिग्ज्याग्रयोर्वर्गवि [वियोग अ १] योगः तेन यदन्यवर्गेण युताद्य-राशेः पदं तदन्योनयुतं दिग्ज्याग्रयोर्वर्गवियोगभक्तमिष्टदिशि फलं छायाकर्ण इति निष्पन्नम्। अ १ मू अ १ मू १ अत्रापि विपरीतरीत्यान्यवर्गयुतस्य हरगुणित प्रथम-

ह ह

राशेः, हरवर्ग एव हरः। तत्र प्रथमस्थाने हरापवर्त्तनेन प्रथम [ह १ हर ह] एवहरः

अन्यस्यापि हर एवांगीकृतः। यतस्तद्वर्गेऽन्यवर्गस्य हरवर्गे हरस्स्यादतो लाघवार्थं प्रथममेव प्रथमान्यौ दिग्ज्याग्रयो वर्गवियोगरूपहरेण भक्तावुक्ता वा यतस्तद्दृढ-शाभ्यां प्रथमान्याभ्यामल्पकाभ्यां यदन्यवर्गेण युताद्यराशेः, पदं तदन्योऽनयुतं श्रुति वांगीक्रमादिष्टादि दिशंगतेऽर्के इत्यतिलाघवदर्शितं स्यात्। अथेष्टलं बज्येष्टद्युज्यावर्गयोर्घाते तृतीयखंडेऽग्रावर्गस्यर्णत्वात्तदधिका दिग्ज्यावर्गे, आद्यस्य धनत्वेनोक्तरीत्याश्रुतिसाधन मुपपन्नम्। यदातूत्तरगोलेऽग्रायाः सकाशादिग्ज्याया न्यूनत्वे आद्यस्यर्णत्वेनान्यवर्गयोजनेनान्यवर्गात्प्रथमेन हीनादित्युपपन्नम्, श्रुतिसा-धनमुपपन्नं तत्रोत्तरगोलेऽग्रायाः सकाशादिग्ज्या मूलेनान्यो हीनः कर्ण इत्युक्तरीत्या सम्यगेव मूलस्यान्याल्पत्वात्। परं त्वेवं कृते ये पलभागका इत्यादि रीत्या द्वितीया अक्षांशाः क्रात्यंशहीना नतांशास्ते नवतेरूना, उन्नतांशा इति लंबांशोनक्रांत्यंशाः, उन्नतांशास्तेषां ज्या शंकुरिति क्रांतिलंवज्ययोः फलांतरं शंकुः, अत उक्तरीत्यान्यमूल-योर्योगो द्वितीयः कर्ण इति स्यादग्रकाया यद्रीत्याद्युपपन्नमित्यलम् ॥५१॥

दीपिका—अत्राचार्येण बीजक्रियया छायाकर्णप्रमाणमव्यक्तमिति मत्वा अव्यक्तमूल-र्णगरूपतोऽल्पमिति स्वोक्तबीजगणितसिद्धान्तेन छायाद्वयमानं साधितम्। अव्यक्तमानं द्विविधं क्वचित्स्यादित्यपि सूचितमितिशेषं शिखायां स्पष्टम्।

शिखा—पूर्व कथित प्रकार के पश्चात् इच्छादिक्छाया साधन का यह द्वितीय प्रकार है। एक जगह त्रिज्या वर्ग को पलभा वर्ग से और दूसरी जगह पर दिग्ज्यावर्ग को १२ से गुणा कर दोनों के योग को प्रथम संज्ञा दी गई है। त्रिज्या अग्रा और पलभा इन तीनों के गुणनफल को अन्य संज्ञा दी है। दिग्ज्या और अग्रा के वर्गान्तर से, प्रथम (आद्य) और अन्य में अपवर्त्तन देकर, आद्य राशि को अन्य राशि के वर्ग में जोड़ कर, इसके मूल में उत्तरगोल में अन्य राशि घटा देने से, दक्षिण गोल में जोड़ देने से इष्ट दिशागत सूर्य का छायाकर्ण होता है।

यदि उत्तरगोलीय दिग्ज्या से अग्रा अधिक (अग्रा से दिग्ज्याकम) हो तो अन्य राशिवर्ग में प्रथम (आद्य) को कम कर इसके मूल से एक स्थान में अन्य राशि कम दूसरे स्थान में जोड़ने से दो प्रकार का छाया कर्ण होता है। सममण्डल प्रवेश से उत्तर में युत समण्डल से दक्षिण में कम करना चाहिए। कदाचित् उत्तर में भी दो छाया हो सकती है। यह सब करतलनिहितामलकवत् गोलज्ञान से आचार्य का कथन सम्यक् बुद्धिगत होता है। "मरीचि" में इस पर निः शेष विचार हुआ है। मरीचि की भाषागत उपपत्तिवाक्य सुस्पष्ट होते हुए भी क्रियात्मक उपपत्ति संभवतः लेखक दोष से स्पष्ट सी नहीं हो पाई हैं। अत एव यथा शक्ति उक्त सिद्धान्त का उपपादन जिस भित्ति पर हुआ है उसका सुसरल स्पष्टी करण यहाँ करना अत्यन्त उचित है—यथा—

कल्पना कीजिए छाया कर्ण प्रमाण$=$या

अनुपात से कर्ण वृत्तीयअग्रा$=\frac{\text{अग्रा}\times\text{या}}{\text{त्रि}}$, यह कर्ण गोलीय अग्रा व्यस्त अर्थात्

उत्तर गोलीय अग्रा में दक्षिणा, एवं दक्षिणा अग्रा में उत्तरा होती है। गोल देखने से स्पष्ट है। विषुवती, (पलभा) तो सदा उत्तरा है। कर्णगोल में शंकुतल=विषुवती। अग्रा शंकुतल संस्कार से भुज होता है। संस्कार शब्द यहाँ पर एक दिशा के दोनों पदार्थों का ऐक्य और भिन्न दिशा के दोनों पदार्थों के अन्तर से अभिप्राय है—एवं प्रायः सर्वत्र समझना चाहिए।

$$\text{अतः कर्णगोलीयभुज} = \text{विषुवती} \mp \frac{\text{अग्रा} \times \text{या}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{त्रि} \times \text{विषु.} \pm \text{अग्रा} \times \text{या}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{दिग्ज्या}^2 = \frac{\text{भु}^2 \times \text{त्रि}^2}{\text{छाया}^2} \quad \text{यतः, छाया}^2 = \text{छाया कर्ण}^2 - १४४ = \text{या}^2 - १४४$$

उत्थापन से

$$\text{दिग्ज्या}^2 = \frac{(\text{त्रि}^2 \times \text{विषु} \mp \text{अग्रा}^2 \times \text{या}^2 \mp २\ \text{त्रि} \times \text{विषु} \times \text{अग्रा} \times \text{या})\ \text{त्रि}^2}{(\text{या}^2 - १४४)\ \text{त्रि}^2}$$

छेदलोप से

$\text{या}^2 \times \text{दिग्ज्या}^2 - १४४ \times \text{दिग्ज्या}^2 = \text{त्रि}\ (\text{त्रि}^2 \times \text{विषु}^2 \mp \text{अग्रा}^2 \times \text{या}^2 \mp २\text{त्रि} \times \text{अग्रा} \times \text{या}$

$= \text{त्रि}^2 \times \text{विषु}^2 + \text{दिग्ज्या}^2\ १४४ = \text{या}^2\ (\text{दिग्ज्या}^2 - \text{अग्रा}^2) \mp २\ \text{त्रि} \times \text{विषु} \times \text{अग्रा} \times \text{या}$

$= \text{प्रथम} = \text{या}^2\ (\text{दिग्ज्या}^2 - \text{अग्रा}^2) \mp २\ \text{या} \times \text{अन्य}$

$= \text{या}^2\ (\text{दिग्ज्या}^2 - \text{अग्रा}^2) \mp २\ \text{या} \times \text{अन्य}$

$$\frac{\text{प्रथम}}{\text{दिग्ज्या}^2 - \text{अग्रा}^2} = \text{या}^2 \mp \frac{२\ \text{अन्य} \times \text{या}}{\text{दिग्ज्या}^2 - \text{अग्रा}^2}$$

$\text{प्रथम}' = \text{या}^2 \mp \text{अंन्य} \times २\ \text{या}$

$\text{प्रथम} + \text{अन्य}^2 = \text{या}^2 \mp \text{अन्य} \times २ \times \text{या} + \text{अन्य}^2$

$\sqrt{\text{प्रथम} + \text{अन्य}^2} = \text{मूल} = \text{या} \pm \text{अन्य}$

अतः $\text{या} = \text{मूल} \pm \text{अन्य}$। यही दक्षिण गोल में इष्ट इच्छादिक् छायाकर्ण का का मान हुआ। आचार्य का निःशेष अभिप्राय स्पष्ट उपपन्न है।

यदि दिगंश $\angle$ अग्रा

तो $\text{या}^2 + २\ \text{या} \times \text{अन्य} = -\text{प्रं}$

$\therefore\ \text{या}^2 + २\ \text{या} \times \text{अन्यं} + \text{अन्यं}^2 = \text{अन्यं}^2 - \text{प्रं}$

$\therefore$ $\text{या} \pm \text{अन्य} = \text{मू}$, ऐसी स्थिति में उत्तर गोल में या=छायाकर्ण मान द्विविध होगा ही। "मरीचि" ने इस अवसर पर ग्रन्थ गौरव कर दिया है। वस्तुतः उक्त प्रकार को समझने के बाद आचार्य के आशय के साथ-साथ बहूदित मरीचि का वृद्धि में भ्रम-उत्पादक भाष्य भी अत्यन्त सरल होगा साथ ही विद्वान् विचारें तो मेरे उक्त सारल्य सुलभ उपपत्ति के मनन से मरीचि मनन में समय के आधिक्य का बचाव भी होगा।

इदानीमहो सर्वासां दिक्छायानामेकमेवानयनमप्रसिद्धमनेनाचार्य्येणोक्तम्। तत्र का प्रतीतिः ? इति मन्दानामाशङ्कां परिहरन्नाह—

कर्णाग्रया बाहुरिह प्रसाध्यस्त्रिज्याहतोऽसौ प्रभया विभक्तः।
भवेत् प्रतीत्यर्थमियञ्च दिग्ज्या तुल्यैव सा स्याच्छ्रवणद्वयेऽपि ॥५२॥

वा० भा०:—इदं सुज्ञैरुक्तमात्रमपि ज्ञायते। इदानीं ये जड़ास्तेषां प्रतीत्यर्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण कर्णाग्रया बाहुः साध्यः। स बाहुस्त्रिज्यया गुण्यश्छायया भक्तो दिग्ज्या भवति। यतः शङ्कुमूलाच्छायाग्रगामि सूत्रं यत्र त्रिज्यावृत्ते लगति, सा तस्याश्छायाया दिक्। किन्त्वर्कदिग्वैपरीत्येन भवति। एवं मन्दानां प्रतीतिरुत्पाद्या।

मरीचिः—अथ कल्पितप्रकारेणागतयोः छाया तत्कर्णयोः शुद्धत्वज्ञानार्थमाभ्यां दिग्ज्यानयनमुपजातिकयाऽह—कर्णाग्रया बाहुरिह प्रसाध्यस्त्रिज्या हतोऽसौ प्रभया विभक्तः॥ भवेत्प्रतीत्यर्थमियञ्च दिग्ज्या तुल्यैव सा स्याच्छ्रवणद्वयेऽपीति ॥५२॥

इह एकानयनानीतछाया तत्कर्णयोः शुद्धत्व ज्ञाने तदर्थमित्यर्थः। कर्णाग्रया त्रिभज्याहृतार्काग्रका कर्णनिघ्नी भवेत्कर्णवृत्ताग्रका व्यस्तगोलेति वक्ष्यमाण प्रकारानीतया बाहुः फलछायया सौम्यया संस्कृतया स्याद्भुज इति वक्ष्यमाणप्रकारेण भुजः साध्यः। ततः किमत-आह—त्रिज्याहत इति। असौ भुजः। त्रिज्यागुणः छायया भक्तः। इयं च। एतत्फलतुल्या दिग्ज्या भवेत् दिग्ज्यायाः पूर्वसाधनात्पुनः साधनं किमर्थमत आह—प्रतीत्यर्थमिति। छायातत्कर्णयोरानीतयोः शुद्धत्वमन्यथाशुद्धत्वमिति भावः। ननूक्तरीत्या कर्णछायाभेदेन दिग्ज्याभेद संभवाद्यत्र कर्णद्वयमेकदिग्ज्या साधितं तत्रोक्तरीत्या दिग्ज्याद्वयापत्तेरत आह—तुल्यैवेति। कर्णद्वये। तदाश्रयीभूतकालयोः अपि शब्दाद्भिन्नदिग्ज्यासंभवात्कारणे सत्यपि। सा दिग्ज्योक्तप्रकारेण तुल्या अभिन्ना स्यात्। एवकारो संशयार्थः। तथा च तत्र धूलीकर्मणा भिन्नदिग्ज्या संभवात्रोक्त दोष इति भावः।

अत्रोपपत्तिः—छायामितकर्णेऽयं भुजस्तदा त्रिज्या कर्णे को भुज इति पूर्व रीत्यनुपातेन दिग्ज्यायां कर्ण छाययोर्भेदेऽपि ताभ्यामुक्तप्रकारेणैवाभिन्नादिग्ज्या।

तत्र विसदृश दिग्ज्याया अभावात्। किंच एकदिग्ज्यायां भुजभेदाद्दिग्ज्या भुजे त्रिज्या कर्ण स्तदाभुजतुल्यभुजे कः कर्ण इति छायास्वरूपेण त्रिज्यागुणो भक्तस्तदा गुणहरयोः भुज त्रिज्ययोर्नाशे उभयत्र भिन्नदिग्ज्येवावशिष्यत इति प्रतीते युक्त मुक्तम।

अथ सोपपत्तिकत्वे प्रतीतेरप्रयोजनकत्वादेतेन पूर्वश्लोकत्रयस्योपपत्तिरुक्तबीजक्रियानभिव्यक्ततयाचार्यैं व्यंक्तोपकल्पिता सूचितेति नवीन गणकाः। तथाहि कर्णाग्रयेत्यादिना दिग्ज्योक्तौ व्यस्तरीत्या कर्णाग्रया बाहुरिह प्रसाध्य स्त्रिज्याहतो दिग्ज्यकया विभक्त इति रूपछायानयनार्थमुत्तरगोले कर्णाग्रयोर्भुजस्वरूपे [क अ १

परू. त्रि.] [क. अ. प. त्रि १] दक्षिण गोले तु तत्स्वरूपं [क. अ १ प. त्रि १] इष्ट दिशि छाया स्वरूपे उत्तर गोले [क. अ १ प त्रि] दक्षिणे [क. अ १ प त्रि १] [त्रि १] उत्तर दक्षि- [त्रि १] णगोल क्रमेण छाया वर्गः [कव. अव १ त्रि कप. त्रि. अ १] पंव त्रिव १। कव. अव १ क. प. त्रि अ १ पर. विव १ दि १ द्वादशवर्गयुतौ कर्णवर्गौ समछेदेन जातौ कर्णवर्गौ। कव-अव १ कप. त्रि. अ २ पक त्रिव १ दिव १४४ कव. अत्र १ क. प त्रि अ २ पक त्रिव १ दिव १४४।

अत्र व्यक्तांत्यखंडयो र्योगे प्रथम उपपन्नः। द्वितीयाऽव्यक्त खंडे त्रिज्याद्यभाग्रा-भिहतिरन्य दुपपन्नम्। स द्विगुणः कर्णगुणो गोलक्रमेण शोधनं प्रथमाऽव्यक्त खंडं कर्णवर्गगुणिताग्रावर्गः एतौ कर्णवर्गौ दिग्ज्या वर्ग गुणितौ—

जातौ कव अव १ क अं २ प्र १। कवव १ आव १ क अ २ प्र १ अ। अत्र प्रथमाऽव्यक्तखंडोनेऽवशिष्टं खंडद्वयमिदम्। क. प्र. अ. २ प्र १ क. अ २ प्र १। प्रथमाऽव्यक्तखंडस्य कर्णवर्गगुणिताग्रावर्गत्वात् खण्डत्रयैक्यस्य कर्णवर्गगुणित-दिग्ज्यावर्गत्वाच्च दिग्ज्याग्रयोर्वर्गांतरगुणितकर्णवर्गात्मक मतस्तद्वर्गांतरभक्त-खंडद्वयैक्यं कर्णवर्गः, अत एवोक्तं ततस्तौ दिग्ज्याग्रयोर्वर्गवियोगभक्ताविति तथा च गोलयोः कर्णवर्गैक्यः [क. अ. २ प्र १ क. अ. २ प्र १]।

अत्र कर्णगुणितापवर्त्तितद्विगुणान्यरूपखंडस्य पृथक्करणेन प्रथमः खंड-द्वयात्मको गोलक्रमेण द्विघ्नकर्णगुणितान्ययुतोनः कर्णवर्गः। [क. अ. २ कव. १। क. अ. २ कव १] अस्य प्रथमस्यान्यवर्गयोजनाद्गोलक्रमेण कर्णान्ययो र्युत्यंतर-वर्गयोः सिद्धिर्य-दन्यवर्गेणायुताद्यराशेः पदं कर्णान्ययोर्युत्यंतरे। [अ १ क १। अ. १ क १] प्रथमस्य धनत्वात्पदं स्यात्ततोऽधिकत्वेन दक्षिणगोले पदमन्योनः कर्ण एव। तत्तु कर्णोनान्यस्ततो गोलक्रमेण पदमन्योन्ययुतं श्रुतिरिति निष्पन्नम्। दिग्ज्याया अग्राधिकत्वे अनधिकत्वे तदुत्तरगोले कर्णसंवर्गगुणितदिग्ज्यावर्गस्य कर्णवर्गगुणिताद्यवर्गो द्विद्वघ्नकर्णगुणितान्यहीनात्प्रथमेन कर्णवर्गगुणितदिग्ज्या-वर्गो हीनो जातः, कर्णवर्गगुणितोऽग्रावर्गः। तत्स्वरूपम् [क. अ २ प्र. १] दिग्ज्या-ग्रयोर्वर्गवियोगभक्तं कृतम् [क. अ २ प्र १] जातः कर्णवर्गः। अत्र प्रथमस्वरूपं कर्णद्विघ्नान्यघातः कर्णवर्गोनः [कव. १ क. अ २] अयं प्रथमोन्यवर्गाद्धीनः। [कव १ क. अ. २ अव १] अस्य मूलेनान्याल्पत्वात्। क १ अ १। क १ अ १। कर्णान्यतररूपेण द्विधाभूतेन वर्गमध्यस्यर्णस्यद्विधानाश संभवाच्चान्यो हीनयुतः कर्णद्वयमुपपन्नं याम्यगोले तदा छायाभाव एवेति प्राहुः। एतत् पाठनिबंधनं तु कर्णाग्रया संगुणितस्त्रिज्याहृतो क. अ १। स भासंस्कृतो भुज स्यात्।

त्रिज्याहृतो दिग्ज्यकया विभक्तः प्रभाभवेद्द्वेदकृते युक्ता ॥१॥ आस्या कृतिः स्याच्छ्रवणस्य वर्गो दिग्ज्याकृतिघ्नो यदिनष्टहारः। उत्तरगोले कवः। अव १ क. प अ प त्रि २ पव त्रिव १ दिव १४४। दक्षिणगोले [कव अव १ क. अप त्रि २ पव. त्रिव १ दिव १४४] प्रथमोंत्यदलद्वयैकत्व श्रवणान्यद्विहतिस्तु यामे ॥२॥ अग्राकृतिघ्नः श्रवणस्य वर्गात् [कवा अव १ क. अ. २ प्र १। कव. अव १ क अ १ प्र १]

आद्ये हि खंडंत्वथ वर्जितं तत् खंडत्रये खंडयुगम्। [कअ २ प्र १। कअ २ प्र १] विभक्तं दिग्ज्याग्रयो वर्गवियोगकेन ।।३।। कर्णस्य वर्गो नियतं भवेद्वै यतोऽवशिष्टं कृतिजांतरेण दिग्ज्याग्रयोः कर्णकृतिर्विनिघ्नी ततो द्विखंडजः प्रथमः प्रसिद्धः ।।४।। गोलक्रमात्कर्णकृतिः परद्विकर्णाभिहृत्या तु युतोनितेति। [कव १ कअ २। कव १ कअ २] अतोऽन्य वर्गेण युताद्यराशेः······[क १ अ १। क १ अः।] णोनयुतं श्रुतिः, स्यात् ।।५।।

दिग्ज्या यदाग्रानधिका तदा तु खंडत्रयेणोनितमादि खंडम्। दिग्ज्याग्रयोर्वर्ग-वियोगमत्र धनर्णखंड द्वयमुक्त रूपम् ।।६।।

कर्णस्य वर्गः प्रथमोनकर्णपरद्विघातस्तत आद्यरूपम् ।। कर्णो तु वर्गोन-परद्विकर्णघातात्मकं··कृतिस्तदून—।।७।। [कव १ कअ २] मूल द्विधास्यर्णगमध्य-तोयत्कर्णान्ययोरंतरत- क १ अ १। क १ अ ११ स्ततोऽन्यः। मूलेन युक्तो रहितो द्विधैव कर्णो भवेदित्युपपत्तिरुक्तः ।।५२।।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—सुज्ञजन कथन मात्र से समझ लेते हैं, किन्तु जड़ लोगों की प्रतीति के लिये उक्त रीति से कर्णाग्र से भुज साधन कर इसे त्रिज्या से गुणा कर छाया से भाग देने से दिग्ज्या होती है। शंकुमूल से छायाग्रगत सूत्र जहाँ पर त्रिज्यावृत्त में लगता है, इसी सूत्र में छाया है, और मध्य छाया की दिशा भी होती है। किन्तु पृथ्वी के समतल धरातल की जो दिशा छाया आदि की है उससे वह सूर्य की दिशा विपरीत होगी मन्दजनों के प्रतीत्यर्थ उक्त बातें कह कर आचार्य ने एक प्रकार की पुनरुक्ति सी की है।

विशेष—प्रथम द्वितीय छायों से पृथक् पृथक् साधित दिग्ज्या आदि तुल्य हैं तो एक ही दिग्ज्या में छाया द्वय कहना उचित है।

जैसे—

$$\frac{\text{भुज} \times \text{त्रि}}{\text{छाया}} = \text{दिग्ज्या}।$$

सजातीय त्रिभुजों में, $\frac{\text{भुज}}{\text{कर्ण}} = \frac{\text{भुज}'}{\text{कर्ण}'} = \text{ल}$

अतः $\frac{\text{भुज} \times \text{त्रि}}{\text{छाया}} = \text{दिग्ज्या}'$ अर्थात् $\text{ल} \times \text{त्रि} = \text{दिग्ज्या}$

तथैव $\text{ल} \times \text{त्रि} = \text{दिग्ज्या}'$ अत्यन्त सुस्पष्ट उपपन्न है।

एवं दिङ्नियमेन छायानयनमभिधायेदानीं कालनियमेनाह—

उक्ता प्रभाऽभिमतदिङ्नियमेन तावत्
तामेव कालनियमेन च वच्मि भूयः।
स्यादुन्नतं द्युगतशेषकयोर्यदल्पं
तेनोनितं दिनदलं नतसंज्ञकश्च ।।५३।।

अथोन्नतादूनयुताच्चरेण
क्रमादुदग्दक्षिणगोलयोर्ज्या ।
स्यात् सूत्रमेतद्गुणितं द्युमौर्व्या
व्यासार्द्धभक्तश्च कलाऽभिधानम् ॥५४॥

वा० भा०—दिवसस्य यद्गतं यच्च शेषं तयोर्यदल्पं तदुन्नतसंज्ञं ज्ञेयम्। तेनोन्नतेनोनीकृतं दिनदलप्रमाणं तन्नतसंज्ञं भवति। अथोन्नतादुन्नतकालादुत्तरगोले चरेणोनिताद्दक्षिणे युताद्या ज्या तत् सूत्रम्। सा सूत्रसंज्ञेत्यर्थः। तत् सूत्रं द्युज्यया गुणितं त्रिज्यया भक्तं कलासंज्ञं भवति।

अत्रोपपत्तिः;—यस्मिन् काले छाया साध्या, तस्मिन् काले स्वाहोरात्रवृत्ते यावतीभिर्घटिकाभिः क्षितिजादुन्नतो रविस्तासामुन्नतसंज्ञा। येन कालेन मध्याह्नान्नतस्तस्य नतसंज्ञा। अथ चरेणोनयुतस्योन्नतकालस्य किल ज्या साध्या। सा च ज्या मध्यावधिर्भवति। स च मध्यप्रदेशोऽहोरात्रवृत्तस्योन्मण्डलसम्पाते भवति। यत उन्मण्डलसम्पाताभ्यामूर्द्धमहोरात्रवृत्तस्यार्द्धमधोऽर्द्धम्। अत उन्मण्डलावधेर्जीवा साध्या। क्षितिजोन्मण्डलयोरन्तरं चरार्द्धम्। अतश्चरार्द्धेन वर्जितादुन्नतादुत्तरगोले दक्षिणे तु युतात्। यत उत्तरगोले क्षितिजादुपर्य्युन्मण्डलं दक्षिणेऽधः। तस्मात् कालाद्या ज्या साधिता सा त्रिज्यावृत्तपरिणता। सा च सूत्रसंज्ञा। अथ यदि त्रिज्यावृत्त एतावती, तदा द्युज्यावृत्ते कियति? इत्यनुपातेन द्युज्यावृत्तपरिणता। सा च कलासंज्ञा।

मरीचिः—अथ पूर्वोक्तोपसंहारपूर्वकं कालोपजीव्य छायानयनं प्रतिज्ञातमुन्नत कालसाधनं सिंहोद्धतया तावदाह—उक्ता प्रभाभिमतेति नियमेन तावत्तामेव कालनियमेन च वच्मिभूयः॥ स्यादुन्नतं द्युगतशेषकयो र्यदल्पं तेनोनितं दिनदलं नतसंज्ञकं चेति ॥५३॥ अभीष्टदिक्संबधेन प्रभा छाया तावत्पूर्वमुक्ता। भूयः पुनस्तां छायां एव कारोप्यर्थो तेनान्यत्। ययादिक्क्रमपीत्यथः कालनियमेन कालोपाधिसंबंधेन वच्मीति क्रियासंबंधादहं वदामीत्यर्थः। तथा च द्विकालाभ्यामेकत्र छायैक्यं भवतीति भावः। एतेनाग्रिमग्रंथासंगतिः परिहृता। अथ तदर्थ मुन्नतकालज्ञानमाह-स्यादिति। द्युगत शेषकयोः अभीष्टकाले यस्य ग्रहस्य छायादिकं साध्यं, तस्य दिनगतं ज्ञेयम्। तदूनं दिनमानं शेषं भवतीति एवं ज्ञातदिनगत-तच्छेषयोर्मध्ये यत् गतशेषान्यतरम्, अल्पमनधिकम्। तत्, उन्नतं स्यात्। तद्ज्ञानमाह—तेनेति तेनोन्नतकालेन हीनं दिनार्धं नतसंज्ञं स्यात्। एवं रात्रौ रात्रिगतशेषयोरल्पमुन्नतम्। तदूनं रात्र्यर्द्धं नतमितिचार्थः।

अत्रोपपत्तिः—क्षितिजाद्गृहावधि द्युरात्रवृत्ते यः कालः स उन्नतः। तदुन्नतत्वात्। एवं याम्योत्तरवृत्तात्तदवधि तत्र यः कालः स नतः तत्र नतत्वात्। अतः पूर्वापरदिनार्धरूपकपालयोः क्रमेण दिनगतशेषयोरुन्नतकालत्वं तदून—

दिनार्धेन नतत्वञ्च। दिनार्धस्य तद्योगकालात्मकत्वात्। एवं रात्रावपि भाव-साधनार्थं नतोन्नतकालौ याम्योत्तरवृत्ताद्पेक्षिताविति तद्भिन्नत्वमभिमतयोः। स्पष्टमिति न विरोधः ॥५३॥

मरीचिः—अथ वक्ष्यमाणोपजीव्यभूतयोः सूत्रकलयो रानयनमुपजातिकयाऽह। अथोन्नतादिति—॥५४॥

अथानंतरं उत्तरदक्षिणगोलयोः क्रमात्। चरकालेनोनयुतादुन्नत कालात् या ज्या सूत्रं स्यात्। कलामाह एतदिति। सूत्रं द्युज्यया गुणितं त्रिज्या भक्तम्। फलं कला संज्ञं स्यात्।

अत्रोपपत्तिः—ग्रहविंवकेंद्राश्रयीभूतद्युरात्रवृत्तप्रदेशात् क्षितिजसमसूत्रपर्यंत-लंवरूपं सूत्रमिष्टशंकुः कोटिः, ग्रहविम्बकेन्द्रद्युरात्रवृत्तोदयास्त सूत्रावधि तिर्यक्-सूत्रस्य द्युरात्रवृत्तोत्थ, इष्टतमितिकर्णतन्मूलान्तरमिष्टशंकुतलं भुज इत्यक्षक्षेत्रमु-न्मंडलशंकुः कोटिः, कुज्या कर्णोऽग्राग्रखंडं भुज इत्यक्षक्षेत्रेण संस्कृतम्। तद्यथा-उत्तरगोले उद्वृत्तशंकुहीनेष्टशंकुर्यष्टिः कोटिः। अग्राग्रखंडोनं शंकुतलं भुजः। कुज्योनेष्टहृतिः कर्णः। दक्षिणगोलेषूद्वृत्तशंकुयुतेष्ट शंकुर्यष्टिः कोटिरग्राग्रखंड-युतशंकुतलं भुजः, कुज्यायुतेष्टहृतिः कर्णः, इत्यक्षक्षेत्रं पूर्वोक्तमध्यान्हरीत्या गोले प्रत्यक्षम्। तत्रेष्टहृतिर्द्युज्या प्रमाणेऽतोऽत्रकालज्या न भवति। ज्यायाः मध्यसूत्रावधित्वेनोदयास्तसूत्रस्य द्युरात्रवृत्तमध्यस्थत्वाभावात्, अन्यथा दिनार्द्ध-ज्यायाः द्युज्यामानपरिणतायाः, मध्यान्हहृतित्वापत्तेः। किंतु निरक्षोदयास्तसूत्रस्य तन्मध्यस्थत्वादिष्टकाले उन्मंडलाद्ग्रहो द्युरात्रवृत्ते यावतीभि र्घटिकाभिरुन्नतस्तज्या द्विगुणितसूत्रे ऽहोरात्रवृत्तवद्धे स्वोदयास्तसूत्रावध्यूर्धसूत्रखंडस्य हृतित्वदर्शना-दुन्मंडलसूत्रावध्यर्धज्या द्युज्या परिणतोत्तरदक्षिणगोलकमेण कुज्ययोनितेनेष्ट-हृति भवतीति युक्तम्। तत्सूत्रे निरक्षस्वदेशोदयास्तसूत्रांतरे कुज्यात्वात्। अत उन्नतकालस्य क्षितिजावधित्वादुन्नतावधिज्ञानार्थं चरकालेनोत्तरगोले हीनः, दक्षिण-गोले युत उन्नत कालस्तदवधिर्भवति। उद्वृत्तात् क्षितिजस्य तत्राऽधः ऊर्ध्वस्थ-त्वात्। तज्या हृतोदयास्तसूत्रादर्धज्याकारं सूत्रं भवतीति सूत्रसंज्ञम्। इदं द्युज्या परिणतं कार्यम्। ज्यायास्त्रिज्यापरिणतत्वात्। एतस्येष्टहृतिनिमित्त-गोलक्रमात्कुज्या युतोना कार्या। सेष्ट हृतिः संस्कारजक्षेत्रकर्णज्ञानार्थं गोलक्रमेण कुज्यया हीन युता कार्याऽतोऽत्र च सूत्रं द्युज्यापरिणतमेव कर्णः कलासंज्ञ उक्तः। लाघवाद्योजकवियोजकयोस्तुल्यत्वे रात्रौ रविकृतत्वादत उक्तमुपपन्नम् ॥५४॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—दिशा के नियमों से छाया ज्ञान विचार के पश्चात् समय (काल) नियम से छाया मीमांसा की जाती है—

पूर्व कपाल में ग्रह विम्बोपरिगत दृङ्मण्डल में क्षितिज से लेकर ग्रह तक के समय को उन्नत काल, याम्योत्तराहोरात्रवृत्त सम्पात से दृङ्मण्डलाहोरात्र सम्पात तक अहोरात्र

वृत्त में नत काल कहा जाता है। परकपाल में याम्योत्तराहोरात्रवृत्तस्थ ग्रह का दिनगत काल और दिनशेष काल में जो कम काल है वह उन्नत काल है। दिनदल में उन्नत काल कम करने से नत काल जाना जाता है।

उत्तरगोल में उन्नत काल में चर घटाने से दक्षिण गोल में जोड़ने से जो ज्या होती है उसका नाम सूत्र है। यह उन्नत कालज्या सूत्र संज्ञक है जो द्युज्या वृत्त (लघु-वृत्त) के धरातल में है, प्रयोजन त्रिज्या वृत्तधरातलीय उन्नतज्या से होने से अनुपात से इसे त्रिज्यागोलीय करने से त्रिज्यागोलपरिणत सूत्र की सभी आचार्यों ने कला संज्ञा दी है।

क्यों ऐसा किया ?

यतः, उत्तर गोल में ग्रहगत अहोरात्रवृत्त में ग्रह से क्षितिज तक उन्नत काल, है, इष्ट स्थानीय ग्रह गत, तथा क्षितिजाहोरात्र सम्पातगत ध्रुवप्रोत वृत्तों का अन्तराल-वर्त्ती नाडीवृत्तीय चाप का मान लघुवृत्तीय अहोरावृत्त गत उक्त उन्नत काल के मान के तुल्य होता है।

किन्तु पूर्व स्वस्तिक से अग्राग्रगत ध्रुवप्रोतवृत्त नाड़ीवृत्त के साथ जहाँ (पूर्व स्वस्तिक के आसन्न उत्तर दक्षिण गोल में क्रमशः ऊपर या नीचे) सम्पात करेगा वहां तक पूर्व-स्वस्तिक से नाड़ीवृत्तीय चरकाल हुआ, जो क्षिनिज और उन्मण्डल वृत्तों का अहोरात्र वृत्तीय लघुवृत्त में चरखण्ड के तुल्य है।

अतः उन्नतकाल $\pm$ चरकाल $=$ लघुवृत्तीय सूत्र $=$ महद्वृतीय कला।

अनुपात से $\frac{\text{सूत्र} \times \text{त्रिज्या}}{\text{द्युज्या}} =$ कला, उपपन्न है।

इदानीं प्रकारान्तरेण कलां तस्याश्चेष्टयष्टिमाह्—

सूत्रं कुजीवागुणितं विभक्तं चरज्यया स्यादथवा कला सा।
कला पलक्षेत्रजकोटिनिघ्नी तत्कर्णभक्ता भवतीष्टयष्टिः ॥५५॥

वा० भा०ः—अथवा तत् सूत्रं कुज्यया गुणितं चरज्यया भक्तं सत् कला भवति। सा च कलाऽष्टधा पलक्षेत्रकोटिभिर्गुण्या स्वस्वकर्णेन भाज्या फलमष्ट-धेष्टयष्टिर्भवति।

अत्रोपपत्तिः ;—अत्र चरज्याकुज्ये त्रिज्याकुज्यापरिणते। अतस्ताभ्यां चानुपातः। यदि चरज्यया कुज्या लभ्यते, तदा सूत्रेण किम्? इति। फलं कला। सा कलाऽहोरात्रवृत्ते ज्या। सा पलवशादक्षकर्णवत् तिरश्चीना जाता। अथ तस्याः कोटिसूत्रमात्रमानेयम्। तत्रानुपातः।—यदि पलक्षेत्रकर्णेन तत्कोटि-र्लभ्यते तदा कलाकर्णेन किम्? इति। फलमुन्मण्डलशङ्क्वग्रसमसूत्रादुपर्य्यर्क-बिम्बादध ऊर्द्ध्वं कोटिरूपं भवति। तस्येष्टयष्टिसंज्ञा।

मरीचिः—अथलघुभूतप्रकारांतरेण कलानयनं वक्ष्यमाणोपजीव्येष्टयष्टया-नयनमुपजातिकयाऽह—सूत्रं कुजीवा गुणितमिति ॥५५॥ सूत्रं प्रागानीतं कुज्या-

गुणं चरज्याभक्तं फलं प्रकारांतरेण कला सा प्रागानीततुल्या भवति। इष्टयष्ठ्यानयनमाह—कलेति-कलापलक्षेत्राज्जातायदंकात्मिका कोटिस्तयानिघ्नीति कोटेः कर्णेन भक्ता। इष्टयष्टि र्भवति॥

अत्रोपपत्तिः—सूत्रकलयोस्त्रिज्या द्युज्या परिणतयोश्चरज्या कुज्ययोरपि तत्परिणतत्वाल्लाघवेनानुपातः चरज्यया सूत्रं तदा कुज्यया किमिति फलं कला। पलक्षेत्रकर्णे पलक्षेत्रकोटिस्तदा कलाकर्णे का कोटिरिति पूर्वप्रतिपादितक्षेत्रकोटिर्यष्टिः। पूर्वं मध्यान्हे यष्टेरानीतत्वा दिष्टेत्युक्तमुपपन्नम्॥५५॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—सूत्र को कुज्या से गुणा कर चरज्या से भाग देने से कला होती है। अक्ष क्षेत्रानुपात से पूर्ववत् कला को आठ अक्ष क्षेत्रीय कोटियों से गुणा कर इन्हीं के आठ कर्णों से पृथक् पृथक् विभक्त करने से यष्टि कर्ण होता है।

विशेष—खगोल पर ध्यान देने से—उन्मण्डल शंकु के अग्र से क्षितिज धरातल के समानान्तर अन्य धरातल की उत्पत्ति करने से, सर्वत्र उभय धरातलों का अन्तर उन्मण्डल शंकु के तुल्य ही होगा। उत्तर दक्षिण गोल में क्रमशः क्षितिज के नीचे और ऊपर उन्मण्डलधरातल होता है, अतएव उत्तर दक्षिण गोल में, क्रमशः इष्टशंकु $\pm$ उन्मण्डलशंकु का नाम इष्ट "यष्टि" कहा गया है। "कला" और "सूत्र" क्रमशः त्रिज्या और द्युज्या में परिणत होने से तथा चरज्या कुज्या भी उक्तवत् परिणामित होने से, चरज्या में कुज्या तो सूत्र में क्या ? लब्ध फल कला होती है। पुनः, अनुपात से—

$$\frac{\text{अक्ष क्षेत्र कोटि} \times \text{कला कर्ण}}{\text{अक्ष क्षेत्र कर्ण}} = \text{यह इष्टयष्टि उपपन्न होती है।}$$

इदानीं प्रकारान्तरेणेष्टयष्टिमाह—

उद्वृत्तशङ्कोरपि सूत्रनिघ्नाच्चरज्ययाप्तं यदिवेष्टयष्टिः।

वा० भा०—स्पष्टार्थम्।

अत्रोपपत्तिः;—यदि चरज्याया उन्मण्डलशङ्कुर्यष्टिस्तदा सूत्राख्यस्य किम्? इति। त्रैराशिकेन वा यष्टिरित्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथ लघुभूतप्रकारेणेष्टयष्ट्यानयनमिष्टांत्यकेष्टहृतीष्टशंकानयनं चोपजातिकाभ्यामाह—उद्वृत्तशंकोरपीति॥५६॥ इष्टांत्यकैवं क्षितिजीवयाच कला युतोना हृतिरिष्टकाले। युतोनितोद्वृत्तशंकोः सूत्रगुणितात्। चरज्यया भागे लब्धं प्रकारांतरेणेष्टयष्टिः। उद्वृत्तशंकुभिन्नात्क्षेत्रकोट्याः सूत्रगुणिताया स्वकर्णभक्तायाः यल्लब्धं तदिष्टयष्टि रित्यर्थस्तेन विषुवत्काले न दोष इति ध्येयम्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—सूत्र गुणित चरज्या से विभक्त उन्मण्डल शंकु भी प्रकारान्तर से इष्ट यष्टि होती है।

पूर्व सिद्धान्त से यह, $\frac{\text{अक्षक्षेत्र कोटि} \times \text{कला कर्ण}}{\text{अक्षक्षेत्र कर्ण}}$ = इष्ट यष्टि है।

यही $\frac{\text{उन्मण्डल शंकु} \times \text{कला}}{\text{कुज्या}}$, इस समीकरण के तुल्य है।

समीकरण के हर भाज्य में तुल्य सम्बन्ध स्थापित करने से

$$\frac{\dfrac{\text{उन्मण्डलशंकु} \times \text{कला} \times \text{त्रि}}{\text{द्युज्या}}}{\dfrac{\text{कुज्या} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु}}} = \frac{\text{सूत्र} \times \text{उन्मण्डलशंकु}}{\text{चरज्या}}$$

। आचार्य कथन उपपन्न है।

इदानीमिष्टान्त्यकाहृत्योरानयनमाह—

रवावुदग्दक्षिणगोलयाते सूत्रं युतोनं चरजीवया स्यात् ॥५६॥
इष्टान्त्यकैवं क्षितिजीवया च कला युतोना हृतिरिष्टकाले ।

वा० भा०:—यत् पूर्वानीतं सूत्रं तदुत्तरगोले चरज्यया युक्तं दक्षिणे हीनमिष्टान्त्यकासंज्ञं भवति। एवमनेनैव गोलक्रमेण कुज्यया युतहीना सती कलेष्टहृतिसंज्ञा भवति।

अत्रोपपत्तिः ;—अत्रोन्मण्डलादुपरितनकालस्याहोरात्रवृत्ते या ज्या सा कला; अधस्तनस्य या ज्या सा कुज्या। तयोरुत्तरगोले योगे कृतेऽर्कबिम्बादुदयास्तसूत्रपर्य्यन्तमन्तकर्णगत्या तिर्य्यक् सूत्रं भवति। सेष्टहृतिः। सैव त्रिज्यापरिणता सतीष्टान्त्यका भवति। अतश्चरज्यया सूत्रं युतं कृतम्। दक्षिणगोले तून्मण्डलस्य क्षितिजादधः स्थितत्वात् कला कुज्यया हीना कार्य्या सूत्रं चरज्ययेत्युपपन्नम्।

मरीचिः—इष्टांत्यानयनमाह-रवाविति-उत्तरदक्षिणगोलगते रवावित्यभीष्टग्रहे। क्रमेण। सूत्रं चरज्यया युतोनइष्टांत्यका। हृत्यानयनमाह-एवमिति। एवमुक्तगोलक्रमेणेत्यर्थः। कला कुज्यया युतोनाभीष्टसमये हृतिः स्यात्। पूर्वं मध्याह्ने हृतिः साधितेदानीमिष्टकाले हृतिरानीतेत्यर्थः।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—चरज्या को पूर्वानीत सूत्र में उत्तर दक्षिण गोलस्थ ग्रह क्रम से युत और विहीन करने से प्राप्त फल की आचार्यों ने इष्टान्त्यका संज्ञा की है।

इसी प्रकार गोलक्रम से कला में कुज्या को युत और विहीन करने से लब्धफल की आचार्यों ने इष्टहृति संज्ञा की है।

विशेष—इष्ट स्थानीय ग्रहबिम्ब से क्षितिजधरातल गत लम्ब का नाम शंकु कोटि, शंकुमूल से स्वोदयास्त सूत्र तक के अन्तर का नाम शंकुतल है जो भुज है। तथा ग्रह विम्ब से स्वोदयास्त सूत्र तक का तिर्यक् अन्तर इष्टहृति होती है। याम्योत्तराहोरात्रवृत्तस्थ ग्रह विम्ब से उक्तवत् इष्ट हृति को हृति तथा इष्ट शंकु को मध्यान्ह शंकु कहना

चाहिए। उत्तर गोल में उन्मण्डल से उपरितन अहोरात्रवृत्तीय काल की ज्या का नाम कला, और उन्मण्डल से अधस्तन ज्या का नाम कुज्या है। इन दोनों का उत्तर गोल में अक्षकर्ण की गति से तिर्यक् रूप, सूर्य बिम्ब से उदयास्तसूत्र तक योग होता है, उसी का नाम इष्टहृति है। काल का माप दण्ड अहोरात्रवृत्त सम्बन्धेन होने से इष्टहृति लघुवृत्त में होती है, इस का मान महद्वृत्त में, $\frac{\text{इष्ट हृति} \times \text{त्रिज्या}}{\text{द्युज्या}}$ = इष्टान्त्या होती है। उक्त इष्टस्थानीय ग्रह विम्ब से चराग्रद्वयवद्धसूत्र के ऊपर जो लम्ब है उसे ही इष्टान्त्या कहा है। मध्यान्हकालीन इष्टहृति का नाम जिस प्रकार हृति है, उसी प्रकार मध्यान्हकालीन द्युज्यावृत्तीय हृति का त्रिज्या वृत्त परिणत स्वरूप अन्त्या कहना चाहिए। दक्षिण गोल में क्षितिज उन्मण्डल से नीचे है, अतः कला में कुज्या कम करने से इष्ट हृति होगी, इसमें क्या आश्चर्य ?

इदानीमिष्टशङ्कुमाह—

युतोनितोन्मण्डलशङ्कुनैव मिष्टाख्ययष्टिर्भवतीष्टशङ्कुः ॥५७॥

वा० भा०:—एवमुत्तरगोले उन्मण्डलशङ्कुना युता दक्षिणे रहितेष्टयष्टिरिष्टशङ्कुर्भवति।

अत्रोपपत्तिः;—या पूर्वमानीतेष्टयष्टिः सोन्मण्डलशङ्क्वग्रसमसूत्रादुपर्य्यूर्द्ध्वरूपा। सा यावदुत्तरगोले उन्मण्डलशङ्कुना युता दक्षिणे रहिता क्रियते तावदर्कबिम्बादवलम्बो भूपर्य्यन्तो भवति। स एवेष्टशङ्कुरित्युपपन्नम्।

मरीचिः—इष्टशंकानयनमाह—युतोनित इति। इष्टयष्टिरेवमुक्तगोल क्रमेण। उद्वृत्त शंकुना युता हीना, इष्टशंकुः स्यात्।

अत्रोपपत्तिः—कुज्या कर्ण उद्वृत्तशंकुकोटिस्तदा कलाकर्णे का कोटि रित्यत्र प्रमाणेछास्थानयोश्चरज्यासूत्रयोस्त्रिज्यापरिणतयोरेवांगीकारः। मध्याह्नोक्तरीत्या सूत्रं त्रिज्यास्थानीयं चरज्यया संस्कृतमिष्टांत्यैवं कला कुज्या संस्कृताभीष्टहृतिरित्यादि पूर्वप्रतिपादित प्रायम्। एवमुद्वृत्तशंकग्र समसूत्रोर्ध्वमिष्टशंकुसूत्रे यष्टिरित्युद्वृत्तशंकुयुतहीनयष्टिरिष्टशंकु रित्युपपन्नम् ॥५७॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—उत्तर दक्षिण गोल में क्रमशः इष्टयष्टि में उन्मण्डल शंकु युत और विहीन करने से इष्टशंकु होता है।

उन्मण्डल शंकु के अग्र समसूत्र से ऊपर इष्ट शंकु सूत्र में यष्टि होने से, इष्टयष्टि में उन्मण्डल शंकु को गोल क्रम से युत विहीन करने से इष्ट शंकु स्वतः सिद्ध है।

उन्नतकालाच्छङ्कुमानीयेदानीं नतकालादाह—

नतोत्क्रमज्या शर इत्यनेन हीनान्त्यका वाऽभिमतान्त्यका स्यात्।
द्युज्याहतो व्यासदलेन भक्तः कुज्याहतो वा चरशिञ्जिनीहृत् ॥५८॥
शरः पृथक्स्थेन फलेन हीना हृतिर्भवेद्वा हृतिरिष्टकाले।

वा० भा०ः—इष्टकाले यन्नतं तस्योत्क्रमज्या सा शरसंज्ञा ज्ञेया। अनेन शरेण प्रागानीतान्त्या रहिता सतीष्टान्त्या वा भवति। अथ शरः "द्युज्यागुणो व्यासदलेन भक्तः"; अथवा कुज्यागुणश्चरज्यया भक्तः। यत् फलं तदनष्टं स्थाप्यम्। तेन पृथक्स्थेन फलेन प्रागानीता हृतिर्वर्जिता सतीष्टहृतिर्वा भवति।

अत्रोपपत्तिः;—गोलक्रमेण त्रिज्या चरज्यया युतोना किलान्त्या भवति। सूत्रं चरज्यया युतोनमिष्टान्त्या भवति। नतोत्क्रमज्यया बाणरूपया त्रिज्या यावदूनिता क्रियते तावत् सूत्रं भवति। अत उक्तं शरोनान्त्येष्टान्त्या भवति। अथ यः शरस्त्रिज्यापरिणतोऽसावनुपातेन द्युज्यापरिणतः कृतः। यदि त्रिज्यया द्युज्या लभ्यते तदा शरेण किम्? इति; अथवा चरज्यया कुज्या लभ्यते तदा शरेण किम्? इति त्रैराशिकाभ्यां यत् फलमुत्पद्यते सा नतोत्क्रमज्या द्युज्यापरिणता जाता। द्युज्या कुज्यया युतहीना किल हृतिः स्यात्। कला तु कुज्यया युतोनेष्टहृतिः स्यात्। अथ नतोत्क्रमज्यया द्युज्यापरिणतया यावद् द्युज्या वर्जिता क्रियते तावत् कला भवति। यदि हृतिरूना क्रियते तदेष्टहृतिर्भवतीत्युपपन्नम्।

अथ स्वाहोरात्रवृत्ते याम्योत्तरवृत्तसम्पाते सूत्रस्यैकमग्रं बद्ध्वा द्वितीयमधः सम्पाते च, तस्य सूत्रस्योदयास्तसूत्रेण यः सम्पातस्तस्मादुपरितनं खण्डं हृतिः। अथाहोरात्रवृत्ते याम्योत्तरवृत्तसम्पातात् पूर्वतः पश्चिमतश्च नतघटिकाग्रे चिन्हयित्वा तत्र सूत्रं बध्नीयात्। तस्य सूत्रस्य हृतिसूत्रस्य च यः सम्पातस्तस्मादधः खण्डं यदुदयास्तसूत्रपर्य्यन्तं तावत् प्रमाणेष्टहृतिः। यत् तूर्ध्वखण्डं सा नतोत्क्रमज्या द्युज्यापरिणता फलसंज्ञा। एवं गोलोपरि दर्शयेत्।

मरीचिः—अथ लघुभूतप्रकारेण नतादंत्यादीनांसाधनमुपजातिकाभ्यामाह। नतोत्क्रमज्या शर इति फलं पल क्षेत्रकोटिनिघ्नतत्कर्णभक्तं च तदूर्ध्वसंज्ञमिति। इति उक्त प्रकारेण नतकालस्योत्क्रमज्या सा शरः स्यात्। अनेन शरेण हीना मध्यान्हांत्या-इष्टांत्या प्रकारांतरेण स्यात्। हृत्यानयनमाह-द्युज्येत्यादि। शरः नतव्यस्तज्यारूपः द्युज्या गुणः त्रिज्यया भक्तः। अथवा कुज्या गुणश्चरज्या भक्तः। उभयत्र तुल्यमेव-फलं-अस्याग्रे प्रयोजनात् पृथक्स्थेन फलेनानेन मध्यान्हहृतिहीना इष्टकाले प्रकारांतरेण हृतिः स्यात्। शंकुसाधनार्थमूर्ध्वानयनमाह-फलमिति। फलं पृथक्स्थपूर्वागतमक्षक्षेत्राज्जातकालिका कोटिस्तया गुणितं, स्वकर्णभक्तं फलमूर्ध्वसंज्ञं स्यात्।

अत्रोपपत्तिः—उदयास्तसूर्ययाम्योत्तरग्रहद्युरात्रसंपातांतरसूत्रमूर्ध्वदिनार्धांत्या त्रिज्यापरिणतम्। तत्रेष्टकाले ग्रहत्तिर्यक्सूत्रमहोरात्रवृत्ते याम्योत्तरवृत्तादुभयतः समांतरेण निबध्य तत्सूत्रसंपातान्मध्यांत्यसूत्राधः खंडस्येष्टांत्या समत्वान्मध्यांत्योर्ध्वखंडसूत्रोना मध्यांत्येष्टांत्या। तत्र याम्योत्तरवृत्तस्य द्युरात्रवृत्तमध्यस्थत्वात्तिर्यक्सूत्रार्धस्य नतज्यात्वेनोर्ध्वसूत्रखंडस्य नतोत्क्रमज्यात्वं युक्तम्। ज्या चापमध्ये खलु बाणरूपेत्युक्तलक्षणाच्छर संज्ञत्वं च। एवं मध्याह्ने द्युज्यापरिणतनतोत्क्रमज्यया हीनेष्टहृतिः। अन्त्याहृत्योरंकमानभेदेन स्थानाभेदत्वात्। द्युज्यापरिणामः पूर्वप्रकाराभ्यां स्पष्टः।

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—इष्टकालीन नत की उत्क्रम ज्या का नाम शर है। पूर्वानीत अन्त्या में शर को कम करने से इष्टान्त्या होती है। द्युज्या अथवा कुज्या से गुणित शर में क्रमशः त्रिज्या अथवा चरज्या से भाग देने से लब्ध फल को हृति में कम कर देने से "इष्ट हृति" होती है

ग्रहविम्ब के ऊपर किया गया ध्रुवप्रोतवृत्त और याम्योत्तरवृत्त से उत्पन्न ध्रुव विन्दुलग्न कोण का चापीय मान निरक्षखमध्य से ग्रहगतध्रुवप्रोतनाडीवृत्तीय सम्पात तक के चाप के तुल्य होता है, जो गोल देखने से सुस्पष्ट है। इस चाप का नाम नतांश चाप है। नतांश की ज्या नतज्या है। नतज्या मूल से निरक्ष खमध्य तक अन्त्या का ऊर्ध्व खण्ड ही नत की उत्क्रमज्या है। ज्या चाप के मध्य में वाण रूपता से इसकी शर संज्ञा दी गई है, यहाँ पर शर यह अन्वर्थक नाम का अत्यन्त उचित उपयोग का शब्द है।

अतः, अन्त्या—शर=इष्टान्त्या।

अन्त्या और हृति सूत्र परस्पर समानान्तर हैं। महद्वृत्तीय शर को लघुवृत्त (द्युज्या वृत्त) में परिणत करने से शर का द्युज्यावृत्तीय परिणत स्वरूप का नाम फल है। यह परिणामन दो प्रकार का है—

(१) $\frac{\text{शर} \times \text{द्युज्या}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{शर} \times \text{कुज्या}}{\text{चरज्या}}$। त्रिज्यावृत्तीय शर का परिणत द्युज्यावृत्तीय नाम फल है। इस प्रकार का यह सिद्धान्त उपपन्न होता है।

हृति—फल=इष्टहृति। अथवा, द्युज्या—कला=द्यु—$\frac{\text{द्यु} \times \text{सू.}}{\text{त्रि}}$।

$= \frac{\text{द्यु} \times \text{त्रि.} - \text{सू.}\,\text{द्यु}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{द्यु}\ (\text{त्रि} - \text{सू})}{\text{त्रि}} = \frac{\text{द्यु} \times \text{शर}}{\text{त्रि}}$। यतः त्रि—सूत्र=शर है।

इदानीमिष्टशङ्कुमाह—

फलं पलक्षेत्रजकोटिनिघ्नं तत्कर्णभक्तश्च तदूर्ध्वसंज्ञम् ॥५९॥
उद्वृत्तशङ्कोः शरसङ्गुणात् स्याच्चरज्ययाप्तं वोर्ध्वसंज्ञम्।
ऊर्ध्वेन हीनो दिनमध्यशङ्कुः स्यादिष्टशङ्कु र्नततोऽथवैवम् ॥६०॥

वा० भा०ः—यत् पूर्वफलमनष्टं स्थापितं तदष्टधा पलक्षेत्रकोटिभिर्गुणितं स्वस्वकर्णेन भक्तं सदूर्ध्वसंज्ञमष्टधा भवति। अथवा प्रागानीतः शर उन्मण्डल-शङ्कुना गुणितश्चरज्यया भक्तस्तदूर्ध्वसंज्ञं स्यात्। किं फलानयनप्रयासेन?—तेनोर्ध्वसंज्ञेन दिनार्द्धशङ्कुरूनितः सन्निष्टशङ्कुर्भवति।

अत्रोपपत्तिः—यत् प्राक् प्रदर्शितं हृतेरुपरिखण्डं फलसंज्ञं तिर्य्यग्रूपं तस्य कोटिरूपकरणायानुपातः। यदि पलक्षेत्रकर्णेन तत्कोटिर्लभ्यते तदाऽनेन फल-संज्ञेन किम्? इति। लब्धमूर्ध्वकोटिरूपं भवति। तत् यावद्दिनार्द्धशङ्कोर्वि-

शोध्यते तावदिष्टशङ्कोः समानमवशेषं भवति; यतस्तत्समसूत्रेणैवार्कबिम्बमहोरात्र-वृत्ते वर्त्तते। यदि चरज्यया त्रिज्यावृत्तपरिणतयोन्मण्डलशङ्कुतुल्यमूर्ध्वं लभ्यते तदा शरेण त्रिज्यावृत्तपरिणतेन कियदित्येवं तावदूर्ध्वमिति सर्वमुपपन्नम्।

मरीचिः—एवं दिनार्धशंकुस्तदूर्ध्वसूत्रमितकर्णस्य कोटिस्तदून इष्टशंकुः-शंकोः कोटित्वात्। अतो ज्यापरिणत नतोत्क्रमज्यारूपकर्णाक्षक्षेत्रस्याक्षक्षेत्रकर्णोऽक्षक्षेत्रकोटिस्तदा कर्णरूपपलकर्णे केति दिनार्धशंकुसूत्रे तदूर्ध्वसूत्रमूलसमसूत्रा-वधितो दिनार्धशंकोरूर्ध्वखंडसूत्रं कोटिर्भवति। अत उक्तमुपपन्नम् ॥५९॥

अथ लाघवादूर्ध्वानयनमिष्टशंकानयनं चोपजातिकयाऽह—उद्वृत्ताशंकोः शरसंगुणादिति ॥६०॥ उद्वृत्तशंकोर्नतोत्क्रमज्यागुणिताच्चरज्याभागेन यदा स्पष्टी-क्रियते तदोर्ध्वसंज्ञं प्रकारांतरेण स्यात्। अन्यथाशरः, द्युज्याक्षक्षेत्रकोटिघातगुणः अक्षक्षेत्रकर्णो त्रिज्याघात भक्त इति। अथवा प्रकारांतरेण। एवमुक्त रीत्या क्रियते तदाप्यूर्ध्वसंज्ञं स्यादितिर्थः, तेन विषुवत्काले न क्षतिः। मध्याह्न शंकु-रूर्ध्वेन हीनः, इष्ट शंकुः स्यात्। उपसंहरति च तत् इति। नतत इति। अथवा प्रकारान्तरेण एवमुक्तरीत्या नतकालादिष्टांत्यादिकं भवतीत्यर्थः। तथा च पूर्व-मथोन्नतादित्यादिनोक्तमपि ततोऽपि लाघवेन नतोत्क्रमज्येत्यादिनोक्तमिति भावः।

अत्रोपपत्तिः—कुज्या कर्णे उन्मंडलशंकुः कोटिस्तदा पलकर्णे का कोटि-रित्यत्र कुज्या स्थाने चरज्या फलस्थाने शरोनाल्लाघवांदगीकृत उभयथा फलस्य तुल्यत्वात्। ऊर्ध्वसूत्रोनो याम्योत्तरवृत्तशंकुरिष्टशंकुतुल्यं दिनार्धशंकोरधः खंडं स्या-दित्युपपन्नम् ॥६०॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—पूर्व श्लोक के फल को आठ प्रकार यथाक्रम अक्षक्षेत्र कोटि से गुणा कर अक्ष क्षेत्र के कर्ण से भाग देने से लब्ध फल की ऊर्ध्व संज्ञा है।

अथवा, गणित कौशल से पूर्वागत शर ही को, $\frac{\text{उन्मण्डल शंकु}}{\text{चरज्या}}$ का सम्बन्धित बनाने से भी ऊर्ध्व संज्ञ हो जाता है। इतने से भी काम चल जाता है तो और अधिक प्रयास की क्या आवश्यकता ? ऊर्ध्व को दिनार्ध शंकु में कम करने से इष्ट शंकु हो जाता है।

युक्ति—इष्ट शंकु के अग्र से क्षितिज धरातल समानान्तर धरातल जहाँ पर मध्यान्ह शंकु और हृति सूत्रों पर लगेगा, उन दोनों पर बद्धसूत्र ही भुज, एवं मध्यान्ह शंकु का ऊर्ध्व खण्ड कोटि और पूर्व साधित फल, कर्ण है, यह क्षेत्र भी अक्ष क्षेत्र का सजातीय है, अतः-

$$\text{ऊर्ध्व} = \frac{\text{अक्ष-को} \times \text{फ}}{\text{अक्ष क.}} = \frac{\text{उ शं} \times \text{शर} \times \text{ज्याकु}}{\text{ज्या कु} \times \text{ज्या च}} = \frac{\text{उ. शं} \times \text{शर}}{\text{ज्या च}}\text{।}$$

इस लब्ध फल को मध्यशंकु में कम करने से इष्ट शंकु होता है। दो समानान्तर धरातलों का अन्तर गोल देखने से सर्वत्र इष्ट शंकु के तुल्य होता है, यह स्पष्ट है।

इदानीमिष्टान्त्यकाहृतिभ्यां शङ्कुमाह—

इष्टान्त्यकायाश्च हृतेश्च यद्वा दिनार्द्धशङ्कूक्तवदिष्टशङ्कुः ।
शङ्कोश्च दृग्ज्याश्रवणप्रभाः स्युर्हृतेर्न दृग्ज्या सुधियाऽत्र कार्य्या ॥६१॥

वा० भा०:—यथाऽन्त्याया "अन्त्याथवोन्मण्डलशङ्कुनिघ्नी" इत्यादिना प्रकारेण दिनार्द्धशङ्कुरानीतस्तथा, यथा हृतेश्च हृतिः "पलक्षेत्रकोटिघ्नी" इत्यादिना च तथेष्टान्त्यकाया इष्टहृतेश्चेष्टशङ्कुः साध्यः। तथा शङ्कोर्दृग्ज्या ततश्छायाकर्णश्छाया च साध्या; सा दिनार्द्धोक्तिवत् साध्येति शेषः। किन्त्वत्र हृतेर्दृग्ज्या हृतिः "पलक्षेत्रभुजेन निघ्नी" इत्यादिना न साध्या। अयमर्थस्तत्राप्युक्तः।

अत्रोपपत्तिः—हृतिर्दक्षिणोत्तरमण्डलगता तया या दृग्ज्या साधिता सा दक्षिणोत्तरमण्डल एव दिनार्द्धे भवितुमर्हति; यतस्तत्र दक्षिणोत्तरमण्डलमेव दृङ्मण्डलम्, इह त्वन्यत्। अतो हृतेर्दृग्ज्या न साध्येत्युक्तम्।

मरीचिः—ननु नतादिष्टशंकुसाधनं मध्याह्नशंकूपजीव्यत्वेनोन्नतेष्टशंकुसाधनाद्गौरवमेवेत्यस्वरसाद्विशेषंचोपजातिकयाह-इष्टांत्यकाश्च हृतेश्चेति ॥६१॥ इष्टांत्यकायाश्च सकाशाद्धृतेरिष्टहृतेः सकाशादित्यर्थः। सांनिध्यात् दिनार्धशंकूक्तिवत्। दिनार्धशंकानयनप्रकाराभ्याम्। यद्वा प्रकारांतरेणेष्टशंकुः स्यात्। यथांत्याथवोन्मंडलशंकुनिघ्नीत्यादिना मध्याह्नांत्याहृत्योर्मध्याह्नशंकुस्तथेष्टांत्याहृत्योरिष्टशंकुः साध्यइत्यर्थः। तथा चेष्टांत्याहृत्यो मध्याह्नांत्याहृत्युपजीव्यत्वेऽपि मध्याह्नशंकुं विनेष्टशंकुसाधनस्य संभवात्। द्युज्याचरज्याकुज्यानामुभयत्रोपयुक्तत्वेन मध्याह्नांत्याहृत्योः स्वतः सिद्धत्वाच्च लघुभूतं तदानयनमिति भावः।

ननु पूर्वं कालनियमेन छायानयनं प्रतिज्ञातं तच्छंकुसिद्धावप्यसिद्धमत आह-शंकोरिति, इष्टशंकोः सकाशात्, दृग्ज्या-छायाकर्ण-छाया, त्रिज्यानृचापोत्क्रमजीवयोना दृग्ज्याभवेदित्यनेन दृग्ज्यात्रिजीवे रविसंगुणे ते शंकूद्धृते भाश्रवणौ भवेतामित्येन च पूर्वोक्तमेव भवति। तथा च शंकुसिद्धौ छायादिकं हस्तगतमेवेति भावः। ननु यथा मध्याह्नशंकानयनरीत्येष्टशंकुः सिध्यति, तथा मध्याह्नदृग्ज्यानयनप्रकारेणेष्टदृग्ज्याऽपि सिध्यति। उक्तयुक्तेः। अतो हृतिः पलक्षेत्रभुजेन निघ्नीत्यादि श्लोकद्वयोक्तप्रकारेणापीष्टदृग्ज्यासिद्धौ वाधकाभावाच्छंकोश्च दृग्ज्येति कथमुक्त मतआह—हृतेरिति। अत्र मध्याह्नशंकुव्यतिरेकेष्टशंको दृग्ज्यकायां हृतेरिष्टहृतेरिष्टहृतेः सकाशात् सुधिया गणकेन दृग्ज्या न साध्या तथा च तत्र हृतिरित्यादिप्रकारछायसिद्धदृग्ज्यायास्त्रिज्यानृचापेत्याद्यानीतदृग्ज्यायाश्च तुल्यत्वदर्शनेन साधारणप्रकारस्यैव युक्तत्वमिति तद्वारणार्थे तदुक्तमिति भावः।

अत्रोपपत्तिः—यद्रीत्या मध्याह्नान्त्याहृतिभ्यां दिनार्धशंकुस्तद्रीत्येष्टांत्याहृतिभ्यामिष्टशंकुर्भवतीति किं चित्रम्? एवं हि-दृग्ज्या यदि वाखिलानामित्युक्तत्वादिष्टशंकोरिष्टदृग्ज्यास्यात्रिज्यानृचापेत्यादिना क्षेत्रसंस्थानस्य सर्वत्र तुल्यत्वात् भुजसाधनप्रकारेणानीतदृग्ज्याया मध्यान्हकालिकत्वम्। भुजस्य याम्योत्तरत्वेन

मध्याह्ने दृङ्मंडलस्य याम्योत्तर वृत्ताकारत्वात्, इष्टकाले तु दृङ्मंडलस्य याम्योत्तरवृत्तभिन्नत्वान्नताद्भुजसाधनप्रकारेण दृग्ज्यायाः, असिद्धिरित्युक्तमुपपन्नम् ॥६१॥

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—पूर्व कथित प्रकार से जैसे अन्त्या और हृति से दिनार्ध शंकु साधन किया गया है उसी प्रकार इष्टान्त्या और इष्ट हृति से भी इष्ट शंकु साधन करना चाहिए। तथा शंकु से दृग्ज्या, ततः छाया कर्ण और छाया का दिनार्धोक्त विधि से साधन करना चाहिए। यह सब करते हुए भी उक्त छाया साधन हृति से, नहीं करना चाहिए।

युक्ति—यतः, हृति याम्योत्तर वृत्त के धरातल में होती है। इस हृति से साधित दृग्ज्या याम्योत्तर वृत्त के ही धरातल में होगी क्योंकि यहाँ पर याम्योत्तर वृत्ताकारि ही दृग्वृत्त होता है। इस लिये याम्योत्तर से अन्यत्र हृति से दृग्ज्यादि साधन असमीचीन होगा ही। आचार्य ने छात्र गण भ्रम में न पड़े अत एव "हृतेर्न दृग्ज्या" अतिस्पष्ट कह दिया है।

अथ प्रकारान्तरैश्छायाकर्णमाह—

उद्वृत्तकर्णात् क्षितिशिञ्जिनीघ्नात् समाख्यकर्णादपि तद्धृतिघ्नात् ।
दिनार्द्धकर्णादथवा हृतिघ्नाद्धृत्येष्टयाप्तं यदिवेष्टकर्णः ॥६२॥

वा० भा०:—यः पूर्वमुन्मण्डलकर्ण आनीतः स कुज्यया गुण्यः। यश्च समवृत्तशङ्कोः कर्ण उत्पद्यते स तद्धृत्या गुणनीयः। यस्तु मध्यच्छायाकर्णः स हृत्या गुण्यः। तेभ्यस्त्रिभ्य इष्टया हृत्या भागे हृते पृथक् पृथक् त्रिधेष्टकर्णो भवति।

अत्रोपपत्तिर्व्यस्तत्रैराशिकेन—यदि कुज्यातुल्यया हृत्योन्मण्डलकर्णस्तद्धृत्या सममण्डलकर्णो हृत्या मध्याह्नकर्णो लभ्यते तदेष्टहृत्या किम्? इति। फलमिष्टकर्णो लभ्यते इत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथ प्रकारांतरैरिष्टकर्णानयनमुपजातिकयाह—उद्वृत्तकर्णात् क्षितिशिंजिनीति दिनार्धकर्णादथ वाहृतिघ्नादिति ॥६२॥ इष्टकाले उन्मंडलशंकानीतछायाकर्णाद्द्युज्यागुणितात् तत्कालीनसमशंकानीतछायाकर्णात् तद्धृति गुणितादपि शब्दो वार्थे। अथवा तत्कालीनमध्याह्न शंकानीतछायाकर्णात् मध्याह्नृति गुणितात्।

इति प्रकारत्रयोत्पन्न तुल्यभाज्यात्। इष्टया हृत्याप्तहाररूपेष्टहृत्येत्यर्थः। लब्धं यदि वा। प्रकारांतरेणेष्टकर्णः, इष्टकाले छायाकर्णः स्यात्। अत्र प्रथमद्वितीयप्रकारयोर्विषुवद्दलत्वात्तृतीयप्रकार उक्त इति ध्येयम्।

अत्रोपपत्तिः—कुज्ययोद्वृत्तशंकु छायाकर्णोऽथवा तद्धृत्या समवृत्तछायाकर्णोऽथ मध्याह्नहृत्या मध्याह्नछायाकर्णस्तदेष्टहृत्या क इति व्यस्तत्रैराशिकेनोपपन्नं प्राग्वत्। कुज्याकर्णो उद्वृत्तशंकुः, अनेन शंकुना त्रिज्याकर्णस्तदा द्वादशांगुलशंकुना क इति छायाकर्णः। अत्र हरस्य छेदलव मित्यादिना पूर्वोक्तरीत्योक्तमुपपन्नमिति केचित्॥६२॥

दीपिका—स्पष्टम्

शिखा—उन्मण्डल कर्ण और समवृत्तशंकुकर्ण और मध्यछाया कर्ण को क्रमश: कुज्या तद्धृति और हृति से गुणा कर तीनों में पृथक् २ इष्ट हृति से भाग देने से तीन प्रकार से एक ही इष्ट कर्ण होता है।

युक्ति—त्रैराशिकानुपात से—

$$\text{इष्ट कर्ण} = \frac{\text{त्रि} \times १२}{\text{इ. शं.}}।\ \text{इष्ट शंकु} = \text{इ. शं} = \frac{\text{उ. शं} \times \text{इ हृ}}{\text{कुज्या}}$$

$$= \frac{\text{सम. शं} \times \text{इ. हृ}}{\text{तद्धृति}} = \frac{\text{मध्य. शं} \times \text{इ हृ}}{\text{हृति}}$$

$$\therefore \text{इ. क.} = \frac{\text{त्रि} \times १२ \times \text{कुज्या}}{\text{उ. श.} \times \text{इ. हृ.}} = \frac{\text{उ. क} \times \text{कुज्या}}{\text{इ. हृ.}} = (१)$$

$$\text{इष्ट कर्ण} = \frac{\text{त्रि} \times १२ \times \text{तद्धृति}}{\text{सम. शं.} \times \text{इ. हृ.}} = \frac{\text{सम. क} \times \text{तद्धृति}}{\text{इ. हृ.}} = (२)$$

$$\text{इष्ट कर्ण} = \frac{\text{त्रि} \times १२ \times \text{हृति}}{\text{मध्य. शं.} \times \text{इ.हृ.}} = \frac{\text{म. क} \times \text{हृति}}{\text{इ. हृ.}} = (३)$$

६२ श्लोक का कथित सिद्धान्त सम्यक् उपपन्न है।

इदानीं विशेषमाह—

यत्र क्वचिच्छुद्धिविधौ यदेह शोध्यं न शुध्येद्विपरीतशुद्ध्या।
विधिस्तदा प्रोक्तवदेव किन्तु योगे वियोगः सुधिया विधेयः ॥६३॥

वा० भा०:—अथ यत्र क्वचिच्छुद्धिविधौ कर्त्तव्ये शोध्यं यदि न शुध्यति तदा शोध्यादितरराशिं विशोध्य शेषविधिः कर्त्तव्यः; किन्तु व्यस्तशोधने कृते यदा योगविधिरुत्पद्यते तदा वियोगविधिः कार्य्यः।

अत्रोपपत्तिः;—अत्र "अथोन्नतादूनयुताच्चरेण" इत्यादौ यदोत्तरगोले उन्नतकालाच्चरं न शुध्यति तदा चरादुन्नतं विशोध्य शेषस्य ज्योन्मण्डलादधश्चरज्यया खण्डं सूत्रसंज्ञं भवति; तस्य यदा कला क्रियते तदोन्मण्डलादधः कुज्याखण्डं भवति। कलाया यदेष्टयष्टिः क्रियते तदोन्मण्डलशङ्कोरूर्ध्वखण्डं भवति। अथ "रवावुदग्दक्षिणगोलयाते" इत्यादौ सूत्रं किल चरज्यया युक्तं कार्य्यं, तदिह न कार्य्यम्; किन्तून्मण्डलादधोमुखं यत् सूत्रमागतं तत् चरज्याया विशोध्यम्। शेषमिष्टान्त्या भवति। एवं तदा या कलोन्मण्डलादधोमुख्यागता सा कुज्याया विशोधिता शेषं कुज्याधस्तनखण्डमिष्टहृतिः। एवमुन्मण्डलादधोमुखी येष्टयष्टिरागता सोन्मण्डलशङ्कोः शोध्या शेषमिष्टशङ्कुर्भवतीति युक्तमुक्तम्।

मरीचिः—ननून्नताद्दिष्टांत्यादिसाधनमसंगतं चरकालादूने तस्मिनुत्तरगोलेउक्त प्रकारासंभवेन व्यभिचारात्। अत एव तत्र "अल्पीयांसो भवेयुः सवितृचरदलादिष्टकालासवश्चेत्सौम्ये गोले तदानीं चरदलसमयापातयित्वेष्टकालम्। कार्या शेषस्य जीवा चरशकलगुणस्तद्विहीनोन्त्यका स्यात्, त्रिज्याभक्ताथ सैव द्युगुण-

विगुणिता छेद इष्टः प्रदिष्ट" इति धीवृद्धिदे प्रकारांतरमुक्तं तत्कथमतो विशेष-कथनव्याजेन तदुत्तरमुपजातिकयाह—यत्र कचिच्छुद्धिविधौ यदेह शोध्यं न शुद्धेद्विपरीत शुध्या। विधिस्तदा प्रोक्तवदेव किंतु योगे वियोगः सुधिया विधेय इति ॥६३॥ इह त्रिप्रश्नाधिकारोप्यत्र यस्मिन्गणितकर्मणि शुद्धिविधौ, व्यव कलनावसरे। यस्मिन्काले शोध्यो। यः शोध्यते उक्तप्रकारे स इत्यर्थः। न शुध्येत। यस्माच्छोध्यते, उक्त प्रकारे तस्माद्धीनो न भवेदित्यर्थः। तदा तत्काले विपरीतशुद्धया। उक्तव्यवकलनाद्विपरीत व्यवकलनेन विधिः, इति कर्त्तव्याग्रिमा-प्रोक्तवत्, उक्त प्रकारेण कार्या। विपरीतशोधनादिति कर्त्तव्यतायामपि गुण-नभजनादिकं विपरीतं कार्यमिति तन्निवारणार्थक एवकार इति ध्येयम्। ननु विपरीत शोधने यथोक्त क्रिया करणेनासंगततापत्तेः। तथा व्यवकलनस्य युक्त-सिद्धत्वादत आह—किंत्विति। असंगततापरिहारार्थे विशेष्यस्त्वित्यर्थः। अग्रि-मक्रियाकरणे योगे उक्ते··· सुधिया गणकेन वियोगांतरं कार्यम्। सुधियेति हेतुगर्भविपरीतशोधनानतरमग्रिमक्रियायां वारद्वयं योग उक्तकस्तेनैकत्रैव युक्तयां-तरं कार्यं न तूभयत्रेति। इदमुपलक्षणं वियोगस्थाने योगोऽपीति ध्येयम्। तथा च नोक्त दोष इति भावः। यथा प्रकृते इष्टकालोन चरज्या सूत्रम्। अस्मात्कला। अस्या इष्ट यष्टिः। तत इष्टांत्यादि साधनार्थं चरादियोगे प्राप्ते सूत्राद्धनं चरादिक-मिष्टांत्यादिकं स्यात्। इदं च व्यक्तगणिताभिप्रायेणैवोक्तमन्यथा बीजोक्तरीत्या संशोध्यमानं स्वमृणत्वमेति सत्वं क्षयस्तद्युतिरुक्तवच्चेत्यनेन धनर्णयोरंतरमेव योग इत्यनेन चोक्तप्रकारे निर्वाहाद्विशेषकथनेऽस्य व्यर्थत्वापत्तेः। ननूक्त रीत्याऽऽ-ग्राकृतिं द्विगुणितामित्यनेन सार्द्धराशिज्याधिकाग्रायां कोणशंकु-कथं न स्यादत आह-क्वचिदिति। तथा चैतत्प्रकारस्य क्वचित्कथनोक्त दोष इति भावः।

अत्रोपपत्तिः—उत्तरगोले चरकालादल्पे उन्नत काले—ग्रहस्योद्वृत्तक्षितिजां-तरस्थत्वादुन्मंडलसूत्राग्रमधःस एवोक्तरीत्याऽतो विपरीत शुद्धया तदानयनं युक्तम्। इष्टांत्यादितत्रक्षितिजादूर्ध्वस्थत्वेन तदानीं सूत्राधः न चरादिक मेवेष्टांत्या-दिकं भवतीति गोले प्रत्यक्षम्। एवमन्यत्राप्यत उक्तमुपपन्नम्। अग्राकृतिं द्विगुणिता-मित्यत्र विपरीतकरणे तत्र तथा गोले दर्शनाभावादुक्तप्रकारो न संभवतीति क्वचिदित्युक्तमत एव साधारण्येन बीजोक्तरीत्या सिद्धेऽपि तत्रानिवारित स्यादिति गोलयुक्त्योक्तमिति ध्येयम् ॥६३॥

दीपिका—ग्रहगतध्रुवप्रोतनाडीवृत्तसम्पातात्क्षितिजाहोरात्रवृत्तसम्पातगतध्रुवप्रोतवृत्तस-म्पातं यावन्नाडीवृत्तीयखण्डमुन्नतकालः। तथा पूर्वस्वस्तिकात्क्षितिजाहोरात्रवृत्तसम्पातगत-ध्रुवप्रोतनाडीवृत्तसम्पातं यावन्नाडीवृत्तीयखण्डं चरकालस्तयोः सौम्यगोलेऽन्तरं याम्यगोले योगस्तदा ग्रहगतध्रुवप्रोतवृत्त-नाडीवृत्तसम्पातात्पूर्वस्वस्तिकं यावन्नाडीवृत्तीयखण्डमवशिष्टं तस्य ज्या ग्रहगतध्रुवप्रोतवृत्तनाडीवृत्तसम्पातात्पूर्वापरसूत्रोपरि लम्बरूपं सूत्र-संज्ञमिति। इदमेव यदि लघुवृत्ते परिणाम्यते तदा ग्रहान्निरक्षोदयास्तसूत्रोपरि लम्बरूपं कलासंज्ञमिति स्फुटमेव गोलविदाम्। आभ्यां धनात्मकाभ्यां कलापलक्षेत्रजकोटिनिघ्नीत्यादिनेष्टमानीय-

युतोनितोऽन्मण्डलशंकुर्नैवमित्यादिनेष्टशंकोस्तथा र वावुदग्दक्षिणगोलयात इत्यादिनेष्टान्त्येष्ट-हृत्योरानयनं यथोक्तं कार्यम्। परं यदि ऋणात्मकं तदोक्तानामानयनं विलोमेन भवितु-मर्हति—इति स्फुटं बीजगणितज्ञानात्।

अथ च कदा ऋणात्मकं–इत्यपि स्फुटमेव। यदा विलोमशोधनादिना सूत्रकले सिद्धे तदेव ऋणगत इति प्रदर्श्यते। यदा किल ग्रहः क्षितिजोन्मण्डलयोर्मध्यगतस्तथोक्तविधिनोत्तर-गोलेऽस्योन्नतकालाच्चराल्पाच्चरं न शुद्ध्येत। तदा विलोमशोधनेनोन्नतकालाग्रात्पूर्वस्वस्तिकं यावदृणावशेषम्। तस्य ज्या उन्नताग्रात्पूर्वापरसूत्रोपरि लम्बरूपं चरज्योर्ध्वखण्डसूत्रसंज्ञ-मस्मात्कलाऽपि कुज्योर्ध्वखण्डरूपा ऋणगताऽस्याः, यष्टिरपि उन्मण्डलशंकोरूर्ध्वखण्डतुल्यमतोऽत्र यदि उन्मण्डलशंकुः योज्यते तदा वियोगे कृते इष्टशंकुः स्यादेव।

शिखा—कदाचित् जहाँ कहीं भी शोध्य शोधक राशियों में शोधक राशि में शोध्य राशि नहीं घटती है तो शोध्य राशि में ही शोधकराशि घटाकर शेष क्रिया करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में योग विधि जहाँ उत्पन्न हो वहाँ पर वियोग विधि करनी चाहिए।

उत्तरगोलीय विशेष स्थिति—उन्नतकाल में चर को घटाकर शेष चाप की ज्या सूत्रसंज्ञक होती है जो पूर्व में कही गई है। जब कि उन्मण्डल और क्षितिजवृत्त के बीच किसी भी इष्ट स्थान पर ग्रह बिम्ब होगा उस समय उन्नत काल से चर अधिक होने से उन्नत काल में चर नहीं घटेगा, चर में ही उन्नतकाल को घटाकर शेष चाप की ज्या सूत्रसंज्ञक होती है। सूत्र की कला भी उन्मण्डल से नीचे कुज्या का खण्ड होगा। कला की यदि इष्टयष्टि करें तो वह उन्मण्डलशंकु का ऊर्ध्व खण्ड होगा। इसलिये यहाँ पर सूत्र को ही चरज्या में कम करना चाहिए। शेष इष्टान्त्या होगी। कला को भी कुज्या में कम करने से शेष कुज्या का अधस्तन खण्ड इष्टहृति होती है। इसी प्रकार उन्मण्डल शंकु में कम करने से इष्ट शंकु होता है, यहाँ इतना ही व्याख्यान पर्याप्त है।

इदानीमन्यं विशेषमाह—

बाणेन्दु १५ नाड्यूननतात् क्रमज्या त्रिज्यान्विता सैव नतोत्क्रमज्या।
उद्वृत्तशङ्कुस्तु न याम्यगोले दृश्योऽनुपातार्थमयं प्रसाध्यः ॥६४॥

वा० भा०:—यदा नतं पञ्चदशघटिकाभ्योऽधिकं भवति तदोत्क्रमज्याकरणे नतात् पञ्चदशघटिका विशोध्य शेषस्य क्रमजीवा त्रिज्यया युता सती उत्क्रमज्या स्यादित्यवगन्तव्यम्। तथा दक्षिणगोले क्षितिजादधः स्थितत्वादुन्मण्डलशङ्कु-रदृश्यस्तथाप्ययमन्येषामनुपातार्थं साध्यः।

अत्रोपपत्तिः;—उत्क्रमज्या हि बाणरूपा भवति; यदा नतं पञ्चदशघटिका-ऽधिकं तदा पञ्चदशघटिकानामुत्क्रमज्या बाणरूपा त्रिज्यातुल्या भवति। अथ पञ्चदशघटिकाऽधिको यः कालस्तस्य क्रमज्योर्ध्वाधोरूपा भवति; सा यावत् त्रिज्यया युता क्रियते तावद्बाणरूपोत्क्रमज्या भवति। अत्र गोलेऽहोरात्रवृत्ते याम्योत्तरवृत्तात् पूर्वतो नतघटिकाग्रे सूत्रस्यैकमग्रं बद्ध्वा द्वितीयमग्रं पश्चिमतश्च

नतघटिकाग्रे निबध्यते, तस्य सूत्रस्य याम्योत्तराहोरात्रवृत्तसम्पातस्य च यदन्तरं तद्बाणरूपम्। एवं तामुत्क्रमज्यां प्रदर्शयेत्।

मरीचिः—स्यादेतत् परं नतोपजीव्यसाधनं तत्रासंगतम्। नतस्य तदानीं पञ्चचन्द्रवद्यदाधिकांशावधित्वेन षड्गुणितस्य तस्य नवत्यंशाधिकत्वा न्नतोत्क्रमज्याया असिद्धेः। ज्यासाधनविषयीभूतांशानां नवत्यधिकत्वाभावादित्यतस्तदुत्तरं विशेषं चेन्द्रवज्रयाऽह-बाणेंदुनाड्यूननतक्रमज्या त्रिज्यान्विता सैव नतोत्क्रमज्या। उद्वृत्तशंकुस्तु न याम्यगोले दृश्योऽनुपातार्थमयं प्रसाध्य इति ॥६६॥ पंचदशघटिकाधिकेन तत्काले पंचदशघटीभिर्हीनाः नतघटिकाः कार्याः। शेषस्य, या क्रमज्या भवति सा त्रिज्यया युक्ता सा निष्पन्ना। त्रिज्याधिकाऽपि तदा नतोत्क्रमज्या भवति। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थे। तेन पंचदशाधिकं चेन्नतं तदा त्रिंशत् शुद्धं शेषस्योत्क्रमज्येति भुजरीत्योत्क्रमज्या न कार्येत्युक्तं भवति। अत्र त्रिज्याधिकाया अपि युक्तत्वात्। नतोत्क्रमज्या साधितास्तीत्यत्र केवल ज्यापदस्यापि तदनुरोधादुत्क्रमज्येति व्याख्यानं भवतीति तन्निवारणार्थे क्रमपदमिति ध्येयम्। तथा चोक्तस्थले नतोपजीव्य साधनस्य नासंगतत्वमिति भावः।

ननु चरघटीतुल्योन्नतकाले पंचदशघटीमितनतकाले चोत्तरगोले उद्वृत्तशंकुः प्रत्यक्ष सिद्धः। तदानीतछायायास्तदानीं दृग्योग्यत्वात्। अत उत्तरगोले तच्छंकोः सत्वमिति तत्साधनं युक्तं दक्षिणगोले तुल्योन्नतकाले उद्वृत्तशंकानीतछायाया दृग्योग्यत्वाभावात्तदसत्वमेवेति तत्साधनस्यायुक्तत्वादुद्वृत्तशंकुसाधने दक्षिणगोले व्यावर्त्तकं विशेषणं कथं न दत्तमन्यथातिप्रसंगापत्तेः। दक्षिणगोले तदभावनिश्चयात् न-सतो गणिते साधनशुद्धाशुद्धविवेकानुपपत्तेः। न च दक्षिणगोले उक्तप्रकारेण पंचदशघटीमिते नताभावाच्च तच्छंकाश्रयीभूतकालो साध्य संभवेन। तत्कथनेनैव विशेषणं तद्व्यावर्त्तकं सिद्धमेवेत्युक्तप्रायम्। तेनोद्वृत्तशंकूपजीव्यगणितानामुक्तानामुत्तरगोलविषयत्वं न दक्षिणगोल विषयत्वमिति सिद्धमिति वाच्यम्। युतोनितोद्वृत्तनरेण यष्टिका भवेदुदग्दक्षिणगोलयो नरः। युतोनितोन्मंडलशंकुनैवमिष्टाख्ययष्टिर्भवतीष्ट शंकुरिति पूर्वोक्तस्यासंगतत्वापत्तेः। दक्षिण गोले तदभावादित्यत आह। उद्वृत्तशंकुरिति दक्षिणगोले। उद्वृत्तशंकुर्न दृश्यः। तादृश समयाभावात्। तु कारात्सो सत्तेत्युक्तम्। तथाचोत्तरगोले यथा पंचदशघटीमितनतकालेऽभीष्टे वृत्तशंकानीतछायाया प्रत्यक्षत्वेन तदुद्वृत्तशंकोरप्रत्यक्षत्वं तत् सत्वे तथा दक्षिणगोले खरूपसूत्रमदृश्य इति साधने दृग्योग्यस्याप्रयोजकत्वात्तद्व्यावर्त्तकविशेषणदानमुचितमेव-अन्यथोत्तरगोलेऽपि पंचदशघटीमितनते तत्साधनं नत्वभीष्टकाले इति विशेषण दानापत्ते रित्युभय गोलसाधारणं सदुद्वृत्तशंकानयनमुक्तं युक्तमेवेति भावः।

ननु तथाप्यदृश्यत्वात्साधनमुद्वृत्तशंकोर्व्यर्थं नलिकाबंधोपयुक्तछायोपजीव्यत्वाभावात्। छाया साधनार्थमेव शंकोः प्रयोजनम्वेत्यत-आह-अनुपातार्थमिति। अयं सदुद्वृत्तशंकुरदृश्योऽपि, अनुपातार्थं स्वोपजीव्यपरपदार्थसाधनार्थं प्रसाध्यः-

आनेयः। तथा च प्रत्यक्षछायोपजीव्यत्वाभावेऽपि यष्टिशंकुकर्णादीनामुपपजीव्यो भवतीत्यर्थः। अन्यथोद्वृत्तकर्ण इत्यादि ग्रंथोक्तं दक्षिण गोलेऽव्याप्तिः स्यादिति भावः। न चादृश्यत्वेनासत्वाद्दक्षिणगोले तदसाधनमेवोद्वृत्तशंकूपजीव्यत्वेनेष्ट-कर्णादि साधनमुत्तरगोलविषयमेवेति प्रागुक्त मित्यव्याप्ति र्नेति वाच्यम्। पंचदश-घटीमितनते। उत्तरगोले तच्छंकोः प्रत्यक्षत्वेन तद्भिन्न काले तदप्रत्यक्षत्वेना सत्वादुद्वृत्तकर्ण इत्याद्युक्तप्रकारैरिष्टकर्णादिकस्यास्य भ्रांतप्रलपितत्वापत्तेः। नह्य-सतः सतः साधनम्। विरुद्धत्वात्। नचोत्तरगोले उद्वृत्तशंकोरिष्टकर्णहीनं-संवाहात्ताहशनते प्रत्यक्षत्वाच्च तत्सत्वं युक्तम्। दक्षिणगोले तु सर्वदा प्रत्यक्ष-त्वाभावादसत्वमिति वाच्यम्। तत्राप्युद्वृत्तशंकोरिष्टकर्णादीनां संवादात्फलवलेन तत्संज्ञत्व कल्पनात्। अन्यथा तत्संवादाभावापत्तेः।

अत्रोपपत्तिः—पंचदशाधिकनते ग्रहस्योन्मंडलादधःस्थत्वाद् ग्रहस्थानात्तूक्त-द्युरात्रवृत्ते यदृजुसूत्रे तन्मध्याह्नहृतिसूत्रे उन्मंडलस्योदयास्तसूत्रयोरंतरप्रदेशे लगति तत्सूत्रसंपातादुदयास्तसूत्रपर्यंतं मध्याह्नहृत्यधः खंड सूत्रमिष्टहृतिः। सा तु मध्याह्नहृत्यूर्ध्वखंडोना मध्याह्नहृति र्भवति। तत्रोर्ध्वखंडं तु ग्रहस्योन्मंडलादधः स्थत्वात् त्रिज्याधिकं संभवति। अतो याम्योत्तरद्युरात्रवृत्तसंपातात्तद्धृत्तिसूत्रे उद्वृत्तसूत्रावधि त्रिज्यैव संभवति। तदधो नतक्रमज्यासूत्रसंपातावधियन्मध्याह्न-हृतिसूत्रखंडम्। तत्पंचदशघट्यूननतक्रमज्यातुल्यम्। तद्योग ऊर्ध्वखंडमस्यैव नतोत्क्रमज्यत्वेन व्यवहारः, उक्तयुक्तेः। हृत्यंत्ययोः स्थानाभेदाच्च। वाणेंदु नाडीत्याद्युक्तमुपपन्नम्। यद्यप्यत्र पंचदशाधिकनतस्य भुजद्वारोक्तो क्रमज्याद्यु-रात्राधः स्थयाम्योत्तरसंपाते वृत्तेष्टनतक्रमज्यामूलांतरसूत्ररूपेभवति। साऽधः स्थयाम्योत्तरवृत्ता दुदयास्तसूत्रपर्यंतं यत्सूत्रखंडं मध्याह्नांत्योनद्विगुणत्रिज्यामितं तेनोनेष्टांत्या भवति। तथापि गौरवादुपेक्षितम्। अथ दक्षिणगोले उन्मंडलस्य स्वक्षितिजादधः स्थत्वात्ततस्थग्रहस्य छायादर्शनाभावः। तत्कालस्य रात्र्यंतर्गत-त्वात्। अतः क्षितिजाधोमुख उद्वृत्तशंकुर्गोले दृश्यत एव तस्य क्षितिजोर्ध्व त्वाभावादेव दृश्यत्वम्। अतस्तत्सत्वेन तदुपजीव्य कार्यं भवत्येव। वाधकाभा-वात्। अन्यथोद्वृत्तसंवंधि चरस्यासत्वेन दक्षिणगोले दिनमानज्ञानानुपपत्तेः। अत्रोत्सर्गतः प्रकाराणामनुपातेन सिद्धत्वादनुपातार्थं मित्युक्तम्। अत एवोत्तर गोले तद्भिन्नेष्टकाले उद्वृत्तग्रहाधिष्ठित द्युरात्रवृत्तसंपाताल्लंबरूपउद्वृत्तशंकुः क्षिति-जोर्ध्वगोले दृश्योऽपितत्रोपलक्षकग्रहाभावाद् दृश्यो न त्वसत्। अन्यथोद्वृत्त शंकूपजीव्येष्टकर्णादिप्रकाराणामनुपपत्तेः। आचार्यैरुक्तदिने उद्वृत्त शंकोर्वार द्वयमवश्यं दर्शनादुत्तरगोले तद्दृश्यत्वमेवांगीकृतं सर्वदैवेत्युपपन्नमुद्वृत्त शंकुस्त्वि-त्यादि ॥६४॥

दीपिका—यदि, अत्रोत्तरगोले नतचाप=१५+च—

अतोऽस्य नाडीवृत्तीयचापं नवत्यधिकं स्यात्तेन नतचापमपि नवत्यधिकं भवितु-मर्हति, इति कथमस्योत्क्रमज्या कर्त्तव्येतिशेषमग्रे शिखायां स्फुटमित्यलम्।

शिखा—यदि नत १५ घटी (६ घण्टा) से अधिक हो तो नत में १५ घटी कम कर शेष चाप की क्रमज्या को त्रिज्या में जोड़ने से जो उत्क्रम ज्या होगी वही नत की अपेक्षित उत्क्रमज्या होगी।

किन्तु दक्षिणगोल में उन्मण्डल, क्षितिज के नीचे होने से उन्मण्डल शंकु अदृश्य होगा तथापि अनुपात के लिये इसका साधन उचित ही है।
जैसे, नतचाप=१५+चर

यहां पर नाडीवृत्तीय चाप (९०°) नब्बे अंश से अधिक है, इसलिये नत चाप भी नब्बे से अधिक होगा, इसलिये ऐसी स्थिति में नत की उत्क्रम ज्या कैसे हो ? तो—
कल्पना कीजिए—

नत=१५+$\frac{\text{च}}{\text{न}}$। इसमें १५ कम करने से

१५=$\frac{\text{च}}{\text{न}}$ इसकी क्रमज्या=त्रिज्या में जोड़ने से यही नत की उत्क्रम ज्या होगी।

आचार्य का भाव अति स्पस्ट है। "मरीचि" में तर्क अधिक है।

इदानीमन्यं विशेषमाह—

मार्त्तण्डः सममण्डलं प्रविशति स्वल्पेऽपमे स्वात् पलात्
दृश्यो ह्युत्तरगोल एव स विशन् श्राव्या तदैवास्य भा।
अप्राप्तेऽपि समाख्यमण्डलमिने यः शङ्कुरुत्पद्यते
नूनं सोऽपि परानुपातविषये नैवं क्वचिद्दुष्यति ॥६५॥

वा० भा०:—मार्त्तण्डस्य यावदुत्तरा क्रान्तिः पलाधिका भवति तावत् सममण्डलादुत्तरस्थस्यैव तस्य दिनार्द्धं भवति, यावत् पलादूना तावद्दक्षिणस्थस्यैव; अतस्तत्र सममण्डलं प्रविशति। एवं दक्षिणगोलेऽपि पलादूनायां क्रान्तौ रविः सममण्डलं प्रविशति; किन्तु तत्र क्षितिजादधः स्थितत्वात् प्रविशन् न दृश्यते। उत्तरगोले तु दृश्यते। अतस्तत्रैव तस्य भा श्राव्या कथनीया। तथा "अप्राप्तेऽपि समाख्यमण्डलमिने यः शङ्कुरुत्पद्यते" इति।—यत्र किल विंशतिर्भागाः पलस्तत्र मिथुनान्तस्थो रविः सममण्डलादुत्तरतो भागचतुष्टयेन दिनार्द्धे भवति। अतस्तस्य सममण्डलमप्राप्तस्यापि यो गणितेन समशङ्कुरुत्पद्यते, तथा तद्धृतिश्च तत्कथमिदं द्वयं बन्ध्यासुतवत्? तदपि प्रदर्श्यते।—उदयास्तसूत्रमध्याद्धृतिसूत्रगत्या सूत्रमेकं प्रसार्य्य द्वितीयं गोलमध्यात् खस्वस्तिकगामि च। तयोः सूत्रयोर्गोलादूर्ध्व-भागे सम्पातस्तस्मादध ऊर्ध्वसूत्रं यत्प्रमाणं तत्प्रमाणस्तदा समशङ्कुरुत्पद्यते। यत्तु तिर्य्यक्सूत्रप्रमाणं तत्प्रमाणा तद्धृतिरुत्पद्यते। तत्राप्यग्रा भुजरूपिणी। इदमक्षक्षेत्रम्। अतोऽन्येषामनुपातार्थमिदं न दुष्यति। दक्षिणगोले, अदृश्यो यः समशङ्कुः सोऽप्यनुपातार्थं न दुष्यतीत्यपि शब्दार्थः।

मरीचिः—ननु यद्यप्युत्तरगोले दिने वारद्वयं दिगंशाभावसंभवात्तदा समशंकानीतछायायाः प्रत्यक्षत्वात्समंमशंको: प्रत्यक्षत्वम् । दक्षिणगोले तु दिने दिगंशाभावासंभवात्तदद्दश्यत्वं, न त्वसत्वम् । तत्र समशंकुतः प्रत्यक्षसिद्धपदार्थानयनस्य संवादादित्ययं विशेषः पूर्वश्लोके उद्वृत्तशंकुरित्यनेन समशंकूपलक्षणेनोक्तस्तथाप्युत्तरगोले कचित्कस्मिन्नपि दिने दिगंशाभावासंभवात्समशंको: प्रत्यक्षत्वाभावादुद्वृत्तशंकुतो विलक्षणस्थितिदर्शनात्तदुपलक्षणेन तदसिद्धेरित्यतः प्राधान्येन समशंकोर्विशेषं शार्दूलविक्रीडितवृत्तेनाह—मार्त्तंडः सममंडलं प्रविशतीति । मार्त्तण्डः-सूर्यः । उपलक्षणाद्ग्रहो वेत्यर्थः । स्वात्स्वदेशीयात् । पलादक्षांशात् । अपमे स्वक्रांत्यंशे स्वल्पेनाधिके सति । तेनाक्षांशसमक्रांत्यंशे उक्तार्थस्यादोषेति ध्येयम् । सममडलं पूर्वापरवृत्तं प्रविशति संगच्छति । तदानीं सममंडलस्थत्व संभावनास्तीति तच्छंकुर्गणितेनोपपन्नो युक्त एवेति भावः । ननु समशंकोरुपपन्नत्वे तदानीतछायाया द्दश्यत्वं नियतं कुतो नोपलभ्यते इत्यत आह-दृश्य इति । सः ग्रहः समवृत्तंविशन-प्रविशन् उत्तरगोले एवकारो दक्षिणगोल व्यावृत्यर्थकः । दृश्यः—दर्शनयोग्यः, तथा च दक्षिणगोलसमवृत्तस्थग्रहादर्शनादुत्तरगोले तद्वृत्तस्थग्रहस्य दर्शनात्समशंको रुपपन्नत्वेन दृश्यत्वान्नियमाच्च समशंकानीत छायाया दृश्यत्वं नियतं नेति भावः ।

ननु तर्हि समशंकानीतछायादृश्यत्वं कदेत्यतआह-श्राव्येति हि यतः-तदुपपन्नत्वेन छायादृश्यत्वानियमस्योक्तिरित्यर्थः । तदा समवृत्तस्थं ग्रहदर्शनकालेअस्य समशंको: भा-दृग्ज्या त्रिजीवेत्यानीतछाया दृग्योग्या श्राव्या श्रोत्रविषयिणी कार्या । एव कारादन्यदाप्युपपन्न शंकोर्भा न कथनीया । दर्शनाभावात् । अत एव साध्येत्ययं पाठः । समवृत्तकर्णादिष्टकर्णानयने सर्वदा समवृत्तकर्णप्रयोजनात्तस्य च छाया द्वादशवर्गयोगमूलात्मकत्वेन सर्वदा ।

छायासाधने बाधकाभावात् । तथा च दिगंशाभावकाले समशंको: प्रत्यक्षत्वात्तदानीं तदानीत छायाया दृग्योग्यत्वमिति भावः ।

नन्वक्षांशानधिक कांत्यंशे ग्रहस्य समवृत्तस्थत्व संभवात्समशंको: शून्येतरदिगंशकालेऽदृश्यत्वेप्युपपन्नत्वमुद्वृत्तशंकुरीत्या युक्तमुक्तमन्यथा समशंकूपजीव्यप्रत्यक्षपदार्थसाधनानुपपत्तेः । परं त्वक्षांशाधिकक्रांत्यंशे ग्रहस्य समवृतस्थत्वाभावनिश्चयाद्दिगंशाभावासंभवाच्च समशंकभाव एव । तत्र भवदुक्त समशंकुसाधने तत्सिद्धेरित्यतिप्रसंगवारणाय विशेषणं तद्व्यावर्त्तकं देयमन्यथाचार्याणां तदसत्वे परिणत तत्सिद्धिरित्युपहासाश्रयीभूतत्वापत्तेः । अत एव "सूर्यसिद्धांते" "सौम्याक्षोना यदा क्रांतिः स्यात्तदा द्युदलश्रवः । विषुवच्छाययाभ्यस्तः कर्णोमध्याग्रयोद्धृत" इति युक्तमुक्तम् । अस्यार्थः । उत्तराक्रांतिर्यदाक्षांशेभ्योऽनधिका स्यात्तदैव-इष्टकालीनमध्याह्नछायाकर्णः पलभागुणितः । मध्याह्नछायाकर्ण वृत्तीयाग्रया भक्तः फलं सममंडलप्रवेशसंभवकालीनछायाकर्णः । यदा तु क्रांतिस्तदधिका तदा तदसंभव एवेति व्यक्तम् । "ब्रह्मगुप्तसिद्धांते"ऽपि समशंका-

नयने तद्व्यावर्त्तकं विशेषणम्—विषुवत्कर्णेन गुणा विषुवच्छायाहृतोत्तराक्रांतिः। यदूनाक्षज्यायाः शंकुः सममंडलस्थेऽर्के, इत्यार्यायां स्पष्टमुक्त मित्यतस्तदुत्तरमाह—अप्राप्त इति। इने-ग्रहे समवृत्तमप्राप्ते सति, यद्दिने ग्रहस्य सममंडलप्रवेशाभावः। अपि शब्दात्समवृत्तप्रवेशसंभवदिनेऽपि यदा तद्वृत्तस्थत्वाभाव इत्यर्थः। तत्र समशंकानयनप्रकारेण यः समशंकुरुत्पद्यते, आगच्छति, सः, समशंकुः। अपि शब्दात्तदानीततद्धृतिः। नूनं—निश्चयेन। परानुपातविधये—पराः प्रसिद्ध-प्रत्यक्षसिद्धेष्टकर्णादिपदार्थाः, तन्निमित्तत्वं समशंकूपजीव्यानुपातनिबद्धानयनं यदुक्तम्। तद्विधये। तत्सिद्ध्यर्थं ज्ञेय इत्यर्थः, तथा च समवृत्तप्रवेशसंभवदिने यथा प्रवेशाभावकालीन समशंकोः प्रत्यक्षपदार्थमिथ्यावत्त्वमंगी तु क्रियते। तथा यद्दिने समवृत्तप्रवेशासंभवस्तत्रापि ततः प्रत्यक्षपदार्थ सिद्धेर्दर्शनात्तत्सत्वमनुमीयते उक्तयुक्ते स्तुल्यत्वात्। न चान्य दिगंशाभावेन तदसतत्वमिति वाच्यम्। दक्षिणगोले तत्प्रवेशसंभवेऽपि तदा सत्वापत्ते र्गोल क्रमातद्भक्तिहीनयुक्त्याद्युक्ता-द्ग्रानयनस्यासंगतत्वापत्तेश्च। उक्तदोषं निरस्यति नेति। एवं उक्तरीत्या समशंकोरसत्वाभावे सिद्धे। क्वचित् समवृत्तप्रवेशासंभवदिने न दुष्यति। समशंकु सत्वे तत्सिद्धिरिति दूषणमुक्तं न शक्नोति। तथा च समशंकानयने विशेषणदानमनुपयुक्तमदोषादितिभावः।

अत्रोपपत्तिः—विषुवद्वृत्ताद्ग्रहावधि याम्योत्तरवृत्ते क्रांतिः तद्वृत्तस्थ-समवृत्तप्रदेशरूप खस्वस्तिकावध्यक्षांशाः, अत उत्तर गोलेऽक्षांशाधिक क्रांत्यंशे खस्वस्तिकादुत्तरतो दिनार्द्धे ग्रहो भवति। तेन तत्र समवृत्तप्रवेशाभावोयुक्तः। अक्षांशानधिक क्रांत्यंशे तु खस्वस्तिकादनुत्तरतो दिनार्धे ग्रहो भवतीति तत्प्रवेशो युक्त एव, याम्योत्तरवृत्ते विषुवद्वृत्तस्थानादक्षांशांतरेणोर्ध्वाधः क्रमेण निरक्षोत्तर-देशीय समवृत्तस्योत्तरदक्षिणयोः स्थितत्वात्। अत एवोत्तरगोले ग्रहाधिष्ठित-द्युरात्रवृत्तानि क्षितिजादूर्ध्वं लगंति समवृत्ते दक्षिणगोले तु क्षितिजादध इत्युत्तर-गोले समवृत्तस्थो ग्रहो दृश्यः। दक्षिणगोले रात्रौ तत्स्थत्व संभवाददृश्यः। तत्प्रवेश संभवस्थले यदा तद्वृत्तस्थत्वाभावस्तदापि ग्रहाधिष्ठितद्युरात्रवृत्तसमवृत्त-संपाताल्लंबसूत्रं समशंकुरुत्तरदक्षिणगोलयोः क्रमेण क्षितिजादूर्ध्वाधोरूपो गोले प्रत्यक्षसिद्धः। अत-उद्वृत्तशंकुरीत्यानुपातार्थमुपयुक्तो भवत्येव, अथाक्षांशाधिक क्रांत्यंशे समवृत्ते ग्रहाश्रयीभूताहोरात्रवृत्तस्य गोलयोः संपाताभावादन्यत्रैव समवृत्तशंकुः। अत एव पूर्वैः—ययूनाक्षज्याया इत्युत्तरक्रांतिज्या विशेषणं तथा वार्त्तिकं दत्तम्। आचार्यैस्त्वदृश्यसमशंकोः पदार्थसिद्धिर्यथा दृष्टा तथैवासतस्त च्छंकोऽपीत्यदृश्या सच्छंकोरभेददर्शनादन्यत्रापि गणितार्थमगींकृत इत्युपपन्नं मार्त्तंड इत्यादि।

ननु यत्र ग्रहद्युरात्रवृत्ते समवृत्तसंबंधस्तत्र यदा ग्रहस्य समवृत्तस्थत्वाभाव-स्तदापि समशंकुर्गणितेन सिध्यतीति युक्तम्। तत्संपाताल्लंबरूपस्य गोले प्रत्यक्षत्वात्। यत्र तु यद्ग्रहद्युरात्रवृत्ते सर्वथा समवृत्तसंबधाभावस्तत्र गोलेऽपि समशंको-रदर्शनादसत्वमिति। कथं स्वबुध्यापि तत्समशंकोरानयनं युक्तम्। ग्रहगणि-

तस्य गोलाश्रयत्वात्। नह्यसत् आनयनमतिप्रसंगात्। आनीतसमशंकोः प्रत्यक्षसिद्धपदार्थसंवादश्च कथं कारणाभावादिति चेत् न तादृशस्थलेऽपि गोले समशंकोः प्रत्यक्षदर्शनात्। तथाहि—तत्कालीनमध्यहृतिसूत्रकर्णगत्या सूत्रं ग्रहाधिष्ठितद्युरात्रवृत्तयाम्योत्तरवृत्तसंपातलग्नमप्यग्रे गोले बाह्ये नेयो, द्वितीयं सूत्रं भूगर्भात् खस्तिकस्य समवृत्तप्रदेशलग्नमप्यग्रे ऋजुमार्गेण गोलेत्वेवंनेयम्। तयोः कर्णकोटिरूपस्तत्र···गोलबाह्ये यत्र संपातस्तदधो भूगर्भपर्यंतं कोटिसूत्रं समशंकुः समवृत्तसंबंधात्। मध्याह्नहृतिभूगोलावधि कर्णसूत्रं तद्धृतिः, याम्योत्तरसूत्रे तत्सूत्रान्तरमग्राभुजसूत्रंतन्मूलांतरमग्रा भुज इति क्षेत्रं प्रत्यक्षम्। ग्रहद्युरात्रवृत्तयाम्योत्तरसंपातोर्ध्वगततद्धृतिसूत्रे समशंकुसूत्रस्य संपाताद्ग्रहस्यैव समशंकुः। अविवादस्थलेऽपि तद्धृतिसूत्रे समशंकुकोटौ तद्धृतेः कर्णत्वं न स्यात्। ग्रहाश्रयीभूत गोलानंतर्गतत्वात् छाया कथनानुपयुक्तेः।

अत एव तत्र गणितेन त्रिज्याधिकसमशंकोः सिद्धत्वात्तदुपजीव्यकप्रत्यक्षपदार्थसंवादः स्वतः सिद्ध इत्युत्तरगोले याम्यगोलेऽपि तत्राधःस्वस्तिकमप्यूक्तरीत्या प्रत्यक्षम्। तथा गोले तत्र तदसत्वाप्रसिद्धे रुक्तदोषाप्रसंगः। अत एव ज्ञानराजदैवज्ञैः 'सिद्धांतसुंदरे' पंचाढ्यतो याम्योत्तराधसममंडलगदिनेशाधो लंबकः सममंडल शंकुरुक्त इति त्रिप्रश्नाधिकारे समवृत्तोत्तरयाम्यगेऽपि सूर्ये इत्युक्तं च युज्यते। उक्तार्थ परत्वात्। तथाहि—अक्षांशानधिक क्रांत्यंशे ग्रहाश्रयीभूतद्युरात्रवृत्तसमवृत्तसंपाताल्लंबः क्षितिजपर्यंतं समशंकुः। अक्षांशाधिकक्रांतिदेशे तु, उत्तर गोले समवृत्तादुत्तरवृत्तादुत्तरत्र ग्रहाधिष्ठितद्युरात्रं भवति। दक्षिणगोले समवृत्ताद्ग्रहाधिष्ठितद्युरात्रवृत्तं दक्षिणतद्गति तत् द्युरात्रवृत्ते भ्रमतो ग्रहस्य समवृत्तस्थत्वासंभवेऽपि समशंकुरुक्तस्य गणितेन सिध्यतीति न दोषः। यत्तु तट्टीकाकृता अथवा सममंडलापेक्षया याम्योत्तरादपि दिनेशात्सममंडले यत्र सिद्धं भवति ततोऽपि निष्ठितो लम्बः समशंकुः स्यादिति। सममंडलतो याम्योत्तरस्थेऽपि सूर्ये समगत्या सममंडलतो यः शंकुरुत्पद्यते नूनं सोऽपि परानुपातविधये नैवं क्वचिद्दुष्यतीति व्याख्याता तत्र। उक्त रूपसमशंकोर्गणितेनासंवादात्। उदयास्तकाले सदा समशंकभावापतेश्च। भवदभिमतार्थस्य भास्करपद्ये त्वसत्वात्तत्संमतिलिखनं चासंगतम्। भवत्पितृपद्ये त्वदुक्तार्थस्य स्फुटत्वेऽपि तात्पर्यानुरोधान्मदुक्तार्थस्यैवयुक्तत्वात्। ऋजवस्तु अक्षांशाधिकक्रांतिस्थले समशंको रदर्शनात्समशंकानयनमक्षांशानधिक क्रांत्यंशे भवतीति मार्त्तण्डः सममंडलं प्रविशति स्वल्पेऽपमे स्वात्पलादित्युक्तेन व्यावर्त्तकविशेषणं स्वतः सिद्धम्। उत्तरार्धे तु यथा श्रुतार्थपरमित्याहुस्तत्र ग्रन्थकृद्विवरणे तथा दर्शनात्॥६५॥

दीपिका—स्पष्टा।

शिखा—जिस दिन सूर्य की उत्तरा कान्ति अक्षांश से अधिक होती है, उस दिन पूर्वापरवृत्त से उत्तर में ही (खमध्य से उत्तर) मध्याह्न समय होता है, एवं अक्षांश से कम क्रान्ति में पूर्वापर से दक्षिण में मध्याह्न होगा किन्तु यहां पर क्षितिज के नीचे पूर्वापराहोरात्र वृत्त सम्पात होने से सममण्डल छाया नहीं देखी जावेगी। याम्योत्तरवृत्त में अक्षांश है,

मध्याह्न में याम्योत्तर वृत्त ही ग्रहोपरिगत ध्रुव प्रोत वृत्त होनें से क्रान्ति भी याम्योत्तर वृत्त में होगी, ऐसी स्थिति में अक्षांशाधिकक्रान्ति होने से उदय क्षितिज के ऊपर अहोरात्रवृत्त पूर्वापरवृत्त का परस्पर सम्पात होना आवश्यम्भावी है, अतएव समशंकु कोटि, अग्रा भुज, एवं तद्धृति कर्ण सम्बन्ध का अक्षक्षेत्र यहीं पर उत्पन्न होता हैं। यह तो हुई सममण्डल शंकु प्राप्ति की स्थिति।

सममण्डल शंकु की अप्राप्त स्थिति—

जैसे—जिस देश में अशांश$=$२०°, वहाँ पर मिथुनान्तरवि की स्थूल क्रान्ति$=$१२°$+$८°$+$४°$=$२४° है। यहाँ पर अशांशाधिकक्रान्ति प्रत्यक्ष है। मिथुनान्त द्युज्या$=$९०°$-$२४°$=$६६°। ध्रुव से ६६° द्युज्या चाप से निर्मित मिथुनान्त द्युज्या वृत्त अर्थात् परमाल्प अहोरात्र वृत्त और पूर्वापर वृत्त का याम्योत्तर वृत्त में ४° का अन्तर भी प्रत्यक्ष है। तथा ऐसी स्थिति में अहोरात्रवृत्त पूर्वापरवृत्त का दृश्य क्षितिजीय सम्पात का अभाव होने से सममण्डल शंकु की भी प्राप्ति नहीं है, अत एव समवृत्तीय छाया कर्ण साधन के मूल के अभाव से समवृत्तीय छाया कर्ण का अभाव भी निश्चित है। यहाँ पर समशंकु कोटि और तद्धृति कर्ण ये केवल कहने मात्र के लिये हैं, यह स्थिति ठीक "वन्ध्या सुतवत् की तरह है क्या ?

नहीं ! गोल पर इस सममण्डलीय अक्ष क्षेत्र का प्रत्यक्ष दर्शन है जैसे—

गोल पर ध्यान दीजिए—

स्वोदयास्तसूत्र के मध्य विन्दु से हृतिसूत्र की गति से एक सूत्र पूर्वापराहोरात्रवृत्त पर्यन्त ले जाना चाहिए। दूसरा सूत्र गोल गर्भ से खमध्य तक ले जाना चाहिए। इन दोनों सूत्रों का गोल के ऊपर जहां सम्पात स्थान होगा वहां से नीचे गोलगर्भ तक समशंकु, तथा स्वोदयास्त सूत्र मध्य तक तद्धृति, गोलकेन्द्र और उदयास्त सूत्र तथा मध्य का अन्तर भुज रूपिणी अग्रा भी यहाँ पर प्रत्यक्ष है, जिसका पूर्ण सम्बन्ध सममण्डलप्रवेशीय स्थिति के उक्त पूर्व अक्ष क्षेत्र से अति स्पष्ट है, अतएव किसी भी अक्ष क्षेत्रानुपातीय अक्ष क्षेत्र सम्बन्धेन उत्पन्न जात्य क्षेत्र के लिये यह अक्षक्षेत्र कदापि भी सदोष नहीं है अपि तु अनुपातोपयुक्त है। भले ही सममण्डल प्रवेश की स्थिति अप्राप्त भी क्यों न हो। आचार्य का यही भाव है, जिस पर निम्न भांति की खगोलीय परिष्कृत एक और कल्पना हो सकती है, इसे ध्यान से समझना चाहिए।

विशेष—कल्पना कीजिए सममण्डल छाया$=$१६ अंगुल अतः सममण्डल छाया-कर्ण$=\sqrt{(१६)^२+(१२)^२}=$२०, अतः समशंकु$=\frac{१२\times \text{त्रि}}{\text{सम.म.छा.क.}}=\frac{१२\times ३४३८}{२०}$ $=$२०६३$\frac{४}{५}$ अनुपात से पल कर्ण$=\frac{\text{तद्धृति}\times १२}{\text{समशं}}$ यहाँ पर तद्धृति अज्ञात होने से इष्ट उन्नत कालज्या तुल्य तद्धृति मानते हुये स्थूल पलकर्ण का ज्ञान किया है।

अतः जिस देश में छाया$=\sqrt{\text{पल.क}^२\text{-}१२^२}$। पुनः अन्य अनुपात से स्थूल उन्नतज्या ज्ञान पुरःसर क्रांज्या$=\frac{\text{पलभा}\times \text{समशंकु}}{\text{पल कर्ण}}$। इसका चाप$=$क्रान्ति। सममण्डल छाया के भूपृष्ठीय देश में ऐसी आगत उक्त क्रान्ति से कम अशांश में सममण्डल छाया अवश्य होगी।

उदाहरण द्वारा भी उक्त मत अति स्पष्ट किया गया है इससे आगे अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं है, फिर भी "मरीचि" ने यह विषय बहु वक्तव्य का किया है।

इदानीं छायातः कालज्ञानमाह—

उद्वृत्तकर्णाच्चरशिञ्जिनीघ्नाद्दिनार्द्धकर्णादथवाऽन्त्यकाघ्नात् ।
इष्टेन कर्णेन हृताद्यदाप्तमिष्टान्त्यका सैव पृथक् पृथक् स्यात् ॥६६॥
पलश्रुतिघ्नस्त्रिगुणस्य वर्गो द्युज्येष्टकर्णाहतिहृद्भवेद्वा ।
इष्टान्त्यका तद्रहिताऽन्त्यकाया भवन्ति या उत्क्रमचापलिप्ताः ॥६७॥
नतासवस्ते स्युरहर्दलं तैरूनीकृतं चोन्नतकाल एवम् ।

वा० भा०:—उन्मण्डलकर्णाच्चरज्यया गुणितादथवा मध्याह्नकर्णादन्त्या गुणितादिष्टकर्णेन भक्ताद्यत् फलं लभ्यते सेष्टान्त्या भवति। उभयत्र तुल्येत्यर्थः। अथ प्रकारान्तरेणेष्टान्त्यामाह—"पलश्रुतिघ्नस्त्रिगुणस्य वर्गः" इत्यादि।—त्रिज्या-वर्गः पलकर्णेन गुण्यः। द्युज्याया इष्टकर्णस्य च घातेन भाज्यः। यत् फलं लभ्यते सेष्टान्त्यका। तयेष्टान्त्यया रहिताया अन्त्याया यच्छेषं तस्योत्क्रमेण धनुः कार्य्यम्। तस्य धनुषो यावत्यः कलास्तावन्तस्तस्मिन् काले नतासवो ज्ञेयाः। तैर्नतासुभिरूनीकृता दिनदलासव उन्नतासवः स्युः।

अत्रोपपत्तिर्व्यस्तत्रैराशिकेन ;—यद्युन्मण्डलकर्णेन चरज्येष्टान्त्यका लभ्यते तदेष्टकर्णेन किम्? इति; अथवा यदि मध्याह्नकर्णेनान्त्या लभ्यते तदेष्टच्छायाकर्णेन किम्? इति। एवमत्रोभयत्र फलमिष्टान्त्यका भवति। अथान्यस्मिन् प्रकारान्तरे त्रैराशिकत्रयेणोपपत्तिः। यदीष्टच्छायाकर्णेन द्वादशाङ्गुलशङ्कुर्लभ्यते तदा त्रिज्या-कर्णेन क इति। अत्र त्रिज्याया द्वादश गुण इष्टकर्णो हरः। फलं महाशङ्कुः। अथ तस्य हृतिकरणार्थमनुपातः।—यदि द्वादशाङ्गुलशङ्कोर्विषुवत्कर्णः, कर्णस्तदास्य महाशङ्कोः कः? इति। पूर्वं त्रिज्याया द्वादश गुणः। इदानीं हरः। अतस्तुल्य-त्वाद्द्वादशकयोर्गुणहरयोर्नाशे कृते सति त्रिज्यायाः पलकर्णो गुण इष्टच्छायाकर्णो हरः। फलमिष्टहृतिः। अथेष्टान्त्याकरणायानुपातः। यदि द्युज्यया त्रिज्या लभ्यते तदेष्टहृत्या किम्? इति। इदानीं त्रिज्या गुणो द्युज्या हरः। हरयोर्घातो हर इति द्युज्येष्टकर्णाहतिर्भवति। गुणयोर्घाते त्रिज्यावर्गः पलकर्णगुणितो भवति। एवं फलमिष्टान्त्यका। तया वर्जिताया अन्त्याया यदवशेषं सा नतस्योत्क्रमज्या शरसंज्ञा। अतस्तस्या धनुरुत्क्रमेण स नतकालः स्यात्। नतकालो दिनार्द्धात् पतित उन्नतकालः स्यादित्युपपन्नम्।

मरीचिः—ननूक्ता प्रभाभिमतादिङ्नियमेनेत्यादिना प्रतिज्ञातं छायानयन-मुक्तं न संभवति कालज्ञानाभावादतः छायातः कालज्ञानं विवक्षुः प्रथमं तत्रोप-युक्तामिष्टांत्यामिन्द्रवज्रयाऽह- उद्वृत्तकर्णाच्चरशिंजिनीघ्नादिति उद्वृत्तकर्णात् चरज्यागुणितात्। अथवा इष्टकालीन दिनार्धकर्णात्प्राक् साधितात् इष्टकालीन

मध्यांत्यागुणितात्—इष्टेन, अभीष्टकालिकेन कर्णेन, छायाकर्णेन। व्यासार्ध वर्ग इत्याव्यक्त प्रकारसिद्धेनेत्यर्थः। भक्ताद्यत्फलं। पृथक् स्थानद्वये इत्यर्थः। इष्टांत्यका, अभीष्टकाले इष्टांत्या स्यात्।

ननु गुण्यगुणकयोर्भेदाद्धरस्याभेदाच्चोभयत्र फलमतुल्यमेव। तत्कथमिष्टांत्या द्वयसाधनमुक्तम्। एककाले इष्टांत्याद्वयस्यानुपपन्नत्वादत-आह सैवेति। या प्रथमस्थाने द्वितीयस्थाने सा द्वितीय प्रथमस्थानयोर्भवति। एवकारः कदाचि-दत्रापिसंभवतीति शंकानिवारणार्थकः। तथा च गुण्यगुणकयोः स्थानद्वये भेदे-ष्युभयत्र गुणनफलस्याभेदात्फलाभेदोऽर्थ सिद्ध इति स्थानद्वये तुल्यैवांत्यास्या-दित्यर्थः। तेन प्रकारद्वयोक्तेर्न क्षतिरिति भावः। अत्र प्रथमप्रकारस्य विषु-वद्दिने संभव इत्यस्वारसाधये तु द्वितीयप्रकारानुसरणमिति ध्येयम्।

अत्रोपपत्तिः—उद्वृत्तकर्णेन चरज्या तुल्यांत्याऽथवा दिनार्धकर्णेन मध्यान्त्या-त्वात्तदिष्टकालीनकर्णेन केत्यनुपात्ताभ्यां पूर्वोक्तरीत्या व्यस्तत्रैराशिकक्रियाविषया-भ्यामुपपन्नम्।।६६।।

अथ विषुवति पूर्वपद्योक्त सैव पृथक् पृथक् स्यादित्यस्य व्यर्थत्वमित्यस्वर-साल्लाघवादिष्टांत्यानयनं कालानयनं चोपजातिकाभ्यामाह—इष्टान्त्यका तद्रहि-तांत्यकाया भवंति या उत्क्रमचापलिप्ताः। नतासवस्ते स्युरहर्दलं तैरुनीकृतं चोन्नत-काल एवं त्रिज्याधिकस्य क्रमचापयुक्ता। खखाब्धिवाणा धनुरुत्कमात्स्यादिति त्रिज्यावर्गः। अक्षकर्णगुणः कार्यः स भाज्यांकः। द्युज्येष्टकर्णयोर्घातरूप हरेण भक्तः फल मिष्टांत्या वा लघुभूतप्रकारेण मध्याह्नकर्णादिति···पेक्षेण स्यात्।

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—उन्मण्डल कर्ण को चरज्या से, अथवा मध्याह्न कर्ण को अन्त्या से गुणा कर इष्ट कर्ण से भाग देने से उभयत्र लब्ध तुल्य फल इष्टान्त्या है।

अथवा—त्रिज्या वर्ग और पल कर्ण के गुणनफल में द्युज्या और इष्ट कर्ण के गुणन फल से भाग देने से भी इष्टान्त्या होती है। इष्टान्या को अन्त्या में कम कर शेष के क्रम धनुष की कला नतासु होते हैं। दिनार्ध में नतासु को कम करने से उन्नतासु होते हैं।

युक्ति—

$$\text{यतः, इष्ट ह्र.} = \frac{\text{कुज्या} \times \text{इष्ट. शं}}{\text{उ. शं}} \text{। अतः इष्टान्त्या} = \frac{\text{त्रि} \times \text{कु.} \times \text{इ. श,}}{\text{द्यु} \times \text{उ. शं.}} \text{।}$$

$$\text{अथवा} = \frac{\text{ह्र} \times \text{इ. शं}}{\text{मध्य शं}} = \frac{\text{त्रि} \times \text{ह्र} \times \text{इ. शं}}{\text{द्यु} \times \text{मध्य शं}} = \frac{\text{अन्त्या} \times \text{इ. शं}}{\text{मध्य शं}} = \frac{\text{चरज्या} \times \text{इ. शं.}}{\text{उ. शं}}$$

१२ $\times$ त्रि, से हर भाज्य दोनो को गुणा करने से

$$= \frac{\text{१२} \times \text{त्रि} \times \text{चरज्या} \times \text{इ शं.}}{\text{१२} \times \text{त्रि} \times \text{उ. शं}} = \frac{\text{१२} \times \text{त्रि} \times \text{अन्त्या} \times \text{इ शं}}{\text{१२} \times \text{त्रि} \times \text{मध्य शं.}}$$

$$= \frac{\text{उ. क} \times \text{चरज्या}}{\frac{\text{१२} \times \text{त्रि}}{\text{इ शं}}} = \frac{\text{म. क} \times \text{अन्त्या}}{\frac{\text{१२} \times \text{त्रि}}{\text{इ शं}}}$$

$= \frac{\text{ज्या च} \times \text{उ. क}}{\text{इष्ट कर्ण}} = \frac{\text{म. क} \times \text{अन्त्या}}{\text{इष्ट कर्ण}}$ । यहाँ पर ओक ६६ का सिद्धान्त सम्यगुपपन्न है ।

पल श्रुतिघ्न···श्लोक ६६ की युक्ति से

$\text{इष्टहृति} = \frac{\text{पल कर्ण} \times \text{इष्ट शं}}{१२}$ । $\text{इष्टान्त्या} = \frac{\text{पलकर्ण} \times \text{इष्टशंकु} \times \text{त्रि}}{१२ \times \text{द्यु}} =$

$= \frac{\text{पलकर्ण} \times \text{त्रि} \times \text{त्रि}}{\frac{१२ \times \text{द्यु} \times \text{त्रि}}{\text{इष्ट. शं}}} = \frac{\text{पलकर्ण} \times \text{त्रि}^२}{\text{द्युज्या} \times \text{इष्ट कर्ण}}$ । श्लोक ६७ का सिद्धान्त उपपन्न है ।

इदानीं विशेषमाह—

त्रिज्याऽधिकस्य क्रमचापयुक्तः खखाब्धिबाणा धनुरुत्क्रमात् स्यात् ॥६८॥

वा० भा०:—यदेष्टान्त्यकावर्जिताया अन्त्यायाः शेषं त्रिज्यातोऽधिकं भवति तदा तस्मात् त्रिज्या शोध्या । शेषस्य क्रमचापलिप्ताः खखाब्धिबाणैर्युता उत्क्रमचापं भवति । ते तदा नतासवो भवन्तीत्यर्थः । अत्र यैवाधिकस्य क्रमज्याकरणे युक्तिः सैवाधिकस्य क्रमधनुकरणे ।

मरीचिः—नतकालानयनमाह—तदित्यादि । इष्टांत्यया हीनाया मध्यांत्या तस्याः सकाशादित्यर्थः-उत्क्रमचापलिप्ताः । उत्क्रमप्रकारेण यदवाप्तं, तस्य कलाः यावदंकमिताः भवंति, तन्मिताः नतकालासवः, स्युः । उन्नतकालानयनमाह—अहर्दलमिति अस्वात्मकदिनमानार्धे । तैर्नतकालासुभिः । हीनं कृतं सत् । उन्नतकालः । चः तु समुच्चये । उपसंहरति-एवमिति, उक्त प्रकारेण नतान्नतकालज्ञानं भवतीति नियमेन छायानयनमुक्तमेवेति भावः । नन्विष्टांत्योनदिनार्धांत्यायास्त्रिज्याधिकत्वे धनुः कथं स्यात् । त्रिज्यांतर्गतांकस्यैवोक्तप्रकारेण, धनुः साधनादत आह—त्रिज्याधिकस्येति । यदेष्टांत्योनादिनार्धांत्या—त्रिज्याधिका, तदा तत्र त्रिज्यातो यदधिकं तस्येत्यर्थः । क्रम प्रकारेण यद्धनुस्तकलाभिर्युक्ताः । चतुःपंचशतानां, यन्निष्पन्नं तदेव । उत्क्रमप्रकारेण सिद्धं धनुः । उत्क्रमधनुरित्यर्थः, स्यात् । अत्र केवलचापपदस्यापि प्रकरणानुरोधादुत्क्रमधनुरर्थः स्यात्, तद्वारणार्थे क्रमपद मिति ध्येयम् । तथा च न क्षतिरिति भावः ।

अत्रोपपत्तिः—हृतिज्ञाने द्युज्यास्थाने त्रिज्या, हृतिस्थाने केति पूर्वरीत्येष्टांत्या स्यात् । तत्र द्वादशकोटौ पलकर्णः कर्णस्तथेष्टकर्णेन द्वादश कोटिस्तदा त्रिज्या कर्णेन केत्यनुपातसिद्धमहाशंकुकोटौ कः कर्ण इत्यनुपाताभ्यां द्वादशमितयो गुणहरयो र्नाशात्पलकर्णस्त्रिज्यायाः गुण इष्टकर्णो हर इतीष्टहृति स्वरूपम् । अतस्त्रिज्यावर्गः पलकर्णगुणः-कुज्येष्टकर्णघातभक्त फलमिष्टांत्या स्यादिति । इष्टांत्योनदिनार्धांत्या मध्यांत्यायाः इष्टांत्याग्रादूर्ध्वखंडं भवतीति नतोत्क्रमज्या सिद्धा । अस्या उक्तप्रकारेण यो धनुस्सनतकालो भवति, अन्यथा नतज्ञानासंभवात् । कलास्वोः परिभाषया तुल्यत्वात्कला इत्युक्तः । नतकालोनदिनार्धमुन्नतं दिनार्धस्य

तद्वैक्यात्मकत्वात्। यदा त······दध उत्तरगोले तदोर्ध्वखंडनतोत्क्रमज्यारूपं त्रिज्याधिकमतस्त्रिज्यात्मक तत् खंडस्य धनुर्नवत्यंशरूपयाम्योत्तरोद्वृत्तयोरंतरस्थ द्युरात्रवृत्तप्रदेशस्थपंचदशघटिकानामसुरूपाः। अतः पंचदशघटिकानामसवः परिभाषया तु पंचाशच्छतमित्यस्य कर्णो······इत्युक्त वैपरीत्या चोपपन्नं सर्वम्।

अत्र चोपपत्तिर्द्धनुज्याविधिरेवातः, तथाहि-कस्याश्चिदभिमतो क्रमज्यकायाः, उक्तचापे कर्त्तव्ये जीवा विशोध्योक्तत्वे न योग्यमुत्क्रमजीवाविशोधने शेषस्य क्रमकार्मुकेण विशुद्धजीवाक्रमेण धनुरन्वितसिद्धि रिष्टाया एवोत्क्रमकार्मुकं भवत्येव, तस्मादनयैव रीत्या त्रिज्याभ्यधिकोत्क्रमज्यायास्त्रिज्यारूपोत्क्रमज्यां विशोध्य शेषस्य क्रमधनुः स्यादुत्क्रमधनुरूपेषु चतुःपंचाशच्छतसंख्येषु क्षिप्ते सद्धिशिष्टाया एवनतासवो भवंतीति। तत्तु उत्कमज्यायाः तदुक्तरीत्योत्क्रमचापकरणे युक्त्यभावात्। अत एव तस्या उत्क्रमो भवतु, प्रकारानीतधनुर्वा तदुक्तरीत्या विसंवाद इत्यलम्॥६८॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—अन्त्या—इष्टान्त्या=वाण (शर)। शर का क्रम चाप नतासु होता है।

यदि ग्रह क्षितिज और उन्मण्डल के मध्य में हो तो त्रिज्या से अधिक वाण (शर)= अन्त्या—इष्टान्त्या, के तुल्य होने से कैसे इसका चाप किया जाय ?

समाधान—

वाण (शर)—त्रिज्या=शेष। इसके असु चाप को (९०° नव्वे अंश (त्रिज्या) सम्बन्धी चाप की नित्य १५ घटी होने से, १५ घटी×६० =पल। १५ घटी×६०×६= असु)=५४००° असु में जोड़ने से स्वतः इष्ट सिद्धि होती है।

इस प्रकार श्लोक ६८ का सिद्धान्त स्पष्ट है।

इदानीमुन्नतकालस्य प्रकारान्तरमाह—

इष्टान्त्यका सा चरजीवयोना युक्ता च गोलक्रमतः क्रमोत्थाः।
तच्चापलिप्ताश्चरयुक्तहीनाः समुन्नतास्ते यदि वासवः स्युः॥६९॥

वा० भा०:—अथवा सेष्टान्त्यका उत्तरगोले चरज्यया हीना दक्षिणे युता। ततस्तस्याः क्रमज्याभिश्चापम्। तदुत्तरगोले चरेण युतं दक्षिणे हीनं सत् तत्काल-उन्नतासवो भवन्ति। यदेष्टान्त्यकायाश्चरज्योत्तरगोले न शुध्यति तदा चरज्याया इष्टान्त्या शोध्या। शेषस्य चापं तत्र चरं क्षेप्यं तदिह न क्षिप्यते व्यस्तविशोधने कृते "योगे वियोगः सुधिया विधेयः" इति वचनात् तच्चापं चराद्विशोध्यम्। शेषमुन्नतासवो भवन्ति। उन्नताद्दिनार्द्धाच्छोधितान्नतासवो भवन्ति।

अत्रोपपत्तिः;—इष्टान्त्यकाकरणे या क्षेत्रसंस्था कथिता सैवेह तथापीषत् कथ्यते :—इष्टान्त्यकायाश्चरज्या यावदुत्तरगोले शोध्यते, दक्षिणे तु क्षिप्यते, तावदुन्मण्डलादुपरितनकालस्य ज्या सूत्रसंज्ञा भवति। अतस्तस्या धनुरुत्तरगोले तून्मण्डलादधःस्थेन चरेण युतं, दक्षिणे तूपरिस्थेन हीनं सत् क्षितिजादुन्नतकालो

भवतीत्युपपन्नम्। यदा तूत्तरगोले चरज्या न शुध्यति तदा व्यस्तविशोधने कृते उन्मण्डलादधोमुखी ज्या सूत्रसंज्ञा भवति। अतस्तस्या धनुषि चराच्छोधिते सति क्षितिजादुन्नतकालो भवतीत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अतः यथा लाघवान्नतं विनैवोन्नतकालानयनमुपजातिकयाऽह। "इष्टांत्यका सा चरजीवयोना युक्ता च गोलक्रमतः क्रमोत्था रिति-सा पूर्वानीता-इष्टांत्या, उत्तरदक्षिणगोलक्रमेण चरज्यया हीना युता च कार्या। तच्चापलिप्ताः क्रमोत्थाः। संस्कृतसिद्धांकस्य क्रमप्रकारेण यद्धनुस्तस्य कला इत्यर्थः। नच पूर्वेषु क्रमज्या प्रसंगात्क्रमपदमितिध्येयम्। उक्त गोलक्रमात्। चरासुभिर्युक्ताहीनाश्च कार्या। ते निष्पन्नाः समुन्नतासवः, उन्नतप्राणाः प्रकारांतरेण भवंति। यदा तु चरज्या न इष्टांत्यात ऊनास्तदेष्टांत्ययोत्तरगोले चरज्या हीना। शेषस्य धनुश्चरकालाद्दूनः सन्नतकालः स्यात्। यत्र क्वचिच्छुद्धिविधावित्युक्तं तदिति ध्येयम्।

अत्रोपपत्तिः—चरज्ययोना युक्तोत्तरदक्षिणगोलक्रमेणेष्टांत्या सूत्रमुन्मंडलसूत्रात्क्रमज्या रूपम्। तस्य धनुः उन्मंडलग्रहांतरस्थद्युरात्रवृत्तप्रदेशस्थासवः। ते चर कालेन युतोनाः उत्तरदक्षिणगोलवशानां उन्नतप्राणा भवंतीत्युक्तप्रायं गोले प्रत्यक्षम्। यदा तु इष्टांत्योना चरज्योद्वृत्तसूत्रादधः सूत्रमतस्तच्चापेन हीनं चरकालमानमुन्नत मित्युत्तरगोले प्रत्यक्षमुक्तप्रायं च प्रागेव ॥६९॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—उत्तर दक्षिण गोलक्रम से इष्टान्त्या में चरज्या को घटाने और जोड़ने से आगत क्रमज्या के चाप में गोलक्रम से चरासु को जोड़ने और घटाने से भी उन्नत असु हो जाते हैं। जहाँ इष्टान्त्या में चरज्या नहीं घटती है, वहाँ चरज्या में ही इष्टान्त्या को कम कर शेष के चाप में जहाँ चरासु जोड़ना है वहाँ घटाना चाहिये। व्यस्तशोधन के गणित में, योग में वियोग करने से पूर्व नियम चरितार्थ होता है। अर्थात् शेष चाप को ही चर में घटाने से शेष का मान उन्नत असु होगा। उन्नत को दिनार्ध में घटाने से नत होता है, सुस्पष्ट है।

युक्ति—उक्त इष्टान्त्यका साधन क्षेत्र को यहां भी ध्यान से समझना चाहिए।

इदानीं छायातोऽर्कानयनमाह—

दिनार्द्धद्युतेस्त्रिज्यकाघ्नया हृतायाः स्वकर्णेन चापांशकाः स्युर्नतांशाः।
दिनार्द्धे वियुक्ता युतास्ते पलांशैरुदग्दक्षिणे भाग्रकेऽर्कापमः स्यात् ॥७०॥
ततः क्रान्तितो वैपरीत्येन भानुर्भवेदेतदन्यच्च गोले प्रवक्ष्ये।

वा० भा०:—मध्याह्नच्छाया त्रिज्यया गुण्या। मध्याह्नच्छायाकर्णेन भाज्या। यत् फलं लभ्यते तस्य चापांशा नतांशा भवन्ति। यद्युत्तरं छायाग्रं तदा दक्षिणाः, यदि दक्षिणं तदोत्तराः। एवं दिनार्द्धे ये नतांशा भवन्ति, ते यदि दक्षिणास्तदा पलांशैर्वियुक्ताः। यद्युत्तरास्तदा पलांशैर्युताः सन्तः क्रान्त्यंशा भवन्ति। ततः क्रान्तितो वैपरीत्येन रविर्भवतीति गोले वक्ष्ये। अन्यच्च बहु गोले वक्ष्ये।

अत्रोपपत्तिः ;—यदि मध्यच्छायाकर्णेन मध्याह्नच्छायातुल्यो भुजो लभ्यते, तदा त्रिज्याकर्णेन कः ? इति । यदनेन त्रैराशिकेन फलमुत्पद्यते सा याम्योत्तरवृत्ते खमध्यार्कान्तरांशानां जीवा; अतस्तस्या धनुर्नतांशाः । ते च छायातो दिग्वैपरीत्येन भवन्तीति प्रसिद्धम् । यदि ते दक्षिणा जातास्तदा तेभ्योऽक्षांशाः शोध्याः । शेषं विषुवन्मण्डलाद्दक्षिणतः क्रान्त्यंशा भवन्ति । यदि तेभ्यः पलांशा न शुध्यन्ति, तदा पलांशेभ्यो नतांशान् विशोध्य शेषं विषुवन्मण्डलादुत्तराः क्रान्त्यंशा ज्ञेयाः । यद्युत्तरा नतांशास्तदा पलांशैर्युताः सन्त उत्तराः क्रान्त्यंशा भवन्तीति सुधिया ज्ञातव्यम् ।

मरीचिः—अथ प्रसंगाल्लाघवेन मध्याह्नछायायाः सूर्यज्ञानं विवक्षुस्तत्रोपयुक्त क्रांत्यानयनमिंद्रवज्रयाऽह- "दिनार्धद्युतेरिति ।

अभीष्टदिने मध्याह्ने समभूमौ स्थापितलक्षणोक्तद्वादशांगुलशंकोः, छाया तन्मानं गणितात्प्रत्यक्षसिद्धाद्ग्राह्यम् । तस्यादित्यर्थः । त्रिज्यया गुणितायाः, स्वकर्णेन—छायावर्गचतुश्चत्वारिंशदधिकशतयोगमूलेनेत्यर्थः, भक्तायाः यत्फलं तस्योक्तप्रकारेण यद्धनुस्तदंशाः नतांशाः मध्याह्ने-स्वेष्टकाले भवंति । ते मध्याह्ननतांशाः । शंकुस्थानादुत्तरदक्षिणदिक्स्थे छायाग्रे सति । स्वदेशीयाक्षांशैः क्रमेण वियुक्तांतरिताः युताः संतोऽर्कापमः । सूर्यक्रांतिरंशापमः स्यात् । अर्केति ग्रहोपलक्षक्रांते नं स्वदिनार्धे या स्वछाया तस्याः सकाशादुक्तप्रकारेण स्वक्रांति रानीयेति वाच्यम् । सूर्यभिन्नग्रहस्य छायायास्तथाऽर्काद् भुज इति मध्याह्ने दृग्ज्याच्च तन्नतांशाः, छायाग्रस्य ग्रहापरदिक्स्थत्व नियमाच्छंकुस्थानादुत्तरे छायाग्रे दक्षिणाः, दक्षिणे-उत्तराः । यद्यपि प्रत्यक्षछायायाः बिंबोर्धनेमिजन्यग्रहापरदिक्स्थत्वनियमाच्छंकुस्थानादुत्तरे छायाग्रे, दक्षिणे क्रांत्यंशज्ञानार्थामनुपयुक्ताः । क्रांतेर्बिंबकेंद्रसंबंधत्वात् । तथापि केंद्रस्य बिम्बव्यासार्द्धेऽतरत्वाद्बिम्बव्यासार्धकलाभिर्युताः कार्या, इत्यस्योक्तप्रायत्वात्स्वल्पांतरत्वाच्च न क्षतिः । गणितागतछायातस्तु बिंबकेंद्रीया एवेति निर्विवादमिति ध्येयम् । ते यदाक्षांशेभ्योऽनल्पाः दक्षिणास्तदाक्षांशोनाः दक्षिणक्रांत्यंशाः, यदा दक्षिणा त्वनधिकास्तदा तदूनाक्षांशा उत्तरक्रांत्यंशा । यदोत्तरास्तदाक्षांशयुता उत्तरक्रात्यंशाः स्युरिति याम्योत्तरवृत्ते नतांशाक्षांशक्रान्त्यंशपूर्वप्रतिपादितस्वरूपदर्शनेन प्रत्यक्ष मत उपपन्नं दिनार्धद्युतेरित्यादि । नचेष्ट छाययाप्युक्तप्रकारेणेष्टफले नतांशानां सिद्धत्वात्कथं दिनार्धद्युतेरित्युक्तमिति वाच्यम् । इष्टकाले मध्याह्नभिन्नेऽक्षांशक्रांत्यंशयोरेकानयने भिन्नस्वरूपप्रतिपादनाद्दक्षिणोत्तरकोट्यसाधनात् । एकानयनवैपरीत्येन तत्सिद्धेर्गौरवाच्चोपेक्षितमिष्टछायायाः, सूर्यानयनमिति दिक् ॥७०॥

अथ सूर्यानयनमक्षांशज्ञानं चोपेंद्रवज्रयाऽह—"ततः क्रांतितो वैपरीत्येन भानुर्भवेदेतदन्यच्च गोले प्रवक्ष्ये" । नतांशापमाशांतरंतुल्यदिक्के युतिर्भिन्नदिक्त्वे पलांशा भवेयुरिति । ततः-क्रांतिसाधनानंतरं क्रांतेस्सकाशाद्वैपरीत्येन विलोमकर्मणा सूर्यः स्यात् । क्रांत्यशानां ज्या क्रांतिज्या । जिनांशमौर्व्या गुणितार्कदोर्ज्या त्रिज्यो-

द्धृता क्रांतिगुण इत्यनेन दोर्ज्यायाः क्रांतिज्यानीतायाः क्रांतिज्यायास्त्रिज्या गुणितायाः परमक्रांतिज्यया भक्तायाः फलं सायनांशार्कदोर्ज्या। तद्धनुः सायानार्कभुजः सूर्याद्यथाभुजस्तद्वैपरीत्येन भुजात्सूर्यः, अयनांशोनः स्पष्टः, स्पष्टसूर्यो मध्याह्निक-इत्यर्थः।

ननु विलोमक्रियायाः भुजात्सूर्यज्ञानं कथं भवति। भुजस्य त्रिराश्यनधिकत्वाच्चतुश्चरणेषु तत्संभवात्संशयग्रस्तत्वादत आऽह-एतदिति। भुजात्सूर्यज्ञानात्तद्धनुराद्ये पदे इत्यादिना गोले उत्तरार्द्धे यंत्राध्याये प्रवक्ष्ये। ननु तथापि पदज्ञानासंभवात्कथ मेतदत आह—अन्यदिति। पदज्ञानम्। चः समुच्चये। अब्दे-अब्द चरणानामृतुचिह्नैर्ज्ञानं स्यादिति तत्रैवोक्तमिति न कापि क्षतिः। ननु यत्पूर्वदेश-संबंधेनोक्तं तदंक्षाशज्ञानाधीनमित्यक्षांशज्ञानं पूर्वं तथा नोक्तमतआह—नतांशेत्यादि। तुल्यदिक्त्वे। मध्याह्नछायानीतनतांशाः सूर्यानीत क्रांत्यंशैरेकदिक्त्वे हीनारक्षांशा उत्तरगोले तु दक्षिणनतांशे तद्योगे अक्षांशाः भिन्नदिक्त्वे च क्रमेण नतांशक्रांत्यंशयो रंतरं योगश्चाक्षांशाः स्युः। नतांशदिग्ज्ञानं छायाग्रवशेननोक्तमेव ज्ञेयं तथा चाक्षांशज्ञानं व्यक्तमेवेति भावः।

अत्रोपपत्तिः—दक्षिणगोले नतांशाः क्रांत्यंशहीनाक्षांशाः। उत्तरगोले तु दक्षिणनतांशे तद्योगेऽक्षांशा उत्तरनतांशे तदंतरमक्षांशा इति पूर्वोक्तव्युत्पत्त्या-उपपन्नमुक्तम् ॥७१॥

दीपिका—दिनार्द्धे रविः याम्योत्तरवृत्ताहोरात्रवृत्तसम्पातेऽतस्तत्र छायया नतांशानयनं समुचितमेव। तदानयनामाचार्योक्तं मेव स्पष्टमिति।

शिखा—त्रिज्या गुणित मध्याह्न छाया में मध्याह्न छाया कर्ण का भाग देने से लब्ध फल का चाप मध्याह्नकालीन नतांश होता है। यदि छायाग्र उत्तर है तो नतांश दक्षिण के एवं दक्षिण छायाग्र में नतांश उत्तर के समझने चाहिए। नतांश अक्षांश का दिगैक्य में अन्तर, दिग्भेद में योग करने से क्रान्त्यंश होते हैं। क्रान्त्यंश ज्ञान से विपरीत क्रियया-रवि ज्ञान हो जाता है। इस विषय को आचार्य ने गोलाध्याय में विशेष रूप से कहा है। इसी प्रकार क्रान्ति और नतांश के ज्ञान से अक्षांश का ज्ञान भी सुगम है।

युक्ति—दिनार्धकाल में रवि, याम्योत्तरवृत्तस्थ होने से मध्याह्नकालीन छाया से नतांश ज्ञान करना उचित है।

जैसे, $\text{नतज्या} = \dfrac{\text{छा} \times \text{त्रि}}{\text{छा. क}}$। इसका चाप नतांश।

तथा, इष्टस्थानीय अक्षांश के ज्ञान से छायाग्र यदि दक्षिण हो तो अक्षांश $\sim$ नतांश $=$ क्रान्त्यंश होते हैं। छायाग्र यदि उत्तर की तरफ हो तो नतांश $\sim$ अक्षांश $=$ क्रान्त्यंश होते हैं। क्रान्ति ज्ञान के अनन्तर विपरीत क्रम से $\dfrac{\text{त्रि} \times \text{इष्टक्रान्तिज्या}}{\text{जिनज्या}} = \text{इष्टकालीन रवि}$ की भुज ज्या। इसका चाप प्रथम पदीय रवि होगा। एव द्वितीयतृतीयादि पद ज्ञान का प्रकार गोलाध्याय में विशद रूपेण मिलेगा।

विशेष वक्तव्य—आचार्य ने दृश्य छाया से गर्भीय नतांश का ज्ञान किया है। इसलिये आचार्य के उक्त प्रकार, में स्थूलता कहनी चाहिए। यह स्थूलता ऐसे स्थल में स्वीकृत नहीं होती।

यहाँ क्या स्थूलता है? वह निम्न भांति है। इसकी सूक्ष्मता के लिये—क्षेत्र देखिये—

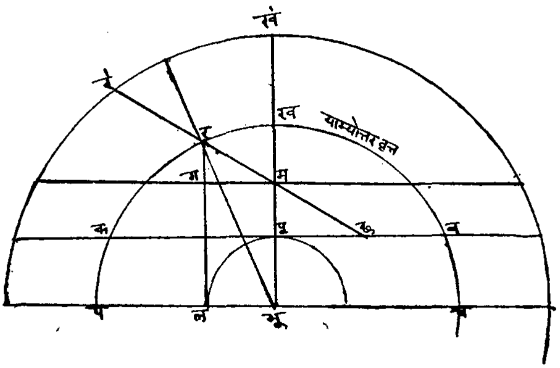

पं च=गर्भीय क्षितिज।
क व=पृष्ठीय क्षितिज।
प ख च=याम्योत्तर वृत्त।
र=रविः।
र ल=मध्याह्न शंकु।
पृ=पृष्ठ स्थान।
पृ म=१२ अंगुल शंकु।
पृ छ=दृश्य चाप।
छ म=छाया कर्ण।

पृ छ मत्रिभुज में कोणानुपात से ज्या∠पृ म छ=$\frac{\text{त्रि}\times\text{छा}}{\text{छा क}}$,

किन्तु ∠पृ म छ=∠ख म र

∴ ज्या∠ख म र=$\frac{\text{त्रि}\times\text{छा}}{\text{छा. क}}$

अतः म केन्द्र से जो त्रिज्या गोल, म ख (ऊर्ध्वाधर सूत्र) तथा म र सूत्र को बढ़ाने से कल्पित खं रं चिह्नों के अन्तरांशज्या पूर्व साधित कोण पृ म छ की ज्या होगी जिसका चाप=खं रं=साधित नतांश। ख र=गर्भीय नतांश के तुल्य खं रं पृष्ठीय नतांश को मानना भयंकर भूल है, जो आचार्य ने यहाँ पर की है।

सूक्ष्मता कैसे हो?—इसके लिये—

ज्या∠ख म र=ज्या∠भू म र=कोण की ज्या=(१८०-कोणज्या) से=साधित नत ज्या।

ज्या गर्भीय नत=ज्या∠भू र म=$\frac{\text{ज्या}\angle\text{भू म र (भू पृ+१२)}}{\text{त्रि}}$=इष्ट लम्बन ज्या।

यतः भू र=त्रि। भू पृ=भू व्यासार्ध। पृ म=१२ अंगुल शंकु।

∴इ. लम्बन ज्या= ∠भू र म=$\frac{\text{साधितनतज्या}\times\text{योग}}{\text{त्रि}}$ ∵यो=भूव्याद+१२

इसका चाप=इष्ट लम्बन।

आचार्य साधित नतांश—इष्ट लम्बन=गर्भीय नतांश।

इस प्रकार अव्यक्त कल्पना से उक्त विषय पर और भी अधिक प्रकार हो सकते हैं जिनको ग्रन्थ गौरव भय से यहाँ पर नहीं दिया जा सका है।

इदानीं क्रान्तिज्ञाने सति पलज्ञानमाह—

नतांशापमांशान्तरं तुल्यदिक्त्वे युतिर्भिन्नदिक्त्वे पलांशा भवेयुः ॥७१॥

वा० भा०:—एवं छायातो ये नतांशा ज्ञातास्तेषामपमांशानाञ्च दिक्साम्येऽन्तरं दिग्भेदे योगः पलो भवति।

पूर्वोपपत्तिकथनवैपरीत्येनास्योपपत्तिः कथिता भवति।

इदानीं छायातो भुजज्ञानमाह—

त्रिभज्याहृतार्काग्रिका कर्णनिघ्नी
भवेत् कर्णवृत्ताग्रका व्यस्तगोला।
पलच्छायया सौम्यया संस्कृता स्या-
द्भुजोऽथोत्तरे भाग्रके सौम्यगोले ॥७२॥
भुजः कर्णवृत्ताग्रयाढ्योऽन्यदासौ
वियुक्तोऽक्षभा स्यात् तया वा वियुक्तः।
भुजः सौम्यभाग्रेऽन्यदाढ्यस्त्रिभज्या-
हतः कर्णभक्तोऽग्रका चापमोऽतः ॥७३॥

वा० भा०:—अर्कस्याग्रेष्टच्छायाकर्णेन गुण्या त्रिभज्यया भाज्या फलं कर्णवृत्ताग्रका स्यात्। सा च व्यस्तगोला। उत्तरगोले याम्या; दक्षिणगोले सौम्या। सा पलच्छायया सौम्यया संस्कर्त्तव्या। पलच्छाया सदैव सौम्या ज्ञेया। तस्याः कर्णवृत्ताग्रायाश्चोत्तरगोलेऽन्तरं याम्ये योगो भुजः स्यात्। भुजो नाम छायाग्रपूर्वापररेखयोर्याम्योत्तरमन्तरम्।

अथ भुजदर्शने कर्णवृत्ताग्रया पलभाज्ञानमाह—"अथोत्तरे भाग्रके" इति। यदोत्तरगोले सममण्डलाद्दक्षिणगते रवावुत्तरं भाग्रं भवति, तदोत्तरभुजः कर्णवृत्ता-

ग्रया युतः सन् पलभा भवति । अन्यदा तु भुजस्य कर्णवृत्ताग्रायाश्चान्तरं पलभा ।

अथ दृष्टे भुजे पलभया कर्णवृत्ताग्राज्ञानमाह—"तया वा वियुक्तः" इत्यादि ।—यदा सौम्यो भुजस्तदा तस्यात्तभायाश्चान्तरमन्यथा योगः कर्णवृत्ताग्रा भवति । सा त्रिज्यागुणा कर्णभक्ताग्रा स्यात् । अग्रा पलक्षेत्रकोटिगुणिता तत्कर्णभक्ता क्रान्तिज्या स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः ;—समायां भूमौ त्रिज्यावृत्तं विलिख्य दिगङ्कितञ्च कृत्वा तत्र पूर्वतः पश्चिमतश्च यथादिशमग्रां दत्त्वा तदग्रयोरुदयास्तसूत्ररेखां कुर्य्यात् । अथोत्तरगोले इष्टकाले सममण्डलादुत्तरतोऽहोरात्रवृत्तस्थाद्रवेरधोऽवलम्बस्तदा किल शङ्कुः । शङ्कुमूलस्य प्राच्यपरसूत्रेण सहान्तरं स शङ्कोरुत्तरो भुजः । उदयास्तसूत्रेण सहान्तरं तच्छङ्कुतलम् । अत शङ्कुतलं यावदग्राया विशोध्यते तावद्भुजोऽवशिष्यते । यावद्भुजो विशोध्यते तावच्छङ्कुतलमवशिष्यते । शङ्कुतलभुजयोर्योगोऽग्रा भवति । यदोत्तरगोले समवृत्ताद्दक्षिणतः शङ्कुस्तदा शङ्कुतलादग्रायां विशोधितायां भुजोऽवशिष्यते । भुजे विशोधितेऽग्रा । भुजाग्रयोर्योगस्तदा शङ्कुतलं भवतीत्यत्र योगवियोगे किं वासनावैचित्र्यम् । इदं महाशङ्कोस्त्रिज्यातुल्ये कर्णे दर्शितम् । महाशङ्कुरनियतः । इदानीं नियतस्य द्वादशाङ्गुलशङ्कोरुच्यते ।—महाशङ्कुर्द्वादशभिर्भाज्यः । यल्लब्धं तेन महाशङ्कुर्यावच्छिद्यते तावद्द्वादश लभ्यन्ते । यावत् त्रिज्या छिद्यते तावत् छायाकर्णो लभ्यते । यावदग्रा छिद्यते तावत् छायाकर्णवृत्ताग्रा स्यात् । यावच्छङ्कुतलं छिद्यते तावत् पलभा स्यात् । यावद्भुजश्छिद्यते तावद्भुजो लभ्यते । अथ त्रैराशिकेन सर्वम् । यदि त्रिज्यावृत्ते इदमग्रादिकं लभ्यते तदा कर्णवृत्ते किम् ? इति । फलं तदेव । अतश्छायावृत्ताग्रापलभयोर्योगवियोगाद्भुजः । ततः पलभा ततश्चाग्रेत्युपपन्नम् ; किन्तु शङ्कुप्राच्यपरयोर्यावदन्तरं तावदेव छायाग्रप्राच्यपरयोः स्यात् ; किन्तु दिग्वैपरीत्येन । अतस्तेन कर्णवृत्ताग्रा व्यस्तगोला इत्युपपन्नम् ।

अथ मन्दावबोधार्थमुदाहरणम् ।—यत्र देशे पञ्चाङ्गुला विषुवती तत्रोत्तरगोले यदा पञ्चांशोनैः सप्तदशभिरधिका नवशत्यग्रा ९१६।४८। तत्र दिन इष्टच्छायाकर्णस्त्रिंशदङ्गुलः ३० पञ्चदशाङ्गुलो वा । तत्र पृथक् पृथक् भुजं ब्रूहि भुजात् पलभां ताभ्यां चाग्राम् इति । "त्रिभज्याहृतार्काग्रका" इत्यादिना त्रिंशदङ्गुले कर्णे ज्ञाता कर्णवृत्ताग्रा याम्या । इयं भुजे ज्ञाते तेन रहिता कर्णवृत्ताग्रा जाता पलभा ५ । पलभाभुजयोर्ज्ञातयोर्योगे जाता कर्णवृत्ताग्रा ८ । इयं त्रिज्यागुणा कर्णभक्ता जाताग्रा ९१६।४८ । एवं पञ्चदशाङ्गुले कर्णे कर्णवृत्ताग्रा चतुरङ्गुला ४ । सौम्यो भुजोऽङ्गुलम् १ । पलभा सैव ५ ।

मरीचिः—अथ दिक्साधने नलिकाबंधे चोपयुक्तं भुजानयनं तत्प्रसंगादन्यदपि भुजंगप्रयाताभ्यामाह—"त्रिभज्याहृतार्काग्रका कर्णनिघ्नी भवेत्कर्ण-

वृत्ताग्रका व्यस्त गोलेति ·········· कर्णभक्तोऽग्रकाचापमोऽत इति ॥७३॥ यत्र पल च्छाययेत्यत्र "छेचेति" सूत्रेण लकारस्य तुगागमात् गुरुत्वे न क्षतिः। अर्काग्रा-ग्रहाग्रा। स्वेष्टकालिकगणितागतछाया या कर्णेनानीतेन गुणिता त्रिज्या भक्ता, फलं कर्णवृत्ताग्रा व्यस्तगोला पूर्वाग्रोत्तराचेद्दक्षिणा। दक्षिणा चेदुत्तरेत्यर्थः। सौम्यया-उत्तरदिगीययाक्षभया। संस्कता, एक दिशि योगः भिन्नदिश्यंतरमिति संकेतात्संस्कृतेत्यर्थः। उत्तरगोले पलभाकर्णवृत्ताग्रयोरंतरं दक्षिणगोले तद्योगो भुजः, स्यादिति तात्पर्यार्थः, दक्षिणगोले-उत्तरो भुजः, उत्तर गोले-पलभा-कर्णवृत्ताग्रा शेषवशात्क्रमेणोतरदक्षिणो भुजः, स्यादिति तात्पर्यार्थः गोले उक्तम्। उत्तरपलभाऽत्र व्यस्तगोलेति लाघवार्थमुक्तम्। अन्यथा तत्संयोग-वियोगयोः भिन्नैक्यस्य दिक्क्रमेणोक्तत्वापत्तेः। अथानीतभुजस्य शुद्धत्वज्ञानार्थं लाघवार्थं वा कर्णवृत्ताग्राभुजाभ्यां पलभानयनमाह—अथेति। अनंतरे भाग्रके इष्टछायाग्रे, उत्तरा पूर्वापरसूत्रादुत्तरे सति। उत्तरगोले च। भुजो ज्ञातः, कर्णवृत्ताग्रया अत्र युक्त। अन्यथा—उत्तरगोले—दक्षिणे छायाग्रे दक्षिणगोले चेत्यर्थः। असौ, भुजः, वियुक्तांत्तरितः अक्षभा स्यात्। अथभुजाक्षभयो-रग्रानयनमाह—तथेति। तया पलभया, भुजः सौम्यभाग्रे। उत्तरे छायाग्रे वियु-क्तोऽतरितः। अन्यदा दक्षिणे, इष्टकालीनछायाग्रे युतस्ततो यो निष्पन्नोंऽकस्त्रिज्या गुण इष्टकालिकगणितागत छायाकर्णेन भक्तः, अग्रका स्यात्। सूर्य साधनार्थं क्रांत्यानयनमाह-अथइति। अतोऽग्रिकायाः सकाशात्क्रांतिः स्यात् पूर्वानुपात-रीत्याक्षकर्णो द्वादशकोटिस्तदाग्राकर्णो केत्यनेन क्रांतिज्या स्यात्ततो वैपरीत्येनार्क-ज्ञानसुलभमिति भावः।

अत्रोपपत्तिः—इष्टाहोरात्रवृत्तस्थग्रहादवलंबरूपशंकुमूलप्राच्यपरसूत्रयोर्याम्यो-त्तरपर्यन्तं याम्योत्तरमंतरं भुजः। सोऽग्राशंकुतलसंस्कारेणेति महाशंकोः कोण-शंकूपपत्तावुक्तः। तत्रमहाशंकोरनियतत्वेन नियतद्वादशांगुलशंकोः साधनार्थे महाशंकुद्वादशांशभक्तभुजो भुजः स्यात्। अतो महाशंकुद्वादशांशभक्ताग्राशंकु तलयोः संस्कारो लघुभुज इति सिद्धम्। महाशंकुकोटौ त्रिज्या कर्णस्तथा द्वादशां-गुलशंकुकोटौ महाशंकुभक्ते द्वादशगुणस्त्रिज्यारूपः कर्णोऽस्य च गणितागतछाया-कर्णयोः, कर्णत्वात्त्रिज्याकर्णे प्रसिद्धाग्रा तदा छायाकर्णवृत्ते किमितीत्यग्रा, लघु-शंकुतलं च पलभा तुल्यमेवेति प्रागुक्तमेव। तथा चानयोः पूर्ववत्संस्कारे भुजो ग्रह संबंधी लघुः। अथ यदंतरेण पूर्वापरवृताद्ग्रहो याम्योत्तरेण षड्भान्तरे छायोत्तर-याम्येति द्वादशांगुलशंकोरपि छाया पूर्वापरसूत्राद्विपरीतापतत्यतः पूर्वापरसूत्रा-द्भुजांतरेण छायाग्रं ग्रहाद्विपरीतदिक्कं भवति। अतो भुजस्य छायाग्रे, उत्तरे दक्षिणे उत्तरदक्षिणत्वम्। तत्सिध्यर्थमग्रायाः व्यस्तगोलत्वम्। पलभायाः उत्तरदिक्स्थ-त्वम्। शंकुतलस्य सदा दक्षिणत्वात्। विषुवद्दिने तत्प्रत्यक्षत्वाच्चेत्युक्त भुज साधनमुपपन्नम्। अथोत्तरगोले कर्णवृत्ताग्रायाः दक्षिणत्वात् पलभांतरंयद्युत्तरो भुजस्तदा कर्णवृत्ताग्रोनपलभायाः भुजत्वात्कर्णवृत्तेऽत्रयुतभुजः पलभास्यात्

कर्णवृत्ताग्रोभुजः पलभेत्युपपन्नम्। यदि दक्षिणो भुजस्तदाभुजोना कर्णवृत्ताग्रा पलभा स्यात्। दक्षिणगोलेत्तूक्तयोगे भुजत्वात्, अथोत्तरगोले दक्षिणभुजे पलभोनाग्रायाः भुजत्वात्पलभायुतभुजः कर्णवृत्ताग्रा। उत्तरभुजे त्वग्रोनपलभाया सत्वात् भुजोनपलभा कर्णवृत्ताग्रा, दक्षिणगोले तद्योगस्य भुजत्वात्पलभोनभुजः, कर्णवृत्ताग्रा ततः छायाकर्णप्रमाणेनेयमग्रा तद्वद् त्रिज्याकर्णेन केति मुख्याग्रा। अस्याः क्रांतिज्या स्यादेवोक्तानुपातेनेति श्लोकद्वयमुपपन्नम् ॥७३॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—भुजज्ञान—सूर्य की अग्रा को इष्ट छाया कर्ण से गुणा कर त्रिज्या से भाग देने से वह कर्ण वृत्तीय अग्रा होती है। ध्यान देने की बात है कि, ग्रह गोलीय त्रिज्या व्यासार्ध वृत्त की, उत्तरा या दक्षिण जैसी भी अग्रा हो, वह इस कर्णवृत्तीयव्यासार्ध वृत्त में व्यस्त गोलीय, दक्षिण या उत्तरा होती है। कर्णवृत्तीय अग्रा का सदा उत्तर गोलीय पलभा के साथ संस्कार करने से भुज होता है। छायाग्र पूर्वापर रेखा का याम्योत्तर अन्तर का नाम भुज है।

पलभाज्ञान—यदि उत्तर गोल में सममण्डल प्रवेश से दक्षिण दिग्गत रवि का उत्तर छायाग्र हो तो उत्तर के भुज का कर्ण वृत्ताग्रा के साथ योग करने से पलभा होती है।

भुज और पलभा के ज्ञान से कर्ण वृत्ताग्रा का ज्ञान—उत्तर भुज में पलभा के साथ अन्तर अन्यथा योग करने से कर्ण वृत्ताग्रा होती है। इस कर्णवृत्ताग्रा को त्रिज्या से गुणा कर छाया कर्ण से भाग देने से अग्रा (Amplitude of its sine.) होती है। अग्रा को अक्ष क्षेत्र की कोटि से गुणा कर अक्ष क्षेत्र के कर्ण से भाग देने से क्रान्तिज्या (Declination) होती है।

युक्ति—पारा आदि से समतल भूमि पर त्रिज्या वृत्त में दिक् साधन कर उसमें पूर्व और पश्चिम चिह्नों से यथादिक् अग्राग्र चिह्नों में जो सूत्र बांधा जाता है उदयास्त सूत्र उसेकहते हैं।

सममण्डल (Prime vertical) से उत्तर सूर्य में भूगर्भ विन्दुस्थ १२ अंगुल शंकु का छयाग्र दक्षिण की ओर होता है। यहाँ पर त्रिज्यागोलीय भुज=अग्रा—शंकुतल। सममण्डल से दक्षिण में छायाग्र उत्तर की ही ओर होगा। दक्षिण गोल में सर्वदा भुज= अग्रा+शंकुतल। उभय स्थितियों में कल्पना कीजिए कि त्रिज्याग्रीय भुज=अग्रा∓शंकुतल

$$\text{अतः अनुपात से छायाग्रीय भुज} = \frac{(\text{अग्रा} \mp \text{शंत})\ \text{छाया कर्ण}}{\text{त्रि}}\ ।$$

$$= \frac{\text{छा. क.} \times \text{अग्रा} \mp \text{छा. क} \times \text{शंत}}{\text{त्रि}} = \text{कर्ण वृत्ताग्रा} \mp \text{पलभा}$$

$$= \text{कर्ण वृत्ताग्रा} \mp \frac{\text{छा. क} \times \text{शं. त.}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{यतः शंकुतल} = \frac{\text{पलभा} \times \text{शंकु}}{१२}$$

अतः शंकुतल के उत्थापन से कर्ण वृत्ताग्रा $\mp \frac{\text{छा. क} \times \text{पलभा} \times \text{शंकु}}{१२ \times \text{त्रि}}$

$$= \frac{\frac{\text{छा. क} \times \text{पलभा}}{१२ \times \text{त्रि}}}{\text{शंकु}} = \frac{\text{छा. क} \times \text{पलभा}}{\text{छा. क.}} = \text{पलभा}$$

$=$कर्ण वृत्ताग्रा$\mp$पलभा ।

उत्तर छायाग्र में, उत्तरगोलीय भुज$=$पलभा$-$क. गो. अग्रा ।

दक्षिण छायाग्र में उत्तर गोलीय भुज$=$क. गो. अग्रा$-$पलभा ।

अतः पलभा$=$भु$+$क. गो. अग्रा । क. गो. अग्रा$=$पलभा$-$भुज ।

यतः $\frac{\text{कर्ण गोलीय अग्रा} \times \text{त्रि.}}{\text{छाया कर्ण}} = \text{अग्रा}$ ।

अतः क्रांज्या$= \frac{१२ \times \text{अग्रा}}{\text{अक्ष क्षेत्र के कर्ण}}$ ।

इसका चाप क्रान्ति होगी। क्रान्तिज्या ज्ञान का सिद्धान्त सम्यक् उपपन्न है। (आचार्य ने स्वयं अपने गोलाध्याय में इस विषय की विशेष व्याख्या की है।

इदानीं प्रश्नाः सोत्तराः। तत्र छायाकर्णे भुजेऽर्के च ज्ञातेऽथवार्काज्ञाने भुजद्वये कर्णद्वये च ज्ञाते यः पलभां वेत्ति तस्योत्कर्षमाह—

दृष्ट्वेष्टभां योऽत्र दिगर्कवेदी छायाद्वयं वा प्रविलोक्य दिग्ज्ञः ।
वेत्त्यक्षभामुद्धतदैववेदिदुर्दर्पसर्पप्रशमे स तार्क्ष्यः ॥७४॥

वा० भा०ः—स्पष्टार्थम् ।

मरीचिः—अथ शिष्यबुद्धिप्रत्ययार्थं देशकालीयपदार्थानयनं विचित्रप्रकारेण विवक्षुस्तावत् पलभानयनप्रकारौ वक्तुं तत्प्रश्नं विना तत्प्रतिपादनेच्छानुपपत्तेः कौतूहलाच्चेन्द्रवज्रयाह—तत्प्रश्नावाह-दृष्ट्वेष्टभां योऽत्र···तार्क्ष्य इति। अत्राभीष्टदेशे यः गणकः। दिगर्कवेदी। अभीष्टदेशीयपूर्वादि दिशोऽभीष्टकालीय राश्याद्यर्कं च वेत्तीति वेदी। तद्ज्ञानवानित्यर्थः। इष्टभां, ज्ञातसूर्यकालीनद्वादशांगुलशंकुछायां गणितसिद्धां दृष्ट्वा। ज्ञात्वेत्यर्थः। तद्देशीय पलभां यदि, ज्ञातसाधनेभ्यो गणितप्रकारेण जानाति। द्वितीय प्रश्नमाह—छाया द्वयमिति। अभीष्टदेशे पूर्वादिदिशो जानातीति छायाद्वयम्। अभीष्टदिनेऽभीष्टकालेन गणितागतछाया। अन्यस्मिस्तत्क्रांतितुल्यक्रांत्यवच्छिन्नेऽभीष्टकाले छाया-गणितसिद्धेति छायाद्वयमनेकदिनांतरितमित्यर्थः। न तु शंकुतल प्राच्यपरांतरद्वयं वीक्ष्येति ब्रह्मगुप्तोक्तव्याख्यावसरे कमपि कालं स्थित्वा पुनरेवमेवांतरं ग्राह्यमिति स्थूलोक्तेनैक दिनावच्छिन्नमेवेत्यर्थः। एतदुपपत्तौ दूषणग्रस्तत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वाद्गौरवत्वाच्च। प्रविलोक्य-ज्ञात्वा, वा प्रश्नांतरे। अक्षभुजकर्णज्ञानसंभवादर्कज्ञानेन क्रांतिज्यायाः सुलभत्वादिष्टकालीनछायाकर्णभुजक्रांतिज्यायाम्योत्तरभागानयनमिति प्रथम प्रश्नतात्पर्यार्थः। एवं स्वाभिमतछायाकालद्वयसंबधाभ्यां भुजाभ्यां

कर्णाभ्यांच ज्ञाताभ्यां पलभामानयतीति द्वितीयप्रश्न तात्पर्यार्थः। अग्रे, उदाहरण-श्लोके तथोक्तेः। सः, तदुत्तरदो गणक इत्यर्थः। उद्धतदैववेदिनः, दुर्दर्पसर्पप्रशमे। उद्धताः सर्वोत्कृष्टगोलादिज्ञानेनाग्रां दृशा न गणयंतः एवं ये, दैववेदिनः, अदृष्टज्ञा ये त्वदृष्टज्ञास्ते प्रत्यक्षेण गोलादिज्ञाः स्वतः सिद्धा इति गणका इत्यर्थः। तेषां ये दुर्दुपाः परोक्तिखंडनाधिक्यसंजातगर्वाः, त एव सर्पाः-तेषां-प्रशमे सर्वांशखंडनरूपनाशने। तार्क्ष्यः गरुत्मान् गरुडः तार्क्ष्य इत्य-भिधानाद्गरुडः स्यात्। ते न गणके द्वितीया भवंतीति भावः ॥७४॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—अभीष्ट देशीय पूर्वापरादि दिशा, एवं अभीष्टकालीन शंकु, सूर्य आदि को जान कर तथा इष्ट कालीन छाया अथवा अभीष्ट कालीन दो छायों को जान कर जो ग्रहगोलगणितज्ञदैवज्ञ तद्देशीय पलभा को जानता है, उस गणितज्ञ को जो गणित गोल ज्ञान में अपनी तुलना में दूसरे की गणना ही नहीं करते, दुष्टों के दर्प रूपी सर्प के प्रशमन के लिये मैं (उक्त पलभा ज्ञाता को) ऐसे दैवज्ञ को ही गरुड़ कहूंगा। अर्थात् यही अद्वितीय गणक है—यह भी भाव है।

इदानीं प्रश्नमाह—

भाकर्णे खगुणाङ्गुले ३० किल सखे याम्यो भुजस्त्यङ्गुलो-
ऽन्यस्मिन् पञ्चदशाङ्गुले १५ ऽङ्गुलमुदग्बाहुश्च यत्रेक्षितः।
अक्षाभां वद तत्र षट्कृतगजैः ८४६ यद्वापमज्यां समां
दृष्ट्वेष्टामनयोः श्रुतिश्च सभुजां द्रागब्रूहि मेऽक्षप्रभाम् ॥७५॥

वा० भा:—स्पष्टार्थं प्रश्नद्वयम्।

मरीचिः—अथ तत्प्रश्नद्वयतात्पर्यार्थवदत्र तदुदाहरणं शार्दूलविक्रीडितेनाह—भाकर्णे खगुणांगुले किल सखे याम्योभुजस्त्र्यंगुलः···मेऽक्ष प्रभामिति। हि सखे। यत्राभीष्टदेशे। भाकर्णे खगुणांगुले, त्रिंशदंगुलमितछायाकर्णावच्छिन्नेऽभीष्टक्रांत्यभिमतेष्टकाले दक्षिणो भुजस्त्र्यंगुलमितः। इति दर्शितः। निश्चयेन गणितागतछायाग्रं पूर्वापरसूत्राद्दक्षिणे अंगुलांतरेण दृष्टमन्यस्मिन्। इष्टकाल-भिन्नतत्का········भिमितेष्टकाले। ननु तद्दिन एवान्यस्मिन्काले, इत्यर्थः। पंचदशांगुले छायाकर्णे तदवच्छिन्ने, इत्यर्थः। उत्तरभुजः, अंगुल एकांगुलमितः ईक्षितः। तत्र गणितागतछायाग्रं पूर्वापरसूत्रादेकांगुलांतरेणोत्तरस्यां दृष्टम्। तत्र देशेऽक्षाभ्यां अक्षस्याभा छायां, पलभामित्यर्थः। वद-कथयेति द्वितीय प्रश्नो-दाहरणम्। प्रथमप्रश्नोदाहरणमाह—षट्कृतगजैरिति यद्वा प्रश्नांतरे षटकृताष्टभिः समां तुल्यं क्रांतिज्यां दृष्ट्वा वृहत्रिज्या प्रमाणेनैतन्मिता क्रांतिज्या ज्ञात्वा। अनयोरुक्तयोः कर्णयोर्मध्ये-इष्टामभीष्टां क्रांतिज्यां स्वभुजसहितां कर्णो स्व-भुजं वेत्यर्थः। ज्ञात्वा द्राक् शीघ्रमभिमतामक्षप्रभां ब्रूहि—कथय उक्त

क्रांतिज्या त्रिशदंगुलछायाकर्णे दक्षिणांगुलभुजानां ज्ञानेनोक्तक्रांतिज्या-पंचदशांगुलछायाकर्णकर्णांतरैकांगुलभुजानां ज्ञानेऽक्षभां वदेत्यर्थश्चेति प्रथम प्रश्नोदाहरणद्वयम्। एतेन द्वितीयप्रश्नसंबंधिभुजौ छायाकर्णौ चैकक्रांतीयाव-पेक्षिताविति स्पष्टमुक्तम्। तेनैकदिनान्तर्गतावेवापेक्षितावित्यस्य निरासः। विषुवदयनपूर्वोत्तरकालिकयोरेकदिनान्तर्गतयोरेवांगीकारापत्तेः। अन्यत्र पूर्वापर-कालयोः क्रांतिस्तुल्यत्वाभावात्। उक्तोदाहरणस्य तद्द्वितीयत्वाभावाच्च, अत्र प्रथम-द्वितीयप्रश्नोत्तरयोः क्रमेण कठिनत्वसुगमत्वाभ्यां द्वितीयप्रथमक्रमेणाग्रे तदुत्तर-योरुक्तत्वादुद्देशकोऽपि तत्क्रमेणैवोक्त इति। नचैवं प्रश्नश्लोकेऽपि विपरीत-कं व्यर्थं नाक्त मितिवाच्यम्। सूचीकटाहन्यायेन चतुर्मित पदार्थाश्रयक्रमेण प्रश्नयोरुक्तत्वादिति ध्येयम् ॥७५॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—हे मित्र ! किसी देश में (नगर) किसी समय, ३० अंगुल छाया कर्ण का दक्षिण भुज ३ अंगुल देखा गया है। अन्यत्र १५ अंगुल छाया कर्ण का उत्तर भुज भी १ अंगुल देखा गया है। तो वहाँ अक्षभा (पलभा) कितनी है ? बताओ। तथा जहाँ ८४६ के तुल्य क्रान्तिज्या और उक्त कर्णों में वहां के सभुज एक कर्ण को भी जानकर वहां की पलभा क्या है ? उसे बताओ।

प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह—

भाद्वयस्य भुजयोः समाशयोर्व्यस्तकर्णहतयोर्यदन्तरम्।
ऐक्यमन्यककुभोः पलप्रभा जायते श्रुतिवियोगभाजितम् ॥७६॥

वा० भा०—अत्रैको बाहुर्याम्यस्त्रयम् ३। तत्र कर्णस्त्रिंशत् ३०। अन्यः सौम्यो रूपम् १। तत्र कर्णः पञ्चदश १५। अनयोर्भुजयोरन्योऽन्यकर्णहतयोर्भिन्न-दिशोर्योगः ७५। अयं कर्णान्तरेण भक्तो जाता पलभा ५। एकदिशोस्त्वन्तरम्।

अस्योपपत्तिस्तावदुच्यते; सा चाऽव्यक्तक्रियया। अत्र पलभाप्रमाणं यावत्ता-वत् या १। इयं दक्षिणेन भुजेन युता जाता कर्णवृत्ताग्रा या १ रू ३। इयं त्रिज्यागुणा कर्णभक्ता जाताऽग्रा $\frac{\text{या. त्रि १ त्रि ३}}{३०}$। एवमन्यभुजादपि पलभा यावत् तावत् या १। इयमुत्तरेण भुजेनोना कर्णवृत्ताग्रा भवति या १ रू १। इयं त्रिज्यागुणा कर्णभक्ता जाताऽग्रा $\frac{\text{या. त्रि १ त्रि १}}{१५}$। अनयोरन्योऽन्यच्छेदगुणयो-श्छेदगमे समशोधनार्थं न्यासः $\frac{\text{या. त्रि १५ रू त्रि ४५}}{\text{या त्रि ३० रू त्रि ३०}}$। अनयोस्त्रिज्यापवर्त्ते कृते "एकाऽव्यक्तं शोधयेदन्यपक्षात्" इत्यादिना यावत्तावच्छेषं कर्णान्तरतुल्यं हरो जातः १५। रूपशेषमन्योऽन्यकर्णाहतभुजयोर्योगो जातो भाज्यः ७५। अत उपपन्नं "भाद्वयस्य भुजयोः समाशयोः" इत्यादि।

मरीचिः—अथोदाहरणक्रमेण प्रथमप्रश्नस्योत्तरं रथोद्धतयाऽह्—भाद्वयस्य भुजयोः समाशयोर्व्यस्त कर्णाहतयोर्यदंतरम्। ऐक्यमन्यककुभोः पलप्रभा जायते श्रुति वियोगभाजितमिति। गृहीतछायाद्वयसंबधेन ज्ञातभुजयोः व्यस्तकर्णहतयोः—स्वेतरभुजसंबंधि छायाकर्णाभ्यां क्रमेण गुणितयोरित्यर्थः। पूर्वापर दिक्सूत्रात्समाशयोः—अभिन्नदिशोर्याम्ययोरुत्तरयोर्वा यदंतरम्। अन्यककुभोः। अन्य दिशोर्याम्योत्तरयोर्यदैक्यं, तत् छायाकर्णयोरन्तरेण भक्तं। फलमक्षभा भवति। यथोदाहरणे भुजौ ३।१ एतौ। व्यस्तकर्णेन १५।३० गुणितौ ४५।३० अनयोर्याम्योत्तरदिशयो र्योगः ॥७५॥ कर्णान्तरेण १५ भक्तः-फलं पलभा पंचमिता। इदमानयनं साक्षदेशे द्वयोर्भुजयोरभावेन संभवति उक्तरूपभाज्यरूपसाधकस्याभावात् साध्यत्वापत्तेरित्युक्तोक्तयुक्तेः निरक्षे तु व्यस्तकर्णाहतयोर्भुजयोः सदान्तरमेवज्ञेयं शून्यमितपलभत्वादन्यथाव्यभिचारापत्तेरित्युक्त प्रायम्।

अत्रोपपत्तिः—बीजैकवर्णसमीकरणेन पलभामानं यावत्तावत् या १, इयं दक्षिणोत्तरभुजाभ्यां युतांतरिता च कर्णवृताग्राजाता पक्षत्रयभेदात्। समवृत्तादुत्तरस्थग्रहे-उत्तरगोले च या १। भु १ उत्तरगोले समवृत्ताद्दक्षिणस्थे ग्रहे या १ भु १ दक्षिण गोलस्थग्रहे या १ भु १। इयं त्रिज्या गुणा कर्णभक्ता जाताग्राक्रमेण। या. त्रि १ दभुत्रि १ या, त्रि १ उ उभुत्रि १। यात्रि १ भुत्रि १। द्वितीय भुजाद-
क १
प्यग्रा त्रिज्यावृत्ते। यात्रि १६० भुत्रि १। यात्रि १५ उभुत्रि क १ यात्रि १ उत्रि १
क १
तदा भुजक्रान्त्यूनराशिवृत्ताधिष्ठितत्त्वेन समत्वात्। इदं ज्ञातभुजद्वयसाधितमग्राद्वयतुल्यम्। तद्भुजकालीनक्रांत्योरुभयत्रैकराशिवृत्ताधिष्ठितत्वेन समत्वादत पक्षौ समछेदीकृत्य छेदगमे त्रिज्यापवर्त्तितौ च कृत्वा समशोधनार्थं पक्षयोः पदभेदेन च न्यासः। या. दिक १ द प्रभु। दक १, उत्तरगोले—उत्तरभुजयोश्च या दिक १ प्रभु. दिक १. उत्तरगोले उत्तरदक्षिणभुजः या प्रक १ द्विभुप्रक १ उत्तरे-प्र भुद्विक १ दक्षिण-या प्र क १ द्विभु प्रक १ गोले। या दिक द्विभु प्रक १ उत्तरभुजयोः यादिक १. प्रभु दिक १. अथैकाव्यक्तं शोधयेदन्यपक्षादित्यादिना प्र. क. १ द्विभुप्रक अन्यस्येतरस्माच्च पक्षादित्युक्तविधिना या प्रक १ द्वि। भुप्रक १ समशोधने कृते, एक गोलीययोरव्यक्तपक्षे कर्णांतरं यावद् गुणं रूपपक्षे तु व्यस्तकर्णगुणयोर्भुजयोरेकदिशोरंतर भिन्नदिशोर्योग इति सिद्धम्।

ततः शेषाव्यक्तेनोद्धरेद्रूपशेषं व्यक्तं मानं जायतेऽव्यक्तराशे रित्युक्तेन कर्णान्तरभक्तं रूपशेषे पलभामानं व्यक्तं सिद्धमत उपपन्नं भाद्वयस्येत्यादि।

ननूक्तयुक्त्या भिन्नगोलीय पक्षयोर्व्यस्तकर्णगुणितभुजयोरेकदिशो र्योगः भिन्नदिशो रंतरम्। कर्णयोगभक्तं पलभेति सिद्धं तत्कथमिदं नोक्तम्। अन्यथा श्लोकोक्तप्रकारेण तादृशस्थले पलभाया सिद्धत्वाद्व्यभिचारापत्तेः। न च भिन्नगोलीय

पक्षयो रसंभवान्न दोष इति वाच्यम्। तादृशस्थलस्य प्रसिद्धेः। क्रांते गोलद्वयेऽपि तुल्यत्व संभवात्। यथा पंचाक्षभादेशे गोलद्वयेऽग्रा ३०, उत्तरगोले कर्णः पंचदश १५ दक्षिणगोले पंचविंशतिः २५ कर्णवृत्ताग्रा क्रमेण दक्षिणोत्तरा खार्कत्रिज्या प्रमाणेन ३।४५।६।१५। क्रमेणोत्तरे-१।१५।११।१५। एवं तदग्रायां तद्देशे दक्षिणोत्तर गोलयोः क्रमेण कर्णौ १५।३२ भुजावुत्तरदक्षिणौ ८।४५।३ एवमन्यानि बहूनि ज्ञेयानि। अथैतदनुपपत्त्यैकदिनजभुजकर्णद्वयग्रहणमुचितम्। तथा सत्येकदिने गोलद्वया-संभवात्तत्स्थलाप्रसिद्धेः। न चैवं पूर्वोत्तरकालयोः क्रांतितुल्यत्वात्स्वभुजानीत त्रिज्यावृत्तीयाग्रयोः समत्वाभावात्समशोधनानुपपत्तिरिति वाच्यम्। स्वल्पांन्तरां-गीकारात्। न चैवं दिक्साधने तत्कालापमजीवयोरुक्तविवरादिफलविशेषस्य व्यर्थत्वापत्तेः। पूर्वापरकपालयोः कदाचित्कर्णयोस्तुल्यत्वे च कतिवियोगमानित-मित्यनेन खहरत्वापत्त्या पलभानुपपत्तेश्चेति वाच्यम्। क्षितिजयाम्योत्तरवृत्तां-तरस्थ द्युरात्रवृत्तसंचरणकालयोरेककपाल·········तयोरेवांगीकारात्। अग्रांतरस्य ततोप्यल्पत्वाच्च समत्वग्रहे न क्षतिः। अत एव प्राच्यपराशंकुतलांतरद्वयव्यस्त-कर्णावप्यविवरसम दिग्विषुवच्छायान्यदिगैक्यं कर्णविम्बहृतमिति ब्रह्मगुप्ताचार्य-व्याख्योपक्रमे सलिलकृतसमायामवनौ साधनं कृत्वा ततोऽभीष्टे काले तथाशंकुं विन्य-सेद्यथाप्राच्यपररेखायां छायाग्रं पतति तच्छंकुमूलस्य प्राच्यपरायाः याम्योत्तर-मंतरं ग्राह्यं ततस्तस्मिन्नेव कपाले यावदर्क स्तिष्ठति तावत्तथैव द्वितीयमंतरं ग्राह्यं कियत् कपाले गते प्रथमछायाग्र एव छायाग्रं कृत्वा द्वितीयमन्तरमेव प्राच्यपराशंकुं तलान्तरद्वयमित्युक्तं चतुर्वेदाचार्यैः युक्तश्चैतत्—भवदीयाभिमतकालांतरादभिमत-कालांतरस्याल्पत्वात्पलभासाधने प्रयासाल्पत्वात्। न च विषुवत्क्षणे पूर्वोत्तर-कालयोरेककपालीययोरेकदिनांतरितयोर्गोलभेद संभवादुक्तविशेष कथनापत्तेरिति तुल्यमिति वाच्यम्। तादृशस्थलस्य कादाचित्कत्वेनोपेक्षाविषयत्वांगीकारात्। किंच, तद्दिने भुजस्य पलभा सत्वेनोपपत्तिसिद्धप्रकारेण श्लोकोक्तप्रकारेण च पलभा संवादात्। यथारविः। ५।२६।५६ क्रांतिज्या ०।१।३७ द्युज्या ३४३८ पलभा ५ इष्टघटी ४ कुज्या ०।०।४० सूत्रम् १३६७३ उद्वृत्तना ०।३७ यष्टिः २२८।३२ इष्टशंकुः १२८६।३२।३७ छायाकर्णः ३१।५९ अग्रोत्तरा १।४५ तलान्तरद्वयमित्युक्तं चतुर्वेदाचार्यैर्युक्तं चैतत्। कर्णवृताग्रा दक्षिणा ०।१ उत्तरो भुजः ४।५६।५६ एवं सूर्यः ६।०।४ इष्टघटी १२ सूत्रम् ३२८८।५६।४५ यष्टिः ३०३५।५०।४६। इष्टशंकुः ३०३५।५९ छायाकर्णः १३।३६ भुजः ५।०। व्यस्तकर्णगुणयो र्भुजयो-१६०।६९ योगः २२८ कर्णयोग-४५।३६ भक्तः फलं पलभा ५।१ अथवा तदंतरं ६५ कर्णांतर-१६।१४ भक्तं पलभा सैवति। षष्ठपक्षस्यासिद्धेश्चोक्तविशेषं विनैव निर्वाहादिति चैतत्। सूक्ष्मगणितकरणेऽवश्य संवादाभावात्। भुजयोरतुल्यत्वात्। नहि-भिन्नभाज्ययोर्योगे हरयोगेन भक्ते यत्फलं तदेव भाज्यांतरे हरांतरभक्ते फलम्। येन विशेषानावश्यकत्वं स्यात्। किंच स्वभुजाभ्यां स्वकालीनाग्रयोरतुल्यत्वस्य प्रत्यक्ष-सिद्धत्वेन समशोधनकरणानुपपन्ने, इत्युपपत्तेः दोषग्रस्तत्वात्।

अथ यत्रैकानयनेन छायाद्वयसंभवस्तच्छायानीतभुजयोर्ग्रहृतदानीताग्रयोस्तुल्यत्वात्समशोधनानुपपत्तिर्न स्यात्। एकानयने छायाद्वयस्यैकाकात्य साधनात्। अतएव लक्ष्मीदासमिश्रैः भाद्वयस्येति व्याख्याने यत्र छायाद्वयं संभवति तत्रत्य भुजावित्युक्तम्। अन्यथा भाद्वयस्येति तस्यानावश्यकत्वापत्तेः। तस्मादक्षभानयनार्थमेकानयनप्रकारानीतछायाद्वयाद्भुजद्वयं कर्णद्वयं ज्ञेयमिति फलितम्। तत्तु दक्षिणगोले संभवति। भिन्नगोलाश्रितपक्षासंभवः, सुतरामित्युपपन्नं श्लोकोक्तमेवेति चेत्—एकाननयनस्य मूलकृत्कल्पितत्वात्पूर्वाचार्योक्तैः तत्पलभानयनस्य भवत्कल्पिताभिप्रायानाश्रयत्वात्। अन्यथाचार्यकृतैकानयनप्रागल्भ्य व्यर्थत्वापत्तेरिति चेत्। उच्यते। समाशयोरिति पदस्यावृत्योक्तविशेषोक्तेस्तथाहि-समाशयो र्गोलेन समाशयोरेकगोलीययोरित्यर्थः। सममाशयोः। पूर्वोत्तरसूत्रदिक् दिशयो भुंजयोरंतरम्। एकगोलीययो र्भिन्नदिशो र्भुजयोरैक्यं कर्णयोरंतरेण भक्ते कार्यमित्यर्थः। तथा च भिन्नगोलीययोर्भुजयोर्यथोक्तं न कार्यम्। किंतूक्तवैपरीत्या नैकदिशयोस्तादृशभुजयोरैक्यं भिन्नदिशोरंतरं, कर्णयोर्योगेनभक्तं पलभास्यादित्युक्तप्रायम्। अन्यथा पूर्वमन्यककुभोरैक्यमित्यस्यैवोक्तत्वापत्तेः।

एकगोलीयतः समक्रांतिकालयोः कर्णसमत्वाभावान्नोक्तदोषश्च, अथोक्त रीत्योपपन्नप्रकारेणैकदिने-एककपालेऽपि पलभासाधने स्वल्पांतरस्य दृग्विविषयत्वाभावान्न क्षतिरिति ध्येयं चतुर्वेदाचार्योक्तम्। प्रथमं शंकुमूलप्राच्यपरयोर्यदन्तरं तद्भुजस्ततः शंकुः कोटिः, छायाकर्णः कर्ण इति। तयोर्वर्गविशेषमूलं दिग्रेखायां प्राच्यपराकोटिरेवं द्वितीयांतरेणापि योज्यम्।

ततो दिङ्मध्यात्स्वछायानुसारेणोपरि द्वयोरपि छायाकर्णौ द्वादशांगुलशंकोर्मस्तकप्रापिणौ सदैवं स्थिते प्रथमत्रैराशिकम्। यदि प्रथमछायाकर्णस्य तन्मूलदिगंतरं भुजस्तद्द्वितीयछायाकर्णतुल्यप्रथमकर्णखंडस्य क इत्यतो द्वितीयछायाकर्णेन प्रथमभुजस्य वधः······प्रथमछायाकर्णश्च तस्य वधराशेर्हरः फलं प्रथमछायाकर्णे द्वितीयछायाकर्णे तुल्ये प्रदेशेऽवलंबितसूत्रस्य प्रथमछाया रेखायाश्च संपातस्तस्य स्वप्राच्यपरसूत्रस्थप्रदेशं यद्याम्योत्तरमंतरं भवति। तत्र चांतरं रेखायां द्वितीयं शंकुतलं भवति। कृते तस्य प्राच्यपरया सहसिद्धं भवति तच्चान्तरं समछेदेन क्रियतेऽतो वधछेदेऽन्य प्रथमकर्णेन द्वितीयभुजं गुणयित्वा विशोध्यते तेनोक्तं प्राच्यपराशंकुतुलान्तरद्वयव्यस्तकर्णवधविवरमित्येवम्। यदि शंकुतलछायाद्वयसंभवस्तच्छायानीतभुजयो र्ग्रहे तदानीताग्रयोस्तुल्यत्वात्समशोधनानुपपत्तिर्नस्यात् एकानयने छायाद्वयस्यैकक्रान्त्यासाधनत्वात्। अतएव लक्ष्मीदास मिश्रैर्भाद्वयस्येति व्याख्याने यत्र च्छायाद्वयं संभवति तत्रत्यौ भुजावित्युक्तम्। अन्यथाभाद्वयस्येत्यस्यानावश्यकत्वापत्तेः। तस्मादक्षभानयनार्थ मेकानयन प्रकारानीतच्छायाद्वयं भुजद्वयं कर्णद्वयं ज्ञेयमिति फलितम्। तत्तु दक्षिणगोले संभवतीति भिन्नगोलाश्रित पक्षासंभवः, सुतरामित्युपपन्नं श्लोकोक्तमेवेति चेत्—एकानयनस्य मूलकृत्कल्पितत्वात्पूर्वाचार्योक्तैस्तत्पलभानयनस्य भवत् कल्पिताभिप्रायानाश्रयत्वात्।

अन्यथा—आचार्यकृतैकानयनप्रागल्भ्यव्यर्थत्वापत्तेरिति चेत्। उच्यते, समानयोरितिपदस्यावृत्त्योक्तविशेषोक्तेस्तथाहि—समयोर्गोलेन समयोरेकगोलीययोरित्यर्थ समाश्रयोः पूर्वापरसूत्रादेकदिश्येकभुजयोरंतरं एकगोलीययोर्भिन्नदिशोर्भुजयोरैक्यम्। कर्णयोरन्तरेण भक्तं कार्यमित्यर्थः। तथाच भिन्नगोलीययोर्भुजयोर्यथोक्तमपि, किन्तूक्तवैपरीत्यं तेनैकदिशयोस्तादृशभुजयोरैक्यंभिन्नदिशोरन्तरम्। कर्णयोर्योगेन भक्तं पलभास्यादित्युक्तप्रायम्। अन्यथापूर्वमन्यककुभोरैक्यमित्यस्यैवोक्ततुल्य कोटेः शंकुतलांतरं भुजस्तदा द्वादशांगुलशंकुना किमिति पलभेति। अत एव गणेशदैवज्ञैः भुजौ त्रिज्यावृत्तीयौ कृत्वा भुजयोरेकान्यदिशोरंतमैक्यमिति वक्ष्यमाणरीत्या शंकुतलांतरं व्यस्तकर्णहतभुजयोरंतरं योगस्य यथासंभवं त्रिज्यागुणः कर्णघातभक्त-इति रूपं विधाय ततस्त्रिज्यावृत्तेऽनुपातेन महाशंकुं प्रसाध्य तदनेन शंकुकर्णांतरंद्वादशगुणं त्रिज्यागुणं कर्णघातभक्तमितिरूपं प्रसाध्योक्तानुपातेन पलभानयने कर्णघातत्रिज्याद्वादशानां गुणहररूपाणां तुल्यत्वेन नाशादुक्तमुपपन्नमित्युक्तम्। इदं चाग्रायमभयासाम्यम् भक्तेत्यैवान्यथोक्तरीत्या शंकुतलांतरं न स्यात्। एवं भिन्नगोलीयभुजयोरेकदिक्योगेन शंकुतलयोगः भिन्नदिगन्तरेण शंकुतलयोगः तत्र महाशंकुयोगस्यैवोक्तरीत्या कोटित्वात्तद्योगेनैवोक्तरीत्या व्यस्तमुपपन्नमितिध्येयम्। नव्यास्तूक्तसमवृत्तस्थग्रहे पलभाकर्णवृत्ताग्रासाम्यात् भुजाभावइत्यूचुस्तत्कालीनकर्णवृत्तायाः भुजसम्भवकालीनकर्णेन तत्कालीनकर्णवृत्ताग्रा तदा भुजाभावकालीनकर्णेन केत्यनुपातानीता पलभैव। अयं प्रकारस्त्रिज्यावृत्तीयाग्रयोः साम्यादन्यथानुपातासंभवापत्तेः। तथा च द्वितीयकर्णः प्रथमकर्णवृत्ताग्रयांगुलद्वयमपि उक्तसमवृत्तस्थग्रहे पलभाकर्णवृत्ताग्रासाम्याद्भुजाभाव इत्यंतरकालीन कर्णवृत्ताग्रायाः भुजसम्भवकालीनकर्णेनत्कतालीनकर्ण वृत्ताग्रा तदा भुजाभावकालीनकर्णेन केत्यनुपातानीता पलभैव। अयं प्रकारस्तूक्तत्रिज्यावृत्तीयाग्रीयसाम्यादेवान्यथानुपातासंभवापत्तेः। तत्र भुजस्य संभवकालीनस्य प्रथमत्वद्वितीयत्वं भुजाभावकालीनस्येति संकेतादुच्यते। तथा च द्वितीयकर्णः प्रथमकर्णवृत्ताग्रया गुण्यः प्रथमकर्णभक्तः पलभेत्यत्रगुणस्य खंडद्वयम्। तत्रोत्तरगोले, उत्तरभुजे भुजतुल्यमेकमृणं द्वितीयं पलभातुल्यं धनम् दक्षिणभुजे भुजतुल्यं धनमेकं पलभामितं परं धनम्। दक्षिणगोले भुजतुल्यं धनमेकं द्वितीयं पलभामितमृणम्।

अत्रोत्तरगोले द्वितीयकर्णप्रथमभुजयोर्घाते पलभाकर्णांतरगुणितेत्युपपद्यते। तथाहि—पलभा कर्णवृत्ताग्रान्तररूपो भुजो गुणः, पर १ अवाअ १ प १ गुण्योऽपि दक्षिणोत्तरभुजयोर्द्वितीय कर्णात्प्रथमकर्णस्य क्रमेणाधिकन्यूनत्वात्कर्णांतरोनयुतप्रथम कर्णः। अ १ प्रक १ वा। अ १ प्रक १ गुण्यः पृथग्गुणकखंडसमो निवेश्यस्तैः खंडकैः क्रमहतः सहितो यथोक्तया। स्वयोरस्वयोः स्वं वधः स्वर्णघाते क्षयो भागहारेऽपि चैवं निरुक्तमित्युक्तरीत्या गुणतत्फलखंडचतुष्टयात्मकः। अप १ प्रकप १ अं अं १ प्रकअ १ वा अप १ प्रकप १ अं अ १। अत्र द्वितीयचतुर्थखंडयोर्योगो प्रथमकर्णगुणितो भुजः सिद्धः। तथाऽत्र खंडत्रयात्मकं गुणनफलम्। अंप १ प्रकभु १ अं अ १ अत्रापि प्रथमकर्णगुणितो भुज-

स्तूक्त द्वितीयकर्णात्प्रथमकर्णो यावताऽधिकन्यूनस्तत्तुल्यकर्णो या कर्णवृत्ताग्रात इति भुजः, प्रथमकर्णः, पलभाग्रांतरस्य भुजत्वात्।

अतः कर्णांतरं त्रिज्याभक्तं मुख्याग्रया गुण्यं फलं प्रथमकर्णगुणमिति सिद्धम्। तत्र प्रथमकर्ण एवाग्रागुणितस्त्रिज्याभक्तः फलं कर्णांतरगुणितं कृतम्। समानत्वाल्लाघवाच्च। तेन प्रथममग्राकर्णांतर गुणेति द्वितीयं सिद्धं खंडमिति द्वितीयतृतीययोः खण्डयोः समानत्वाद्धनर्णत्वा न्नाशात्प्रथमखडं सिद्धमतः प्रथमभुज द्वितीयकर्णघातः कर्णान्तरभक्तः फलं पलभेति सिद्धम्। एवं दक्षिणगोलेऽपि-द्वितीयकर्णप्रथमभुजयोर्घातो पलभाकर्णयोर्योग गुणितोत्पद्यते। तथाहि—द्वितीय कर्णस्तूक्तकर्णांतरेण हीनयुतप्रथमकर्णः। अं १ प्रक १ वाअं १ प्रक १ भुजगुणः। अंभु १ प्रकभु १ वा। अंभु १ प्रकभुवा १। अत्रांतरे क्रमेण कर्णयोगेन द्विगुणप्रथमकर्णः द्विगुणप्रथमकर्णोनकर्णयोगो वयो १ प्रकरवा। यो १ प्रक २, क्रमेणार्णधनभुजगुणंमंतरभुजघातखंडद्वयात्मकः यो भुजः १ प्रकभु २ सिद्ध एवं खंडद्वयात्मको द्वितीयकर्णप्रथमभुजघातः योभु २ प्रकभु २ प्रकभु १। अत्र द्वितीय तृतीययोर्योगे खंडद्वयात्मकं गुणनफलं १ योभु १ प्रकभु १ अत्र भुजस्य पलभाग्रायोगत्वात् कर्णगुणं कर्णयोगतुल्यकर्णे याग्रा सैव भुजइत्यग्रागुणः कर्णयोस्त्रिज्याभक्तः फलं प्रथमकर्णानुपातरीत्या प्रथमकर्णवृत्ताग्रा कर्णयोगगुणा।

तथा च खंडद्वयं योभु १ अं १ अत्राग्रोऽनभुजः पलभेति पलभायोगगुणितसिद्ध तद्घातो योगभक्तः फलं पलभेति।

अथ यत्र समवृत्तकर्णादपि द्वितीयकर्णो न्यूनाधिकस्तत्र कर्णवृत्ताग्रायाः पलभा तुल्यत्वाभावादुत्तरदक्षिणो भुजो भवत्येव। तत्रापि तत्कर्णात्समकर्णमानीयोक्तरीत्या पलभा। तत्साधनं तु द्वितीयभुजतुल्यकर्णवृत्ताग्रा संबंधिकर्णप्रथमभुजघातेन युतो हीनश्च समकर्णप्रथमभुजघातो भाज्य तथा च मुख्याग्रया त्रिज्यावृत्ते लभ्यते तद्द्वितीयभुजतुल्यकर्णाग्रया किमित्यनुपातेऽग्राभक्त त्रिज्यागुण संज्ञः। तेन गुणः द्वितीयभुजप्रथमभुजघातेन युतो हीनश्च द्वितीयकर्णप्रथमभुज घाते इति पर्यवसितम्। कर्णात्समकर्ण इति द्वितीयभुजतुल्यकर्णवृत्ताग्रासंबंधि कर्णेन न्यूनाधिकः समकर्णो द्वितीयक्रमेण द्वितीयकर्णप्रथमभुजघातो द्वितीयभुजतुल्यकर्णवृत्ताग्रासंबंधिकर्णप्रथमभुजघातेन युतो हीनश्च समकर्णप्रथम भुजघातो भाज्यः। तथा च मुख्याग्रया त्रिज्यावृत्तं लभ्यते तदा द्वितीयभुजतुल्यकर्णाग्रया किमित्यनुपातेऽग्राभक्तत्रिज्या गुणसंज्ञः। तेन गुणा द्वितीयभुजप्रथम भुजघातेन युतो हीनश्च द्वितीयकर्णप्रथमभुजघात इति पर्यवसितम्। अत्र प्रथमभुजरूपं तूत्तरगोले गुणभक्त प्रथम कर्णेन हीना पलभोत्तरो भुजः दक्षिणस्तु पलभोनो गुणकभक्तप्रथमकर्णो भुजः।

प्रक १ पगु १। वा प्रक १ पगु १ गुणगुणितद्वितीयभुजेन गुणितस्त तुल्यगुणहरयोर्नाशात्सिद्धम्। द्विभु प्रक १ द्विभु पंगु १ द्विभु गुक १ द्विभु पंगु १। एवं दक्षिणगोलेऽपि। यथा द्विभु प्रक १ द्विभु पगु।

अथोत्तरगोले उक्तरीत्या द्वितीय भुजस्योत्तरत्वे प्रथमभुजस्योत्तरत्वे चानेन द्विभु प्रक १ द्विभु पगुए प्रथमभुजस्य दक्षिणत्वेन द्विभु १ द्विभु प्रक १ द्विभुपगु युतः प्रथमद्वितीय भुजस्य दक्षिणत्वेन द्विभुपक १ द्विपभुगु १ प्रथमभुजस्य दक्षिणत्वेऽनेन द्विभु प्रक १ द्विभु १ द्विभु पगुर संशोध्यमानं स्वमृणत्वमेति स्वत्वं क्षयस्तद्युत्तिरुक्तवच्चेत्युक्तरीत्या शोधने प्रथमभुजस्योत्तरदक्षिणत्वे क्रमेणानेन द्विभुजप्रक १ द्विभु पगु १ द्विभु प्रक १ द्विभु पगु १ युतस्तत्र योगे युतिः स्यात् क्षययोः स्वयो र्वा धनर्णयोरन्तरमेव योग इत्युक्तरीत्या प्रथम खंडयोजने भाद्वयस्येत्याद्यन्यककुभो रित्यंत मुपपन्नम्।

द्वितीयखंडस्य द्वितीयभुजपलभागुणकघाततुल्यस्य धनर्णस्य योजने तद्योगस्तेनहीनस्तदंतरंमनेन युत इति भाज्यस्वरूपं सिद्धम्। एवं प्रथमभुजस्य दक्षिणगोलार्धत्वे, द्वितीयभुजस्योत्तरदक्षिणत्व क्रमेणानेन—द्विभु पगु पगु १ युतो हीनश्च। तत्रोक्तरीत्या समाशयोर्योगो द्वितीयखंडयुतः भिन्नदिशोरंतरं द्वितीयखंडोनमिति व्यस्तं सिद्धम्। हरस्तूत्तरगोले समकर्णप्रथमकर्णांतरम्। प्रथमभुजस्य दक्षिणगोलीयत्वे कर्णयोगश्च। अत उत्तरगोले भुजयोरुत्तरत्वे दक्षिणत्वे वा कर्णांतरं द्वितीयभुजगुणघातयुतं हरः। क्षेपांतरेण द्वितीयकर्णस्य समवृत्तकर्णान्न्यूनत्वाधिकत्वात्। एवं प्रथमभुजस्योत्तरत्वे द्वितीयभुजस्य दक्षिणत्वे कर्णांतरं ज्ञेयं हीनं प्रथमकर्णाद्द्वितीयककर्णस्याधिकत्वात्। एवं प्रथमभुजस्य दक्षिणत्वे द्वितीयस्योत्तरत्वे कर्णांतरं ज्ञेयं हीनम्। प्रथमकर्णस्याधिकत्वात्। एवं दक्षिणगोलीयप्रथमभुजे द्वितीयभुजस्योत्तरदक्षिणत्वे कर्णयोगः क्षेपेण युतो हीनश्च हरः स्यात्। तथा च भाज्यस्य यथाक्षेपो धनर्णरूपस्तथा हरस्यापीति सिद्धम्। तत्र फलस्य पलभात्वेन हरक्षेपाद्भाज्यक्षेपस्य पलभागुणितत्वाद्भाज्यभाजकयोः क्षेपविना या लब्धिः सैव क्षेपदानेऽपीति लाघवादात्माश्रग... हरक्षेपास्तूक्ताः।

अतः श्रुतिवियोग भाजितमित्युक्तम्। वैपरीत्याद्भिन्नगोले कर्णयोगभक्तमित्युपपन्न ॥७६॥

अथ द्वितीयः प्रश्नः। अथवा षट्कृतगजै ८४६ स्तुल्यां क्रान्तिज्यां दृष्ट्वा तयोरेकं कर्णं भुजञ्च दृष्ट्वा पलभां ब्रूहीत्यस्योत्तरमाह

क्रान्तिज्याकर्णबधात् त्रिज्याप्तकृतिर्लघुः स दोः कृत्या।
हीनोऽब्धिमनु१४४घ्नःस्यादाद्योऽथ परौ भुजः कृतेन्द्र १४४ घ्नः॥७७॥
तौ लघुवेदेन्द्रा १४४न्तरभक्तौ परवर्गतो यदाद्याढ्यात्।
मूलं परयुतवियुतं सौम्ये याम्ये भुजे पलभा ॥७८॥

वा० भा०:—क्रान्तिज्योद्दिष्टच्छायाकर्णेन गुण्या त्रिज्यया भाज्या। फलस्य वर्गो लघुसंज्ञः पृथगनष्टः स्थाप्यः। स लघुर्भुजवर्गेणोनो वेदेन्द्रैः १४४ गुण्यः। स आद्यसंज्ञः स्यात्। अथ भुजो वेदेन्द्रैः १४४ गुणितोऽन्यसंज्ञः स्यात्। तावा-

द्यान्यौ तस्य लघोर्वेदेन्द्राणां १४४ चान्तरेणापवर्त्यौ। ततोऽन्यवर्गोदाद्येन युताद्यन्मूलं तदुत्तरे भुजे सति परेण युतं याम्ये वर्जितं पलभा भवतीति सूत्रार्थः।

अस्योपपत्तिर्मध्यमाहरणबीजेन। यदा त्रिंशदङ्गुलः कर्णः, यत्र त्र्यङ्गुलो ३ याम्यो भुजः, षट्कृतगजैस्तुल्या ८४६ क्रान्तिज्या, तत्र तावदुच्यते।—पलभाप्रमाणं यावत्तावत् या १। इयं याम्येन भुजेन युता जाता कर्णवृत्ताग्रा या १ रू ३। अथ प्रकारान्तरेण कर्णवृत्ताग्रा।—तत्र क्रान्तिज्या पलकर्णगुणा द्वादश १२ भक्ता किलाग्रा स्यात्। तत्र पलकर्णो न ज्ञायते किन्त्वव्यक्तात्मकः पलकर्णवर्गो ज्ञायते। स चैवम्। पलभावर्गो द्वादशवर्गयुतः पलकर्णवर्गः स्यात्। याव १ रू १४४ "वर्गेण वर्गं गुणयेद्भजेच्च" इति क्रांतिज्या वर्गोऽनेन गुण्यो द्वादशवर्गेण भाज्यः फलमग्रावर्गः स्यात् याव. क्रांव १ क्रांव १४४। अथ "त्रिभज्याहृतार्काग्रका कर्णनिघ्नी" इति
छेदः १४४
कर्णवर्गेणायं गुण्यस्त्रिज्यावर्गेण भाज्यः। एवं कर्णवृत्ताग्रावर्गो भवति। याव. क्रांव. कव १ रू क्रांव. कव १४४। अत्र भाज्यराशावव्यक्तवर्गस्थाने क्रान्तिज्यावर्गे ७१५७१६
त्रिव १४४
कर्णवर्गगुणे त्रिज्यावर्गे ११८१९८४४ च्छिन्ने जातो लघुसंज्ञः। रूपस्थाने च क्रान्तिज्यावर्गे कर्णवर्गगुणे वेदेन्द्र १४४ गुणे च त्रिज्यावर्गच्छिन्ने जातो लघुर्वेदेन्द्रगुणोऽङ्गुलानि तदधो व्यङ्गुलानि च बालावबोधार्थं स्थापितानि। तस्य राशेरयं छेदः
याव ५४ रू ७८५०
सोऽपि त्रिज्यावर्गच्छिन्नस्तदधो न्यस्तस्तथा दर्शनम्। ३१ २४। य एव
छेदः १४४।
क्रान्तिज्यावर्गः कर्णवर्गगुणस्त्रिज्यावर्गच्छिन्नः सैव क्रान्तिज्याकर्णबधात् त्रिज्याप्तकृतिः। अयं राशिः कर्णवृत्ताग्रावर्गः पूर्वकल्पिताया अस्याः कर्णवृत्ताग्रायाः या १ रू ३। वर्गेणानेन याव १ या ६ रू ९। समः कार्य्यः। अयं समच्छेद-
याव १४४ या
८६४ रू १२९६
करणार्थं शङ्कुवर्गेण १४४ गुणितस्ततश्छेदगमे कृते शोधनार्थं न्यासः ५४ ७८५० सम
याव या ००० रू
३१ २४
शोधने कृते जातमुपरिपक्षे लघुवेदेन्द्रान्तरतुल्यो यावराशिः। कृतेन्द्र १४४ घ्नो भुजो द्विगुणश्च या राशिः। द्वितीयपक्षे जातो लघुर्दोःकृत्या हीनोऽब्धिमनु ११४
याव ८९ या ८६४
२९
घ्नश्च। ६५५४। अयं रूपराशिराद्यसंज्ञः कल्पितः। यो मध्यराशिरर्द्धितः
रू २४
स भुजः कृतेन्द्र १४४ घ्नो जातः। सोऽन्यसंज्ञः कल्पितः। अथपक्षौ लघुवेदेन्द्रान्त-
९
याव १ या ४० रू०।
रेणापवर्त्तितौ जातौ याव ० या ० रू ७३ अनयोः पक्षयोरपवर्त्तितान्यवर्ग २३/२१ तुल्यानि
१५।

$$\frac{\text{या } १ \; ४ \text{ रू}}{५०}$$

रूपाणि प्रक्षिप्य मूले गृहीते या ० रू ९ । अनयोः पुनः साम्ये क्रियमाणे व्यक्तपक्षस्य
५०
मूलमव्यक्तपक्षमूलस्य रूपैरन्यतुल्यैरूनमेकेन भक्तं सञ्जाता पलभा ५ । उत्तरे भुजे त्वन्यतुल्यरूपाणि ऋणं भवन्ति तैः शोध्यत्वाद्युतं पलभा स्यादित्युपपन्नम् ।

मरीचिः—एवं द्वयोः, दक्षिणगोलीयत्वे श्लोकोक्तप्रकारेणैवेति सर्वमवदातमिति प्रोचुः । अथोदाहरण क्रमेण दिगीय प्रश्नोत्तर मार्याभेदाभ्यामाह ॥७७॥७८॥ क्रांतिज्या कर्णवधात्.......सौम्ये भुजे पलभेति ।

क्रांतिज्या छायाकर्णयो र्घातात्त्रिज्याहरेण यदाप्तं तस्य समद्विघातः लघुसंज्ञः स्यात् । सः लघुः भुजवर्गेण हीनस्ततश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतं गुणः । आद्य संज्ञः स्यात । अथ-अनंतरम् भुजश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतगुणः परसंज्ञः । तौ आद्यपरौ । चतुश्चत्वारिंशंदधिकशतलघोरतंरेण संख्यात्मकेन-भक्तौ; फले आद्यान्यौ स्तः । लघुवेदेन्द्रेतराभावे यथा स्थितावेव ग्राह्यौ । अन्यथोत्पद्यमानपलभायाः खहरत्वापत्तेः । आभ्यां फलितमाह—परवर्गत इति । आद्यमुक्तात्परवर्गतः यन्मूलं तत् । उत्तरे भुजे, परेण युतं, दक्षिणे भुजे परेण हीनम् । पलभा स्यादित्यर्थः । यथा प्रश्नोदाहरणे क्रांतिज्या ८४६ कर्ण-३० गुण्या २५३८० त्रिज्या-३४३८ भक्ता ७।२२।५६ अस्याःवर्गो लघुः ५४।२९।५ । भुज-३ वर्गो ९ ऊनः ४५ २९।५० लब्धिः अब्धिमनुघ्न आद्यः ६५५१।३६ भुजः ३ कृतेद्रंगुणः परः ४३२ लघुवेदेद्रांतरेण ८९।३७।१७ भक्तावाद्य ७३।३५ परौ ४।४९।३६ परवर्ग-२३।१७।४९ युतादाद्या-९६।२९।२३ न्मूलं ९।४९।३६ दक्षिणभुजांतरेण ४।४९३६ हीनं ५ पलभा पंचमिता । यथोदाहरणे क्रांतिज्या ८४६ कर्ण-१५ गुणा १२६९० त्रिज्याभक्ता ३।४५।२५ लघुः १३।३।२७।५ भुज-१ वर्गोनः ११।२७।५ । आद्यः १८१७ परः १४४ लघुवेदेन्द्रांतर-१३३०।२२।५५ भक्तावाद्य-१३।५६।९ परौ । १।६।१४ परवर्ग-१।१२।७ युतादाद्या ५।९।१६ न्मूलम् । ३।१३।४६ उत्तरभुजत्वात्पर-१।१६।१४ युतं जाता सैव पलभा । इदं साद्देदेशे भुजक्रान्त्योरभावे साध्यसत्वाच्च न भवतीत्युक्तप्रायम् । निरक्षे तु पलभाभवान्मूलस्य परतुल्यत्वाच्च सदा वियुतमन्यथा क्वचिद्द्विगुणपरमित पलभात्वापत्तेरिति ध्येयम् ।

अत्रोपपत्तिरेकवर्णमध्यमाहरणेन-पलभामानं या १ सौम्यया वा वियुक्तः भुज सौम्यभाग्रेऽन्यदाद्य इति पूर्वोक्तप्रकारेण कर्णवृत्ताग्रा उत्तर भुजे या १ वा या १ भु १ दक्षिणभुजे तु या १ भु ।

अथ द्वितीयप्रकारेण कर्णवृत्ताग्रा साध्यते । तत्र क्रांतिज्याया-ज्ञानाद्द्वादशकोटौ पलकर्णः कर्णस्तदा क्रांतिज्या कोटौ क इत्यग्रा त्रिज्यावृत्ते । तत्रापि पलकर्णस्य पलभाधीनत्वादव्यक्तः पलकर्णवर्गः याव १ रू १४४ अस्य मध्यांकाभावेन

मूलालाभाद्वर्गेण वर्गं गुणयेत् भजेच्चेद्युक्तपलकर्णवर्गेण क्रांतिज्या वर्गोगुणितः द्वादशवर्गभक्तोऽग्रावर्गः १ या कवि १ कांव १४४। अयं छायाकर्ण वर्गेणगुणितस्त्रिज्या वर्गेण भक्तः कर्णवृत्तेऽग्रावर्गः। याव क्रांव कव १ क्रांव कव १४४।

अत्र त्रिज्यावर्गेण भक्तः क्रांतिज्याकर्णवर्गयोर्घातात्लाघवात् क्रांतिज्याकर्णघातस्त्रिज्याभक्तः फलवर्ग इति रूपेण त्रिव १४४ सिद्धः कृतः। समत्वात्। फलवर्ग स्तूक्तकर्णवृत्तीयक्रांतिज्यावर्गरूपो लघुसंज्ञः युक्तस्तथा च कर्णवृत्तेऽग्रावर्गः या व १ ल १४४।

अस्य मूलेन पूर्वानीताग्रातुल्येति मूलालाभात्पूर्वानीताग्रायाः वर्गेणानेन या भूव २ याभू भूयव १ वान १।३ भू भूव १ अव म स म इ १४४ सम इति अयमेव सम इति पक्षौ समछेदीकृत्य छेदगमे शोधनार्थं न्यस्तावुत्तरदक्षिणभुजक्रमेण य व ल १ या० ल १४४ याव ल १४४ याव ल १ या ल १४४ त्रिज्यावृत्तीयाग्रावर्गयोः समत्वे तु पक्षौ त्रिज्यावर्गेणापवर्त्तितावेव सिद्धौ भवतः याव १४४ या भु २८८ भुव १४४ या येषु १८८ भुव १४४ भवत इति ध्येयम्।

अथैकाऽव्यक्तं शोधयेदित्यादिना द्वादशवर्गानधिकलघौ भुजवर्गाधिकलघौ च शोधनेन व्यक्तपक्षे भुजवर्गोनलघुवेदेन्द्रगुण आद्यसंज्ञ इति सिद्धमव्यक्तपक्षे प्रथमस्थाने लघूनवेदेन्द्रगुणितो यावद्वर्गः, द्वितीयस्थाने, उत्तरभुजेष्टाशीत्यधिकशतद्वयगुणितो भुजो यावद्गुणो ऋणं दक्षिणं, भुजे दक्षिणे भुजं धनम् तत्र वेदेन्द्र गुणितो भुजो परसंज्ञः कल्पित इति द्विगुणपरयावद्गुणे ऋणं धनम्।

अथ मूलग्रहणार्थं व्यक्ताऽव्यक्तवर्गांकेन लघुवेदेंद्रमितेनापवर्त्तितौ तेन व्यक्तपक्षेऽपवर्त्तिमाद्यस्तत्संज्ञः। अव्यक्तपक्षे प्रथमस्थाने यावद्वर्गः द्वितीयस्थानेऽपवर्त्तितपरो द्विगुणो यावद्गुणो ऋणं धनमिति सिद्धम्।

ततोऽपि मूलग्रहणार्थं पक्षयोः परवर्गरूपाणि योजितानि तेनाऽव्यक्तपक्षमूलमुत्तरभुजे या १ प १। वा या १ प १ मध्याऽव्यक्तनाशस्योभयथापि संभवात्। दक्षिणभुजे या १ प १ व्यक्तपक्षमूलं तु पर २ वर्ग युताद्यान्मूलम्। अथाऽव्यक्तपक्षरूपेभ्यः मूलस्याधिकत्वादुत्तरभुजे शोधनार्थमव्यक्तपक्षे मूलम्–ऋणपरयुतं यावदंकेन योज्यधनपरयुतं यावदेकमृणत्वं योग्यम्। अन्यथागतव्यक्तमानस्यर्णत्वापत्तेः। न हि व्यक्ते ऋणे लोकस्य प्रतीतिर्येन तथा मानं युक्तं स्यात्। उत्तरदक्षिणभुजक्रमेण मूलयोर्न्यासः या १ प १। या १ प १ अ। अत्र प्रथमपक्ष मूले परयुतं द्वितीयपक्षे परोनं मूलं पलभामानम्। अतः क्रांतिज्याकर्णवधादित्यादिश्लोकद्वयोक्तमुपपन्नम्। ननु द्वादश–[या. मू १ या. मू २] वर्गान्न्यूने लघौ भुजवर्गादूने वोक्तयुक्तया पलभामानमन्यदेवोत्पद्यते। तथा हि–तत्र समशोधनेन व्यक्तपक्षे भुजवर्गो लघुवेदेन्द्रगुण आद्यसंज्ञः। अव्यक्तपक्षे प्रथमस्थाने वेदेन्द्रोन लघुरव्यक्तवर्गगुणः द्वितीयस्थाने द्विगुणपरो यावद्गुणः, उत्तरभुजे धनं दक्षिणभुजे ऋणं ततो वर्गांकेन वेदेंद्रोनेनापवर्त्तितौ पक्षौ। ततो मूलार्थं परवर्गयोजने व्यक्तपक्षे परवर्गसंयुतादाद्यान्मूलमितिसिद्धमव्यक्तपक्षे

उत्तरे भुजे या १ प १ दक्षिणभुजे ऋणपरयुतं यावदेकं धनं नतु व्यस्तमुक्तयुक्तेस्तथा चोत्तरदक्षिणभुजक्रमेण शोधनार्थं न्यासः—या १ प १ या १ प १० अत्र
या ० मू ० । या. १ मू. १
प्रथम पक्षे परोनं मूलम् । द्वितीयपक्षे परयुतं मूलमिति पलभामानम् । तत्कथमुक्तमुपपन्नम् । न यामू १ या ० मू १ चाप्रसिद्धिः । लघुमूलात्कर्णवृत्ताग्रायाः, अधिकत्वाद्दक्षिणगोले स पलभायास्तस्याः, उत्तरभुजरूपायाः सुतरामधिकत्वाद्यदा लघुर्द्वादशवर्गाधिकस्तदा प्रसिद्धेः । द्वादशवर्गाधिकलघुस्तु त्रिज्याद्वादशघाताधिके क्रांतिज्याकर्णघाते स्फुट एवं पलकर्णद्वादशांतरभक्तद्वादशगुणपलभाधिकलघुमूले उत्तरगोलेऽवश्यं यद्दक्षिणभुजस्य द्वादशाधिकलघुमूलाधिकत्वम् । यथा-पलभा ५ क्रांतिज्या ४० कर्णः २१६ त्रिज्या ११ अग्रा ४३।२० कर्णवृत्ताग्रा दक्षिणा ७९ भुजो दक्षिणः ७३ लघुमूल ७२ मिति चेत् । यत्र क्वचिच्छुद्धिविधौ यदेहेत्यादिकृत्यै नैतत्प्रमेयस्य श्लोकांतर्गतत्वात्, अन्यथा लघुवेदेन्द्रान्तरे इत्यस्यानुक्तत्वापत्तेः । लघुवेदेंद्र-इत्युक्तेन चरितार्थत्वात् । अत एव यत्र क्वचिदित्याद्यत्र योगे वियोग इत्युक्तमुपलक्षण मिति तद्व्याख्यानावसरे, उक्तं प्रागेव ।

ननु तथापि यत्र द्वादशवर्गादुत्तरभुजवर्गाच्चानधिको लघुस्तत्र समशोधनेन व्यक्तपक्षे लघुहीनो भुजवर्गो वेदेंद्रगुण आद्यो ऋणं भुजवर्गस्य संशोध्यमानत्वात् । अव्यक्तपक्षे प्रथमस्थाने लघुवेदेंन्द्रगुणो यावद्वर्गः द्वितीयस्थाने द्विघ्नपरो यावद्गुणो ऋणम् । अत्रापवर्त्तने परवर्गयोजने चाव्यक्तपक्षे पदम्-यावदेकं धनं परहीनम् । यावदेकमृणं परयुतं वा । यथा या १ प १ वा । यो १ प १ । व्यक्तपक्षे आद्यस्यर्णत्वादाद्योनात्परवर्गान्मूलम् । भुजवर्गस्य लघूनस्य वेदेंन्द्रगुणितस्याद्यत्वाद्भुज वर्गस्यवेदेन्द्रवर्गगुणितस्य परवर्गत्वाच्चैतादृशस्थले परवर्गस्याधिकत्वात् ।

अत्राव्यक्तपक्षपदरूपेभ्यः व्यक्तमूलस्य न्यूनत्वादव्यक्तपदाभ्यां समशोधनार्थं न्यासः सः [या १ प १] [या १ प १] समशोधनान्मूलयुतो मूलहीनश्चपरः पलभेति द्विधा । तत्कथमिदं नोक्तम् । न चाप्रसिद्धिः । द्वादशवर्गोन—[या १ मू १ या मू १] लघोर्दक्षिणगोले उत्तरगोले तादृशलघुमूले कर्णवृत्ताग्रोनपलभयाल्पे वा तत्स्थलप्रसिद्धेः । यथा सूर्यः-७५ क्रांतिज्या ४।१६ कुज्या १।१७।४७ *पलभा द्युज्या १।१९।५६ चरज्या १।४७ चरः, परसूत्रं पटी ५९।५० यष्टिः ५५।१४ उद्वृत्तना १।३९ इष्टघटी ५ इष्टशंकुः ५६।५३ छायाकर्णः १५।१८ अग्रा ४।३९ कर्णवृत्ताग्रा ०।५९। उत्तरो भुजः ४।१ लघुः ०।४९ भुजवर्गः १६।१ यथा वा विषुवत्क्षणे उदयास्तभिन्नें लघ्वोः शून्यत्वाद्भुजस्य पलभामितत्वाच्च पलस्य सुलभत्वात् । न च यत्र क्वचिदित्युक्तविशेषेण परवर्गतो परतो यदाद्यादित्यत्राद्योनात्परवर्गादित्यस्योपपन्नत्वात्प्रथममाने परयुतमूलस्योक्तस्योपपन्नत्वाच्चोक्त प्रायमिति वाच्यम् । द्वादशवर्गाधिकालघ्वधिक भुजवर्गेत्याद्योनात्परवर्गादित्यापत्तेः । न च व्यस्त व्यवकलने उपपत्त्याग्रे यत्र योगे व्यवकलनमुपपन्नं तत्रैव कार्यमिति वाच्यम् । उपपत्तिज्ञानग्रहार्थग्रंथनिबंध-

* अत्र गणिते लेखकदोषात्त्रुटिरिव दृश्यते ।

नात्संशयनाशक विशेष कथनापत्तेः। अन्यथा ग्रंथकरणवैय्यर्थ्यापत्तेः। द्वितीयमाने मूलोनपरस्योत्पन्नत्वात् कथनापत्तेः। नह्यत्र द्वितीयमानमृणं येनानुक्तौ न क्षतिः। नचैकदेशे पलभाद्वित्वस्यासंभवादेव द्वितीयं नोक्त मत एव द्विविधं क्वचित्तदित्युक्तम्। नह्यत्र द्वितीयमानमृणं येनानुक्तौ नक्षतिरित्युक्तमाचार्यबीजे। यथा प्रकृतोदाहरणे भुजवर्गः *१६।८ लघु-०।४८ नः ३५।२० अद्रिमनुघ्न आद्यः २२०८ †३५।१०

भुजः ४।१ परः ५१८।१४ लघूनवेदेंद्र १४३।५२ भक्तावाद्या १५।२५।८ न्यौ ‡६।४।२१ आद्योनात् परवर्गो-१६।१८।४५ दाद्योना-०।५३।३७ न्मूले ०।५७।३६। सूक्ष्म प्रकारेण परयुतं पंचमिता पलभा जाता। मूलोनपरश्चे ३।४।४२ यं पलभात्व युक्तेति वाच्यम्। दक्षिणगोले उक्तस्थले द्वितीयस्योपपन्नत्वेन प्रथमस्यानुपपन्नत्वात्। अत एव द्विविधं क्वचित्तदित्यस्य कुत्रचिदुदाहरणे मानद्वयमुपपन्नम्। कुत्रचित्कथनमुपपन्नं द्वितीयमनुपपन्नम् कुत्रचिद्वितीयमुपपन्नं प्रथममनुपपन्नमितिव्याख्यानं युक्तम्। यथा, क्रांतिज्या ४।१६ इष्टघटी ५ सूत्रं ७ यष्टिः ५५।२३ शंकुः ५३।४४ छायाकर्णः २६।४८ अस्याः क्रांतिज्यातो लघुः ५४ उत्तरो भुजः ६।१ आद्यः ५०।२ पर-८६८।४८ लघूनवेदेंद्रे १४३।६ भक्ता वाद्यां-३५।१ न्यौ ६।४ आद्योनात्परवर्गो १।४७ न्मूलम् १।४ परयुतं पलभा नोत्पद्यते। मूलोनपरे च पलभोत्पद्यते, इति चेन्न। उत्तरभुजे पलभाभुजांतरस्य कर्णवृत्ताग्रात्वाद्दक्षिणगोले पलभोनो भुजः कर्ण वृत्ताग्रे इत्यव्यक्तपक्षमूलेप्यव्यक्तस्यर्णत्वं न पररूपाणाम्।

अन्यथालापे ऽव्यक्तस्यर्णत्वनिश्चयाद्दणरूपसहिताऽव्यक्तस्य पदस्यालापसिद्धपक्षसमऽव्यक्तमूलेन समत्वाभावात् समशोधनानुपपत्तेः। एवमुत्तरगोले उत्तरभुजभुजोनपलभायाः कर्णवृत्ताग्रात्वादव्यक्तपक्षमूले परतुल्यरूपाणामृणत्वम्। नाऽव्यक्तस्य आलापे तथा निर्णयात्। अन्यथालापसिद्धाऽव्यक्तपक्षसमऽव्यक्तपक्षस्य ऋणाऽव्यक्तसहितपररूपपदेनातुल्यत्वात्समशोधनानुपपत्तेः। न चाऽव्यक्तमूलद्वयं सममितिवाच्यम्। समशोधनागतमानयोस्तुल्वापत्तेः। अत एव समत्वाभावेऽपि समशोधनोत्पन्नमानमयुक्तम्। तथा चोत्तरगोले उत्तरभुजे तादृशस्थलेऽव्यक्त मूलम्। या १ प १ नेद-या १ प १ मिति द्वितीयमानाप्रसंगः। दक्षिणगोले उक्तस्थलेऽव्यक्तमूलं या १ प १ नेद-या १ प १ मित्यत्र मूलोनपर एव पलभा तेन यत्र विपरीतशोधनाद्यतस्तत्र योगे वियोग इत्युक्त विशेषो द्वादशवर्गान्न्यूनाधिकलघौ क्रमेण परवर्गता यदाद्यादित्यत्र मूलं परयुत वियुतमित्यत्र कार्यं इति विवक्षणात्। तत्रापि मूलं परयुतवियुतं सौम्ये याम्ये भुजे इत्यस्यावृत्त्या द्वादशवर्गोनलघुसंबंद्धभुजे उत्तरगोले मूलं परयुतम्। दक्षिणगोले मूलं परयुतं परांतरितं मूलोनपर इति यावदित्यर्थाच्च सर्वं समंजसम्।

* यदि भुजः ४।१ तदा भुजवर्गः १६।१ इत्येवमेव भाव्यम्।

† पाण्डुलिपिगणिते पाण्डुलिपिलेखकदोषात् संख्यान्तरं दृश्यते।

‡ अत्र ४।२।२१ इत्येवमेव समीचीनं एवं भवति।

ननु तथापि द्वादशवर्गाधिके दक्षिणभुजवर्गान्न्यूने च लघौ समशोधनाद्युक्तपक्षे भुजवर्गोनलघुवेदेन्द्रगुण आद्यसंज्ञः ऋणं लघोः संशोध्यमानत्वात्। अव्यक्तपक्षे प्रथमस्थाने वेदेन्द्रोनलघुख्यक्तवर्गगुणितो द्वितीयस्थाने द्विगुणपरोव्यक्तगुणितो ऋणम्। तत उक्तरीत्या व्यक्तपक्षे आद्योनात्पर १ वर्गान्मूलम्। अत्र भुजवर्गोनलघोर्द्वादशवर्गगुणितादाद्याद्भुजवर्गगुणित रसराममुनिनख २०७३६ रूप परवर्गस्याधिकत्वात्। अन्यथा ऋणशेषत्वे न व्यक्तपक्षमूलासिद्धेः। कृतिः स्वर्णयोः स्वं स्वमूले धनर्णं न मूलं क्षयस्यास्ति तस्याकृतित्वादित्युक्तेः। नह्यवर्गराशेर्मूलं संभवत्यतिप्रसक्तेरत एवतत्स्थाप्रसिद्धिः।

एतेन समद्विगुणनाभावात्कृतिर्न त्वयगाभवेत्। अतस्तस्याः पदं नास्ति ग्राह्यं चेद्धनं भवेदित्येवं जल्पितं परास्तम्। अव्यक्तपक्षे मूलं या १ प १ वंग या १ प १ प १ मध्याव्यक्तनाशस्योभयथा संभवात्। अत्राव्यक्तपक्षरूपेभ्यः व्यक्तमूलस्य न्यूनत्वादव्यक्तपदाभ्यां समशोधनार्थं न्यासः १। या १ प १ या १ प १। अत्र समशोधनेन मूलयुतो मूलोनश्च परः षलभेतिद्वैधमुपपन्नम्। न च, प्रसिद्धिः। उत्तरगोले द्वादश या मू १ मूलयोः पलकर्णांतरभक्तद्वादशगुणपलभायाः वेदेन्द्राधिकलघोर्मूलस्य न्यूनत्वेतत्स्थलस्य स्फुटत्वात्। तत् कथमिदं नोक्तम्। अन्यथोक्तप्रकारस्य तत्र व्यभिचारापत्तेः। नैकदेशे पलभा द्वयमनुपपन्नमितिप्रथमपलभैवानुपपन्ना। द्वितीयपलभा तु परवियुतमित्यस्य परांतरितमित्यर्थादुक्त एवेति वाच्यम्। द्वितीयस्यानुपपन्नत्वेन प्रथमाया एवोपपन्नमिति वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात्। नहि कर्णवृत्ताग्रायामत्राव्यक्तस्यर्णत्वं येन प्रथममूलसमत्वाभावात्प्रथममानमनुपपन्नमिति वाच्यम्। दक्षिणभुजपलभायोगस्यात्र कर्णवृत्ताग्रात्वात्। अथ एवालापे एकत्रार्णत्वान्निर्णयान्मानद्वय मुक्तमप्येकदेशे तद्द्वयासंभवात्तदेकतरमुपपन्नं तदितर वानुपपन्नं पृच्छकाभिमतत्वेन। किंच। आद्योनात्परवर्गान्मूलमित्यस्यालाभः। व्यस्तशोधनाप्रसंगादिति चेत्। न मूलं परयुतवियुत मित्यार्याद्धीवृत्या याम्ये भुजे। लघुमूलानधिकदक्षिणभुजे सौम्ये, वेदेंद्राधिक लघुच्छिन्नोत्तरगोलावच्छिन्ने सति। आद्यस्यर्णत्वविवक्षणात्परवर्गतो यदाद्यादित्यनेन धनर्णयोरंतरमेव योग इत्युक्तरीत्याद्योनात्परवर्गादित्यस्य लाभाच्च मूलं परयुत वियुतं द्विधा पलभा स्यादित्यर्थात्। अन्यथाभिमतस्थले परहीन मित्यनेन चरितार्थत्वात्परवियुतमिति पददानाभिनिवेशानुपपत्तेः। न च पलभाद्वयानुपपत्तिः। उद्दिष्टक्रांतिज्याभुजकर्णसंबधेन पलभाद्वयस्य सिद्धत्वेन भिन्नदेशावच्छिन्नत्वे वाधकाभावात्। तत्स्थलीयभुजकर्णयोस्तत्क्रांतिज्यायां तादृशपलभाद्वयाश्रयीभूतदेशो ब्रूयात्। एतेनात्र मध्याव्यक्तस्य द्विगुणपरगुणस्य पूर्वधनत्वादपि पूर्वं समशोधने ऋणत्वसिद्धेरालापेऽव्यक्तत्वेनर्णत्वनिश्चयादव्यक्तमूलेप्यव्यक्तस्यर्णत्वं न रूपाणीति न मूलयोः समशोधनेन याम्यभुजे मूलं परवियुतमित्युपपन्नम्। आद्यस्यर्णत्वं तु सममिति कुकल्पनावकाशः द्वितीयाव्यक्तमूलसमशोधनागतपलभा मानं त्वनुपपन्नम्। पलभा पंच क्रांतिज्या त्रिंशत् ३० छायाकर्णः शतम्। युतं भुजो दक्षिणः २२।२५ लघुः ६२५ आद्यः ४१।६।२५ परः ६।३५।४० परवर्गा-४३।४२।२४

दाद्योनान्मूलं ११३६।४० इदं परयुतं पलभा पंचमितनेत्पद्यते मूलोनपरेण च पंच मितोत्पद्यते इति निरस्तम्। परमूलयोगमितपलभादेशे, उद्दिष्टक्रांतिज्या भुजकर्ण-व्यभिचारात्। यथा क्रांतिज्यात्रिंशत्, छायाकर्णः शतम् पलभाविंशत्यवयवयुत त्रयोदशव्यंगुलयुताष्टांगुलमिता। तत्राग्रकर्णः १४।३२।४८।

कर्णवृत्ताग्रा ३०।१८।२० पलभो-८।१३।२० नाभुजः २२।२५ अत्राप्युक्तरीत्या-द्यान्यौ ताबेवात्र मूलेन परेण पलभाभीष्टानोत्पद्यते। मूलपरयोगे चाभीष्टोत्पद्यतेऽत्र यथाश्रुतमार्गेणैकतरावलंबनाभावाच्च। अत एवोक्तस्थलं यथाश्रुतप्रकारस्य व्यभिचारापत्तिभियान्तरमूले कैश्चित्। परस्य वर्गोऽभ्यधिको यदास्यात्तदंतरोत्थेन तदा पदेन। परो युतो नुः पलभा द्विधैवं भुजे यमाशे सुधियात्र वेद्येत्युपेंद्रवज्रा निक्षिप्ता सात्वसंगता। वेदेंद्रांधिके दक्षिणभुजवर्गे पलभाद्वयाप्रसक्तत्वेऽपि पलभा-द्वयापत्तेः। तत्र क्वचिदाद्यात्परवर्गस्याधिकत्वात्, न चेष्टापत्तिः।

अभिमत पलभाया उभयत्रासिद्धेः। यथाऽयं चाक्षभायां लघुः शतं १०० दक्षिणभुजः—५० आद्यपरवर्गौ सच्छेदौ $\frac{२६२५।४४१००}{१२१ \quad १२१}$ आद्यपरांतरं $\frac{१७९७५}{१२१}$।

मूलं हरभक्तं १२।११।१८ परः १९।५।२७ पलभाद्वयं ६।५४।९।३१।१६।४५ यथाश्रुत-१२१।२१ प्रकारेण पलभा १।२१ अभीष्टेति दिक्। अथ यत्र वेदेंद्रदक्षिणभुज-वर्गाभ्यां लघूने वेदेंद्रोत्तरभुजवर्गाभ्यामधिके तत्र समशोधनादाद्यो लघूनोभुज-वर्गः भुजवर्गोनलघुर्वावेदेंद्रगुणितो लघुवेदेंद्रांतरभक्तौ ऋणम्। तेनाद्योनात्पर-वर्गान्मूलं व्यक्तपक्षे। अव्यक्तपक्षे मूलं परांतरित मित्युपपन्नं पलभामानं कथं नोक्तमिति चेन्न। आगतमानस्यर्णत्वेन त्यागात्। तत्स्थलाप्रसिद्धेश्च। क्रमेण द्वादशोनलघुमूलकर्णवृत्ताग्रांतरस्य पलभाधिकत्वाभावात्। द्वादशाधिकलघु-मूलीयकर्णवृत्ताग्रायाः मूलपलभाधिकत्वाच्च। भुजसद्भावकालिक क्रांतिज्याभावे तु भुजस्यैव पलभात्वेन प्रकारस्य व्यर्थत्वेऽपि प्रकारेण तत्सिद्धेरावश्यकत्वादन्यथा प्रकारस्य व्यभिचारापत्तेरित्युक्तप्रकारेण तत्संवादान्नक्षतिरितिध्येयम्। एवं क्रान्ति-सद्भावकालिकभुजाभावेऽपत्तिताधस्थ पलभावर्गतुल्यत्वान्नव्यभिचारः। यथा हि भुजाभावे समवृत्तस्थत्वात्पलभाभुजे पलकर्णः कर्णस्तदा क्रांतिज्या भुजे क इति समशंकुना क इत्यनुपातद्वयसिद्धं समवृत्तकर्ण एव छायाकर्णः क्रांतिज्या पलकर्णघातभक्तत्रिज्याद्वादशपलभाघातात्मकस्ततः क्रांतिज्याकर्णवधात्त्रिज्याप्त-फलं त्रिज्याक्रांतिज्याघातयोर्गुणहरयोर्नाशात्पत्पलकर्णपलभाद्वादशघातात्मकम्। तेन पलकर्णवर्गभक्तः पलभावर्गो वेदेंद्रगुणो लघुराद्यस्तु पलकर्णवर्गभक्तः पलभावर्गषड्वह्निसप्तनख-२०७३६ घातः अयं लघुवेदेंद्रांतरभक्तः कार्य इति समच्छेदपूर्वकं तदंतरं हाररूपं सच्छेदं यव १४४ यकव १४४ पकव १ अत्र भाज्य-स्थाने गुणितयोरंतरे वा गुणिते समत्वाल्लाघवात्पलभावर्गोनः पलकर्णवर्गो द्वादशवर्गात्मको द्वादशवर्गगुणः तेन पलकर्णभक्तः रसरामुनिनखमिति छेद्येनाद्ये भक्ते छेदं लवञ्च परिवर्त्य हरस्येत्यादिविधिना पलकर्णवर्गयोस्तदंकयोश्च

गुणहरयोस्तुल्यत्वेन नाशात्पलभावर्ग एवाद्यस्थाने, एवं भुजवर्गलघ्वोः साम्ये आद्याभावादपवर्त्तितपरस्य पलभार्द्धितत्वादुक्तप्रकारेण निरक्षस्वदेशीयपलभयोः सिद्धिः। तथाहि—भुजस्य द्वादशपलकर्णांतरभक्त द्वादशपलभाघातरूपलघुमूल-समत्वादन्यत्र तत्समत्वाभावनिश्चयात्परस्तु हरभक्त गजाश्विमुनिचंद्रगुणित पलभारूपः। अयं वेदेद्रोंनलघुभक्तस्तत्र तत्साधनार्थं लघुः पलकर्ण द्वादशांतर वर्गभक्तपलभावर्ग वेदेन्द्रघातः। पव १४४ अयं वेद्रेन्दोनो लघोरधिकत्वात्।

पवक १ यक १४ रु १४४

तत्र समच्छेदपूर्वक व्यवकलनाज्जातम्। यव १४४ पकव १४४ पक ३४५ पकव १ यक २४ रू ६ रू २७७३६ रू १४४ (५६ *रु १११) अत्र भाज्यस्थाने प्रथमद्वितीय खंडयोः [पकव १ पक २४ रु। ४४] योगेंतिमखंडोत्पत्तेरंतिमखंडं द्विगुणमृणं यथा या क ३४५६।१४४ पक व १ पक २४ रू १४४ अनेन हरेण भक्ते छेदं लव मित्यादिनाद्व्यद्रिभूगुणितपलभाया पलकर्णः पक। व १ पक २४ रू १४४ द्वादशांतर-भक्ताया अंतरवर्गो गुणरूपश्चायम्। पक ३४५६ रू ४१४७२ अत्रातरं तद्वर्गयो-रपवर्त्तेऽतरगुणः, पलभायास्तद्गुणायाः। अतः पलभा गुणकांकं विना१७२८ऽप-वर्त्तितो भाज्यहरौ। भाज्यस्थाने पलभा, हरस्थाने पलकर्णद्वादशांतरं द्विगुणम्। तेनापि गुणहरयोर्गुणापवर्त्तनेन पलभार्द्ध पर इति।

ननु द्वादशवर्गतुल्यलघावुक्तप्रकारस्य व्यभिचारः। तत्रोक्तबीजरीत्या व्यक्तवर्गांकयोः समत्वेन नाशादेकवर्णप्रकारेण द्विगुणपरभक्ताद्यस्य भुजवर्गं लघ्वां-तरस्य द्विगुणभुजभक्तस्य वा पलभात्वादुक्तरीत्यनुत्पत्तेः।

अथ तत्राप्युक्तप्रकारस्योत्पत्तेः। अव्यक्तवर्गांकयोः समत्वात्तदंतरस्य शून्य-स्याव्यक्तवर्गगुणस्य स्थापनात्। तथा ह्यव्यक्तवर्गोकेनापवर्त्तितेऽव्यक्तवर्गा-व्यक्ताद्याः खहराः परवर्गयोजनेन व्यक्तपक्षे मूलं खहरः। अव्यक्तपक्षे प्रथम-स्थाने यावद्गुणं खं हरशून्यं द्वितीयस्थाने खहरः परः यथा-[याप १] अनयोर्द्विघ्न-घाते शून्यगुणहरयोर्नाशान्मध्याव्यक्तसमत्वादेतेन शून्यभक्तशून्ये फलं शून्य मिति निरस्तम्। मध्याव्यक्तनाशासंभवात्कुकल्पनायां तु गौरवादग्रे खहरपल-भात्वापत्तेश्च। समशोधनेन दक्षिणोत्तरभुजक्रमेण परहीनं मूलम्। स्वहरशून्येना व्यक्तांकेन भक्तं तत्र छेदं लवमित्यादिना शून्यं गुणः शून्यं हरश्च।

शून्यहरयोर्घातः शून्यं हरस्ततः शून्ये गुणके जाते खं हारश्चेत्पुनस्तदा-राशिः अविकृत एव ज्ञेय इत्युक्तत्वात्तन्नाशः। अत एवं पूर्वपराद्यौ यथा स्थितावे-वेत्याद्युक्तम्। यन्मते शून्यभक्ते शून्ये रूपं फलं तन्मते मूलसमशोधनात्पूर्वं शून्यहरनाशः। समयोः पक्षयोः, समहरभक्तयोः केवलयोर्वा समत्व इति तन्नाशे समत्वक्षतेरन्यथा पलभायाः खहरत्वापत्तेरिति ध्येयमिति। चेन्न शून्यस्य हरत्वायुक्तेः। सति भाज्ये फलोत्पत्ति विचारणात्। खहारो भवेत्खेन भक्तश्च राशि रित्युक्तत्वाच्च। किंच, पूर्वं तत्स्थलाविषयत्वेन व्यभिचारस्यापातरमणीय-

* मूलकोशेषुक्वचिद्देवमस्ति।

त्वादिदानी तत्स्थलस्य लक्ष्यत्व प्रतिपादनेन सम्यव्यभिचारः समर्थितः। संवादा भावात्तथाहि-द्वादशवर्गतुल्ये लघौ उत्तरगोले पलभोनपलकर्णस्य दक्षिणभुजत्वा- द्दक्षिणगोले पलभायुतपलकर्णस्योत्तरभुजत्वाच्चाद्यः क्रमेण-पव १४४ पकव २८८ पक २८८। वा-पकप २८८ पव २८८ अथ परः पकव १४४ पक १४४ वा। पव १४४ पकव १४४ अस्यवर्गः रू *२७७३६ पक प ४१४७२ पकव २०७३६ वा। पव २०७३६ पक प ४१४७२ पक व २०३६ आद्ययुतः पव २०४४८ पकव ४११८४ पकव १७३६ वा। पव २१७२४ पकप ४१७६७ पकव २०७३६ अस्य मूलाभावः प्रथम- खंडगुणस्यावर्गत्वात्। अतएव तद्गुणे सैके मूलं प १४३ पक १४४ वा। प १४४ पक १४४ पकव १४४ परात्पलभाधिकमुत्पद्यते तथा च परवर्गतो यदाद्यान्मूलं परात्पलभांततरितं नेत्युक्त प्रकारेणासिद्धेरिति चेत्तन्नस्वल्पांतरत्वात्। यद्वा तत्र लघुवेदेंद्रातरभजनाभावे नाद्यस्य स्फुटत्वं तेन द्विगुणपरभक्ताद्यस्यवर्गे आद्ये योजिते स्पष्टत्वं भवतीति विवक्षणात्। यथाभुजः ८ वा १८ आद्यः ११५२० वा २५९२० परः ११५२ वा २५९२ स्फुटाद्यः ११५४५ वा २५९४५ परवर्गयुताद्या- १३३८६४९ वा ६७४४४०९ न्मूलं ११५७ वा २५९७ परोनपलभा ५ अत्र भुजस्य पलभापलकर्णयोगांतरत्वाद्वेदेंद्राणां तद्वर्गांतरत्वाद्भुजभागफलेन भुजेन च यथा योग्यं संक्रमणे पलभापलकर्णो भवत इति ध्येयम्। द्वादशमितभुजलघुमूलसाम्यत्व- सिद्धमिति न क्षतिः।

ननु तथाप्युक्तोदयास्तकाले व्यभिचारः। अत्रापि उक्त बीजरीत्योक्त प्रका- रानुत्पत्तेस्तथाहि—पलभामानं या त्रिज्या द्वादशघातस्य खहरस्य तत्र कर्णत्वाद्भुजः खहरकर्णवृत्ताग्रातुल्यः, अयं पलभायोजने समच्छेदेनाविकृत एव तेन भुजवर्गः पलभानीतकर्णवृत्ताग्रासम इति समछेदीकृत्य छेदगमे शोधनार्थं न्यासः-यावल रूपव १४४ याव० रू भुव १४४ अत्र समशोधनेनाव्यक्तमानमपवर्त्तिताद्यस्य मूलं पलभेति। नच पूर्ववत्स्वल्पांतरमिति वाच्यम्। तत्रोक्तप्रकारणे परस्य क्रांतिज्या भक्तपलकर्णत्वेन बह्वन्तरतस्य स्फुटत्वादितिचेन्न रूपोनलघूनितलघुगुणित परस्या- स्मिन्प्रकारे परत्वकल्पनात्तेनात्र लघ्वोः खहरत्वाद्रूपोनलघ्वोः लघुतुल्यत्वात्तदंतर- स्य शून्यत्वेन परस्यापि शून्यत्वादुक्तप्रकारे न व्यभिचार इत्यलं पल्लवितेन ॥७८॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—प्रथम प्रश्न का उत्तर—

एक दिशा की दोनों छायों के भुजों के योग, भिन्न दिशा की दोनों छायों के अन्तर को परस्पर अन्योऽन्य छाया कर्ण से गुणा कर दोनों गुणनफलों में दोनों के कर्णान्तिरों से भाग देने से पलप्रभा का ज्ञान हो जाता है।

जैसे—बीजगणित से पलप्रभा का मान=य

---

* मूलकोशेऽशुद्धं लिखितमस्ति वस्तुस्त्वत्र २०७३६ एवं भाव्यम्।

*परवर्ग संयुतादाद्यात् इति वा पाठान्तरम् (संशोधक शोधित शिरोमणिः)

अतः य-भुज=कर्णवृत्तीय अग्रा=अ

तथा य-भुजं=कर्णवृत्तीय अग्रा=अं

कर्णवृत्तीय अग्रा का त्रिज्या गोलीय स्वरूप

$\frac{\text{क. वृ. अ.} \times \text{त्रि,}}{\text{छा क}}$ दक्षिण भुज सम्बन्ध की त्रिज्या गोलीय अग्रा=अ

$\frac{\text{क. वृ. अ} \times \text{त्रि}}{\text{छा कं}}$ उत्तर भुज सम्बन्ध की त्रिज्या गोलीय अग्रा=अं

दोनों सभीकरणों से

$$\frac{(\text{य}+\text{भु})\ \text{त्रि}}{\text{छा. क}} = \frac{(\text{य-भु}')\ \text{त्रि}}{\text{छा. कं}}$$

$$=\text{छा. कं} \times \text{य} \pm \text{छा. कं} \times \text{भु.} = \text{छा. क} \times \text{य} \pm \text{छा क} \times \text{भु}'$$

$$=\text{छा. कं} \times \text{य} - \text{छा. क} \times \text{य} = \text{छा. क} \times \text{भु}' \mp \text{छा कं} \times \text{भु}$$

$$=\text{य}\ (\text{छा कं} \sim \text{छा क}) = (\text{छा क} \sim \text{छा क})\ (\text{भु} \pm \text{भु}')$$

$$\text{अतः}\ \text{य} = \frac{\text{क भु} \mp \text{क भु}'}{\text{छा कं} \sim \text{छा क}}$$

यहाँ पर एक जगह् कर्ण=३०, याम्य भुज=३ × १५=४५

„ दूसरी जगह् कर्ण=१५ सौम्य भुज=१ × ३०=$\frac{३०}{७५}$

अतः कर्णान्तर=१५। भुजान्तर=भुजैक्य=४

अन्योऽन्य कर्ण गुणित भुजान्तर ७५ में दोनों कर्णों के अन्तर से भाग देने से $\frac{७५}{१५}$=५ पलभा हुई है। इस पलभा के ज्ञान से अक्षांश ज्ञान करने से भूमण्डल में कहीं की भी छाया से हम विषुवद्वृत्त से भूखण्ड के किस दिशा में कहाँ है यह स्पष्ट जाना जाता है।*

भास्कराचार्य ने प्रायः सर्वत्र इस ग्रन्थ में पांच अंगुल पलभा के दृष्टान्त दिये हैं। इस पलभा से, अक्ष क्षेत्रानुपात द्वारा अक्षज्या का ज्ञान करना चाहिए इसका चाप प्रायः २२°।४०' बाइस अंश, चालीस कला के तुल्य आता है। आधुनिक भौगोलिक स्थिति से भारतवर्ष में इस अक्षांश पर कच्छ, राजकोट, बड़ौदा और विलासपुर आदि नगर पड़ते हैं। भास्कराचार्य की जन्मभूमि सह्यपर्वतासन्न विज्जडविड आधुनिक वीजापुर नगर में थी।

(देखिये गणकतरङ्गिणी पृष्ठ ३४)

संशोधक. म. म. पं० बापूदेव शास्त्री के इस प्रश्न के विशेष परिष्कार के उत्तर देखने योग्य हैं।

द्वितीय प्रश्न का समाधान—

क्रान्तिज्या को छाया कर्ण से गुणा कर त्रिज्या से भाग देकर फल के वर्ग की लघु संज्ञा दी गई है। लघु में भुज वर्ग कम कर उसे १४४ से गुणा करने से प्राप्त अंक की आद्य संज्ञा है। १४४ गुणित भुज की अन्य संज्ञा है। आद्य और अन्य में लघु और १४४ के अन्तर का अपवर्त्तन देना चाहिए। अन्य वर्ग में आदि जोड़ने से जो मूल हो उसमें उत्तर भुज की

स्थिति में पर को जोड़ने दक्षिण भुज की स्थिति में इसमें पर को कम करने से पलभा हो जाती है।

इस प्रश्न पर आचार्यों ने पर्याप्त मीमांसाएँ की हैं जो बड़े महत्त्व की हैं—

यहाँ पर पूर्व प्रश्न के उत्तर की भांति अव्यक्त गणित से—

पलभा मान=य; छायाग्रीय भुज=भु, कर्णवृत्तीय अग्रा=अं=प. भा∓भु=य∓भु

$\therefore \text{अं}^{२} = \text{य}^{२} + \text{२ य. भु} + \text{भु}^{२}$

प्रकारान्तर से भी $\text{अ}^{२} = \dfrac{(\text{पलभा}^{२} + १२^{२})\,\text{क्रांज्या}^{२}}{(१२)^{२}}$

$$\text{अग्रा}^{२} = \frac{\text{क}^{२}(\text{पलभा}^{२}+१२)^{२} \times \text{क्रांज्या}^{२}}{\text{त्रि}^{२} \times (१२)^{२}} = \text{य}^{२} \mp \text{२ य भु} + \text{भु}^{२}$$

$=\text{क}^{२}\text{य}^{२}\ \text{क्रांज्या}^{२} + \text{क}^{२}\ १२^{२}\ \text{क्रांज्या}^{२} = \text{य.}^{२}\ \text{त्रि.}^{२}\ १२^{२} \mp \text{२. य. भु. त्रि.}^{२}\ १२^{२} + \text{त्रि.}^{२}\ १२.^{२}\ \text{भु}^{२}$

$=\text{य}^{२}\ (\text{त्रि}^{२}\ १२^{२} - \text{क.}^{२}\ \text{क्रा.}^{२}) \mp \text{२ य. भु. त्रि.}^{२} = १२^{२} \mp (\text{क.}^{२}\ \text{क्रां}^{२} - \text{त्रि.}^{२}\ \text{भु})\ १२$

$$\text{य}^{२}\left(१२^{२} - \frac{\text{क}^{२}\ \text{क्रा}^{२}}{\text{त्रि}^{२}}\right) \mp \text{२. य. भु.}\ १२^{२}\ \text{त्रि}^{२} = १२^{२}\left(\frac{\text{क.}^{२}\ \text{क्रां.}^{२}}{\text{त्रि}^{२}} - \text{भु}^{२}\right)।$$

$\dfrac{\text{क}^{२}\ \text{क्रां}^{२}}{\text{त्रि}^{२}} = \text{लघु}$। $१२^{२}\left(\dfrac{\text{क}^{२}\ \text{क्रा}^{२}}{\text{त्रि}^{२}}\ \text{तथा भु}^{२}\right) = \text{आ-तथा भु} \times १२^{२} = \text{पर}$।

$=\text{य}^{२}(१२^{२} - \text{लघु}) \mp \text{२ य. प.} = \text{आ}$

$$\text{य}^{२} \mp \text{२ य}\frac{\text{प}}{१२^{२}\text{ल.}} = \frac{\text{आ}}{१२^{२}.}$$

$\therefore \text{य}^{२} \mp \text{२ य पं} = \text{आ}'$

$\therefore \text{य}^{२} \mp \text{२ य पं} + \text{पं}^{२} = \text{आ}' + \text{पं}^{२}$

$\therefore \text{य} \mp \text{पं} = \text{मू}$

$\therefore \text{य} = \text{मू} \mp \text{पं}$ यह आचार्य का प्रकार उपपन्न है।

इदानीं सममण्डलप्रश्नः—

दिनकरे करिवैरिदल-४। १५ स्थिते नर-१२ समा नरभापरदिङ्मुखी।
भवति यत्र पटो पुटभेदने कथय तान्त्रिक! तत्र पलप्रभाम् ॥७९॥

वा० भा०:—स्पष्टार्थम्।

इदानीमस्योत्तरमाह—

त्रिज्यार्कघातः श्रुतिहृन्नरः स्याद्यत् क्रान्तिमौर्वीसमवृत्तशङ्क्वोः।
वर्गान्तरान्मूलमनेन भक्ता क्रान्तिज्यका सूर्य १२ हताक्षभा स्यात् ॥८०॥

वा० भा०:—"त्रिज्यार्कघातः श्रुतिहृन्नरः स्यात्" इति साधारणम्। त्रिज्या-द्वादशघातस्य यस्याश्छायायाः कर्णेन भागो ह्रियते तस्याः सम्बन्धी महाशङ्कुर्लभ्यते। अत्रानुपातः—यद्यनेन कर्णेन द्वादशाङ्गुलशङ्कुस्तदा त्रिज्याकर्णेन कः? इति। एवमत्रोदाहरणे यो लभ्यते स समशङ्कुः। स कर्णः। सिंहार्द्धगतस्यार्कस्य क्रान्तिज्या भुजः- तद्वर्गान्तरपदं कुज्योनिता तद्धृतिः कोटिः। इदं पलक्षेत्रम्। यद्यनया कोट्या क्रान्तिज्या भुजो लभ्यते तदा द्वादशाङ्गुलमितया किम्? इति। फलं पलभेति त्रैराशिकेनोपपन्नम्। अत्र सममण्डलशङ्कुर्द्वादशी ज्या २४३१। सिंहार्द्धे ४। १५ क्रान्तिज्या पञ्चांशोना अष्टवसुनन्दाः ९८७। ४८। अनयोर्वर्गान्तरपदेन द्वादशगुणा क्रान्तिज्या भाज्या। तत्रास्याः वर्गः ९७५७४९। शङ्कुवर्गः ५९०९७६१। अनयोरन्तरम् ४९३४०१२ मूलम् २२२११५ अनेन भक्ता द्वादशगुणा क्रान्तिज्या ११८५३। ३६। लब्धा तत्र देशे पलभा सत्र्यंशपञ्चाङ्गुला ५।२०।

मरीचिः—अथोदाहरणक्रमद्वितीयप्रश्नांतर्भेदप्रश्नविशेषं सोद्देशं विशेषं विवक्षुः, द्रुतविलंवितेनाह—दिनकरे करि वैरिदलस्थिते……तत्र पल प्रभामिति।

यत्र पुटभेदने। पत्तनं पुटभेदनमित्यभिधानान्नगरे सूर्ये, करिर्गजस्तस्य वैरिः सिंहस्तस्य दलेऽर्धांशे स्थिते सति। पंचदशभागयुतवेदमिते सायनसूर्ये सतीत्यर्थः नरभा—द्वादशांगुलशंकोः। छाया। परदिङ्मुखी परदिशि। पश्चिम दिशि मुखमग्रं यस्याः पूर्वभागस्थसूर्ये पश्चिमाभिमुखी छायेत्यर्थः। इदमुपलक्षणम्। तेन पश्चिमभागस्थसूर्यस्य पूर्वाभिमुखछायाग्रहणेऽपि न दोषस्तथा च पूर्वापर-सूत्ररेखास्थिताग्रछाया न समा। द्वादशांगुल मितेत्यर्थः भवति। तत्राज्ञाताक्ष भा देशे पलं भो! कथय, आनयनेन ब्रूहीति क्रियावलात्वमित्यध्याहारः। तथा च सूर्यज्ञानेन क्रांतिज्याज्ञानसंभव तादृक्छायाज्ञानेन छायाकर्णज्ञानसंभवाच्च भुजाभावाच्च क्रांतिज्याकर्णाभ्यां भुजाभावावकालिकाभ्यां पलभानयनं वदेति प्रश्नतात्पर्यार्थः। नन्वहमुत्तरदान्येत्वसमर्थो ज्ञानाभावादतः संवोधनमाह-तांत्रि-केति, तंत्रे प्रधाने सिद्धांते इत्यभिधानात्सिद्धांते इत्यभिधानात्सिद्धांतग्रंथज्ञेत्यर्थः।

ननु तथापि नवीनप्रश्नोत्तरदानेनाह। तांत्रिकेति। तंत्र प्रधानशिल्प-कत्वाभावादसमर्थ इत्यतः संबोधनांतरमाह—पठतीति पटो समर्थ नवीनयुक्ति कल्पकेत्यर्थस्तथा च त्वमुत्तरदाने समर्थोऽसीति भावः ७९।

अथोक्त प्रश्नस्य तद्भेदविशेषत्वादुक्तोत्तरस्यैवोत्तरत्वेऽपि लघुभूत प्रकारेणों-द्रवत्र्योत्तरमाह-त्रिज्यार्कघात' 'इति अक्षभा स्यात्। ननु समशंकोरज्ञानात्कथमेतदतर आह-त्रिज्येति। त्रिज्या द्वादशयोर्वधः। छायाकर्ण भक्तः फलं महाशंकुः स्यात्। अनेन प्रकारेणेष्टछायाकर्णेनेष्टशंकुः स्यादिति भुजाभावकालिकछायाकर्णात्सम-शंकुरपि सिध्यतीतिभावः। छायाकर्णज्ञानं तु छाया ज्ञानाद्भवत्येव। यथोदाहरणे द्वादशवर्ग १४४ छाया-१२ वर्ग-१४४ योगान्मूलं छायाकर्णः-१६।५६।१४ अनेन लघुत्रिज्या-१२० द्वादशगुण १४४० भक्ता फलं समशंकुः ८४।५११० भुजज्योद्दिष्ट-सूर्यस्य त्रिज्यावर्गार्द्धमूले ८४। ५१।१० क्रांतिज्या ३४।२९।१० समशंकु क्रांतिज्या

वर्गयो-७२००।११।८८।१६।३६ रंतरा६०।११।४३।२४ न्मूलं ७७।३१।७ द्वादशगुण क्रांतिज्या ४।३।२४ मूलेन भक्ता पलभा सत्र्यंशपंचमिता ५।२०

अत्रोपपत्तिः—छायाकर्णकर्णे द्वादशकोटि स्त्रिज्याकर्णे केति छाया क्षेत्रानुपातेन महाशंकुरिष्टकाले इति प्रश्ने भुजाभावात्सूर्यस्य समवृत्तस्थत्वेन समशंकुः। समशंकुक्रांतिज्यारूपकर्णभुजयोर्वर्गांतरपदं कुज्योनतद्धृतिकोटिः स्यात्। कुज्योनतद्धृतिकोटौ क्रान्तिज्याभुजस्तदा द्वादशकोटौ क इत्यक्ष क्षेत्रानुपातात्पलभा।

विषुवदुदयास्ते न भवतीति प्रागुक्तमेव ॥८०॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—जिस समय रवि सिंह राशि के १५ अंश में है उस समय किसी नगर में १२ अंगुल शंकु की छाया १२ अंगुल के ही तुल्य पश्चिमाभिमुखी देखी गई है तो हे तान्त्रिक ! उस नगर की पलभा बताओ। आचार्य का अभिप्राय उस नगर के अक्षांश से है। करि—हाथी, इसका बैरी (शत्रु) सिंह, सिंह शब्द से यहाँ पर सिंहराशि से अभिप्राय है। इसका आधा सिंहराशि का आधा अर्थात् जब स्पष्ट सूर्य ४।१५।०।० है। आचार्य के उक्त कथन से यहाँ पर काव्य रचना कौशल की भी चमत्कृति ध्वनित होती है।

इस प्रश्न का उत्तर—

त्रिज्या और १२ के गुणनफल में छयाकर्ण से भाग देने से महाशंकु होता है। क्रांत्रिज्या और समशंकु के वर्गान्तिर मूल से क्रान्तिज्या गुणित १२ में भाग देने से भी पलभा हो जाती है।

अतः महाशंकु $=\frac{१२\times \text{त्रि}}{\text{छा. क.}}$। यह महाशंकु=कर्ण, स्प. सू. ४।१५ (सिंहार्द्ध रवि) की क्रान्तिज्या=भुज। तथा $\sqrt{\text{समशंकु}^2-\text{क्रांज्या}^2}$=तद्धृति—कुज्या=कोटि-इस अक्ष क्षेत्र में—$\frac{\text{क्रान्तिज्या}\times १२}{\text{तद्धृति}}$=पलभा उपपन्न होती है।

उदाहरण पुरः सर

यथा—यहाँ पर गोल पर ध्यान देने से यह स्थिति सममण्डल प्रवेश की मालूम होती है, क्योंकि यहाँ छाया और १२ अंगुल शंकु (भुज=कोटि) दोनों तुल्य हैं। इस लिये समशंकु =४५° की ज्या=१२ वीं ज्या=२४३१ होती है। स्प. सू. ४।१५। की क्रान्तिज्या= ९८७।४८ होती है। इन दोनों का वर्गान्तिर मूल

शंकु वर्ग ५९०९७६१
क्रान्तिज्या वर्ग ९७५७४९ } इन दोनों का अन्तर=४९३४०१२।

इसका मूल =२२२१।१५ द्वादश गुणित क्रान्तिज्या ११८५३।३६ में मूल २२२१।१५ का भाग देने से $\frac{११८५३।३६}{२२२१।१५}$=५।२० इस पलभा से स्थूल अक्षांश प्रायः २४° के तुल्य होते हैं। भारतवर्ष में यह देश विन्ध्य पर्वत में होते हैं जो काशी से आसन्न के दक्षिण के नगर होंगे।

इदानीमन्यौ प्रश्नौ—

मार्त्तण्डः सममण्डलं किल यदा दृष्टः प्रविष्टः सखे !
काले पञ्चघटीमिते दिनगते यद्वा नते तावति ।
केनाप्युज्जयिनीगतेन तरणेः क्रान्ति तदा वेत्सि चेत्
मन्ये त्वां निशितं सगर्वगणकोन्मत्तेभकुम्भाङ्कुशम् ॥८१॥

वा० भा०:—हे गणक ! केनचित् किलोज्जयिनीगतेन यदा दिनगते पञ्चघटीमिते काले मार्त्तण्डः सममण्डलं प्रविष्टो दृष्टस्तदा कियती क्रान्तिज्या ? इत्येकः प्रश्नः । अथाऽन्यः ।—तावति पञ्चघटीमिते नते वा काले सममण्डलं प्रविष्टो दृष्टस्तदा च या क्रान्तिज्या तां त्वं चेद्वेत्सि तदा सवर्गगणकोन्मत्तभकुम्भाङ्कुशं निशाणोद्धूतं त्वामहं मन्ये । इति स्पष्टार्थम् ।

मरीचिः—अथ क्रांतिज्यायाः सोद्देशं प्रश्नद्वयं शार्दूल विक्रीडितेनाह— मार्त्तंडः सममंडलं किल यदा दृष्टः प्रविष्टः सखे काले पंचघटीमिते दिनगते यद्वा नते तावतीति हि-सखे । मित्र! उज्जयिनीगतेन द्व्यंगुलोनपंचांगुल पलभान्यतमदेशस्थेनेत्यर्थः । केनापि पुरुषेण, यदा यस्मिन्काले, सूर्यः समवृत्ते प्रविष्टः सन् दृष्टः भुजाभावो यस्मिन्काले दृष्ट इति तात्पर्यार्थः । तदा तस्मिन्काले दिनगते सूर्योदयकालात्पूर्वकपाले इष्टकालावधि यदंतरं तस्मिन्काले । कालोपाध्यात्मके । गत इत्युक्तपोलक्षणं पश्चिमकपाले इष्टकाले सूर्य्यास्तकालांतररूपदिनशेषेऽनुपाध्यात्मक काले तेनोन्नत काले इत्यर्थः । पंचघटीमितज्ञाने सति । सूर्यास्त क्रांतिज्यां, ज्याज्ञानाद्धनुर्ज्ञानोत्पत्तेः वेत्सि । आनयनप्रकारेण जानासीति प्रथम प्रश्नः । द्वितीयमाह-यद्वेति, प्रश्नांतरे भुजाभावकाले, नते, नतकाले तावति पंचघटीमिते ज्ञाते क्रांतिज्यां वेत्सीति द्वितीयप्रश्नः । तथा च पलभाज्ञानात् । भुजाभावकाले उन्नतकालज्ञानान्नतकालज्ञानं नकालज्ञानाद्वा क्रांतिज्यां त्वं वेत्सिचेत् । तर्हि त्वं । सगर्वगणकान्मत्तेभकुम्भां कुम्भांकुशां । गर्वेण शास्त्रज्ञताकल्पकत्वाऽहंकारेण ज्ञानाद्वा क्रांतिज्यां त्वं वेत्सि ।······सहवर्त्तमानास्तादृशा ये गणकास्त एवान्यान् गणकं तदुक्त इत्युन्मत्तंगजाः तेषां कुभांनि-गंडस्थलानि । तेषु अंकुशं निशिते तीक्ष्ण सर्वगणकानां नियंतारमहं मन्ये । तथाचैतादृश यदपेक्षितमस्ति तर्हि तं शीघ्रमुत्तरं वदेति भावः ॥८१॥

इदानीं प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह—

या स्याद्रवेरुन्नतकालजीवाऽभीष्टा हृतिः सा प्रथमं प्रकल्प्या ।
अर्का १२ क्षभाघातहताक्षकर्णकृत्योद्धृति स्यादपमज्यकास्याः ॥८२॥

चरादिकेनेष्टहृतिः प्रसाध्या गुणस्तया क्रान्तिगुणोऽसकृच्च ।
तदाद्यहृत्या विहृतः स्फुटः स्यात् सहस्ररश्मौ सममण्डलस्थे ॥८३॥

वा० भा०ः—रवेः सममण्डलप्रवेशे य उन्नतकाल उद्दिष्टस्तस्य जीवा सा तावत् प्रथममिष्टहृतिः कल्प्या। ततो द्वादशगुणया अक्षभया गुण्या पलकर्ण-वर्गेण भाज्या। सा किल स्थूला क्रान्तिज्या भवति। तस्याः क्रान्तिज्याया द्युज्यां कुज्यां चरज्यां चरञ्च कृत्वा "अथोन्नतादूनयुताच्चरेण" इत्यादिनेष्टहृतिः साध्या। तया पूर्वमागता क्रान्तिज्या गुण्या। आद्यहृत्या कल्पितया भाज्या। फलं स्फुटासन्ना क्रान्तिज्या भवति।

अत्रोपपत्तिः—अत्रोन्नतकालजीवातुल्या प्रथमं तद्धृतिः कल्पिता। तस्या अनुपातेन शङ्कुः। यदि पलकर्णेन द्वादशकोटिस्तदा तद्धृतिकर्णेन किम्? इति। अत्र तद्धृतेर्द्वादश गुणः पलकर्णो हरः। फलं सममण्डलशङ्कुः। पुनरन्योऽनुपातः।—यदि पलकर्णेनाक्षभा भुजो लभ्यते, तदा सममण्डलशङ्कुतुल्येन कर्णेन किम्? इति। फलं क्रान्तिज्या स्थूला। अस्याः क्रान्तिज्यायाश्चरादिकेन "अथोन्नतादूनयुताच्चरेण" इत्यादिनेष्टहृतिः साध्या। तां तद्धृतिं प्रकल्प्य पुनः क्रान्तिज्या साध्या। एवमसकृद्यावदविशेषः। तत्रासकृत्कर्म्मणि त्रैराशिकेन क्रियोपसंहारः कृतः। यदि कल्पितया हृत्येयं क्रान्तिज्या लभ्यते, तदेदानीमानीतया किम्? इति। एवं क्रान्तिज्या स्फुटा स्यादित्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथ प्रश्नस्येंद्रवज्रोपजातिकाभ्यामुत्तरमाह-चरादिकेनेहेति—उन्नतकालजीवाभीष्टा हृतिः सा प्रथमं प्रकल्प्य······सममंडलस्थे इति। रवेर्योन्नत-कालस्य ज्या, तत्साधनन्तु उन्नतघटिका षड्गुणाः-अंशाः। नवत्यंतर्गताश्च तेषा-मुक्तप्रकारेण ज्या आनंतर्गताश्चेत् वार्ष्टेदुभ्यः शुद्धाः शेषांशानां, ज्येति। सानीता प्रथमं सैव पूर्वमिष्टहृतिः प्रकल्पा। अथोन्नतादूनयुतादिना वास्तवेष्ट-हृतेरज्ञानात्। अग्रेऽन्त्येष्टन्त्येहृतिः कल्पितेति। प्रममित्युक्तम्। सेष्टहृतिर्द्वादश-पलभाघातेन गुणिताः, पलकर्णद्वादशपलभयोर्वर्गयोगेनेत्यर्थः भक्ता। क्रांतिज्या स्यात्। अस्याः, क्रांतिज्यायाः सकाशाच्चरादिकेन पूर्वोक्तप्रकारानीतेन आदि पदात् द्युज्याकुज्यादीनां संग्रहः। यद्यपि चरसाधने नैवकुज्याद्युज्यासंग्रहस्तथापि चरेणे-त्युक्तेन तदप्रयोजकत्वापत्त्या चरसाधनानंतरं तन्नाशसंभवात्। इष्टहृतिरथोन्नता-दित्यादिना साध्या। तयाथोन्नतादिनेष्टहृतिः साध्या तया सूक्ष्मः क्रांतिज्यांकः गुणितः तदाद्यहृत्या गुणकेष्टहृतेः पूर्वं येष्टहृतिः कल्पिता तयेत्यर्थः। भक्तः स्फुटा क्रांतिज्यांकः पूर्वापेक्षया सूक्ष्मः स्यात्। अस्माच्चरादिकेनाथोन्नतादित्या-दिनेष्टहृतिः साध्या। तया सूक्ष्मः क्रांतिज्यांकः गुणितः सूक्ष्मसंबंधीष्टहृत्या भक्तः फलं ततोऽपि सूक्ष्मा क्रांतिज्येत्यसकृद्यावदविशेषः। यत्तु स्फुटक्रांतिज्यायाश्चरादि-केन या साधितेष्टहृतिस्तया प्रथमसाधितक्रांतिज्या गुणनीया। उन्नतज्यया भक्त इत्यसकृदिति। तन्न, तदाद्यहृत्या तत्र तदित्यस्य व्यर्थत्वापत्तेः। नन्वयं प्रकारः साधारणोऽपि भुजसद्भावे व्यभिचरत्यत आह-सहस्ररश्माविति।

सूर्ये सममंडले सति। तथा चायं प्रकारः प्रश्नोत्तरमिति प्रश्नस्य भुजाभाव-कालिकत्वात्प्रकारस्यापि तात्कालिकतान्नसाधारणत्वमिति व्यभिचार शंकानवकाश

इति भावः। यथोदाहरणे उनतज्या ६० द्वादशपलभा ५ घातगुणा पलकर्णवर्ग १६९ भक्ता फलं स्थूलाक्रांतिज्या ११।१८ द्युज्या ११८।५।२ कुज्या ८।५२।३३ चरज्या ९।१।९ चरधनुः ४।१७।४१ घट्यादिचरं। ४३ अथोन्नतादित्यादिना सूत्रं ५५।१७।९ कला ५१।७।३६ उत्तरगोलत्वात्कुज्यायुतेष्टहृतिः ६०।०।०।१।१०।१९। अनया पूर्व-क्रांतिज्या गुणा १२७८।१०।१२ आद्यहृत्या ६० भक्ता २१।१८।१० क्रांतिज्याद्युज्या ११।१८।५०
८।५२।३४ चरज्या ९।१।१० घटीचरम्। ४३ कला। ५।७।३७।१९।१० गुणिता ११७८
११९५।३८ कुज्या१२७८।१३।५४ आद्यहृत्या ६०१०।९११ अनया भक्ता क्रान्तिज्या पूर्वक्रांतिज्या २१।१८।१०।

अत्रोपपत्तिः—पलकर्णे पलभा भुजस्तदा समशंकुकर्ण क इत्यनुपातेन क्रांतिज्या। तत्राक्षकर्णे द्वादश कोटिस्तदा तद्धृति कर्णे केत्यनुपातेन समशंकुस्तत्रापि समवृत्ताधिष्ठितसूर्यस्य प्रश्ने, उद्देशादिष्टहृति रेव तद्धृतिः। अतस्तद्धृतिः, पलभा द्वादशघातगुणा पलकर्णवर्गभक्तक्रांतिज्या स्यादित्युपपन्नम्। अथोदयमानासंगतम्। इष्टहृतेरज्ञानात्। न चोन्नतकालज्ञानादथोन्नातादित्युक्तप्रकारेणेष्टहृति ज्ञानमिति वाच्यम्। चरज्ञानाभावादिति चेन्न द्युरात्रग्रहबिंबसंबंधात्तद्वृत्ते उदयास्त सूत्रा-वधितिर्यक्सूत्रस्येष्ट हृतित्वात्क्षितिजद्युरात्रवृत्तसंपाताद्ग्रहावध्युक्तन्नतकालस्य ज्ञान्ना-त्तज्याया एवेष्टहृतित्व कल्पनात्।

क्षितिजद्युरात्रवृत्तसंपातादहोरात्रवृत्तव्याससूत्रादुन्नतज्यासिद्धेः स्वल्पांतर-त्वात्।

न च तथापीष्टांत्यासिद्धहृतेर्द्युज्या परिणतत्वादिति वाच्यम्। प्रथम द्युज्यायास्त्रिज्यातुल्यत्व कल्पनात्। अतएवावास्तवत्वेन सांतरत्वाच्च प्रथमं प्रकल्प्येत्युक्तम्। अथानीता क्रांतिज्या सांतरेति तस्याः—सकाशात् द्युज्या कुज्याचरज्यासिद्धे रथोन्नतादित्यादिनेष्टहृतिः सूक्ष्मा प्रकारानीतापि सांतरा सूक्ष्मा-सन्ना। तदुपजीव्यक्रांतिज्यायाः स्थूलत्वादतः पुनः क्रांतिज्या ततोऽपीष्टहृतिस्त-तोऽपि क्रांतिज्येत्यसकृत्सूक्ष्मा भवत्यप्याचार्यैः-कल्पितेष्टहृति प्रमाणेन प्रथमक्रां-तिज्या तदा द्वितीयेष्टहृत्या केत्यनुपातेन सूक्ष्मासन्ना क्रांतिज्येत्येव द्वितीयहृत्या द्वितीय क्रांतिज्या तदा तृतीयहृत्या केति सूक्ष्मासन्ना क्रांतिज्येयमसकृदिति कल्पितं लाघवात्। समशंकुसंबंधेन कोटिज्यासिद्धेः समवृत्तस्थे ग्रहे एतत्प्रकारो नान्यत्र, एवं प्रश्नेऽपि समवृत्तस्थत्वावश्यकत्वमुक्तम्, एतेन दिनकरे इत्यादि प्रश्नेऽपि भुजाभावात्कर्णवृत्ताग्राया एव पलभात्वात्प्रथमं क्रांतिज्या तुल्याग्रायाः कर्णवृत्ताग्रा तस्याः पुनरुक्त प्रकारेणाग्रां प्रसाध्य कर्णवृत्ताग्रेत्यसकृत्पलभा भवतीति प्रकारः सूचितः। उक्तन्यायस्य तुल्यत्वादिति ॥८३॥

इदानीं द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह—

तदा नतज्यात्रिभजीवयोर्यद्वर्गान्तरं तत् पलभाकृतिघ्नम्।
तेनोद्धृतो व्यासदलस्य वर्गो वेदेन्द्र १४४ निघ्नोऽथ सरूपलब्ध्या ॥८४॥

व्यासार्द्धवर्गाद्विहृतात् पदं स्यात् क्रान्तिज्यका सा त्रिभशिञ्जिनीघ्नी ।
जिनांशमौर्व्या विहृताद्यचापादग्रे प्रवक्ष्ये च यथा रविः स्यात् ॥८५॥

वा० भा०:—यदा सममण्डलं प्रविष्टो दृष्टस्तदा या नतघटिकास्तासां जीवा । तस्या वर्गेण त्रिज्यावर्गो रहितः । ततः पलभावर्गेण गुण्यः । तेन भाज्यः । कस्त्रिज्यावर्गः ? किं विशिष्टः ? वेदेन्द्र १४४ गुणितः । तत्र यत् फलं लभ्यते तेन सैकेन त्रिज्यावर्गाद्भक्ताद्यन्मूलं लभ्यते सा क्रान्तिज्या स्यात् । सा क्रान्तिज्या त्रिज्यागुणा जिनांशज्यया भक्ता यत् फलं तस्य चापाद्यथा रविर्भवति तथाग्रे वक्ष्ये ।

अत्रोपपत्तिरव्यक्तकल्पनया । तत्र क्रान्तिज्याप्रमाणं यावत्तावत् १ । क्रांतिज्यावर्गोनस्त्रिज्यावर्गो द्युज्यावर्गः स्यात् । याव १ त्रिव १ । तदा नतज्यावर्गेणोनस्त्रिज्यावर्गः सूत्रसंज्ञस्य वर्गः स्यात् । सूत्रं द्युज्यागुणं त्रिज्याहृतं कलासंज्ञं स्यात् । तत्र कला नाम कुज्योना तद्धृतिः । अत्र "वर्गेण वर्गं गुणयेद्भजेच्च" इति सूत्रसंज्ञस्य वर्गेण द्युज्यावर्गो गुण्यस्त्रिज्यावर्गेण भाज्यः । फलं कलावर्गो भवति । तत्र कला कोटिः । क्रान्तिज्या भुजः । समशङ्कुः कर्णः । इदं पलक्षेत्रम् । अतस्तेनानुपातः ।— यदि द्वादशकोटेः पलभाभुजस्तदा कुज्योनिततद्धृतेः कलासंज्ञायाः किम् ? इति । एवमत्र कलावर्गस्य पलभावर्गो गुणः । द्वादशवर्गो हरः । फलं क्रान्तिज्यावर्गः । एवमत्र द्युज्यावर्गस्य सूत्रवर्गविषुवतीवर्गयोर्घातो गुणस्त्रिज्यावर्गद्वादशवर्गयोः १४४ घातो १७०२०५७५३६ हरः । अत्र सूत्रवर्गेण पलभावर्गगुणेन भाज्येऽपवर्त्तिते जातो द्युज्यावर्ग एव याव १ रू ११८१९८४४ । भाजके चापवर्त्तिते जाता अष्टौ वित्र्यंशाः ७ । ४० । अयं द्युज्यावर्गस्य छेदः । दर्शनम् । याव १ रू ११८१९८४४ ।
छेदः ७।४० ।

अयं क्रान्तिज्यावर्गस्यास्य याव १ सम इति समच्छेदीकृत्य छेददमे पक्षयोः शोधनार्थं न्यासः याव १ रू ११८१९८४४ । अत्र शोधने कृतेऽव्यक्ताङ्केनानेन ८ । ४० व्यासार्द्ध-
याव ७।४० रू ००००० ।
वर्गाद्भक्तान्मूलं लब्धं यावत्तावन्मानम् । सैव क्रान्तिज्या ११६८ । एवं "नतज्या-त्रिभजीवयोर्यद्वर्गान्तरम्" इत्यादि सर्वमुपपन्नम् ।

मरीचिः—अथ द्वितीयप्रश्ने समवृत्तस्थसूर्यादर्शान्नतज्यावर्गोनस्त्रिज्या-वर्गः सूत्रवर्गः । उन्मंडलयम्योत्तरवृत्तांतरस्थद्युरात्रवृत्तप्रदेशस्य वृत्तचतुर्थांशत्वात् । तन्मूलं सूत्रम् । तत्तु द्युज्या परिणतं कला सा प्रश्नकाले कुज्योनतद्धृतिः । तथाचद्वादशकोटौ पलभा भुजस्तदा कुज्योनतद्धृतिकोटौ को भुज इत्यनुपातेन क्रांति ज्या । तत्र प्रथमं द्युज्याया अज्ञानात्सूत्रमेव कला कल्पिता । तेन तज्ज्या वर्गोनस्त्रिज्या वर्गस्तन्मूलं पलभा गुणं द्वादश भक्तं स्थूला क्रांतिज्या । ततो द्युज्या । ततः कुज्योनतद्धृतिस्तस्या पूर्वानुपातेन क्रांतिज्येत्यसकृत् । यद्वा, स्थूल क्रांतिज्यायाः द्युज्या साध्या । कुज्योनतद्धृतिश्च सूत्रतुल्यकुज्योनतद्धृतिश्च । सूत्रतुल्यकुज्योन-तद्धृत्या स्थूला क्रांतिज्या तदानीतकुज्योनतद्धृत्या केत्यनुपातेनासकृत । यद्वा, त्रिज्या प्रमाणेन स्थूला क्रांतिज्या तदा द्युज्यया केत्यनुपातेनासकृत्सूक्ष्मा क्रांतिज्या स्यादिति

पूर्वोक्तरीत्योत्तरस्यासकृत्करणेन गौरवात्प्रयासाधिक्याच्च लघुभूतमन्यदुत्तरं प्रसंगादन्यस्योपजातिकाभ्यामाह—तदानतज्यात्रिभजीवयोर्यद्वर्गांतरमिति स्यादिति। यदा द्वितीयप्रश्ने उद्दिष्टे तदेत्यर्थः। अन्यथा भुजसद्भावकाले उक्त प्रकारस्य व्यभिचारापत्तेः। पंचदशघटीतिरिक्तनते साक्षदेशे क्रांतिज्याभावेऽपि क्रांतिज्योत्पत्यापत्तेश्च। पंचदश घटिकानते साक्षदेशे क्रांतिज्या सत्वेऽपि तदनुत्पत्त्यापत्तेश्च।

अत्र नतघटिकाः षड्गुणाः अंशास्तेषांज्यानतज्येत्यर्थस्ततस्त्रिज्ययो यद्वर्गांतरं, तत्पलभावर्गगुणं तेन सिद्धेन वेदेन्द्रनिघ्नस्त्रिज्यावर्गो भक्तस्तदनंतरं सरूपलब्ध्या। एकयुक्तफलेन भक्तत्रिज्यावर्गान्मूलं क्रांतिज्या स्यात्। अथ क्रांतिज्या प्रश्नस्य प्रयोजनमाह-सेति। अथानंतरम्। आनीता क्रांतिज्या त्रिज्या गुणा। चतुर्विंशत्यंशज्यया भक्ता। फल धनुषः सकाशात्। यथा, यत्प्रकारेण रविः स्यात्तथा तत्प्रकारमग्रे यन्त्राध्याये सूक्ष्मत्वेन वक्ष्ये। सूर्यज्ञानार्थं क्रांतिज्याप्रश्न इति भावः। यथोदाहरणेन तज्ज्या ६० त्रिज्ययो-१२० वर्गाः-३६००।१४४०० तरं १०८०० पलभावर्ग-२५ गुणं २७०००० अनेन त्रिज्या वर्गो वेदेन्द्रगुणितो २०७३६०० भक्तफलं ७।४०।४८ सैकं ८।४०।४८ अनेन त्रिज्यावर्गो १४४०० भक्तः १६५९।१० अस्य मूलं ४०।४३।५० क्रांतिज्या त्रिज्यागुण ४८८७।४० चतुर्विंशांशज्यया ४८।४५ भक्ता १००।१५।३६ अस्याश्चापं सायनार्क भुजांशाः ५६।३७।२९ भुजो राश्यादिः। १।२६।३७।२९ समवृत्तस्थसूर्यदर्शनस्य प्रश्ने उत्तरगोले प्रथम पदे सूर्यः—१।२६।३७।२९ द्वितीयपदे सूर्यः ४।३।२२।३१ अनयोरन्यतरोऽभीष्टः सायनस्पष्टोऽर्कः।

अत्रोपपत्तिरेकवर्णसमीकरणेन क्रांतिज्याप्रमाणं यावतावत्। या १। अस्याः समीकरणार्थं द्वितीया क्रांतिज्या साध्या तत्साधनं तु प्रश्ने सममंडलस्थ खगान्योद्देशात्कलाकुज्योनतद्धृतिः कोटिः क्रांतिज्याभुजः समशंकुः कर्ण इत्यक्ष क्षेत्रात् द्वादशकोटौ पलभाभुजस्तदा कलाकोटौ को भुज इत्यनुपातेन कोटिज्या। तत्र कलाज्ञानं तु त्रिज्यापरिणतसूत्रस्य द्युज्यापरिणतत्वेनातः सूत्रं साध्यम्। तत्साधनंतु निरक्षोदयास्तसूत्रस्य द्युरात्रवृत्तव्यासार्धत्वान्नतज्या कोटिः नतकालोनपंचदशघटिका उन्मंडलादूर्द्धद्युरात्रवृत्ते उन्नतकालस्तज्ज्या सूत्रं भुजः व्यासार्द्धं त्रिज्या कर्ण इति क्षेत्रस्य गोले दर्शनान्नतज्यावर्गोनत्रिज्यावर्गः सूत्रवर्गः। यथा। नव १ त्रिव १ अयं द्युज्यावर्गपरिणतः कलावर्ग इति क्रांतिज्या वर्गोनत्रिज्यावर्गो द्युज्यावर्गः यथा याव १ नव यावत्रिव १ अस्य मूलालाभाद्वर्गेण वर्गं गुणयेद् भजेच्चेत्याद्युक्तेर्नतज्यावर्गोनस्त्रिज्यावर्गरूपसूत्रवर्गो द्युज्यावर्गगुणस्त्रिज्या वर्ग भक्तः सिद्धः कलावर्गः। याव नव १ यावत्रि व १ त्रिवनव १ त्रिवव १ त्रिव अस्मात्पूर्वानुपातेन वर्गात्मकेन क्रांतिज्या वर्गः। याव नव यव १ याव त्रिव पव १ त्रिव १ नव पव १। त्रिज्याव व यव त्रिवव १४४ अयं पूर्वकल्पित क्रांतिज्या वर्गेण सम इति समछे-[त्रिव १] दीकृत्य छेदगमे शोधनार्थं पक्षयोर्न्यासः अत्रोर्ध्वपक्षे। याव नव पव १ याव त्रिवप [त्रिव १४४] १ त्रिव नव पव १। त्रिवव पव १ वर्ग प्रथम द्वितीय खण्डयोः सकाशात्प्रथमस्थाने नतज्यावर्गोनस्त्रिज्या १ पलभा

वर्ग त्रिज्या वर्गा-[याव त्रिव १४४ । रु०] भ्यां द्वितीयगुणितो धनम् । आद्यपक्षे त्रिज्यावर्ग द्वादशवर्गघातो यावद्वर्गगुणो धनम् । एतौ पक्षावूर्ध्वपक्षाव्यक्तवर्गा-केन धनेनापवर्त्तितौ व्यासदलस्य वर्गो वेदेंन्द्रूनितोऽव्यक्त वर्ग धनम् ।

तथा च पक्षौ । याव १ त्रि १ । अत्रैकाव्यक्तं शोधयेदित्यादिना व्यक्त-पक्षे सैकफलं यावद्वर्ग गुणम् । व्यक्तपक्षे त्रिज्यावर्गः शेषाव्यक्तेनोद्धरेद्रूपयावक १ रू । शेषमिति सरूपलब्ध्या व्यासार्द्धवर्गाद्द्वियुतात्फलं क्रांतिज्यावर्गस्त-द्वर्गयोः समीकरणात् । तन्मूलं क्रांतिज्येति । यदा विषुवदुदयास्ते त्रिज्या नतज्ययोः समत्वं तदूर्ध्वपक्षेऽव्यक्त वर्गस्थाने शून्ये रूपस्थाने शून्यम् । तत्राव्यक्तवर्गाकेन शून्येनापवर्त्तिते त्रयः खंहराः । समशोधने त्रिज्या वर्गाद् द्वादशवर्ग गुणो यावद् वर्गगुणः खहरो विकृतः । रूपयोजनेऽप्यविकृतस्तेन रूपशेषे भक्ते शून्यं क्रांतिज्या । अतएव श्लोकोक्तप्रकारेण त्रिज्यावर्गे खहर राशिभक्त छेदं लवंच परिवर्त्यत्यादिना शून्यक्रांतिज्या सिद्धेर्नक्षतिः । श्रीपतिना यथा स्थितपक्षौ त्रिज्या वर्गेणापवर्त्तितौ समशोधने नतज्या वर्गोनत्रिज्या वर्गः पलभावर्गगुणो वेदेंद्रयुत आद्य संज्ञः कल्पितः । रूपराशिस्त्वन्य संज्ञः पूर्वार्धोक्तः आद्यभक्तान्यराशिः क्रांतिज्या वर्गे इत्युक्तम् तथा च तद्वाक्यम्—समनरनतकालज्या त्रिमौर्वीकरयोर्विवरमभिहतं तद्वैषुवत्याश्च कृत्याष्टथाथपदजीवा वर्गसंभक्तमाद्यः फलमिनकृतियुक्तं भाजकः सोऽन्यराशेः । फलस्य यत्पदं भवेदपक्रमस्य शिंजिनीति ।

अत्र नव्याः—तात्कलिककलायाः कुज्योनतद्धृतित्वाद्वादशकोटौ पलभाभुज-स्तदा कला कोटौ को भुज इति क्रांतिज्या । कला तु सूत्रं द्युज्यागुणं त्रिज्या भक्तम् । नवद्युज्याज्ञाने-लाघवात् द्युज्यावर्गोनत्रिज्यावर्गमूलेन क्रांतिज्या ज्ञाना-त्प्रकारांतरानुसरणं व्यर्थमेव । तदज्ञाने कलाया असिद्धेरुक्तप्रकारेण कथमपि न सिध्येत्क्रांतिज्येति वाच्यम् । तथाप्युक्तप्रकारस्य वर्गगतत्वे तद्ज्ञानात्तन्मूलस्य क्रांतिज्यात्वे बाधकाभावात् नतज्यावर्गोनत्रिज्यावर्गरूप सूत्रवर्गो द्युज्यावर्गपलभा वर्गाभ्यां गुणितोऽ ब्धवेदेन्द्रगुणितेन त्रिज्यावर्गेण भक्तः क्रांतिज्यावर्गस्तत्र सूत्र वर्गः पलभावर्गगुणितः कुतस्ततो भाज्यहरौ भाज्येनापवर्त्य भाज्यस्थाने रूपं हर-स्थाने तेनोद्धृतो व्यासदलस्य वर्ग इतिजातं तथा च द्युज्यावर्गो हरभक्तः क्रांतिज्या वर्गस्तत्रभाज्यस्थाने त्रिज्यावर्गो धृत इति हरस्तदनुरोधेन कार्यः । अन्यथा पूर्व फलत्वानापत्तेः । अतो द्युज्यावर्गभाज्येऽयं हरस्तदा त्रिज्या वर्गभाज्ये क इत्यनुपाते गुणस्य त्रिज्यावर्गस्य खंडद्वयमेकं द्युज्या वर्गमितम् । परं तदूनत्रिज्यावर्ग रूप-क्रांतिज्या वर्गमितं प्रत्येकं द्युज्या वर्गो हरश्च तेन प्रथमस्थाने गुणहरयोर्नाशाद्धरएव । द्वितीयस्थाने क्रांतिज्यावर्गगुणितो हरो द्युज्यावर्गसम इति रूपं फलम् । हर भक्तस्य द्युज्यावर्गस्य क्रांतिज्यावर्गत्वेन प्रतिपादनात् । तथा च त्रिज्यावर्गः सैकहर-भक्तः क्रांतिज्यावर्गः स्यादिति कल्पयंति । चतुर्विंशत्यंशज्यया त्रिज्या तुल्या दोर्ज्या तदेष्टक्रांतिज्यया केति फलं सायनार्कदोर्ज्यातश्चापभुजस्तस्य चतुः पदेपि संभवाद्रविज्ञानं कथमित्यतोऽग्रे प्रवक्ष्येऽथ यथा रविः स्यादित्युक्तम् ॥८४॥८५॥

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—इस ८१ श्लोक में दो प्रश्न हैं ।

(१) हे गणक किसी उज्जयिनी नगरस्थ वेध कुशल गणितज्ञ ने सूर्योदय से ५ घटी (२ घण्टा) उन्नतकाल समय में रवि का सममण्डल प्रवेश देखा, तो बताइये कि वहाँ उज्जयिनी में (प्राचीन और आधुनिक प्रसिद्ध भारतीय नगर जहाँ वेधालय था) तत्कालीन रवि की क्रान्ति क्या होगी ?

(२) अथवा ५ घटी (२ घण्टा) तुल्य नत काल में रवि का समगण्डल प्रवेश देखा ऐसी स्थिति में यदि तुम क्रान्तिज्या (Declinrtion or its sine) क्रान्तिज्या जानते हो तो अहंकार युक्त गणक रूप उन्मत्त हाथी के लिये शाण में स्थापित अंकुश की तरह मैं तुम्हें मानूंगा । अर्थात् गर्वी गणकों के गर्व को चूर करने में तुम पूर्ण विभु हो या ग्रह गणित गोल के पूर्ण पटु हो । यही भाव है ।

श्लोक ८२ से—सममण्डल प्रवेश में उन्नत कालज्या को इष्टहृति कल्पना कर उसे १२×अक्षभा से गुणा कर पल कर्ण वर्ग का भाग देने से वह स्थूल क्रान्तिज्या होती है । इस क्रान्तिज्या से द्युज्या कुज्या-चरज्यादि बना कर-कथित प्रकारों से इष्टहृति का साधन करना चाहिए । इस इष्ट हृति और आगत क्रांन्तिज्या के गुणनफल में कल्पित आदि हृति का भाग देने से सूक्ष्म के आसन्न क्रान्तिज्या होती है पुनः बार बार यह कर्म करने से सूक्ष्म क्रान्तिज्या का ज्ञान हो जावेगा ।

आचार्य ने यहाँ असकृत् प्रकार से गौरव किया है—संशोधक नें इस प्रश्न का समाधान एक बार के गणित से किया है—(संशोधक शोधित शिरोमणि देखिये) जो आदर के उपयुक्त है ।

आचार्य के मत से

अहोरात्रवृत्त के गर्भीय केन्द्र से क्षितिज और अहोरात्र वृत्त सम्पात गत सूत्र पर रवि बिम्ब से जो लम्ब है उसे आचार्य ने तद्धृति माना है, यह तद्धृति बास्तव तद्धृति से कुछ कम है–इसको समझ कर आचार्य ने असकृत् प्रकार का उपपोग किया है जो उचित है–किन्तु गणित गौरव भी है ।

जैसे—$\frac{\text{पलभा} \times \text{तद्धृति}}{\text{पलकर्ण}} = \text{अग्रा}$ ।

ज्या क्रां $= \frac{१२ \times \text{अग्रा}}{\text{पलक}} = \frac{१२ \times \text{पलभा} \times \text{तद्धृ.}}{\text{प क}^{२}}$ । तद्धृति की कथित उक्त स्थूलता से यह क्रान्तिज्या भी स्थूल है । अतः इस क्रान्तिाज्या से द्युज्या, चरज्या, और सूत्र का साधन कर $\frac{\text{सूत्र} \times \text{द्युज्या}}{\text{त्रि}} = $ कला, इस कला से साधित तद्धृति, पूर्व की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म होगी—इस प्रकार गणित करते २ एक रूपा तद्धृति के मान से एक रूपा क्रान्तिज्या का ज्ञान युक्ति युक्त है ।

(२) दूसरे प्रश्न के समाधान के लिये—

नतज्या और त्रिज्या के वर्गान्तर मूल को पलभा से गुणा कर इससे १४४ गुणित त्रिज्या वर्ग में भाग देने से लब्धि में १ जोड़ने से इससे विभक्त त्रिज्यावर्ग का मूल क्रान्तिज्या होती है। क्रान्तिज्या को त्रिज्या से गुणा कर जिनज्या से भाग देने से लब्ध फल का चाप स्पष्ट रवि होता है। क्रान्तिज्या से रवि ज्ञान की यह पुनरुक्ति है। पुनरुक्ति न की जाने पर भी बुद्धिमान इसे स्वयं जान लेते हैं।

$$\text{क्रान्तिज्या मान} = \text{य, अतः कला}^2 = \frac{१२^2 \times \text{य}^2}{\text{पलभा}^2}$$

$$\therefore \sqrt{\text{त्रि}^2 - \text{ज्यान}^2} = \text{सूत्र, यहां } \frac{\text{सूत्र} \times \text{त्रिज्या}}{\text{द्युज्या}} = \text{कला इस सिद्धान्त से}$$

$$\frac{१२.^2 \text{ य.}^2 \text{ त्रि}^2}{(\text{त्रि}^2 - \text{य}^2) \times \text{पलभा}^2} = \text{सूत्र}^2$$

$$१२.^2 \text{ य.}^2 \text{ त्रि}^2 = \text{सू.}^2 \text{ पलभा}^2 \text{ त्रि}^2 - \text{सू.}^2 \text{ पलभा.}^2 \text{ य}^2$$

$$\text{य}^2 \ (१२.^2 \text{ त्रि.}^2 + \text{सू.}^2 \text{ पलभा}^2) = \text{सू.}^2 \text{ पलभा.}^2 \text{ त्रि}^2$$

$$\text{य}^2 = \frac{\text{सू.}^2 \text{ पलभा.}^2 \text{ त्रि}^2}{१२.^2 \text{ त्रि.}^2 + \text{सू.}^2 \text{ पलभा}^2}$$

$$= \frac{१२.^2 \text{ त्रि}^2}{\text{सू.}^2 \text{पलभा}^2} + १ = \text{त्रि}^2$$

$$\therefore \text{य}^2 \ (\text{ल} + १) = \text{त्रि}^2$$

$$\therefore \text{य}^2 = \frac{\text{त्रि}^2}{\text{ल} + १}$$

$$\therefore \text{य} \sqrt{\frac{\text{त्रि}^2}{\text{ल} + १}} = \text{क्रांन्तिज्या-ततः रवि ज्ञान सुगम है।}$$

अथान्यं प्रश्नमाह—

मार्त्तण्डे सममण्डलं प्रविशतिच्छाया किलाष्टाङ्गुला
दृष्टाष्टासु घटीषु कुत्रचिदपि स्थाने कदाचिद्दिने।
अर्कक्रान्तिगुणं तदा वदसि चेदक्षप्रभां तत्र च
त्रिप्रश्नप्रचुरप्रपञ्चचतुरं मन्ये त्वदन्यं न हि ॥८६॥

अस्योत्तरमाह—

अत्रापि साध्योन्नतकालजीवा पूर्वं तु सैवेष्टहृतिः प्रकल्प्या।
ततोऽर्कनिघ्नी समशङ्कुभक्ता पलश्रुतिः स्यात् पलभा ततश्च ॥८७॥
पलप्रभाघ्नः समशङ्कुरक्षकर्णोद्धृतः स्यादपमज्यकातः।
चरादिकेनेष्टहृतिस्ततोऽक्षकर्णोऽसकृत् क्रान्तिगुणश्च तस्मात् ॥८८॥

वा० भा०:—अत्र किल षोडशाङ्गुला सममण्डलच्छाया । विंशत्यङ्गुलः कर्णः । यद्यनेन कर्णेन द्वादशाङ्गुलशङ्कुस्तदा त्रिज्याकर्णेन क इति फलं सममण्डलशङ्कुः । तथा च प्रागभिहितं "त्रिज्यार्कघातः श्रुतिहृन्नरः स्यात्" इति । अतोऽत्र ज्ञातः समशङ्कुः पञ्चांशोनास्त्र्यङ्गनखाः २०६२ । ४८ । अत्रापि साध्योन्नतकालजीवेति ।—यथा पूर्वप्रश्नभङ्गे उन्नतकालज्येष्टहृतिः प्रकल्पिता तथाऽत्राप्युन्नतकालज्येष्टा हृतिः प्रथमं प्रकल्प्या । सार्क १२ द्वादशगुणा सममण्डलशङ्कुना भाज्या । यत् फलं स स्थूलः पलकर्णः स्यात् । तस्मात् पलभा साध्या । तया पलभया सममण्डलशङ्कुर्गुण्यः पलकर्णेन भाज्यः । फलं स्थूला क्रान्तिज्या । तस्याः क्रातिज्याया द्युज्याकुज्यादिकं प्रसाध्य "अथोन्नतादूनयुताच्चरेण" इत्यादिनेष्टहृतिः साध्या । तस्याः पुनरक्षकर्णस्ततः क्रान्तिश्च । एवमसकृद्यावदविशेषः ।

अत्रोपपत्तिः ;—अत्रयोन्नतकालज्या सा तद्धृतिः कल्पिता । तयाऽनुपातः । यदि समशङ्कोस्तद्धृतिः कर्णस्तदा द्वादशाङ्गुलशङ्कोः कः ? इति । फलं पलकर्णः । ततोऽन्योऽनुपातः ।—यदि पलकर्णस्य पलभा भुजस्तदा समशङ्कुतुल्यस्य कर्णस्य कः ? इति । फलं क्रान्तिज्या । यतः समशङ्कुः कर्णः । क्रान्तिज्या भुजः । कुज्योनिता तद्धृतिः कोटिः । इदं पलक्षेत्रम् । एवमसकृत्कर्म्मणा पलभाक्रान्तिज्ये स्फुटे भवत इत्युपपन्नम् ।

मरीचिः—अथ क्रान्तिज्यापलभयोः संमिश्रं सोद्देशं प्रश्नं शार्दूलविक्रीडितेनाह—मार्त्तंडे सममंडलमिति···चतुरं मन्ये त्वदन्यं नहीति-कुत्रचिदपि स्थाने, अज्ञातपलभादेशे, कदाचिद्दिने अज्ञातस्पष्टराश्याद्यवयवात्मकसूर्यसंबद्धदिने । अष्टासु घटीषु गतासु नुर्वरितासु वा तन्मितोन्नतकाले । सूर्ये समवृत्तं प्रविशति-भुजाभावाच्छिन्नेकाले इत्यर्थः । किलासंशयं द्वादशांगुलशंकोः छाया षोडशांगुला दृष्टा तदा-तत्काले सूर्यस्य क्रांतिज्यामानयनप्रकारेण वदसि, कथयसि कथयाश्रयीभूतदेशेऽक्षभा चः समुच्चये तथा चासि । ननु पलभाज्ञाने छायाज्ञानेन समशंकुज्ञानादक्षक्षेत्रानुपातेन क्रांतिज्यायाः सुखेन सिद्धेरज्ञोप्यस्योत्तरं दास्यत आह—अक्षप्रभामिति तत्रगृहीतषोडशांगुलेऽष्ट छायाश्रयीभूत देशेऽक्षभां । चः समुच्चये । तथा च भुजाभावकालीनोन्नतकालछाययोर्ज्ञानादक्षभा क्रांतिज्ये आनयसि चेदिति तात्पर्यार्थः । अन्यथोन्नतकालादेव क्रांतिज्या सिद्धेरिष्टछायोद्देशस्यानतिप्रयोजनापत्तेः ।

अतएव क्रांतिज्या ज्ञानेऽभीष्ट छायाया एव पलभा सिद्धेरुन्नतकालोद्देशस्य व्यर्थत्वापत्तेरेक एव प्रश्नः । एतद्द्योतनार्थमेव कुत्रचिदपिस्थाने कदाचिद्दिने इति पूर्वमुक्तम् । आनयसि चेदित्यस्य साकांक्षत्वादाह-त्रिप्रश्नेत्यादि । त्वदन्यं समीचीनोत्तरदातुस्त्वत्तोऽतिरिक्तगणकं, त्रिप्रश्नप्रचुरप्रपंचतुरं त्रिप्रश्नविषये प्रचुर-उत्कृष्टो यो प्रपंचः कल्पितयुक्तिविचारस्तत्र चतुरं समर्थं । नह्यहं मन्ये । तथा चैतदुत्तर दातृत्वेन त्वामेव तथाभूतमेकं मन्ये इति भावः ।।८६।।

मरीचिः—अथास्योत्तरमुपजातिकाभ्यामाह-अत्रापि साध्यो इति क्रान्ति

गुणश्च तस्मात्। एतत्प्रश्नोत्तरार्थमपि। अत्र नतकालस्य ज्यापूर्वरीत्या साध्या। सा संख्यात्मिका ज्या। पूर्वं प्रथमं इष्टहृतिः प्रकल्प्या, एवकारेण सांतरत्वेऽपि कल्पनावश्यकत्वमुक्तमन्यथा निर्वाहात्। तुकारादग्रेऽथोन्नतादित्याद्यानयनप्रकारेणानीय प्रकल्पितेति सूचितम्। ततस्तदनंतरम्। सा हृति द्वादश गुणा इष्टछायाज्ञानेनेष्टकर्णज्ञानात्रिज्यार्कघात श्रुतिहृन्नरः स्यादित्युक्तप्रकारानीततात्कालिकसमशंकुना भक्तेत्यर्थः। फलमक्षकर्णः। ततोऽक्षकर्णात्। श्रुतिकृतीनवर्गयोरंतरादित्याद्युक्तप्रकारेण या छाया सा पलभा। क्रांतिज्यानयनमाह—पलप्रभाघ्न इति समशंकुः-चानीतपलभया गुणितः। आनीताक्षकर्णेन भक्तः। फलं क्रान्तिज्या। अतः क्रान्तिज्यायाः पूर्वोक्तप्रकारेण साधितं चरं *द्युज्याकुज्यात्मकपदार्थेनाथोन्नतादित्यादिनोक्तप्रकारेणेष्टहृतिः। ततस्तस्याः सकाशात्। अर्क निघ्नी समशंकुभक्तेति प्रकारेणाक्षकर्णस्तस्मादक्षकर्णः क्रांतिज्या चकारात्पलभाऽपि। अन्यथा क्रांतिज्यानयनानुपपत्तेः। एवं तत्क्रांतिज्याया उक्तरीत्या पलभाक्रांतिज्येत्यसकृद्यावदविशेषः। निरंतर सूक्ष्ममभेदेनेति यावत्। अथोदाहरणे उन्नतज्या लब्धी कल्पिततद्धृतिः ८९।९।६ द्वादशगुणा १०६९।४९।१२ इष्टछायोत्पन्नसमशंकुना ७२ भक्ता जातः पलकर्णः १४।५१।३१ अस्मात्पलभा ८।४५।४४ समशंकु गुणा ६।३०।५२।४८ अक्षकर्णभक्ता जाता क्रांतिज्या स्थूला ४२।२७।३२ अस्याः द्युज्या* ११२।१४।१५ कुज्या ३१।०।१० चरघटी २।४० अतोऽथोन्नतादित्यादिना हृतिः ९०।२०।२८ पलकर्णः १५।४।३४ पलभा ९।८ क्रांतिज्या ४३।३५।५२ पुनरस्या उक्तरीत्यासकृत्पलभा क्रांतिज्ये सूक्ष्मे साध्ये तदुत्तरार्थम्—

अत्रोपपत्तिः—इष्टछायाज्ञाने शंकुज्ञानादुन्नतज्या ज्ञानेन सांतरितहृतेर्ज्ञानाक्षकर्णाच्च प्रश्नकाले तयोः क्रमेण समशंकुतद्धृतित्वेनावगमात्समशंकुकोटौ तद्धृतिः कर्णस्तदा द्वादशांगुलशंकुकोटौ क इत्युनुपातेनाक्षकर्णस्ततो द्वाभ्यां तृतीया इत्युक्तत्वाद्द्वेद्रोनात्पलकर्णवर्गान्मूलं पलभा। ततः पलकर्णे पलभा भुजस्तदा समशंकु कर्णे क इत्यनुपातेन क्रांतिज्या। यद्यपीष्ट शंकुहृतिभ्यां पलभाज्ञानं संभवतीति प्रश्ने समवृत्तस्थत्वान्नावश्यकत्वं तथापि समशंकुभिन्नशंकौ क्रांतिज्यायाः भुजत्वाभावात्साधनानुपपत्ते स्तदावश्यकत्वात्। अन्यथैकप्रश्नासंभवापत्तेः हृतेः सांतरत्वेनाथोन्नतादित्यादिनानीततद्धृत्या तदुपजीव्यया पुनः पलभाक्रांतिज्ये साध्ये इति पूर्वरीत्यासकृदिदमानयनं विषुवदुदयास्ते न संभवतीति ध्येयम्॥८८॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—और एक प्रश्न है कि सूर्योदय से ८ घटी में सममण्डल (Prime vertical circle) प्रवेश के समय किसी जगह पर किसी दिन १२ अंगुल शंकु की छाया ८ अंगुल देखी गई तो उस स्थान की पलभा (अक्षमा) और क्रान्तिज्या (Declination) यदि जानते हो तो बताओ क्योंकि त्रिप्रश्न के प्रचुर प्रपञ्च के चातुर्य्य में तुमसे अधिक दूसरे को में नहीं मानता हूं। तुम त्रिप्रश्न गणित के कुशल वेत्ता हो यह भाव है।

* ३४१७ संख्यक पाण्डुलिपौ तथाऽन्यत्रापि द्विज्या-एवं भ्रमात्मको पाठः।

इस प्रश्न का उत्तर—यहां भी पूर्व प्रश्न की भांति उन्नत काल की ज्या को इष्टहृति कल्पना कर इसे १२ से गुणा कर सममण्डल शंकु से भाग देने से लब्ध फल ही स्थूल पलकर्ण हो जाता है। पश्चात् पलकर्ण पलभा आदि ज्ञान, पलभा से गुणित पलकर्ण से विभक्त समशंकु द्वारा क्रान्तिज्या का ज्ञान होगा। यहां भी क्रान्तिज्या स्थूल हुई—इस क्रान्तिज्या से द्युज्या कुज्यादि द्वारा इष्टहृति, अक्षकर्ण और क्रान्ति का साधन करते हुये जब एक रूपा क्रान्ति आवे तभी स्थिर गाणतिक क्रान्ति होगी। जैसे—

$$\text{उन्नत कालज्या} = \text{इष्टान्त्या} \therefore \text{इष्ट हृ.} = \frac{\text{इष्टान्त्या} \times \text{द्यु}}{\text{त्रि}}$$

$$\therefore \text{द्यु} = \frac{\text{त्रि} \times \text{इष्ट हृ}}{\text{इष्टान्त्या}} = \frac{\text{पलक} \times \text{इ शं.} \times \text{त्रि}}{१२ \times \text{इष्टान्त्या}} \text{ अतः क्राज्या} = \sqrt{\text{त्रि}^{२} - \text{द्यु}^{२}}$$

इसका चाप=क्रान्ति। क्रान्ति से चर आदि इष्टान्त्या का ज्ञान पुनः क्रान्तिज्या आदि का ज्ञान करना चाहिए। आचार्य के प्रश्न से गोलज्ञान (उत्तर या याम्य) में स्न्देह होता है। अतएव इष्टान्त्या आदि का ज्ञान होना सहसा संभव नहीं है।

ऐसे प्रश्न की शुद्धाशुद्धि के विवेचन के बिना उत्तर करना भी अयुक्त सा होगा। इस लिये कुछ विवेचन आवश्यक है।

याम्योत्तरनाड़ीवृत्त सम्पात से नाड़ीवृत्त में उन्नत काल चाप के तुल्य चाप को देकर वहां तक ध्रुव से एक ध्रुव प्रोत वृत्त करना चाहिए। ध्रुव से लम्वांश व्यासार्ध वृत्त जहां पर ध्रुवप्रोत वृत्त में लगे वहां पर अन्य खमध्य की कल्पना कर स्वखमध्य और अन्य खमध्य के मध्यवर्त्ती एक महद्वृत्तीय खण्ड है उसकी आद्य संज्ञा समझनी चाहिए। इसके ज्ञान के लिये—एक चापीय क्षेत्र है जैसे—ध्रुवप्रोत और याम्योत्तर वृत्तोत्पन्न कोण का नाम नतांश, वहां से स्व और अन्य खमध्यों का अन्तर महद्वृत्तीय चाप लम्वांश भुज, ध्रुव लग्न कोण से भूमिगत जो लम्व होगा इस से ध्रुव लग्न कोण के तुल्य दो भाग होंगे, लम्व और आधार लग्न कोण की तुल्यता से समान दो खण्ड होंगे। लम्व और आधार लग्न कोणों की समकोणता से,

$$\frac{\text{ज्या आद्य}}{२} = \frac{\text{ज्यालं} \times \frac{\text{ज्या उन्नत}}{२}}{\text{त्रि}}$$

$$\therefore \text{ज्या आद्य} = \frac{२ \text{ ज्यालं} \times \text{ज्या उन्न}}{\text{त्रि}}$$

इसका चाप=आद्य।

इसलिये ग्रहगत दृङ्मण्डल (vertical circle.) में नतांश तथा खमध्य और अन्य खमध्य के वीच गत अन्तरांश तथा ग्रह और अन्य खमध्यान्तरांश से जायमान चापीय त्रिभुज में

यदि आद्य+न 7 ९०° तब दो प्रकार की क्रान्ति होगी।

यदि आद्य+नत$<$क्रान्ति तदा एक प्रकार की क्रान्ति होगी।

यदि आ+न$\angle$९० तब आचार्य का उक्त प्रश्न सदोष होता है। विद्वान मेरे इस गोलीय विचार पर ध्यान से अवश्य विचार करें।

इदानीमिष्टप्रभाप्रश्नमाह—

पञ्चाङ्गुला गणक यत्र पलप्रभा स्यात्
तत्रेष्टभा नवमिता दशनाड़िकासु ।
दृष्टा यदा वद तदा तरणिं तवास्ति
यद्यत्र कौशलमलं गणिते सगोले ॥८९॥

वा० भाः—स्पष्टम् ।

अस्योत्तरमाह—

इष्टान्त्यकामुन्नतकालमौर्वीतुल्यां प्रकल्प्याऽथ तया विभक्तः ।
इष्टप्रभाशङ्कुहतोऽक्षकर्णस्त्रिज्यागुणो द्वादशभाजितश्च ॥९०॥
द्युज्या भवेत् तत्कृतिवर्जितायास्त्रिज्याकृतेर्मूलमपक्रमज्या ।
इष्टान्त्यका प्राग्वदतोऽसकृच्च द्युज्यापमज्या च ततः खरांशुः ॥९१॥

वा० भा०:—नवाङ्गुलेष्टभा । तत्कर्णः पञ्चदशाङ्गुलः १५ । "त्रिज्यार्कघातः श्रुतिहृन्नरः स्यात्" इति जात इष्टभाया महाशङ्कुः खबाणाद्रिदस्राः कलाश्चतुर्विंशतिविकलाऽधिकाः २७५० । २४ । अथोन्नतकालस्य ज्या सा प्रथममिष्टान्त्यका कल्प्या । तयेष्टान्त्यकयेष्टच्छायामहाशङ्कुरक्षकर्णेन गुणितो भाज्यः । यत् फलं तत् त्रिज्यया गुणितं द्वादशभिश्च भाज्यम् । फलं स्थूला द्युज्या स्यात् । अथ त्रिज्याकृतेर्द्युज्याकृतिविवर्जिताया मूलं क्रान्तिज्यायाश्चरादिकं साध्यम् । ततः "अथोन्नतादूनयुताच्चरेण" इत्यादिनेष्टान्त्यका साध्या । ननु प्रश्ने गोलस्यानिर्दिष्टत्वात् कथमन्त्यां साधयेत् ? सत्यम् । तत्र युक्तिः ।—यस्मिन् गोले कल्पिते कल्पिताया इष्टान्त्यकाया आसन्ना साधितेष्टन्त्यका भवति स गोलः कल्प्यः । तस्या इष्टान्त्यकायाश्च पुनर्द्युज्या । ततः क्रांन्तिज्या; तत इष्टान्त्यका । एवमसकृत् क्रान्तिज्या स्फुटा भवति । ततो रविर्व्यस्तविधिना ।

अत्रोपपत्तिर्विलोमगणितेन । अत्र महाशङ्कुर्ज्ञात एव । ततोऽनुपातः । यदि द्वादशाङ्गुलशङ्कोः पलकर्णः कर्णस्तदा महाशङ्कोः कः ? इति । फलमिष्टहृतिः स्यात् । हृतिः त्रिज्यागुणा यदि द्युज्यया ह्रियते तदेष्टान्त्या लभ्यते; यदीष्टान्त्यया ह्रियते तदा द्युज्या लभ्यते । अत इयमिष्टहृतिः त्रिज्यागुणा कल्पितेष्टान्त्यया भक्ता फलं द्युज्या । अत उक्तम्—"इष्टान्त्यकामुन्नतकालमौर्वी-तुल्यां प्रकल्प्याऽथ तया विभक्तः । इष्टप्रभाशङ्कुहतोऽक्षकर्ण-स्त्रिज्यागुणो द्वादशभाजितश्च ॥ द्युज्या भवेत्—" इति । तत क्रान्तिज्या । ततश्चरादिकेनेष्टान्त्येत्युपपन्नम् ।

मरीचिः—ननु भुजसद्भावकालीनपदार्थेभ्यो यथा पलभानयनमुक्तं तथा क्रांतिज्यानयनं नोक्तमित्यतस्तद्विशेषवक्तुं तत्प्रश्नं सोद्देशं वसंततिलकयाह-पंचागुला गणक यत्र पलभास्यादिति···यद्यत्रकौशलमलं गणिते सगोले इति । हे गणक । गणितं कर्त्तुं समर्थ गणितयुक्तिज्ञेत्यर्थः । यत्र देशे पञ्चागुला पलभा स्यात्तत्र देशे

यदा यद्दिने-दशघटीसून्नतासु नवमिता। नवांगुला। द्वादशांगुल शंकोरिष्टभा। अभिमत द्वितीयछाया दृष्टा। तदा तस्मिनकाले सूर्य राश्याद्यवयवात्मकं स्पष्टं सायनं वद आनयनेन त्वं कथय।

तथा च पलभेष्टछायेष्टोन्नतानां ज्ञानेऽर्कं वदेति प्रश्नार्थः। क्रांतिज्या प्रश्नोऽपि तदंतर्गत एव। तत्प्रश्नस्य तत्प्रयोजकत्वादिति ध्येयम्। गणकपदं विवृण्वन्नाह-तवेत्यादि। तवोत्तरदातुः यदि अत्र सिद्धांते, एतत्स्वरूपमाह-गणिते इति। सगोले गोलस्थितिनिबंधनसहितग्रहचारगणितनिरूपणात्मके। कौशलं समर्थत्वं अलम्। अत्यर्थं सर्वोत्कृष्टत्वेनेत्यर्थः। अस्ति। तथा च तत्र गणित कल्पना युक्ति प्रदर्शनस्य सत्वात्तद्ज्ञानेन तवोत्तरदाने सामर्थ्यादुत्तरं ब्रूहीति भावः। ॥८९॥ अथैतत्प्रश्नस्य भुजाभावकालिकत्वतात्पर्याभावात्पूर्वप्रश्नभिन्नत्वेन त्रयाणमुद्देशाच्च स्वतंत्रमुत्तरमिन्द्रवज्राभ्यामाह—इष्टांत्यकामुन्नतकालमौर्वीति···ततः खरांशुरिति। उन्नतकालस्य संख्यात्मकस्य। तेनोदयास्तकालयोर्विरासः पूर्वोक्तरीत्या ज्यासाध्या तत्समामिष्टांत्यां प्रकल्प्य अवास्तवत्वात्, पलकर्णः इष्टप्रभा शंकुहृतः। त्रिज्यार्कघातः श्रुतिहृदित्यनेनेष्टकालिक छायोपजीव्येष्टछाया कर्णोत्पन्न—शंकुना गुणित इत्यर्थः। तथेष्टांत्यया भक्तः पुनस्त्रिज्या गुणितो द्वादशभक्तः चः समुच्चये। फलं द्युज्या स्यात्। क्रांतिज्यानयनमाह-तदित्यादि। द्युज्यावर्गोना त्रिज्यावर्गान्मूलं क्रांतिज्या। अतः क्रांतिज्यायाः सकाशात्प्राग्वच्चरादिकेनाथोन्नतादित्यादिनेष्टांत्या साध्या। अस्याः सकाशादुक्तरीत्या पुनर्द्युज्यास्तस्याः पुनः क्रांतिज्या। अस्याः पुनरिष्टांत्या ततोऽपि द्युज्याक्रांतिज्या-इत्येवमसकृत्सूक्ष्माक्रांतिज्या। अत्र गोलस्यानुद्देशात्प्रथमक्रांतिज्यायाः सकाशाद्गोलद्वयेपीष्टांत्या साध्या। तन्मध्ये योन्नतज्यातुल्येष्टांत्याया आसन्नातद्गोलीयेष्टांत्या ग्रहादसकृत्कर्मकार्यं नेतर गोलीयायाः गोलद्वये तुल्योन्नतकाले छायासमत्वाभावादिति ध्येयम्।

अत्रेदमप्यवधेयम्। यत्र प्रथमफलं द्वादशानधिकं तत्रोक्तरीत्या साधनम्। यत्र द्वादशाधिकं फलं तत्र तु तथेष्टांत्येष्टचरकल्पनेनाथोन्नतादित्यादिनोत्तरगोले साध्या। यथा द्वादश भक्तात्पलकर्णशंकुघाताद्धिका स्यात्तया कल्पितेष्टांत्ययोक्तरीत्यैव साधनम्। नतु तत्रोन्नतज्यातुल्येष्टांत्यया। तदागत द्युज्यायास्त्रिज्याधिकत्वेन क्रांतिज्या साधनानुपपत्तेः। नहि त्रिज्या वर्गोनात् द्युज्यावर्गात्पदस्य क्रांतिज्यात्वम्। येन तदुपपत्तेः। गोले त्रिज्यातो द्युज्यायाः न्यूनत्वनिर्णयाद्घाताच्च। तत्रासकृत्साधनं कोणशंकूक्तरीत्येष्टांत्ययोर्योगार्द्धमित सूक्ष्मासन्नेष्टांत्या कल्पनादित्यादि एतेन तत्र त्रिज्यावर्गोनात् द्युज्यावर्गात्पदं क्रांतिज्या। तद्वर्गोनात् त्रिज्या वर्गात्पदं द्युज्येत्याग्रिमक्रिया साधनार्थमिति लक्ष्मीदासात्कृतगणितं निरस्तम्, मानाभावात्। ऋण मूलाप्रसिद्धेरिति दिक्।

ननु सुर्यप्रश्न क्रांतिज्योत्तरमसंगतमत-आह। तत इति क्रांतिज्याया वैपरीत्येन सूर्यज्ञानं स्यादेवेति संगतमुत्तरमिति। यथोदाहरणे उन्नतज्या लघ्वी १०३। ५५। १३ पलकर्णः १३ इष्टकालिकछायातः ९ इष्टछायाकर्णः १५ अस्मादानीतः

शंकुः ९६ पलकर्णशंकुघातः १२४८ कल्पितांत्यया १०३।५।५५।१२ भक्तः फलं १२।०।-३१ द्वादशाधिकमतः कल्पितचरघटी १ इष्टघटी १० सूत्रम् ९७।४।५४ चरज्या

*१ †८

१२।३३६ इष्टांत्या १०९।३९।३० अनया पलकर्णशंकुधातो ११४८ भक्तः फलम् ११।११-

१३६५

११ त्रिज्या १२० गुणं १६५५।५४ द्वादशभक्तं द्युज्या ११३।४९।३१ अस्या वर्गः १२९-५६।११।३८ त्रिज्यावर्गा १४४००द्धीनोऽ१४४३।४८।२२ स्मान्मूलं क्रांतिज्या ३७।५९।५० कुज्या १५।४९।५६ चरज्या १६।४१।२८ धनुः ७।५९।४३ घट्यादिचरम् १।१९।५७। अथोनतादित्यादिनेष्टांत्या ११।१५।३१ इष्टान्त्ययो १०९।३८।३०।१११।१५।३१ योगार्द्धमिष्टांत्यामुख्या ११०।२७ द्युज्या ११२।५५ क्रांतिज्या ४०।३७।१८ कुज्या १६।५५।२७ चरज्या १७।५९।१० चरं १।२६।१२ इष्टांत्या १११।४३।१७ योगार्द्धमिष्टान्त्या ११।५९‡ द्युज्या ११२।२०।४५ क्रांतिज्यां ४२।१०।१६ एवं पुनरित्यसकृत्, एवं साधिता क्रांतिज्या स्थिरा ४०।४८ अस्मातूत्तरगोलत्वात्सूर्यः १।२६।४९।७ वा ४।३।१०।५३

अत्रोपपत्तिः—द्वादशकोटौ पलकर्णः कर्णास्तदेष्टशंकुकौटो क इतीष्टहृति-रिष्टांत्यास्थाने इयं तदा त्रिज्यास्थाने केतिपलकर्णेष्टशंकुत्रिज्याघातो द्वादशेष्टांत्याघातभक्तः फलं द्युज्येत्युपपन्नम्। यद्वा, इष्टांत्ययेष्ट शंकुस्तदा चरज्यया केति पूर्वोक्त-रीत्योन्मंडल शंकुस्ततः पलभा भुजे पलकर्णास्तदोदूवृत्ता शंकौ केति क्रांतिज्या। अत्र द्वादशकोटौ पलभा भुजस्तदा क्रांतिज्या कोटौ को भुज इतिकुज्या द्युज्यया, तदा त्रिज्यया केति चरगुणस्तेन पलभातुल्यगुणहरयोर्नाशात्पलकर्णेष्टशंकुत्रिज्याघातेन द्वादशेष्टांत्याघातभक्तेन क्रांतिज्या गुण्या द्युज्यया भाज्या फलं क्रांतिज्येति गुणकस्य द्युज्यारूपत्वमन्यथोक्तप्रकारेण क्रांतिज्या साधनानुपपत्तेः। अतस्तत्रापीष्टांत्याया, अज्ञानात् स्वल्पांतरेण प्रथममुन्नतज्येष्टांत्या कल्पिता। सा तु दक्षिणगोले वास्तवेष्टांत्याया अधिका इतीष्टहृतेः सुतरामिति द्युज्यास्थूलापि त्रिज्यातो न्यूनैवेत्युक्तप्रकारेन क्षतिः। उत्तरगोले इतीष्टांत्याया उन्नतज्याधिकत्वादिष्टहृते रिष्टोन्नतज्याया अधिकत्वं न्यूनत्वं च संभवति तत्राधिकत्वे उक्तप्रकारागता द्युज्या त्रिज्यातो न्यूनेति सम्यक्। न्यूनत्वे प्रोक्तरीत्या द्युज्या त्रिज्याधिकेत्यस्य गोलसिद्धत्वाच्चरकल्पनेनेष्टांत्याऽथोन्नतादित्यादिनेष्टहृतेर्यथाधिकास्यात्तथा सोपपत्त्यवधानमुक्तमेव।

अतः प्रथम द्युज्यायाः सांतरत्वेन क्रांतिज्यायाः सांतरत्वनियमात्पूर्ववदसकृदथोन्नतादित्युक्त प्रकारानीतेष्टांत्याया उक्तप्रकारेणेत्यलं चर्वितचर्वणेन ॥९१॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—इष्ट कालीन छाया से रवि का ज्ञान कैसे होगा यह एक प्रश्न है—कि हे

---

* अन्यत्र १ वा ८ संख्यात्मिका चरज्या लिखिताऽस्ति।

† १३५६ इदमेव समीचीनमिति।

‡ ५।९ क्वचिदितिमहच्चित्रम्।

गणक ५ अंगुलीय पलभा के जिस देश में सूर्योदय से १० घटिका (४ घण्टे) में इष्ट छाया ९ अंगुल की देखी गई तो वहां पर, स्पष्ट रवि की राश्यादि स्थिति क्या है? उसे बताओ, यदि सग्रह गोल गणित में आपका गणित कौशल बुद्धिस्थ हो।

समाधान—इष्ट छाया से उत्पन्न शंकु से गुणित और द्वादश से बिभक्त अक्ष कर्ण में कल्पित उन्नत कालज्या तुल्य इष्टान्त्या से भाग देने से लब्ध फल द्युज्या के तुल्य होता है। द्युज्या को त्रिज्या वर्ग में कम करने से क्रान्तिज्या होगी, फिर कथित परम्परा से इष्टान्त्यादि के साधन से बार बार गणित कर स्थिर क्रान्ति ज्ञान करते हुये स्थिर रवि का ज्ञान करना चाहिए।

संशोधक ने इस स्थल पर एक स्वतन्त्र सिद्धान्त स्थापित किया है जिसकी उपपत्ति बुद्धिनाथ झाकृत टिप्पणी विवरण के पृष्ठ ३८ में दी हुई है। उसे देखना चाहिए।

यहाँ महाशंकु का ज्ञान है, अतः $\frac{\text{पलकर्ण} \times \text{महाशंकु}}{१२}$ = इष्टहृति।

$\frac{\text{इष्ट हृ} \times \text{त्रिज्या}}{\text{द्युज्या}}$ = इष्टान्त्या।

अतः, इष्ट हृ × त्रिज्या = द्युज्या × इष्टान्त्या।

अतः, $\frac{\text{इष्ट हृ} \times \text{त्रिज्या}}{\text{इष्टान्त्या}}$ = द्युज्या।

अथवा, $\frac{\text{पलकर्ण} \times \text{महाशंकु} \times \text{त्रिज्या}}{१२ \times \text{इष्टान्त्या}}$ = द्युज्या।

अथान्यं प्रश्नमाह—

यत्र क्षितिज्या शरसिद्धतुल्या २४५
स्यात् तद्धृतिस्तत्त्वकुरामसंख्या ३१२५।
तत्राक्षभार्कौ गणक! प्रचक्ष्व
चेदक्षजक्षेत्रविचक्षणोऽसि ॥६२॥

अस्योत्तरमाह—

कुज्योनतद्धृतिहृता कृतशक्रनिघ्नी
कुज्यैव यत् फलपदं पलभा भवेत् सा।
कुज्या हता रविभिरक्षभया विभक्ता
क्रान्तिज्यका भवति भानुरतो विलोमम् ॥६३॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम्।

अत्रोपपत्तिः;—तत्र पलभाप्रमाणं यावत्तावत् या १। अतोऽनुपातः। यदि पलभामिते भुजे द्वादशकोटिस्तदा कुज्यामिते का? इति। फलं क्रान्तिज्या। पुनर्द्वितीयं त्रैराशिकम्। यदि पलभामिते भुजे द्वादश कोटिस्तदा क्रान्तिज्यामिते का? इति। फलं कुज्योनिता तद्धृतिर्भवति। एवमत्र कुज्याया २४५ द्वादशवर्गो

गुणः पलभावर्गो हरः। तथा कृते न्यासः रू ३५२८०। इदं कुज्योनतद्धृतिसम-
छेदः याव १।

मितिपक्षौ समच्छेदीकृत्य छेदगमे शोधनार्थं न्यासः याव ० रू ३५२८०। पक्षौ
याव २८८० रू ०।

नखशैलैः ७२० अपवर्त्य पक्षयोर्मूले गृहीते जातं पलभामानं सार्द्धानि त्रीण्यङ्गुलानि ३½। यदि पलभया द्वादशकोटिस्तदा कुज्यया किम्? इति। फलं क्रान्तिज्या ८४०। एवं "कुज्योनतद्धृतिः" इत्यादि सर्वमुपपन्नम्।

मरीचिः—अथ पलभार्कयोः सोद्देशं प्रश्नांतरमिन्द्र वज्रयाऽह—यत्र क्षितिज्या शर सिद्धतुल्यास्यात्त तद्धृतिस्तत्वकुरामसंख्या। तत्राक्षभार्कौ गणक प्रचक्ष्व चेदक्षजक्षेत्रविचक्षणोसीति। यत्र देशविशेषविशिष्टकालविशेषे कुज्या प्रोक्त वृहत्रिज्या प्रमाणेन पंचचत्वारिंशद्युत शतद्वयमितास्यात्तत्प्रमाणेनैवत्तद्धृतिः पंचार्क-राममिता। तत्र तादृशस्थले। हे गणक! त्वं चेदक्षोत्पन्न क्षेत्रविचारकुशलोऽसि तर्हि पलभासूर्यावानयनेन प्रत्यक्षं सूक्ष्मत्वेन वद कुज्यातद्धृत्योरेककालिकयो-र्ज्ञानेऽक्षभासूर्यौ वदेति प्रश्नार्थः। पूर्वोक्ताक्षक्षेत्रविचारात्तदुत्तरदाने त्वसमर्थ इति सूचनार्थं चेदक्षजक्षेत्रविचक्षणोसीत्युक्तमितिध्येयम् ॥९२॥

अथैतदुत्तरं सिंहोद्धतयाह-कुज्योनतद्द्धृतिहृता···इति···विलोममिति। वेदेन्द्रगुणिता कुज्या। कुज्यया हीना या तद्धृतिस्तया भक्ता क्रांतिज्यका भवति भानुरतो विलोममिति। वेदेंद्रगुणिता वेदेन्द्र गुणिता कुज्या। कुज्यया हीना या तद्धृतिस्तया भक्ता। अत्र हरे कुज्याग्रुज्ये प्रयोजनसिद्धेर्भोज्ये कुज्यानापेक्षिता या तद्धृतिरेवोक्ता स्यादिति भ्रमवारणायैवकार इति ध्येयम्। फलस्य मूलं यत्। साक्षदेशीयाक्षभा स्यात्, क्रांतिज्यानयनं सूर्यार्थमाह-कुज्येति। कुज्या द्वादशभि-र्गुणिता पलभया भक्ता क्रांतिज्या स्यात्।

अत्र कुज्यातद्धृती संख्यात्मिके ग्राह्ये। तेन साक्षे विषुवत्क्षणे निरक्षे च न व्यभिचार इति ध्येयम्। प्रश्नोत्तरे सूर्यसाधनमाह—भानुरिति। अतः क्रांतिज्यायाः सकाशाद्विलोमो विपरीत कर्मणा सूर्याद्यत्प्रकारेण क्रांतिज्या तद्वैपरीत्येन पूर्वदर्शित प्रकारेणेत्यर्थः। सूर्यः स्यात्। यथोदाहरणे कुज्या २४५ द्वादशवर्गं १४४ गुणा ३५२८० कुज्योनतद्धृतिः २८८० भक्ता फलं १२।१५ अस्य मूलं पलभा सार्द्धाङ्गुला कुज्या द्वादशगुणा २९४० अक्षभा ३।३० भक्ता क्रांतिज्या ८४० इयं वृहत्त्रिज्यया ३४३८ गुणा २८८७९२० परमक्रांतिज्यया १३९७ भक्ता भुजज्या २०६७।१३।४७ अस्याः धनुः कलात्मकं ११।१८।१८।५५ भुजो राश्यादिः १।६।५८।१९ तथोत्तरगोले प्रथमपदेऽर्कः १।६।५८।१९ द्वितीये ४।२३।१।४१ दक्षिणगोले तृतीयपदे सायनार्कः ७।६।५८।१९ चतुर्थे १०।३।४१।

अत्रोपपत्तिरेकवर्णबीजेन-पलभामानं यावत्तावत्। या १ पलभाभुजे द्वादश-कोटिः कुज्याभुजे केति क्रांतिज्या कु १२ पलभा भुजे द्वादश कोटिस्तदा क्रांतिज्या
या १

भुजे केति कुज्योनतद्धृतिः कु १४४। इयं व्यक्ते कुज्योनतद्धृति समेति। पक्षौ
पाव १
समच्छेदीकृत्य छेदगमे शोधनार्थं तन्न्यासः—याव रू कु १४४ अत्रैकाव्यक्तं शोधयेदि-
याव अ १ रु
त्यादिना कुज्योनतद्धृतिभक्तद्वादशवर्गगुणितकुज्या पलभा वर्गमानम्। वा कुज्यो-नतद्धृतेः पलभावर्गगुणितायाः समत्वादत तन्मूलं पलभेति। अत एवोक्तरीत्या पलभावर्गभक्तस्य वेदेन्द्रकुज्याघातस्य कुज्योनतद्धृतित्वात्कुज्योनतद्धृतिभक्तस्य तदा तस्य पलभावर्गत्वं स्वतः सिद्धमिति व्यक्तोपपत्तिकल्पनं केषांचिद्युक्तम्। कुज्या-भुजे क्रांतिज्या कोटिस्तदा क्रांतिज्याभुजे केत्यनुपातेन कुज्या भक्तः क्रांतिज्या-भक्तवर्गः कुज्योनतद्धृतिः कुज्या गुणिता क्रांतिज्यावर्गस्तत्कोटौ कुज्या वर्गो भुज स्तदा द्वादशवर्गकोटौ को भुज इत्यनुपाते प्रमाणफलयोः कुज्यापवर्त्तिते पलभावर्ग-स्वरूपमुक्त मुपपन्नमिति केचित्। पलभाभुजे द्वादश कोटिस्तदा कुज्या भुजे केति क्रांतिज्योपपन्ना। अस्याः वैपरीत्येन पूर्वरीत्या सायनः सूर्यो भवत्येव ॥९३॥

दीपिका—स्पस्टम्।

शिखा—जहां पर २४५ के तुल्य चरज्या तथा ३१२५ के तुल्य तद्धृति हैं, हे गणक उस स्थान की पलभा तथा तत्स्थानीय रवि को बताओ—यदि अक्षज क्षेत्र विवेचन में तुम विचक्षण (बुद्धिमान्) हो।

१४४ गुणित कुज्या म, तद्धृति में कुज्या कम करने से जो शेष उसका भाग देने से पलभा हो जाती है।

१२ गुणित कुज्या में पलभा से भाग देने से क्रान्तिज्या होती है क्रान्तिज्या के विलोम से रवि का ज्ञान सुगम है।

जैसे—बीज गणित से—

पलभा = य

अतः, $\frac{१२ \times \text{कुज्या}}{\text{य}} = \text{क्रान्तिज्या}$।

तथा – $\frac{१२ \times \text{क्रान्तिज्या}}{\text{य}} = \text{कुज्योनतद्धृति}$।

क्रान्तिज्या में उत्थापन देनै से

$$\frac{१२}{\text{य}} \times \frac{१२ \times \text{कुज्या}}{\text{य}} = \text{कुज्योन तद्धृति}।$$

$$\therefore १४४ \times \text{कुज्या} = \text{य}^२ \times \text{कुज्योन तद्धृति}।$$

$$\text{अतः } \frac{१४४ \times \text{कुज्या}}{\text{कुज्योन तद्धृति}} = \text{य}^२$$

$$\sqrt{\frac{१४४ \times \text{कुज्या}}{\text{कुज्योनतद्धृति}}} = \text{य} = \sqrt{\frac{१४४ \times २४५}{२८८०}} =$$

$$= \sqrt{\frac{४९}{४}} = \frac{७}{२} = ३\frac{१}{२} \text{ अंगुल पलभा का ज्ञान हुआ।}$$

यदि पलभा में १२ कोटि तो कुज्या में क्या ?

$$=\frac{१२\times २४५}{\frac{७}{२}}=\frac{१२\times २४५\times २}{७}=\frac{५८८०}{७}=८४०=\text{क्रांतिज्या।}$$

अतः, उक्त क्रान्तिज्या से रवि का ज्ञान सुगम है।

अथान्यं प्रश्नमाह—

क्रान्तिज्यासमशङ्कुतद्धृतियुतिं कुज्योनितां वीक्ष्य यो
विंशत्यश्वरसैः ६७२० मितामथ परां षड्यङ्कचन्द्रैर्मिताम् १९६० ।
कुज्याग्रापमशिञ्जिनीयुतिमिनं वेत्त्यक्षभां चापि तं
ज्योतिर्वित्कमलावबोधनविधौ वन्दे परं भास्करम् ॥९४॥

वा० भा०—स्पष्टम् ।

इदानीमस्योत्तरमाह—

क्रान्तिज्यासमशङ्कुतद्धृतियुतिः कुज्योनिता या तया
कुज्याग्रापमशिञ्जिनीयुतिमिनैः १२ क्षुराणां पृथक्स्थां भजेत् ।
लब्धं स्यात् पलभा पलश्रुतिपलच्छायाऽर्कत्युत्या ततो
भाज्याऽन्याऽथ पृथक् स्थितापमज्या स्यात् ततो भास्करः ॥९५॥

वा० भा०—अत्र या "क्रान्तिज्यासमशङ्कुतद्धृतियुतिः कुज्योनिता" विंशत्यश्वरसैः ६७२० मिता दृष्टा तया याऽन्या "कुज्याग्रापमशिञ्जिनीयुतिः" षष्ट्यङ्कचन्द्रैर्मिता १९६० दृष्टा तां द्वादशभिः सङ्गुण्य पृथक् स्थापयित्वा भजेत् । लब्धं पलभा स्यात् । ततः पलकर्णः कार्य्यः । पलकर्णस्य पलभाया द्वादशानाञ्च योगेन तां पृथक् स्थापितां भजेत् । लब्धं क्रान्तिज्या स्यात् ८४० । अत्र पलभा ३।३० पलकर्णः १२।३० । अत्र समशङ्कुः ३००० । अग्रा ८७५ । कुज्या २४५ । तद्धृतिः ३१२५ ।

अत्रोपपत्तिर्बीजक्रियया । तत्राज्ञातानां बहुत्वादनेकवर्णकल्पनया वर्गगतया क्रिया प्रसरति न निर्वहति च । अतोऽत्र सद्युक्तिः । क्रान्तिज्या तावत् पलक्षेत्रकोटिः । कुज्या भुजः । तथा समशङ्कुः कोटिः । अग्रा भुजः । तथा तद्धृतिः कुज्योनिता कोटिः । क्रान्तिज्या भुजः । अत्र यः प्रथमं दृष्टो योगः स कोटीनां योगः । द्वितीयो भुजानाम् । भुजकोटियोगौ भुजकोटित्वं न त्यजतः । अतोऽनुपातः—यदि कटियोगमित्या कोट्या भुजयोगमितो भुजो लभ्यते, तदा द्वादशाङ्गुलमित्या कोट्या किम् ? इति । फलं पलभा । अथ क्रान्तिज्याज्ञानार्थं युक्तिः । येयं कुज्याग्रापमशिञ्जिनीयुतिः सा पलक्षेत्रभुजकोटिकर्णानाञ्च भवति । तत्र कुज्या भुजः । अग्रा कर्णः । क्रान्तिज्या कोटिः । अतोऽत्रानुपातः—यदि पलभापलकर्णद्वादशानां योगेन द्वादशकोटिर्लभ्यते, तदा कुज्याग्रापमशिञ्जिनीनां योगेन

किम् ? इति। एवमत्र कोटिः क्रान्तिज्या लभ्यते। अतो विलोमविधिना रविरित्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथ प्रसंगात्सूर्याक्षभयोः प्रश्नांतरं स्वकल्पितं सोद्देशं शार्दूलविक्रीडितेनाह-क्रांतिज्या समशंकुतद्धृति युतिमिति···भास्करमिति । यः गणकः क्रांतिज्यासमशंकुतद्धृत्तीनामेककालजानां युतिः संकलनसंख्या कुज्यया तत्कालज्यावर्जितानां क्रांतिज्यासमशंकुकुज्योनतद्धृतीनामक्षक्षेत्रपदार्थानामेककालजानां संकलनसंख्यामित्यर्थः। षष्टयंकचन्द्रैर्मिताम्। विंशत्यश्वरसैर्मिताम्। बृहत्त्रिज्यासमशंकुकुज्योनप्रमाणेन नखाद्रिषट्मितां वीक्ष्य ज्ञात्वा तदनंतरं परां द्वितीयां-कुज्याग्राक्रांतिज्यानां तत्कालजानां युतिषट्कचंद्रैर्मितां तत्प्रमाणेन षष्ट्यतिधृतिमितां। चः समुच्चये। तथा चैककाले पूर्वोक्तपदार्थयोगद्वयं ज्ञात्वा। सूर्यमानयनेन जानाति। पलभामपि चः समुच्चये। सूर्याक्षभे, आनयनप्रकारेण जानातीत्यर्थः। तमुत्तरदातारं गणकं। ज्योतिर्वित्कमलावबोधनविधौ-ज्योतिः शास्त्रज्ञा एव यत्पद्मानि तेषां मुकुलं खंडनरूपं विकासनविषये परं द्वितीयं भास्करं सूर्यं वंदे मत्वाऽहं नमस्करोमि। तचा च भास्करत्व व्यवस्थापनार्थे मयैव तदुत्तरमुच्यत इति भावः ॥९४॥

मरीचिः—अथ स्वकल्पितं तदुत्तरं शार्दूलविक्रीडितवृत्तेनाह्–क्रांतिज्यासमशंकु तद्वृतियुतिरित्यादि···भास्कर इति। क्रांतिज्यासमशंकु तद्धृतियुतिः कुज्योनिता या प्रथमोदिष्टा संख्यात्मिका तेन विषुवत्क्षणे न क्षतिः; अत क्रांतिज्या समशंकुकुज्योनतद्धृतियोगे उक्ते प्रत्येकपदार्थत्रयोनतद्धृतीनां त्रयाणां योग इति भ्रमः स्यादतस्तादृशयोगः कुज्योनित उक्त इति ध्येयम्। तयोद्दिष्टप्रथमयुत्या। कुज्याग्राक्रांतिज्यायुतिद्वितीयामुदिष्टां द्वादशभिर्गुणितां स्थानद्वयस्थितामेकत्र भजेत्। लब्धं पलभा स्यात्। ततस्तदनंतरं पलकर्णपलभाद्वादशानां योगेन पृथक स्थितान्यां पलभालब्धसंबंधिस्थानात्स्थानांतरस्थिताद्द्वितीयोदिष्टा युति द्वादशगुणभाज्याप्तकं फलं क्रान्तिज्या स्यात्।

उत्तरमाह्—तत इति क्रांतिज्यायाः सूर्य उक्त एवेति भावः। यथोदाहरणे द्वितीयो योगः १९६० द्वादशगुणः २३५२० अयं द्विधा। एकत्र प्रथमयोगेनानेन ६७२० भक्तः फलं पलभा ३।३०। अक्षकर्णः १२।३० पलभा-३।३० द्वादश १२ योगेन २८ परत्र भक्तः फलं क्रांतिज्या ८४० अस्याः रविः पूर्वमुदाहरणे आनीत एव।

अत्रोपपत्तिः—क्रान्तिज्यासमशंकुकुज्योनतद्धृतिकोटिषु क्रमेण कुज्याग्राक्रान्तिज्यानां भुजत्वमतः प्रथमयोगः कोटियोगः कोटिः द्वितीययोगो भुजयोगो भुज इति गणितार्थे क्षेत्रमक्षीयं कल्पितम्। ततस्तादृश कोट्या तादृश भुजस्तदा द्वादश कोटया क इत्यनुपातेन पलभा ज्ञाता। एवं द्वितीययोगपदार्थाः कुज्याग्राक्रान्तिज्या उक्त तृतीयाक्षक्षेत्रस्य भुजकर्णकोटयस्तद्योगस्तत्क्षेत्रयोगः। अतः पलभा ज्ञानात्प्रथमाक्षक्षेत्रयोगस्य सुलभत्वात्प्रथमाक्षक्षेत्रयोगेन प्रथमाक्षक्षेत्रकोटि द्वादशमिता स्तदा तृतीयाक्षक्षेत्रयोगेन केत्यनुपातेन क्रांतिज्या। एवमत्र फलस्थाने

पलकर्णयोर्ग्रहणेन कुज्याग्रे सिध्यति। अतोऽयाचार्यैः प्रश्नोत्तराभावेनानुक्ते इति ज्ञेयम्। एवमुक्तरीत्यान्यक्षेत्रपदार्थसंबंधेन प्रश्नोत्तराणि च ज्ञेयानि ॥९५॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—और एक प्रश्न है कि (क्रान्तिज्या+समशंकु+तद्धृति)—कुज्या=६७२०
तथा (कुज्या+अग्रा+क्रान्तिज्या) =१९६०

उक्त सम्बन्धित आंकडों को जान कर जो स्पष्ट रवि को तथा पलप्रभा को बताता है, उस ज्योतिर्विद्रूपी कमलकलिका को सुविकसित करने वाले द्वितीय भास्कर की मैं बन्दना करता हूँ। अर्थात्—अपना "भास्कर" नाम सार्थक स्थापित करने का भाव है।

इस प्रश्न को आचार्य निम्न भांति हल करता है—कुज्या रहित क्रान्तिज्या समशंकु तद्धृति के योग से १२ गुणित कुज्या अग्रा क्रान्तिज्या के योग में भाग देने से लब्ध फल पलप्रभा होती है। पलभा से पुनः पलकर्ण ज्ञात करना चाहिए। पलकर्ण पलभा और १२ के योग से पृथक् स्थित पूर्व में भाग देने से लब्ध फल क्रान्तिज्या होती है।

इस प्रश्न को हल करने की गणित की सर्वोत्तम यह युक्ति है कि सजातीय त्रिभुजों के कोटियों के योग का भुजों के योग से वही सम्बन्ध है जो भुज और कोटि का परस्पर का सम्बन्ध रहता है।

अतः यहाँ पर क्रान्तिज्या समशंकु और कुज्योनिततद्धृति ये अक्ष क्षेत्र के कोटियों का योग है, तथा कुज्या अग्रा और क्रान्तिज्या ये अक्षक्षेत्रीय भुजों का योग है।

अतः $\frac{\text{भुजयोग} \times १२}{\text{कोटियोग}} = \text{पलभा}$।

पुनः पलभा, पलकर्ण, १२ के योग में १२ कोटि मिलती है तो कुज्या अग्रा क्रन्तिज्या के योग में क्रान्तिज्या प्राप्त होगी। क्रान्तिज्या ज्ञान से विलोम विधि से रविज्ञान सरल है।

अथान्यं प्रश्नमाह—

क्रान्यिासमशङ्कुतद्धृतियुतिं कुज्योनितां वीक्ष्य यः
पूर्णाब्ध्याब्धिमहीमिता-१४४० मथ परां खाभ्राष्टभूसम्मिताम् १८००।
अग्राज्यासमशङ्कुतद्धृतियुतिं वेत्त्यक्षभार्कौ च तं
ज्योतिर्वित्कमलावबोधनविधौ वन्दे परं भास्करम् ॥९६॥

वा० भा०—सुगमम्।

अस्योत्तरमाह—

क्रान्तिज्यासमशङ्कुतद्धृतियुतिः कुज्योनिताद्यो हृता
तेनाग्रासमशङ्कुतद्द्धृतियुतिः सूर्याहताक्षश्रुतिः।

स्यात् तस्याः पलभा पलश्रुतिपलच्छायाऽर्क १२ युत्योद्धृता-
दाद्यादक्षभयाहताच्च भवति क्रान्तिज्यकातो रविः ॥९७॥

अत्रोपपत्तिः ;—अत्रापि सद्युक्तिः। अत्र क्रान्तिज्या कोटिः। अग्रा कर्णः। तथा समशङ्कुः कोटिः। तद्धृतिः कर्णः। कुज्योनिता तद्धृतिः कोटिः। समशङ्कुः कर्णः। एकः कोटीनां योगो दृष्टः। अन्यः कर्णानाम्। तत्र त्रैराशिकम्। यदि कोटियोगतुल्यकोटेः कर्णयोगतुल्यः कर्णो लभ्यते, तदा द्वादशाङ्गुलकोटेः कः? इति। फलं पलकर्णः स्यात्। ततः पलभा। ततः पूर्ववत् क्रान्तिज्येत्युपपन्नम्।

मरीचिः—अथ स्वकल्पितं प्रश्नांतरं सोद्देशं शार्दूल विक्रीडितेनाह-क्रांतिज्या समशंकुतद्धृतियुतिं···परं भास्करमिति। प्रथमोदिष्टांयुतिचत्वारिंशदिन्द्रतुल्यां शून्ये पूर्ण शब्दस्य संकेतात्-ज्ञात्वा-परां द्वितीयां, अग्राज्या समशंकुतद्धृतिमिति। अग्रैवज्याग्रेत्यर्थः। अष्टादशशतमितां बृहत्त्रिज्याप्रमाणेन चः समुच्चये तथा चोक्त पदार्थयोगद्वयमेककालिकं, ज्ञात्वा, यः अक्षभार्कौ आनयनेन वेत्ति, तमित्यादि पूर्वं व्याख्यातमेव ॥९६॥

मरीचिः—अथैतदुत्तरं शार्दूलविक्रीडितेन स्वकल्पितमाह-क्रान्तिज्या समशंकु तद्धृतियुतिमित्यादि रविरित्यन्तम्। प्रथमोदिष्टायुतिराद्यसंज्ञका स्यात्। तद्युतेरग्रे पुनः प्रयोजनलाघवार्थमाद्यसंज्ञेति ध्येयम्। तेन आद्येनाग्रासमशंकु-तद्धृतियुतिः संख्यात्मिका द्वितीयोदिष्टा द्वादशगुणिता भक्ता फलं पलकर्णः स्यात्। उत्तरमाह-स्यादिति। तस्याच्छ्रुतेः सकाशात्पलभा तद्वर्ग वेदेद्रांतर-मूलेनेत्यर्थः। आद्यात्। पूर्वोदिष्टयोगात्पलभया गुणितात्। पलकर्णपल-भाद्वादशयोगेन भक्तात्फलं क्रान्तिज्या भवति। उत्तरमाह—अत इति। अस्याः क्रान्तिज्यायाः सकाशाद्रविज्ञानमुक्तमेव प्रागिति भावः। यथोदाहरणे द्वितीयो योगः १८०० द्वादशगुणः २१६०० पूर्वयोगेनानेन १४४० भक्तः फल-मक्षकर्णः १५ अस्य वर्गो २२५ द्वेदेन्द्रोना ८१ न्मूलं ९ पलभा। पूर्वोदिष्टयोगः १४४०० पलभा ९ गुणितः १२९६०० पलकर्ण १५ पलभा ९ द्वादश १२ योगेन ३६ भक्त ३६० क्रान्तिज्या। त्रिज्या ३४३८ गुणा १२३७६८० परमक्रांतिज्यया १३९७ भक्ता भुजज्या ८८५।५७।२० अस्याः सूर्यचतुष्टयम्। प्र· १४।५५।५१ द्वि· ५।१५।४।९ तृ· ६।१४।५५।५१ चतुर्थः ११।१५।४।९

अत्रोपपत्तिः-पूर्वयोगविषययोजककोटियुक्तक्रमेणाग्रातद्धृतिसमशंकवः कर्णः, अतः पूर्वद्वितीययोगौ कोटिकर्णरूपौ गणितार्थं कल्पितौ। पूर्वरीत्या ततः कोट्या कर्णस्तदा द्वादशकोट्या क इत्यत्तकर्णः अस्मात्पलभाज्ञानं सुलभमेव। अथ प्रथमयोग उक्त पंचभात्त्क्षेत्रस्य योगः। प्रथमाक्षक्षेत्रस्य योगस्तु ज्ञात प्राय इति प्रथमाक्षक्षेत्रयोगे पलभा भुजस्तदा पंचमाक्षक्षेत्रयोगे क इत्यनुपातेन क्रांतिज्या।

अत्र फलस्थाने द्वादशपलकर्णयो ग्रहणे कुज्योनतद्धृतिसमशंकुक्रमेण भवतोप्यनुक्तत्वादत्रोक्ते, इति पूर्वोक्तरीत्या प्रश्ना उत्तराणि चाऽपि ज्ञेयानि ॥९८॥

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—प्रश्नान्तर है कि अांज्या + समशंकु + कुज्योनितद्धृति = १४४०

तथा अग्रा + समशंकु + तद्धृति = १८००

यहाँ भी ९५ श्लोक की तरह उत्तर अपेक्षित है ।

जैसे— सुष्ठुयुक्ति से एकत्र कोटियों का योग और अन्यत्र कर्णों का योग ज्ञात है ।

अतः $\frac{\text{कर्णयोग} \times १२}{\text{कोटियोग}}$ = पलकर्ण = $\frac{\text{कर्णयोग} \times १२}{\text{आद्य}}$ । यतः कोटियोग = आद्य ।

$\sqrt{\text{पलकर्ण}^{२} - (१२)^{२}}$ = विषुवती या पलभा या अक्षभा उपपन्न होती है ।

पलभा ज्ञान से पूर्ववत् रविज्ञान सरल है ।

इदानीमन्यं प्रश्नमाह—

यत्र त्रिवर्गेण मिता पलाभा तत्र त्रिनाड़ीप्रमितं चरं स्यात् ।
यदा तदार्कं यदि वेत्सि विद्वन् सांवत्सराणां प्रवरोऽसि नूनम् ॥९८॥

इदानीमस्योत्तरमाह—

चरज्यकार्काभिहतिस्त्रिमौर्व्या भक्ताप्तवर्गोऽक्षभया स्वनिघ्न्या ।
युतोऽथ तन्मूलहृता चरज्या सूर्या १२ हता क्रान्तिगुणस्ततोऽर्कः ॥९९॥

अत्रोपपत्तिः—क्रान्तिज्याप्रमाणं यावत्तावत् १ । इयमक्षप्रभागुणा द्वादश १२ भक्ता कुज्या स्यात् । या वि $\frac{१}{१२}$ । इदानीं प्रकारान्तरेण कुज्यावर्गः । तत्र यावत्तावद्वर्गोनत्रिज्यावर्गो द्युज्यावर्गः स्यात् । तेन गुणितश्चरज्यावर्गस्त्रिज्या-वर्गभक्तः कुज्यावर्गः स्यात् । याव, च व १ त्रिव च व १ । अयं पूर्वकुज्यावर्गेणानेन
छेदः त्रिव १
याव विव $\frac{१}{१४४}$ सम इति पक्षौ समच्छेदीकृत्य छेदगमे कृते शोधनार्थं न्यासः
याव. विव. त्रिव १ रू० । अनयोस्त्रिज्यावर्गेणापवर्त्तितयोः समीकरणे क्रियमाणे एवं
याव. चव. १४४ त्रिव. चव. १४४
जातम् । अधस्तनपक्षे यावर्गेण चरज्यावर्गद्वादशवर्गयोर्घातसमेन त्रिज्यावर्ग-च्छिन्नेनर्णगतेन शोध्यत्वाद्धनगतेनोपरितनराशिर्यावर्गो विषुवतीवर्गतुल्यो युतः कृतस्तस्य मूलेनाधस्तनरूपराशेर्मूलं चरज्याद्वादशघाततुल्यं भक्तं फलं क्रान्तिज्येत्यु-पपन्नम् ।

अथवा तद्देशीयैश्चरखण्डकैश्चरज्यासाधनव्यस्तविधिना स्थूलो रविः स्यात् । अत्र चरं घटीत्रयम् ३ । अस्य ज्या १०६२ । अर्कगुणिता जाता १२७४४ ।

इयं त्रिज्याभक्ता लब्धम् ३ । ४२ २४ अस्य वर्गः १३ ४३ ७ अक्षभावर्गेणानेन ८१ युतः ९४ ४३ ७ । अस्य

मूलम् । ९ ४३ ५१ । अनेन हृता चरज्या सूर्या १२ हता लब्धं क्रान्तिज्या १३०९।३९।

मरीचिः—अथ सूर्यस्य सोद्देशं प्रश्नांतरमाह—यत्र त्रिवर्गेणेति···नूनमिति। यद्यप्येतत्संकीर्णछन्दो न प्रचुरप्रयोगविषयं तथापि छन्दसामानत्वान्नदोषः। पलभेति पाठे नोपजातिकाख्यं वा। यत्र देशे त्रिवर्गेण नवभिरित्यर्थः। परिमिता पलप्रभाक्षभा तत्र देशे यदा यस्मिन्काले त्रिनाडीप्रमितं त्रिघटिकामितं चरं भवति। तदा तस्मिन्कालेऽर्कं राश्याद्यवयवात्मकं सायनस्पष्टसूर्यम्, हे विद्वन् प्रश्नोत्तरोपजीव्यज्ञानाश्रयीभूतं, यदि स्वकल्पिताभिनवप्रकारेण एतेन पलभाचरज्ञाने स्थूलमार्गेणोक्तविलोमविधिना सूर्यं यतोऽपि जानातीत्यपूर्वप्रश्नं त्वं निश्चयेनेतिनिरस्तं वेत्सि, आनयसि तर्हि त्वं संवत्सराणां—संवत्सर शब्दो विशेष परोऽपि सामान्यपरस्तेन कालज्ञानां ज्योतिः शास्त्रज्ञानां मध्ये-प्रवर उत्कृष्टज्ञानाश्रयेण श्रेष्ठोऽसीति मन्ये। नूनं निश्चयेन। वर्ष-निर्णयस्य सूर्यचापोपजीव्यत्वात्सूर्यज्ञानं विना तद्वर्षज्ञानासंभवाच्च संवत्सराणामित्युक्तम्। तथा च स्व तादृशमहत्त्वसंरक्षणाय शीघ्रं सूक्ष्मं तदानयनं ब्रूहीति भावः ॥६८॥ अथास्य पलभा भुजे द्वादश कोटिस्तदा कुज्या भुजे केत्यनुपाते क्रांतिज्या साधके कुज्याया अज्ञानात्प्रथमं चरज्यैव कुज्या कल्प्या। अस्याः क्रांतिज्या, ततोऽस्याः कुज्या, ततः क्रान्तिज्येत्यसकृद्विधिनाथवाभीष्टक्रांतिज्याया उक्तविधिना द्युज्याकुज्याचरज्याः साध्यास्ततः साधितचरज्ययेष्टा क्रान्तिज्या तदोद्दिष्टचरज्यया केति क्रांतिज्याऽस्याः सूर्य उक्तदिशेत्युत्तरस्य गौरवाल्लघुभूत प्रकारेणोत्तरमुपजातिकयाऽह—चरज्यकार्काभिहृतिस्त्रिमौर्व्येति···गुणस्ततोर्क इति। ज्ञातचरकालस्योक्त प्रकारेण ज्या द्वादशगुणा त्रिज्यया भक्ता आप्त फलस्य वर्गः, अक्षभया स्वनिघ्न्या। पलभा वर्गेणेत्यर्थः युतः कार्यः। तदनंतरं। द्वादशगुणा चरज्या तन्मूलहृता। पूर्वसिद्धांकस्यमूलेन भक्तेत्यर्थः। फलं क्रान्तिज्या स्यात्। उत्तरमाह्-तत इति। क्रान्तिज्यायाः सूर्य उक्त एवेत्यर्थः। यथोदाहरणे चरघटी उक्तप्रकारेण लघुज्या ३७।४५।५६ द्वादशगुणा ४४४।५९।१२ त्रिज्या १२० भक्ता ४२।३० अस्याः पलभावर्ग वर्ग १३।४५।६।८१ युतो ९४।४५।६।५ अस्य मूलम् ९।४४।३७ अनेन द्वादशगुणचरज्या ४४४।५९। द्वादशभक्ता क्रान्तिज्या ४५।४२।५० अस्याः भुजज्या ११२।३१।२५ अस्याः सूर्य चतुष्टयम् प्र० १।९।४।३८···

अत्रोपपत्तिः—बीजैकवर्ण समीकरणेन क्रांतिज्या मानमव्यक्तम्, या १ इदं द्वादशभक्तं पलभागुणं कुज्या या. प १ द्वितीयप्रकारेण तु क्रांतिज्यावर्गोनस्त्रिज्या वर्गो द्युज्यावर्गः याव १ त्रिव १ त्रिज्या वर्गे चरज्या वर्गस्तदा द्युज्या वर्गेण क इति कुज्या वर्गः [याव वच १ त्रिव च १२ त्रव १ व १] अयं पूर्वकुज्यावर्गेणानेन याव पव १४४ सम इति समच्छेदीकृत्य छेदगमे शोधनार्थं पक्षयोः न्यासः याव चव १४४ त्रिवव १४४ एतौ पक्षौ त्रिज्यावर्गापवर्त्तितौ
याव पव त्रिव १······रू०
तत्राधः पक्षेऽव्यक्तवर्ग-१४४ गुणः पलभावर्गः ऊर्ध्वपक्षे रूपस्थले चरज्यावर्गः वेदेन्द्रघातः, अव्यक्तस्थाने चरज्यावर्गवेदेन्द्रगुणो यावद्वर्गगुणो ऋणं त्रिज्यावर्ग भक्तस्तत्र लाघवाच्चरज्याद्वादशघातस्त्रिज्या भक्तः फलवर्ग इति कृतम्। तथा च

पक्षयोर्न्यासः याव कव १ चव १४४ अत्रैकाव्यक्त मित्यादिना समशोधनेनाव्यक्तपक्षे
याव पव १ रु ०

पलभावर्गयुतः फलवर्गो यावद्वर्गगुणः रूपस्थाने यथास्थितमेव। ततो व्यक्तशेषेण रूपशेषे भक्ते फलस्याव्यक्तवर्गमानत्वम्। वर्गयोः साम्यादतस्तन्मूलं क्रांतिज्या व्यक्तमानम्। तत्र लाघवाद्भाज्यहरयोरेव मूले गृहीते। तेन भाज्यश्चरज्या-द्वादशघातः हरस्तूक्ततत्फलम्। हरभक्तभाज्यः क्रान्तिज्येत्युपपन्नम्। श्रीपतिना तु यथास्थितं पक्षयोः शोधनं कृत्वा भाज्यहरौ चरज्यावर्गद्वादशवर्ग घातापवर्त्तितौ कृत्वा फलस्य मूलं क्रांतिज्येत्युक्तं "सिद्धांतशेखरे"। 'सूर्यघ्नीचरशिंजिनी कृतकृतिस्तद्युक्त भक्ता सति त्रिज्याक्षप्रभयोर्वधस्य करणीछेदस्त्रिभज्या कृतेः। लब्धे मूलमिनापमस्याहिगुणस्तदपि प्रोक्तवत्तिग्मांशुर्विषुवत्प्रभा चरज्ञानादसौ जायते'। इत्यनेन निरक्षे तूक्तमार्गेण साध्यसत्वे साधकपलभाभावान्न साधनम्। साध्याभावे साजात्यात्साधनं भवतीति ध्येयम्। नव्यास्तु-पलभाभुजे द्वादश कोटिस्तदा त्रिज्याभक्तद्युज्यागुणचरज्यारूपकुज्याभुजे केत्यनुपातेन क्रान्तिज्या तथा च द्वादशगुणचरज्या द्युज्या गुणा पलभात्रिज्याघात भक्तेत्यत्र गुणहरयोर्गुणपवर्त्तनेन द्वादशगुणितचरज्या द्युज्याभक्तत्रिज्यागुणपलभया भाज्येति सिद्धम्। अत्रापि द्युज्यायाः क्रांतिज्याधीनत्वेनात्माश्रयात्प्रकारांतरेण हरवर्गे ज्ञाने तन्मूलेन हरज्ञानं सुलभम्। तथाहि—द्युज्यावर्गभक्तस्य पलभावर्गस्य त्रिज्यावर्गगुणितस्य हरत्वात्त्रिज्यावर्गरूपगुणस्य खण्डद्वयम्। एकं त्रिज्यावर्गमितम्। परं द्युज्या-वर्गोनत्रिज्यावर्गरूपक्रांतिज्या वर्गमितम्। तेन प्रथमस्थाने द्युज्यावर्गमित गुणहरयोः सत्वेन तन्नाशात्पलभावर्ग एवाविकृतः। द्वितीयस्थाने क्रांतिज्यावर्गमित गुणस्य पूर्वसिद्धक्रांतिज्यायाः वर्गत्वेन ग्रहणे चरज्यावर्गो द्वादशवर्गगुणो द्युज्या वर्गगुणस्त्रिज्यावर्गपलभावर्गघातभक्तो गुणः सिद्धः। तेन द्युज्यावर्गपलभा-वर्गयोर्गुणहरयोस्तुल्यत्वेन नाशाद्द्वितीयस्थाने चरज्यावर्गस्त्रिज्यावर्गभक्तो द्वादश-वर्गगुणः सिद्ध इति लाघवाच्चरज्याद्वादशघातस्त्रिज्याभक्तः फलवर्ग एव कृतः। वर्गेण वर्गं गुणयेद्भजेच्चेत्युक्तत्वात्। तथा च फलवर्गः पलभा वर्गयुतो हर वर्गस्तन्मूलं हरः। द्वादशगुण चरज्यायाः फलं क्रांतिज्येत्युपपन्नमिति कल्पयंति ॥९९॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—जहाँ पर ३ तीन का वर्ग = नौ ९, के तुल्य पलभा, तथा ३ घटी (१ घंटा १२ मिनिट) तुल्यचर है, वहाँ यदि रवि को जानते हो तो त्रिस्कन्ध ज्योति शास्त्रज्ञों में तुम्हीं श्रेष्ठ हो। सूर्यज्ञान ही समग्र पञ्चाङ्ग का मूल है। विना सूर्यज्ञान के वर्षपति का ज्ञान संभव नही होता है, अतएव गणितज्ञ ही समग्र ज्योतिश्शास्त्रज्ञ है इस अभिप्राय से यहाँ "साम्वत्सराणां पद" आचार्य ने दिया है।

१२ गुणित चरज्या में त्रिज्या का भाग देकर लब्ध के वर्ग को पलभा के वर्ग में जोड़ने से इसके मूल से १२ × चरज्या में भाग देने से क्रान्तिज्या होती है तब रविज्ञान सुगम है।

जैसे यहाँ क्रान्तिज्या प्रमाणं=या तो कुज्या$=\frac{\text{प भा} \times \text{या}}{१२}$

चरज्या $=\frac{\text{प भा} \times \text{या}}{१२} \times \frac{\text{त्रि}}{\text{द्यु}}$ । १२ ज्या च द्यु=पभा. या. त्रि

=द्यु^{२} १२^{२}. ज्या च^{२}=त्रि.^{२} पभा.^{२} या^{२}

१२^{२}. ज्या च (त्रि^{२}-य^{२})=य^{२}-पभा^{२}. त्रि^{२}

१२^{२}. ज्या य^{२}(त्रि^{२}-या^{२})+१२^{२} ज्या च.^{२} य^{२}=य^{२}. पभा^{२} त्रि^{२}+१२.^{२} ज्या च^{२}. य^{२}

प क $=\frac{\text{कयो} \times १२}{\text{कोयो}}=\frac{\text{कयो} \times १२}{\text{आद्य}}$ । वि$=\sqrt{\text{प क}^{२}-१२^{२}}$

वि+प क+१२=स्थियो

तथा क्रांज्या $=\frac{\text{वि} \times \text{आद्य}}{\text{स्थियो}}$

अथवा, $\frac{\text{प क}}{१२}=\frac{\text{अ ग्रा}}{\text{ज्या क्रां}}=\frac{\text{समशं}}{\text{समक}}=\frac{\text{तद्धति}}{\text{समशं}}$

१२.^{२} ज्या च.^{२} त्रि^{२}=या^{२}(पभा.^{२} त्रि^{२}+१२^{२} ज्या च^{२})

$$\text{या}^{२}=\frac{१२.^{२}\ \text{ज्या च}.^{२}\ \text{त्रि}^{२}}{\text{पभा}.^{२}\ \text{त्रि}^{२}+१२^{२}\ \text{ज्या च}^{२}}=\frac{\frac{१२.^{२}\ \text{ज्या च}^{२}\ \text{त्रि}}{\text{त्रि}^{२}}}{\frac{\text{प भा}.^{२}\ \text{त्रि}^{२}+१२.^{२}\ \text{ज्या च}^{२}}{\text{त्रि}}}$$

$$=\frac{१२.^{२}\ \text{ज्या च}^{२}}{\text{प भा}^{२}+\frac{१२.^{२}\ \text{ज्या च}^{२}}{\text{त्रि}^{२}}}$$

$$\therefore\ \text{या}=\frac{१२.^{२}\ \text{ज्या च}^{२}}{\text{प भा}^{२}+\frac{१२.^{२}\ \text{ज्या च}^{२}}{\text{त्रि}^{२}}}=\frac{१२.\ \text{ज्या च}}{\text{प भा}^{२}+\frac{१२.^{२}\ \text{ज्या च}^{२}}{\text{त्रि}^{२}}}$$ आचार्य प्रकार उपपन्न हुआ ।

अथान्यं प्रश्नमाह—

द्युज्यकापमगुणार्कदोर्ज्यका-संयुतिं खखखबाण ५००० सम्मिताम् ।
वीक्ष्य भास्करमवेहि मध्यमं मध्यमाहरणमस्ति चेच्छ्रुतम् ॥१००॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम्

इदानीमस्योत्तरमाह:—

द्युज्यापक्रमभानुदोर्गुणयुतिस्तिथ्यु १५ द्धृताब्ध्या ४ हता
स्यादाद्यो युतिवर्गतो यमरगुणात् सप्तामरा३३७प्तोनिताः ।
नागाद्र्यङ्गदिगङ्ककाः ९१०६७८ पदमतस्तेनाद्य ऊनो भवेद्
व्यासार्द्धेऽष्टगुणाब्धिपावक३४३८ मिते क्रांतिज्यकातो रविः ॥१०१॥

वा० भा०—योद्दिष्टा रविदोर्ज्याद्युज्याक्रान्तिज्यानां युतिः सा पृथक्स्था चतुर्भिर्गुण्या पञ्चदशभिर्भाज्या। फलमाद्यसंज्ञं स्यात्। अथ युतिकृतेः पृथक्स्थाया द्विगुणायाः सप्तामरैः ३३७ भागे गृहीते यल्लभ्यते तेनोनिताः कार्य्याः। के? नागाद्यङ्क-दिगङ्कका। अत एभ्यो यत् पदं तेनाद्य ऊनीकृतः सन् क्रान्तिज्या भवति। सा चक्रकलाऽयासार्द्धे। अस्या रविः साध्यः।

अत्रोपपत्तिः;—क्रान्तिज्याप्रमाणं यावत्तावत् १। इयं त्रिज्यागुणा जिनांशज्यया भक्ता रविदोर्ज्या स्यात्। या $\frac{३४३८}{१३९७}$। इयं क्रान्तिज्यायुक्ता। उद्दिष्टयुतेः शोध्या। शेषं द्युज्या भवति या ४८३५ रू६९८५००० छेदः रू१३९७। अथ प्रकारान्तरेण द्युज्यावर्गः याव १ त्रिव १। अस्य पूर्वद्युज्यावर्गेण साम्यम्। तत्र पक्षौ समच्छेदीकृत्य छेदगमे शोधने च कृते मूलग्रहणार्थं यावत्तावद्वर्गाङ्केन पक्षयोश्छिद्यमानयोर्भाज्यभाजकयोर्यथायोगमपवर्त्तने च क्रियमाणे एवंविधा क्रियोपपद्यते। अत्र क्रांतिज्या $\frac{४६०}{१५}$। द्युज्या $\frac{३४०७}{५}$। दोर्ज्या $\frac{११३२}{३९}$। रविः $\begin{matrix}०\\१९\\१४\\३२\end{matrix}$।

मरीचिः—अथ सूर्यस्य प्रश्नांतरं सोद्देशं सकल्पितं रथोद्धतयाऽह। द्युज्य-कापमगुणार्कदोर्ज्यका····चेच्छ्रुतमिति। द्युज्याक्रांतिज्या सायनार्कभुजज्यानां त्रयाणां योगे बृहत्त्रिज्याप्रमाणेन पंचसहस्रमितम्। वीक्ष्य ज्ञात्वेत्यर्थः। त्वं भास्करं सूर्यमानयनप्रकारेण, अवेहि, जानीहि। तथा च त्रयाणां योगात्सूर्यानयनं वदेति प्रश्नार्थः। एतदुत्तररीत्यज्ञानादसमर्थोऽहमत आह—मध्यममिति चेत् यदि त्वया, मध्यमं, आहरणं बीजीयैकवर्णमध्यमाहरणमित्यर्थः। प्रथमोद्दिष्टत्वात्प्राधान्याच्च श्रुतं गुरुवाक्यजन्यशाब्दबोधविषयीकृतमित्यर्थः, अस्ति तथा चैतदुत्तरं विना मध्यमाहरणज्ञानं न संभवतीति तद्ज्ञानेन तद्रीतिज्ञानादुत्तर-दाने समर्थस्त्वमिति भावः।

ननु तद्ज्ञानेऽपि तदतिरिक्तस्थले बुध्यप्रसरादसमर्थ इत्यतः संबोधनमाह-मध्यमेति। मध्यमः मकारोपविद्यते यस्येत्येतादृश सुमते! इत्यर्थः। तद्रीत्याऽन्यत्रापि बुद्धिप्रसारस्तवास्तीत्युत्तरदाने समर्थ स्त्वमिति भावः।

एतेन मध्यमाहरणमित्यत्र मध्यममित्यस्यान्वयात्तात्पर्यानुरोधेनैवैक वर्णीय मध्यमाहरणज्ञानसंभवात्तदन्वयेनाऽपि····संभवाच्च···नापि तदा नासंभवाच्च मध्यमं सूर्यमवेहीत्यर्थः। तत्र मध्यमसूर्यज्ञानस्य स्पष्टसूर्यज्ञानस्योपजीव्यत्वात्स्पष्ट सूर्यस्य प्रश्नस्तद्ज्ञानस्यापि क्रन्तिज्या ज्ञानाधीनत्वात् क्रान्तिज्याप्रश्नः पर्यवसित इति निरस्तम्, मध्यमसूर्यप्रश्नस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथा सूत्रो ततोऽर्क इति वत्स्पष्टसूर्यान्मध्यमसूर्योऽपि स्पष्टाधिकारोक्तप्रकारेण स्यादितिकथनापत्तेः।

यत्तुमध्यमित्यस्य मध्यमाहरणमित्यत्रैवान्वयः। तथा च मध्ये भवं मध्यमं बीजमध्यस्थमित्यर्थः। तत्र यद्यपि मध्यमाहरणोभयं बीजमध्यस्थं तथाप्याचार्यमते एकवर्णानेकवर्णभेदाभ्यां बीजस्य द्वैविध्याभ्युपगमात्प्रथमभेदस्याप्येकवर्ण मध्यमाहरणभ्यां भेदाभ्यां द्वैविध्याद्दितीय भेदस्याप्यनेकवर्णमध्यामाहरण भावित भेदै स्त्रैविध्योपगमाच्च बीजपदोपस्थिततन्मन्मुख्यभेदाभ्यां स्वसंज्ञैक्यसंबंधेनोपस्थितविशेषभेदयोरेकवर्णानेकवर्णयोर्मध्यस्थमितिलाभादेकवर्णीय मध्यमाहरणमित्यर्थः। आचार्याभिमततादृशवीजविभाजकोपाध्यभिप्रायस्तूक्तबीजटीकायां यावत्तावत्कल्प्यमव्यक्तराशेरित्यादि श्लोकव्याख्यानावसर एव श्रीमत्कृष्ण गणकैर्व्यक्तीकृतः सतत एवावधेय इति।

तत्र बीजविभाजकोपाधिभ्यां तदेवांतरिततद्विशेषभेदोपस्थितौ मानाभावात् ॥१००॥

मरीचिः—अथ शार्दूलविक्रीडितवृत्तेनैतदुत्तरमाह—द्युज्यापक्रमभानुदोर्गुणयुति रिति···रविरिति। द्युज्याक्रान्तिज्यासायनार्कभुजज्यानां योदिष्टायुतिः। सा अभ्याहता ? चतुर्भिर्गुणिता, पंचदशभिभक्ता, फलमाद्यः स्यात्। आद्यस्य साकांक्षत्वाद्द्वितीयं पदमाह—युति वर्ग इति। उद्दिष्टवर्गाद्द्विगुणात् सप्तत्रिंशदधिक शतत्रयभागेन या लब्धिस्तथा, नागाद्र्यंगदिगंकाः। नवलक्षैकायुतषट्शताष्ट समाः एतेऽकाः ९१०६७८ ऊनाः कार्याः। अतः शेषांकानांन्मूलं ग्राह्यम्। आद्यमूलाभ्यां कान्तिज्यामाह—तेनेति तेन मूलेन आद्यः हीनः कार्यः शेषं कांतिज्या स्यात्।

ननु त्वदभिमतेष्टबृहत्रिज्यान्यत्रिज्याप्रमाणेनोदिष्टयुतावुक्तप्रकारेणानयनं न संभवतीति व्यभिचारस्तथा दर्शनात्। यथा च भवदभिमत लघुत्रिज्याप्रमाणेन-परमासन्ना युतिः खाष्टद्विमिता।

अस्मादुक्त प्रकारेणाद्यः ७४।४४ मूलं च ९५४ अत्र मूलेनाद्यो हीनो न भवती त्यन्यत्र सुतरां तदसंभव इति कथमेतदत आह—व्यासार्द्ध इति। अष्टत्रिंशद्युतचतुस्त्रिशघातमित त्रिज्याप्रमाणेनोद्दिष्टयुताविदमुत्तरं नान्यत्रेत्यर्थस्तथाचेष्टत्रिज्या प्रमाणेनोदिष्ट युति श्चेत्तदा प्रथमं सानुपातेनोक्तत्रिज्याप्रमाणेन प्रसाध्य तत उक्तप्रकारेण कांतिज्यां प्रसाध्य तदनुक्तप्रकारेण क्रान्तिज्यां प्रसाध्य स्वेष्टत्रिज्यापरिणामिता क्रांतिज्या स्यात्तेन न दोष इति भावः। उत्तरमाह—अत इति। क्रांतिज्या रविरुक्त एवेति भावः। क्रांतिज्यां प्रसाध्य एवेति भावः। यथोदाहरणे युतिः ५००० चतुर्गुणा २०००० पंचदशभक्ता फलमाद्य १३३३।२० युतिवर्गः २५०००००० द्विगुणः ५००००००० सप्तामर-३३७ भक्तः फलं १४८३६७।५७।१९ अनेनोक्तांकाः ७६२३१०।२।५१ एषां मूलम् ८७ ६६।१३ अनेनाद्यो १३३३।२० हीनः क्रांतिज्या जाता ४६०।१३।४७ अस्याः भुजज्या ११३२।३७।११। ततः सूर्य चतुष्टयम् प्र १।१९।१४।३५ द्वि ५।१०।४५।२४ तृ ६।१९।१४।३५। च ११।१०।४५।२५।

अत्रोपपत्तिः—बीजैकवर्णमध्यमाहरणेनेति प्रश्नश्लोके, उक्तम्। तद्यथा—क्रान्तिज्या मानम्-यावत्तावत्। इयं त्रिज्यागुणा परमक्रान्तिज्या भक्ता जाता दोर्ज्या

यात्रि १ क्रान्तिज्या दोर्ज्ययोर्योगेनानेन त्रिज्यापरमक्रान्तिज्यायोगगुणितं यावत्ता वद्रूपेणो-या यो १ द्दिष्ट युतिर्हीना जाता द्युज्या या यो १ या यु. प. क्रा १ अस्याः वर्गः।
प का १ पका १

यावयोव १ म. यु. यायोपक्रां २ युव यक्रां व१ अ, अयं क्रान्तिज्यावर्गोनत्रिज्या वर्गे रूपद्युज्यावर्गे रूपेणानेन, याव १ त्रिव १ पक० १ सम इति समछेद्धी कृत्य छेदगमे पक्षयोः क्रांव साधनार्थं न्यासो विधीयते याव योव १ यायो२ युपक्रा१ युति १ यक्रांव १ अत्रैकाऽव्यक्तं शोधयेदित्यादिना त्वव्यक्तपक्षे प्रथमस्थाने परम-क्रान्तिज्या याव क्रांव १ या, त्रिव प क्रांव, वर्गयुतो योगवर्गो व्यक्तवर्गगुणो धनं द्वितीयस्थाने योगयुतिपरमक्रांतिज्याघातो द्विघ्नो व्यक्तगुणो या व क्रांव. १ या त्रिव द्यु कांव १ ऋणं व्यक्तपक्षे युतेस्त्रिज्यातोऽन्यूनत्वाद्युतिवर्गत्रिज्यावर्गयोरंतरं परम-क्रांतिज्यावर्गगुणमृणमिति सिद्धम्। अथवा द्युज्यावर्गेणानेन याव योव १ यायो युप क्रां १ युवप क्रांव १ त्रिज्यावर्गे हीनं क्रान्तिज्यावर्ग याव योव १ यायो व २ युप क्रांव १ या यो युप क्रां १ युव प क्रांव १. त्रिव पकाव १ अयं क्रांतिज्या वर्गेणानेन, याव १ सम इति स प क्रांव १ समछेदीकृत्य छेदगमे पक्षयोर्न्यासः याव योव १ यायो युप। क्रांव १। क्रां २ युव प क्रांव १ त्रिव. प काव १। अथ क्रांतिज्यावर्गो-दस्मात् १ याव योव १ यायो युय क्रां २ युव प क्रांव १ त्रिव प क्रांव १। भुजज्या-नयन रीत्या भुजज्या याव प क्रांव १ वर्गः १ यांव यो १ त्रिव १ यायोयुप क्रां त्रिव २ युव क्रांव त्रिव १ त्रिवव क्रांव १ अयं पूर्वानीतदोर्ज्यया त्रि १ वर्गेणानेन प क्रांव १ यावत्रिव १ सम इति मिथो हराभ्यामपवर्त्तिताभ्यामित्युक्तप्रकारेण पक्षौ समछेदी-कृत्य त्रिज्याव १ प क्रांवव १ वर्गेणापववर्त्त्य पक्षौ पक्रां १। तावेव सिद्धौ पकाव १ यावयो व १ यो युको २ युव क्रांव १ त्रिव पक्रांव १। अत्रापि समशोधनेन पूर्वोक्तमेव सिद्धम्। पक्षावऽव्यक्त १ वर्गांकेन योगपरमक्रांतिज्यावर्गयोर्योगरूपे-याव प क्रांव १ या रू णापवर्त्तितावऽव्यक्तांकार्द्धस्याद्य संज्ञा व्यक्तांकस्य परसंज्ञेति प्रकल्प पक्षयोराद्यवर्गतुल्यरूपाणि संयोज्य ज्यामूलं तत्र व्यक्तमूलं परोनाद्य-वर्गान्मूलम्। अव्यक्तपक्षमूलं तु धनाद्यतुल्यरूपयुतर्णाऽव्यक्तमेव या १ या आ १ ऋणाद्ययुत धनाऽव्यक्तमूलमपि मध्याऽव्यक्तनाशसंभवाद्युतं तथापि पूर्वमव्यक्तस्यै-कवर्णत्व निश्चयान्नांगीकृतमन्यथानुपपन्नं मानं स्यात्। तथा च मूलयोः समशोध-नार्थं न्यासः। या १ आ १ अत्र समशोधनेन मूलोन आद्यो व्यक्तमानं क्रान्तिज्या सिद्धा।

ननूक्तयुक्त्या परापमज्या सहिता त्रिभज्या योगभिधोद्दिष्टयुतिर्युतिश्च। परापम या मू १ ज्यायुति योगघातत्वाद्यस्त्रिभज्योनयुतिवर्गभेदः। परापमज्येह त्रिभज्याकृतिताडितो न्यस्तस्ततो परोऽस्य कृतिस्तयोः सिद्धांशगुणस्य कृत्या योगस्य कृत्या युतया हृतौ तावाद्यस्य वर्गात्परवर्जिताच्च मूलेन चाद्यो वियुतोऽपमज्या मूलाद्ययोगोऽनुपपन्नमानम्। यतोऽत्र पूर्वं नियतं ऋणत्वमव्यक्तांके रूपगणेन चेत्तदिति श्लोक त्रयनिबद्धप्रकारस्योपपन्नत्वेनाचार्योक्त प्रकार उपपन्नः। कथं युक्तः उपपत्यसिद्धप्रकारस्य बहुशः संवादेऽप्यव्यभिचार निर्णयत्वादितिचेन्न। तदभि-

मतोपपत्तिसिद्धप्रकारे त्रिज्यापरमक्रांतिज्यासन्निवेश गौरवमाचार्यैस्वलोक्योक्तरीत्या स्वाभिमतमहत्त्रिज्यानुरुद्धोपपन्न प्रकारस्य कल्पितत्वात्। तथाहि-द्युज्यासाम्येन समशोधनार्थं पूर्वसिद्धावेतौपक्षौ। यावयोव १ यायोयुपक्रा २ युव पक्रांव १ अष्टत्रिंशंद्युतचतुस्त्रिंशच्छतमित त्रिज्यानुरोधेन क्रियते। यथा त्रिज्या ३४३८ परम क्रांतिज्यैतत्प्रमाणेनेयम्—याव प क्रांव १ या त्रिव प क्रांव १ १३९७ अनयो र्योगः ४८।३५ अस्य वर्गः २३२४।२५ एतद्गुणोऽव्यक्तवर्गः। योगः ४८ ३५ परम क्रांतिज्या १३९७ गुणितो द्विगुणश्च १३५०८९९० अव १९५११०९ एतद्गुणयुतिरुद्दि-ष्टाऽव्यक्त गुणिता ऋणम्। परमक्रांतिज्या-१३९७ वर्गगु-१९५१६०९ णो युतिवर्गश्चा-यमेकः पक्षः खंडत्रयात्मकः द्वितीयः परमक्रान्तिज्यावर्गगुणो व्यक्तवर्गो ऋणम्। त्रिज्यापरमक्रांतिज्याघात-४८०२८८६ वर्ग २३०६७७१३९२०९९६ इतिखंड द्वयात्मकः।

तयोर्न्यासः। याव २३३७७२२५ यायु १३५०८९९० युव १९५१६०९। अत्र समशोधनेनाव्यक्त पक्षः याव २५३२९९२८ यायु १३५०।८९९० रूपपक्षस्तु गुण गुणितस्य याव १९५१६०९ या. रू. २३. ६७७१३९२८९९६। युतिवर्गस्य नियतांकेभ्यो न्यूनतया खंडद्वयात्मकः युव १९५११०९ रू २.३०६७७१३९२०९९६ पक्षावव्यक्त वर्गांकेनापवर्त्तितावव्यक्तपक्षे प्रथमस्थाने याव १ द्वितीयस्थाने या। यायु १३५०-८९९०। सच्छेदौ निःशेष भजनात् रूपपक्षेऽपि। युव १९५१६०९ रू २३६७७७१३-९८९९६ मूलग्रहार्थमव्यक्त वर्गार्द्ध युति-६७५४४९५ वर्ग-यु २५३२८८३४ २५३२८८३४। २५३२८८३४। युव ४६२३२ २७ ५० २५ योजनेनाव्यक्त पक्ष-मूलं या १ यु ६६७५४४९५२५३३२८८३४ अत्राव्यक्तांकार्द्धवर्गस्वरूपयोजनात्सम छेदकरणमन्यथा। छेदः ९४१५४९८३१७९५५६ मूलालाभापत्तेरिति ध्येयम्। व्यक्तपक्षे मिथो हराभ्यामपवर्त्तिताभ्यामित्युक्तप्रकारेण समछेदकरणे जातम्। युव ४९४३३११९० ३९३४३९० रू ५८४२७८२९६८६७०२७४७०६६४ अत्र योजने युति वर्गगुणयोर्धनर्णयोरंतरमेव योग इत्युक्तेन्नर्णशेषयुतिवर्गस्य गुणः ३८०८७७६४४-४६३९८९४ तथा ६४१५४९८३१७९९५५ च युतिवर्गगुणघातस्य नियतांकेभ्यो बाधकत्वात्तदून तदंकानां मूलमव्यक्तवर्गांकभक्तमिति व्यक्तपक्षे मूलं सिद्धम्। ततः पुनः समशोधनेन पंचांकवेदाब्धिशराद्रिषड्गुणित युतिर्मूलोना हर २५३२८८ ३४ भक्ता क्रांतिज्या स्या न्मूलस्य ततो न्यूनत्वमेवेति न क्षतिरिति सिद्धम्। अत्र गणितक्रियागौरव दृष्टवाचार्यै र्नियतांका स्वहरभक्ताः कृताः फलं स्वल्पांतरार्ध सत्यधोवयवयुतचतुर्विंशत्यधोयवयुतं नवनेत्रनगाभ्रभूनंदमितम् ९१०७२९।२४।२० युतिवर्गस्यापि गुणहरौ ३८०८७७६८८८७१। ६४१५४९८३१७९९५५६ सार्धाभ्राब्ध्य ध्यष्टाश्वाभ्रांकभूमि-१९०४३८८८४४४० ३० रपवर्त्तितौ गुणस्थाने द्वयं २ हरस्थाने सम चत्वारिंशदधोवयवयुत द्विपंचाशदधोवयव युताः षडमराः। अतः स्वल्पां-तराद्युतिवर्गतोऽपमगुणात् सप्तारा···भ्योनिता इत्युक्तम्। एवमव्यक्तमूले रूपस्थानी-य युतिगुणं ६७५४४९५ हरौ २५३२८८३४ पादोनसिद्धांगगजाष्टभूपै १६८८६२३। ४५ रपवर्त्तित्तौ गुणस्थाने चत्वारः ४ हरस्थाने सावयवाः १४।५९।५८।५३।१२। अथ व्यक्तपक्षपदेनाव्यक्तमूलरूपाणि न्यूनानि कार्याणि तत्रानीतव्यक्तमूलस्य वास्तव

तन्मूलाधिकत्वात्किंचिन्न्यूनसप्तामरराणां हराणां सप्तामरग्रहणात्। आनीतव्यक्त-मूलात्किंचिदल्पमव्यक्तरूपेषु शोध्यम्। तत्राप्याचार्यैर्लाघवादव्यक्तपक्षरूपाण्येवाधि-कानि हरस्य किंचिन्न्यून ग्रहणे न कृतानि। अत्र यद्यपि तदंतरस्य साधनमशक्यं संबंधाभावात्तथापि स्वल्पांतरेणदोषात्पूर्वापेक्षया किंचित्सूक्ष्मसाधनाच्चेति ध्येयम्। तथा चाष्टविंशत्यधोवयवयुताष्टपंचाशदधोवयवयुतैकोनषष्ट्यधोवयवयुताश्चतुर्दश-हरोंऽगीकृतः १४।४९।५८।१८ अस्य स्वल्पांतरात्पंचदशत्वमेवांगीकृतमाचार्यैः। अतो द्युज्यापक्रमेत्याद्यानयनमुपपन्नम्। अथाद्यस्य पंचदशग्रहणेन न्यूनत्वादाद्यः पूर्व-सिद्धव्यक्तपदेन किंचिन्न्यूनेन हीनस्तत्राचार्यैर्व्यक्त वर्गः पूर्वसिद्धः युतिवर्गेण द्विगुणेन सप्तामरभक्तेन हीनसिद्धांक इति रूपो नियतांकानां न्यूनत्वांगीकारेण न्यूनः कृतः।

तत्राद्यहरस्य मूलस्थानीयत्वेन नियतांकानां वर्गस्थानीयत्वेन चाद्यहरयोः सूक्ष्म १४।४९।५८।२८ स्थूलयोर्वर्गौ। सूक्ष्मवर्गः* सावयवः २२४।५९।१४।१६ १८४१४५ स्थूलश्च २२५।११५ अतः सूक्ष्म हरवर्गाभिप्रायणैतेऽकां-९१०७२९ २४।२० स्तदा स्थूलहरवर्गाभिप्रायेण के इतीच्छावृद्धि फले ह्रास इत्युक्तेः न व्यस्तानुपातेन गुण-२२४।५९।१४।१६ हरौ २२५ हरेणापवर्त्य गुण एव सिद्धः सावयवः ५२।५९।४७। ४८।१८ अनेनेतेंऽकाः ९१०७७२९।२४। गुणिता जाताः नागाद्र्यंगद्रिगंकका: ९१०६७८ उत्पन्नाः। इदमुक्तं संबंधाभावाद्संगतमपि स्वल्पांतरेण सूक्ष्मासन्नमिति हरस्य स्वल्पान्तरेण सांप्रदायिकग्रहान्नागाद्र्यङ्गदिगंकका: इति यावन्न दोष इति ध्येयम्। अथोक्तप्रकारस्य बृहत्त्रिज्यानुरुद्धत्वादन्य त्रिज्यानुरुद्ध युतावसंभव इति तत्र व्यभिचारः स्यादतः तद्वारणार्थं प्रकारोपजीव्यत्रिज्यायामित्युक्तम्। अत उपपन्न द्युज्यापक्रमेत्यादि पद्योक्तम्। अति सूक्ष्मानयनं तु, वेदांगांगनभोद्रिवेद-भवनवोभोघ्नं······कृताष्टसायकमिते वर्गो युतेस्ताडितः चंद्राष्टाष्ट गजाष्टषट्स्वर-नगाद्यष्टाभ्रनागाग्निभिराप्तशेषपदेन पंच·······राद्यबध्यब्धि·····गोऽष्टषड्गोचरा हृता ॥१॥ युति वर्जिता समात्रिरामत्रिभज्यानुरुद्धा हृतापक्रमज्या। युगाभ्राष्टनाग ·······क्रियागौरवं नात्र दोषश्चासौक्ष्म्यादितिध्येयम्। यत्तु तेनादिमो वर्जितो न्यूनेनाथयुतोऽधिके न भवति क्रांतिज्यकेति कल्पित पाठस्तस्यार्थः, आदिमः-आद्यः तेन पदेनान्यूनेन। आद्यानधिकेन वर्जितः हीनः। क्रांतिज्या स्यादथाधिकेन-आद्य हीनेन युतिः क्रांतिज्या स्यात्।

अत्र युक्तिरपि, मूलयोः सिद्धयोः समशोधनार्थं न्यासः। या १ आ १, अत्र समशोधनेन मूलेनाद्या क्रांतिज्या सिद्धा। तत्र यदा मूलादाद्योऽधिकस्तदोक्तं युक्त-मेव। यदा या मू १ तु मूलादाद्योल्पस्तदोक्त मसंगतम्। बीजोक्तरीत्यांतरकरणेऽपि क्रांतिज्याया ऋणत्वमतो व्यक्तमूलस्योभयथा संभवान्न साम्य करणार्थमिदम-व्यक्तमूले–या १ आ १ न पूर्व सिद्धस्तथा चैतत्समशोधनान्मूलाद्ययोगः क्रांतिज्या-

---

* क्वचिदेवमस्ति १७४।५९।१४।४८।४५।

अत्र सर्वत्र गणिते गौरवमतोऽत्र त्रुटयोऽपि सम्भाव्यन्ते।

त्वापत्तेस्तत्राव्यक्तमूलस्यार्णायुतधनाव्यक्तरूपस्य सर्वत्र संभवेन न्यूनमूलेऽपि मूलावयवयोगस्य कोटिज्यात्वापत्तेः—

न चेष्टापत्तिः । उक्तोदाहरणे क्रांतिज्यायाः परमक्रांतिज्याधिकत्वापत्तेः । न चात्र द्विविधमानस्य युक्तिसिद्धत्वादेकत्र क्रांतिज्याद्वयविरोधान्नकल्पितव्यवस्थया द्वयोरुपपन्नत्वे युक्तमिति वाच्यम् । द्विविधमानाप्रसंगस्य निरूपितत्वात्तादृशकल्पने मानाभावाच्च । किंचाद्यात्पदस्याधिकत्वं खपुष्पायितमित्युक्तोपपत्तौ व्यक्तमेवेति भ्रान्तजल्पितमित्येतदित्यलं पल्लवितेन ॥१०१॥

दीपिका—स्पष्टम् ।

शिखा—द्युज्या + क्रान्तिज्या + रविदोर्ज्या = ५०००, के तुल्य देखकर मध्यम रवि को जानो । यदि मध्यम का आहरण सुने हो । अर्थात् मध्यमाहरण बीजगणित को पढ़े हो क्या ? यही भाव है । इस प्रश्न का जो उत्तर देता है वही मध्यमाहरण बीजगणित जानता है यह भी भाव हो सकता है ।

द्युज्या क्रान्तिज्या···के योग को उदिष्ट योग कहते हुये उदिष्ट योग को चार ४ से गुणा कर १५ पन्द्रह से भाद देने से लब्ध फल की आचार्य ने आद्य संज्ञा की है। द्विगुणित उदिष्टयोग युति के वर्ग में ३३७ का भाग देने से लब्ध से ९१०६७८ को कम करना चाहिए । शेष के मूल से आद्य को कम करने से वृहत्त्रिज्या व्यासार्ध ३४३८ में क्रान्तिज्या हो जाती है। (२१६०० कलात्मकपरिधि के व्यासार्ध में) । तब मध्यम सूर्य ज्ञान होगा ।

जैसे—

यहाँ क्रान्तिज्या मान = य । द्यु + क्रां + भु = युति ।

अतः युति — य = द्यु + भु । यतः $भु = \frac{त्रि \times य}{जिनज्या}$ । अतः $द्यु = यु - य - \frac{त्रि.\ य}{जिनज्या}$

$$= \frac{जिनज्या \times यु - जिनज्या.\ य - त्रि.\ य}{जिनज्या} = यु - \frac{य\ (जिनज्या + त्रि)}{जिनज्या} =$$

$यु - य \times लब्धि = द्युज्या = \sqrt{त्रि^2 - य^2}$

अतः $यु^2 - २\ यु.\ य.\ ल + य^2\ ल^2 = त्रि^2 - य^2$

$य^2\ (ल^2 + १) - २\ यु\ य\ ल = त्रि^2 - यु^2$

अतः $य^2 - \frac{२\ यु.\ य.\ ल.}{ल^2 + १} = \frac{त्रि^2 - यु^2}{ल + १}$ । यहाँ पर $\frac{य.\ ल}{ल^2 + १} = प$, तथा $\frac{त्रि^2 - यु^2}{ल + १} = आ$,
मानने से तथा दोनों पक्षों में $प^2$ जोड़ने से, $य^2 - यु\ प + प^2 = आ + प^2$

$\therefore य - प = मूल$ । यदि प 7 मू तो $य - प = \pm मू$ । तब य का मान द्विविध होने से दो प्रकार की क्रान्ति होगी ।

अथ $त्रि^2 \angle यु^2$ $\therefore त्रि^2 - यु^2 = $ ऋणावशेष होगा ।

इदानीमन्यं प्रश्नमाह—

क्रांतिज्यासमशंकुतद्धृतिमहीजीवाग्रकाणां युति-
र्दृष्टा खाम्बरपञ्चखेचर ९५०० मिता पञ्चाङ्गुलाक्षप्रभे।
देशे तत्र पृथक् पृथग्गणक ता गोलेऽसि दक्षोऽक्षज-
क्षेत्रक्षोदविधौ विचक्षण! समाचक्ष्वाविलक्षोऽसि चेत् ॥१०२॥

वा०भा०—स्पष्टार्थम्।

इदानीमस्योत्तरमाह—

क्रान्तिज्यां विषुवत्प्रभारविहतेस्तुल्यां प्रकल्प्यापराः
कृत्वाग्रासमशंकुतद्धृतिमहीजीवा अभीष्टास्ततः।
द्व्याद्यास्तद्युतिभाजिताः पृथगथ प्रोद्दिष्टयुत्या हता
उद्दिष्टा खलु यद्युतिः पृथगिमा व्यक्ता भवन्ति क्रमात् ॥१०३॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम्।

अत्रोपपत्तिः ;—अत्र क्रान्तिज्येष्टा कल्प्या, साऽत्र द्वादशगुणविषुवच्छाया-तुल्या कल्पिता यथेतरा निरग्रा लभ्यन्ते। क्रान्तिज्या ६०। समशङ्कुः १५६। तद्धृतिः १६९। कुज्या २५। अग्रा ६५। एवमस्याः क्रान्तिज्याया ६० एताः साधिताः। अतस्त्रैराशिकम्। अत्र यासां युतिरुदाहृता तासां युतिः कार्य्या। तथा कृता ४७५। यद्यनया युत्यैताः क्रान्तिज्याद्याः पृथक् पृथक् पञ्चज्या लभ्यन्ते तदानया खाम्बरपञ्चखेचर ९५०० मितया किम्? इति। एवं लब्धा क्रान्तिज्या १२००। समशङ्कुः ३१२०। तद्धृतिः ३३८०। महीजीवा ५००। अग्रका १३००।

मरीचिः—अथ शार्दूलविक्रीडितवृत्तेन प्रश्नांतरं सोद्देशमाह—क्रांतिज्या-समशंकुतद्धृति महीति⋯समाचक्ष्वाविलक्षोऽसिचेदिति। पंचांगुलाक्षप्रभादेशे-यस्मिन्काले, क्रांतिज्यासमशंकुतद्धृतिकुज्याग्रानां युतिः पंचनवतिशतमिता दृष्टा ज्ञाता तत्र तस्मिन्काले ताः क्रांतिज्यासमशंकुतद्धृतिकुज्याग्राः पंच पृथक् पृथक् अमिश्रिताः। त्वं समाचक्ष्व। सूक्ष्मत्वेन कथय। तथा च तद्योगपलभा ज्ञानाद्यो-जकानानयेति प्रश्नार्थः। ननु ज्ञानाभावादुत्तरार्थमप्रयोजक इत्यत आह—विचक्षणेति पंडित! तथा च पंडितस्याज्ञानाभावो प्रसिद्ध इतिप्रयोजकस्त्वमिति भावः।

ननु संख्याज्ञानाभावादप्रयोजकोऽत आह—गणकेति गणितज्ञ तथा च संख्याज्ञानवांस्त्वं प्रयोजक इति भावः।

नन्वेवं योजकमिति भक्तयुतेर्योजकमानत्वसंभवादस्योत्तरं सुलभमत-आह—गोले इति। क्रांतिज्यादिपदार्थस्वरूपप्रतिपादकक्षेत्रविशेषरूपे त्वं दक्षः।

तदाश्रित पदार्थासत्सद्विवेचन समर्थ असि, तथा चैतादृशमुत्तरं त्वदुपहासकरम्। गोले विषुववत्लक्षणातिरिक्तकाले उक्तपदार्थानां तुल्यत्वाभावादिति भावः। नन्वेवं तथापीच्छया योजकास्तद्युतिखंडरूपाः कल्प्या इति सुगमतरमुत्तरमत आह—अत्रजेत्यादि। अत्रोत्पन्नक्षेत्राणां प्रागुक्तानां क्षोदः, तत्संबंधिभुजकोटिकर्णपदार्थनिर्णयविचारस्तस्य विधौ। प्रकारो प्रागुक्तात्क्षेत्रपदार्थानयनप्रकारे इत्यर्थः। चेत् यदि अविलक्ष्यः विलक्ष्यो सावधो सावधानो नेतिसावधानः। तत्स्मरणशीलस्त्वमसि तर्हि वदोत्तरमित्यर्थः। तथा च कल्पितयोजकानां परस्परमुक्तमित्यन्वयासंभवादानयनेन त्वमुत्तरं ब्रूहीति भावः॥१०२॥

मरीचिः—अथ शार्दूल विक्रीडितवृत्तेनोत्तरमाह–क्रांतिज्या विषुवत्प्रभा रविहृतेस्तुल्यामित्यादि भवंति क्रमादिति॥१०३॥ विषुवत्प्रभारविहृतेः पलभाद्वादशघातस्य समां-अभिन्नां, क्रांतिज्यां प्रकल्प्य वास्तवत्वाभावात्, ततः क्रांतिज्यायाअपराः क्रांतिज्या भिन्नयोजकव्यक्त यदाद्याःनिरेकयोजकसंख्यासंख्यकाः सर्वाः प्रकृतौ चत्वारि अग्रासमशंकुतद्धृतिकुज्याः। पूर्वोक्तानयनप्रकारेण कृत्वा, क्रांतिज्याभिन्नयोजकपदार्थाः सर्वानानीयेत्यर्थः। अथानंतरं अभीष्टाः क्रातिज्यादि पदार्थाः पूर्वं सिद्धाः सर्वे।

पृथक्, प्रत्येकं, प्रोदिष्टयुक्ताः। प्रश्नकर्त्ताभिमतयोगेन गुणिताः तद्युति भाजिताः। साधिताभीष्टक्रांतिज्यादि पदार्थानां योगेन भक्ताः। यद्युतिः। येषां पदार्थानां युतिरुदिष्टा उक्ता। इमाः, व्यक्तयः, क्रांतिज्याभिन्नयोजकव्यक्तयः पदाद्याः निरेकयोजकसंख्यासंख्यकाः सर्वाः प्रकृतेश्चत्वारः।

अग्रा समशंकुतद्धृतिकुज्याः। पूर्वोक्तानयनप्रकारेण कृत्वा क्रांतिज्या भिन्नयोजकपदार्थाः सर्वानानीयेत्यर्थः।

अथानंतरं अभीष्टाः क्रांतिज्यादि पदार्थाः पूर्वसिद्धाः सर्वे। पृथक् प्रत्येकं प्रोदिष्टयुता प्रश्नकर्त्ताभिमतयोगेन गुणिताः तद्युति भाजिताः।

साधिताभीष्ट क्रांतिज्यादि पदार्थानां योगेन भक्ताः यद्युतिः। येषां पदार्थानां युति रुद्दिष्टा उक्ता। इमाः व्यक्तयः।

क्रांतिज्यादयः। पृथगमिश्रिताः। व्यक्ताः मानज्ञाताः क्रमात् अभीष्टपदार्थं स्वजातीयस्थानक्रमेण-खल्वसंशयं भवंतीत्यर्थः। यथोदाहरणे पलभा ५ द्वादशघातः १२×५=६० अस्याः पूर्वप्रकारेणाग्रा–६५ समशंकुः १५६ तद्धृतिः १६० कुज्या २५ एताः क्रान्तिज्यापि उद्दिष्टयुगुणिताः क्रान्तिज्या ५७०००० अग्रा ६१७५ समशंकुः १४४२०००० तद्धृतिः १६०५५०० कुज्या २३७५०० पूर्वसिद्धक्रांतिज्याहीना ६०।६५।५१६।१६९।२५ योगेन ४७५ भक्ता लब्धाः क्रांतिज्यादयः क्रांतिज्या १२०० अग्रा १३०० समशंकुः ३१२० तद्धृतिः ३३८० कुज्या ४००।

अत्रोपपत्तिः–उद्देशकालापवदिष्टराशिरित्युक्तरीत्या योजकान्यतमादिष्ट मानज्ञातादक्षक्षेत्रानुपातनिबद्धप्रकारेभ्य इतर योजकाः साध्याः। एवमभीष्टयोजक-

पदार्थानां सिद्धानां योगादनेन योगेनैते योजकपदार्थाः प्रमाणसिद्धास्तदोदिष्ट योगेन के, इत्यनुपातेन प्रष्टुरभीष्टाः योजकपदार्था भवंति। तत्र प्रकृतौ आचार्यैः क्रांतिज्यैवेष्टा कल्पिता। तत्रानुगतेष्टादितरपदार्थानां सावयवत्वसंभवेनोक्त-प्रकारेण गणितक्रियागौरवशंकयाचार्थैं निरवयवपदार्थानयनोपजीव्येष्टपलभाद्वाद-शघातरूपं कल्पितम्।

न च तथापि पलभापलकर्णयोः सावयवत्वसंभवाय दोषतादवस्थमेवेति वाच्यम्। स्वरूपसिद्धपदार्थानां छेदत्वरूपनिरवयवत्वविवक्षणात्। तत्तु प्रकृतौ चाबाधितम्। यथा क्रांतिज्यारूपं पलभाद्वादशघातसमद्वादशकोटौ पलकर्ण-स्तदा क्रांतिज्याकोटौ क इत्यनुपाते द्वादशतुल्यगुणहरयोर्नाशात्पलकर्णपलभाघा-तोऽऽग्रा। एवं पलभायाः फलत्वेन कुज्यापलभावर्गः पलभायाः प्रमाणत्वे पलकर्ण-द्वादशघातः समशंकुः। पलभाभुजे पलकर्णस्तदाग्रा भुजे क इति तद्धृतिपलकर्ण-वर्गदर्शनम्। अथैवमिष्टगुणितद्वादशपलभाघाततुल्यक्रान्तिज्याया अपि तत्सिद्धे द्वादश ग्रहणे किंनियामकमिति चेत् लाघवमेवेति ग्रहण···णक

क्रा	स	त	कु	अ
प १२	पक १२	पकव १	पव	पकप

वस्तुतस्तु गणिते ग्रहभिन्नक्रांतिज्येत्यादि निरवयवतत्पदार्थानां स्थानत्रय-ग्रहस्य साम्प्रदायिकत्वाच्छतत्रये गुणिते पलभातुल्य क्रान्तिज्या कल्पने निरवयत्व-सिद्धेर्विषुवत्प्रभेत्यत्र प्रकृष्टभाद्योतनेन पंचविंशतिगुणितपलभायाः पलभात्वांगीकारात् पलभा खखाग्निनिहतेरिति पाठाद्वा न दोष इति तत्वम्। यद्यपीष्टा क्रांतिज्या-कदाचित्परमक्रान्तिज्याधिकेतीतितदानयनमसंगताना पव १४ कव १ तथापि क्रांति-ज्योपजीव्यपदार्थानां तदनुरोधित्वाद्गुणहरयोरुपपन्नत्वेनोक्तानयने दोषाभावात्।

अत एव द्युज्यकापमगुणार्कदोर्ज्यका संयुतिमिति प्रश्ने उक्तरीत्या तदन्य तमस्येष्टकल्पनेन तदितरद्वयं प्रसाध्य तद्योगादुक्तानुपातेन क्रांतिज्यादय इत्युत्तरम-संगतम्। द्युज्यायास्तदन्यतरानुरोधेनाशक्यत्वात् ॥१०३॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—जहाँ क्रान्तिज्या+समशंकु+तद्धृति+कुज्या=९५०० है, ऐसे ५ पाँच अंगुल पलभा देश में सभी का पृथक् पृथक् मान कहो जब कि अक्षज क्षेत्र की विचार विधि के लिये हे विचक्षण ! तुम गोल में विशेष दक्ष हो।

इसके उत्तर के लिये—

और पदार्थों के गुणन भजनादि में, पलभा गुणित १२ के तुल्य क्रान्तिज्या की ऐसी कल्पना करनी चाहिए जिससे और पदार्थों में निःशेष लब्धि होती हो। इस कल्पित क्रान्तिज्या से, अग्रा+समशंकु+तद्धृति+कुज्या क्रान्तिज्या आदि का साधन कर इसका नाम युति कहना चाहिए, तब उदिष्ट युति गुणित उक्त पृथक् पृथक् पाँचज्या में कल्पित क्रान्ति से

उत्पन्न योगज पञ्चज्या युति से भाग देने से अभीष्ट क्रान्तिज्या १२०० समशंकु ३१२० तद्धृति ३३८० कुज्या ५०० अग्रका १३०० उपलब्ध हो जाती हैं यही उत्तर होता है—जैसे

कल्पना किया कि १२ × पलभा = १२ × ५ = ६० = क्रान्तिज्या

$$\therefore \text{कुज्या} = \frac{\text{पलभा} \times \text{ज्याक्रां}}{१२} = \frac{५ \times १२ \times ५}{१२} = २५$$

$$\text{अग्रा} = \frac{\text{पलकर्ण} \times \text{कुज्या}}{\text{पलभा}} = \frac{१३ \times २५}{५} = ६५$$

$$\text{तद्धृति} = \frac{\text{पलक} \times \text{अग्रा}}{\text{पलभा}} = \frac{१३ \times ६५}{५} = १६९$$

$$\text{समशंकु} = \frac{\text{पलकर्ण} \times \text{ज्या क्रां}}{\text{पलभा}} = \frac{१३ \times १२ \times ५}{५} = १५६$$

अतः ज्याक्रां + कुज्या + समशं + तद्धृति = ६० + २५ + ६५ + १६९ + १५६ = ४७५ । किन्तु प्रश्न के अनुसार युति = ९५०० = उद्दिष्ट युति = उ. यु

$$\text{अतः अनुपात से ज्याक्रां} = \frac{\text{ज्या क्रां} + \text{उ. यु}}{\text{यु}} = \frac{६० \times ९५००}{४७५} = १२०० ।$$

$$\text{एवम् समशंकु} = \frac{१५६ \times ९५००}{४७५} = ३१२०$$ एवम उपपन्न है ।

$$\text{तद्धृति} = \frac{\text{तद्धृति} \times \text{उ. यु}}{\text{यु}} = \frac{१६९ \times ९५००}{४७५} = ३३८० ।$$

$$\text{कुज्या} = \frac{\text{कुण्या} \times \text{उ. यु}}{\text{यु}} = \frac{२५ \times ९५००}{४७५} = ५०० ।$$

$$\text{अग्रा} = \frac{\text{अग्रा} \times \text{उ. यु}}{\text{यु}} = \frac{६५ \times ९५००}{४७५} = १३००$$ प्रत्यक्ष उपपन्न है ।

इदानीमस्यानयनस्य व्याप्तिदर्शनार्थमन्यं प्रश्नमाह—

अग्रापमज्याक्षितिशिञ्जिनीनां योगं सहस्रद्वितयं २००० विदित्वा ।

पृथक् पृथक् ता गणक ! प्रचक्ष्व रूढ़ा सगोले गणिते मतिश्चेत् ॥१०४॥

वा० भा०:—अत्रापि "क्रान्तिज्यां विषुवत्प्रभारविहृतेस्तुल्यां प्रकल्प्य" इत्यादिना कल्पिता क्रान्तिज्या। ततोऽग्राकुज्ये च साधिते। क्रातिज्या ६०। अग्रा ६५। कुज्या २५। आसां युत्यानया १५० यद्येताः पृथक् पृथक् लभ्यन्ते, तदा सहस्रद्वितयेन २००० किम् ? इति। लब्धा क्रान्तिज्या $\frac{८००}{}$। अग्रा $\frac{८६६}{४०}$। कुज्या $\frac{३३३}{२०}$।

मरीचिः--अथ परस्परानुरुद्ध पदार्थानां योगेन्यत्रापीदमेवानयनमिति प्रकारस्य व्यभिचारितत्त्व सूचनार्थं प्रश्नांतरमुपजातिकयाऽह—"अग्रापमज्या क्षिति-

शिंजिनीनां योगं सहस्रद्वितयं विदित्वा। पृथक् पृथक् ता गणक प्रचक्ष्व रूढ़ा सगोले गणिते मतिश्चेदिति"। पूर्वप्रश्नसाजात्येन पंचांगुलात्तभादेशे इत्यस्यानुवर्त्तनात्त-देशेऽग्राक्रांतिज्याकुज्यानां योगं सहस्रद्वितयमितं ज्ञात्वा। ताः अग्राक्रांतिज्या-कुज्या आनयेन पृथक् उद्दिष्ट योगभिन्नाः। पृथगमिश्रिताः प्रचक्ष्व, सूक्ष्मत्वेन कथय हे गणक! सगोले गणिते सिद्धांतग्रंथे तव बुद्धिः रूढ़ा तद्विषया अस्ति। एतदुत्तरं पूर्वसूत्रैणैव यथा क्रान्तिज्या ६० अग्रा ६५ कुज्या २५ आसां योगेन १५० उद्दिष्ट-योग २००० गुणितक्रान्तिज्यादयो १२००००।१३००००।५०००० भक्ता जाताः, क्रान्तिज्या ८०० अग्रा ८६६।४० कुज्या ३३३।२० एवमन्यत्रापि बोध्यम् ॥१०४॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—अग्रा + क्रान्तिज्या + कुज्या = २००० के तुल्य हैं। इस योग को जान कर हे गणक इन्हें पृथक् पृथक् बताओ,—यदि ग्रह गोल गणित में तुम्हारी मति रूढ़ हो।

यहाँ भी पलभा × १२ को क्रान्तिज्या कल्पना कर पूर्व श्लोकोक्त क्रिया करने से समुचित उत्तर हो जाता है।

जैसे क्रांज्या = १२ × ५ = ६०

$$\therefore \text{कुज्या} = \frac{\text{पभा} \times \text{क्राज्या}}{१२} = \frac{५ \times १२ \times ५}{१२} = २५ \text{।}$$

$$\text{अग्रा} = \frac{\text{पलकर्ण} \times \text{कुज्या}}{\text{पलभा}} = \frac{१३ \times २५}{५} = ६५ \text{।}$$

क्रांज्या + कुज्या + अग्रा = ६० + २५ + ६५ = १५० = युति।

प्रश्नोक्त युति = उद्दिष्ट युति = २००० = उ॰ यु।

$$\text{अतः ज्याक्रां} = \frac{\text{ज्या क्रां} \times \text{उ यु}}{\text{यु}} = \frac{६० \times २०००}{१५०} = ८०० \text{।}$$

$$\text{कुज्या} = \frac{\text{ज्या कु} \times \text{उ यु}}{\text{यु}} = \frac{२५ \times २०००}{१५०} = \frac{१०००}{३} = ३३३।२० \text{।}$$

$$\text{अग्रा} = \frac{\text{अग्रा} \times \text{उ. यु.}}{\text{यु}} = \frac{६५ \times २०००}{१५०} = ८६६।४० \text{।}$$

सटीक सब उपपन्न है।

इदानीं नकलयन्त्रेण ग्रहविलोकनप्रकारमाह—

विधाय बिन्दुं समभूमिभागे ज्ञात्वा दिशः कोटिरतः प्रदेया।
प्रत्यङ्मुखी पूर्वकपालसंस्थे पूर्वामुखी पश्चिमगे ग्रहे सा ॥१०५॥

कोट्यग्रतो दोरपि याम्यसौम्यो बिन्दोश्च भा भाग्रभुजाग्रयोगात्।
सूत्रश्च बिन्दुस्थनराग्रसक्तं प्रसार्य्य कर्णाकृतिसूत्रगत्या ॥१०६॥

दृगुच्चमूलं नलकं निवेश्य वंशद्वयाधारमथास्य रन्ध्रे।
विलोकयेत् खे खचरं किलैवं जले विलोमं तदपि प्रवक्ष्ये ॥१०७॥

वा० भा०:—यस्मिन् दिने ग्रहं ग्रहणं ग्रहयुतिं शृङ्गोन्नतिं वा नकलयन्त्रेण दर्शयितुमिच्छति, तस्मिन् दिने तस्मिन् काले तस्य ग्रहस्य ग्रहच्छायोक्तप्रकारेण छायां कर्णं भुजं कोटिञ्चानीय नकलयन्त्रं निवेशयेत्। तत्रायं सूत्रावतारः— "विधाय बिन्दुं समभूमिभागे" इति। जलसमीकृतायां भूमौ बिन्दुं कृत्वा ध्रुवादिना दिक्साधनञ्च कृत्वा बिन्दोरुपरि प्राच्यपरा रेखा कार्य्या। ततो यदि तदा ग्रहः पूर्वकपाले वर्त्तते, तर्हि बिन्दोः सकाशात् कोटिः प्रत्यङ्मुखी देया; यदि पश्चिमकपाले ग्रहस्तदा पूर्वाभिमुखी। ततः कोट्यग्राद्भुजो याम्यः सौम्यो वा यथादिग्दातव्यः। तथा बिन्दोः सकाशाच्छायाप्रमाणा शलाका भुजाग्राभिमुखी प्रसार्य्या। भुजशलाकाऽग्रयोर्यत्र योगस्तत्र सूत्रस्यैकमग्रं धृत्वा द्वितीयमग्रं बिन्दूपरिनिवेशितस्य शङ्कोरग्रसक्तं तिर्य्यक् कर्णगत्या प्रसार्य्य कस्मिन्नप्युच्चवंशे बध्नीयात्। ततस्तया सूत्रगत्या नलकं निवेशयेत्। एतदुक्तं भवति। नलकसुषिरगर्भे यथा तत् सूत्रं भवति, तथा नलकः केनचिदाधारद्वयेन स्थिरः कार्य्यः; यथा नलकस्य मूलं दृगुच्चं भवति। एवं नलकमूलस्थितया दृष्ट्या नलकसुषिरेणादिष्टकाले ग्रहादिकं दर्शयेद्गगने।

मरीचिः—अथैतदधिकारस्य प्रयोजनरूपं नलिकायंत्रनिबंधनं सप्रयोजनमुपजातिकेंद्रवज्रोपजातिकाभिराह "विधाय बिन्दुं समभूमिभागे ज्ञात्वादिशः कोटिरतः प्रदेया। प्रत्यङ्मुखी पूर्वकपालसंस्थे पूर्वामुखी पश्चिमगे ग्रहे सा ॥१०५॥ कोट्यग्रतो दोरपि याम्यसौम्यो बिन्दोश्चभा भाग्रभुजाग्रयोगात्। सूत्रं च विंदुस्थनराग्रसक्तं प्रसार्य कर्णाकृतिसूत्रगत्या। दृगुच्चमूलं नलकं निवेश्य वंशद्वयाधारमथास्य रंध्रे। विलोकयेत् रवे खचरं किलैवं जले विलोमं तदपि प्रवक्ष्ये" इति निरावरणस्थले जलसमीकृतभूमावभीष्टप्रदेशे। बिन्दुं चिह्नं कृत्वा पूर्वप्रकारेण तत्स्थलस्य पूर्वा दिशो ज्ञात्वा च।

अत सिद्धात् कोटिः दोः प्रभावर्गवियोगमूलं कोटिरित्यानीता। प्रदेया। सूक्ष्मत्वेन देयेत्यर्थः। कथं देयेत्यत आह—प्रत्यङ्मुखीति। पूर्वकपालसंस्थे दिनमानपूर्वार्द्धान्तर्गतेष्टकालिकग्रहसंस्थितौ। पश्चिमदिगभिमुखी कोटिमितशलाकापूर्वापरसूत्रात्तच्चिन्हाद्देया।

पश्चिमगे दिनमानापरार्धांतर्गतेष्टकालीन ग्रहस्य स्थितौ सा, कोटिः पूर्वानीता पूर्वदिगभिमुखी बिन्दोर्देयेत्यर्थः। कोट्यग्रतः—पूर्वापर सूत्रे बिन्दोः सकाशाद्यत्कोट्यग्रं तस्मादित्यर्थः। दोः भुजः प्रागुक्तः। दक्षिणोत्तरः देयः। भुजमित शलाका स्वदिग्वशाद्दक्षिणाभिमुखी।

उत्तराभिमुखी वा देया। अपि शब्दः समुच्चयार्थकः। बिन्दोः सकाशाद्भा। गणितागतछाया न तु दृग्योग्या।

भुजाग्रावधि शलाकादेयेत्यर्थः। चः समुच्चये, भाग्रभुजाग्र योगात्। एवं दत्तभाभुजाग्र संपातोपलक्षितभूमिप्रदेशादित्यर्थः। सूत्रं बिन्दुस्थलस्थापितद्वादशांगुलशंकग्रस्पष्टम्।

कर्णाकृतिसूत्रगत्या कर्णस्य या कृतिः स्वरूपं तिरश्चीन मार्गः। तस्य सूत्रमनुकारस्तद्गत्या। तन्मार्गेण शंकोरूर्ध्वमप्याकाशे प्रसार्य नीत्वा छायाभुजाग्रसंपातावच्छिन्नभूप्रदेशे कीलके सूत्रं बद्ध्वा तदेव दिङ्मध्यस्थं द्वादशांगुलशंकग्रस्पृष्टकृत्वाग्रे तत्सूत्रगत्या कियतांतरेणारोपित वंशे बद्ध्वेत्यर्थः।

अथानंतरं। एतत्सूत्रे नलकं छिद्रं बद्धं शंकुदृगुच्चमूलं दृष्टुर्दृशोरुच्चस्थाने मूलम्। यस्यैतादृशं। वंशद्वयाधारम्।

वंशद्वयमाधारं यस्यासौ तं निवेश्य अस्य नलस्य रंध्रे छिद्रे खे आकाशे खचरं ग्रहं किल निश्चयेन। विलोकयेत् पश्येत्। अयमर्थः-सूत्रे यत्र दृष्ट्युच्चं भवति तत्र नलमूलं यथा भवति तथा नलकं सूत्रे निवेशयेत्। तत्र सूत्रस्य तिर्यक्कृत्वा नलको दृगूच्चमूलोनभवति किन्तु शंकग्रमूल एवं भवत्यतो दृगूच्चावछिन्नसूत्रे नलमूलमेकवंशे रोपिते बद्धा सूत्रं नलगर्भे भवति तथा कार्यम्। अत्र नलमूलाग्रासन्न स्थानयोर्वंशौ बंधनीयावित्यर्थः। ततस्तत्सूत्रं निष्काशनीयम्। सूत्रांतबद्धवंशं चोत्पाटयेत्। शुद्धानलिका वंशद्वयाधारा भवति। एवं नलच्छिद्र मार्गेणाकाशस्थं ग्रहम्। ग्रहणेष्टन्नत्यादिकं च। तन्नलाग्रछिद्रात्कर्णसूत्रमार्गस्थं पश्येदित्यर्थः। प्रसंगादाह–एवमिति एवं नलछिद्रमार्गेण। जले प्रतिबिंबितं पश्येत्।

ननूक्त दिशा नलमार्गेणाकाश एव ग्रहदर्शनं न जले। ऊर्ध्वस्थजलस्थप्रतिबिंबस्यादर्शनादतआह–विलोममिति तथाचोर्ध्वस्थ जलस्थ प्रतिबिंबादर्शनेऽपिभूस्थजलप्रतिबिंबस्योक्तविपरीतनलिकाबंधसिद्धनलिकामार्गेण दर्शनसंभवादिति भावः। ननूक्तनलिकाबंधे सर्वत्र वैपरीत्यं यत्र कुत्रापि वेति संशयात्तद्विपरीत ज्ञानाभावात्कथं दर्शनमत आह–तदपीति विपरीत प्रकारमपि समुच्चये। प्रवक्ष्ये। सूक्ष्मत्वेन सममनंतरं वक्ष्यामीत्यर्थः। तथा च वक्ष्यमाणप्रकारेण विपरीतज्ञानं संभवतीति भावः। तथा च स्वाभिमतकाले नलिकागर्भे ग्रहबिंबं भवति तदा स आनीतग्रहः शुद्धोऽन्यथात्वशुद्ध इति दृगणितैक्यसंपादनावश्यकत्वात्तदुपजीव्य पदार्थान्तरकथनं च युक्तमित्येततदधिकारोऽत्यंतमुपयुक्तः। अन्यथा ग्रहणादिकस्योक्तकाले संदिग्धत्वद्ग्रहणाद्यादेशे कोऽपि न प्रवर्त्तेतात एव ग्रहचारांतर्गतत्वेन ग्रहणाधिकारेभ्यः प्राग्निरूपणमस्याधिकारस्येति भावः।

अत्रोपपत्तिः—ग्रहछायाप्रांतः किरणावरोधाद्ग्रहबिंबकर्णरूपो भवतीति छाया तद्ग्रहबिंबपर्यन्त यत्सूत्रं तादृक् सूत्रं, तथा च छायाग्रहापरदिक्स्थत्वनियमात् छायाह्रासे ग्रहस्योन्नति नियमाच्च। द्वादशांगुलशंकुछायाप्रांतभूमौ स्वदृगूच्चतुल्यं गर्त्तं कृत्वा तत्रोपविश्य छाया कर्णाधिकनलिकायाः छायांते मूलं कृत्वा शंकग्रं स्पृष्टाग्रे कृत्वा च ग्रहबिंबं पश्येत्। तन्नलिकादाने ग्रहबिंबवदर्शनहेतुभूत दृक्सूत्रस्य सिद्धत्वात्। अन्यथा—

कदाचित्तिर्यक्धरणेन तत्कर्णमार्गं न स्यादत एव निःसंदिग्धकर्णमार्गीय-नलिकासिध्यर्थं शंकग्रनलिकासंपातनिष्पादनमावश्यकम्। तत्राभीष्टकाले प्राच्य-परसूत्राद्भुजांतरेण छायाग्रं याम्योत्तरयोरिति प्रागुक्तमतः, प्रथमतो निरावरणस्थले-ऽभीष्टप्रदेशे दिक्साधनं कार्यम्। सावरणस्थले ग्रह दर्शनाभावात्।

अतोऽभीष्ट स्थलज्ञापकोबिन्दुः कृतः समभूप्रदेशे। उच्चानुच्च-भूमावुक्त-प्रकारेण छायाग्रस्थलासिद्धेः।

प्राच्यपरसूत्रछायाग्रांतरं याम्यमुत्तरं वा भुजः, अभीष्टस्थानान्तरं-कोटिरिति छायाग्रमार्गे। तत्र छाया ज्ञानाद् दर्शनाच्च ग्रहापरदिक्स्थछाया नियमात्पूर्वकपालस्थे ग्रहे पश्चिमाभिमुखी कोटिः। परकपालस्थे पूर्वाभि-मुखीकोटिः। उदयक्षितिजोर्ध्वयाम्योत्तरवृत्तांतःस्थ ध्रुवात्रवृत्तप्रदेशमार्गः पूर्व कपालम्। अस्तक्षितिजतद्याम्योत्तरवृत्तांतरस्थिततादृशमार्गो परकपालमिति ध्येयम्। तथा च पूर्वापरसूत्रे ग्रहविपरीतदिशि बिन्दुस्थानात्कोटिर्देया कोट्यग्राद् भुजो यथा दिग्देयः। भुजांते छायांत एव। अत एव बिन्दुस्थानाद्भुजाग्रपर्यंतं भा गणितागतादेया। तेन छायाग्रस्थलज्ञानं तत्संपाते भवति।

अन्यथा केवल भुजदानेन कदाचिद्वक्रत्वेन तत्तत्स्थलासिध्यापत्तेः।

अथ छायाग्रस्थाने···भूकरणप्रयासमालोक्याचार्यै रन्यथा यतितम्। छायाग्रोपलक्षितस्थलात्सूत्रं कर्णमार्गेणोच्चं प्रसारयेत्तत्सूत्रं शंकग्रे न लगति तदा दृश्य कर्णमार्गे सूत्रं न जातमिति तदवश्यं शंकग्रे स्पृष्टं कार्यम्। अग्रेऽपि तदनु-रोधेनैव कर्णमार्गेण सूत्रं प्रसार्य-निरवधित्वापत्या कस्मिनप्युच्चवंशे बध्नीयात्। ग्रहबिंबावधौ त्वशक्यत्वात्। तत्सूत्रं ग्रहबिंबकेंद्रदृक्सूत्रं भवति। गणितागत-छायाग्रस्थानस्योक्तप्रकारेण ज्ञानात्, तत्सूत्रेण ग्रहो दृश्यत एवेति तत्सूत्रे यत्र दृगूच्चं तत्स्थानाद्ग्रह बिंबमवलोकयेत्। तत्र सूत्रेणेष्टग्रहदर्शनेऽपि निरावरणादन्यदपि-तन्निकटस्थनक्षत्रादिकं दृश्यत इति तत्सूत्रे तद्दृश्यते,तद्दृश्यते वेति संशयभियाऽभीष्ट ग्रहस्यैव दर्शनार्थं तत्सूत्रे दृगूच्चस्थानान्नलिका चावरणहेतुभूता निवेशिता। तत्र सूत्रस्य कर्णाकारत्वेन नलिका शंकग्रे एव भवति नाभीष्टदृगूच्चस्थाने इति नलिका-मूलं तत्सूत्रेऽभीष्टदृगूच्चे कृत्वा तदधोगत्यवरोधार्थे रोपितवंशे नलिकाछिद्रे यथा सुव्यक्तं तथा निबन्धनीयम्। तत्सूत्रं तद्गर्भे च कृत्वा ततो दर्शने सूत्रस्यैव प्रतिबंधकत्वान्नलिकाग्रे सूत्रस्य तद्गर्भस्थत्वाभावाच्च सूत्रनिष्कासनेन नलिकाग्रं दृक्सूत्राधः पतेदिति प्रथमं नलिकाग्रमपि द्वितीये रोपितवंशे छिद्रं सुव्यक्तं तद्गर्भे तत्सूत्रं च यथा स्यात्तथा निबध्यम्। ततः सूत्रनिष्काशने वंशद्वयाधारा नलिका स्यात्। तत्र विलोकने सूत्रप्रांतस्थप्रदेश एव दृश्यः स्यादिति नलिकासमसूत्र-कर्णमार्गे वंशः प्रतिबन्धको न स्यात्तथा तृतीयो वंशः छेद्यः।

ततो ग्रहबिंबदर्शनं भवत्येव। जलस्याधःस्थत्वात्प्रतिबिंब दर्शनं विपरीत-नलिकाबन्धेन भवत्येवेति युक्तम्।

अत उक्तं विधायेत्यादि श्लोकत्रयमुपपन्नम् ॥१०७॥

दीपिका—अत्र नलकयन्त्रे भानां ग्रहाणां च दर्शनाय युक्तिः प्रतिपादिताचार्येण। सा च युक्तिस्तु भूगर्भाऽभिप्रायिकगणितेन त्रिप्रश्नसाधितया सामग्र्या-एव—अभिहिता अतः न सा समीचीना। अथ यदि पृष्ठीय सामग्र्या-"विधाय विन्दुं समभूविभागे," इत्यादिना नलिकाबन्धः क्रियते तदैव नलकयन्त्रेण ग्रहविलोकनप्रकारः, समीचीन इति दिक्।

शिखा—जिस देश में जिस दिन ग्रह, ग्रहण, ग्रहयुति या शृंगोन्नति आदि को आकाश में नलिका यन्त्र से देखना हो, उस दिन इष्ट समय में, त्रिप्रश्न में कथित रीति से उस ग्रह की छाया, छायाकर्ण, भुज और कोटि का सम्यक् ज्ञान करना चाहिए।

नलक यन्त्र—जैसे ग्रहबिम्बकेन्द्रगत दृक्सूत्र ही धीयन्त्र का मूलबीज है वैसे ही पृथ्वी पृष्ठ से ग्रह बिम्ब तक देखनेवाले व्यक्ति की भूपृष्ठीय उच्छ्रिति ही शंकुयन्त्र का मूलबीज है।

समतल भूमि में इष्टछाया कर्ण से एक वृत्त बनाकर वृत्त केन्द्र बिन्दु से दिक्साधन करते हुए केन्द्र बिन्दु से पूर्वापर रेखा करनी चाहिए। यदि ग्रहबिम्ब प्राक्कपाल में हो तो, साधित कोटि केन्द्र बिन्दु से पश्चिमाभिमुख देनी चाहिए। अन्यथा, पूर्वाभिमुख। कोटि के अग्र बिन्दु से यथादिक् भुज देना चाहिए। तथा केन्द्र बिन्दु से इष्टकालीन छायातुल्य की शलाका को भुज के अग्रभाग की ओर फैलानी चाहिए। जिस स्थान पर भुज और इस छाया शलाका का योग होगा वहाँ पर से सूत्र का एक अग्र भाग स्थापित कर, सूत्र का द्वितीय अग्र भाग केन्द्र बिन्दु पर स्थापित शंकु के अग्र भाग में कर्ण गति से ले जाकर किसी ऊँचे बाँस आदि सरल लकड़ी में बाँधते हुए इसी सूत्र की स्थिति के अनुकूल एक नलक (लकड़ी) स्थापित करना चाहिए। जिस सरल लकड़ी के भीतर छिद्र हो और जिसके एक अग्र भाग में स्थापित दृष्टि से द्वितीय अग्र भाग के बाहर के छिद्र धरातलीय सभी पदार्थ देखे जा सकते हों। इसी का नाम ज्योतिश्शास्त्र में नलिकाबंध कहा है।

नलक के गर्भीय छिद्र में जैसे उक्त सूत्र हो वैसे नलक को स्थिर करना चाहिए। नलक का मूल विन्दु अपनी दृष्टि तक जैसे आवे उतनी ऊँचाई अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार नलक मूल दृष्टि से आकाश में वह ग्रह अवश्य दृग्गोचर होगा इसमें सन्देह नहीं है। इसी ग्रह दर्शन से प्राक्काल से अद्यावधि नृपति प्रभृतियों को ज्योतिश्शास्त्र में पूर्ण आस्था होती आई है। "चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ" इसीलिये लोक में प्रत्यक्ष प्रतीति से यह दृष्टान्त भी सदा प्रामाणिक रहा है।

विशेष—१४४२ शकाब्द में दैवज्ञ केशव-पुत्र गणेशदैवज्ञ ने सिद्धान्त शिरोमणि की शिरोमणि प्रकाश नाम की टीका लिखी है और इसी गणेशदैवज्ञ ने प्रसिद्ध ग्रह लाघव करण ग्रन्थ की रचना की है।

ग्रहलाघव करण ग्रन्थ पर म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी ने बड़े महत्त्व की उपयोगी उपपत्तियों के साथ आरम्भ में सभी सिद्धान्तों के भगणों के आधार से विवेचनात्मक ग्रह गणित किया है।

ग्रहलाघव त्रिप्रश्नाधिकार की समाप्ति का २६वाँ श्लोक से नलिकावेध द्वारा आकाशीय ग्रह, नक्षत्र आदि का दर्शन कहा है। यह श्लोक ठीक भास्कराचार्य के इस १०४-१०७ के अनुरूप है। इस श्लोक पर म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी ने दैवज्ञमनस्तोषप्रद व्याख्या की है तथा क्षेत्र दर्शन के साथ वेध प्रकार विवेचन किया है। जो निम्न भाँति है।

यहां पर सुधाकरीय विशेष है कि—(ग्रहलाघव सुधाकरटीका त्रिप्रश्नाधिकार श्लोक २६ का हिन्दी अनुवाद)।

अपनी दृष्टि स्थान से ग्रहबिम्ब तक गये हुये सूत्र का नाम दृक्सूत्र है। दृक्सूत्र में कहीं भी शंकु मूल गया हो, उसकी एक समय में सर्वत्र स्वल्पान्तर से तुल्य छाया होती है जैसे—

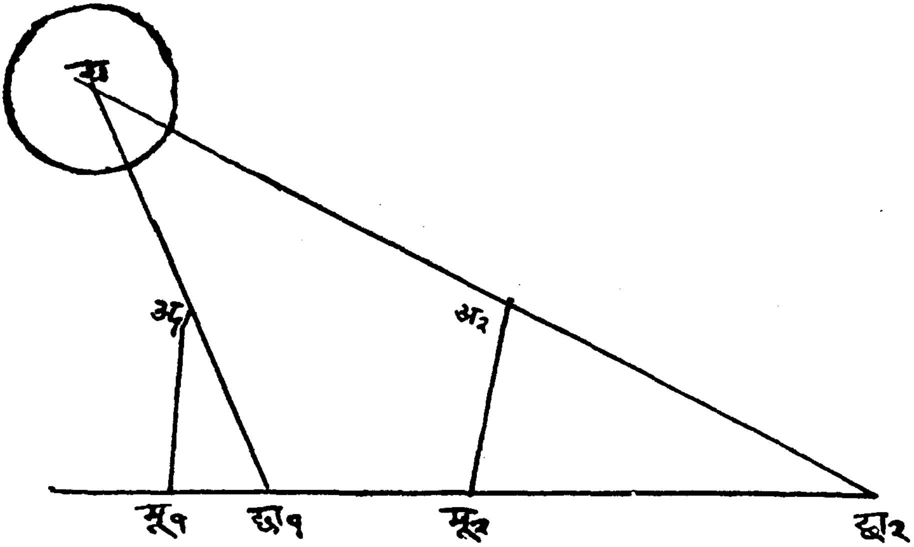

ग्र विन्दु पर ग्रह बिम्ब केन्द्र है, इस ग्रह की किरणों से छाया उत्पन्न होती है जिसकी मू१छा१, मू२छा२, एक ही दृक्सूत्र रूप रेखा है, जिसमें मू१, म२ विन्दुओं से मू१अ१ मू२ अ२ ये दोनों शंकु तुल्य हैं। ग्र ग्रह विम्ब की किरणों के प्रकाश से इन शंकुओं की छाया होती हैं जो मू१छा१, म२छा२ हैं।

ग्रह बिम्ब के दूर होने से स्वल्पान्तर से अ१छा१, अ२छा२ ये दोनों छाया कर्णरूप रेखा समानान्तर हो जाती हैं। तब ∠अ१छा१मू१ = ∠अ२छा२मू२ अर्थात् ∠मू१ = ∠म२। मू१अ१ = मू२अ२ इससे अ१मू१छा२ और अ२म२छा२ ये दोनों त्रिभुज आपस में तुल्य होने से मू१छा१ = मू२छा२ सिद्ध होती हैं।

तथा स वि स१ वह जल का धरा-तल है।

यदि ग्र विन्दु से ग्रह किरण वि बिन्दु बिन्दु पर जा गिरे पुनः वि विन्दु से परावर्तित होकर ग्र१ बिन्दु पर जाता है, तब वि ग्र१ रेखास्थित दृष्टि से वि बिन्दुगत ग्र प्रतिबिम्ब को दृष्टा देखता है। वि बिन्दु के ऊपर जल धरातल में वि ल रेखा लम्ब है, पतन परावर्त्तन रूप में ग्र वि, ग्र१वि ग्रह किरणों से समान कोण उत्पन्न होते हैं तथा लम्ब-पतन-परावर्त्तन ये तीनों रेखा एक ही धरातल में होती हैं यह सब ज्योतिर्विद्या से स्पष्ट है।

यदि वि. बिन्दु दृक्सूत्र सम्पात तथा पू वि प = पूर्वापर रेखा तब वि. विन्दुगत छाया = वि छा तथा इसी सूत्र में यदि वि छा = मू१ वि = मू२मू१ यह पूर्व युक्ति से स्पष्ट है। तब

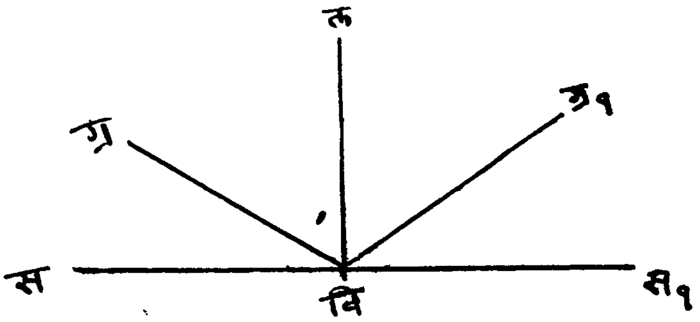

मू१ विन्दुगत उसी शंकु का छायाग्र वि विन्दुगत होगा। इससे मू१ विन्दु गत शंकु शिर के ऊपर वि—विन्दुगत रेखा ग्रह बिम्ब के केन्द्र में जावेगी। इसलिए यहाँ पर स्थापित नलक से आकाश में ग्रहदर्शन होगा।

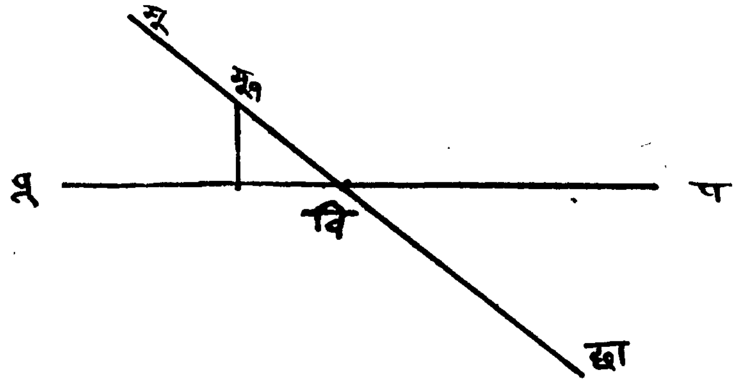

इसी प्रकार यदि मू विन्दुगत शंकु हो तब पूर्व कथित युक्ति से मू१ विन्दु पर छायाग्र होगा। इससे यहाँ पर स्थापित जल में ग्रह बिम्ब होगा। परावर्त्तन किरण कारक शंकु तुल्य वि. विन्दुगत शंकुओं के अन्तर के शिर पर पूर्व युक्ति से छाया जाती है। इसमें मू१ विन्दु से वि. विन्दु गये शंकु शिर पर गत सूत्र में परावर्त्तन किरण रूप स्थापित नलक से नीचे की दृष्टि से मू१ गत जल में ग्रहबिम्ब दर्शन होगा ही—इसमें क्या सन्देह ?

आधुनिक विकसित विज्ञान की बहुमूल्य ग्रहवेध की दूरवीक्षण यन्त्र आदि के चमत्कारों का हृदय से आदर है, किन्तु प्राचीन समय की सर्वसुलभ वांस की लकड़ी-रूप नलिका वेध का उक्त उदाहरण है जिससे समय-समय पर गणित में आने वाली त्रुटियों का सुधार कर दृश्य ग्रह साधित किये जाते थे और जो प्रणाली आजतक निर्दोष भी है।

इदानीं जले विलोकनार्थमाह—

निवेश्य शङ्कुं भुजभाग्रयोगे बिन्दोर्नराग्रानुगते च सूत्रे।
तथैव धार्य्यो नलको विलोक्यो बिन्दुस्थतोये सुषिरेण खेटः ॥१०८॥

वा० भा०:—"जले विलोमम्" इति। भुजभाग्रयोर्योगे शङ्कुं निवेश्य बिन्दोः सकाशाच्छङ्कग्रसक्तं सूत्रं कर्णगत्या प्रसार्य्य सूत्रगत्या प्राग्वन्नलकं निवेश्य किन्तु दृगुच्चाग्रं नलकाग्रे दृष्टिं कृत्वाऽधः-सुषिरेण बिन्दुस्थापितजलपात्रे ग्रहं विलोकयेदिति।

अत्रोपपत्तिः ;—अत्र ग्रहाद्विपरीतदिशि छाया भ्रमति। यदि प्राग्भागे ग्रहस्तदा पश्चिमभागे छाया, यदि पश्चिमभागे ग्रहस्तदा प्राग्भागे छाया; यदि ग्रहप्राच्यपरयोरन्तरं दक्षिणं तदा छायाग्रप्राच्यपरयोरन्तरमुत्तरम्। यद्युत्तरं तदा दक्षिणम्। अत एव प्राच्यपरा कोटिर्विपरीता दत्ता। भुजस्तु यथादिग्गतो दत्तः। यतोऽसौ छायाग्रस्य भुजः प्रागेव विपरीत आनीतः। अतश्छायाग्राच्छङ्कग्रामि यत् सूत्रं ग्रहानुगतं भवति तद्गत्या निवेशितस्य नलकस्य सुषिरे ग्रहो दृश्यत इति तत्र किं चित्रम्? सुगमात्र वासनेत्यर्थः। अथ "जले विलोमम्" इति। जलादस्यां दिशि यावति दूरे यावदुच्चं वेण्वग्रादिकं वर्त्तते, तत् तस्यां दिशि तावति दूरे तदुच्चप्रमाणं भुवः सकाशादधोमुखं कृतं सद्द्रष्ट्रा पुरुषेण जले दृश्यत इति जलदृष्टयोर्वस्तुशक्तिः। अधोमुखन्यस्तस्य वेणोरग्रे सूत्रस्यैकमग्रं बद्धा द्वितीयमग्रं पुरुषदृष्टिमानीयमानं यत्र भुवं भित्वा निर्गच्छति तद्बिन्दुस्थानम्। तत्र जलपात्रम्। पुरुषस्य दृगुच्छ्रयः शङ्कुः। पुरुषजलान्तरं छाया। दृक्सूत्रं कर्ण इति सर्वमुपपन्नम्।

मरीचिः—अथ तदपि प्रवक्ष्ये इति ज्ञातार्थमुपजातिकयाह—

"निवेश्य शंकुं भुजभाग्रयोगे विंदोर्नराग्रानुगते च सूत्रे।
तथैव धार्यो नलको विलोक्यो विन्दुस्थतोये सुषिरेण खेट" इति॥

शंकुर्पूर्वबिन्दौ स्थापितम्। भुजभाग्रसंपातोपलक्षितभूतप्रदेशे निवेश्य स्थाप्य विन्दोः सकाशात् नराग्रं, शंकग्रसममनुलक्षीकृत्स्वगतं नीतमेतादृशं यत्सूत्रमग्रेऽपि कर्णमार्गेण दृगुच्चोपरिनेयम्। रोपितवंशे बद्ध्वा च तत्सूत्रे नलकस्तथैव वंशद्वयाधारो दृगुच्चमूलो विंद्वभिमुखो धार्यः। ततो सूत्रनिष्काशनेन सुषिरेण दृगौच्चस्थमूलनलिकाछिद्राधोमार्गेण विन्दुस्थजलपूर्णपात्रे खेटोऽभीष्ट ग्रहबिंब प्रतिबिंबात्मको दृष्ट्रा पुरुषेण विलोक्यः दृष्टव्यः। तथा च जले प्रतिबिंब विलोकनार्थं नलिकाबंधे शंकौ नलिकायां सूत्रे च वैपरीत्यम्।

न तु भुजकोट्योर्दाने इति भावः।

अत्रोपपत्तिः—ग्रहबिंब समसूत्रे सा कोटिरूपेण यद्भूस्थानं तस्मादधस्तं भूग्रहविंबांतरांतरेण जलादौ प्रतिबिंब भवति। दृश्यमानवस्तुनः स्वस्थितिपूर्वकप्रतिविंबस्य जलादौ दर्शनात्।

अत एव जले विलोममिति पूर्वमुक्तम्। तथा च यथा द्वादशांगुलशंकुछायाग्रस्थलादाकाशस्थग्रहविंबावधि किरणानुरूपं यत्कर्णसूत्रं तथा प्रतिविंबस्थानात्कर्णानुरूपं सूत्रदृगूच्यावधि प्रतिविंबसूत्रम्। तत्र प्रतिविंबस्थलासिध्या तत्सूत्रं यत्र भूमौ लग्नं भवति तत्र जलादिकं विधाय तत्सूत्रेण तदनुरूपेण जले

प्रतिबिंबं पश्येत्। तत्सूत्रं भूमौ विन्दुस्थाने, एव लग्नं भवति। ग्रहविंबदृक्सूत्रे यथा शंकग्रसंपातोपपत्तिस्तथा तद्विपरीतप्रतिबिंबदृक्सूत्रे शंकुमूलसंपातावश्यं भावात्। तत्स्थानात्सूत्रं कर्णमार्गेणाभीष्ट दृगौच्यावधिनेयम्।

तत्र तस्य यथार्थत्व संपादनार्थं शंकुं छायाग्रे स्थापयित्वा तदग्रे तत्सूत्रं यथा लग्नं भवति तथैव तदनुरोधात्कर्णमार्गेणानेयम्। अथ तत्सूत्रमार्गेण विन्दुस्थ जलादौ प्रतिबिंब दृश्यत एवापि जलादौ तद्ग्रहसंन्निधिस्थ नक्षत्रादीनां प्रतिबिंब संभवादावरणेन तस्यैव दर्शनार्थं तत्सूत्रे नलिकाधोमुखी निवेशिता बंशद्वय-निबद्धा पूर्ववत्तत् सूत्रं निष्काशनीयम्। तेन नलिकामार्गेऽधःस्थदृष्ट्याभीष्ट ग्रह-बिंबप्रतिबिंबविन्दुस्थजलादौ दृश्यत एवेत्युक्तमुपपन्नम्।

छायाया अभावे तु नलिकोभयत्र यथायोग्यं कोटिरूपेणोर्ध्वाधरो यथा भवति तथा ध्येयम् ॥१०८॥

दीपिका—स्पष्टम्।

शिखा—भुज के अग्र और छाया के अग्र भाग में शंकु स्थापित कर केन्द्र विन्दु से शंकु के अग्र में संलग्न सूत्र को कर्ण की गति से फैलाकर उक्त पूर्व विधि से सूत्र की गति से नलिका को भी स्थापित कर, छिद्र से नीचे केन्द्र विन्दु स्थापित जल पात्र में आकाशीय ग्रह नक्षत्र का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दृग्गोचर होता है। यहाँ पर दृष्टा की उँचाई से नीचे की दृष्टि जल में पड़ेगी।

क्योंकि, छाया का भ्रमण ग्रह की विपरीत दिशा में होता है पूर्व कपालीय ग्रह की पश्चिमा, एवं प्रत्यक्कपालीय ग्रह की छाया पूर्वाभिमुखी होगी, अतः इसी अभिप्राय से केन्द्र से कोटि दान का क्रम ठीक है। भुजदान यथादिश देना चाहिए क्योंकि पहिले ही विपरीत दिशा का भुज साधन किया जा चुका है। अतः छायाग्र से शंकु के अग्र भाग तक गया हुआ सूत्र ठीक ग्रहानुगत होने से इसकी गति से स्थापित नलक के छिद्र से जल में ग्रह बिम्ब दर्शन होता है।

जल से जिस दिशा में, जितनी दूरी पर, जितनी ऊँचाई का वांस (वंश) आदि हो वह उसी दिशा में, उतनी ही दूरी पर, उसकी उँचाई का प्रमाण भूमि से नीचे की तरफ करने से दृष्टा व्यक्ति जल में ग्रहबिम्ब को देखता है। अधोमुख स्थापित वंशादि के अग्र में सूत्र का एक अग्र बाँधकर द्वितीय अग्र पुरुष की दृष्टि पर्यन्त जहाँ पर भूमि को वेधित करेगा वहाँ केन्द्र विन्दु है। यहीं पर जल पात्र है। पुरुष की उँचाई शंकु है। दृक्सूत्र कर्ण है इत्यादि।

इदानीमस्योपसंहारश्लोकमाह—

दर्शयेद्दिविचरं दिवि के वानेहसि द्युचरदर्शनयोग्ये।
पूर्वमेव विरचय्य यथोक्तं रञ्जनाय सुजनस्य नृपस्य ॥१०९॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम्।

इति श्रीमहेश्वरोपाध्यायसुतभास्कराचार्य्यविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिवासनाभाष्ये मिताक्षरे त्रिप्रश्नाधिकारस्तृतीयः ॥३॥

अत्राधिकारे ग्रन्थसङ्ख्या सपादा नवशती ॥९२५॥

मरीचिः—ननूक्त नलिकायां ग्रहादर्शनमेव। यत्काले दर्शनार्थे नलिकाबंधोपक्रमे क्रियमाणे तत्काले छायादि गणितात्साधने नलिकाबंधे न च काल भेदादभीष्टकाले नलिकायां ग्रहबिंबादर्शनात्। ग्रहस्य प्रतिक्षणं चलत्वात्तदुत्तर काले तन्नलिकायां ग्रहदर्शनाच्चेति नलिकावेधकथनं ग्रहबिंबदर्शनार्थमसंगतमित्यतस्तदुत्तरं तदुपसंहारकथनव्याजेन स्वागतमाह—

"दर्शयेद्दिविचरं दिवि के वानेहसि द्युचरदर्शनयोग्ये।
पूर्वमेव विरचय्य यथोक्तं रञ्जनाय सुजनस्य नृपस्ये"ति।

पूर्वं यदभीष्टकाले दर्शनापेक्षा तत्कालात्पूर्वं प्राक्काले, एवकारस्तत्कालतदुत्तरकालयोर्व्यवच्छेदकः यथोक्तं नलिकाबंधं विरचय्य ग्रहगणितादि छाया भुजकोट्यंत गणितांतं गणितकर्म स्वाभीष्टदर्शनकालीनं पूर्वं कृत्वोक्तरीत्या नलिकाबंधद्वयं सिद्धं कृत्वाच्चेदिति, आकाशे, के जले दिविचरं। ग्रहबिंबं। ग्रहप्रतिबिंबं। ग्रहपतिबिंबं वा यथा योग्यम्—
कस्मैचिद्दर्शयेत्। तथा च स्वाभीष्टकालीननलिकाबंधस्य पूर्वसिद्धत्वेन कालभेदाभावाच्च स्वाभीष्टकाले नलिकाछिद्रगर्भे ग्रहः, प्रतिबिंबं वा भवत्येवेति नलिकाबंधकथनं नासंगतमिति भावः।

ननु तथापि गणितस्योपपतिसिद्धत्वेन तत्काले तद्गर्भे भवत्येवेति किंचित्रमिति तद्दर्शनं मनसि प्रयोजकमत आह—

रंजनायेति सुजनस्य साधोर्गुणग्राहिणो नृपस्य राज्ञो रंजनाय। चित्तचमत्कारजनितसंतोषलाभार्थे। तथा चोपपत्तिज्ञानां यद्यपि न चित्रं तथापि राज्ञस्तदुपपत्यज्ञस्य कस्यचिद्वा पूर्वमेवानेन दर्शनहेतुभूता नलिका कथं सिद्धा कृतेति महच्चमत्कारात्स्वार्थसिद्धि रेवत्यंतं प्रयोजनमिति भावः। यदि तदापि न दर्शनं तदा स्वाभिमतपक्षो न तु दृग्गणितैक्यसंपादक इति ग्रंथस्य प्रामाण्याप्रामाण्यज्ञानं च प्रयोजनं ग्रांथिकानामिति ध्येयम्।

ननु स्वाभिमतकाले कदाचिदिष्टग्रहस्यास्तादिना दर्शनाभावः तत्कालीननलिकायां कथं दर्शनमत-आह—

अनेहसीति। द्युचरो ग्रहस्तस्य, दर्शनं, स्वदृष्टिविषयत्वम्। तत्र योग्यः। वाधकाभावेऽभीष्ट फलदस्तस्मिन्ननहसि। कालोदिष्टोऽयनेहापि समय इत्यभिधानात्कालेऽभीष्टे दर्शयेदित्यर्थः। तथा च सूर्यस्य रात्रौ दर्शनायोग्यः कालो दिने तु योग्य इति नलिकायां दिने तद्दर्शनं संभवतीति, रात्रौ तद्दर्शनार्थनलिकाबंधो न कार्यः।

एवं चन्द्रादीनां यदा स्वक्षितिजोर्ध्वसंचारस्तदा तद्दिनेऽभीष्टकाले नलिका-बंधस्तद्दर्शनार्थं कार्यः। तत्र भौमादीनां सूर्यदिने दर्शनाभावात्सूर्यरात्रौ स्वदिना-भीष्टकालावच्छिन्नानां दर्शनयोग्यता। चंद्रस्य तु सूर्यदिनेऽपि कदाचिद्दर्शन योग्यता।

अत्रापि चंद्रादीनां सूर्यसांन्निध्यजनितास्तमये तु स्वदिवसेऽपि दर्शना योग्यत्वमित्यादि वक्ष्यमाणरीत्याभीष्टग्रहस्य दर्शनं योग्यकालं विज्ञाय नलिका-बंधं कुर्यादन्यथा प्रयासस्याफलकत्वापत्तेः। दर्शनकालेऽपि मेघादि व्यवधानेना-दर्शन संभवाद्योग्येति। अन्यथाऽनियताभ्रादि व्यवधानशंकया प्रवृत्त्यनुपपत्ते-रितिदिक् ॥१०९॥

प्रतिज्ञाताधिकारमुपसंहरति—इति प्रश्नाधिकार इति स्पष्टम्।

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वं श्री रंनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन्।

त्रिप्रश्नसंज्ञ इन..........दृग्गोचरत्व.........घटिकोद्यभवन्मरीचौ ॥

इति श्री सकलगणकसार्वभौम श्री वल्लालदैवज्ञसूनुरंगनाथगणकात्मजमु-नीश्वरापरनामक विश्वरूपनिर्मितसिद्धांतशिरोमणिमरीचौ त्रिप्रश्नाधिकारः समाप्तः।

दीपिका—स्पष्टम्।

इति सिद्धान्तशिरोमणेर्गणिताध्यायस्य त्रिप्रश्नाधिकारस्य पण्डित-हरिदत्तज्योतिर्विदात्मज-पर्वतीय-केदारदत्त जोशिकृता दीपिका-टीका समाप्ता।

शिखा—सुजन गुणग्राहक राजा की प्रसन्नता तथा चित्त में चमत्कार कारक सन्तोष के लिये, ग्रह को आकाश में या जल में, ग्रहदर्शन योग्य सुन्दर समय में नलिका वेध से राजा को ग्रहबिम्ब दिखाना चाहिए।

इति श्री पण्डित हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त-शर्म-जोशीकृत सिद्धान्तशिरोमणि-ग्रहगणिताध्याय के त्रिप्रश्नाधिकार का सोपपत्तिक परिष्कृत शिखा भाष्य समाप्त।

संवत् २०२० कार्तिक शुक्ल पञ्चमी गुरुवार उत्तराषाढ़ा, ववोपरि वालव।

२१-११-१९६३

स्पष्टाधिकारे-शुद्धाशुद्ध पत्रम्

पृष्ठस्य	पंक्त्याम्	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१२	वासनामाष्य	वासनाभाष्य:
१०८	३२	राचार्य	आचार्य:
१३२	४	वोध्यम्	बोध्यम्
१४५	१७	भवत्स्पष्टम्	भवेत्स्पष्टम्
१४६	२१	दृगजया	दृग्ज्या
१५०	११	द्वीपिका	दीपिका
१५६	११	"	"
१६४	१४	भान्शै:	भांशै:
१६८	१८	त्वृणम्	त्वृणम्
१८२	१९	इदानी	इदानीम्
१८२	२९	घातात्	घातात्
१९१	९	शीघ्रोच्चाद्विशोध्य	शीघ्रोच्चाद्विशोध्य
१९७	३०	सूक्ष्मतरावयवा यागात्तथा	सूक्ष्मतरावयवत्यागात्तथा
१९९	२५५	श्लोक ३५½ तः श्लोक ५७ यावत् वा. भा. इति योज्यम्	
२१७	२६	सुधीभिरदमपि	सुधीभिरिदमपि
२१९	१७	डीपिका	दीपिका
२२७	२४	इदानीभुदयास्त	इदानीमुदयास्त···
२४०	१८	अत्राचार्यभतेन	अत्राचार्यमतेन
२४३	३०	दिङ्नाग	दिङ्नाग
२४७	१६	घुललम्	द्युदलम्
२७८	१	शतयञ्च	शतत्रयञ्च
२८९	२५	सर्वभोगनामैक्यम्	सर्वभोगानामैक्यम्

त्रिप्रश्नाधिकारे-शुद्धाशुद्ध पत्रम्

पृष्ठस्य	पंक्त्याम्	अशुद्धम्	शुद्धम्
२९९	९	किन्यतोऽआंशा: ?	कियन्तोऽक्षांशा:
२९९	११	देशान्तीरीयेंशे	देशान्तरीयेंऽशे
३११	४	असंस्कृद्यावदविशेष	असकृद्यावदविशेष:
३२८	२१	अथाग्रगाग्र	अथाग्रकाग्र
३२९	३०	ममशङ्कु:	समशङ्कु:
३३३	१३	तावत्मुख्यत्वेन	तावन्मुख्यत्वेन
३४०	३०	ऊर्ध्वं	ऊर्ध्वम्
३७८	२८	अथवोदृत्तगते	अथवोद्वृत्तगते
३८३	४	तनहम्	तानहम्
४५५	२५	ब्रूहि	ब्रूहि
४५५	२६	बधात्	वधात्
४६९	९	सवर्गगणकोन्मत्तेभ	सगर्वगजकोन्मत्तेभ
४६९	३०	कृत्योद्धृति	कृत्योद्धृता
४७७	१६	भबत:	भवत:
४८६	२६	कटियोगमित्या	कोटियोगमित्या
४८९	४	ममशङ्कु:	समशङ्कु: